ओ३म्

कृष्ण-गोपाल ग्रन्थमाला का द्वितीय रत्न

चिकित्सातत्त्वप्रदीप

प्रथम खण्ड
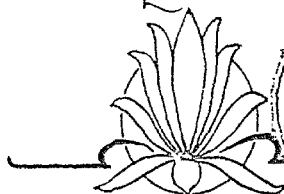
प्रकाशक—

कृष्ण-गोपाल आयुर्वेद भवन (ट्रस्ट)

पो० कालेड़ा-कृष्णगोपाल (जिला अजमेर)

संस्करण चौथा प्रति २५०० सन् १९६८ ई०

मूल्य अजिल्द रु० १०)

मूल्य सजिल्द रु० १२)

प्रकाशक—
कृष्णा-गोपाल आयुर्वेद भवन (धर्मार्थ ट्रस्ट)
पो० कालेड़ा-कृष्णगोपाल
(जिला अजमेर)

नार्थार्थं नापि कामार्थमथभूतदयां प्रति ।
वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्त्तते ॥

× × ×

संशोधनं संशमनं निदानस्य च वर्जनम् ।
एतावद् भिषजां कार्यं रोगे रोगे यथाविधिः ॥

× × ×

तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते ।
स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत् ॥

—महर्षि चरक

मुद्रक—
कृष्णा-गोपाल मुद्रणालय
पो० कालेड़ा-कृष्णगोपाल (अजमेर)

वेदान्तनिष्ठ, परिव्राजकाचार्य

कृष्ण-गोपाल आयुर्वेद भवन (धर्मार्थ) ट्रस्टके संस्थापक

पूज्य स्वामी श्री १०८ श्री कृष्णानन्दजी महाराज

❀ ॐ ❀

निवेदन

ॐ य आत्मदा बलदा यस्य विश्वमुपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य छाया अमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

मान्य पाठकवृन्द !

चिकित्सा तत्त्वप्रदीप (प्रथम खण्ड) का तृतीय संस्करण हाथोंहाथ समाप्त हो गया । आयुर्वेद विज्ञजनोंकी सतत मांगपर यह चतुर्थ संस्करण सत्वर निकालना पड़ा है ।

श्री. पूज्य स्वामीजी महाराजका स्वास्थ्य पूर्वापेक्षया निर्बल होने तथा कुछ समयसे तीर्थराज पुष्करमें विराजने से वे इस नवीन संस्करणका पुनर्निरीक्षण सम्यकतया नहीं कर सके हैं तथापि पूज्य श्री के निर्देशनसे संस्थाके प्रधान वैद्य पं. श्री बद्रीनारायणजी शास्त्रीने इस संस्करणमें विशेष संशोधन, परिवर्धन करके सामयिक उपयोगी बनानेका प्रयास किया है ।

पुस्तककी उपयोगिता एवं सुबोध शक्यताके उद्देश्यसे स्थान-स्थानपर योग्य परिवर्त्तन कर आयुर्वेदीय विधि-विधान, द्रव्याद्रव्य चिकित्सा, रोग-सम्प्राप्ति तथा यान्त्रिक विकृति आदि भागोंको पृथक् दर्शाये हैं। कहीं पर आवश्यक विवरण तथा शास्त्रीय प्रमाण बढाये भी हैं ।

इसी प्रकार आधुनिक चिकित्सा विधानके सहायक किरणोपचार, "क्ष" किरण. गंधोपचार, मृत्तिकोपचार आदि प्राकृतिक चिकित्सा संबंधी विषयोंका भी उल्लेख किया है ।

संस्थाका सर्वसाधन सम्पन्न निजी प्रेस होनेसे पुस्तकमें अनेक स्थानों पर लेखानुसार चित्र देकर भी समझाया गया है ।

इस ग्रन्थमें आयुर्वेदिक निदान, चिकित्सा आदि चरक संहिता, सुश्रुत-संहिता, अष्टांग हृदय, भैषज्य रत्नावली, योगरत्नाकर आदि अनेक प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थोंके आधारसे लिखे गये हैं। साथ साथ एलोपैथिक की आवश्यक बातोंका वर्णन भी संक्षेपमें एलोपैथिक ग्रन्थोंकी सहायता से तथा अब तकके हुये नवीन संशोधनोंके आधारसे विवेचन किया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ प्राचीन और अर्वाचीन अनेक ग्रन्थोंके आधारसे तैयार किया गया है।

देश, प्रकृति, ऋतु और आयुका भेद, अधिकारी भेद, (निर्बल-सबल, धनिक-निर्धन, निश्चिन्त-सचिन्त, प्रसूता-सगर्भा, स्थानिक-प्रवासी, देशवासी-विदेशी, शाकभोजी-मांसाहारी आदि), व्यवसाय भेद और नूतन-जीर्ण रोगादि हेतुओंका विचार निज अनुभवके आधारसे ही हो सकता है। ये सब बातें कोई कदापि लिखकर समझा नहीं सकता। केवल सामान्य रीतिसे बोध करा दिया जाता है। अतः इस ग्रंथमें भी सामान्य दृष्टिसे दोष-भेद और लक्षण-भेदके अनुरूप पृथक्-पृथक् चिकित्सा स्थान स्थानपर दे दी गई है।

चिकित्सामें हम विशेषतः रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहके प्रयोगोंको ही उपयोगमें लेते हैं। इसलिये इस ग्रन्थके भीतर चिकित्सा-वर्णनमें उन अनुभूत प्रयोगोंकी यादी स्थान-स्थानपर दी गई है। सारांश, प्रयोग बनाने की विधि, मात्रा और गुणका विशेष विवेचन रसतंत्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें होनेसे इस ग्रंथमें पुनः पिष्टपेषण नहीं किया। रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहके प्रयोगोंके अतिरिक्त जो अनेक प्रयोग अच्छे फलदायी हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं वे भी इस ग्रंथमें दिये हैं। उनके विवेचनमें विधि, मात्रा, गुण आदिका वर्णन भली-भांति समझा कर दिया गया है।

चिकित्सा-वर्णनमें औषध और अनुपान लिखा है, उसी तरह प्रयोजित करना चाहिये, यह आग्रह नहीं है। इस ग्रंथमें केवल दिशा दर्शायी है। जिस तरह प्राथमिक स्कूलोंमें अध्यापक विद्यार्थियोंको हिसाब सिखाते हैं, वे ही हिसाब उसी रूपमें व्यवहारकालमें करने पड़ेंगे, यह नियम नहीं। उन हिसाबोंसे प्राप्त ज्ञानके आधारपर जो हिसाब समयपर आवश्यक हो, वह करना पड़ता है। उसी तरह इस ग्रन्थमें लिखी हुई औषधियाँ और अनुपानमें देश, काल, शरीरबल, रोगबल, लक्षण, आयु, उपद्रव आदिका विचार करके न्यूनाधिक परिवर्तन करना पड़ता है।

इस ग्रन्थमें चिकित्साके तत्त्वोंको संक्षेपमें किन्तु अच्छी तरह दीपककी तरह प्रकाश हो सके, ऐसे विवेचनको ही स्थान दिया है। इसलिये चिकित्सा-सागर संज्ञा न देकर इस ग्रन्थका नाम "चिकित्सातत्त्वप्रदीप" रखा गया है। इसी कारणसे शास्त्रीय एक-एक रोगके हजारों प्रयोगोंका अनुवाद नहीं दिया। किसीको शङ्का न हो, इसलिये हम कह देना चाहते हैं कि हमने किसी भी शास्त्रीय प्रयोगको व्यर्थ नहीं माना। केवल विशेष अनुभूत एवं अनुकूल प्रयोग ही दिये हैं। शास्त्रमनन, अनुभवी सज्जनोंके सहवास और रोगियोंकी सेवा-सुश्रुषा द्वारा जो कुछ थोड़ासा बोध हमें मिला है, वही सादर समर्पित किया है।

यह माना जा सकता है कि, आयुर्वेदीय प्राचीन ग्रन्थ-लेखकों (पूज्य महर्षियों) को चिकित्सा शास्त्रोंके सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वोंका अधिक ज्ञान था और गुरु-शिष्य परम्परासे बहुत काल तक उसका अवतरण होता आया था, जिससे प्राणियोंके जीवन और स्वास्थ्यमें उत्कृष्ट लाभ पहुँचता था; किन्तु भारतवर्षमें राष्ट्रीय और सामाजिक दुर्घटनाओंके कारण उस सर्वोत्कृष्ट विज्ञानका लोप होना प्रारम्भ हो गया और आज यह दुःस्थिति प्राप्त हुई कि आयुर्वेदके विद्वानोंको इस ज्ञानकी पूर्ण योग्यता प्राप्त करनेके लिये अन्य पद्धतियोंके द्वार खट-खटाने पड़ रहे हैं। आयुर्वेदका विज्ञान, व्याकरण, न्याय, मीमांसा, योग आदि शास्त्रोंसे घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। इस समय योग-शास्त्रकी यौगिक क्रियाएँ सर्वत्र सुलभ नहीं हैं। इन क्रियाओंसे इस विज्ञानको प्राप्त करनेमें बड़ी भारी सहायता मिल सकती है। उनके अभावमें अर्थात् जब तक आर्यजाति इस अंगको पूर्णतया प्राप्त न कर पावे, चिकित्सा शास्त्रमें एलोपैथिक आदि नूतन पद्धतियोंके विज्ञानको अपना लेना आयुर्वेद विज्ञानको हानिकी अपेक्षा लाभ-प्रद ही होगा।

एलोपैथिक निदान एवं चिकित्सा इस संस्करणमें दिये हैं, उसमें से विशेषांश पुनः नया लिखनेका विचार था। परन्तु पूज्य स्वामीजी महाराजका स्वास्थ्य ठीक न रहनेसे एलोपैथिक विवेचन अधिक न बढ़ा सके हैं। एलोपैथिक निदानादि लिखनेमें नये डाक्टरी ग्रन्थोंका आश्रय लिया है। आधार ग्रन्थोंमें निम्न ग्रन्थ मुख्य हैं:—

1. Synopsis of Medicine-by Tidy-
2. Medicine by Beaumont—
3. Manson's Tropical Diseases-

इनके अतिरिक्त कितने ही पूर्व प्रकाशित ग्रन्थोंका आधार लिया है। इन सबमेंसे अधिकतम आधार Synopsis of Medicine का लिया है। फिर भी वह डाक्टरी ग्रन्थोंकी विस्तृत व्याख्याके समक्ष अति संक्षिप्त ही है।

ग्रन्थमें नये रोग अधिक नहीं बढ़ाये हैं। मोतीझराका भेद (Paratyphoid) और फक्करोग (रसक्षय—Coeliac disease) केवल इन दो रोगोंका विवेचन सम्मिलित किया है।

डाक्टरी ग्रन्थोंमें लक्षण-चिह्नोंके वर्णनमें स्थान-स्थानपर अन्तिम क्रियापद छोड़ देते हैं। उस तरह इस ग्रन्थमें भी ऐसा ही प्रयत्न किया गया है। क्रियापद रहित वाक्य अपूर्ण भासता है अर्थात् वाक्यमें सुन्दरता नहीं आती; किन्तु तात्पर्यार्थ समझनेमें कोई कठिनाई नहीं होती। ऐसा मानकर पृष्ठ संख्याको कम करने (उस अनुसार मूल्य कम करने) के लिये ऐसा किया है।

आयुर्वेदकी विचारशैली और डाक्टरी विचारशैलीके मूलमें कुछ भेद रहा है। इस हेतुसे दोनोंकी रचना-शैली भेदवती होती है। इसलिये कथनमें भी विषमता भासती है। आयुर्वेदके मतानुसार व्याख्या करनेपर दोष-वैषम्यको शमन करने और विकृत धातुओंको साम्यावस्थामें लानेके लिये चिकित्सा की जाती है। वही बात डाक्टरी शैली अनुसार दर्शानी हो तो कहना पड़ता है कि देहके विकृत कोषोंके सदोष व्यापारको मूल स्थितिमें लानेके लिये चिकित्सा की जाती है। इस तरह कथन-भेद होनेपर भी दोनोंका-उद्देश्य एक ही है। अतः सारग्राही दृष्टिसे डाक्टरी विवेचनमेंसे उपयोगी ज्ञान ग्रहण करनेके लिये डाक्टरी निदान, चिकित्साको ग्रन्थमें स्थान दिया है।

भूतकालमें ग्रंथमें डाक्टरी विषय देनेके कारण हमारी काफी आलोचना हुई थी। "आयुर्वेद पूर्ण है, इसें कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं" यह एक पक्षवालों का विचार है, जो हमें भ्रामक भासता है, इस समयमें प्राप्त आयुर्वेदके संहिता ग्रन्थोंमें जो रोग विज्ञान है, उसे हम पूर्ण नहीं कह सकेंगे। यदि कोई कहे कि संहिताग्रन्थोंमें सब प्रकारके आधुनिक आविष्कारोंका वर्णन सूत्ररूपसे है; हमारे पूर्वज ये सब जानते थे। इस तरहके कथन मात्रसे हमें ज्ञान नहीं मिल सकेगा और आयुर्वेदकी उन्नति भी नहीं हो सकेगी। उन्नति तो अन्यत्र मिलने वाले आवश्यक ज्ञानको ग्रहण कर शास्त्रमें संमिलित करने और सभी दिशामें सप्रेम सतत प्रयत्न करनेपर ही हो सकेगी। इसके लिये विद्वानोंको निष्काम भावसे सेवा करनेकी और संकुचित दृष्टि त्याग करनेकी आवश्यकता है।

प्राचीनकालमें महर्षियोंने अनुभव करके जो ज्ञान संसारको दिया है वह निःसंदेह हितकर और संग्राह्य है । उसपर हमको गर्व है, वह सर्व संसारकी चिकित्सा प्रणालियोंका आदि स्थान है; संसारके सब देशोंने प्राचीनकालमें रोगकी चिकित्सा हमसे ही सीखी है ।

भगवान् आत्रेय और धन्वन्तरिजीके युगमें जितने ज्ञानकी आवश्यकता थी उतना उन्होंने दिया है । उस युगके पश्चात् भारतवासी पराधीन बने तथा यवन और क्रिश्चियन समाजके संसर्गमें आकर सत्य और सदाचारसे विमुख हुये । तन, मन (तपोबल-मनोबल) और धनसे निर्बल तथा भोगविलासमें आसक्त बने । इसके अलावा यवन-कालमें आयुर्वेद शास्त्रका अधिक अंश लुप्त हो गया एवं विविध नूतन रोग सृष्टिका आविर्भाव हुआ । इन सब परिवर्तनोंके कारण चरक, सुश्रुत आदि संहिता ग्रन्थों द्वारा प्राप्त ज्ञानसे अतिरिक्त ज्ञानकी आवश्यकता हुई है ।

प्राचीन ग्रन्थोंसे सूत्ररूपमे जो ज्ञान दिया है उसपर विद्वानोंको भाष्य, टीका या वार्तिक लिखकर व्याधि-निदान, चिकित्सा और शरीर-विभाग आदिका स्पष्टीकरण करना चाहिये । यथाहि—चरक सूत्रस्थानमें श्री अग्निवेश ने कहा है कि—

> येनौजसा वर्तयन्ति प्रीणिताः सर्व जन्तवः ।
> यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते ॥
> यत्सारमादौ गर्भस्य यत्तद्गर्भरसाद्रसः ।
> संवर्द्धमानं हृदयं समाविशति यत्पुरा ॥
> (च० सू० अ० ३० । ८-९)

भावार्थ—जिस ओज (ब्रह्मशक्ति) से तृप्त हुये सब प्राणी जीवन धारण करते हैं । इस ओजका अभाव या नाश हो जानेपर जीवोंका जीवन नष्ट हो जाता है ।

जो परओज (विद्युत्) प्रारम्भके गर्भका सर्वश्रेष्ठ सार होता है (जो गर्भके भीतर शुक्र और रजमें साररूप रहता है । इस परओजके प्रभावसे गर्भकललका निर्माण होता है । जो गर्भ-वृद्धिके समय सर्व प्रथम हृदयमें प्रवेश करता है ।

इन श्लोकोंमें ओज, हृदय, रक्ताभिसरण और देहपोषण विधि आदिका सुन्दर सारभूत वर्णन है । इतने सूक्ष्म वर्णनसे अथवा चक्रपाणिदत्त और

म० म० कविरत्न गङ्गाधरजीकी टीकासे भी विविध प्रकारके हृदयरोग तथा धमनी और शिरा, शिरोहृदय, वातनाड़ी तन्त्र, प्राणवाहिनियां तथा ओज आदिकी विकृतियोंकी चिकित्सामें पूर्ण सहायक हो उतना शारीर बोध नहीं मिल सकता। अतः डाक्टरी शारीर शास्त्र और इन्द्रिय विज्ञानशास्त्रसे आवश्यक ज्ञानको ग्रहण कर लेना चाहिये तथा इनके अतिरिक्त सारग्राही दृष्टिसे पाश्चात्य विद्वानोंने करोड़ों रुपये खर्चकर तथा दीर्घकाल तक परिश्रम करके जो शोध की है, उसमेंसे जो आयुर्वेदके लिये उपयोगी हो, उसका भी लाभ लेना चाहिये। उसे पाचनकर फिर आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार रूपान्तरित करके आयुर्वेदमें मिला लेना चाहिये। इसी विचारसे प्रेरित होकर इस ग्रन्थमें डाक्टरी निदान आदि दिये हैं, आयुर्वेदको भ्रष्ट करने या आयुर्वेदकी अपकीर्ति करनेके लिये नहीं है।

ग्रन्थकी छपाईका कार्य पूर्णरूपेण कृष्णगोपाल मुद्रणालय कालेड़ा (कृष्णगोपाल) में ही हुआ है। मुद्रणालयकी स्थापना इस ग्राममें हो जानेसे ग्रन्थ-प्रकाशन, स्वास्थ्य मासिक प्रकाशन आदि कार्योंमें अधिक सुविधा मिली है। यह प्रकाशन कार्य संस्थाके हितैषियों एवं सहायकोंके सहयोगसे ही हुआ है एतदर्थ उनके भी हम आभारी हैं।

जिन-जिन ग्रन्थोंका हमने आधार लिया है, उन सब ग्रंथकारोंसे इस धृष्टता की क्षमा चाहते हुये उनके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

अन्तमें संस्थाके हित-चिन्तक पाठकोंसे-नम्र निवेदन है कि प्रमादवश जो भूलें रही हों अथवा न्यूनता प्रतीत हो उनके लिये क्षमा करते हुए हमें सूचना देंगे तो आगामी संस्करणमें सुधार कर लिया जायगा।

अन्तमें निवेदन है कि इस धर्मार्थ संस्थाके सेवापक्षमें तन, मन, धनसे असहाय पीड़ितवर्गकी सेवा; औषध पुस्तकविक्रीकी और आयुर्वेद महाविद्यालय भवन निर्माणार्थ सहायता देकर तथा परिचितोंसे दिलाकर हमारे उत्साहको बढ़ावेंगे।

कालेड़ा कृष्णगोपाल (अजमेर) अक्षय तृतीया २०२५	विनीत— व्यवस्थापक कृष्णगोपाल आयुर्वेद भवन (ट्रस्ट)

❀ श्री धन्वन्तरये नमः ❀

❀ भूमिका ❀

यदि सूक्ष्म विचार कर देखा जाय तो हमें निश्चय हो जाता है कि समय अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति आप कर लिया करता है। समय जैसा रहता है, उसीके अनुकूल सारे सामान जुट जाते हैं। हम प्राचीन समयकी ओर जाते हैं तो वैद्यक-शास्त्रके विषयमें आयुर्वेदाभिमानियोंकी ओरसे हमें चरक, सुश्रुत, वाग्भट्टादि आकर ग्रन्थों एवं उनपर गहन गवेषणापूर्ण टीकाकारोंका बोलबाला दिखाई देता है। प्राचीन आचार्योंकी सूत्रमयी—थोड़े शब्दोंमें अनेक तत्वोंका बोध करानेवाली देववाणी (संस्कृत) का आस्वाद मिलता है और इसी प्रकार यूनानियोंकी ओरसे अर्बी-फारसी साहित्यका आनन्द प्राप्त होता है। परन्तु जब हम प्राचीन कालसे ज्यों ज्यों इस ओर जाते हैं त्यों त्यों उन दयालु महात्माओंके उन सरल प्रयत्नोंको देखते हैं जो अल्प संस्कृतज्ञों तथा सर्व साधारण की हितकी दृष्टिसे किए गये हैं। जहाँ तक बन सका है इन दयालु महात्माओंने प्राचीन आचार्योंके क्लिष्ट संस्कृत अर्बी-फारसीमें वर्णित भावोंको सरल संस्कृत हिन्दी उर्दू आदि भाषाओंद्वारा समझानेका प्रयत्न किया है। इनमेंसे कई विद्वानोंने वैदिक मोटी (ठोस) परिभाषाओंके साथ-साथ उन अव्यर्थ प्रयोगोंका संग्रह किया है जो नाना रोगोंके शमन करनेमें अच्छा काम करते हैं। यूनानीमें ऐसे प्रयोग संग्रहोंको क़राबादीन कहते हैं जैसे कि क़राबादीन कबीर, क़राबादीन निजामी, क़राबादीन जुकाई, क़राबादीन शिफाई आदि-आदि।

इतिहाससे स्पष्ट है कि यूनानी आदि वैद्यक पद्धतियाँ एकमात्र आयुर्वेदके आधारपर ही खड़ी हुई हैं। इसी प्रकार क़राबादीनें (अव्यर्थ-प्रयोग संग्रह) भी आयुर्वेदिक आदर्शको सामने रखकर बनी हुई प्रतीत होती हैं। इनमेंसे बहुतसी क़राबादीनें अर्वाचीन कालकी बनी हुई हैं परन्तु हमारे यहाँ यह अनुभूत प्रयोग संग्रह पद्धति सहस्रों वर्षोंसे चली आ रही है, ऐसी प्रतीति होती है। संभव है कि अनुभूत प्रयोगोंके संग्रह अन्य आचार्योंने भी किये हों परन्तु इस विषयमें ठोस कार्यकर्त्ताके नाते श्रीमान् शार्ङ्गधराचार्यका नाम सबसे पहले हमारे सामने आता है। आपने अपनी संहितामें यह स्पष्ट लिखा है, कि—

प्रसिद्धयोगा मुनिभिः प्रयुक्ता श्चिकित्सकैर्ये बहुशोऽनुभूताः।
विधीयते शार्ङ्गधरेण तेषां सुसंग्रहः सज्जनरञ्जनाय॥"

अर्थात् जिन प्रसिद्ध योगोंका प्रयोग चरक, सुश्रुत, हारीत, पराशरादि मुनियोंने किया है, इतना ही नहीं, वैद्योंने जिन प्रयोगोंको अपने रोगियोंपर प्रयुक्त कर अनेक बार आजमाया है; मैं (शार्ङ्गधर) उन्हींका बहुत अच्छा संग्रह सज्जनोंके सन्तोषार्थ कर रहा हूँ।

देखा जाता है कि कई पण्डित अहम्मन्य ऐसे संग्रहोंको देखकर नाक भौं सिकोड़ते हैं। वे तो जटिल संहिताओंके आदी बने हुए ऐसे संग्रहों एवं विशेषतः सरल भाषामें लिखी हुई पुस्तकोंकी ओर देखना तक बड़ा भारी पाप समझते हैं; परन्तु इनकी यह वृत्ति कदापि प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती। आज हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला, उर्दू आदि भाषाओंमें इतना अच्छा मौलिक साहित्य तैयार हुआ है और हो रहा है कि उसकी उपेक्षा करना कदापि बुद्धिमानीकी बात नहीं है। सड़े-गले चीथड़ोंमें लपेटा हुआ "हीरा" हीरा ही रहता है न कि वह चीथड़ोंमें लपेटनेके कारण काच बन जाता है। हम देख रहे हैं कि जमाना बड़े वेगके साथ बदल रहा है। नित्य-प्रति नवीन एवं चमत्कारिक आविष्कारोंकी सृष्टि हो रही है। इन आविष्कारोंके इतिहास, विधि-विधान आदि नाना देशीय साहित्योंसे लेकर प्रायः देशी भाषाओंमें ही लिखे गए हैं। संस्कृत भाषामें ऐसी पुस्तकें संप्रति बहुत कम लिखी गई हैं। क्योंकि संस्कृतके समझने वाले बहुत कम हैं। ऐसी अवस्थामें भिन्न-भिन्न भाषाओंमें लिखे गये मौलिक साहित्यकी उपेक्षा करना कदापि ठीक नहीं है। हमारा कर्तव्य है कि हम ऐसे साहित्यका अवलोकन करें और उससे लाभ उठावें।

आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति अत्युत्तम है, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है, परन्तु यह भी सच है कि वर्तमानमें कई आविष्कार, रोग जाननेके तरीके आदि ऐसे निकले हैं कि जिनसे वैद्यक व्यवसायीको बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। तापमापक (थर्मामीटर), अणुवीक्षण यन्त्र (Microscope) आदिको ही लीजिये। तापमानादिका कितना अच्छा स्पष्ट बोध करा देते हैं, यह किसीसे छिपा नहीं है। रोगोंके शमन करने वाले आयुर्वेदीय योगोंके अतिरिक्त डाक्टरी-यूनानी प्रयोग भी कई ऐसे हैं जो अपना अच्छा प्रभाव दिखाते हैं। उनसे भी जनता अच्छा लाभ उठा सकती है। प्रयोगोंके अतिरिक्त आयुर्वेदिक तथा डाक्टरी-पद्धतिसे रोगोंका वह विवेचन होना भी नितान्त आवश्यक है जिसे लेखकने दीर्घकालीन अनुभवसे प्राप्त किया है।

चिकित्सा तत्वप्रदीप, यह ग्रन्थ कैसा और कितना उपयोगी है, इसका परीक्षण तो आगे भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे चिकित्सा-निष्णात विद्वद्वर्य करेंगे।

मुझे तो संक्षेपमें यह कह देना उचित प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ भी बड़ी छान-बीनके साथ परिश्रम पूर्वक लिखा गया है। गङ्गा-यमुना-सरस्वतीके संगमकी तरह इसमें आयुर्वेदिक डाक्टरी एवं स्वानुभव, इन तीनोंको स्थान दिया गया है। आयुर्वेदप्रेमी डाक्टर और डाक्टरीके प्रेमी वैद्य, ये दोनों इस ग्रन्थसे अच्छा लाभ उठा सकते हैं। तिसपर भी विशेषता यह है कि लेखकने आयुर्वेदको मुख्य देह रूप मानते हुए ऐलोपैथीको उसका एक अवयव मानकर उसमें समावेश किया है। जहाँ तक मेरा ध्यान है, इस प्रकारका लेखकका ही यह प्रथम प्रयास है और न इस शैलीका ग्रन्थ आज तक किसी भाषामें लिखा गया है। इसमें व्यर्थ विस्तार न कर विवेचन भी सार-सार लेकर किया गया है। रोग परीक्षा-पद्धति भी आयुर्वेदिक क्रमसे रखी है और रोगोंका वर्गीकरण भी। हाँ, जहाँ एलोपैथीका वर्गीकरण भिन्न है—आयुर्वेदसे नहीं जमता वहाँ वही क्रम रखा गया है। यही कारण है कि ज्वर-प्रकरण तथा पचनेन्द्रिय संस्थानव्याधि प्रकरणके रोगोंके अन्तमें आयुर्वेदके क्रमका भंग प्रतीत होता है। अस्तु,

इन बातोंके अतिरिक्त ग्रन्थमें कोई भी बात ऐसी नहीं लिखी है जो पुष्ट प्रमाण-युक्त न हो। जहाँ तक बना है, व्यर्थ शब्दाडम्बर न बढ़ाते हुये युक्तियुक्त सिद्धान्तोंको ही ग्रन्थमें स्थान दिया गया है। प्रयोग भी वे ही दिये हैं जो सैकड़ों बारके अनुभव किये हुए हैं। इन सारी बातोंको देखते कहना पड़ता है कि ग्रन्थ नितान्त उपादेय, सबके लिये उपयोगी तथा पढ़ने योग्य है।

मैं लेखकको आन्तरिक धन्यवाद देता हुआ सर्वसाधारणसे साग्रह निवेदन करता हूँ कि, वे रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह की तरह इस चिकित्सा-तत्त्व-प्रदीप को भी अपनावें और इसके प्रकाशक कृष्णगोपाल आयुर्वेद भवन कालेड़ा जि० अजमेर को पूर्ण सहायता प्रदान करें, क्योंकि यह प्रयत्न "नात्मार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति" है अर्थात् यह जनता-जनार्दन की सच्ची सेवाके निमित्त ही है।

श्रीगोवर्धन शर्मा छांगाणी
(नागपुर निवासी)

स्व० श्री० रसवैद्यरत्न कविराज पं० वंशीधरजी शर्मा

आयुर्वेदाचार्य का

अभिप्राय

श्री कृष्णानन्दविज्ञैर्यदपि च बहुधा स्वानुभूतं नितान्तं
तत्वं प्राच्यप्रतीच्यप्रमतमतमतस्तर्क संभ्रान्तबोधम् ।
संगृह्यास्मिन् प्रशस्ते सरलनमचिकित्सा प्रदीपे निविष्टं
तद्धीरान् ज्ञानदीप्तिं प्रदिशतु नितरां भामिवारं प्रदीपः ॥१॥

श्री कृष्णानन्दसूक्तं गहनतममतं यच्चिकित्सादि तत्वं
स्वान्ते पूर्णं निधाय व्यरचयदमलं पुस्तकं नाथुसिंहः ।
आयुर्वेदानुरक्तास्त्वरितमनुपमग्रन्थरत्नक्रयेण
चेतःस्थोहासमूहं ह्यपनयतु सदा तच्चिकित्साप्रदीपात् ॥२॥

कृष्णप्रोक्तं बहुसुविदितं शुद्धवेदान्ततत्वं
व्यासस्तद्वै सततमलिखत् स्वीयगीताख्यग्रन्थे
इत्थं नित्यं निहितमनसा नाथुसिंहाभिधोऽयम्
कृष्णानन्दैरुदितमलिखत्तच्चिकित्साप्रदीपम् ॥३॥

संजातोहापोहरूपस्तमःस्तोमव्यपोहकः
चिकित्सातत्वदीपोऽयं भिषजां भद्रदो भवेत् ॥४॥

स्व० श्री पं० वंशीधर जी शर्मा
(सरवाड़ निवासी)

विषयानुक्रमणिका

आयुर्वेदीय विधि विधान

आयुर्वेदके मूल द्रव्य-त्रिदोष

द्रव्याद्रव्य चिकित्सा

रोग-सम्प्राप्ति और यान्त्रिक विकृति

शरीर-शुद्धि प्रकरण

चिकित्सा सहायक विधान

ज्वर प्रकरण

पचनेन्द्रिय संस्थान व्याधि प्रकरण

आयुर्वेदीय प्रयोग सूची

एलोपैथिक प्रयोग सूची

चित्र सूची

नोटः—क्षुद्रान्त्रकी रसांकुरिकायें, चित्रपर नं० ३३ के बदले ३२ लगजानेसे अन्ततक १ नं० की असावधानी रही है पाठक सुधार ले।

दक्षिण
फुफ्फुस
वाम
फुफ्फुस
हृदय
यकृत
पित्ताशय
आ मा
अनुप्रस्थ अन्त्र
आरोही अन्त्र
अवरोही अन्त्र
नाभि
लघ्वी
अन्त्र नलिका
मूत्राशय
वस्ति कुहर

चित्रांक नं० १

उरोगुहा और उदरगुहाके अवयव

अंस फलक
अंस फलक
वाम
फुफ्फुस
दक्षिण
फुफ्फुस
प्लीहा
यकृत
आशय
वाम
वृक्क
दक्षिण
वृक्क
अवरोही
अन्त्र
आरोही अन्त्र
त्रिकास्थि
श्रोणी फलक

चित्रांक नं० २
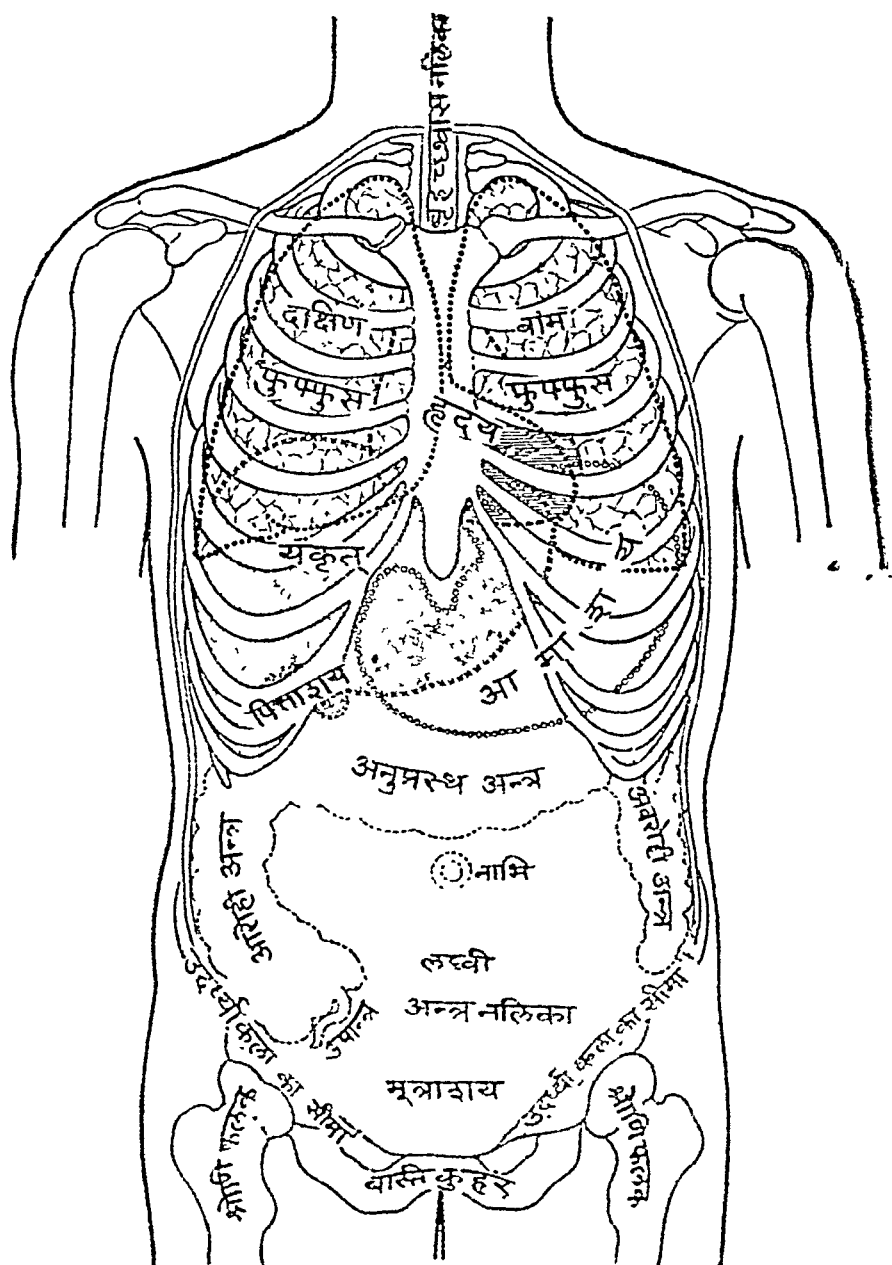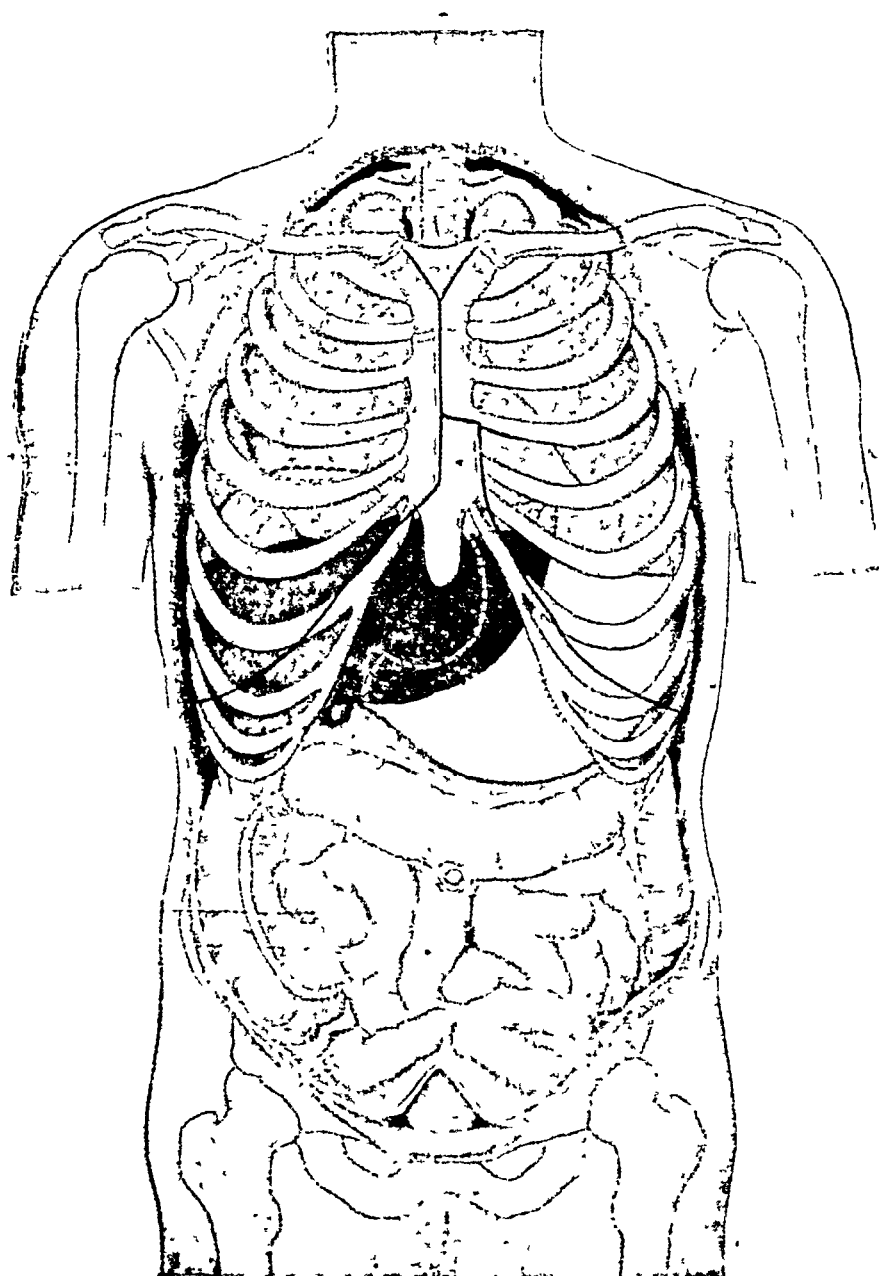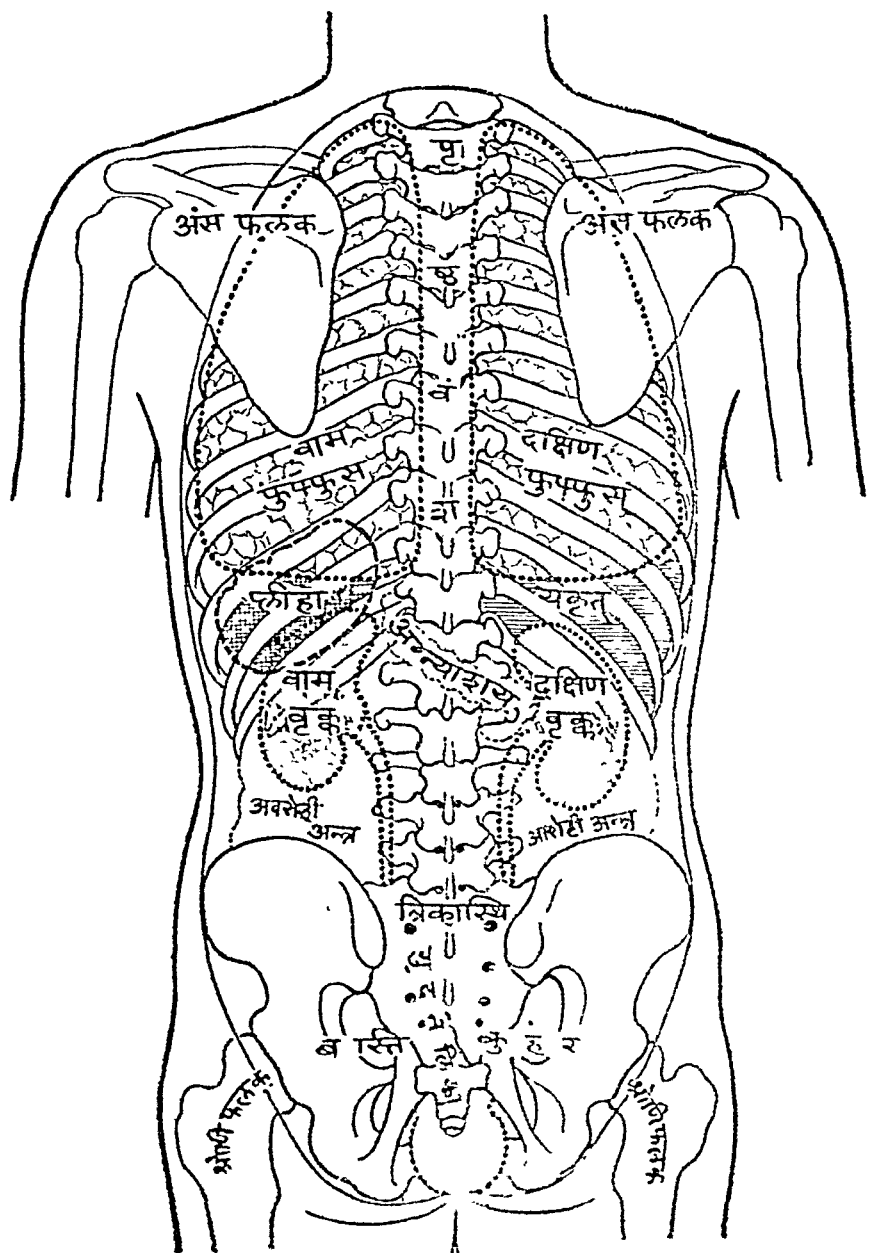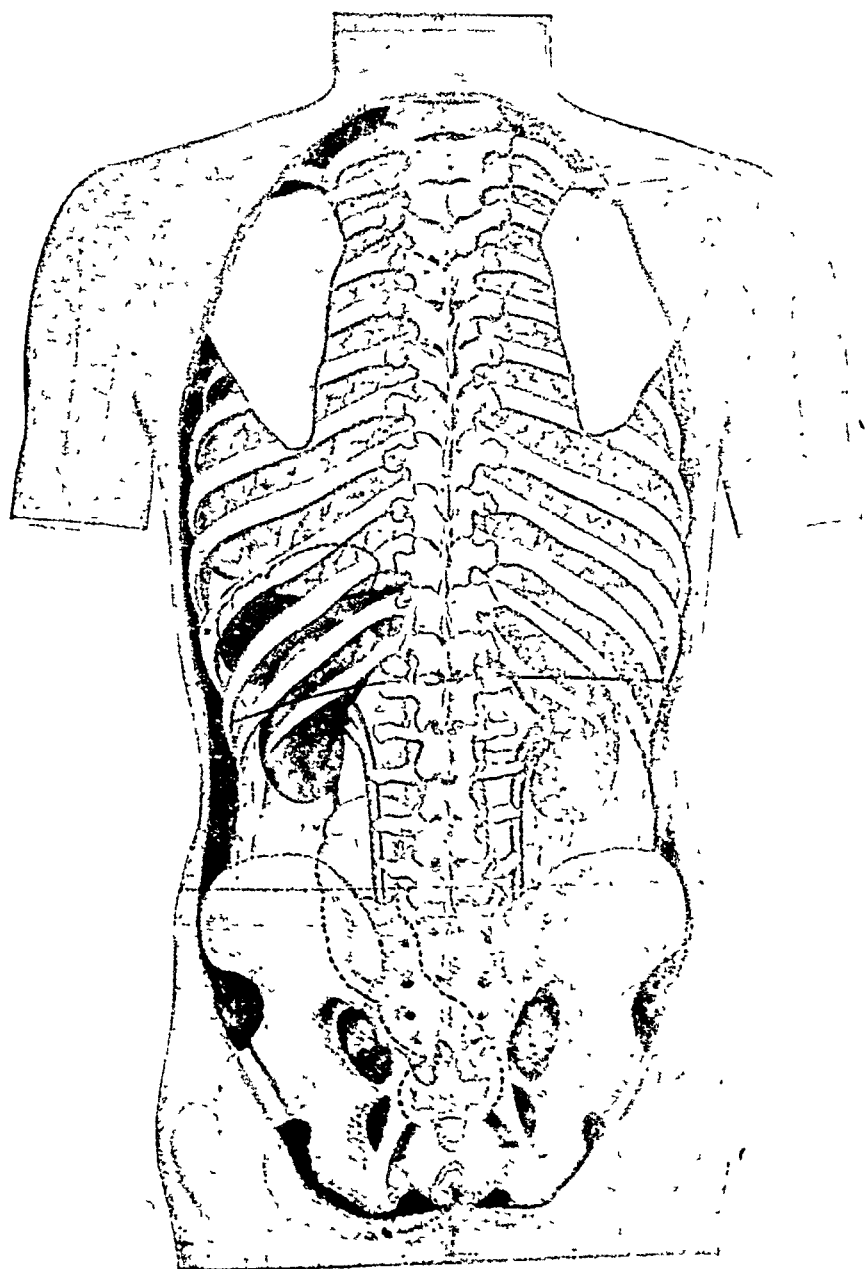
देहके पिछली ओरके अवयव

❀ श्री धन्वन्तरये नमः ❀

चिकित्सातत्त्वप्रदीप

(प्रथम खण्ड)

(१) आयुर्वेदीय विधिविधान

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥
(सु० सू० अ० १५-४१)

जिसके देहमें वात, पित्त और कफ, ये दोष (Temperaments) अग्नि, रस-रक्त आदि धातुएं और धातुओंकी मलक्रिया, ये सब सम हैं, तथा जिसकी आत्मा, मन और इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, वही पुरुष स्वस्थ कहलाता है।

आयुर्वेदके ध्येयानुसार देहमें रोगकी प्रतीति न होना इतनेसे ही पूर्ण स्वास्थ्य नहीं माना जाता। अनेकोंके शरीरमें रोग न होनेपर भी बल, विचार-शक्ति और कर्तृत्वशक्तिमें न्यूनता, विषयसेवनकी अत्यन्त वासना तथा लोभ, ईर्ष्या, क्रोध, क्रूरता, शठता आदि दुष्ट संस्कारोंकी प्रबलता दृष्टिगोचर होती है। जिससे उनकी बुद्धि, मन और इन्द्रियोंमें प्रसन्नता नहीं रह सकती। अतः आचार्योंने उनको अस्वस्थ ही माना है। जब तक आचार्यकथित पूर्ण स्वास्थ्यकी प्राप्ति नहीं होती, तब तक दुःखका अभाव और सच्चे सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

यद्यपि इस पूर्ण स्वस्थताको प्राप्त करनेके अधिकारी संसारमें बहुत कम होते हैं, तथापि लक्ष्य सर्वदा पूर्ण ही रखना चाहिये। इस लक्ष्यकी प्राप्ति शरीर नीरोगी हो, तो ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। इसी हेतुसे आयुर्वेदका प्रादुर्भाव हुआ है।

आयुर्वेद प्रयोजनमें २ विभाग हैं। १—स्वास्थ्य-संरक्षण और २—रोग-चिकित्सा। आयुर्वेदका मुख्य प्रयोजन स्वास्थ्यका संरक्षण और गौण प्रयोजन

व्याधि चिकित्सा है। इन दोनोंकी सिद्धयर्थ संस्कृतमें अनेक संहिताएं और प्रकरण ग्रन्थ लिखे गये हैं।

यदि कोई शङ्का करे, कि स्वास्थ्य रूप मुख्य प्रयोजनको सम्हालनेका उपदेश दिया जाय, तो फिर चिकित्सारूप गौण प्रयोजनके ज्ञानकी आवश्यकता क्या रह जाती है? किन्तु यह मान्यता निर्दोष नहीं है। कारण, मनमें नाना प्रकारकी वासनाएँ रहती हैं, जो बलात्कारसे मन और इन्द्रियोंको निषिद्ध विषयोंकी ओर खींच लाती हैं, एवं विहित विषयोंका भी अतियोग कराती रहती हैं। परिणाममें नाना प्रकारके रोगोंकी उत्पत्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त चोट आदि लगनेसे भी आगन्तुक रोग उत्पन्न होजाते हैं। अतः जगतमें चिकित्सा ज्ञानकी भी आवश्यकता है।

अज्ञानवश किसी रोगकी उत्पत्ति होनेपर शारीरिक बल क्षीण होता है; आयुमेंसे महत्त्वका समय निरर्थक जाता है; धनकी हानि होती है, मन चिन्तातुर रहने लगता है; आयु कम होती है और क्वचित् अकाल मृत्युकी प्राप्ति भी हो जाती है। अलावा भावी सन्तान या वंशज रोगी और निर्बल होते हैं। कतिपय रोग ऐसे हैं कि, जिन्हें प्रयत्न करके दूर किया, फिर भी ध्रुव आरोग्य सम्पादित नहीं होता, देह पूर्ववत् सुदृढ़ नहीं होती और व्याधिका बीज शेष रह जाता है। फिर वही रोग कुछ समयके बाद पुनः आक्रमण करता है।

जैसे जनताको अन्यायपूर्वक कष्ट पहुँचाने या दूसरे राष्ट्रके साथ विरोध करनेपर देशमें विरोधी दलकी उत्पत्ति हो जाती है। फिर वह अपने पक्षका बल बढ़ानेका सतत प्रयत्न करता रहता है, जिससे समग्र देश संतापित होता रहता है। ऐसे ही दैवी अटल नियमोंको तोड़कर अपथ्य आहार-विहारका सेवन करते रहनेसे देहके अवयवों या इन्द्रियोंमें घातक रोगोंके उत्पादक विषका संग्रह हो जाता है, या बाहरसे रोगोंके कीटाणु प्रवेशकर रोगोंको उत्पन्न करा देते हैं। फिर रोग स्वल्प समयमें देहको नष्ट कर डालते हैं; अथवा कोई रोग जीर्ण रूप धारण कर इस काया-नगरीमें दीर्घ कालतक हाकिम या नवाब साहब बनकर देह, मन और इन्द्रियों आदिको पीड़ित करता ही रहता है।

क्वचित् रोग एक दूसरे रोगको उत्पन्न कर देता है; और आपभी निवास करता ही है। जैसे विषम ज्वर (*Malaria*) बाह्य दृष्टिसे दूर हो जाने (दब जाने) पर प्लीहावृद्धि, अग्निमांद्य, आनाह, स्मरणशक्तिका अभाव, शिरदर्द, शारीरिक निर्बलता, आलस्य, निद्रावृद्धि, बेचैनी और रक्तके रक्ताणुओंकी न्यूनता आदि उपद्रव उत्पन्न कराता है; और थोड़े-थोड़े समयपर वह मलेरिया भी पुनः पुनः दर्शन देता रहता है। इतना त्रास होनेपर भी यदि लक्ष्य न दिया जाय, तो दुःसाध्य उदररोग या क्षय आदिको उत्पन्न कर देता है। इसी तरह

इतर रोगोंकी परम्परा भी दुःखदायी ही होती है। इस बातको जानकर कृपालु महर्षियोंने देववाणीमें आयुर्वेदके गौण प्रयोजन (चिकित्सा) के सिद्धचर्थ अनेक चिकित्सा-ग्रन्थोंकी रचना की है, किन्तु वे कठिन संस्कृतमें होनेसे सामान्य वैद्य व जनता उनसे लाभ उठानेमें असमर्थ है, अतः उन ग्रन्थोंका आधार लेकर और पाश्चात्य विद्वानोंके ग्रन्थोंमेंसे आवश्यक अंश मिलाकर प्रचलित सरल देश भाषामें इस 'चिकित्सातत्त्वप्रदीप' ग्रन्थकी रचनाकर प्रकाशित कराया है।

चिकित्सा करनेके पहले रोगनिर्णयकी आवश्यकता रहती है। अतः पहले रोग सम्बन्धी विचार करना चाहिये। सामान्य बुद्धिवाले चिकित्सकभी अचिर-कालमें निदान करनेकी शास्त्र-शैलीको सरलता-पूर्वक ग्रहण कर सकें, इस हेतुसे आयुर्वेदमें रोगोंका विभाग वात, पित्त और कफ, इनके वैषम्यके अनुसार किया है *। इन व्याधियोंके दोषज, कर्मज और उभयज, ऐसे ३ प्रकार हैं +। इनमें दोषज व्याधिके लिये चिकित्साका उपयोग होता है; किन्तु कर्मज व्याधि केवल कर्मके क्षयसे ही शान्त होती है। जैसे किसीको देव, ब्राह्मण आदिके शापसे कुष्ठ, जलोदर आदि रोग हुए हों, तो वे रोग उनको प्रसन्न करनेसे ही दूर होते हैं। उभयज व्याधि दोष और कर्मके क्षयसे नाश होती है; अर्थात् वह रोग औषधि और पुण्यकर्म या ईश्वरोपासना, दोनोंके सम्बन्धसे शान्त होता है।

इतर रीतिसे सुश्रुताचार्यने व्याधियोंके ७ प्रकार कहे हैं आदिबलप्रवृत्त, जन्मबलप्रवृत्त, दोषबलप्रवृत्त, सङ्घातबलप्रवृत्त, कालबलप्रवृत्त, दैवबलप्रवृत्त, और स्वभावबलप्रवृत्त।

(१) आदिबलप्रवृत्त (Hereditary)—माता-पिताके रज-वीर्यके दोषसे उत्पन्न कुष्ठ, मधुमेह, क्षय, अर्श-आदि रोग।

(२) जन्मबलप्रवृत्त (Congenital)—सगर्भावस्थामें माताकी भूल या आघातसे गर्भमें रही हुई सन्तानको उत्पन्न जन्मांधता, कुबड़ापन या पंगुपना आदि विकार।

(३) दोषबलप्रवृत्त—(Chemical) पहले किसी व्याधिकी उत्पत्ति हो जानेके पश्चात् दूषित धातुसे उत्पन्न व्याधियाँ, और मिथ्या आहार-विहारसे होने वाली व्याधियाँ (Food poisoning)

---

* "रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता" (अ० हृ०)
Deviation of function or of structure from the normal.

+ कर्म प्रकोपजाः केचित्केचिद्दोषप्रकोपजाः।
कर्मदोषोद्भवाः केचिन्मनः कायस्थिता गदाः॥

(४) संघातबलप्रवृत्त—आगन्तुक व्याधियाँ। (Adventitious) तथा सर्पदंश, श्वानदंश, अस्थिभंग तथा शस्त्रकृत आदि अभिघातज (Mechenical) व्याधियां।

(५) कालबलप्रवृत्त (Physical)—ऋतुपरिवर्तन या शीत, उष्ण, वर्षा आदिके प्रकोपसे होने वाले रोग।

(६) दैवबलप्रवृत्त (Physical)—विद्युत् आघात, घर गिरनेसे दब जाना, पहाड़परसे गिर जाना तथा अभिशापज (by curse) आदि।

(७) स्वभावबलप्रवृत्त (Natural)—क्षुधा, तृषा, जरा, मृत्यु, निद्रा आदि विकार (इनमें दो विभाग हैं—कालकृत और अकालकृत)।

दोषोंकी विषमावस्थाको रोग और दोषोंकी समानावस्थाको आरोग्य कहते हैं। इस दृष्टिसे रोगोंके निज (स्वसंपादित) और आगन्तुक, ये २ प्रकार हैं*। मिथ्या आहार-विहार आदिसे होने वाले रोगोंको स्वसंपादित (Acquired) और बाह्य हेतुजन्य (चोट लगना, जलमें डूबना, जलना आदि) को आगन्तुक (External) कहा है ×।

रोगोंमें शारीरिक (ज्वर आदि) और मानसिक (क्रोधजन्य ज्वर; भय आदि जन्य अतिसार, गर्भपात, मूर्च्छा, उन्माद आदि) ये २ स्थान हैं। इन रोगोंमें कितनेही कर्मज (पूर्व जन्मार्जित या इस जन्मके पापके हेतुसे उत्पन्न) होते हैं। ÷इन कर्मज व्याधियोंको प्रायः असाध्य माना है। शेष रोगोंमें रोग, बल

---

* 'रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।
निजागन्तुविभागेन तत्र रोगो द्विधा स्मृतः॥ (अ० हृ०)

× पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्रमें इन आगन्तुक रोगोंके ४ विभाग हैं। (१) आघात जन्य (Mechanical) (२) आधिदैविक अर्थात् विद्युदाघात, दूषित वायु और प्रभापात आदि जन्य (Physical) (३) विष या तेजाबका सेवन या स्पर्शजनित (Intoxications), (४) कीटाणु प्रकोपजन्य (Infectious) इन्फ्ल्युएन्ज़ा, कालेरा आदि संक्रामक रोग।

÷ कर्मज रोगोंमें अनेक प्रकार हैं। कितनेही रोग माता-पिताके विकृत रजवीर्य (Ovum & spermatozoon) से उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे रोगोंको वंशपरम्परागत या पूर्वज प्राप्त (Hereditary) कहते हैं। मधुमेह, अर्श, क्षय, ऊरुस्तंभ, उपदंश (फिरंग), पूयमेह (सुजाक), कुष्ठ, रक्तपित्त, अपस्मार, उन्माद आदि रोग बहुधा माता-पिता द्वारा सन्तानोंको प्राप्त होते हैं। कितनेही रोग (गूंगापन आदि) एक पीढ़ी छोड़कर आ जाते हैं। ऐसी स्थितिको अटेविज़्म (Atavism) कहते हैं। कितनेही वंशपरम्परागत रक्तपित्त प्रकृति (Haemophilia) आदि रोग केवल पुत्र परम्परामें ही आते हैं, पुत्रके समान पुत्रीको नहीं

और जीवनीय शक्ति आदिका विचारकर सुखसाध्यता, साध्यता, कष्टसाध्यता याप्यता या असाध्यताका निर्णय किया जाता है।

आयुर्वेदकी प्राचीन संहिताओंमें रोग विनिश्चयार्थ रोगके जाननेके ३ साधन और ५ विषय कहे हैं। दर्शन ×, स्पर्शन और प्रश्न, ये ३ साधन हैं तथा निदान +, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति, ये ५ रोग विज्ञानके उपाय हैं। इन साधनों और उपायोंद्वारा रोग निदान❀(रोग विनिश्चय-Diagnosis) कर चिकित्सा (Treatment) प्रारम्भ करनी चाहिये। रोग निदान न हो, तब तक कल्पनाके आधारपर औषधोपचार करनेपर सफलता मिलेगी, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कह सकेंगे।

दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न, इन परीक्षाओंका विशेष विचार सिद्धपरीक्षा पद्धतिमें विस्तारसे किया है। पहले प्रकरणमें प्रश्नपरीक्षा पृष्ठ ४ से ६८ तक, दर्शनपरीक्षा पृष्ठ ६९-७० में तथा स्पर्शन परीक्षा (ठेपन और ध्वनिवाहक यन्त्रसे श्रवण आदि सह) पृष्ठ ७० से ७७ तक लिखी है। इसके आगे विशेष निर्णयार्थ विशेष विस्तार किया है।

कई रोग-कास, श्वास, यक्ष्मा, कामला, पाण्डु आदिमें आतुरकी दर्शन परीक्षासे जाने जाते हैं। अर्थात् वर्ण, अंग-प्रत्यंगोंकी आकृति, मल, मूत्र, वमन, स्वेद आदिको देखनेसे रोगका सामान्य परिचय मिल जाता है। इसी तरह शोथ, व्रण, विद्रधि आदिकी दर्शन परीक्षासे रोगके स्वरूपकी सामान्य स्थिति विदित हो जाती है। अतः इसे पहला ज्ञानोपाय माना है।

कई रोग इस प्रकारके होते हैं, जिनकी स्पर्श परीक्षा करनेपर रोगकी सामान्यावस्थाका बोध होजाता है। जैसे ज्वरावस्थाके निर्णयार्थ दर्शन और प्रश्नकी

होता। परन्तु पुत्रीके पुत्रको फिर हो जाता है; और पुत्रीकी पुत्रीको नहीं होता। कितनेही गर्भाशयसम्बन्धी विकार एवं इतर रोग पुत्रीपरंपरामें ही जाते हैं; पुत्रोंको नहीं। कतिपय रोग गर्भावस्थामें माताकी भूलसे उत्पन्न होजाते हैं। ऐसे रोगोंको गर्भज (Congenital) कहते हैं। अनेक समय गर्भावस्थामें या संतानके जन्मके समयपर भूल हो जानेसे शरीरमें व्यंग (Malformations) हो जाते हैं।

× दर्शन-स्पर्शन-प्रश्नैः परीक्षेत च रोगिणम् (अ० हृ० सू० १-२२)

+ रोगं निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयाप्तिभिः (अ० हृ० सू० १-२२)

❀ निदान शब्द द्व्यर्थी है। निमित्त, हेतु, आयतन आदि वचनोंद्वारा हेतुका पर्यायवाची शब्द कहा है। दूसरी ओर माधवाचार्यजीने ग्रन्थका नाम "माधवनिदान" रखकर रोगविनिर्णय Diagnosis अर्थसे प्रयुक्त किया है।

अपेक्षा स्पर्श परीक्षाको अधिक महत्व दिया जाता है। इस तरह गुल्म, विद्रधि, व्रण, ग्रन्थि, अर्बुद आदि रोगोंमें पीड़ित स्थानके और सम्बन्धवाले अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके स्पर्शसे रोग विनिर्णय हो जाता है, या रोग विनिर्णयमें सहायता मिल जाती है। यह दूसरा ज्ञानोपाय भी व्याधि विनिर्णयार्थ सहायक माना गया है।

तीसरा सामान्य ज्ञानोपाय प्रश्न है। प्रश्नसे वंशागत रोग, व्यसनोत्पन्न रोग, साहस, अपथ्य, विषप्रकोप, विपरीत जलवायुमें निवास, मानसिक आघात या मिथ्या उपचारजनित रोग, रोगोत्पत्ति-समय, पहले किये हुए अनुकूल, प्रतिकूल उपचार आदिका परिचय मिल जाता है। फिर इन प्रश्नोंके आधारसे रोग विनिर्णय सरल हो जाता है। कतिपय रोग ऐसे हैं कि बिना प्रश्न किये वैद्यको पता नहीं चल सकता। जैसे अपस्मार, हिस्टीरिया और मानसिक व्याकुलता, बलवान् मनुष्यको रक्तस्राव, देहके आच्छादित भागमें श्वेतकुष्ठ (श्वित्र Leukoderma), श्वेतप्रदर (Leukorrhea), रक्तार्श, फिरंग, कफजमेह, आदि रोगोंकी प्रारम्भिकावस्थामें नाड़ीगतिमें अन्तर नहीं पड़ता एवं विशेष लक्षण प्रतीत नहीं होते। ऐसी अवस्थामें प्रश्नोपायको महत्व दिया जाता है।

निदान

(इटियोलॉजी-Etiology)

निमित्त, हेतु आयतन, प्रत्यय, उत्थान, कारण और निदान, ये सब पर्य्याय शब्द हैं। जिन आहार-विहार आदि कारणोंसे रोगोंकी उत्पत्ति या वात आदि दोषोंकी क्षय, वृद्धि हो, उनको रोगका निदान या हेतु कहते हैं। जैसे मिट्टी खानेसे पाण्डुरोग और मक्खी खानेसे वमन होती है। अतः मिट्टीको पाण्डुका निदान और मक्षिकाभक्षणको वमनका निदान कहते हैं।

सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट निदान—इस निदानमें सन्निकृष्ट (समीपस्थ) और विप्रकृष्ट (दूरस्थ) ऐसे दो भेद हैं। जैसे कुपित वात आदिक दूसरोंकी अपेक्षा किये बिना ज्वर आदिको उत्पन्न करते हैं, अतः ये सन्निकृष्ट कारण हैं; और हेमन्त ऋतुमें संचित कफको शिशिर ऋतु प्रकुपित करती है, अतः वह विप्रकृष्ट कारण है। किसी किसी समय एक रोग ही अन्य रोगका कारण होता है। जैसे फोड़ा पकनेसे ज्वर, प्लीहावृद्धिसे उदर रोग, उदर रोगसे शोथ रोग, जुखामसे कास, काससे क्षय इत्यादि। इन रोगोंका निदान करनेपर मूल व्याधियोंके कारणोंको परम्परागत हेतु होनेसे विप्रकृष्ट कारण माना है।

पुनः आचार्योंने व्यभिचारी और प्राधानिक भेदसे अन्य दो प्रकार कहे हैं।

व्यभिचारी निदान—* जो सर्वत्र निश्चितरूपसे रोगका कारण न हो,

* यद्यपि व्यभिचारी कहकर निदान कहनेमें अव्याप्ति (व्यभिचारीकी व्याख्यामें

अर्थात् जो बलवानोंको बाधा न पहुँचा सके, मात्र निर्बलोंको रोगकी उत्पत्ति करा दे, वह व्यभिचारी निदान कहलाता है।

प्राधानिक निदान—विषादि प्रयोगसे प्रकृतिमें विकार होना, वह प्राधानिक हेतु कहलाता है। पुनः इस निदानके असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम भेदसे ३ प्रकार होते हैं।

१—असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग—विषयों (रूप-रस आदि) का इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होनेमें अयोग (हितकर विषयोंका सम्बन्ध न होना), अतियोग (अति विषय सेवन), या मिथ्या योग (हानिकर विषयोंका सेवन), ये हेतु होते हैं।

२—प्रज्ञापराध—मिथ्या ज्ञान आदि। प्रमादवश ब्रह्मवध, और गोवध आदि अधर्मका इसमें अन्तर्भाव होजाता है।

३—परिणाम—शीत, उष्ण और वर्षा आदि ऋतुके अयोग, अतियोग या मिथ्यायोगसे रोगोत्पत्ति होती है। अधर्मसे समुत्पन्न व्याधियोंका समावेश भी इसीमें होता है ऐसा आचार्य मानते हैं। निदानके दोष व्याधि और उभय हेतु ये तीन प्रकार हैं।

दोष हेतु—वसंत आदि ऋतु-भेदसे उत्पन्न मधुर आदि रसोंसे दोषोंके चय, वृद्धि प्रकोप, प्रशन आदि होकर रोगोंकी उत्पत्ति होती है। अतः इन रसोंको दोषके हेतुरूप कहा है।

व्याधिहेतु—मक्षिका-भक्षण, यह वमनका और मिट्टी खाना, यह पाण्डु रोगका कारण है। यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रकारकी मिट्टी खानेसे वात, पित्त या कफ, इनमेंसे एक दोष प्रकुपित होता है; तथापि भिन्न-भिन्न दोष प्रकुपित होने-पर भी पाण्डु रोगकी ही उत्पत्ति होती है; अन्य रोगकी नहीं। अतः मिट्टीमें पाण्डुरोगकी व्याधिहेतुता कही है।

चातुर्थिक ज्वर शमन होनेपर (विष या कृमिरूप बीज सूक्ष्मांशमें शेष रह जानेपर), गुड़ मिला हुआ भोजन या अन्य अपथ्य वस्तुका सेवन होनेसे पुनः विषम ज्वर आजाता है। मोतीझरा शमन होनेपर अन्त्रस्थ विष नष्ट होनेके

निदानके दर्शाये हुये लक्षणका अप्रवेश) दोषकी उत्पत्ति होती है। तथापि पाठकोंके बोधके लिये सदोष होनेपर भी श्रीहरिश्चन्द्राचार्यका वचन उद्धृत किया है। मात्र "बाह्य निमित्तं निदानम्" यह निदानका लक्षण अव्याप्ति, अति व्याप्ति (लक्षणका लक्ष्यसे बाहरके पदार्थोंमें प्रवेश हो जाना) और असंभव, इन तीनों दोषोंसे रहित है। इस लक्षणमें सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट और प्राधानिक, तीनों प्रकारके निदानका और मसूरिका, क्षय, कुष्ठ, आदि औपसर्गिक रोगोंके कारणरूप कीटाणुओंका भी अन्तर्भाव हो जाता है।

पहले सूर्यके तापमें अधिक भ्रमण होनेपर पुनः विष प्रकुपित होकर मधुरा ज्वर आजाता है। अतः ये भी व्याधिहेतुताके ही उदाहरण हैं।

उभय हेतु—सुश्रुत संहिता निदानस्थानके प्रथम अध्यायमें वातरक्तके निदानमें कहा है, कि हाथी, घोड़ा आदिकी सवारीपर अधिक प्रवास करनेसे या अन्य वातप्रकोपक कारणोंसे वायु कुपित होती है; और तीक्ष्ण, गरम, खट्टे, खारे भोजन या क्रोध आदिसे रुधिर विकृतिको प्राप्त होकर वायुके मार्गमें प्रतिबन्ध करता है। फिर कुपित वायु दुष्ट रक्तको और भी दूषित कर देती है। इस तरह दोष और व्याधि, दोनोंके प्रकोपक कारणोंको उभय हेतु कहते हैं।

इस उभय हेतुको भिन्न कहनेका कारण यह है, कि अनेक प्रसंगोंपर मात्र व्याधिनाशक औषधि नहीं दी जाती। अपितु दोषशामक और व्याधिनाशक दोनों गुण युक्त औषधि देनी चाहिये। औषधियोंकी शक्ति मर्यादित होनेसे सब अपनी-अपनी शक्ति अनुसार कार्य करती हैं। अतः कारणभूत दोषकी निवृत्ति करनेसे कार्यभूत व्याधिकी निवृत्ति सर्वत्र हो ही जायगी, ऐसा नहीं कह सकेंगे। अनेक समय रोगके कारणको दूर करनेका उपाय सीधी रीतिसे नहीं हो सकता। अतः पहले कार्यरूप रोगको नष्ट करनेके लिये ही चिकित्सा की जाती है। जैसे—श्लेष्म प्रधान तिमिर रोगमें रोगशामक ओषधि दी जाती है, परन्तु श्लेष्मनाशक वमन नहीं कराया जाता। इसलिए भगवान् धन्वन्तरिने सुश्रुत संहितामें लिखा है, कि—

"न वामयेत्तैमिरिकोर्ध्ववातगुल्मोदरप्लीहकृमिश्रमार्तान्॥"

अर्थात् तिमिर रोग, ऊर्ध्व वात, गुल्म, उदर रोग, प्लीहावृद्धि, कृमि रोग और श्रमपीड़ित; इन रोगोंसे युक्त रोगियोंको वमन नहीं कराना चाहिये। अतः सब प्रकारके रोगोंमें कार्य दूर होनेके साथ कारण, या कारण दूर होनेपर कार्य दूर हो ही जाय ऐसा नियम नहीं है। इसलिये उभयहेतु रूप विभाग पृथक् किया है।

उत्पादक और व्यञ्जक हेतु—उत्पादक और व्यञ्जक भेदसे द्विविध हेतु है। जैसे हेमन्त ऋतुमें मधुर रस कफकी उत्पत्ति करता है। अतः वह उत्पादक हेतु है; और उस कफसंचयकी प्रेरक वसन्त ऋतु होनेसे उसको व्यञ्जक हेतु कहा है।

बाह्य-आभ्यन्तर हेतु—बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे निदानके २ प्रकार हैं। आहार, आचार, काल आदि बाह्य हेतु और दोष-दूष्योंको आभ्यन्तर हेतु माना है।

यथार्थमें दोष-दूष्य, ये समवायी (उपादान) कारण हैं, निमित्त कारण नहीं हैं। जैसे घट बनानेके लिये मिट्टी उपादान कारण और कुम्हार निमित्त

कारण है। वैसे ही यहाँपर दोष-दूष्योंको उपादान कारण और दोष-दूष्योंमें विकार उत्पन्न करानेवाले मिथ्या आहार विहारको निमित्त कारण माना जायगा। इस विषयमें श्री वंगसेनाचार्यने स्पष्ट लिखा है कि:—

येनाहारविहारेण रोगाणामुद्भवो भवेत्।
क्षयो वृद्धिश्च दोषाणां निदानं हि तदुच्यते॥

इस वचनसे निदानका भेद स्पष्ट अवगत हो जाता है।

वाह्य हेतुओंसे वात, पित्त और कफ धातुओंका प्रकोप, शमन आदि होते रहते हैं। इनमें प्रकोप हेतु तीसटाचार्यने निम्नानुसार लिखा है।

वातप्रकोपक हेतु—व्यायाम, अपतर्पण, गिरना, कूदना, तैरना, अति चलना, चोट लगना, धातुक्षय, जागरण, मलमूत्र आदि वेगका धारण, चिन्ता, शोक, भय, त्रास, शीतकाल, रूक्ष, कसैली, कड़वी और चरपरी वस्तुका सेवन, आकाशमें बादल आजाना, प्रावृट् ऋतु आदि हेतुओंसे, भोजन पच जानेपर तथा रात्रि और दिनके तीसरे प्रहरमें वायु प्रकुपित होती है। भोजनपर भोजन, अल्प भोजन, असमयपर भोजन, उपवास, अति वमन, अति विरेचन, रक्त निकालना, पूर्व दिशाकी वायु, हिम पड़ना इत्यादि कारणोंसे भी वात-प्रकोप होता है।

पित्तप्रकोपक हेतु—चरपरी, खट्टी, गरम, विदाही, तीक्ष्ण, नमकीन आदि वस्तुओंका भोजन, क्रोध, उपवास, सूर्यके तापका सेवन, स्त्री-सहवास, तिल, अलसी, दही, शराब, सिरका और काँजी आदिका सेवन, इनके अतिरिक्त भोजनके मध्य और पचनकालमें शरद्, ग्रीष्मऋतु, मध्याह्नकाल और अर्धरात्रिके समयमें तथा क्षुधा, तृषाको रोकनेपर पित्तप्रकोप होता है।

कफप्रकोपक हेतु—गुरु, मधुर रस, अम्ल, स्निग्ध, उड़द आदि पदार्थ, भैंस आदिका दूध, ईख, द्रव पदार्थ, दही, दिनमें निद्रा, शीतल पदार्थ, अधिक घृत वाला भोजनऔर ठण्ड लग जाना, रात्रि और दिनका प्रारम्भ काल, भोजन कर लेनेपर तथा वसन्त ऋतु आदि हेतुओंसे भी कफ प्रकोप होता है।

इनमें कुपित दोषका प्राकृत आदि भेद करनेसे अनेक प्रकार होते हैं। यथाहि—वसन्तमें कफ, शरदऋतुमें पित्त, प्रावृट्ऋतुमें वात, ये प्राकृत भेद हैं। वसन्तमें पित्त या वात प्रकोप, वर्षाऋतुमें कफ या पित्तप्रकोप, शरदमें कफ या वातप्रकोप आदि विकृत भेद हैं। इसमें प्राकृत रोग प्रायः सुख-साध्य और विकृत रोग कष्टसाध्य होते हैं। किन्तु वर्षामें उत्पन्न होने वाले प्राकृत वातज, रोग भी प्रायः कष्ट-साध्य ही होते हैं।

अनुबन्ध्य-अनुबन्ध निदान:—निदानके अनुबन्ध्य (प्रधान) और अनुबन्ध

(गौण या उपद्रव) भेदसे दो प्रकार हैं। इन विभागोंका यह प्रयोजन है, कि, संसर्गज व्याधियोंमें उपद्रवोंसे विरोध न हो उस रीतिसे मुख्य रोगशामक चिकित्सा करनी चाहिये। जिससे प्रधान रोगके शमनसे बहुधा उपद्रव भी दूर हो जाते हैं। उपद्रव शमनार्थ पृथक् चिकित्साकी सर्वत्र आवश्यकता नहीं है।

किन्तु प्रकृति अनुरूप रोग कष्टसाध्य और प्रकृतिसे प्रतिकूल रोग सुखसाध्य होते हैं। जैसे वातप्रकृतिवालोंको वातरोग प्रकृतिके अनुरूप होनेसे कष्टसाध्य है; किन्तु कफ या पित्तप्रकृति वालोंको प्रकृतिके विरुद्ध होनेसे सुखसाध्य होता है एवं हेतु, पूर्वरूप और रूप अल्प प्रमाणमें हों और व्याधि-आरम्भक दोष उत्कट न हो, तो रोगको सुखसाध्य माना है। (च० सू० अ० १०।११) इनका मध्यम बल होनेपर कष्टसाध्य तथा उग्रबल होनेपर व्याधिको असाध्य माना जाता है।

क्वचित् दोष अपना स्थान छोड़कर स्थानान्तरमें गमन करता है, तब सम स्थितिमें रहनेपर विकृत न होनेपर भी विकारको उत्पन्न करता है। जैसे पित्त प्रकृतिस्थ होनेपर और कफका क्षय होनेपर जब वात प्रकुपित होकर पित्तको इतर स्थानमें ले जाय, तब पित्त बढ़ा ही प्रतीत होता है। कारण, वहाँपर गात्र-भेद, दाह, श्रम, दुर्बलता आदि उपद्रवोंकी उत्पत्ति कराता है। इस उदाहरणका तात्पर्य यह है कि, वहां पर वातधातुमें वैगुण्य उत्पन्न हुआ है, अतः उसीको स्वस्थानमें लाना चाहिये, न कि पित्तका ह्रास करना। परन्तु जो चिकित्सक मूढ़तावश पित्त बढ़ा हुआ मानकर पित्त विरेचन या पित्तका ह्रासकारक उपचार करता है वह नूतन रोगसृष्टिको उत्पन्न करता है। इस हेतुसे दोषोंके स्थान और क्षय-वृद्धिको जान करके ही चिकित्सा करनी चाहिये।

शास्त्राचार्योंने दोषोंकी क्षय, समानता और वृद्धि, त्रिविध गति कही है। इनमें दोष-प्रवृद्ध होनेपर अपने बल अनुसार अपने गुणोंको प्रदर्शित करते हैं, अर्थात् नाना प्रकारकी पीड़ा उत्पन्न करते हैं। धातु क्षय होनेपर अपने प्रभावको नहीं दिखा सकती; फिर भी साम्यावस्थाका भंग होनेसे प्रकृतिमें विकार हो जाता है। जब तक धातुएँ साम्यावस्थामें रहें, तब तक ही अपने-अपने कार्यको सम्यक् प्रकारसे कर सकती हैं। अतः चिकित्सकोंको चाहिये कि, क्षीण धातुको पुष्ट बनावें; कुपित हुईका शमन करें; बहुत बढी हुई को निकाल दें और साम्यावस्थामें रही हुई धातुका संरक्षण करें।

इनमें दोषोंको निकालनेमें विशेषतः वमन और विरेचनका उपयोग किया जाता है। परन्तु वमन विरेचनका उपयोग कहाँ करना और कहाँ न करना, इसके लिये भी नियम बनाया है। जैसे रक्तपित्तमें ऊर्ध्वगति हो तो विरेचन और अधोगति हो तो वमन कराना चाहिये; अर्थात् रक्तपित्तमें प्रतिमार्गसे दोषको

निकालना चाहिये। जो चिकित्सक इस गतिको न जाननेसे अधोगरक्तपित्तमें विरेचन अथवा ऊर्ध्वग रक्तपित्तमें वमन कराता है, वह अनर्थ ही करता है। इसलिए ज्वर आदि रोगोंमें और तिर्यक् दोष गतिमें शास्त्राज्ञानुसार वमन आदि क्रिया करानी चाहिये।

क्वचित् बडे हुए दोष कोष्ठ (आमाशय आदि) शाखा (रक्तआदि धातु और त्वचा), मर्म, अस्थि या सन्धि आदि भिन्न-भिन्न भागका आश्रय लेकर पीड़ा उत्पन्न करते हैं। इनमें स्थान भेदसे चिकित्सामें भेद होजाता है। यथाहि—आमाशयस्थ वातप्रकोप होनेपर स्थानकी अपेक्षासे (कफका स्थान आमाशय होनेसे) पहले रूक्ष स्वेद दें। पश्चात् वातप्रकोप शमनार्थ स्निग्ध क्रिया करें। इस तरह पक्वाशयमें कफ वृद्धि होनेपर कफनाश करानेके पहले स्निग्ध चिकित्सा करनी चाहिये।

एक ही प्रकारका दोष भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न व्याधियोंकी उत्पत्ति कराता है। जैसे रस, रक्तमें प्राप्त दोष सतत ज्वर, मांसमें व्याप्त होनेसे अन्येद्यु, मेदोगत होनेपर तृतीयक, और अस्थि या मज्जाश्रित होनेपर चातुर्थिक ज्वरको उत्पन्न कराता है। इनकी चिकित्सा करनेके पहले निर्णय करना चाहिये कि, यह दोष आमसहित है या आमरहित। यदि विकार आमसहित है तो स्रोतसोंका रोध, बलनाश, शरीरमें भारीपन, वायुका सम्यक् संचार न होना, आलस्य, अपचन, मुंहमें थूंक ज्यादा आना, मलावरोध, ग्लानि इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं, और निराम (आमरहित) है तो ये लक्षण नहीं होते। इस आमका वात, पित्त या कफके साथ अनुबन्ध होता है। इस हेतुसे अनुबन्धके अनुसार भिन्न-भिन्न लक्षण प्रतीत होते हैं।

साम-निराम वात लक्षण:—वातप्रकोपके साथ जब आमका सम्बन्ध होता है, तब मलावरोध, मन्दाग्नि, तन्द्रा, अन्त्रमें वायुकी गुड़गुड़ाहट, नाना प्रकारकी वेदना, शोथ और सुई चुभाने समान पीड़ा आदि लक्षण होते हैं। उस समय यदि स्नेहपान आदिद्वारा उपचार किया जाय, तो दर्द और बढ़ जाता है। जब लङ्घन आदि उपचारसे वात दोष निराम होकर विशद, रूक्ष और बन्धन रहित हो जाता है, तब पीड़ा मन्द हो जाती है। फिर स्निग्धादि उपचारोंसे वायु शमन हो जाती है।

साम-निराम पित्त लक्षण:—आमसहित पित्तप्रकोप हुआ हो, तो प्रस्वेदमें दुर्गन्ध, शिरदर्द, बेचैनी, अरुचि, दुर्गन्धयुक्त, गरम, हरा, नीला, चरपरा, खट्टा और कड़वा पित्त गिरना, भारीपन, कण्ठ और हृदयमें दाह तथा खट्टी दुर्गन्धयुक्त डकार आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। फिर आमदोष जल जानेपर पित्त दुर्गन्ध रहित बन जाता है; रुचि उत्पन्न कराता है और शारीरिक स्फूर्ति तथा

बलप्रदान कराता है।

साम-निराम कफ लक्षण:—कफ दोष आमसहित होनेपर कफमें दुर्गन्ध, क्षुधानाश और डकार आनेमें प्रतिबन्ध होना, ये लक्षण होते हैं। फिर निराम होनेपर कफ दुर्गन्ध रहित होकर सरलतासे बाहर आ जाता है, तथा तन्द्रा, निद्रा और आलस्य कम हो जाते हैं।

इन लक्षणोंसे साम-निराम दोषको जानकर सामावस्था हो तो आम-पाचक और निरामावस्था हो तो दोषशामक औषधकी योजना करनी चाहिये। यदि विशेष विचार किया जाय, तो ये वात आदि दोष पारस्परिक न्यूनाधिक प्रमाणमें मिश्रित होनेसे अनेक प्रकारके हो जाते हैं। भगवान् धन्वन्तरिने सुश्रुत संहितामें इनके ६२ भेद दिखाये हैं। ग्रंथवृद्धिके भयसे अत्र नहीं लिखे गये हैं।

उपरोक्त भेदके अनुसार निदानके निकट, दूर, व्यभिचारी, प्राधानिक, ये चार हेतु, असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध, परिणाम, ये तीन प्रकार; दोष हेतु, व्याधि हेतु और उभय हेतु रूप त्रिविध भेद; व्यञ्जक और उत्पादक हेतु; बाह्य आभ्यन्तर प्रकार; प्राकृत वैकृत भेद; अनुबन्ध्य अनुबन्ध भेद; स्वस्थान और परस्थान प्रवेश जनित विभाग तथा सामनिरामावस्था, इन सब विभागोंको जानकर समयानुरूप उचित चिकित्सा करनी चाहिये।

पूर्वरूप।

(प्रोड्रोमल सिम्पटम्स् Prodromal Symptoms)

जिस लक्षणसे उत्पन्न होने वाले रोगका ज्ञान हो जाय, उसे पूर्वरूप (Prodromal, Precursory, Premonitory, or Signal Symptoms) कहते हैं। यह पूर्वरूप स्वसंपादित रोगोंमें प्रतीत होता है; परन्तु आगन्तुज रोगोंमें प्रतीत नहीं होता। कारण धातुवैषम्य रोग संप्राप्तिसे पूर्वकालमें नहीं होता।

पूर्वरूपके दो प्रकार हैं—सामान्य और विशेष। जिससे भावी व्याधि विशेषका बोध हो; किन्तु वात आदि दोषजन्यताका विशेष ज्ञान न हो, वह सामान्य पूर्वरूपमें कहते हैं कि—"श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः।" (सु० उ० अ० ३९। २२) अर्थात् थकावट सी मालूम होना, बेचैनी, निस्तेजता, मुंहका स्वाद चला जाना, नेत्रमें जल आ जाना आदि पूर्व लक्षणोंपरसे ज्वर आनेका अनुमान हो जाता है; परन्तु किस जातिका ज्वर आवेगा यह निर्णय नहीं हो सकता। अतः यह सामान्य पूर्वरूप है।

विशेष पूर्वरूप उसे कहते हैं, कि भावी रोगारम्भक दोष लक्षणके अंश विशेषकी प्रतीति हो। जैसे-वातज्वरके पूर्व जम्भाई बार-बार आती रहे; पित्त-

ज्वरके पूर्व नेत्रदाह ज्यादा हो, और कफज्वरके पूर्व भोजनमें अधिक अरुचि, शरीरमें भारीपन आदि चिह्नों (इतर रोगोंसे भिन्नता दिखाने वाले लक्षणों) की स्पष्ट प्रतीति होती हो, तब इन लक्षणोंपरसे ज्वरकी जातिका भी बोध हो जाता है; अत: वे विशेप पूर्वरूप कहलाते हैं।

इस विशेप पूर्वरूपको भी रूप नहीं कहा। क्योंकि, यह तो व्याधि आरम्भक दोप मात्रका सूक्ष्म चिह्न है। जैसे तृणसमूहमें अग्निकी चिनगारी गिर जानेसे प्रारम्भमें थोड़ा-थोड़ा धूम्र निकलने लगता है। इसको यदि शमन करना चाहें, तो क्षण मात्रमें हाथ-वस्त्र आदिसे शान्त कर सकते हैं, परन्तु अग्नि प्रचण्ड रूपसे प्रज्वलित हो जानेपर सत्वर शान्त नहीं हो सकती, वैसे ही रोगारम्भक दोप लक्षणके एकमात्र व्यक्त विशिष्ट पूर्वरूपके समय थोड़ी-सी चिकित्सा की जाय तो व्याधि शीघ्र उपशम हो जाती है, किन्तु पूर्णरूप प्रकाशित होनेपर व्याधि सत्वर शमन नहीं हो सकती। यह पूर्वरूप और रूप, इन दोनोंमें भेद हैं।

अनेक समय पूर्वरूप प्रतीत होनेपर भी अमुक रोगका ही पूर्वरूप है, ऐसा बोध नहीं होता। व्याधि प्रत्यक्ष प्रकट होनेपर स्मरण होकर बोध हो जाता है जैसे दांतोंपर मैल जमना आदि चिह्न दृष्टिगोचर होनेपर भी प्रमेहके पूर्वरूपका निश्चय नहीं हो सकता, प्रमेहकी उत्पत्ति होनेपर प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष होती है। क्वचित् स्मरणके अतिरिक्त परिचित जनोंके उपदेशसे भी जाना जाता है।

इस पूर्वरूपमें अन्य रीतिसे शारीरिक, मानसिक और उभय मिश्रित, यह त्रिविधता अष्टाङ्ग हृदयके टीकाकार अरुणदत्ताचार्यने दिखलाई है। जैसे ज्वरमें आलस्य, जम्भाई, भारीपन आदि शारीरिक (शरीरसे सम्बन्ध रखने वाले) पूर्वरूप; व्याकुलता, हितोपदेशपर अश्रद्धा, चिन्ता आदि मानसिक पूर्वरूप, तथा खट्टे, खारे, चरपरे आदि अपथ्य सेवनमें प्रीति और स्वादु पथ्य भोजनमें अप्रीति होकर हानिकर पदार्थका सेवन करना आदि लक्षण शारीरिक मानसिक होनेसे उभय मिश्रित पूर्वरूप कहलाते हैं।

रूप।

(सिम्पटम्स एण्ड साइन्स Symptoms & Signs)

रोगका पूर्वरूप जो अव्यक्त—अनुद्भूत था, वही जब उद्भूत हो जाय (स्पष्ट दीखने लगे) तब उसे "रूप" कहते हैं। डाक्टरीमें लक्षण, जो रोगी समझ सकता हो उनको Symptoms और जो दोप चिह्न चिकित्सकको प्रतीत हों उनको लक्षण Signs कहते हैं। इस रूपके संस्थान, व्यञ्जन, लिङ्ग, लक्षण, चिह्न और आकृति ये पर्याय शब्द हैं। जैसे शरीरका उष्ण होना, नेत्र-दाह, प्रस्वेद, निद्रानाश, उबाक, वमन, प्यास, पतले दस्त आदि चिह्नोंसे पित्त-

प्रधान ज्वरका बोध होता है; अतः उन्हें रूप कहा है।

इस रूपकी व्याख्यामें अरुणदत्ताचार्य कहते हैं, कि मात्र शारीरिक व्याधि चिह्नका अनुबन्ध होनेसे ग्रहण करें। मानस और शारीर-मानस, दोनों अस्थायी होनेसे नष्ट भी हो जाते हैं। अतः वे नियमपूर्वक व्यक्त भावको प्राप्त नहीं होते।

उपशय ।

औषध, आहार और विहार, जो रोगीकी प्रकृतिके अनुकूल हों, और रोगको शमन करें, × वे उपशय कहलाते हैं। इसको सात्म्य भी कहते हैं। इन सब औषधादि उपशयके ६-६ भेद हो जाते हैं।

१—हेतु विपरीत–बाह्याभ्यन्तर हेतुसे विपरीत औषध, अन्न और विहार।

२—व्याधिविपरीत—ज्वर आदि रोगोंके विपरीत औषध, अन्न और विहार।

३—हेतुव्याधिविपरीत—कारण और कार्य, उभयसे विपरीत औषध आदि।

४—हेतुविपर्यस्तार्थकारी—हेतुके समान प्रतीत होते हुए भी विपरीत अर्थ (रोग प्रशमन) करने वाली औषध आदि।

५—व्याधिविपर्यस्तार्थकारी—व्याधिको बढ़ाने वाली प्रतीत होते हुए भी विपरीत अर्थ (व्याधि प्रशमन) करने वाली औषध आदि।

६—हेतुव्याधिविपर्यस्तार्थकारी—हेतु और रोग दोनोंकी वृद्धिकारक प्रतीत होते हुए भी विपरीत अर्थ, उनको शमन (प्रभावसे) करने वाली औषध आदि।

इस तरहके औषध (हरीतकी आदि), अन्न (रक्तशाली आदि) और विहार

× अष्टाङ्ग हृदयकारने रोगोंके दृष्टापचारज (कुपथ्य आदि जन्य), अपूर्वापराधज (पूर्व जन्मोंके प्रारब्ध जनित) और दृष्टादृष्टज (उभय हेतु जनित), ऐसे ३ प्रकार किये हैं। इनमेंसे जो दृष्टापचारज रोग हों, उनपर पथ्य औषध, आहार, विहार सेवन करनेपर सत्वर लाभ पहुँचता है अर्थात् उनपर उपशमका पूर्ण उपयोग होता है। किन्तु अपूर्वापरावजनित और दृष्टादृष्टजनित संकर रोगोंमें उतने परिमाणमें और उतना त्वरित लाभ नहीं पहुँचता। फिर भी आग्रहपूर्वक सात्म्यका सेवन करना चाहिये।

जिन रोगोंमें सात्म्य सेवनसे लाभ पहुँचे, उनको दृष्टापचारज रोग; व्याधिके नियत कालकी समाप्ति होनेपर या प्रायश्चित्त कर्मसे जो शान्त हो, वह अदृष्टापचारज; एवं विकृत दोष और दुष्ट प्रारब्ध, दोनोंका नाश होनेपर जो दूर होता है, वह संकर रोग कहलाता है।

(वाणी, देह और मनसे होने वाली चेष्टा, व्यायाम, व्यवाय, जागरण, अध्ययन, गीत, भाषण, धारणा, आदि रूप), इनका सेवन सुखकारक (रोगप्रशमनकारक) हो, तो इनको रोगका "उपशय" या "सात्म्य" कहते हैं (औषध आदिके साथ देशकालका भी अन्तर्भाव वाग्भट्टाचार्यने किया है) सुखावह कहनेमें यह प्रयोजन है, कि वे प्रकृतिके अनुकूल और रोगप्रशमनकारक होने चाहिये ।

जैसे दाहयुक्त तृषामें शीतल जल उपशय माना जायगा, परन्तु दाह और प्यास युक्त नूतन सामज्वरमें शीतल जलपान और दहीका सेवन रोगीको सुख कर प्रतीत होनेपर भी व्याधिवर्द्धक होनेसे शास्त्रदृष्टिके अनुसार हानिकारक हैं। अतः इनको उपशय नहीं कह सकेंगे। अपथ्यजन्य सुखका उपशयमें अन्तर्भाव नहीं हो सकेगा। व्याधि, प्रकृति, देश और काल आदि भेदसे उपशयरूप माने हुए औषध, अन्न और विहार अनुपशय रूप हो जाते हैं। अतः इनकी योजना विचारपूर्वक करनी चाहिये ।

(१) हेतुविपरीत औषध—शीतज्वरमें सर्दी दूर करनेके लिए शुण्ठ्यादि क्वाथ। गुरु, स्निग्ध, शीतसे उत्पन्न व्याधिमें लघु, रूक्ष और उष्ण औषध। संतर्पणसे उत्पन्न व्याधिमें अपतर्पण तथा अपतर्पणसे उत्पन्नमें संतर्पण चिकित्सा। ये सब औषधियाँ रोगोंके हेतुको नष्ट करनेवाली होनेसे इनको हेतुविपरीत औषध माना है ।

(२) व्याधिविपरीतऔषध—कफज तापमें घृतपान, अतिसारमें पाठादि औषधि, विषमें शिरीष, कुष्ठमें खदिर, प्रमेहमें हल्दी तथा मृदुज्वरमें नागरमोथा और पित्तपापड़ाका क्वाथ। ये सब दोषकी अपेक्षा किए बिना अपने प्रभावसे ही रोगोंको शमन करती हैं। अतः ये सब व्याधिविपरीत औषध कहलाती हैं ।

(३) हेतु व्याधि (उभय) विपरीत औषध—वातज शोथमें दशमूल क्वाथके सेवनसे वात विकार और शोथ, कारण-कार्य, दोनों शमन होते हैं। अतः ऐसी औषधोंको हेतु-व्याधि विपरीत कहा है ।

(४) हेतु विपरीतार्थकारी औषध—पित्तप्रधान व्रणकी सूजनमें गर्म-गर्म पुल्टिस बांधना। यद्यपि इस चिकित्सामें उष्णतावृद्धिरूप कारणजन्य पित्त शोथ होनेसे गर्म उपचार हेतु विरुद्ध है, तथापि औषध उष्णताको बढ़ाकर रोगके हेतुको नष्ट करनेमें सहायता पहुँचाती है। इसलिए यह हेतुविपरीतार्थकारी औषध है ।

प्रकृतिने संसारके समस्त प्राणियोंके शरीरोंमें 'रोगनिरोधक' नामकी एक विशिष्ट प्रच्छन्न शक्ति प्रदान कर रखी है। इसकी भूमिकामें चार प्रधान हैं। त्वचा, श्लैष्मिककला लसीका ग्रन्थि और रक्तके श्वेताणु समूह। ये रोगोंके आक्रमणोंसे प्राणियोंकी रक्षा करती हैं। यही शक्ति विषमज्वर, विसूचिका

प्रभृति रोगोंके अन्तःप्रविष्ट विषको तटस्थ बनानेके लिए रक्तके भीतर विषघ्न या कीटाणुसह द्रव्योंको पैदाकर कुछ समय तक स्वास्थ्यको अक्षुण्ण बनाए रखनेका प्रयत्न करती हैं।

इस रोग निरोधकशक्तिमें वायुमण्डल तथा बाह्य उपचारोंके तारतम्यके फलस्वरूप न्यूनाधिकता हो जाया करती है। इसकी सबलावस्थामें आक्रमण तथा प्रत्याक्रमण करनेवाले विष कीटाणु, या कीटाणु अपने-अपने रोगोंको पैदा करनेमें असमर्थ रहते हैं। बाह्य उपचारोंकी सहायतासे जो शक्ति सम्पादित होती है उसको अर्जित रोग निरोधक शक्ति कहते हैं।

इसी प्रकार अफीम खाने वालोंके शरीरमें अफीम-निरोधक शक्तिका संचय हो जाता है, और तब मानव प्राणघातक अफीम भोक्ताको मार नहीं सकती प्रत्युत उपकार ही करती है।

मधुमेहाक्रान्त पिताकी सन्तानको सशर्कर मधुमेहका भय होना स्वाभाविक है। अफीम यकृत्‌को निरंकुश बना शर्कराको पैदा होने नहीं देती। अतः सशर्कर मधुमेहमें अफीमका प्रयोग हेतु प्रत्यनीक उपशय कहा जाता है। प्लेग, शीतला, हैजा प्रभृति रोगोंके अन्तःक्षेपित विषोंको रोगोत्पत्तिरोधक होनेसे हेतु विपरीत उपशय कहा जाता है। उपरोक्त प्रसंगोंमें अफीम तथा प्लेग आदि रोगोंमें अन्तःक्षेपित विष अर्जित रोग निरोधक शक्तिको बलवान बनाकर रोगोंके वेगोंको रोककर मानव देहकी रक्षा करते हैं।

(५) व्याधिविपरीतार्थकारी औषध—दूषित भोजनसे उत्पन्न वमन कराने वाली मदनफल (मैनफल) आदि औषध देना अथवा पित्तातिसार रोगोंमें एरंडतैल या दूधसे विरेचन कराना, ये अपने-अपने रोगोत्पादक दोषोंको निकालकर व्याधियोंको दूर करती हैं। अतः ये व्याधिविपरीतार्थकारी औषधियां कहलाती हैं।

(६) हेतुव्याधि विपरीतार्थकारी औषध—अग्निसे जले हुए भागपर सेक, उष्ण गुणवाली अगर आदि औषधोंसे सिद्ध तैल, मलहम आदिको पट्टी या लेपको गरम करके लगानेमें उष्ण रस वाली औषध गरम की जाती है, यह पित्तप्रकोप रूप हेतु और रोग (अग्निदग्धव्रण), दोनोंसे विपरीत होनेपर भी रोगप्रशमनकारक है। शीतल उपचारका वहाँपर निषेध किया है।

जङ्गम विषप्रकोपमें स्थावर विष और स्थावर विषप्रकोपमें जंगम विषसे उपचार करना (कारण, जंगम विष और स्थावर विष क्रमशः ऊर्ध्वगति और अधोगति वाले हैं; अर्थात् परस्पर दोनों एक दूसरेसे विरुद्धगति प्रभाव वाले हैं) यह हेतु और व्याधि, दोनोंसे विपरीत होनेपर भी हितावह है। अतः ऐसी औषधोंको हेतु व्याधिविपरीतार्थकारी कहा है।

(७) हेतुविपरीत आहार—परिश्रम और वात प्रकोपसे उत्पन्न ज्वरमें मांस रस और भात।

(८) व्याधिविपरीत आहार—कफज ज्वरमें यवागू; सब प्रकारके ज्वरमें पुराना लाल चावल और यव आदिसे बना भोजन; अतिसार रोगमें स्तम्भन कारक मसूर आदि भोजन।

(९) हेतुव्याधिविपरीत आहार—वातकफज ग्रहणी रोगमें वातकफ-शामक और ग्रहणीनाशक तक्र। शीतसह वातप्रकोपजन्य नूतन ज्वरमें यवागू दीपन, लघु और उष्णवीर्य होनेसे वातको और अपने प्रभावसे ज्वरको भी हरती है।

(१०) हेतुविपरीतार्थकारी आहार—पैत्तिक शोथमें दाहकारक भोजन विरुद्ध भासमान होनेपर भी लाभदायक है।

(११) व्याधिविपरीतार्थकारी आहार—दूषित अन्नसे उत्पन्न वमन रोगमें शालि आदि भोजन और पैत्तिक अतिसारमें विरेचक दूध आदिका सेवन व्याधिसे विपरीत होनेपर भी अर्थकारी है।

(१२) हेतु-व्याधिविपरीतार्थकारी आहार—अत्यन्त मद्यपान करनेसे उत्पन्न मदात्यय रोगमें फिरसे विधिवत् मर्यादा-पूर्वक उसी मद्यका सेवन करना लाभप्रद होता है। (सु० उ० अ० ४७)

(१३) हेतु विपरीत विहार—दिनमें शयनसे उत्पन्न कफ-वृद्धिमें हेतुसे विपरीत रात्रिका जागरण और रात्रिमें जागरणसे उत्पन्न व्याधिमें दिनमें शयन। व्यायामजनित श्रममें विश्रान्ति और आसनसुखजनित विकारमें व्यायाम।

(१४) व्याधिविपरीत विहार—पालीके बुखारमें ज्वर आनेके समय भुलानेके लिये अन्य विषयमें मनको लगा देना और उदावर्त्त रोगमें शब्द-पूर्वक हृदय और कण्ठके बलसे वायुको अधो देशमें प्रवाहित करना आदि। श्री० वाप्यचन्द्राचार्यके मतमें मन्त्र, ओषधिधारण, देवबलि, नियम-पालन, प्राय-श्चित्त, होम और गुरु-देव आदिकी सुश्रुषा इत्यादि भी।

(१५) हेतुव्याधि विपरीत विहार—दिनमें शयन करनेके अभ्याससे उत्पन्न स्निग्ध तन्द्रामें रात्रिको तन्द्राविपरीत रूक्ष "स्निग्धतानाशक" जागरण।

(१६) हेतु विपरीतार्थकारी विहार—वातप्रकोपजन्य उन्माद रोगमें भय दिखाना और त्रास (दुःख) देना आदि। (भय और त्रास, दोनों वातप्रकोप होनेपर भी उन्मादमें हितकारक हैं।

(१७) व्याधिविपरीतार्थकारी विहार-अजीर्ण या विषजनित वमन होने

पर गलेमें अँगुलियाँ, मयूरपुच्छ या कमल नाल डालकर वमन कराना इत्यादि।

(१८) हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी विहार—व्यायाम-जनित मूढवात और ऊरुस्तम्भमें जलमें तैरना। जल प्रतरणमें जलकी शीतलताके कारणसे अन्तरकी उष्णता बाहर नहीं निकल सकती; अन्तरमें ही प्रवेश करती है, ताकि मेद और कफका शोषण होजाता है और संचित जमा हुआ रक्त फैल जाता है। इस तरह व्यायामसे भी दोनोंका शोषण हो जाता है और वायु निरावरण होकर स्वमार्गमें गमन करने लगता है।

उपर्युक्त मर्यादा अनुसार सब रोगोंके लिये व्यवस्था करें। जो शास्त्रमर्यादा अनुसार विहित हों, वे ही उपशय कहलाते हैं। जो औषध, आहार या विहार उक्त नियमसे विपरीत हों, भावी रोगके उत्पादक हों उन सबको शास्त्रकारोंने अनुपशय (असात्म्य) कहा है।

अपनी प्रकृति और परंपराके अनुकूल आहार और विहार हो, वह सात्म्य तथा प्रतिकूल भोजन, कार्य, श्रम आदि असात्म्य कहलाते हैं। जैसे एक मनुष्य पंजाबमें रहने वाला है, जो सर्वदा गेहूँकी रोटी, ताजा शाक और उड़दकी दाल खाता है, वह मद्रासमें जाकर भात और इमलीका जल आदि खाने लगे या महाराष्ट्र और बरारमें जाकर ज्वारीकी रोटी, अरहरकी दाल और पीली मिर्चकी चटनी आदि खाने लगे, तो वह आहार उसे असात्म्य होगा। अथवा एक बंगाली जो प्रतिदिन भात, मछली, शाक आदि खाता है, वह सौराष्ट्रमें जाकर बाजरीकी रोटी और मूङ्ग-उड़दकी दाल सेवन करने लगे, तो वह उसके लिये असात्म्य हो जायगा।

इस तरह एक सात्विक जीवन परायण ब्राह्मण, जो कभी शराब नहीं पीता, धूम्रपान नहीं करता, मांस नहीं खाता, वह किसी शूद्रके सहवासमें रहकर, मांस, मद्य, सिगरेट आदिका व्यसन करके अत्यधिक मात्रामें सेवन करने लगे, तो यह आहार कुछ वर्षोंमें घातक बन जायगा। तामसिक जीवन परायण शूद्रको अपेक्षा कुल हानि कम पहुँचेगी।

एक मनुष्य शुद्ध प्रकाश वाले शीतल स्थानमें बैठकर आफिसमें कार्य करता है, वह सूर्यके तेज तापमें खेती या अन्य शारीरिक श्रमका कार्य करने लगे, तो वह चाहे जितना सबल, स्वस्थ और उत्साही हो, फिर भी प्रकृतिके प्रतिकूल व्यवहारके हेतुसे हानि उठायगा।

सम्प्राप्ति

(पैथोलॉजी—Pathology)

व्याधिजनक दोषके व्यापार विशेषसहित व्याधिजन्यको + सम्प्राप्ति

+ अपथ्य आहार विहारसे विकृत हुये एवं देहमें गति करते हुये दोषके द्वारा जिस

(Pathology) कहते हैं, अर्थात् वात आदि दोषोंकी नाना प्रकारकी दुष्टि (प्राकृत या वैकृत; अनुबन्ध्य रूपा या अनुबन्ध रूपा; एक प्रकार, दो प्रकार या सब प्रकारकी; रूक्ष आदि हेतुसे सम्पूर्ण रूपमें या स्वल्पांशमें) होनेपर जब वह चारों ओर फैल जाती है; तब वह दोष दुष्ट हो जाता है। फिर अपने स्थानको छोड़ देहमें ऊपर, नीचे तिरछे या जहां अनुकूलता मिल जाय, वहाँ गमन करता है, अथवा चारों ओर फैल जाता है। उस व्यापारके फैलनेकी क्रिया सह व्याधि उत्पत्तिको रोगकी संप्राप्ति कहते हैं। इस संप्राप्तिके जाति और आगति पर्याय शब्द हैं। +

उदाहरणार्थ—ज्वर रोगकी सम्प्राप्ति होनेमें वात आदि कुपित दोषोंका पहले आमाशयमें प्रवेश, आम अनुगमन (आमका रस धातुके साथ मिलकर नीचे ऊपर गमन) फिर रसवहा नाड़ियोंके मार्गोंमें प्रतिबन्ध; पक्वाशयस्थ अग्निका निरसन; पश्चात् उस अग्निका बाहर निकलकर अभिसरण और सकल देहको तपा सब गात्रोंको प्रतप्त करना इत्यादि क्रियारूप संप्राप्तिसे यह ज्वर रोग ही है; ऐसा निश्चय होता है।

इस रीतिसे रोग विनिश्चय (डायग्नोसिस Diagnosis) करनेमें संप्राप्ति क्रिया विशेषके ज्ञानका उपयोग होता है। ज्वरकी सम्प्राप्ति होनेपर आमाशय दोष और अग्निमान्द्य आदिके बोधसे रोग शमनके लिये लंघन, पाचन, स्वेद

प्रकारसे व्याधिका उद्भव होता है-उस क्रियाको सम्प्राप्ति कहते हैं।

यथा दुष्टेन दोषेण यथाचानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः॥ (मा० नि०)

+ बौद्धयुगके पूर्व आयुर्वेदके सभी अष्टांगोंका पर्याप्त विकास हुआ था। बौद्धयुगमें सिद्ध पारदसे उपचार प्रारम्भ करनेसे काष्ठौषधि आदिकी चिकित्सा और शल्यक्रियाका प्रयोग अति कम हो गया। तब पंचकर्मोंसे देहका शोधन, तैल मर्दनसे वातनाड़ियोंकी विकृति आदिको दूरकर विभिन्न रोगोंका शमन करने आदि क्रियाओंमें बाधा पहुँची, सबसे अधिक हानि प्राचीन ग्रन्थोंके विनाशसे हुई। बौद्ध और जैन सम्प्रदायने ब्राह्मणोंद्वारा लिखित ग्रन्थोंको जलमें प्रवाहित करवा दिया या अन्य रीतिसे उन्हें नष्ट किया। उस समय सम्प्राप्तिको विस्तारसे समझाने वाले जो जो ग्रन्थ होंगे वे सब नष्ट हो गये। अब स्वल्पांशमें कुछ पंक्तियां मिलती हैं।

नव्य चिकित्सकोंने संप्राप्ति शास्त्रको सम्यक् विकसित किया है। उनने बड़ी नाजके कई ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें दर्शायी हुई उपयोगी संप्राप्ति गति आदिमेंसे जो जो आयुर्वेदीय सिद्धांतके अनुरूप हो उनको संग्रहीत करके आयुर्वेदशैलीसे पुनः इन सम्प्राप्ति शास्त्रको उन्नत बनानेकी ओर आयुर्वेदके महारथियोंको लक्ष्य देना चाहिये। व. ना.

आदि ज्वरघ्न क्रिया निःसंदेह करा सकते हैं। यद्यपि दोषोंके अवान्तर व्यापार भावद्वारा दोषग्रहणसे ही इस रीतिकी संप्राप्तिका ज्ञान हो सकता है; तथापि चिकित्सा विशेषके लिये ही संप्राप्तिको पृथक् किया है। जैसे व्याधिदर्शक पूर्वरूप और रूप, दोनोंमें समानता होनेपर भी पूर्वरूपको रूपसे पृथक् किया है।

इस सम्प्राप्तिके संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल और कालभेदसे औपाधिक ५ प्रकार होते हैं।

(१) **संख्या सम्प्राप्ति**—वात आदि कारण भेदसे ८ प्रकारके ज्वर, ५ कास, ५ श्वास, ५ गुल्म, ७ महाकुष्ट इत्यादि संख्या विशेष सम्प्राप्ति भेद कहलाते हैं। चरक चिकित्सामें संख्या आदि सम्प्राप्तिमें विधि सम्प्राप्ति अलग कही है। विधिके निज और आगन्तु भेदसे २ प्रकार कहे हैं। पुनः वे साध्यासाध्य और मृदु-दारुण भेदसे विभाजित होते हैं। मृदुरोगको साध्य और सुख साध्य कहा है। दारुणको कृच्छ्रसाध्य कहा है। पुनः मृदु-असाध्य (याप्य) और दारुण असाध्य (छोड़ देने योग्य), ऐसे ४ विभाग होते हैं। इस विधि विभागका माधवाचार्यने संख्या विभागमें अन्तर्भाव किया है।

(२) **विकल्प सम्प्राप्ति**—कार्यपरसे सम्मिलित वात आदि दोषोंके अंशांशका अनुमान करना, उसको विकल्प सम्प्राप्ति कहते हैं। अर्थात् सम्मिलित दोषोंमें उनकी हीन, मध्यम तथा उग्रताकी अंशांश कल्पना सम्प्राप्तिके इस विभागद्वारा की जाती है। जैसे पर्वतपर ऊर्ध्वगति युक्त धूआँ देखकर यह पर्वत अग्नि वाला है, ऐसा निरूपण किया जाता है; अर्थात् कारण परसे कार्यका अनुमान किया जाता है, वैसे दोषप्रकोप और गुणप्रभावके अनुमान करनेको विकल्प सम्प्राप्ति कहते हैं। जैसे वातप्रकोप कदाचित् एक गुणसे (विशेष करके रूक्ष गुणसे, क्वचित् लघुसे, क्वचित् शीतसे) और कभी-कभी दो, तीन या अधिक सम्मिलित गुणोंसे होता है। पित्त कटु (चरपरे) अम्ल आदि गुणोंसे कुपित होता है। यह भी एक, दो, तीन या अधिक गुणोंसे दूषित हो जाता है। इस तरह कफ भी न्यूनाधिक गुणोंसे प्रकुपित होता है। अलावा वात आदि दोष (वात, पित्त, कफ और रक्त) परस्पर मिलनेसे एक दूसरोंको दूषित बना देते हैं; अर्थात् दोषप्रकोप हेतुकी विचित्रतासे होता है। इन सबकी पृथक्-पृथक् तथा मिले हुएकी कल्पना देश, काल, आहार-विहार आदिसे की जाती है।

अ. वातगुणप्रकोपक—वात-प्रकोपक वातके रौक्ष्य, शीत, लाघव, वैशद्यादि (फैलाना इत्यादि) गुणोंके सब भावोंके वर्धक कषाय रस और कलाय (मटर) हैं। रूक्ष, शीत, लघुगुणोंकी वृद्धिके लिये चौलाईका शाक; रूक्ष और शीत गुणके लिये सफेद ईख; तथा केवल रूक्षके लिये सीधु (ईखके रसकी शराब) है।

आ. पित्तगुणप्रकोपक—पित्तको सब प्रकारसे बढ़ाने वाले चरपरे रस और शराब हैं। कटु (चरपरा), तीक्ष्ण और उष्ण गुणवर्धक हींग, तीक्ष्ण और उष्ण गुणवर्धक अजवायन, और केवल उष्ण गुण वृद्धिके लिये तिल है।

इ. कफगुणप्रकोपक—कफके सब गुणोंको बढ़ाने वाला मधुर रस और भैंसका दूध है। स्नेह, गुरु और मधुरता वृद्धिके लिये खिरनी (रायणी) के फल ("फलं गुरु स्निग्धं स्वादु कषायं" च। (सु० सू० अ० ४६), शीतल और गुरु गुणकी वृद्धि अर्थ कसेरु ('कसेरुकद्वयंशीतं मधुरं तुवरं गुरु' भाव०) तथा केवल शैत्यगुणार्थ मृणाल–कमलका कोमल दण्ड (शीतलं, तिक्तं कषायं०' च० द०)।

इस रीतिसे गुणोंका विशेष विस्तार शास्त्रपरसे जान लेवें। भिन्न-भिन्न वस्तुओंके सेवनसे भिन्न-भिन्न दोष और गुणके वृद्धि-क्षय होते हैं। इन हेतुओंको जानकर दोषप्रकोप और गुणप्रकोपकी कल्पना की जाती है। इस हेतुसे शास्त्रकारोंने यह विकल्प सम्प्राप्ति रूप विभाग पृथक् किया है।

(३) प्राधान्य सम्प्राप्ति—स्वतन्त्रता और परतन्त्रताके हेतुसे (मुख्य रोग और उपद्रव परसे) प्रधानता–अप्रधानता गौणता कही जाती है। जैसे नाना प्रकारके लक्षण युक्त ज्वर रोगमें ज्वरका प्राधान्य है, और दाह, अतिसार, श्वास, कास आदि लक्षण गौण माने जाते हैं। क्षय रोगमें धातुक्षय कफप्राधान्य और ज्वर आदिकी गौणता मानी जाती है। ये मुख्य और गौणत्व या प्राधान्य और अप्राधान्य परस्पर सापेक्ष हैं।

(४) बलाबल सम्प्राप्ति—हेतु, पूर्वरूप और रूप इनके शास्त्रोक्त सब लक्षण मिलते हैं, या थोड़ेसे। यदि सब लक्षण प्रतीत होते हैं तो व्याधिको सबल और एक देश (थोड़े लक्षण) अवगत होनेपर निर्बल जानना चाहिये।

इस रीतिसे व्याधिके संतर्पण अपतर्पणरूप उपशय पूर्णांशमें सुखानुबन्ध कारण है, या थोड़े अंशमें, इस बातका भी निर्णय करना चाहिये।

(५) काल सम्प्राप्ति—रात्रि-दिवस, वर्षके वसन्त आदि ऋतुरूप अंश या वसंत आदि ऋतुके अंश तथा भुक्त आहारके अंश या एक देशमे व्याधिके समय (व्याधिके वृद्धि-ह्रासके हेतुका समय) को जान लेना चाहिये। जैसे कफ प्रधान रोग विशेषतः रात्रि या दिनके प्रारम्भमें, वसन्त ऋतुमें और भोजन कर लेनेपर बलवान् रहता है। पित्तज व्याधि दिन रातके मध्य भागमें और शरद ऋतुमें; तथा वातज व्याधि वर्षा ऋतु आदि कालमें प्रायः बलवान् रहती है। कारण रात्रिके प्रथम भागमें कफ, मध्यमें पित्त, अन्तमें वायु, इस रीतिसे दिन और

आयुके प्रारम्भ, मध्य और अन्तकालमें भी इन दोषोंके वृद्धि-ह्रास होते रहते हैं। एवं वसंत ऋतुमें कफप्रकोप, शरदमें पित्तप्रकोप, वर्षाकालमें वातप्रकोप, भोजन करनेपर कफ, पच्यमान मध्य अवस्थामें पित्त और भोजनके परिपाक होनेके पश्चात् वायु प्रकोपकाल माना जाता है।

निमित्त आदि कारणत्रयी

आचार्योंने जैसे रोगपरीक्षार्थ निदान पञ्चककी योजना की है; इस तरह अन्य रीतिसे (निमित्त कारण, समवायी कारण, असमवायी कारण, ये कारण-त्रय कहे हैं); तथा चिकित्साके सौकर्यार्थ दोषोंके चय प्रकोप, प्रसर और स्थान संश्रय आदिका विचार भी किया है।

सब कार्योंके निमित्त, समवायी और असमवायी ये तीन कारण होते हैं। सूक्ष्म कीटाणु, विष, अभिघात, अपथ्य आहार-विहार और मानसिक चिन्ता आदि कारणोंसे दोषोंमें विषमता होती है, अतः ये सब "निमित्त कारण" कहलाते हैं। दोष (वात, पित्त, कफ,) और रस-रक्त आदि दूष्य "समवायी कारण" हैं। शास्त्रीय परिभाषा अनुसार कर्म और गुणके आश्रयको समवायी कारण (उत्पादन कारण) माना है। रोग-सम्प्राप्त्यर्थ वात आदि दोषोंमें वैषम्य होनेपर जब रस रक्त आदि दूष्योंसे सम्मिलित होते हैं, तब संयोगरूप व्यापार होता है, वह व्यापार "असमवायी कारण" कहलाता है। अर्थात् कार्योत्पादक व्यापारको असमवायी कारण कहा है।

चयप्रकोपादि अवस्था—स्वस्थानमें दोषकी वृद्धि होना, उसे "चय" कहते हैं। स्वस्थानसे दोष उन्मार्गगामी होकर जब अपना स्वरूप प्रकट करता है, तब वह "प्रकोप", नाड़ीस्रोतों द्वारा दोष शरीरमें फैलता है तब "प्रसर" और जब दूष्योंके संयोगसे एक अथवा अधिक स्थानमें दुष्ट बनता है तब "स्थान संश्रय" कहलाता है। +

यदि दोषोंके चय होते ही पहचाननेमें आजाय, तो शीघ्र प्रतिकार हो सकता है। फिर रोगवृद्धि होकर प्रकोप, प्रसर आदि अवस्थाओंकी प्राप्ति ही नहीं होती। इसी हेतुसे आयुर्वेदके प्राचीन ग्रन्थोंमें सब रोगोंके विनिश्चयका तत्त्वज्ञान युक्तिपूर्वक विस्तारसह सरलतासे समझाया है। रोगोंकी विभिन्न-विभिन्न अवस्थाओंको जाननेके साधनों (लक्षणों) का जितना सूक्ष्म और दृढ़ अभ्यास होता है, उतनी ही चिकित्सामें अधिक सफलता मिलती है।

+ संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्।
व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेत् भिषक्॥
(सु० सू० अ० २१।३६)

वात आदि दोषोंमेंसे प्रधान दोष, निमित्त और चय आदिको जान लेनेसे रोगको शमन करनेका शीघ्र प्रबन्ध हो सकता है। जैसे पित्त विदग्ध होकर दाहसहित वमन स्वल्पांशमें होती हो, तो प्रवालपिष्टी सत्वर लाभ पहुँचाती है, और अत्यधिक परिमाणमें पित्तद्रव युक्त वमन होती हो, तो सुवर्णमाक्षिक भस्म हितकर है। इनमें प्रवाल शीतल और स्वादुता उत्पादक गुण युक्त होनेसे पित्तकी तीक्ष्णता और अम्लताकी शामक है, तथा सुवर्णमाक्षिकमें रोधक गुण होनेसे वह पित्तकी द्रवताका प्रतिरोध करती है। इस रीतिसे विकृति शामक और दोषसे विपरीत औषधियोंके उपयोगार्थ लक्षण-ज्ञान सहायक होता है। इस लक्षणज्ञानको ही चिकित्साका मुख्य आधार माना है।

उपर्युक्त आयुर्वेदीय रोगमर्यादाको समझ लेनेसे चिकित्सामें कदापि प्रतिबन्ध नहीं होता। कदाचित् चिकित्सक किसी रोगके नामको न कह सकें, या न जान सकें; तथापि इस दोष लक्षणज्ञान पद्धतिके अनुसार उपचार करनेमें सफलता ही मिलती है। इस विषयमें अष्टाङ्गहृदयकारने लिखा है, कि—

> विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात्कदाचन।
> न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥

चिकित्सकको कदाचित् रोगसंज्ञाका बोध न हो, तो भी लज्जित नहीं होना चाहिये। कारण, सब रोगोंकी निश्चित संज्ञा (नाम) नहीं हो सकती। जैसे ई० १९१९ में वातश्लैष्मिक सन्निपात (इन्फ्लूएन्जा) संसारमें सर्वत्र फैल गया, तब एलोपैथी आदि अन्य शास्त्र वालोंको चिकित्सा करनेमें भारी प्रतिबन्ध हुआ था; किन्तु आयुर्वेदके लिये संप्राप्तिके अनुसार चिकित्सा करनेमें कुछ भी प्रतिबन्ध नहीं हुआ। यह आयुर्वेदकी एलोपैथी आदि शास्त्रोंसे विशेषता है।

सब प्रकारके रोगोंकी उत्पत्ति नाना प्रकारके आहार-विहारके सेवनसे वातआदि प्रकोप होकर होती है। अतः इन सब रोगोंके अव्यभिचारी (सबमें प्रवेशित) कारण कुपित मल ही है।* यद्यपि आगन्तुक व्याधियोंकी उत्पत्तिमें दोष-प्रकोप पहले नहीं होता तथापि उत्पत्तिके पश्चात् उत्पन्न द्रव्यमें गुण योगके समान (गुलाब आदि पुष्पोंमें सुगन्धके समान) दोषप्रकोप हो जाता है, ऐसा भगवान् आत्रेयने चरकसंहिता (सू० अ० २०। ८) में कहा है। अतः आगन्तुक रोगोंमें भी चिकित्सा वात आदि दोष-प्रकोपको

---

* "नास्ति रोगो विना दोषैः"। (सु० सं०)
"सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः। (अ० हृ०)
"दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम्।" (अ० हृ०)

लक्ष्यमें रख करके ही की जाती है।

उपर्युक्त अहित सेवन आदि कारणजन्य रोगोंके अलावा कचित् एक रोग उत्पन्न होकर वही अन्य रोगका कारण हो जाता है। जैसे ज्वरसन्तापसे रक्तपित्त, रक्तपित्तसे ज्वर, रक्तपित्त सह ज्वरसे शोष रोग, प्लीहावृद्धिसे उदर रोग, उदर रोगसे शोथ, अर्शसे उदर रोग और गुल्म, प्रतिश्यायसे कास, काससे क्षय तथा क्षय रोग और उरःक्षतसे शोष (धातुक्षय) रोगकी उत्पत्ति हो जाती है। किन्तु जब तक कारणरूप रोगका त्रिविध अहित सेवनरूप निमित्त (चरक संहितामें कहे हुए शब्द, स्पर्श आदि विषयोंके सम्बन्धमें अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग आदि त्रिविध हेतु) से सम्बन्ध नहीं होता, तब तक नूतन रोगकी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए इन रोगोंके हेतुका भी साक्षात् या परम्परासे उक्त अहित सेवनरूप हेतुमें ही समावेश होता है।

फिर इन रोगोंमें कचित् यह विचित्रता भी दृष्टिगोचर होती है कि, एक रोग दूसरे रोगका कारण होकर दूसरे रोगको उत्पन्न कर आप शान्त हो जाता है; तथा कोई रोग इतर रोगको उत्पन्न करता है और आप भी जैसाका वैसा बना रहता है। इस रीतिसे व्याधिसंकर और व्याधिमेलके रोग भी देखनेमें आते हैं। इन व्याधिसंकर (मिश्रित) रोगोंको नाना प्रकारकी घोर पीड़ा देने वाले कहा है।

आयुर्वेदके मूल द्रव्य-त्रिदोष

सांख्य सूत्रकार महर्षि कपिलदेवजीने सृष्टिनिर्माण पुरुष और प्रकृतिके सहमिलनसे माना है। उनके मतानुसार पुरुष निर्लेप, निर्गुण और अपरिणामी है तथा प्रकृति जड़ और परिणामी क्षण क्षणमें, नूतन रूपको धारण करने-वाली है। ये प्रकृति और पुरुष, दोनों अचिन्त्य, अनादि और अनन्त हैं।

कपिलदेवजीने प्रकृतिको त्रिगुणमयी महाशक्ति माना है अर्थात् सृष्टिके कार्य-परिणाम-रूपान्तरके अनुरूप सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणोंको स्वीकार किया है। ये ३ गुण कभी पृथक् नहीं होते, सम्मिलित ही रहते हैं। यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति महत्तत्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा और फिर पञ्च भूतात्मक रूपान्तरको प्राप्त होती है। इस प्रकार वही प्रकृति पञ्चभूतात्मक स्थूल रूपान्तर होनेपर सोम, सूर्य और अनिल (विद्युत्प्रधान वायु) भावमें परिणत होती है और प्रतीयमान विश्व (ब्रह्माण्ड) को धारण करती है। पुनः वही प्रकृति कफ, पित्त, वात भावमें परिणत होकर प्राणिमात्रके शरीरको धारण करती है।

जिस तरह पृथ्वी द्रव्य (मिट्टी) प्रकृति भावका त्याग किये बिना अन्न, फल, काष्ठ, लोहा, पत्थर, वस्त्र, रबर आदि विविध कार्योंमें रूपान्तरित

होजाता है, उसी तरह सोम, सूर्य और अनिलका कफ, पित्त, और वातरूपमें रूपान्तर होता है। इस प्रकार करोड़ों बार रूपान्तर होनेपर भी मूलभूत प्रकृति अपने यथार्थ स्वरूपको नहीं त्यागती। इस हेतुसे इसका कदापि अपक्षय या विनाश नहीं होता। इस वास्तविक सिद्धान्तको स्वीकार कर भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि:—

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥ (सु० सू० अ० २१)

जिस तरह चन्द्र, सूर्य और वायु क्रमशः सौम्यांशसे कफ प्रदान, आग्नेयांशमें पित्तशोषण और उत्सर्जन क्रिया द्वारा जगत्को धारण करते हैं, उसी तरह कफ, पित्त और वात क्रमशः अनवरत संग्रह, पचन और वियोजन क्रियाद्वारा इस देहको धारण करते रहते हैं।

यह देह वात, पित्त, कफ; तीनों दोषोंके संमिश्रणसे बना है। अर्थात् त्रिदोष देहका उपादान कारण है। यदि देहमेंसे इन तीनों दोषोंको पृथक् किया जाय तो कुछ भी शेष नहीं रहेगा।

कतिपय विद्वानोंने वात, पित्त, कफको तिलमें तैलके समान व्यापक माना है और देह और त्रिदोषका सम्बन्ध आधार-आधेय रूप कहा है; किन्तु यह उनका कथन सदोष है। इन दोषोंमें वायुको ही प्रधान माना है और शेष दोषोंको गौण।

जीवित अवस्थामें तीनों दोषोंकी क्रिया होती रहती है। मृत्यु होनेपर प्राणवायु, जो दूसरे दोष और धातुओंकी क्रिया कराता है, वह देहसे पृथक् होजाता है। जिससे वायुके परिभ्रमण करनेके स्थान, पित्त, कफ और रक्तादि धातुओंकी देह धारक क्रिया बन्द होजाती है और इन सबकी विक्रिया हो जाती है। देहस्थ सूत्रधारवायु चेतनारूप या प्राणतत्त्व (विद्युच्छक्ति) रूप है। देहमें सर्वत्र वात संस्थान (Nervous system) के भीतर विचरण करता रहता है। इस वायुका स्वभाव चलनशील है। १-२ मिनट भी स्थिर नहीं रहता। संसार और देहकी सर्व चेष्टाका सूत्रधार यही है। संसार व्यापी वायुको केन-श्रुतिने मातरिश्वा कहा है। एवं छांदोग्य श्रुतिके पञ्चमाध्याय तथा बृहदारण्यक श्रुतिके पञ्चमाध्याय तथा षष्ठाध्यायमें प्राणको सर्व स्वर्या कहकर स्तुति की है। सृष्टिमें वायु तारा, सूर्यग्रह आदिका और देहके भीतर रक्तादि धातुओंका परिभ्रमण सतत कराता रहता है और सबके मृत या अपचयात्मक अणुओंको दूरकर नवजीवन प्रदान कराता रहता है।

वायु (प्राणवायु) के संचारसे संसारमें अवस्थित दृश्य और अदृश्य, सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय सर्व कार्य द्रव्योंके भीतर अहर्निश परिवर्तनरूपमें होता रहता

है। यह क्रिया इतनी सूक्ष्म होती रहती है कि किसी यन्त्र विशेषकी सहायतासे भी विदित नहीं हो सकती, फिर भी होती रहती है। इसका अनुभव सब वस्तुओंमें होता रहता है। जैसे एक कपड़ा नया लाकर पेटीमें बन्द किया। १०-२० वर्षके पश्चात् देखते हैं, तो विदित होता है कि वह सरलतासे फट जाता है। ऐसा क्यों हुआ ? क्या, सुदृढ़ तन्तु एक दिनमें वलहीन होगये होंगे ? एक मकान बनवाया १००-२०० वर्षोंके पश्चात् उसकी दीवारोंका चूना सरलतासे निकलने लग जाता है, उसकी यह अपक्षयात्मक क्रिया एक ही दिनमें हो गई होगी ? नहीं, यह सूक्ष्म क्रिया निरन्तर सदा होती रहती है, इसी तरह, एक बच्चा कुछ वर्षमें युवा बन जाता है फिर वृद्ध होता है। उसके शरीरके प्रत्येक कोषमें वर्द्धन और अपक्षय होनेकी क्रिया (चयापचय Metabolism) सर्वदा होती रहती है। बाल्यावस्थामें वर्द्धनक्रिया सबल रहती और वृद्धावस्थामें अपक्षयात्मक क्रिया सबल रहती है; इस नियमानुसार शरीर बढ़ता है और फिर बलक्षय होकर नष्ट होजाता है। पर इस तरह ये सब क्रियायें अनुभूत होनेपर भी दृष्टिगोचर नहीं हो सकती ।

वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषोंकी क्रिया भिन्न भिन्न प्रकारकी है। वातका कार्य विक्षेप फेंकना अथवा वियोजन करनेका है। वह दूषित अणुओंको स्थानसे बाहर निकालता है। पित्त अणुओंका शोषण-पचन या सात्म्यीकरण करता है। कफ रिक्त स्थानकी पूर्तिके लिये विसर्ग-उत्पत्ति का संग्रह करता है। ये तीनों क्रियाएँ जब तक समभावसे चलती रहती हैं तब तक स्वास्थ्य बना रहता है। या शरीरमें होनेवाली चयापचय क्रिया समभावसे होती रहती है, तब तक शरीर स्वस्थ रहता है। जब अत्यधिक अपथ्यय आहार विहार या कीटाणुओंके प्रबल आक्रमणके हेतुसे होता है, तब पहिले इन वात, पित्त, कफात्मक सूक्ष्मतम घटकोंका साम्य नष्ट होता है, विनाशक्रिया सबल बनती और रोगोत्पत्ति होती है। इस हेतुसे आचार्योंने "विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च" अर्थात् वात, पित्त, कफ दोष विकृत होनेपर देहको नष्ट करते और अविकृत रहनेपर देह-बलकी रक्षा करते हैं। जब अपथ्य सेवन होता है या कीटाणुओंका आक्रमण होता है। तब प्रतिकूल बलकी अपेक्षा यदि घटकोंमें बल (जीवनीय शक्ति-Vitality) अधिक है तो वह उस विरोधी द्रव्य या कीटाणुओंको नष्ट कर डालता है। अतः शरीरके स्वास्थ्यका सारा आधार उन दोषोंपर ही है।

महर्षि आत्रेय कहते हैं कि आयुर्वेदका प्रयोजन देहके मूलभूत तीनों दोषोंकी समताका संरक्षण करना है। किन्तु जब किसी प्रबल कारणसे दोषोंकी क्रियामें विषमता होती है, तब दोष वैषम्यके निवारणार्थ विश्रान्ति, लंघन, शोधनक्रिया और औषधसेवन आदि उपचारोंकी आवश्यकता होती है।

ये देहारम्भक वात, पित्त और कफदोष बाह्येन्द्रिय या किसी यन्त्र विशेषकी सहायताद्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकते इनका अस्तित्व कार्यानुमेय है अर्थात् इन दोषोंके कार्य और उनके गुणोंके परिणामोंको देखकर अनुमान लगाया जाता है।

आयुर्वेद विज्ञानकी दृष्टिसे सम्पूर्ण शारीरिक क्रिया इन त्रिदोषपर अवलम्बित है और मानसिक क्रिया सत्व, रज और तमोगुणकी समता, वृद्धि और हीनतापर आधार रखती है। एवं यह क्रिया वायु आदि दोषोंपर अपना अच्छा बुरा प्रभाव डालती है।

वायु देहका तन्त्र यन्त्र धर तथा प्राण, उदान, समान, अपान, व्यानात्म रूप है। वह किसी कारणवश विकृत होता है, तब अन्य दोषोंको देहके भीतर एक स्थानसे दूसरे स्थानमें फेंकता है और विविध रोगोंकी संप्राप्ति कराता है।

वायुकी गति सामान्यतः विरुद्ध नहीं होती क्योंकि वायु अति बलवान् है और वह प्रकुपित होनेपर तत्काल सारे शरीरमें हलचल मचा देती है। क्वचित् किसी कारणवश कफप्रकोप हो जाता है, तब कफ दूषित होकर किसी स्थानमें चिपककर अपनी विकृति फैलाता है। इस हेतुसे वायुकी गतिमें जब अन्तराय आता है, तब इस आपत्तिको दूरकर स्वास्थ्यकी रक्षा करनेके लिये पित्तदोष हो सके उतनी गर्मी उत्पन्न करता है। फिर श्लेष्माको जलानेका और वायुको मुक्त करनेका प्रयत्न करता है। इस अवस्थामें जिस रोगकी सम्प्राप्ति होती है, वह कफ प्रधान कहलाती है।

कफके समान पित्तप्रकुपित होकर किसी स्थान विशेषमें संगृहीत हो जाता है। फिर वायुके वहनमें प्रतिबन्ध होता है। उस समय स्वास्थ्यकी रक्षाके लिए कफ अपने शामक गुणकी वृद्धि करा, पित्तको दमन करने और वायुके मार्गसे विघ्नको हटानेका प्रयत्न करता है। उस अवस्थामें जो रोग उपस्थित होता है, वह पित्तप्रधान कहलाता है।

क्वचित् २ या ३ दोषोंकी विकृति हो जाती है; तब द्विदोषज या त्रिदोषज रोग कहलाता है। जैसे वातपित्त ज्वर, वातकफ ज्वर, पित्तकफ ज्वर, त्रिदोष ज्वर आदि।

त्रिदोषकी नूतन वैज्ञानिक शैलीसे संक्षेपमें व्याख्या की जाय, तो वातवहानाड़ियोंमें वहन करने वाले प्राणतत्व (विद्युत्) को वातधातु और उसके विकारसे उत्पन्न वायुको (अन्त्र आदि अवयवोंमें) दूषित वात, शरीरमें विभिन्न रासायनिक परिवर्तन करनेवाला आमाशय, यकृत् आदि अवयवोंमें उत्पन्न और विविध ग्रन्थियोंके आग्नेय रसको पित्त; ये रस विकृत होनेपर पित्त मल, तथा

आमाशय आदिकी श्लैष्मिक कलासेसे उत्पन्न श्लेष्मा (रस) जो देहका पोषक है, उसे कफधातु तथा विकृत रसको कफ मल आधुनिकोंके समाधानार्थी कह सकते हैं।

जब ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं, तब कभी एक दोषप्रकोप, कभी दो दोष प्रकोप और कभी तीनों दोषोंके प्रकोपके लक्षण उपस्थित होते हैं। ऐसी अवस्थामें दोषप्रकोपपर लक्ष्य देकर चिकित्सा करनेसे सत्वर रोग-शान्ति होती है। अनेक कीटाणुजन्य रोगोंमें कीटाणु-प्रकोप मुख्य रहता है तथापि उनमें वात, पित्त, कफके लक्षण भी प्रतीत होते हैं, ऐसी अवस्थामें केवल कीटाणुओंके नाशकी दृष्टिसे चिकित्सा करनेकी अपेक्षा वात आदि दोषोंकी विकृतिको देखकर उपचार करनेमें रोगीका अधिकतर हित होता है।

देह स्वस्थ होनेपर वात, पित्त, कफ, तीनों देह संरक्षक बनते हैं। किन्तु रुग्णावस्था आनेपर इन दोषोंमें वैगुण्य आजाता है। फिर देहकी रक्षा करनेमें ये असमर्थ हो जाते हैं। इस वैगुण्यावस्थामें कभी वातकी हीनता या विवृद्धि, कभी पित्तकी न्यूनता या विवृद्धि और कभी कफका क्षय या वृद्धि हो जाती है। कभी इन, दोषोंकी विकृति वेगपूर्ण होने लगती है, तब वह अवस्था आशुकारी (Acute) और जब विक्रिया मन्द वेगपूर्वक होती रहती है तब चिरकारी (Chronic) कहलाती है। इस हेतुसे प्रत्येक रोगको विक्रिया भेदसे आशुकारी और चिरकारी ये दो अवस्थाओंकी प्राप्ति होती रहती है।

उपरोक्त विवरणके अतिरिक्त "त्रिदोष" आयुर्वेदका मूलभूत सिद्धान्त है। जिसकी महत्ताको समझनेके लिये विषयका गहन अध्ययन और मनन अत्यावश्यक है। पंच महाभूत और त्रिदोषका सम्बन्ध, इनकी धातु और दोष संज्ञाका कारण, दोनोंके उत्पत्ति भेद और स्थान, इनके गुण और कार्यका विस्तृत विवेचन आदि गहन विवादास्पद विषय हैं, जो इस ग्रंथकी सीमासे बाहर है। और साधारण पाठकोंको इनसे अधिक लाभ होनेकी आशा नहीं की जा सकती अतः अत्यन्त जरूरी अंशका ही ऊपर वर्णन किया गया है।

जीवाणु और रोगोत्पत्ति

इस भूमण्डलपर सूक्ष्म जीवाणुओंकी अनेक जातियां अवस्थित हैं। इसका विशेष परिचय अणुवीक्षणयन्त्रकी सहायतासे मिला है और मिल रहा है। इन जीवाणुओंकी जातियोंके समूहके मुख्य २ विभाग होते हैं। अणुवीक्षणयन्त्रसे प्रतीत होने योग्य-वेद्य जीवाणु (Microbes) और अप्रतीत अवेद्य जीवाणु (Ultra microbes) इनमें जो वेद्य समूह है, उसके परिमाण निर्णयार्थ वैज्ञानिकोंने मानदण्ड नियत किया है। उसे माइक्रोन (Micron) संज्ञा दी है,

उसकी संक्षिप्त संज्ञा ग्रीक अक्षर M (U) म्यू रखी है। यह परिमाण मीटरका दश लाखवां और मिलीमीटरका हजारवां हिस्सा अर्थात् १/२५००० इञ्च है। जो अवेद्य समूह है, उसका परिचय उसके कार्यसे ही मिल सकता है। इस सम्बन्धमें अभीतक विशेष प्रकाश नहीं मिला।

वेद्य जीवाणुओंके कई समूह उपकारक और कई अपकारक हैं। दूधसे दही बनाने वाले, किण्वसे शराब निर्माण करनेवाले और मलका खादमें रूपान्तर करनेवाले जीवाणु विश्वनिर्माण और सृष्टि संरक्षणमें उपकारक हैं। अपकारक जाति समूहमें वस्तुओंकी अपक्रान्तिकर तथा रोगोत्पत्तिकर (Pathogenic) वर्ग अवस्थित हैं।

अवेद्य समूहमें भी रोगोत्पादक कई जातियां हैं, किन्तु वे सब सूक्ष्मतम निस्यन्दक (Filter) से भी छनकर बाहर निकल जाते हैं। इस तरह यह वर्ग समूह अवेद्य और निस्यन्दनशील (Filterable) होनेसे इसके विभाग या जातिका परिचय प्राप्त नहीं हो सका है।

आयुर्वेद दृष्टिसे विचार करनेपर इन जीवाणुओंको ही रोगोंकी उत्पत्तिका मूल कारण मान लेना निश्चय ही एक भ्रामक सिद्धान्त है। अनेक प्रकारके जीवाणु शरीरके अन्दर या स्पर्शमें हर समय रहते हैं परन्तु रोगोत्पत्ति क्यों नहीं होती ? किसी प्रकारसे संक्रामक रोगके फैलनेपर क्योंकर कुछ आदमी रोगसे बच जाते हैं ? इत्यादि प्रश्नोंका एकमात्र यही उत्तर है कि, दोष जब तक साम्यावस्थामें हैं अर्थात् जब तक शरीरकी जीवनीय शक्ति सबल है तब तक जीवाणु रोगोत्पत्ति करनेमें सफल नहीं हो सकते हैं। अतः इनको रोगोत्पत्तिका मूलभूत कारण न मानकर मिथ्या आहार विहारके समान ही दोष विकृतिकर सहायक कारण माना जा सकता है।

इस विषयके विस्तृत विवादमें न जाकर पाठक वर्गके लिये केवल इतना ही जान लेना लाभप्रद सिद्ध होगा, कि अनेक जीवाणुओंको विभिन्न संक्रामक रोगोत्पत्तिमें सहायक हेतुरूप शक्तिशाली कारण सिद्ध किया जाचुका है।

प्राचीनकालमें और आज भी अपठित मूर्ख ग्रामीण जनतामें अनेक जनपद व्यापी रोग—विसूचिका, ग्रन्थिक ज्वर, शीतला आदि चारों ओर फैल जाते हैं तब उनको दैवप्रकोप मानकर देवसेवा, पूजा, दान यज्ञादि किया करते हैं और अनेक प्रकारसे उनकी मनौती माना करते हैं। इसका मुख्य कारण जब तक अज्ञात रहा, तब तक यह मान्यता प्रचलित रही। गत शताब्दीमें अणुवीक्षण यन्त्रकी शोध होनेपर संक्रामक और जनपदव्यापी रोगोंके सहायक कारणोंका अन्वेषण होने लगा, परिणाममें जीवाणुओंकी सृष्टिका ज्ञान हुआ और फिर उनकी जाति, समूह आदिका निर्णय किया गया है। वेद्य जीवाणुओंके मुख्य

२. विभाग हैं। १. उद्भिद् जीवाणु (Bacteria) और प्राणि जीवाणु (Protozoa)।

वनस्पति शास्त्रमें उद्भिद् जीवाणुओंका विशेष वर्णन मिलता है, वहांपर Schizomycetes or fission fungi संज्ञा भी दी है। यह एक कोषीय, वर्णहीन जीवाणु है। क्वचित् हलका लाल या हरा रंग होता है। इस समूहमें उन्नत (Higher) और अनुन्नत (Lower) दो प्रकार हैं। इनमें अनुन्नतके भीतर रोगोत्पादक उद्भिद् जीवाणुओंको लिया है।

रोगोत्पादक उद्भिद् जीवाणु समूहके विभाग:—नव्य चिकित्सा शास्त्रने इस वर्ग समूहको आदर्श वनस्पति कीटाणु (Eubacteria) मान लिया है। आकृति भेदसे इसके ५ विभाग किये हैं। १. अण्डाकृति (Coccacea २. सरलाकृति (Bacillaceae), ३. विभाजन क्षम एककोषीय (Bacteriaceae) और ४. कर्पिणी आकृति मरोड़ीसदृश घुमावदार (Spirillacea) इनके अतिरिक्त नत्रजन प्रधान एककोषीयसमूह (Nitrobacteriacae) है; किन्तु यह रोगोत्पादक नहीं है।

अण्डाकृति जाति समूह—इसके ७ उपविभाग हैं। १. जंजीरसदृश (Streptococcus); २. समुदायबद्ध (Staphylococcus); ३. युग्मक (Diplococcus); ४. अर्धगोलस्फीत (Neisseria); ५. सूक्ष्म कोषाकार (Micrococcus); ६ ईषत्पाटल वर्णयुक्त-गुलाबी (Rhodococcus); ७. श्वेत वर्णयुक्त (Leuconostoc) इनमें युग्मक समूहमें श्वसनक ज्वरके जीवाणु तथा अर्ध गोल स्फीत समूहमें पूयमेह जीवाणुओंका अन्तर्भाव होता है।

सरलाकृति आदि समूहोंकी अनेक जातियां हैं। इनका वर्णन करनेपर ग्रंथ बहुत बढ जाता है इस हेतुसे नहीं किया।

प्राणिकीटाणु जाति समूह—१. कृमि पादयुक्त (Sarcodina) २.ध्वजयुक्त (Mastigophora), ३. पक्ष्मयुक्त (Infusoria), ४. विभाजनक्षम रेणु रूप (Sporozoa), इनमें मास्टिगोफोरा निद्रारोगप्रद; और इन्फूसोरिया प्रवाहिकाप्रद हैं तथा सार्कोडिना प्रवाहिका पीड़ितके मलमें कभी कभी मिल जाता है। एवं स्पोरोझोआकी प्लाजमोडियम जातिके प्राणि जीवाणु विषमज्वरोंमें प्रतीत होते हैं।

मधुरा, राजयक्ष्मा आदिमें विशेष प्रकारके कीटाणु प्रतीत होते हैं। ये कीटाणु मुख, नासिका, त्वचा और गुह्य मार्गसे देहमें प्रवेश करते हैं और कितने ही बाहर क्षत होनेपर उसके भीतर प्रवेशित होते हैं। इनमेंसे कतिपय जातिके कीटाणु देहमें प्रवेशकर कुछ समय तक अपनी सन्तानोंकी वृद्धि करने

लगते हैं। इस अवस्थाको संक्रामक रोगोंका चयकाल कहते हैं। भिन्न-भिन्न रोगोंमें यह चयकाल निम्नानुसार न्यूनाधिक दिनोंका होता है।

संक्रामक रोगोंका चयकाल

Incubation Period of Infectious Diseases.

रोग	चयदिन	रोग	चयदिन
मधुरा	८ से २१	परिवर्त्तित ज्वर	४ से १०
वातश्लैष्मिक ज्वर	२ से ४	मसूरिका	१० से १४
ग्रन्थिक ज्वर	३ से ७	लघु मसूरिका	११ से २१
प्रसूति ज्वर	३ से १०	रोमान्तिका	७ से १४
विषम ज्वर	२५	विदेशी रोमान्तिका	५ से २१
काला जार	६० से १८०	कर्णमूलिक ज्वर	१२ से २३
प्रलापक ज्वर	५ से २१	कण्ठरोहिणी	२ से १०

जब इन जीवाणुओंकी आबादी बढ़ जाती है, तब उनसे निकले हुए विषसे रक्त आदि दूषित हो जाते हैं। फिर जिस जातिके जीवाणु हों उनके अनुरूप रोग उत्पन्न होता है। इन सब रोगोंके लक्षण भिन्न भिन्न होते हैं। इनके लक्षणोंका विचार इन रोगोंके वर्णनमें यथा स्थान किया जायगा।

यदि इन संक्रामक रोगोंसे पीड़ित रोगी या उनके कुटुम्बी दुर्लक्ष्य करते हैं, तो वह रोगी अनेकोंको रोग प्रदान करता है। संक्रामक रोगसे पीड़ित रोगीको रोगावस्थामें सम्हालना चाहिये, इतना ही नहीं, बल्कि रोग निवृत्त होनेपर भी जब तक देहमेंसे जीवाणु निकलते रहें, तब तक जन समाजसे पृथक् रहना चाहिये।

इन जीवाणुओंका आक्रमण सबपर समभावसे नहीं होता। भीतरकी शक्ति सबल है, तो जीवाणुओंको नष्ट कर देती है और शक्ति निर्बल है, तो कीटाणु आक्रान्त हो जाते हैं। जो सीलदार मकानमें रहनेवाले और खाने-पीनेमें स्वच्छन्दी मनुष्य हैं, वे जीवाणुजन्य रोगोंके अधिक शिकार बनते हैं।

इन जीवाणुजन्य रोगोंमें अनेक रोग बाल्यावस्थामें, अनेक युवावस्थामें, और अनेक वृद्धावस्थामें लागू होते हैं और कतिपय रोग स्त्रियोंको और कतिपय पुरुषोंको अधिक आक्रान्त करते हैं। कितने ही रोग स्त्री, पुरुष, बालक, युवा वृद्ध इन सबपर समभावसे आक्रमण करते हैं। मसूरिका, रोमान्तिका, काली खांसी, ये रोग बाल्यावस्थामें अधिकतर प्रतीत होते तथा बड़े मनुष्योंको क्वचित् प्राप्त होते हैं।

कतिपय जातिके जीवाणुओंके आक्रमणसे बचनेके लिये उन जीवाणुओंके

विष द्रव्यका अन्तःक्षेपण करानेका नूतन रिवाज चला है। जैसे शीतला, विसूचिका, विषम ज्वर आदिके लिये कितनेही अन्तःक्षेपण (इञ्जेक्शन) रोग निरोधक शक्ति सबल बनाकर रोगावस्थामें रोगको नष्ट करनेके लिये बनाये हैं। उदाहरणार्थ–कालज्वर, विषमज्वर, कण्ठरोहिणी, परिवर्तितज्वर, उद्भिद्-कीटाणुजन्य प्रवाहिका, श्वसनक ज्वर और फिरङ्ग रोग आदि। इन सब विशेष औषधिसे (अन्तःक्षेपणसे) लाभ होनेपर भी भीतर विष संग्रह होता है या नहीं, और जीवनीय शक्तिको कितनी हानि पहुँचती है? यह निर्णय करना शेष है। यदि क्वचित् रोग परीक्षा भूलवाली है, या शक्तिका विचार नहीं किया जाता, तो इन अन्तःक्षेपणकी औषधियोंसे भयंकर हानि पहुँच जाती है।

इन सब रोगोंपर आयुर्वेदिक औषधियाँ सर्वत्र सुलभ हैं। हानिका लेशमात्र भय नहीं है। परीक्षामें भूल होनेपर भी प्रबल हानि नहीं होती। जीवनीय शक्तिको सबल बनाती हैं, ताकि रोग निवृत्त होनेपर पुनः रोगाक्रमणका भय नहीं रहता।

चिकित्सा पद्धति।

चिकित्सा किसे कहना, इस विषयमें भगवान् आत्रेयने कहा है, कि:—

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम्॥

मिथ्या आहार-विहारसे शरीरमें रहे हुए वात, पित्त, और कफ आदि दोषों और रस रक्तादि धातुओंमें उत्पन्न हुई विकृति जिस क्रिया द्वारा दूर होकर वे समानताको प्राप्त हों, वह चिकित्सा कहलाती है और चिकित्सकोंका वही कर्म माना गया है।

इस चिकित्साके दोषप्रत्यनीक और व्याधि प्रत्यनीक, ये २ विभाग हैं।

(१) दोष प्रत्यनीक चिकित्सा—प्रत्यनीक अर्थात् विरुद्ध। वात आदि दूषित दोषों व धातुओंके न्यूनाधिक लक्षणोंपर विचारकर दूषित दोषों व धातुओंको समस्थितिमें लाने वाली औषधियोंके उपचार और क्रियाओंको दोषप्रत्यनीक चिकित्सा कहते हैं। रोगोंके बाह्य लक्षणोंपर विशेष लक्ष्य न देकर जिस दोषप्रकोपसे रोग और लक्षणोंकी उत्पत्ति हुई हो, उस मूल हेतुके विरुद्ध चिकित्सा करनेसे दोष सन्तानका विच्छेद होता है। जैसे किसी रोगमें वात दोषकी विकृति हुई हो, तब प्रथम यह निश्चय करना चाहिये कि रूक्षता, शीतता, चलत्व आदि गुणोंमेंसे किस गुणकी वृद्धि या ह्रास होनेसे विकृति हुई है? इस बातको जानकर दोषके गुणविरोधी औषध और आहार-विहार आदि क्रियाओं द्वारा धातुओंको सम अवस्थामें स्थापित करनेसे दोषसन्तान-

प्रवाह बन्द हो जाता है। इस चिकित्साको श्रेष्ठ कहा है। चिरकारी (मन्द गति वाले) नूतन और जीर्ण रोगोंमें इसे विशेष हितकर माना है।

(२) व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा—रोगविरुद्ध उपायोंकी योजना करनेको व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा कहते हैं। जैसे अतिसार शमनार्थ व्याधिविपरीत स्तम्भक औषध देना। इस चिकित्सामें दोष-दूष्य विवेक नहीं होकर मात्र लक्षणोंपर ही लक्ष्य रखा जाता है जिससे अनेक समय बाहर निकालने योग्य विषका भी अवरोध हो जानेसे (जैसे-अतिसारका आमावस्थामें ही शमन हो जानेसे) उस दूषित द्रव्यका शरीरके अन्य भागोंमें प्रवेश होकर कालान्तरमें पुनः उसी व्याधिकी अथवा अन्य किसी व्याधिकी उत्पत्ति हो जाती है। यह दोष इस चिकित्सामें रहा है; फिर भी सत्वर मारक विसूचिका, मूर्च्छा आदि रोगोंमें दोष-दूष्य विवेकको छोड़कर शीघ्र व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा ही की जाती है।

आयुर्वेदमें इन दोनों प्रकारोंकी चिकित्सामें दोषप्रत्यनीक चिकित्साको विशेष हितकर होनेसे श्रेष्ठ और व्याधिप्रत्यनीक चिकित्साको कनिष्ठ माना है। दोषप्रत्यनीक चिकित्सामें रोगके नाम अथवा रोगकी संख्याके बोधको महत्व नहीं दिया; परन्तु रोगके दोष-दूष्य और स्थान आदिके ज्ञानको ही आवश्यक माना है। किस प्रकारसे कौनसा दोष दूषित हुआ ? किस दोषका किन-किन दूष्योंसे संयोग हुआ ? और कौन-कौन स्थान दूषित हुए ? इन विचारोंके निश्चयको ही प्राधान्य दिया है। इनका सम्यक्बोध मिल जानेपर चिकित्सा निर्भयतापूर्वक हो सकती है। इनके निर्णयार्थ अष्टाङ्गहृदयकार श्री वाग्भट्टाचार्यने सूत्र स्थानमें निम्नानुसार सूचना की है।

> दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः।
> सत्वं सात्म्यं तथाऽऽहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः॥
> सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे।
> यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित्॥

दूष्य (रस-रक्त आदि धातु), देश (अनूप, जांगल आदि), बल (रोगी बल, रोग बल और दोष बल), काल (ऋतु), अग्नि, प्रकृति, आयु, सत्व (मानसिक स्थिति-धैर्य), सात्म्य (अनुकूल विहार), आहार, रोगोंकी सूक्ष्म-सूक्ष्म अवस्थाओं दोष (वात आदि) और औषधके गुण प्रभाव आदिका अच्छी रीतिसे विचार करके जो वैद्य चिकित्सा करता है, वह कदापि निष्फल नहीं होता।

जैसे ज्वरमें आमावस्था हो तो लंघन करावें और आमकी पक्वावस्था होनेपर शमन औषध देवें। इस तरह एक ही रोगके भिन्न-भिन्न लक्षणों

और भिन्न भिन्न अवस्थाओंमें औषधकी योजना शास्त्र-मर्यादानुसार भिन्न-भिन्न होजाती है।

दोष—इस शरीर रूप यंत्रमें वात, पित्त और कफ, तीन दोष रहते हैं। + यद्यपि तन्त्रान्तर (शल्यतन्त्र) में उपदेशार्थ रक्तको चौथा दोष माना है❀ तथापि चरक संहिताकार भगवान् आत्रेय और वाग्भट्टाचार्यने तीन दोष कहे हैं। इन दोषोंको स्वतन्त्र, प्रधान और रस-रक्त आदि दूष्योंको परतन्त्र, अप्रधान कहा है। कारण, ये वात आदि दोष, रस-रक्त आदिको दूषित करते हैं; किन्तु रस, रक्त आदि कदापि वात आदिको दूषित नहीं कर सकते। ये वात आदि दोष दूषित होनेपर देहको नष्ट और साम्य रहनेपर धारण करते हैं।

दूष्य—दूष्य ७ हैं। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र। इनके अतिरिक्त लसीका (रसायनियोंमें रहा हुआ जल-लिम्फ Lymph), मूत्र, शकृत् (मल), स्वेद आदिको भी दूष्य ही माना है। कारण ये भी वात आदि दोषोंसे दूषित होते हैं।

उक्त वात, पित्त, कफ, ये तीनों एक एक ही हैं। आचार्योंने इनको सर्वदा एक वचनमेंही दर्शाया है। द्विवचन या बहुवचनका प्रयोग कभी नहीं किया है। महर्षि आत्रेयने कहा है कि:—

वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्त्तकश्चेष्टानाम्।

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु वातविकारेषु तेष्वन्येषु चानुक्तेषु वायोरिदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणम्, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसंदेहा वातविकारमेवाऽध्यवस्यन्ति कुशलाः।

कहे हुए और न कहे हुए इन सभी वातविकारोंमें वायुका मूलरूप उपाधि रहितावस्थामें अपरिणामी अमूर्त और अदृश्य है। इसके रौक्ष्यं, शैत्यं आदि कर्म लक्षण स्वरूप हैं। इसे जानकर संदेह रहित बने हुए अनुभवी आचार्य तुरन्त वात विकारका निर्णय कर लेते हैं।

इसी तरह पित्त और कफका मूलरूप अपरिणामी है। औष्ण्यं, तैक्ष्ण्यं आदि पित्तके आत्मरूप लक्षण हैं। एवं स्नेह, शैत्य आदि कफके आत्म रूप हैं।

+ वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रह ॥ च० सू० अ० १-५६ ॥

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः ॥ अ० हृ० सू० १-६ ॥

❀ तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः संभवस्थितिप्रलयेस्वप्यविरहितं शरीरं भवति ॥

॥ सु० सू० २१-३ ॥

रक्त यथार्थमें दूष्य है। तथापि अन्य दूष्योंकी अपेक्षा रक्त वातादि दोषोंसे निकट संबन्ध वाला होने और जीवनके संरक्षणमें महत्व पूर्ण धातु होनेसे शल्य शास्त्रविदोंने इसे चौथे दोषके रूपमें माना है।

भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि:—

यथाग्निः पञ्चधा भिन्नो नामस्थानात्मकर्मभिः ।
भिन्नोऽनिलस्तथा ह्येको नामस्थान क्रियामयैः ॥ नि० अ० १-११ ॥

जिस तरह विद्युत् सर्व व्यापक एक ही होनेपर बत्तियोंद्वारा प्रकाश, गर्मी देने वाले यन्त्र (Heater) द्वारा उष्णता, रेडियोद्वारा ध्वनि और शब्दोंका वहन, पंखेद्वारा वायु संचालन आदि क्रियायें होती हैं, उस तरह वात, पित्त, कफ, तीनों एक एक होनेपर भी कार्य, विभिन्न स्थान सम्बन्ध आदि कारणोंसे भिन्न भिन्न नामोंसे सम्बोधित होते हैं।

गर्भावस्था और जन्मसे मृत्युपर्यन्त आहार आदिसे देहमें इनकी सदैव उत्पत्ति होती रहती है और उनका उपयोग भी होता रहता है।

वातादि धातुओंके स्थान—वात, पित्त, कफ ये शरीरके प्रत्येक भागमें न्यूनाधिक प्रमाणमें मिले रहते हैं। परन्तु साधारणतः वायुका दूष्य अस्थि; पित्तका दूष्य रक्त और वाष्पावस्थामें स्वेद तथा कफके दूष्य मांस, मेद, मज्जा, शुक्र और मल-मूत्र हैं। इन वात आदि दोषोंकी विशेष क्रिया और विकृतावस्थामें परिणाम प्रायः समानधर्मी पदर्थोंमें होता है। इस बातको समझानेके लिये अष्टांग हृदयकारने स्थानोंका निर्देश किया है।

×(१) **वात स्थान**—पकाशय (अन्त्र), कटि (कमरके चारों ओरकी जगह), सक्थि (ऊरुदेश), श्रोत्र (कानके भीतरका भाग), त्वचा (चमड़ीके सूक्ष्म छिद्र) और हड्डीके भीतरके भाग, ये ६ वायुके स्थूल क्रिया और गतिके स्थान हैं। इनमें पकाशय मुख्य है।

÷(२) **पित्त स्थान**—नाभि प्रदेश (ग्रहणी), आमाशय (मेदा), पसीना, लसीका, रुधिर, रस, नेत्र, त्वचा, ये पित्तके मुख्य स्थान हैं। इनमें नाभि (मणिपूर चक्रके चारों ओरका प्रदेश) सबसे अधिक मुख्य है।

+ (३) **कफ स्थान**—उरः (वक्षःस्थल), कंठ, मस्तक, क्लोम, संधि स्थान, आमाशय, रस धातु, मेद, नाक और जिह्वा ये कफके स्थान हैं। इनमें उरः स्थानको विशेष माना है।

वात विभाग—वायुके प्राण आदि भेदसे ५ प्रकार हैं। प्राण, उदान, व्यान, समान, और अपान।

× पक्वाशयकटिसक्थिश्रोत्रास्थि स्पर्शनेन्द्रियम् ।
स्थानं वातस्य तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः ॥
÷ नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः ।
दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्र विशेषतः ॥
+ उरः कण्ठशिरः क्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः ।
मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः ॥

चित्रांक ३

सुषुम्नाकाण्डस्थ नाड़ीसंस्थान

Diagram of Autonomic Nervous System. (From Meyer and Gottlieb.)
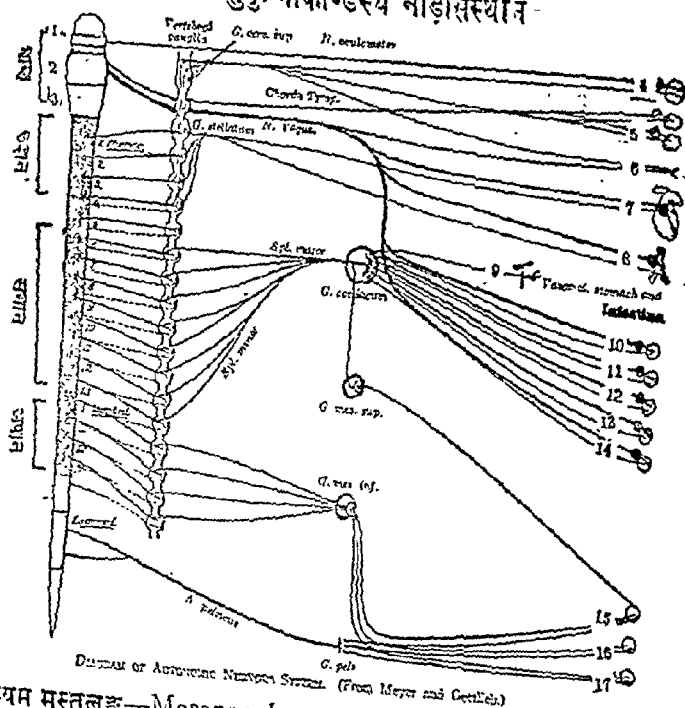
१ मध्यम मस्तुलुङ्ग—Mesencephalon(Mid-Brain)। मध्यम मस्तुलुङ्गके ऊपर आज्ञा चक्र (Optic Thalami) अवस्थित है।

२ सुषुम्नाशीर्ष—Medulla Oblo.

३ विशुद्ध चक्र—Pharyngeal ple.

४ चक्षु Eye.

५ लाला ग्रन्थि—Salivary Glands.

६ मस्तिष्क प्रदेशकी रक्तवाहिनियोंकी श्लैष्मिक कला—Vasomot. Cranial-muc. mem.

७ हृदय—Heart.

८ वृहच्छ्वासनलिका—Bronchi.

९ आमाशय अन्त्रकी रक्तवाहिनियाँ—Vasomot. stomach & Intestine.

१० आमाशय—Stomach.

११ यकृत्—Liver.

१२ अग्न्याशय—Pancreas.

१३ अन्त्र—Intestine.

१४ वृक्क- Kidney.

१५ वृहदन्त्र-गुदनलिका-Colon and rectum.

१६ मूत्राशय—Bladder.

१७ प्रजनन यन्त्र-Genital organs.

उदान वायुके प्रदेशके भीतर ऊपरके हिस्सेमें अनाहत चक्र (Cardiac plexus) है। समान प्रदेशके बीचमें मणिपुर चक्र (Solar plexus) और निम्नांशमें स्वाधिष्ठान चक्र (Inferior Mesenteric plexus) है। अपान प्रदेशके मध्यमें आधार-चक्र (Pelvic plexus) है।

१—प्राण शिर, कंठ और उरःमें विचरता है; तथा बुद्धि आदिका धारण, श्वासोच्छ्वास और थूकना आदि क्रिया करता है।

२—उदान उरः स्थान, नाक, नाभि और कण्ठमें विचरण, बल, वर्ण, स्मृति आदिका धारण और वाक् प्रवृत्ति आदि क्रिया करता है।

३—व्यान हृदयमें रहता हुआ समस्त शरीरमें संचार और बहुधा गति आदि समस्त क्रिया करता है।

४—समान कोष्ठस्थ अग्नि प्रदेशमें नियमन तथा अन्नका ग्रहण, पचन, विभाजन, धारण और त्याग आदि कार्य करता है।

५—अपान नितम्ब, बस्ति, मूत्रेन्द्रियादि स्थानोंमें रहता है तथा मल, मूत्र, आदिको बाहर निकालना आदि क्रिया करता है।

पित्त विभाग—स्थान और क्रिया भेदसे पित्त ५ प्रकारका कहलाता है।

१—पाचक पित्त विशेषतः आमाशय और नाभिके पास रहता है, भोजनका परिपाक तथा सारकिट्टका विभाग करता है।

२—रंजक पित्त यकृत्प्लीहाके आश्रयसे रहता है; और रसको रंगता है।

३—साधक पित्त हृदयमें रहकर बुद्धि आदिको साधता है।

४—आलोचक पित्त नेत्रमें स्थिर रहकर रूपको ग्रहण करता है।

५—भ्राजक पित्त त्वचाका प्रदीपन करता है।

कफ विभाग—स्थान और कार्य भेदसे कफको ५ संज्ञायें दी हैं।

१—अवलम्बक कफ उरःस्थानमें रहता है; जल व्यापार रूप क्रियासे हृदय, अन्न, वीर्य और अन्नके परिणामरूप रसका तथा इतर सब कफ स्थानोंका अपने बल-वीर्यसे धारण करता है।

२—क्लेदक कफ आमाशयमें रहकर अन्न-संघातको पाकयोग्य बनाता है।

३—बोधक कफ रसनामें रहकर रसको ग्रहण व स्वादका बोध कराता है।

४—तर्पक कफ मस्तिष्कमें रहकर नेत्रादि इन्द्रियोंका तर्पण करता है।

५—श्लेष्मक कफ सन्धि स्थानोंमें रहकर उनका पोषण करता है।

* अविकृत वातके कार्य—वात आदि दोष, रस आदि धातु, मूत्र आदि मल, ये सब शरीरके मूल, उपादान कारण रूप हैं। इनमें वायु चल होनेसे अनेक प्रकारकी क्रियाओं द्वारा इस देहको धारण करता है। प्रत्येक अवयवोंको उत्साह देना; श्वासोच्छ्वास क्रिया कराना; शरीर, वाणी और मनको स्व-स्व

---

*उत्साहोच्छ्वासनिश्वासचेष्टावेगप्रवर्त्तनैः।
सम्यग्गत्या च धातूनामक्षाणां पाटवेन च॥
अनुगृह्णात्यविकृतः····· ·················॥ च० सू० अ० १२॥

विषय ग्रहण करनेकी शक्ति देना; मल-मूत्र आदिका विसर्जन कराना; कफ और पित्त धातुकी सम्यक् प्रकारसे गति कराना; तथा सब प्रकारके वेग उत्पन्न करना इत्यादि कार्य करता है। संक्षेपमें शरीरके छोटे-बड़े सब व्यापार वात ही करता है। ×

+ अविकृत पित्तके कार्य—पित्त तैजस् तत्व होनेसे आहारका पाक करता है; तथा क्षुधा, तृषा और रुचिको उत्पन्न करना; कान्ति, नेत्रमें दर्शन-शक्ति, बुद्धिमें विचार शक्ति, स्मरण शक्ति और शौर्य (पुरुषार्थ) देना; शरीरमें मृदुता एवं रक्तमें लाली लाना तथा अन्नके स्थूल पचनसे आरम्भ करके सूक्ष्म परमाणु पर्यन्त सब प्रकारके पोषक व्यापार करना इत्यादि कार्य करता है।

÷ अविकृत कफके कार्य—कफ स्थिरता, स्निग्धता, आर्द्रता, संधिबन्धन, मानसिक प्रसन्नता, शान्ति और सहन करनेकी शक्ति आदि प्रदान करता है।

अविकृत वायुके गुण—वायुमें स्वाभाविक रूक्ष, हल्का, शीतल, खर, सूक्ष्म और चल (गमनशील-चंचल) गुण रहते हैं। अलावा यह योगवाही होनेसे पित्तके संयोगसे दाह और कफके संयोगसे शीतकर होजाता है। चरक संहिता (सू० अ० १। ५८) में इन गुणोंके साथ विशद फैलानेवाला गुण भी कहा है।

अविकृत पित्तके गुण—पित्त स्वभावसे किञ्चित् स्नेह युक्त, तीक्ष्ण (शीघ्र-कारी) उष्ण, हल्का, खट्टी दुर्गन्ध वाला, सर (ऊर्ध्वाधो-गमन करनेके स्वभावयुक्त) और द्रव (प्रवाही) है।

अविकृत कफके गुण—कफ स्वभावसे स्निग्ध (स्नेह युक्त), शीतल, गुरु, मन्द (चिरकारी), रेशेयुक्त (चकचकायमान), चिपचिपा और स्थिर (व्याप्ति शील) गुणों वाला है।

इन गुणोंके अनुकूल, देश, काल, औषध, आहार और विहारसे वातादिकी वृद्धि और प्रतिकूलसे क्षय होता है। जब तक देहमें वात आदि दोष, रस रक्त आदि धातुयें तथा मल आदि सम अवस्थामें रहते हैं, तब तक इनकी वृद्धि और विपरीत भावसे क्षय होता है।

धातुओंके वृद्धि-क्षय हेतु—द्रव्य, गुण और कर्म, इन ३ हेतुओंसे धातुओंके

× पित्तं पंगुः कफः पंगुः पङ्गवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥

+ पित्तं पक्त्यूष्मदर्शनैः।
क्षुत्तृड्रुचिप्रभामेधाधीशौर्यतनुमार्दवैः॥ अ० हृ० सू० अ० ११॥

÷ श्लेष्मा स्थिरत्वस्निग्धत्वसन्धिबन्धक्षमादिभिः॥ अ० हृ० सू० अ० ११॥

निम्नानुसार वृद्धि-क्षय होते हैं।

द्रव्यसे धातु वृद्धि—रक्तसे रक्त, मांससे मांस और सलिलात्मक दूधसे कफकी वृद्धि होती है। घृत, शुक्र तथा जीवन्ती, काकोल्यादि शीतवीर्य द्रव्य विशेषसे स्नेह, बल, पुंसत्व और ओजकी वृद्धि, तथा मिर्च, पञ्चकोल, भिलावा आदिसे बुद्धि, मेधा और अग्निकी वृद्धि होती है।

गुणसे धातु वृद्धि—खजूर आदि वस्तुओंको जलमें भिगोनेपर वे स्निग्ध, गुरु और शीत आदि गुणात्मक होजाते हैं, जिससे कफकी वृद्धि होती है।

कर्मसे धातु वृद्धि—कर्मके शरीर, वाणी और मानसव्यापार रूप ३ प्रकार हैं। शारीरिक कर्म तैरना, दौड़ना, कूदना आदिसे चलात्मक वात वृद्धि। वाचिककर्म (अध्ययन या व्याख्यान आदि) और मानसिक कर्म (चिन्ता, काम, शोक, भय आदि) से क्षोभात्मक वात वृद्धि, क्रोध, ईर्षा, आदि मानस कर्मसे पित्त वृद्धि; तथा निद्रा, आलस्य, आराम आदिसे कफकी वृद्धि होती है।

द्रव्यसे धातुक्षय—वातात्मक यव आदि शुष्क अन्न सेवनसे मांस आदिमें कृशता और तैजस् क्षारसे कफ क्षय होता है।

गुणसे धातुक्षय—आरनालके जलमें लघु, रूक्ष, उष्ण, तीक्ष्ण और विशद गुण होनेसे वह कफका क्षय करता है। तैल स्नेह आदि गुणोंके हेतुसे वातका घृत माधुर्य, शीत आदि गुणसे पित्तका और शहद रूक्ष आदि गुणोंके हेतुसे कफका ह्रास करता है।

कर्मसे धातुक्षय—निद्रा, आलस्य आदि कर्मसे वातका क्षय; शीतल जलमें क्रीड़ा करनेसे पित्तका क्षय तथा व्यायाम, प्रवास, सूर्यके ताप और अग्निका सेवन आदि क्रियासे कफका क्षय होता है।

वात विकृति हेतु—कसैले, चरपरे, कडुवे एवं रूक्ष आदि वातल पदार्थोंका अधिक सेवन, द्विदलधान्य (मटर, अरहर, मूंग, मसूर, सेम आदि) का विशेष उपयोग, कम भोजन, उपवास, अत्यन्त गरम चाय, गरम काफी या गरम दूध पीना, अपानवायु और मल-मूत्र आदि वेगोंका अवरोध, मार्ग-गमन, अतिश्रम, अधिक व्यायाम, जागरण, बड़े जोरसे चिल्लाना, चिन्ता, अति मैथुन, अति अध्ययन, चोट, शस्त्रका घाव लगना, वमन विरेचन आदि शोधन क्रियाओंका अतियोग और देश काल आदि कारणोंसे वातविकृति होती है। इसका संक्षिप्त वर्णन पहले निदान वर्णनमें 'वात प्रकोपक हेतु' नामसे लिखा है।

पित्तविकृति हेतु—चरपरे, खट्टे, नमकीन और विदाही पदार्थोंका अधिक सेवन; सूर्यका ताप और अग्निका सेवन, तैल; बकरे और भेड़का मांस; मद्यपान,

क्रोध, शोक, भय, उपवास, काँजी, शरद्ऋतुमें उत्पन्न नये अन्नादिका सेवन शरद्ऋतु, और कटुष्ण प्रदेशादि कारणोंसे पित्तविकृति होती है। इसका संक्षिप्त विवेचन पहले निदान वर्णनमें भी किया है।

कफविकृति हेतु—मधुर, खट्टे, नमकीन, स्निग्ध, जड़, शीतल, चिकने और अभिष्यन्दी पदार्थोंका अधिक सेवन, दिनमें शयन, धूम्रपान, शरीर-श्रमका अभाव, बारबार भोजन, अजीर्णमें भोजन, तैल, घी, चरबी, दही, दूध, गेहूँ, तिल, चावल, ईखके पदार्थ, जल जीवोंका मांस, सिंघाड़े, मीठे फल आदिका अधिक सेवन, वमन आदि शोधन क्रियाओंका हीन योग, वसन्तऋतु और देश आदि कारणोंसे कफविकृति होती है। इसका संक्षिप्त वर्णन पहले निदानके साथ भी किया है।

(१) वातक्षय लक्षण—अंग शिथिल होना, बोलनेमें परिश्रम होना, शारीरिक चेष्टा कम होना, आलस्य, स्मरणशक्तिका अभाव और कफवृद्धिमें कहे हुए चिह्न प्रतीत होते हैं; तथा कसैले, चरपरे, कडुवे, रूक्ष, शीतल और हलके जौ, मूंग, कंगनी आदि पदार्थ खानेकी इच्छा उत्पन्न होती रहती है।

(२) वातवृद्धि लक्षण—(वात बढ़कर स्वस्थानमें रहना) श्यामता, शुष्कता, कृशता, कम्प, आफरा, मलसंचय, बल, निद्रा और उत्साहका नाश, स्वप्नमें उड़ना, भ्रम, प्रलाप, उष्ण और स्निग्ध आदि पदार्थोंके सेवनकी इच्छा इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

(३) वातप्रकोप लक्षण—(वात प्रकुपित होकर उन्मार्गगामी होना) सन्धि स्थानकी शिथिलता, कम्प, शूल, गात्रशून्यता, हाथ पैर भड़कना, नाड़ियोंका खिंचाव, तीक्ष्ण दर्द, तोड़नेके समान पीड़ा, झटका, रोमांच, रूक्षता, रक्तका श्याम वर्ण, शोष, जड़ता, गात्रमें कठोरता, अंगोंमें वायु भरा रहना, प्रलाप, भ्रम, चक्कर, मूर्च्छा, मलसंग्रह, मूत्रावरोध, शुक्रपतन, शरीर टेढ़ा और मुँह कसैला होजाना इत्यादि लक्षण होते हैं।

(४) पित्तक्षय लक्षण—शरीरकी उष्णता कम होना, कान्ति घटना, पाचन क्रिया मन्द होना और उत्साहका अभाव होना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं तथा तिल, उड़द, कुलथी आदि अन्न, दहीकी मलाई, सिरका, खट्टी छाछ, काँजी, दही, चरपरे, खट्टे, नमकीन, गरम और तीक्ष्ण पदार्थोंके सेवन, क्रोध, विदाही भोजन, गरम स्थानमें रहना और धूपमें बैठना आदिकी इच्छा होती रहती है।

(५) पित्तवृद्धि लक्षण—त्वचा, नख, नेत्र, मल-मूत्र आदि सब पीले होना; दाह, पसीना, क्षुधा, तृषा और उष्णता बढ़ना, शीतल पदार्थ सेवनकी इच्छा होना, निद्रा कम आना तथा नाड़ी और हृदयकी गति तेज होना इत्यादि लक्षण होते हैं।

(६) पित्तप्रकोप लक्षण—दाह, शरीर लाल-पीला होजाना, शरीरमें गरमी बढना, पसीना, शोष, अतृप्ति (अधिक भोजन सेवनसे भी तृप्ति न होना), खट्टी डकार, दुर्गन्ध, वमन, पतला दस्त, बेचैनी बाहरके पदार्थ पीले दीखना, चमड़ी फटना, फोड़े-फुन्सियाँ होकर पकना, रक्तस्राव, पीली आँखें, पीले दाँत, पीले मल-मूत्र, प्रलाप, भ्रम, मूर्च्छा, निद्रानाश, वीर्य पतला होना, स्वप्नमें अग्नि दीखना और शीतल पदार्थकी इच्छा होना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

(७) कफक्षय लक्षण—भ्रम, गात्रस्तब्धता, सन्धियोंमें शिथिलता, श्लेष्म स्थानोंमें शून्यता या निर्बलता और दाह आदि चिह्न प्रतीत होते हैं; तथा मधुर, स्निग्ध, शीतल, नमकीन, खट्टे और भारी भोजन तथा दही-दूधके सेवन एवं दिनमें शयन आदिकी इच्छा होती है।

(८) कफवृद्धि लक्षण—मंदाग्नि, मुँह मीठा होना, मुँहसे पानी आना, अरुचि, शरीर निस्तेज और सफेद होजाना, जड़ता, शीतलता, कास, श्वास, जुकाम, शरीरमें भारीपन, आलस्य, निद्रा बढ़ना, संधियोंमें दर्द, दस्त चिपचिपा, सफेद रंगका होना, मूत्र बारम्बार होना इत्यादि लक्षण होते हैं।

(९) कफप्रकोप लक्षण—शरीर चिपचिपा, सफेद, शीतल और भारी होना, शरीरको ठण्डी लगना, बुद्धिमंदता, शक्तिकी कमी होना, मुँहमें मीठापन और चिपचिपापन, स्रोतोरोध, प्रसेक (मुँहसे लार गिरना), अरुचि, मंदाग्नि, मलमें चिपचिपापन, सफेद मल-मूत्र, सब वस्तुएँ सफेद दीखना, नाड़ीकी मंदगति, सूजन, खुजली, स्वप्नमें जलकी प्रतीति, निद्रावृद्धि, तन्द्रा, मधुर और नमकीन पदार्थ खानेकी इच्छा, आलस्य और थकावट आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

धातुओंके विकृतिनाशक गुण—इन वात आदि दोषोंके वृद्धि, प्रकोप और शमन करनेवाले गुणोंका वर्णन संक्षेपमें अष्टांगहृदयकारने निम्नानुसार लिखा है।

उष्णेन युक्ता रूक्षाद्या वायोः कुर्वन्ति संचयम्।
शीतेन कोपमुष्णेन शमं स्निग्धादयो गुणाः॥
शीतेन युक्तास्तीक्ष्णाद्याश्चयं पित्तस्य कुर्वते।
उष्णेन कोपं मन्दाद्याः शमं शीतोपसंहिताः॥
शीतेन युक्ताः स्निग्धाद्याः कुर्वते श्लेष्मणश्चयम्।
उष्णेन कोपं तेनैव गुणा रूक्षादयः शमम्॥

रूक्ष आदि गुण उष्ण गुणयुक्त होनेपर वायुका संचय; शीतल गुणसे युक्त होनेपर वायुका प्रकोप तथा उष्ण और स्निग्ध गुणवाली औषधियोंसे वायुका शमन होता है।

तीक्ष्ण आदि गुण शीतरसयुक्त होनेपर पित्तका संचय; तीक्ष्ण आदि गुण युक्त उष्ण पदार्थोंसे पित्तका प्रकोप; तथा मन्द आदि रसयुक्त शीतल पदार्थोंसे

पित्तका शमन होता है।

स्निग्ध आदि पदार्थ शीतल गुणयुक्त होनेपर कफका संचय; स्निग्ध आदि रसयुक्त उष्ण पदार्थोंसे कफका प्रकोप और रूक्ष आदि गुणयुक्त उष्ण पदार्थोंसे कफका शमन होता है।

वातशामक उपाय—संतर्पण चिकित्सा, स्नेहपान, स्वेदन आदि सौम्य शोधन, स्निग्ध और उष्ण वस्ति, अनुवासन वस्ति, मात्रा वस्ति, सेक, नस्य, मधुर, अम्ल, नमकीन और चरपरे रसयुक्त भोजन, पौष्टिक भोजन, मेदयुक्त मांसका सोरवा, दही, घृत या तैल मर्दन, हाथ-पैर दबाना, वस्त्र बांधना, भय दिखाना (उन्माद आदि रोगोंमें), पिष्टजन्य और गुड़जन्य मद्यका पान, निद्रा, सूर्यका ताप, स्निग्ध, उष्ण और नमकीन औषधियोंके मृदु विरेचन, दीपन-पाचन आदि औषधियोंसे सिद्ध घृत आदि स्नेह या क्वाथ आदिका सिंचन और गरम वस्त्रका आच्छादन इत्यादिसे वातप्रकोप दूर होता है।

पित्तशामक उपाय—घृतपान, कसैली, मधुर, और शीतवीर्य औषधोंका विरेचन, रक्तस्राव, दूध, शीतल, मधुर, कड़वे और कसैले रसयुक्त भोजन, शीतल जलमें बैठना, सुन्दर गान सुनना, रत्न या सुगन्धित, मनोहर, शीतल पुष्प आदिकी माला धारण करना, कपूर, चन्दन और खस आदिके लेप, शीतल वायुका सेवन, पंखेकी वायु, छाया, बाग या जलाशयके किनारे रहना, रात्रिको चाँदनीमें बैठना, मधुर भाषामें विनोद, बालकोंसे मधुर भाषामें वार्तालाप, स्त्रियोंका स्पर्श; द्वारपर या कमरेमें जलसिंचन और पित्तशामक औषधोंके सेवनसे पित्त शमन होता है।

कफशामक उपाय—विधिपूर्वक, तीक्ष्ण वमन, चरपरी औषधोंसे विरेचन, शिरोविरेचन, चरपरे, कड़वे और कसैले रसयुक्त रूक्ष भोजन; क्षार; उष्ण भोजन, अल्पाहार, उपवास, तृषा निग्रह, कवल और गंडूष (कुल्ले) धारण, पुराना मद्य, मैथुन, जागरण, व्यायाम, मार्गगमन, जलमें तैरना, सुखका अभाव, चिन्ता, रूक्ष औषधोंका मर्दन, धूम्रपान, शहद तथा मेदोहर और कफघ्न औषधोंके सेवनसे कफप्रकोप नष्ट होता है।

रस रक्तादि धातु और अग्नि।

प्राचीन आचार्योंने रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र, ये सात धातुयें कही हैं। ये रसादि धातुयें देहको धारण करती हैं, इसलिये ये धातुयें अन्य वातादि दोषोंसे दूषित होते हैं, इसलिये दूष्य भी कहलाते हैं। इन धातुओंमें अहर्निश सतत जीवन व्यापार धात्वग्निद्वारा चयापचय क्रिया (Metabolism) होता रहता है। सेन्द्रिय विष, क्षय प्राप्त अणु और मलका त्याग तथा जीवनोपयोगी प्राणवायु और नूतन अणुओं (रस) का ग्रहण, ये सब

क्रियाएं निरन्तर होती रहती हैं। इन क्रियाओंके हेतुसे प्रत्येक धातुओंसे मल पृथक् होता रहता है। मुख्य मल शकृत् मूत्र और स्वेदरूपसे बाहर निःसरित होता रहता है। इसके अतिरिक्त मुख, नासिका, नेत्र और कर्ण मार्गसे भी बाहर फेंका जाता है। +

इन धातुओंमें पहला रस धातु है। इस रस धातुसे रक्तादि धातुएं निर्मित और पुष्ट होती रहती हैं। इन धातुओंका परिपोषण क्रम आचार्योंने (चरक संहिताके टीकाकार आदि ने) ३ प्रकारसे दर्शाया है। क्षीर दधि न्याय; केदारीकुल्यान्याय और खलेकपोतन्याय। क्षीरदधिन्याय यह क्रम परिणामी है। दूधसे दही, दहीसे मक्खन, मक्खनसे घी आदिके समान रक्त, मांस, मेद आदि परिणाम क्रमशः प्राप्त होनेको कहा है। दूसरा केदारी कुल्या न्याय है अर्थात् हौजसे निकला जल कुल्या (नाली) द्वारा कियारियों (केदारों) में प्राप्त होकर तत्रस्थ वनस्पतियोंको जीवन दान देता है। उस तरह रस धातु रञ्जित होकर हृदयद्वारा रक्त आदि सर्व धातुओंको प्राप्त होती है, और योग्य सत्व प्रदान करती है।* तीसरा खले कपोतन्याय अर्थात् खलिहानमें भिन्न भिन्न स्थानोंसे आये हुये कबूतर स्थानोंकी न्यूनाधिक दूरीके अनुरूप न्यूनाधिक समयमें पहुँचते हैं। उसी तरह आहार परिपाकोत्पन्न रस भिन्न-भिन्न स्रोतसोंद्वारा सब धातुओंका पोषण जल्दी या देरसे किया करते हैं। इन दोनों प्रकारोंमें अन्य धातुओंका परिपोषण रस धातुसे ही होता है। इनमेंसे केदारी कुल्या न्याय नव्य चिकित्सा पद्धतिद्वारा अनुमोदित है।

रस धातु:—भगवान पुनर्वसुके मतानुसार पाँचभौतिक (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, इन भूतोंके परिणामरूप) आहार षड् रस (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय) युक्त, शीत-उष्ण भेदसे दो प्रकारके वीर्ययुक्त अथवा शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, मृदु और तीक्ष्ण भेदसे अष्ट वीर्ययुक्त होता है। इस आहारके भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और पेय (चोष्य) भेदसे ४ प्रकार होते हैं। सेवन किया हुआ आहार जठराग्निद्वारा भली

+ रसासृङ्-मांस-मेदोऽस्थि मज्जशुक्राणि धातवः।
सप्त दूष्या मला मूत्रशकृत् स्वेदादयोऽपि च॥ अ० सं० सू० अ० १-२८॥

* यह विचार अष्टाङ्ग संग्रहकारने शारीर स्थान दूसरे अध्यायमें मतान्तर उपन्यास-रूपसे उपस्थित किया है। एवं सुश्रुत संहिताकारने सूत्र स्थानके अन्तमें निम्न वचनोंसे दर्शाया है।

विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः।
स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयन्॥ सु० ४६-५२८॥

प्रकार पाचित होनेपर जो स्थूल मलसे रहित, तेजोमय, परम सूक्ष्म सार भाग जो पृथक् होता है, उसे आचार्योंने रस संज्ञा दी है।

यह रस बल्य, शुक्रल, बृंहण, मेध्य, दृढता वर्द्धक; स्थिरताप्रद, आह्लाद कारक तथा स्नेहन, तर्पण, धारण आदि विशेष गुणोंसे युक्त और सौम्य होता है। यह शरीरके आधारभूत कफके समान सौम्य, पित्तके समान तेज युक्त और वायुके समान चल, गुण युक्त होता है। यह अनुसरणशील रस अंग-प्रत्यङ्गोंको पुष्ट करता हुआ नवजीवन प्रदान करता है। +

रक्तः—रस धातु परिभ्रमण करता हुआ यकृत् और प्लीहामें पहुँचनेपर रञ्जित होता है। फिर वह रक्त कहलाता है। यह रञ्जित रस हृदयमें जाकर रक्तमें मिल जाता है, (इस रक्तका अणुवीक्षण यन्त्रद्वारा निरीक्षण करनेपर उसमें हल्के पीले रङ्गका रक्त रस (Plasma), २ प्रकारके रक्तकण और रक्त-चक्रिकाएँ प्रतीत होती हैं, इस रक्तस्थ द्रव्य और कार्यका विशेष विवेचन चिकित्सातत्वप्रदीप द्वितीय खंडके रक्तरचना-विकृति प्रकरणके आरम्भमें किया गया है।

मांस आदि धातुएं:—मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य, ये सब धातुएं रस धातु पर धात्वग्नियोंकी विविध क्रियाद्वारा निर्मित होती हैं। स्तन्य और रज भी इसी रसका परिवर्तित स्वरूप है। यदि रस सदोष, सत्व हीन या न्यूनाधिक है, तो मांसादि धातुयें भी उसके अनुरूप सदोष सत्व हीन, न्यून या अत्यधिक निर्मित होती हैं। अतः भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि दूष्योंके प्रधान नेता आहार परिपाकोत्पन्न रसकी रक्षा प्रयत्न पूर्वक योग्य नियमित और मर्यादित आहार, पान, और आचारद्वारा करनी चाहिये।

अग्निः—इस अग्निके आधारसे आहारका पचन होकर रस बनता है। एवं रसको अन्य धातुओंकी प्राप्ति और धातुओंका परिपाक आदि अग्निकी सहायतासे ही होता है। संक्षेपमें देहके स्वास्थ्य, बल, उपचय, वर्ण, ओज, और आयुका आधार यह अग्नि ही है। यह अग्नि ३ प्रकारकी है। जठराग्नि, भूताग्नि और धात्वग्नि। इनमेंसे जाठराग्नि शक्तिके अनुरूप सम, विषम, तीक्ष्ण और मंद भेदसे ४ प्रकारका कहलाता है। आहारका पचन पहले इस जठराग्नि-द्वारा होता है। पश्चात् पांच प्रकारके भूताग्नि (पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायव्य और आकाशीय) द्वारा पञ्च प्रकारके आहार गुणोंके अनुरूप पचन-क्रिया होती है। इस भूताग्निकी क्रियाके अन्तमें सारभाग और किट्टभाग, पृथक् होते हैं। सारभाग (प्रसाद रस) व्यानसे संप्रेषित हुआ, सप्त धात्वग्नियों (रसाग्नि,

+ रसजं पुरुषं विद्याद् रसं रक्षेत् प्रयत्नतः।
अन्नात् पानाच्च मतिमानाचाराच्चाप्यतन्द्रितः॥ सु० सू० १४-१२॥

रक्ताग्नि, मांसाग्नि, मेदाग्नि, अस्थ्यग्नि, मज्जाग्नि, और शुक्राग्नि, इन धातुस्थ अग्नियों) द्वारा परिपाचित होकर, रक्त, मांस, आदि संज्ञाओंको प्राप्त होते हैं। एवं इन धातुओंमें अवस्थित या उत्पन्न मल पृथक् होते हैं। शुक्रधातुके सार भागको ओज (पर ओज या विद्युत) संज्ञा दी है। यह अत्यन्त शुद्ध होनेसे इसमें मलका अभाव माना है।

रस रक्तादिके क्षय-वृद्धिके लक्षण—रस-रक्त आदि दूष्योंकी क्षय-वृद्धि सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान अध्याय १५ में निम्नानुसार कही है।

धातु	क्षय	वृद्धि
रस	चक्कर, शुष्कता, शोष, असहनशीलता, हृदयमें पीड़ा, कम्प, शून्यता, तृष्णा आदि।	जी मिचलाना, मुंहमें पानी आना, लार गिरना, मन्दाग्नि, प्लीहा विकार, विद्रधि और कुष्ठ आदि।
रक्त	शुष्क त्वचा, नसोंमें शिथिलता, अम्ल और शीतल रसकी इच्छा आदि।	नेत्रमें लाली, धमनियां, सिराएं भर जाना और विसर्प आदिकी उत्पत्ति।
मांस	कपोल, होठ, कमर आदि अवयवों में शुष्कता तथा सन्धि पीड़ा धमनियोंकी शिथिलता आदि।	गाल, होठ, कमर, ऊरु, जंघा, भुजा आदि मोटे होना, शरीरमें भारीपन।
मेद	प्लीहा-वृद्धि, सन्धियोंमें शून्यता, रूक्षता, मांस और स्निग्ध पदार्थों की इच्छा आदि।	पेट पर चर्बी बढ़ना, पसीनेमें दुर्गन्ध, कास, श्वास और थकावट आना आदि।
अस्थि	अस्थि, दांत और नाखूनोंमें पीड़ा तथा रूक्षता आदि।	अस्थि और दांतकी अधिक उत्पत्ति।
मज्जा	वीर्यकी क्षीणता, सन्धि-स्थानोंमें पीड़ा, अस्थियोंमें शूल और चक्कर आना शून्यता आदि।	नेत्र और सारे शरीरमें भारीपन और छोटी-छोटी फुंसियां होना आदि।
वीर्य	लिङ्ग और वृषणमें व्यथा, क्षय, मैथुन-शक्ति न रहना, निस्तेज चेहरा, देरसे रक्तता लिए अल्पपात होना आदि।	शुक्राश्मरी और स्त्री गमनकी प्रबलेच्छा आदि।

धातु	क्षय	वृद्धि
मल	हृदय और पार्श्वोंमें पीड़ा, वायु का ऊर्ध्व गमन या कोखोंमें संचरण आदि।	आफरा, भारीपन और नलोंमें शूल आदि।
मूत्र	वस्ति-स्थानमें वेदना और कठिनतासे थोड़ा-थोड़ा मूत्र उतरना आदि।	वस्ति-स्थानमें काटने समान पीड़ा, वार-वार मूत्र प्रवृत्ति और आफरा आदि।
स्वेद	रोमोंमें जड़ता, शुष्क त्वचा, स्पर्शका यथोचित ज्ञान न होना, प्रस्वेद और क्षय आदि।	खुजली और त्वचामें दुर्गन्ध आना आदि।
आर्तव	समयपर मासिक धर्म न आना, रक्त कम निकलना और योनिमें पीड़ा होना आदि।	अंगोंका टूटना, वेचैनी, रक्त विशेप जाना और दुर्वलता आदि।
स्तन्य	स्तन मुरझा जाना, दूध कम होना या न आना आदि।	स्तनकी स्थूलता, दूध टपकना, स्तन भारी हो जाना और टूटने समान पीड़ा आदि।
गर्भ	गर्भ न फिरना या कम फिरना, कोख ऊंची न होना आदि।	गर्भाशयकी अति वृद्धि और शोथ आदि।

—ःरस-रक्तादि दूष्योंके कार्यः—

(१) रस धातु समावस्थामें रहकर रक्त आदि धातुओंको प्रसन्न और पुष्ट वनाता है। धैर्य, वल, उत्साह, एवं उत्कण्ठा और रक्तकी वृद्धि करता है।

(२) रक्त धातु समावस्थामें होनेपर शरीराकृतिमें सुन्दरता और गात्रोंमें कोमलता लाता है तथा मांस आदि उत्तर धातुओंको पुष्ट करता है।

(३) मांस धातु समानावस्थामें स्थित होनेपर शरीरको पुष्ट वनाता है, दृढ़ वनाता है, वल वढ़ाता है, और मेदको पुष्ट करता है।

(४) मेद धातु समानावस्थामें स्थित होनेपर शरीरको स्नेह (चिकनापन) युक्त और दृढ़ वनाता है, तथा अस्थियोंको पुष्ट वनाता है।

(५) अस्थि धातु समावस्थामें स्थित होनेपर देहको धारण करती है और शरीरको पुष्ट करती है, तथा मज्जाको पुष्ट वनाती है।

(६) मज्जा धातु समानावस्थामें अवस्थित होनेपर शरीरको स्नेह युक्त चिकना बनाता है, व्रणोंका प्रसादन करता है, बल बढ़ाता है, अस्थियोंको पूर्ण करता है, तथा शुक्रको पुष्ट करता है।

(७) शुक्र धातु समानावस्थामें रहनेपर बल, धैर्य, प्रसन्नता और उत्साह आदि गुण प्रदान करता है।

धातुक्षयके लक्षण-(Symptoms):—

१—रसक्षय होनेपर बारबार शीतल जल, रात्रिमें निद्रा, हिम, चाँदनी, मधुर रस ईख, मांसरस, मन्थ, शहद, घी, शर्बत आदि पदार्थोंकी इच्छा होती रहती है।

२—रक्तक्षय होनेपर अंगूर या अनारका सिरका, नमकीन, घी मिले भोजन और रक्तमें पकाये हुये माँस आदिकी इच्छा होती है।

३—माँस क्षीण होनेपर दहीमें सिद्ध किये हुए भोजन, अति मधुर पदार्थ, खट्टे, मीठे पदार्थ और माँसभक्षी स्थूल प्राणियोंके माँस आदिकी वासना होती है।

४—मेदक्षय होनेपर चरबीसे सिद्ध किये ग्राम्य; अनूप या जलचर जीवोंके माँस और विशेषत: नमकीन भोजनकी चाह होती है।

५—अस्थिक्षय होनेपर मज्जा और अस्थियोंमें रहे हुए स्नेहसे सिद्ध किये हुए माँसकी इच्छा होती है।

६—मज्जाक्षय होनेपर मधुर और खट्टे भोजनकी आकांक्षा होती है।

७—शुक्रक्षीण होनेपर वीर्यवर्द्धक पदार्थ, मोर, मुर्गा, हंस, सारस, ग्राम्य, पक्षी और अनूप देशके पक्षी, जलाशयके किनारे रहने वाले पक्षियोंके अण्डोंकी चाह होती है।

८—मलक्षय होनेपर जौ, गेहूँ, नाना प्रकारके शाक, मसूर और उड़दके यूष आदि भोजनकी वासना होती है।

९—मूत्रक्षय होनेपर पीनेके पदार्थ, ईखका रस, दूध, गुड़ या शक्कर मिला हुआ जल, बेर या इमलीका पानक, खीरा, ककड़ी और तरबूज आदिकी कामना होती है।

१०-स्वेदक्षय होनेपर तैल आदिकी मालिश, उबटन, शराब, निर्वातस्थानमें सोना, बैठना और मोटे वस्त्र पहिनना आदिकी इच्छा होती है।

११-आर्त्तवक्षय होनेपर स्त्रियोंको चरपरे, खट्टे, नमकीन, गरम, विदाही, भारी भोजन, फल, शाक और पेय पदार्थोंकी इच्छा होती है।

१२-स्तन्य (दूध) क्षय होनेपर शराब, चावल, मांस, गोदुग्ध, शक्कर, आसव, दही; मछली और हृद्य भोजनकी इच्छा होती है।

१३–गर्भके क्षय होनेपर पौष्टिक भोजन, हरिण, बकरी, मेंढ़ी और सूअरके पके हुए गर्भ, चरबी और लोहेके कांटेसे पकाये हुए मांस आदि पदार्थ खानेकी कामना होती है।

आर्त्तवक्षयमें शोधन और उष्ण पदार्थोंका सेवन तथा स्तन्यक्षयमें कफवर्द्धक पदार्थोंका सेवन हितावह है। गर्भक्षयमें वस्तिद्वारा दूध चढावें और चिकने, स्वादु मधुर भोजनका उपयोग करें। इस रीतिसे दोषवृद्धिमें यथाविहित शोधन, कर्षण (बाहर निकालना) आदि उपचार (क्षयसे अविरुद्ध) करें; अर्थात् सम्हाल पूर्वक शोधन आदि क्रिया करें। जिससे बड़े हुए दोष घटकर साम्यावस्थाकी प्राप्ति हो, किन्तु अत्यन्त घटकर क्षय न हो।

इस देहमें उपर्युक्त सब धातुओंका साररूप ओज बनता है, उसका जितना अधिक रक्षण हो, उतनाही जीवन सुखमय होता है। क्रोध, चिन्ता, शोक, अधिक श्रम, अभिमान, धातुक्षय, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण और चरपरे पदार्थोंके अति सेवन एवं कर्षण क्रियासे ओजक्षय होता है। फिर निर्बलता, भय लगना, उदासीनता, इन्द्रियोंमें व्याकुलता, निस्तेजता, अंग जकड़ना, भारीपन, मनकी अस्वस्थता, तन्द्रा, निद्रा, वातशोथ, रूक्षता, कृशता आदि लक्षण होते हैं। उसपर पौष्टिक, स्निग्ध, मधुर पदार्थ, दूध और मांस रस आदिका सेवन हितकर है।

संक्षेपमें वात आदि दोषोंके लक्षण, स्थान, कार्य, विकृति, विकृति हेतु और शमनके उपाय आदिको जान, वे धातुयें जिस रीतिसे सम बन सकें अर्थात् क्षीण दोष बढ़े, बढ़े हुएका क्षय हो और पर स्थानमें गये हुए कुपित दोष शमन हों, उस रीतिसे चिकित्सा करनी चाहिये।

काल प्रभाव—संसारकी समस्त औषधियां और प्राणी मात्रमें वात, पित्त और कफ, ये तीनों दोष रहते हैं। वे काल प्रभावसे बढ़ते-घटते हैं। इनके सञ्चय, प्रकोप और शमनका समय निम्नानुसार है।

१—वात दोषका ग्रीष्ममें सञ्चय, वर्षामें प्रकोप और शरद्में शमन।

२—पित्तदोषका वर्षामें संचय, शरद्में प्रकोप और वसन्तमें शमन।

३—कफदोषका हेमन्तमें संचय, वसन्तमें प्रकोप और वर्षामें शमन।

यदि ऋतुके हेतुसे दोषप्रकोप होता हो, और शमनकी औषध दी जाए, तो रोग तुरन्त शमन नहीं हो सकता। जैसे शरद् ऋतुमें पित्त कुपित होता है; उस समय ऋतु तुल्यता होनेसे पित्तनाशक चिकित्सा करनेपर भी पित्तशमन सत्वर नहीं हो सकता। यदि शरद्ऋतुमें कफ कुपित हो, तो यह ऋतु तुल्यता न होनेसे शीघ्र दूर हो सकता है।

देश प्रभाव—अनूप* (वायु और सूर्यके तापमें कम तेजी तथा वृक्ष और

* प्रचुरोदकवृक्षो यो निवातो दुर्लभातपः। अनूपोष्णदोषश्च।

जल अधिक हो ऐसा) देश, स्वभाविक रीतिसे कफ प्रधान होता है। जांगल ● (वायु और ताप अधिक तेज हो, वृक्ष और जल कम हो ऐसा) देश, वात प्रधान होता है; अर्थात् इन देशोंके औषध, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि कफ तथा वात प्रधान प्रकृति वाले होते हैं। दोनों देशोंके लक्षण जिस देशमें मिलते हों उसको साधारण देश कहा है। साधारण देशमें वात, पित्त और कफ प्रायः सम माने हैं। जिस देशमें अधिक उष्णता पड़ती हो, उस देशको उष्ण और शीत प्रधान देशको शीत कहा है। कतिपय उष्ण देशोंमें पित्त सत्वर प्रकुपित हो जाता है। कतिपय शीत प्रधान देशोंमें निर्बलोंपर वात या कफका प्रकोप होकर न्युमोनिया आदि रोग सत्वर आक्रमण कर देते हैं। पर्वतोंपर अतिसार, प्रवाहिका आदि सहज हो जाते हैं। बड़े शहरोंमें निर्धनोंको राजयक्ष्मा हो जानेकी भीति अधिक रहती है। छोटे ग्रामोंमें विषमज्वर जल्दी फैलता है। कतिपय देश द्विदोषज प्रतीत होते हैं। अलावा प्रवास और ऋतु प्रकोप आदि हेतुओंसे मनुष्योंपर देशका असर न्यूनाधिक हो जाता है। मेला यात्रामें आवश्यक स्वच्छता न रहनेसे संक्रामक विसूचिका आदि रोगोंकी उत्पत्ति हो जाती है।

साधारणतया पित्तप्रधान देशमें कफकी वृद्धि हो, तो देशतुल्यता न होनेसे रोग सुखसाध्य होता है। एवं कफप्रकोपयुक्त रोगी मरुभूमि (जाङ्गल देश) में रहे तो उस देशके जलवायुसे कफप्रकोपमें कमी हो जाती है। मद्रास अथवा महाराष्ट्रमें इमली खाना अनुकूल रहता है; परन्तु उस देशके निवासी मालवामें आकर इमली खाते हैं, तब उनमेंसे अनेकोंके शरीरपर सूजन आ जाती है। इस तरह काल और देशका असर भी मानव प्रकृतिपर होता है।

भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि—

> बाले विवर्धते श्लेष्मा मध्यमे पित्तमेव तु।
> भूयिष्ठं वर्द्धते वायुर्वृद्धे तद्वीक्ष्य योजयेत्॥

प्रकृति स्वभाव—सामान्यतः मानव देहमें बाल्य, युवा और वृद्धावस्थामें अनुक्रमसे कफ, पित्त और वात धातुकी अधिक परिमाणमें उत्पत्ति होती है। दिन और रात्रिमें भोजन करनेपर पचन होने तक कफ, पित्त और वातकी वृद्धि क्रमशः होती रहती है। ऋतु विभागमें ग्रीष्म, वर्षा और शीतकाल तथा देश भेदसे जांगल, उष्ण और अनूप प्रदेश, ये क्रमशः वात, पित्त और कफकी वृद्धिके लिये अधिक अनुकूल माने गये हैं।

● अल्पोदक द्रुमो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः।
ज्ञेयः स जाङ्गलो देशः स्वल्परोगतमोऽपि च॥

जागरण, मल-मूत्र आदि वेगका धारण, मैथुन और मार्ग-गमन आदिसे वात वृद्धि; सूर्यका ताप और अग्निका सेवन, क्षुधा आदि वेगका धारण तथा, शराब, तमाखू आदिका सेवन ये, सब पित्तवृद्धिकर हैं, एवं श्रमका अभाव, दिनमें शयन और चिन्ता-त्याग आदि ये सब कफवृद्धिकर हैं। इनके अलावा मनकी वृत्तिके परिवर्तनसे भी वात आदि धातुओंमें न्यूनाधिकता हो जाती है। चंचल वृत्तिसे वात, क्रोध आदिसे पित्त, तथा आनन्द और शांतिसे कफ धातुकी वृद्धि होती है।

इस रीतिसे प्रकृति, देश और काल विचार, रोगका कारण, दोषप्रकोप, दूष्य विचार, उपद्रव, साम-निराम रोग, कितने कालसे रोग हुआ है, रोगकी गति, रोगीकी आयु, स्त्री है, तो सगर्भा या प्रसूता है अथवा नहीं, बालक है, तो माताका दूध पीता है या नहीं, स्वयं माता रोगी है अथवा निरोगी तथा रोगीके आहार-विहार और अरिष्ट चिह्न आदिका विचार कर चिकित्सा करनेसे भगवान् धन्वन्तरि अवश्य यश दिलाते हैं।

द्रव्याद्रव्य चिकित्सा।

चिकित्सामें दोषसन्तानप्रवाहको रोककर धातुसन्तानप्रवाह चालू करनेके लिये औषधके अलावा आहार-विहार, उपवास, दोष और रोगविरोधी जलवायुमें रहना इत्यादि साधनोंका उपयोग किया जाता है। अतः आचार्योंने द्रव्याद्रव्य साधन भेदसे चिकित्साके दो प्रकार कहे हैं। क्वाथ, चूर्ण, गुटिका, रसायन, भस्म आदि औषधें और रोगशामक आहारको द्रव्य चिकित्सा; तथा संयम, प्राणायाम, उपवास, स्नान, व्यायाम, सूर्यताप आदिका सेवन, आशीर्वाद, मन्त्र, देवसेवा और ईश्वरदत्त व्यापक सहज साधनोंके उपयोगको अद्रव्य चिकित्सा कहा है। इन दोनोंका उपयोग देश, काल और प्रकृतिके विचारपूर्वक करना चाहिये। यदि मात्र अद्रव्य चिकित्सासे ही रोगोंको दूरकर धातुओंको सम बनानेका प्रयत्न किया जाय, तो वेगवान मारक रोगोंमें बहुधा विपरीत परिणाम आता है; एवं जीर्ण रोगोंमें भी अधिक काल लगता है। केवल द्रव्य चिकित्साका ही सर्वत्र उपयोग किया जाय, अद्रव्य साधनोंका आश्रय न लिया जाय, तो भी सर्वदा और सर्वथा सफलता नहीं मिलेगी। अतः सब बातोंको सोचकर चिकित्सा करनी चाहिये।

बृंहण-लंघन चिकित्सा—द्रव्याद्रव्य चिकित्साके बृंहण और लङ्घन, ऐसे २ विभाग हैं। बृंहणको सन्तर्पण और लङ्घनको अपतर्पण भी कहते हैं। बृंहणका कार्य शरीरको बृंहण (पुष्ट) बनाना ×, अर्थात् देहमें आवश्यक पदार्थोंको बढ़ाना

× बृहत्त्वं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृंहणम्॥ च० सं०॥

और लङ्घनका कार्य शरीरमें लाघव (कृशता) लाना +, अर्थात् शरीरमेंसे दूर करने योग्य पदार्थोंको कम करना। इन बृंहण-लङ्घनके अतिरिक्त रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन और स्तम्भन ये, ४ प्रकार चरक संहितामें लिखे हैं। किन्तु इन चारोंका बृंहण और लङ्घनमें अन्तर्भाव हो जाता है।

बृंहण भूयिष्ठ भेषज—बृंहण औषध बहुधा पृथ्वी-जलभूयिष्ठ अ न अ प्रायः अग्नि, वायु और आकाशात्मक होती है। प्रायः कहनेमें यह तात्पर्य है कि, कतिपय औषधियाँ जौ, मसूर, चावल आदि पृथ्वीतत्त्व प्रधान होनेपर भी अपतर्पण रूप और सोंठ, पीपल आदि कितनीही औषधियाँ अग्नि प्रधान होनेपर भी सन्तर्पण रूप हैं।

गुरु, शीतल, मृदु, प्रायः स्निग्ध, घन, स्थूल, पिच्छिल, मंद, स्थिर और श्लक्ष्ण, इन गुणोंसे युक्त द्रव्य प्रायः बृंहण होते हैं। इस चिकित्सामें मांस, दूध, मिश्री, घृत, मधुर, स्निग्ध, पौष्टिक औषधोंकी वस्ति, निद्रा लेना, शान्तिसे पलङ्गपर लेटे रहना, तैलाभ्यंग, स्नान, मनको प्रसन्न रखना और मानसिक चिन्ताओंका त्याग आदि साधन हैं।

लंघन चिकित्सा—लंघन चिकित्साके शोधन और शमन, ये २ भेद हैं। विषम दोषोंको शरीरमेंसे निकाल देनेके लिये रक्तस्राव, वमन, विरेचन, निरूह वस्ति और नासास्राव, ये पांच शोधन कर्म कहलाते हैं।

सम स्थितिमें रहे हुये रस रक्त आदि धातुओंको बाधा न पहुँचाते हुए मात्र विषम दोषोंको सम अवस्थामें लानेका प्रयत्न करना, वह शमन चिकित्सा कहलाती है। इस चिकित्साके पाचन औषध, दीपन औषधि, क्षुधानिग्रह, तृषानिग्रह, व्यायाम, सूर्यके तापमें बैठना और खुली वायुका सेवन, ये ७ उपाय हैं।

शोधन और शमन, इन दोनों चिकित्साओंमें शोधनको उत्तम माना है। जहाँ शोधन चिकित्सा अशक्य हो, वहांपर शमन चिकित्सा की जाती है। इस शोधन चिकित्साकी श्रेष्ठताके लिये प्राचीन आचार्योंने लिखा है, कि:—

दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः।
ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः॥

लङ्घन-पाचन आदि चिकित्साद्वारा जीते हुए वात आदि दोष कदाचित् प्रकुपित हो जाते हैं, परन्तु जो दोष शोधन चिकित्सासे नष्ट किये जायँ; उनका पुनः उद्भव कदापि नहीं होता।

संशोधन कब, कितना, किन-किन द्रव्योंसे और किन-किन अवस्थाओंमें करना चाहिये, यह चिकित्सकोंकी बुद्धि, रोगीकी स्थिति, समय और साधनोंकी

+ यत्किञ्चिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम्॥ च० सं०॥

अनुकूलतापर निर्भर है। इसका विशेष वर्णन शरीरशोधन प्रकरणमें किया जायगा।

लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, विशद, रूक्ष, सूक्ष्म, खर, सर और कठिन गुणोंसे युक्त द्रव्य प्रायः लङ्घनकारक होते हैं। इस चिकित्सामें कुलथी, जुवार, सावां, सत्तू, मूंग, शहदमिश्रित जल, दहीका जल, छाछ, गोमूत्र, शहदमिश्रित त्रिफला, गिलोय, हरड़, नागरमोथा, रसौत, बृहत्पंचमूल, गूगल, शिलाजीत, अरणीका रस, मेद और कफशोषक औषधें, चिन्ता, जागरण और व्यायाम आदि प्रयोजित होते हैं।

वात प्रधान और विशेषतः वातपित्त प्रधान रोगोंमें शमन चिकित्सार्थ प्रायः बृंहण औषध दी जाती है। शेष दोषोंमें लङ्घन उपाय हितावह है।

बृंहण चिकित्साके अधिकारी—व्याधि, औषधसेवन, मद्यपान, अत्यधिक या नित्य स्त्री-सेवन, चिन्ता, बोझा उठाने, प्रवास या उरःक्षतसे निर्बल हुआ, क्षीण, कृश, रूक्ष, अशक्त, वातप्रकृतिवाला, सगर्भा, प्रसूता स्त्री, बालक और वृद्ध, ये सब बृंहण चिकित्साके अधिकारी माने गये हैं। अलावा ग्रीष्म ऋतुमें प्रायः सब रोगियोंकी चिकित्सा बृंहण करनी चाहिये। कचित् इन अधिकारियोंको ज्वर आदि व्याधि (लंघन साध्य रोग) हो जाय; तो इनकी मृदु लंघन चिकित्सा करें। इस संतर्पण क्रियासे लाभ होनेपर देह पुष्ट होती है; बलकी वृद्धि होती है; तथा बृंहण चिकित्सासाध्य रोगोंकी निवृत्ति होती है।

यदि इस चिकित्साका अतियोग किया जाय, तो अति स्थूलता, मेदोवृद्धि, फिर अपची, प्रमेह, ज्वर, उदररोग, भगन्दर, कास, संन्यास, मूत्रकृच्छ्र, आमवृद्धि और कुष्ठ आदि दारुण रोगोंकी उत्पत्ति हो जाती है। कदाच अतियोग होजानेसे अति स्थूलता आगई हो, तो लंघन चिकित्सामें कही विधिसे उपचार करना चाहिये।

व्योषादि चूर्णमिश्रित सत्तू—सोंठ, मिर्च, पीपल, कुटकी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सुहिंजनेके बीज, वायविडंग, अतीस, सारिवा, हींग, कालानमक, जीरा, अजवायन, धनियां, चित्रकमूल, हल्दी, दारुहल्दी, छोटी कटेली, बड़ी कटेली, हाऊबेर, पाठा, सुपारीकी जड़, इन २४ औषधियोंका चूर्ण १-१ तोला लें। उसमें शहद, घी और तैल २४-२४ तोले और जौका सत्तू १६ गुना मिला लेवें। इस सत्तूको जलके साथ मिलाकर यथाशक्ति पिलाते रहनेसे अति स्थूलता नष्ट होती है; तथा स्थूलतासे उत्पन्न हृद्रोग, कामला, श्वेतकुष्ठ, कृमि, अर्श, प्लीहावृद्धि, पाण्डु, शोथ, मूत्रकृच्छ्र, अरुचि, क्षय, श्वास, कास और कंठरोग, ये सब दूर होते हैं। बुद्धि, मेधा और स्मृतिकी वृद्धि होती है, तथा अग्नि प्रदीप्त होती है।

लंघन चिकित्साके अधिकारी—प्रमेह, आमवृद्धि, अति स्निग्धता, ज्वर, ऊरुस्तम्भ, कुष्ठ, विसर्प, विद्रधि, प्लीहावृद्धि; कंठ, नेत्र या मस्तिष्कके रोग और जिन रोगियोंका शरीर स्थूल हो, वे सब लङ्घन चिकित्साके अधिकारी हैं। इनको बृंहण औषध नहीं दी जाती। अलावा हेमन्त और शिशिर ऋतुमें प्राय: सबके लिये लङ्घन चिकित्सा हितावह है। विशेषत: वातरोगीको शिशिर ऋतुमें लङ्घन कराना चाहिये।

लंघन चिकित्साका फल—लङ्घन चिकित्सा करनेपर इन्द्रियोंके बलकी वृद्धि, शरीरमें लघुता, कण्ठ-मुखशुद्धि, प्रस्वेद, अधोवायु तथा मल-मूत्रकी शुद्धि, व्याधिनाश, उत्साह, तन्द्रानाश, ये लक्षण प्रतीत होते हैं।

यदि लङ्घन चिकित्सा (अपतर्पण क्रिया) का अतियोग होजाय, तो अति कृशता, चक्करआना, क्षुधानाश, कास, अधिक तृषा, अरुचि, स्नेह, अग्नि, निद्रा, नेत्र, श्रोत्र, शुक्र, ओज, क्षुधा और स्वर, इन सबकी निर्बलता, बस्ति, हृदय, मस्तक, जंघा, ऊरु, कमर और पसवाड़ोंमें पीड़ा, ज्वर, प्रलाप, अधोवायु भरा रहना, ग्लानि, वमन, संधिस्थान और अस्थियोंमें तोड़ने समान पीड़ा, मल-मूत्रावरोध और नाना प्रकारके वात रोगोंकी उत्पत्ति होती है। ऐसा होजाय, तो बृंहण औषध और बृंहण अन्नपानका सेवन कराना चाहिये।

मध्यम स्थूलता, मध्यम बल, मध्यम पित्त-वृद्धि या मध्यम कफ-वृद्धिवालोंके आम दोष और ज्वर आदि व्याधियोंमें पहले प्राय: दीपन-पाचन चिकित्सा करनी चाहिये। प्राय: कहनेका तात्पर्य यह है कि देश, काल, प्रकृति अनुकूलता आदिकी अपेक्षा करके इस नियममें परिवर्तन होजाता है। पश्चात् शोधन उपचार करें।

हीन स्थौल्य, हीनबल, हीन पित्त या हीन कफ-वृद्धि युक्त अधिकारियोंको आम दोष और ज्वर आदि व्याधियोंमें क्षुधा-तृषाका निग्रहरूप लंघन कराना चाहिये।

यदि अति बलवान रोगियोंके वात आदि दोषका बल मध्यम है, तो वायु, सूर्यका ताप और व्यायाम आदिके सेवन रूप लङ्घन चिकित्सा करानी चाहिये। इस तरह ऐसे बलवानोंके अल्प बलयुक्त रोगोंमें वात आदि सेवनरूप लङ्घन चिकित्सा ही करायी जाय, इसमें आश्चर्य ही क्या ?

संशोधन चिकित्साके अधिकारी—स्थूल, बलवान्, पित्तवृद्धि या कफ वृद्धि-युक्त मनुष्य यदि आम दोष, ज्वर, वमन, अतिसार, हृदयके रोग, मलावरोध, भारीपन, डकार और उबाक आना इत्यादि रोगोंसे पीड़ित हैं, तो उनकी संशोधन चिकित्सा करें।

आम दोषपर उपचार क्रम—जब आम सारे शरीरमें फैलकर रस रक्त

आदि धातुओंमें लीन होकर रहता है, तब उसे बाहर निकालनेमें बलात्कार नहीं हो सकता। केवल आमाशय या पक्वाशयमें हो, तो वमन-विरेचनसे दूर कर सकते हैं। लीन विकारके नाशके लिये पहले दीपन-पाचन औषध देनी चाहिये। फिर स्नेहन और स्वेदनद्वारा आमको परिपक्वकर कोष्ठमें लाना चाहिये। पश्चात् रोगीकी शक्ति अनुसार संशोधन (वमन, विरेचन आदि) क्रियाद्वारा, दोष-मलको बाहर निकालना चाहिये।

आमाशयमें स्थित दोषको बाहर निकालनेके लिये वामक औषध, मस्तिष्कमें रहे हुए दोषको निकालनेके लिये विरेचन नस्य; तथा पक्वाशयके दोषको दूर करनेके लिये विरेचन और वस्ति चिकित्साको प्रयोगमें लाना चाहिये।

जो मल या आम दोष ऊर्ध्व या अधोमार्गसे स्वतः निकल रहा हो; उसे औषध देकर बन्द नहीं करना चाहिये। कारण, मल या विकृत आम भीतर रह जानेसे किसी न किसी रोगकी उत्पत्ति करा देता है। अतः आवश्यकतापर दीपन-पाचन औषध देकर आम या कच्चे मलदोषको पकाकर दूर करना चाहिये।

जब औषध जीवनीय शक्तिकी सहायक होती है, अथवा आन्तरिक शक्तिको बलवान बनाती है, तब वह रोगको दूर करनेके लिये समर्थ होती है। इसलिये चिकित्सकोंको सर्वदा जीवनीय शक्तिपर लक्ष्य देना चाहिये। यदि जीवनीय शक्ति निर्बल होती जायगी, तो उस चिकित्साद्वारा रोग निवृत्त होजायगा, ऐसा नहीं कह सकेंगे।

रोग और रोगीकी प्रकृति-तुल्यता; ऋतु-तुल्यता अथवा देश तुल्यता होवे वह रोग जल्दी काबूमें नहीं आता। *प्रकृति-तुल्यता आदि चिह्न न हों, तो रोग* सुख-साध्य समझना चाहिये। जैसे पित्तप्रकृति वालेको कफका उपद्रव हो, तो प्रकृतितुल्यता न होनेसे सुख-पूर्वक आराम होता है; और पित्तप्रकृति वालेको पित्तका रोग हो, तो प्रकृतितुल्यता होनेसे कष्टसाध्य होता है। किन्तु यह नियम प्रमेह रोगमें लागू नहीं होता। प्रमेह रोग प्रकृति और वात आदि दोष-दूष्योंकी समानतासे सुखसाध्य और विरुद्धतासे कष्टसाध्य और असाध्य माना गया है।

रोग संप्राप्ति और यान्त्रिक विकृति

शीर्षण्य नाड़ियोंके उत्तान मूलस्थान

चित्र नं० ४

१. अग्रिमा सुषिर पत्रिका
२. दृष्टिनाड़ी मूलिका
३. पोषणक वृन्तिका
४. चूचुक वर्तुलक
५. मृणालक
६. पश्चिमा सुषिर पत्रिका
७. धम्मिलक की अधरवृन्तिका
८. त्रिकोण विवर
९. तूल पिण्डिका
१०. मञ्जरिका
११. लवलिका
१२. मुकुलिका
१३. ,, वेणीबन्ध
१४. धम्मिलक
१५. घ्राण नाड़ी (१)
१६. दृष्टि नाड़ी (२)
१७. दृष्टि नाड़ी मूलिका
१८. नेत्र प्रचेष्टनी नाड़ी (३)
१९. कटाक्षिणी नाड़ी (४)
२०. त्रिधारा नाड़ी (५)
२१. नेत्र पार्श्विकी नाड़ी (६)
२२. वक्त्र नाड़ी (७)
२३. श्रुति नाड़ी (८)
२४. कण्ठ रासनी नाड़ी (९)
२५. प्राणदा नाड़ी (१०)
२६. जिह्वातलगा नाड़ी (१२)
२७. प्रथमा ग्रैवेय नाड़ीका अग्रिममूल
२८. ग्रीवा पृष्ठगा नाड़ी (११)
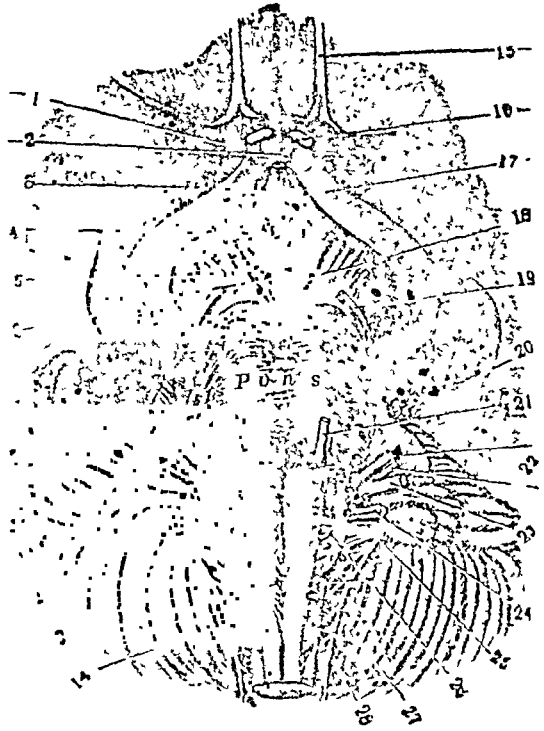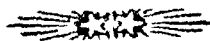
सुषुम्नाख्य स्वतन्त्र नाडी मण्डल

चित्र नं० ५
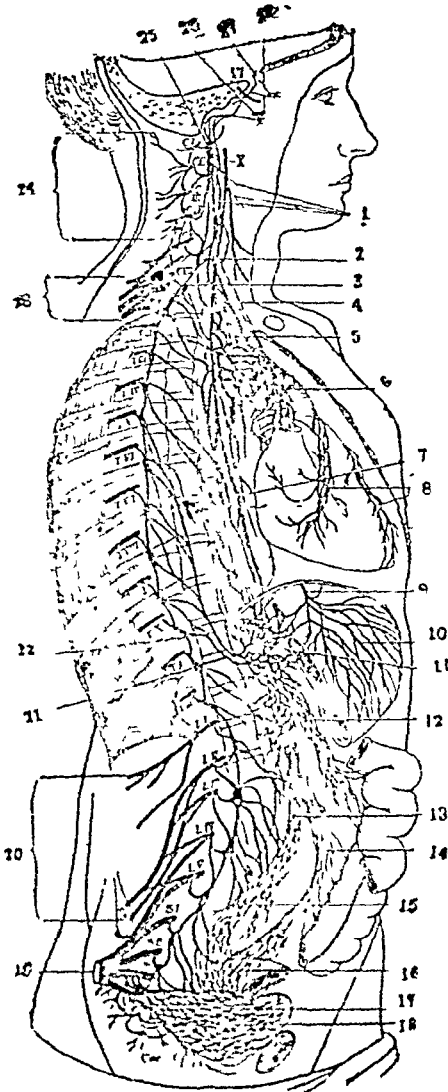
१. परिग्रसनिका नाड़ीचक्र (विशुद्ध)
२. मध्यम अनुग्रैविक ग्रन्थि
३. अधरा ”
४ स्वरयन्त्रगा ऊर्ध्वगा नाड़ी
५- परिफुफ्फुस नाड़ीचक्र
६. हार्दिक नाड़ीचक्र (अनाहत)
७ अन्ननलिका वेष्टन नाड़ी वितान
८. हार्दिक धमनीवेष्टन नाड़ीवितान
९. प्राणदा वामा नाड़ी
१०. पर्यामाशयिक नाड़ीचक्र
११. सौर मण्डल (मणिपूर)
१२. उत्तरांत्रिक नाड़ीचक्र
१३. महाधामनिक ”
१४. अधरान्त्रिक ”
१५. अधिबस्तिक ” (स्वाधिष्ठान)
१६. बस्ति गुहा० ”
१७. बस्ति ” } मूलाधार
१८. परिबस्तिक ”
१९. त्रिकपृष्ठिका प्रवेणी
२० अनुकटिका नाड़ी प्रवेणी
२१. लघ्वी आशयिकी नाड़ी
२२. महती ”
२३. कक्षानुगा नाड़ी प्रवेणी
२४ ग्रीवानुगा नाड़ी प्रवेणी
२५. उत्तरानुग्रैविक ग्रन्थि
२६. तालुजातक ग्रन्थि
२७. चाक्षुप ग्रन्थि
२८. पंचनाड़ीकी ऊर्ध्व हानव्या शाखा

चित्रके भीतर ऊपरसे—

C. १ से ८ तक अनुग्रैविका नाड़ी

T. १ से १२ तक अनुपृष्ठिका नाड़ी

L. १ से ५ तक अनुकटिका नाड़ी

S. १ से ३ तक अनुत्रिका नाड़ी

इस तरह २८ नाड़ियोंके स्थान इस चित्रमें दर्शाये हैं ।

(२) रोगसंप्राप्ति और यान्त्रिक विकृति

नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत् ॥ च० सं०

जैसे नगरपति नगरीके भीतर दुष्टजनसे होनेवाली हानिके निवारणार्थ तथा रथी (रथको हाँकनेवाला) रथको बाहरकी ओरसे खड्डेमें गिर जाना और गलत रास्तेपर चले जाना आदि विघ्न न आनेके लिए सम्हाल रखते हैं, वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्योंको चाहिये कि अन्तर-बाह्य दोनों ओरसे (पथ्य आहार-विहारद्वारा) इस देहरूपी नगरीके संरक्षणार्थ पूर्ण लक्ष्य देता रहे।

जैसे इस संसारमें बुद्धिबल, शरीर-बल, उत्पादक शक्ति, व्यापार तथा सेवा आदिद्वारा समाजका संरक्षण होता रहता है, ठीक वैसे ही इस शरीरमें भी प्राणवायु जो देहका तन्त्रधर हैं, उसकी अध्यक्षतामें ज्ञानपूर्वक, बलपूर्वक, उत्पादक क्रिया और व्यापारद्वारा, तथा परस्पर सहायतासे जीवनके संरक्षणका प्रयत्न अहर्निश होता रहता है। वातनाड़ी समूह (Nervous System) ज्ञान और क्रिया द्वारा, ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानद्वारा, रक्त आदि धातुबल द्वारा, पाचक अग्नि नई रस आदि धातुओंकी उत्पत्तिद्वारा और स्वयं प्राण नाना प्रकारके चयापचय रूप व्यापार (Metabolism) द्वारा तथा त्वचा, गुदा, वृक्क, मूत्रेन्द्रिय आदि दोषोंको बाहर निकालनेकी क्रियाद्वारा इस पुरीको धारण करते रहते हैं।

यह पुरी (शरीर) बहुसंख्यक सूक्ष्म घटकों (Cells) का समूह है। इन घटकोंमें जन्मसे मृत्यु तक परिवर्तन होता ही रहता है। नूतन घटकोंकी उत्पत्ति, उत्पन्न घटकोंकी वृद्धि, वृद्ध घटकोंका क्षय आदि क्रिया सर्वदा होती रहती है। उत्पन्न घटकोंकी वृद्धिके लिये आहारकी आवश्यकता है। अपन जो भोजन करते हैं, उसमेंसे जितने भागका शोषण हो सकेगा और उस शोषित अंशमेंसे जितनेका रूपान्तर अवयवोंके लिये पोषक, मांसपेशियोंके लिये बलप्रद तथा मस्तिष्कके लिये बुद्धि-वर्द्धक होता है, उतना ही अंश सहायक होता है। शेष अंश निरुपयोगी होता है। यह निरुपयोगी अंश (स्थूल मल और सूक्ष्म मल) यथा समय बाहर निकल जाना चाहिये। यदि मल, मूत्र, स्वेद आदि मार्गसे निकलने वाला मल संगृहीत होजाता है, तो रोग संप्राप्ति हो जाती है।

सामान्यतः देहमें वात, पित्त, कफ, ये तीन दोष जब तक सम अवस्थामें रहते

हैं तब तक शरीर स्वस्थ रहता है। जब इन दोषोंमें किसी कारणवश न्यूना-धिकता होजाती है, तब रोग संप्राप्ति होजाती है।

शरीरमें रस, रक्त, मांस, आदि ७ धातुयें और उनकी उत्पत्ति परिवर्तन, संग्रह, शोधन, पाचन, धारण तथा अपक्रान्त और विनाश शीलके दूरीकरणार्थ साधन रूपसे निसर्गने विभिन्न प्रकारके यन्त्रोंकी रचना की है। इन यन्त्रोंके कार्य और सम्बन्ध भेदके अनुरूप शास्त्राचार्योंने कतिपय संस्थानोंमें इनका विभाजन किया है। इन संस्थानोंमें अवस्थित यन्त्रोंका सम्बन्ध परस्पर एक दूसरेको सहायता पहुँचानेका होता है। इस तरह इन संस्थानोंका सम्बन्ध भी कुछ अंशमें परस्पर एक दूसरेसे गुम्फित रहता है। इसी हेतुसे एक यन्त्र या एक संस्थानकी विकृति दूसरे यन्त्र या संस्थानमें पहुँच जाती है। इनके अतिरिक्त रक्तके भीतर कितनी ही अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंका स्राव भी मिलता रहता है। इनमेंसे किसीका रसस्राव न मिल सके या अधिक मिल जाय, तो प्रकृतिमें विकृति होती है। किस इन्द्रिय या ग्रन्थि रसका क्या उपयोग है? उस रसके न्यूनाधिक संयोगसे किस रोगकी उत्पत्ति है? यह जान लेनेपर योग्य उपचार होता है। उदा०—पोषणक ग्रन्थि (Pituitary gland) के पूर्व भागमें अवस्थित अम्लप्रिय (Acidophil) घटकोंका स्राव कम मिलनेपर मन-बुद्धिको पोषण कम मिलता है। मनुष्यकी देह-वृद्धि रुकती है, जिससे वामनरोग (Dwarfism) की प्राप्ति होती है। जननेन्द्रियकी वृद्धि भी रुक जाती है जिससे युवावस्थामें भी स्त्री पुरुष भेद विदित नहीं होता। ऐसी विकृति होनेपर उस स्रावको बढ़ानेका प्रयत्न करना चाहिये। इस तरह ग्रैवेयक ग्रन्थिका अति स्राव होनेपर नेत्रगलगण्ड (Exophthalmas) तथा गलगण्ड (Goitre) की संप्राप्ति होती है।

आहार द्रव्योंमेंसे पोषक अंशका परिवर्तन करके देहका पोषण और वर्द्धन करना तथा निरुपयोगी भागका विनाश करना, यह क्रिया सतत चलती रहती है इसे चयापचय (Metabolism) कहते हैं।

सामान्यतः चयके अनुरूप अपचय क्रिया भी सम गतिसे होती रहती है। क्वचित् चय (संग्रह) की अपेक्षा-अपचय (विनाश) क्रिया मन्द गतिसे या कम परिमाणमें होती है, तब मल या विष संग्रह होता है। वही रोग संप्राप्त कराता है। यह संग्रहीत मल या उत्पन्न विकृति सीमित हो और उसे फैलानेकी क्रिया वेगपूर्वक न होती हो, तो शीघ्र दूर हो सकती है। जब वह एक यन्त्रसे दूसरे यन्त्रमें और एक संस्थानसे दूसरे संस्थानमें प्रवेश कर जाती है तब दूर करना कठिन हो जाता है। इस विकृतिके स्थान, विकृति-गति आदिका

सम्यक् परिचय मिलनेपर रोगके दूरी करणार्थ उपचार करनेमें सुविधा मिल जाती है।

देहमें कार्यकर संस्थानः—इस शरीरमें क्रिया भेदसे निम्नानुसार संस्थान अवस्थित हैं।

१. नाड़ी संस्थान Nervous System.
२ पचन संस्थान Digestive system.
३. रक्ताभिसरण संस्थान Circulatory system.
४. लसीका संस्थान Lymphatic system.
५. श्वसन संस्थान Respiratory system.
६. मांस संस्थान Muscular system.
७. मूत्र संस्थान Urinary system.
८. चर्म संस्थान Dermal system.
९. प्रजनन संस्थान Genital system.

१. नाड़ी संस्थान—देहके भीतर अवस्थित अन्य संस्थानोंकी क्रियापर नियंत्रण रखनेके लिये इस संस्थानकी योजना की है। इसके मुख्य ३ अङ्ग हैं। १ करोटिके भीतर मस्तिष्क; २ पृष्ठ वंशके भीतर सुषुम्णा काण्ड; ३ दोनों ओर संवेदना ज्ञान (Sensations) पहुँचाने तथा मांसपेशियाँ आदिको कार्य संवेग (impulses) पहुँचानेके लिये फैली हुई नाड़ियाँ (Nerves)।

नाड़ी संस्थान यह वायुका मुख्य स्थान है। वायु प्राण, उदान, समान, अपान और व्यान ये पञ्च रूप धारण करके देहके समस्त कार्योंको सम्हालता है। इसका मुख्य स्थान मस्तिकस्थ सुषुम्ना शीर्षसे लेकर धड़के भीतर पूरे सुषुम्ना काण्डमें रहा है। इसका सम्बन्ध ऊपर शीर्षण्य नाड़ियोंद्वारा मस्तिष्कसे तथा मेरुज नाड़ियोंद्वारा शेष समस्त देहके साथ रहा है। इस सुषुम्णामें कई चक्र (Plexus), वात-ग्रन्थियां आदि स्थान भी बने हैं। एवं उक्त नाड़ियोंकी विभिन्न शाखा-प्रशाखायें संपूर्ण देहमें जालके समान फैल गई हैं। शीर्षण्य नाड़ियाँ और मेरुज चक्र और नाड़ियोंका परिचय पृष्ठ ५४-५५ में दिये हुए चित्रोंसे मिलेगा।

नाड़ी संस्थानका महत्वपूर्ण कार्य मनोव्यापार (Mental activity) है, वह मस्तिष्कके भीतर चलता रहता है। दूसरा कार्य संवेदना ज्ञानका ग्रहण और कार्य संवेग पहुँचानेका है। इसके लिये २ प्रकारकी नाड़ियाँ हैं। केन्द्रगामी (afferent) तथा वहिर्गामी (Efferent)। केन्द्रगामी विभागमें श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धका संवेदना ज्ञान मस्तिष्कको पहुँचाने वाली नाड़ियाँ हैं। एवं

बहिर्गामी नाड़ियाँ केन्द्रीय संस्थानकी आज्ञा विविध अवयवोंके पास लेजानेका कार्य करती है। इनको चेष्टा प्रवर्त्तक (Motor) नाड़ियाँ भी कहते हैं। इसका एक भाग रक्तवाहिनियोंका नियन्त्रण करता है। उस विभागकी नाड़ियोंको रक्तवाहिनी नियन्त्रक नाड़ियाँ। (vaso-motor-nerves) संज्ञा दी है।

२. पचन संस्थान—देहको विविध कार्य करनेमें शक्तिका उपयोग सर्वदा करना पड़ता है, उस शक्तिकी उत्पत्ति आहारके पचनसे मिलती है। भोजनको मुखमें चबानेपर उसके साथ लालामिश्रण होता है। फिर वह मिश्रण आमाशयमें जानेपर उसके भीतर रहे हुए प्रथिन (Protein) का द्राव्य (Soluble) रूपान्तर होकर पक्व प्रथिन (Peptone) बनता है। शेष आहारका मन्थन हो होकर अन्त्रके प्रथम भाग (Duodenum) में प्रवेश करता है। फिर धीरे-धीरे सरकता हुआ मध्यान्त्र (Jejunum) और शेषान्त्रक (Ileum) में पहुँचता है। तत्पश्चात् आहार मिश्रण बृहदन्त्र (Colon) और गुदनलिका (Rectum) में जाता है। फिर वहाँसे बाहर निकलता है। ये सब अवयव पचन संस्थानके हैं। इन सबमें आहारकी गति होनेके समय सब स्थानोंमें रही हुई स्राव करने वाली ग्रन्थियों (Secreting glands) में से स्राव मिलता जाता है। उस स्रावकी क्रियासे अन्नके भीतरके अद्राव्य (Insoluble) अंशका द्राव्य रूपान्तर होता है, फिर वह रक्तके भीतर शोषित होता है।

उक्त द्राव्यको देहमें सर्वत्र बाँट देनेका कार्य निम्न रक्ताभिसरण संस्थान तथा लसीका संस्थान करते हैं।

३. रक्ताभिसरण संस्थान—इसका मुख्य स्थान हृदय है। हृदय मांस-पेशीका बना है। वह एक प्रकारका क्षेपण यन्त्र (Force pump) है। उसमें एक ओरसे रक्त भरता है, दूसरी ओरसे रक्त फेंका जाता है। पहिले यह रक्त महाधमनी (Aorta) और धमनियों (Arteries) में जाता है। फिर कैशिकाओं (Capillaries) में प्रवेश करता है। फिर रक्त शिरा मार्गसे पुनः हृदयमें गमन करता है।

कैशिकाओंमेंसे रक्त जानेके समय मांसपेशी, अस्थि, त्वचा, नाड़ी, ग्रन्थि आदि सब प्रकारके अवयवोंसे सम्बन्ध होता है, जिससे उन सबको पोषक द्रव्य पदार्थ मिलता रहता है। सब तन्तुओंके अपचयकी पूर्ति होती है, वे सबल बनते हैं तथा सबके भीतर उत्पन्न मल लौटने वाले रक्तमें मिल जाता है। वह मल वृक्क (Kidney) आदि इन्द्रियोंकी सहायताद्वारा बाहर फेंका जाता है। ये सब क्रियायें रक्ताभिसरण संस्था अनवरत करती रहती है।

अन्त्रसे यकृत्‌में जानेवाली शिराओंका रक्त पुनः अन्य कैशिकाओंमेंसे अभिसरण करता है वहाँपर कितनेही अन्नद्रवके भावी उपयोगार्थ अद्राव्यरूपमें

चित्रांक नं० ६
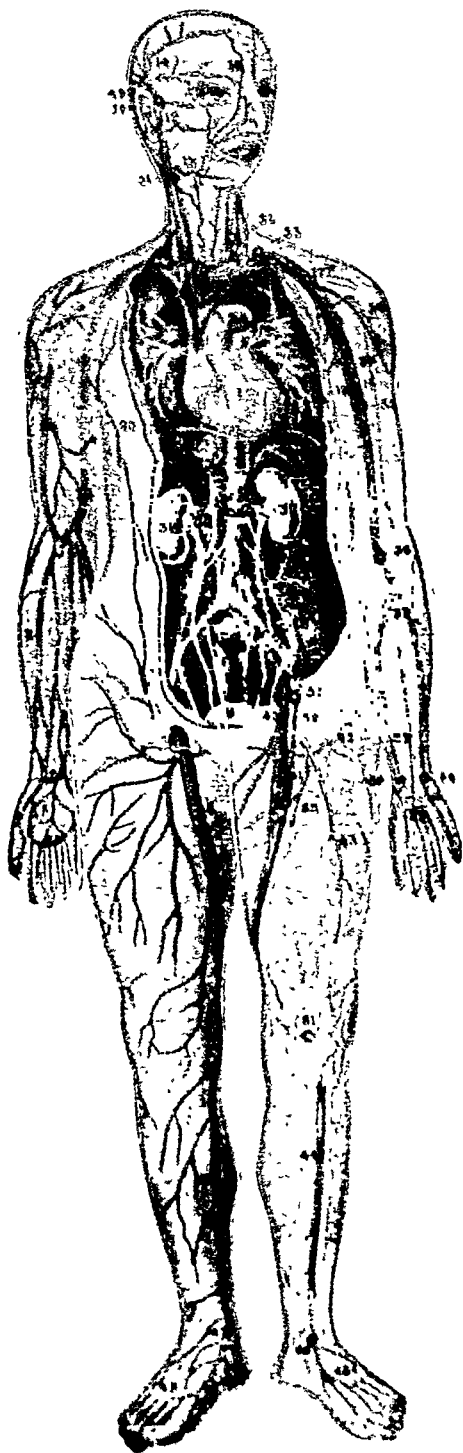
धमनियां, सिरायें एवं रक्ताभिसरण

यकृत्‌के भीतर संग्रह होता है।

आहार रसमें अवस्थित मेद द्रव्य अन्त्रस्थ कैशिकाओंमेंसे रक्तके भीतर प्रायः शोषित नहीं होता। उसके शोषणार्थ अन्त्रकी दीवारमें पयस्विनी प्रणालिकाओं (Lacteals) का निर्माण हुआ है। इन प्रणालियोंसे दुग्ध सदृश मेद पदार्थ शोषित होकर मुख्य रसकुल्या (Thoracic duct) द्वारा उत्तरा महाशिरा (Sup.venacava) में गमन करता है। इन पयस्विनियोंको लसीका संस्थानका अङ्ग माना है।

चित्रांक ६

रक्ताभिसरण संस्थान।

(उत्तान और गम्भीर रुधिराभिसरण)

१ हृदय Heart
२ महाधमनी Aorta
३ उत्तरा महासिरा Superior vena cava
४ फुफ्फुसिया सिराएँ Pulmonary Veins
४-A फुफ्फुसाभिगा धमनी Pulmonary Arteries
५ वामकाण्डमूला सिरा Left Innominate Vein
६ दक्षिण काण्डमूला सिरा Right Innominate Vein
७ कक्षाधरा सिरा Axillary Vein
८ दक्षिण महामातृकाधमनी Right Common Carotid Artery
९ अनुमन्या सिरा Internal Jugular vein
१० अधिमन्या सिरा External Jugular vein
११ वहिर्हानव्या सिरा External Maxillary vein
१२ अनुशंखा धमनी Superficial Temporal Artery
१३ अनुशंखा धमनी Superficial Temporal Vein
१४ अधिभ्रुवा धमनी Supra-orbital Artery
१५ वहिर्हानव्या धमनी External Maxillary Artery
१६ अधिभ्रुवा सिरा Supra-Orbital Vein
१७ कक्षाधरा धमनी Axillary Artery
१८ बाहवी सिरा Brachial Vein
१९ बाहवी धमनी Brachial Artery
२० औदरोरसी सिरा Thoracic Epigastric Vein
२१ वहिः प्रकोष्ठीया धमनी Radial Artery
२२ अंतः प्रकोष्ठीया धमनी Ulnar Artery
२३ वहिर्बाहुका सिरा Cephalic Vein
२४ अंतर्बाहुका सिरा Basilic Vein
२५ वहिः प्रकोष्ठीया सिरा Radial Vein
२६ पुरोगा अन्तः प्रकोष्ठीया सिरा Anterior Ulnar Vein

२७ उत्ताना करतल धानुषी धमनी Superficial Volar Arch
२८ करतल धानुषी सिरा Palmar Arch
२९ अधरा महासिरा Inferior Vena Cava
३० दक्षिण वृक्क Right Kidney
३१ वाम वृक्क Left Kidney
३२-३३ अनुवृक्का सिराएँ और धमनियाँ Renal Veins and Arteries
३४ अधरान्त्रिकी धमनी Inferior Mesenteric Artery
३५ दक्षिण अधिश्रोणिका धमनी और सिरा Right Common Iliac Artery and Vein
३६ वाम अधिश्रोणिका धमनी और सिरा Left common Iliac Artery and Vein
३७ अधिबस्तिक वाहिनियाँ Hypogastric Vessels
३८ अधिश्रोणिका धमनी बाह्य External Iliac Artery
३९ और्वी धमनी Femoral Artery
४० और्वी सिरा Femoral Vein
४१ गम्भीरा और्वी धमनी Deep Femoral Artery
४२ आरोहिणी ऊरुवेष्टनी धमनी Ascending Circumflex Femoral Artery
४३ अवरोहिणी ऊरुवेष्टनी धमनी Descending Circumflex Femoral Artery
४४ पुरोजंघिका धमनी Anterior Tibial Artery
४५-४७ दीर्घोत्ताना सिरा Great Saphenous Vein
४८ पादपृष्ठगा धानुषी सिरा Venous Arch of Dorsum of foot
४८—A पादपृष्ठगा धानुषी धमनी Arcuate Arch of foot
३ गवीनी Ureter
B मूत्राशय Bladder
D महाप्राचीरा पेशी Diaphragm

धमनीके रक्तस्रावमें दबाव देनेके स्थान।

आगन्तुक रक्त स्रावमें हाथ, पैर और मध्यकायमें चिह्न किए हुए स्थानके ऊपर तथा जानु और कण्ठपर चिह्नके नीचे दबाव देना चाहिए।

४९ कपालमूलिनी Occipital
५० अनुशंखा Temporal
५१ अनुकण्ठिका Facial
५२ मातृका Carotid
५३ अक्षाधरा Subclavian
५४ कक्षाधरा Axillary
५५-५६ बाहवी Brachial
५७-५८ और्वी Femoral
५९ अन्तः प्रकोष्ठीया Ulnar
६० बहिः प्रकोष्ठीया Radial
६१ ऊरु जानुपृष्ठिका Popliteal behind the knee
६२ पुरोजंघिका Anterior Tibial

घड़के आगे की ओर की मांसपेशिया

चित्र नं० ७
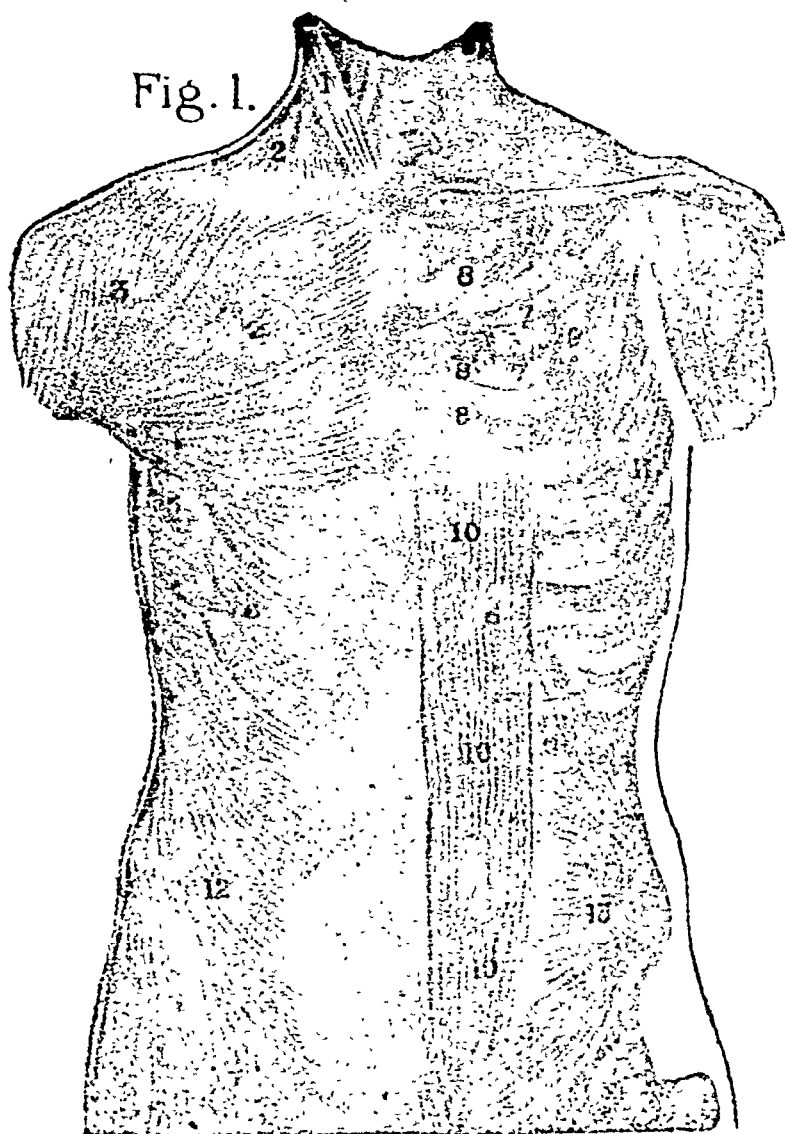
धड़के आगेकी ओरकी मांसपेशियोंका विवरण पृष्ठ ६२ में देखें।

४. लसीका संस्थान—उक्त पयस्विनियोंके अतिरिक्त लसीका ग्रन्थियाँ रसकुल्या, (Lymphatic duct) तथा कैशिकायें—मिलकर लसीका संस्था बनती हैं। सूक्ष्म कैशिकाओं तथा रसकुल्याओंमें से लसीका वहन करती हुई लसीका ग्रन्थियोंमें पहुँचती है। उनके भीतर उसका निर्गल (Filter) होता है। लसीकाके भीतर प्रवाहित कीटाणु और मल ग्रन्थियोंके भीतर रुक जाते हैं। फिर निर्बल कीटाणु, देहस्थ मल और निरुपयोगी द्रव्य नष्ट हो जाते हैं। यदि कीटाणु सबल हैं, तो उनकी वंश-वृद्धि होती है। फिर ग्रन्थियाँ सूजकर बड़ी हो जाती हैं। कण्ठमालाकी संप्राप्ति इसी नियमके अनुसार क्षय कीटाणुओंकी वंश-वृद्धिसे होती है।

५. श्वसन संस्थान-प्राणवायुकी देहसंधारणार्थ अत्यधिक आवश्यकता है। इसका आकर्षण इस संस्थान-द्वारा होता है। इस संस्थानमें नासिका, स्वरयन्त्र, श्वासनलिका तथा फुफ्फुस हैं। इन अवयवोंकी क्रियाद्वारा प्राणवायु आकर्षित होकर चयापचय क्रिया होती रहती है। इनमें अपचय क्रियाद्वारा उत्पन्न आंगारिक वायु (कर्ब द्विप्राणयक –Co 2) का निःसरण भी होता रहता है।

६. मांस संस्थान—देहमें सर्वत्र मांसपेशियाँ रही हैं। इन पेशियोंकी क्रियासे श्वास लेना, निःश्वास छोड़ना, बोलना, हँसना, चलना, नेत्र खोलना, नेत्र बन्द करना, चबाना, मल-मूत्र त्याग करना आदि कार्य होते हैं। पेशियोंका आकुञ्चन-प्रसारण होता है। जिससे पेशीवाले भागका हिलन-चलन होता है।

धड़के आगेकी ओरकी निम्न मांसपेशियां—

१. उरःकर्णमूलिका पेशी Sterno-Cleido-Mastoid Muscle.
२. पर्य्याणक (कशेरु अंश अक्षका पेशी) Trapezius. ,,
३. अंस पिण्डकापेशी (अंसाच्छादनी) Deltoid. ,,
४. उरच्छदा गुर्वी Great Pectoral. ,,
५. अग्रिमा रित्रा पेशी Serratus Magnus. ,,
६. उदरच्छदा आदिमा Obliquus Externus. ,,
७. पर्शुकान्तरिका वहिःस्थ पेशियां External Intercostal. ,,
८. पर्शुकान्तरिका अन्तःस्थ पेशियाँ Internal Intercostal. ,,
९. उरच्छदा लघ्वी Smaller Pectoral. ,,
१०. उदरदण्डिका पेशी Rectus Abdominis. ,,
११. अग्रिमा रित्रा पेशी Serratus Magnus. ,,
१२. उदरच्छदा आदिमा (वहिःस्था) Obliquus Externus. ,,
१३. उदरच्छदा मध्यमा Obliquus Internus. ,,

धड़के पिछली ओरकी निम्न मांसपेशियां—

१. पर्य्याणक (कशेरु अंस अक्षका पेशी) Trapezius Muscle.

२. शिरोग्रीवाविवर्तनी पेशी Splenius Capitis. Muscle.
३. पर्य्याणक (कशेरू अंस अक्षका पेशी) Trapezius. ,,
४. अंसपिण्डिका पेशी Deltoid. ,,
५. अंसपृष्ठिका अधरा पेशी Intraspinatus. ,,
६. अंसापकर्षणी पेशियां (बड़ी और छोटी) Rhomboid Muscles (Major & Minor)
७. त्रिशिरस्का, लम्बे शिर वाली Triceps, Long head.
८. त्रिशिरस्का बाहर शिर वाली Triceps, External head
९. अंसपृष्ठिका पेशी उत्तरा Supra-spinatus.
१०. अंसपृष्ठिका पेशी अधरा Infra-spinatus.
११. अंसाधरिका लम्बी Teres Minor.
१२. कटिप्रगण्डिका पेशी Latissimus Dorsi.
१३. पश्चिमा रिक्ता पश्चिमा निम्ना Serratus Posticus Inferior.
१४. वहिःस्था पर्शुकान्तरिका पेशी External Intercostal.
१५. अन्तरा तिरश्चीना Internal Oblique.
१६. जंवाकी मांस पेशीका मोटा चौड़ा कंचुक Fascia Lata.
१७. वहिःस्था तिरश्चीना External Oblique.
१८. नितम्बपिण्डिका मध्यमा पेशी Gluteus Medius.
१९. नितम्ब पिण्डिका गरिष्टा पेशी Gluteus Maximus.
S. त्रिकास्थि Sacrum.
I. C. जघन चूड़ा Iliac Crest.
R. पर्शुकायें Ribs.

इन उक्त पेशियोंमें दो प्रकार हैं। १-इच्छानुगा (Voluntary) और २-स्वतन्त्रा (Involuntary)। हाथ, पैर, ग्रीवा आदिकी पेशियाँ इच्छानुगा होनेसे उनको अपने इच्छानुसार चला सकते हैं। एवं हृदय, फुफ्फुस, अन्त्र आदिकी विशेष प्रकारकी पेशियाँ स्वतन्त्र होनेसे उनको अपने इच्छानुसार नहीं चला सकते।

इन पेशियोंमेंसे अनेकोंमें आकुञ्चनशील (Contractile) तथा अनाकुञ्चनशील भाग प्रतीत होते हैं। आकुंचनशील अंश माँसघटकोंसे बना है तथा अनाकुंचनशील अंशसंधानक तन्तुओं (Connective tissues) से निर्मित हुआ है। ये संधानक तन्तु श्वेत होनेपर अंशकण्डरा (Tendon) कहलाता है। विशेषतः ये मांसपेशियाँ अस्थियोंकी संधियोंके भीतर हिलन चलन करती हैं। इन पेशियोंको प्रायः चेष्टानाड़ियाँ (Motor nerves) बल प्रदान करती हैं। इन नाड़ियोंद्वारा मस्तिष्कमेंसे प्रेरणा मिलनेपर इच्छानुगा पेशियाँ आज्ञानुसार कार्य करती हैं।

धड़के पिछली ओर की मांसपेशियां

चित्रांक नं० ८
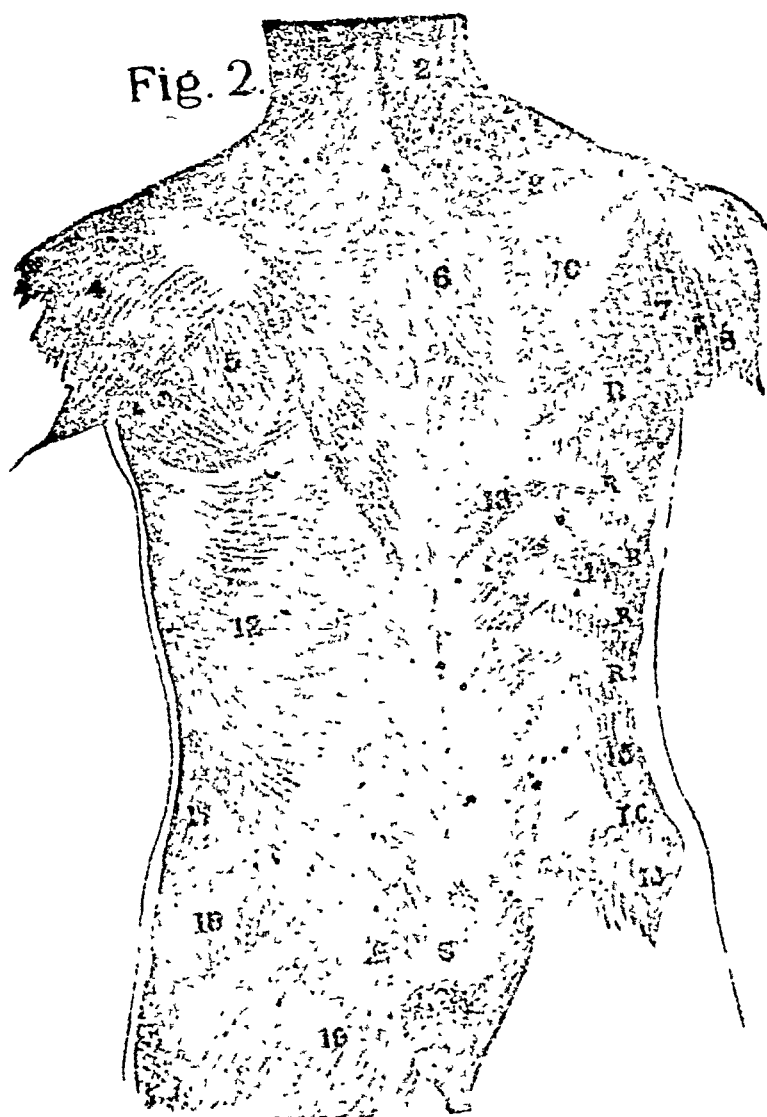
धड़के पिछली ओरकी मांसपेशियोंका विवरण पृष्ठ ६४-६५ में देखें।

अस्थि कंकाल

(आगे और पीछे, दोनों का दृश्य)

१. पुरः कपाल Frontal Bone
२. पार्श्वकपालास्थि Parietal Bone
३. गण्डास्थि Malar Bone
४. ऊर्ध्व हन्वस्थि Maxillary Bone
५. नेत्रगुहा Orbit
६. पश्चात् कपाल Cccipital Bone
७. कण्ठ कशेरुका Cervical Vertebrae
८. अक्षकास्थि Clavicle
९. अंसफलक Scapula
१०. उरःफलक Sternum
११. पर्शुका Ribs
१२. विमुक्ताग्रपर्शुका Floating Ribs
१३. जघन कपाल Ilium
१४. त्रिकास्थि Sacrum
१५. अनुत्रिकास्थि Coccyx
१६. अंसतुण्ड Coracoid Process of Scapula.
१७. प्रगण्डास्थि Humerus
१८. कर्पूरसन्धि Elbow Joint
१९. अन्तः प्रकोष्ठास्थि Ulna
२०. बहिः प्रकोष्ठास्थि Radius
२१. करकूर्चास्थि Wrist
२२. अँगुली मूलशलाकास्थि Metacarpal Bones
२३. करांगुलीनलक Phalanges of fingers
२४. ऊर्वस्थि Femur
२५. जान्वस्थि Patella
२६. जंघास्थि Tibia
२७. अनुजंघास्थि Fibula
२८. पादकूर्चास्थि Tarsal Bones
२९. पादांगुलीशलाकास्थि Metatarsal Bones
३०. पादांगुली नलक Phalanges of Toes.

अस्थि कंकाल--
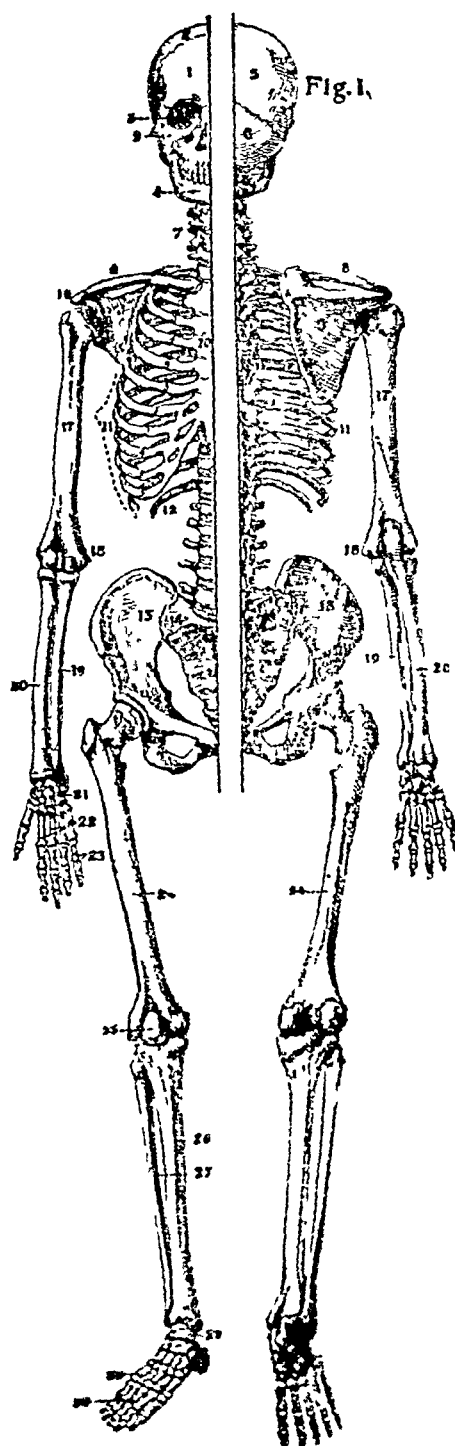
सूचना—बीचके दो विभाग केवल समझने के लिए किये हैं।

इन पेशियोंमें कितनी ही समकार्य करने वाली हैं। इनमेंसे १-१ दायीं ओर तथा १-१ बायीं ओर रहती हैं, एवं कितनी ही आकुंचन-प्रसारण आदि प्रतिस्पर्धी क्रिया करने वाली भी हैं। इन सबका उपयोग देह संधारणार्थ होता है।

यह माँस संस्थान देहको योग्य आहार मिलनेपर सबल रहता है तथा अयोग्य आहार एवं ज्वर, राजयक्ष्मा, उपदंश, कुष्ठ आदि रोगोंकी प्राप्ति होनेपर निर्बल और रोग पीड़ित हो जाता है। परिग्रैवेयक ग्रन्थियोंका स्राव न मिलनेपर धनुर्वात (Tetany) के समान पेशियोंका आकुंचन होता है। अधिवृक्क (adrenal) का स्राव बढ़जानेपर हृदय क्रिया, श्वसनक्रिया और चयापचयकी वृद्धि होती है।

७. मूत्रसंस्थान:—इस संस्थानमें वृक्क और मूत्राशय, ये मुख्य अवयव हैं। वृक्कोंमें मूत्र उत्पत्ति होकर मूत्राशयमें आता है, फिर बाहर निकाला जाता है। यदि वृक्ककार्य स्थगित हो जाय, तो रक्तमें मूत्रविष वृद्धि होने लगती है। उसका उपचार तुरन्त न किया जाय, तो रोगीकी मृत्यु होजाती है। इसी तरह अश्मरी जनित अवरोध होनेपर तुरन्त उपचार न करनेसे मूत्राशयमें मूत्र दबाव वृद्धि होती है, और जीवन भयमें होजाता है। (मूत्र सम्बन्धमें कुछ विचार आगे मलोत्सर्जन पेरे० में भी लिखा है)

८. चर्म संस्थान:—इस संस्थानमें त्वचा, नाखून और केश आते हैं। चर्मद्वारा गंध द्रव्य, तैल, चर्बी, प्रस्वेद और अनावश्यक शारीरिक उष्णता आदि बाहर निकलती रहती है। यह संस्थान भीतरके सब संस्थानोंका संरक्षण करता है और शीत, उष्ण आदिका आघात सहन करता रहता है।

९. प्रजनन संस्थान—वंशवृद्धि (संतानोत्पत्ति) के लिये स्त्री-पुरुषोंके जिन अवयवोंका उपयोग होता है, वे सब अवयव मिलकर प्रजनन-संस्थान बनता है।

पुरुषोंमें वृषण, शुक्रवाहिनी (Ducta Deferentia), शुक्रप्रसेक नलिका (Ejaculatory duct), शुक्रप्रपिका (Seminalis Vesiculae) और मूत्रप्रसेक नलिका मार्ग; तथा स्त्रियोंमें बीजाशय (Ovaries), उदर्य्याकलाकी गुहा (Peritoneal cavity), गर्भाशय तथा योनि मार्ग, ये सब इस संस्थानके अवयव हैं।

पुरुषोंमें वीर्य वृषणके भीतर उत्पन्न होता है, फिर २ फुट लम्बी अधिवृषणिका (Epidydimis) नलीद्वारा वीर्यवाहिनीमें पहुँचता है। पश्चात् आगे शुक्रप्रसेक नलिकामें होकर बाहर निकलता है। स्त्रियोंमें गर्भाशयके दोनों ओर एक एक बीजाशय रहता है, उसमें बीज रहते हैं, इन बीजोंमेंसे कितनेही मासिकधर्म होनेपर गर्भाशयमें आते रहते हैं। इन बीजों (Ova) के साथ शुक्र जीवाणुका संयोग होनेपर गर्भ धारण होता है। एवं माता-पिता तथा पूर्वजोंके गुण संतानको मिलते हैं।

१० अस्थिसंस्थान (Skeleton)—इन उपरोक्त सब संस्थानोंकी स्थिरता,

रक्षा और क्रिया करनेमें सहायता पहुँचानेके लिये निसर्गने अस्थिकंकालकी रचना की है।

अस्थियोंकी सहायतासे पेशियोंकी आकुंचन क्रिया अच्छी तरह हो सकती है, जिससे परिश्रमके कार्य और पेशियोंके चलन-वलन होते हैं। इन अस्थियोंके भीतर मज्जा (Marrow) उत्पन्न होती है, जो रक्ताणुओंके निर्माणमें सहायक बनती है।

हड्डी-हड्डीके बीच सांधे होते हैं, जिससे चलन-वलन होता है। इस क्रियासे हड्डियोंके सिरेका घर्षण होता है, उससे हानि न पहुँचे, इसलिये निसर्गने उन स्थानोंपर चिमड़े तन्तुमय तरुणास्थि (Cartilage) की योजना की है, एवं सांधोंसे बाहर सब भागोंपर पतली आच्छादन कला (Membrane) फैलायी है। उसे अस्थिधरा कला (Periosteum) संज्ञा दी है। यह कला अस्थियोंका संरक्षण करती है, एवं अस्थि क्षय होनेपर नूतन अस्थिका निर्माण भी करती है। इस कलामेंसे रक्तवाहिनियाँ अस्थियोंके भीतर जाकर उनका पोषण करती हैं।

अस्थिभवनकार्य प्रायः २५ वर्षकी आयु तक होता है। ४० वर्षकी आयुके बाद अचल संधियुक्त अस्थियाँ परस्पर जुड़ जाती हैं एवं ७० वर्षकी आयु होनेपर मस्तिष्ककी पृथक् पृथक् रही हुई हड्डियाँ भी परस्पर मिल जाती हैं।

शारीरिक पोषण योग्य मिलनेपर यह अस्थि-संस्थान अपना कार्य योग्य कर सकता है। अयोग्य पोषण मिलने या विष अथवा कीटाणुओंके आक्रमण होनेपर विविध अस्थि विकार-अस्थिमार्दव, अस्थिवक्रता, अस्थिक्षय आदि रोगोंकी संप्राप्ति होती है। परिग्रैवेयक ग्रन्थियों (Parathyroid) का स्राव कम मिलनेपर अस्थिमार्दव (Osteo malacia) रोगकी प्राप्ति होती है। पोषणक ग्रन्थिके क्षारप्रिय (वर्णप्रिय-Basophil) घटकोंके स्रावकी वृद्धि होनेपर मेदोवृद्धि, अस्थिमृदुता तथा रक्तद्रवाववृद्धि होती है। पोषणक ग्रन्थिके क्षारप्रिय (Basophil) घटकोंका स्राव अत्यधिक होनेपर हड्डियाँ बड़ी बनती हैं। फिर राक्षसकाय (Gigantism) और अस्थिवक्रवर्द्धन (acromagaly) आदि रोगोंकी संप्राप्ति होती है।

मलोत्सर्जन अंग—देहमें उत्पन्न बाहर फेंकने योग्य पदार्थ (Waste products) मलको निकालनेका कार्य मुख्यतः अन्त्र, वृक्क, फुफ्फुस और त्वचाद्वारा सर्वदा होता रहता है। इनमेंसे अन्त्रकी गणना पचन-संस्थानमें तथा फुफ्फुसकी गणना श्वसन-संस्थानमें की है। अन्नमें रही हुई प्रथिनोंका अपचय होनेपर यकृतमें मूत्रीया (Urea) बनता है, फिर उसे वृक्क बाहर फेंकता है। वृक्कोंकी क्रिया द्वारा मूत्रीया और लवण मिश्रित जल रक्तमेंसे पृथक् होता रहता हैं। इस क्रियामें त्वचा भी सहायता पहुँचाती है, त्वचामें रही हुई स्वेदग्रन्थियाँ मलको स्वेद रूपसे बाहर निकालती हैं।

यकृत् पित्त भी देहका मल है, किन्तु इसका उपयोग देहधारणार्थ किया जाता है। यह क्षारीय है, आमाशयमेंसे आहार रस ग्रहणीके भीतर आनेपर उसमें यह मिल जाता है, जिससे आहार रसकी अम्लता न्यून होती है, मेदका शोषण होनेमें सहायता मिलती है। बृहदन्त्रकी आकुञ्चन क्रिया उत्तेजित होती है तथा आहार रसमें कीटाणु और दुर्गन्धकी उत्पत्ति नहीं होती।

ग्रहणीमें पित्तस्राव योग्य होनेपर मल पीला उतरता है। पित्तस्राव कम होनेपर मल सफेद रंगका दुर्गन्धियुक्त बन जाता है, पित्तस्राव अधिक होनेपर मल पतला, पीला और उष्ण बन जाता है। कीटाणुओंकी उत्पत्ति होनेपर बालकोंमें मल हरा-पीला प्रतीत होता है।

देह पोषण योग्य न होनेपर या पोषणक ग्रन्थिके अम्लप्रिय (Acidophil) स्राव न्यून होनेपर नपुंसकता आती है। बालग्रैवेयक ग्रन्थि (Thymus gland) का अभाव होनेपर वृषण-वृद्धि होती है। इसके विपरीत वृषण ह्रास होजाय, तो बालग्रैवेयक ग्रन्थिकी वृद्धि होती है।

उक्त सब संस्थान परस्पर सम्बन्ध वाले हैं। सबको मिलकर कार्य करना पड़ता है। आवश्यकतापर एक दूसरेको सहायता पहुँचाते हैं। उदा० शीत कालमें त्वचाद्वारा स्वेद बाहर निकालनेकी क्रिया शिथिल होती है, तब वृक्क तेजीसे कार्य करता है। वातनाड़ियाँ किसीभी संस्थानके निर्बल होनेपर उसे अधिक सहायता पहुँचाती हैं। फिरभी कार्य नहीं हो सकता, तब विकारोत्पत्ति होती है।

उक्त संस्थानोंमेंसे पचन-संस्थान योग्य कार्य नहीं करता, तब आम विषकी उत्पत्ति होती है। उग्र विषको बाहर फेंकनेका कार्य मलोत्सर्जन संस्थान पूरा न हो सके, तब रक्तमें मल संगृहीत होता है। इस तरह विषम ज्वर आदि रोगोंके कीटाणुओंका आक्रमण होनेके पश्चात् भी रक्तमें मल (विष) संगृहीत होजाता है, फिर उसे जलानेके लिये ज्वरोत्पत्ति होती है।

ज्वर या अन्य रोगोंकी चिकित्सा तभी योग्य होती है, जब रोग संप्राप्तिको समझकर रोग निदान किया जाय। यदि रोग निदान (निर्णय) भूलवाला होता है, तो चिकित्सा अयोग्य होती है। रोग संप्राप्ति (Pathology) समझनेके लिये विविध इन्द्रियोंके स्थान, कार्य और उपयोगका ज्ञान होना चाहिये। इन्द्रियोंके स्थानका वर्णन शारीर शास्त्र (Anatomy) का विषय है, एवं इन्द्रियोंके कार्य, सम्बन्ध, उपयोग आदिका विचार इन्द्रिय कार्य विज्ञान शास्त्र (Physiology) का विषय है। विद्यार्थियोंको चिकित्सा-शास्त्र सीखनेके पहले इन दोनों शास्त्रोंका अध्ययन कर लेना चाहिये।

---

(३) शरीर शुद्धि प्रकरण।

वमन, विरेचन, वस्ति आदिका उपयोग शरीर शोधनार्थ किया जाता है। अतः इन सबको शोधन क्रिया कही है। इन शोधन क्रियाओंका उपयोग करनेके पहले स्नेहन और स्वेदन क्रिया करनी चाहिये। यदि स्नेहन और स्वेदन क्रिया किये बिना वमन, विरेचन आदि क्रियाका सेवन किया जायगा, तो लाभके बदले हानि होनेकी सम्भावना होगी। इन क्रियाओंमें स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन और बस्तिको मुख्य; तथा नेत्रशोधन क्रिया, नस्य, धूम्रपान, गंडूप, कवल धारण, प्रतिसारण, कर्ण विधि और शिरोविरेचन आदिको गौण माना है। इन क्रियाओंमेंसे आवश्यक क्रियाओंद्वारा यदि रोगोत्पादक मल, विष, जन्तु या विजातीय द्रव्यको दूर कर दिया जाय, तो भावी रोगोंकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी; और जीवनीय शक्ति भी बलवान् बनी रहेगी। इस तरह रोग हो जानेके पश्चात् भी स्नेहन, स्वेदन आदि क्रियाओंद्वारा दोषको दूर कर दिया जाय, तो औषध सत्वर लाभ पहुँचा सकती है। अतः इन क्रियाओंका उपयोग रोगोत्पत्तिको रोकने और रोगोंके मूलको नष्ट करने, इन दोनों कार्योंके लिये होता है।

यदि रोगोंकी शमन औषध बिना देह शोधन की हो, तो क्वचित् फिरसे पहलेका रोग या उसके विषजन्य इतर रोग उत्पन्न होजाते हैं। किन्तु शोधन क्रियाद्वारा रोगोत्पादक मूल ही निकाल दिया जाय, तो कारणके अभावसे उस विषजनित रोगकी कदापि उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी हेतुसे शनैः शनैः बढ़ने वाले रोगकी चिकित्सा करनेके पहले इस शोधन क्रियाकी सहायता लेना अति हितकर है। किन्तु इन क्रियाओंका सेवन शारीरिक और मानसिक शक्ति, रोग, रोगबल, ऋतु, स्थान आदिका विचारकर श्रद्धा और शान्तिसह करना चाहिये।

(१) स्नेहपान विधि

स्नेहके स्थावर, जंगम भेदसे २ प्रकार; तथा घृत, तैल, वसा (चर्बी) और मज्जा (हड्डीके भीतरका घृतवत् स्नेह), भेदसे ४ प्रकार हैं। घृत और तैलको एकत्र करनेसे यमक; घृत, तैल, वसा मिश्रित करनेसे त्रिवृत; और चारों प्रकारके स्नेह मिलानेसे महास्नेह कहलाते हैं। इन स्नेहोंमें घृतको स्नेहोत्तम कहा है। घृतका उपयोग इतर स्नेहोंसे अत्यधिक होता है। तैलका उपयोग घृतसे कम होता है। शेष स्नेहोंका उपयोग पीनेके लिए बहुधा चिकित्सकगण वर्तमानमें नहीं करते। स्नेह कार्यार्थ घृतोंमें गोघृत और तैलोंमें तिल तैलको ही उत्तम

माना है। विरेचनार्थ एरण्ड तैलको श्रेष्ठ कहा है ।

गुण—घृत अपने स्नेह गुणसे वातको, माधुर्य्य और शीतल गुणसे पित्तको और संस्कारित होनेपर कफको जीत लेता है; तथा रस, शुक्र और ओजको हितकर है।

तैल वातघ्न, और उष्ण होनेसे कफवृद्धि नहीं कराता है, एवं यह बलप्रद, त्वचाके लिये उष्ण और स्थिरकर तथा योनि विशोधक है।

वसा विद्ध, भग्न, आहत, भ्रष्टयोनि, कर्णरोग तथा शिरोरोगमें उपयोगी है। मज्जा अस्थियोंके बलको बढाने तथा शुक्र, बल, श्लेष्म, मेद और मज्जाकी वृद्धि करनेमें हितावह है।

अधिकारी विचार—रूक्ष, दाह रोगी, नेत्ररोगी, वृद्ध, बालक, क्षतक्षीण, विषपीड़ित, वातपित्तविकारयुक्त, वातपित्तप्रधान प्रकृति वाले, मन्द बुद्धि और मन्द स्मरणशक्ति वाले, तथा स्वर, बल, वर्ण और वायुकी इच्छा वालेको घृत पिलाना हितावह है।

कृमिरोगी, उदररोगी, स्थूल, वातरोगी, वातप्रकृति वाले, क्रूर कोठे वाले, कफ और मेदो वृद्धि वालोंको तैल पिलाना लाभदायक है।

सूचना—जिसे स्नेहपानका अभ्यास है, जो स्नेहपान जनित कष्टको सहन करनेमें दृढ़ है, उसे ही स्नेहपान कराना चाहिये।

उपयोग विधि—स्नेहपान शोधन, शमन और बृंहण भेदसे ३ प्रकारके हैं। इनमें शोधनकार्यके लिए स्नेहपान उत्तम मात्रामें भोजन जीर्ण होजानेपर देना चाहिये; कारण, क्षुधा प्रदीप्त होनेसे स्नेहपान अपना कार्य नहीं कर सकता। क्योंकि क्षुधा प्रदीप्त होनेपर वमन द्रव्योंका भी असर नहीं हो सकता, तब स्नेहपानका असर कैसे हो सकता है ?

यदि शमन कार्यके लिये स्नेहपान कराना हो; तो अच्छी क्षुधा लगनेपर मध्यम मात्रामें स्नेहपान कराना चाहिये। इसलिए कि वह (स्नेहपान) सारे शरीरमें फैलकर कुपित दोषोंको शमन करे। यदि भोजनके जीर्ण होनेपर या क्षुधा न होनेपर स्नेहपान कराया जायगा; तो स्रोतसोंमें कफ भरा रहनेसे उसके साथ स्नेह मिल जायगा और वह सारे देहमें फैल नहीं सकेगा, और न उससे दोष शमन ही हो सकेगा। वैद्योंको चाहिये कि वे शमन कार्यके लिये रात्रिका आरम्भ होनेपर ही स्नेहपान करावें; तथा रोगीको मांसरस और चावलका भोजन अल्प मात्रामें मध्य रात्रिको दें या उष्ण यवागू पिलावें।

बृंहण हेतुसे स्नेहपान कराना हो, तो मांसरस, मद्य आदिसह और चावल आदिके साथ लघुमात्रामें कराना चाहिये।

जठराग्निका विचार करके ३ से ७ दिन तक घी अथवा तैल पिलाना चाहिए।

इससे अधिक दिनों तक न पिलावें; क्योंकि ७ दिनके बाद स्नेहपान सात्म्य भावको प्राप्त होजाता है। कदाचित् ७ दिन तक स्नेह पिलानेपर भी स्निग्धता सम्यक् प्रमाणमें न आई हो, तो स्निग्धता आने तक २-४ दिन अधिक स्नेहपान करावें।

पित्त रोगी तथा पित्त प्रकृति वालेको केवल घृतपान कराना चाहिये। वात-विकार एवं वात प्रकृतिमें सैंधानमक मिलाकर तथा कफके रोगमें त्रिकटु (सोंठ, मिर्च, पीपल) और यवक्षार मिलाकर घृतपान कराना चाहिये।

स्नेहपानका समय—शीतकालमें स्नेहपान दिनको और ग्रीष्म ऋतुमें रात्रिको (शामको) कराना चाहिये। वात-पित्तकी अधिकता हो, तो रात्रिमें और वात-कफकी अधिकतामें दिनमें स्नेहपान कराना चाहिये। यदि वात-पित्त प्रधानतावाले उष्ण ऋतुमें स्नेहपान करेंगे, तो उनको मूर्च्छा, पिपासा, उन्माद, कामला आदि रोग होजानेकी सम्भावना है। इसी प्रकार वात-कफ भूयिष्ठ रोगी शीतकालमें रात्रिको स्नेहपान करेंगे, तो उनको आनाह, अरुचि, शूल, पाण्डुता आदि रोग होजानेकी संभावना है।

मात्रा—यदि घृत, तैल आदिकी मात्रा १ प्रहरमें पच जाय, तो वह स्नेह जठराग्निको प्रदीप्त करता है। अतः थोड़े दोषवालोंके लिये न्यून मात्रा ही उपयोगी है। जो मात्रा दो प्रहरमें पच सके, वह वृष्य (शुक्र-वर्धक) और बृंहण (शरीरको पुष्ट करने वाली) होनेसे मध्यम दोषवालोंको लाभदायक है। जो मात्रा तीन प्रहरमें पचती है, वह स्निग्ध होनेसे अति दोष वालेको हितावह है। जो मात्रा ४ प्रहरमें पचती है, वह ग्लानि, मूर्च्छा और मदकी नाशक होनेसे दोष शमनार्थ श्रेष्ठ मानी गई है; तथा जो मात्रा ८ प्रहरमें पचती है, वह कुष्ठ, विष, उन्माद, ग्रह और अपस्मार रोगोंको नष्ट करने (शोधन कार्य) के लिये हितावह है।

स्नेह कितना देना चाहिये? इसका निर्णय पाचन शक्तिपरसे करना चाहिये। कोई आचार्य उत्तम मात्रा १ पल (४ तोले), मध्यम ३ कर्ष और हीन मात्रा २ कर्ष (आधे पल) की लिखते हैं। तब दूसरे आचार्य ६ पल, ४ पल और २ पल लिखते हैं। परन्तु सामान्य रीतिसे वर्त्तमानमें शोधनार्थ ८ तोलेसे १६ तोले तककी मात्रा देनी चाहिये, ऐसी मेरी समझ है। किन्तु चिकित्सकको चाहिये कि पहले स्नेह कम मात्रामें पिलावें। फिर शक्तिके अनुसार मात्रा बढ़ावें। अधिक मात्राके सेवनसे या अपथ्य सेवनसे स्नेह पचन न हो सके, आफरा या मलावरोध हो जाय, तो निवाया (कुनकुना) जल पिलाकर वमन कराना चाहिये।

अनुपान—घी पीने वालेको ऊपरसे गरम जल और तैल पीनेवालोंको मूँगका यूष पिलावें। जब घृत अथवा तैल पचन होकर गरम जल पीनेसे शुद्ध

डकारें आवें, तब भोजन करावें।

यदि वसा या मज्जा पिलाना हो, तो ऊपरसे मण्ड या गुनगुना जल पिलावें, भल्लातक तैल या तुवरकका तैल पिलाना हो, तो अनुपानरूपसे शीतल जल देना चाहिये।

जब स्नेह पचने लगते हैं, तब तृषा, दाह, भ्रम, अनुत्साह, अरुचि और बेचैनी उत्पन्न करते हैं। ये उपद्रव सामान्य हों, तो सहन करना चाहिये। यदि उपद्रव अधिक हों, तो शांतिके लिए अवश्य उपचार करें। स्नेह पच जानेपर निवाये जलसे स्नान कराकर रुचि अनुसार चावलोंकी थोड़ी निवायी यवागू पिलावें। आवश्यकता हो, तो उसमें थोड़ा घृत भी मिलावें।

वृद्ध, बालक, कृश शरीरवाला और स्त्री आदि सुकुमार (स्नेह पान जनित कष्टको न सहन करने वालों) को और उष्णकालमें जिनको तृषा बहुत लगती हो, उनको भातके साथ स्नेहपान कराना हितकर है। दुहनेके बर्तनमें मिश्री और घी मिलाकर रक्खें। उसमें गायका दूध दुहें और उस दूधको पिलावें, इससे तुरन्त शरीरमें स्निग्धता आती है।

भुने मांस रसमें थोड़े-से चावलोंकी स्नेह-मिश्रित यवागू और शहद मिलाकर सेवन करानेसे तत्काल स्निग्धता आ जाती है। पञ्चप्रसृता पेया (घी, तैल, वसा, मज्जा और चावल सब समभाग मिला विधिपूर्वक बनाई हुई पेया) पिलानेसे सद्यः स्नेहन होता है।

स्नेहपानका फलः—इन प्रयोगोंद्वारा सम्यक् स्निग्ध होनेपर स्वर और मुखकी सुन्दरता, दांतकी दृढ़ता और वायुकी शुद्धि होती है; जठराग्नि बलवान् बनती है; मल चिकना और अलग-अलग निकलता है; तथा शरीर कोमल, हल्का, पुष्ट और स्निग्ध दीखने लगता है।

किन्तु स्निग्धताके अत्यन्त बढ़नेसे इसके विपरीत अन्नमें अरुचि, लार गिरना, गुदामें दाह, मल पतला, पेचिश और शरीरमें आलस्य आदि उपद्रव होजाते हैं।

श्वासके रोगी और निर्बल फेफड़े वालेको (देहमें दूषित कफ अधिक न होवे उनको) २-४ मास तक रोज सुबह १० नग सफेद मिर्च निगलवाकर २-२ तोले घी पिलाना लाभदायक है। ऊपर जल अथवा दूध कुछ भी न दें। श्वास रोग मिटनेके पश्चात् थोड़े परिमाणमें घृतपान करते रहनेसे दूषित कफ निकलकर फुफ्फुस शुद्ध हो जाते हैं, और पाचन-शक्ति बलवान् बन जाती है।

अति स्नेहपानके लक्षणः—स्नेहपान अधिक परिमाणमें करनेसे यदि अन्न द्वेष, मुँहमें पानी आना, बेचैनी, गुदामें जलन और बार-बार दस्त या

पेचिश आदि उपद्रव हों, तो स्निग्ध मनुष्यको स्नेहपानके पीछे सांवा, कोदों, तिल, और छाछयुक्त पदार्थ भोजनमें दें। अतिघृत युक्त भोजन न दें।

न्यून स्नेहपानका फल:—यदि स्नेहपान न्यून परिमाणमें होगा, तो मल शुष्क हो जायगा; शौच शुद्धि और अन्न पचन होनेमें कष्ट होगा, वायु ऊपर चढ़ने लगेगी; हृदयमें जलन होगी, मुखकी कांति हीन हो जायगी; और शरीर अशक्त बन जायगा। ऐसी प्रतीति होनेपर घृतका सेवन अधिक करावें।

उचित परिमाणमें स्नेहपान होनेपर अग्नि प्रदीप्त, कोष्ठशुद्धि, धातु, बल और वर्णकी वृद्धि, इन्द्रियां दृढ़ तथा जरावस्था मन्द होना इत्यादि लाभ होते हैं।

स्नेहपानके अधिकारी:—नित्यप्रति अधिक घृत सेवन करने वाले, गुल्म रोगी, सर्पविषपीड़ित, विसर्प रोगी, उन्मत्त, मूत्रकृच्छ्र रोगी और मलावरोध-वालोंको उत्तम मात्रामें स्नेहपान करावें। अरुंषिका और फोड़े-फुन्सी वाले, खाज-खुजली युक्त, कुष्ठरोगी, वातरक्त रोगी, जो बहुत भोजन न करते हों, और मृदु कोठे वाले हों; उनको सुखपूर्वक पचन हो सके, उतना ही शोधनार्थ मध्यम मात्रामें स्नेहपान कराना चाहिये। वृद्ध, बालक, सुकुमार, सुखी, जो क्षुधा सहन न कर सकते हों, मन्दाग्नि वाले, जीर्ण ज्वरी, जीर्ण अतिसारी, जीर्ण कासी और स्मरण शक्तिकी वृद्धिकी इच्छा वालेको ह्रस्व मात्रा देनी चाहिये। अधिक मांस और मेदवाले, अति कफवाले, विषमाग्निवालेको यदि शोधन कराना हो, तो उनको भी स्नेहपान कराना चाहिये। परन्तु पहले उनको लंघन आदि उप-चारोंसे रूक्ष करें।

जिनको वमन आदि पञ्चकर्म कराना हो, जो शोधनके अधिकारी हों, रूक्ष, वात विकारवाले, व्यायाम, मद्य या स्त्रीका नित्य सेवन करने वाले हों, और जो मस्तिष्कका श्रम अधिक करते हैं, उनको अवश्य स्नेहपान कराना चाहिये।

स्नेहपानके अनधिकारी;—अधिक कफ और मेद वाले, अति तीक्ष्ण अग्निवाले, ऊरुस्तम्भ रोगी, अतिसार पीड़ित, मद्यसे पीड़ित, अजीर्ण रोगी, उदर रोगी, नवीन ज्वरी, प्रमेहपीड़ित, मूर्च्छा रोगी, अति निर्बल, अन्नमें अरुचिवाले, अति स्थूल शरीर वाले, जुलाब अथवा बस्ति ली होवे, वमन होने-वाले, तृषित, कृत्रिम विष-पीड़ित, परिश्रमी और अकाल प्रसूता स्त्रीको स्नेहपान नहीं कराना चाहिये।

मूत्र पिण्डकी क्रियामें विकृति वाले, बहुमूत्र रोगी, सुजाक जिनको पहले कभी हो गया है, प्रमेहरोगी, जिनको भोजनमें अधिक घृत देनेपर पेशाबमें पीलापन आजाता हो, उन रोगियोंको स्नेहपान नहीं कराना चाहिये।

सूचना—जिसको स्नेहपान पचन न होसके, वह गरम जल पीकर वमन करे। पित्त प्रकृतिवालेको स्नेहपानसे अधिक तृषा लगे, तो दूध पिलावें। स्नेह-

पान सेवन करनेवालोंको चाहिये कि वे व्यायाम, ठंडमें रहना, मल-मूत्र आदि वेगोंको रोकना, रात्रिमें जागरण, दिनमें शयन तथा रूक्ष और शरीरमें गुरुता करनेवाले आहारविहारोंको त्याग दें।

कुष्ठ, शोथ या प्रमेह रोगवालेको यदि स्नेहपान कराना हो, तो ग्राम्य, आनूप और जलचर जीवोंका मांस, मद्य, गुड़, दही, दूध, तिल और उड़दका उपयोग नहीं करना चाहिये। इनके रोगोंकी शामक, पीपल, हरड़, गूगल, त्रिफला आदि औषधोंसे सिद्ध स्नेह, जो इनकी प्रकृतिको अनुकूल हों, विकार न करने वाले हों, इनसे स्नेहन कराना चाहिये।

(२) स्वेदन विधि

स्नेहपान जिसने कियाहो, उसे स्वेदन क्रिया करानेसे, मल, मूत्र और शुक्रकी प्रवृत्ति प्रतिबन्ध रहित होने लगती है। शुष्क काष्टभी स्नेहन, स्वेदन आदि उपचारोंसे मृदु बन सकता है, तो जीवित रूक्ष मनुष्य मृदु स्निग्ध होजाय, इसमें आश्चर्य ही क्या? बढ़े हुए रोगोंमें और अति सशक्तको महास्वेद, मध्यमको मध्यमस्वेद और दुर्बलको हीन स्वेद देना चाहिये।

वातप्रकृतिवालेको स्निग्ध स्वेद, कफ प्रकृतिवालोंको रूक्ष स्वेद और वातपित्तमिश्रित प्रकृतिवालोंको रूक्ष-स्निग्ध मिश्रित स्वेद दें। आमाशय (मेदा) गत वायु हो, तो पहले रूक्ष स्वेद देकर फिर स्निग्ध स्वेद दें। इसलिए कि आमाशय कफका स्थान है। यदि कफ पक्वाशय (आंत) में हो, तो पहले स्निग्ध और फिर रूक्ष स्वेद देना चाहिये, क्योंकि पक्वाशय वायुका स्थान है।

स्वेद (सेक-फोमेन्टेशन Fomentation) के ४ प्रकार हैं। जैसे कि—तापस्वेद, ऊष्मस्वेद, उपनाहस्वेद और द्रव्यस्वेद। इनकी भिन्न-भिन्न क्रिया इस प्रकार करनी चाहिये।

तापस्वेद—हाथ, काँसी आदि धातुपात्र, कन्द, ईंट, रेती या वस्त्रको गरम कर लेटे हुए मनुष्यके अंगको तपाना, विशेषत: खैरके काष्टकी निर्धूम अग्निसे तपाना वह तापस्वेद कहलाता है। चोट लगने, हाथ-पैर मुड़ जाने आदि पीड़ाको दूर करनेके लिये इसका प्रयोग किया जाता है।

ऊष्मस्वेद—ईंट, कवेलू (ठीकरा), पत्थर, लोहपिण्ड आदिको अग्निमें डाल जल या अम्ल द्रव्योंमें बुझा, या अम्ल द्रव्योंसे भिगो गीला कपड़ा शरीरपर रखकर या गीले कपड़ेमें ईंट, पत्थर आदिको लपेटकर स्वेद देनेको ऊष्मस्वेद कहते हैं।

अथवा शरीरको कम्बल आदिसे ढककर गरम किये हुए मांसरस, दूध, दही, कांजी अथवा वातहर औषधियोंके क्वाथ आदिकी बाष्प देना; शरीरपर

तैल मर्दन कर रजाई या कम्बल आदि वस्त्र उढ़ाकर नलीद्वारा स्वेद देना भी ऊष्म स्वेद कहलाता है।

गड्ढा खोदकर उसमें खैरकी लकड़ी जलावें। गड्ढा तपजानेपर अग्निको निकाल लें, फिर गड्ढेके ऊपर खाट रक्खें और खाटपर एरंड आदि वातहर पत्ते बिछा, रोगीको लेटावें। पश्चात् मोटे वस्त्र ओढ़ा, गड्ढेमें दूध, काँजी या जल छिड़ककर स्वेद दें। अथवा इस रीतिसे कुटीमें योजना कर रोगीको स्वेद दें, या रेत, गोबर आदिसे स्वेद दें; यह भी ऊष्म स्वेद कहलाता है।

ऊष्म स्वेद देनेके लिये रास्ना, अरण्डकी जड़, निर्गुण्डीके पत्ते इत्यादिकी बाफ, काँजी, नमक अथवा गरम तैल आदि द्रव्य, इनसे सेक किया जाता है। कफ नाशके लिये निर्धूम अग्नि अथवा कफनाशक औषधियोंकी बाफसे स्वेदन किया जाता है। वात और कफ दोष मिश्र हों तो वात और कफनाशक ओष-धियोंकी बाफ और पित्त मिश्रित हों तो सावधानतापूर्वक केवल गरम जलकी बाफ दी जाती है।

सूचना—ऊष्म स्वेद देना हो, तो तैल मर्दन करानेके पश्चात् गले तक मोटा वस्त्र ओढ़ा कर निर्वात स्थानमें स्वेद दें; ताकि धातुओंमें रहा हुआ दोष पतला होकर प्रस्वेद रूपसे बाहर निकल जायगा।

ताप स्वेद और ऊष्मस्वेद, दोनों विशेषतः कफनाशक हैं। उपनाह स्वेद वात-शामक है; तथा कफपित्त मिले वातप्रकोपमें द्रव स्वेद लाभदायक है।

उपनाह स्वेद—वातनाशक औषधियोंको काँजी आदिमें पीस, घृत और लवण मिलाकर गरम करें। फिर सहन हो सके उतना गरम लेप करें या पुल्टिस बाँधें, उसे उपनाह स्वेद कहते हैं।

अनाग्नेय स्वेद—कफ-मेदसह वायु रोगमें अनाग्नेय स्वेद देना चाहिये; अर्थात् निर्वात स्थानमें बैठाना, भारी वस्त्र ओढाना, मार्ग चलाना, परिश्रम कराना बोझा उठाना, भय दिखवाना, क्रोध उत्पन्न कराना, अधिक मद्यपान कराना, भूखा रखना, धूपमें बैठाना ये १० अनाग्नेय (निरग्निक) स्वेद कहलाते हैं। बिना अग्निके इन १० उपायोंसे प्रस्वेद आजाता है।

द्रवस्वेदः—दूध, मांसरस, यूष, तैल, काँजी, घृत, गोमूत्र आदिको गर्म कर कढाही या टबमें भरकर उसमें रोगीको बैठावें; अथवा निवाये क्वाथ आदिका शरीरपर सिंचन करें, उसे द्रवस्वेद कहते हैं।

जो द्रव्य गुरु, तीक्ष्ण और उष्ण हों, वे ही बहुधा स्वेदन द्रव्य कहलाते हैं। इनसे विरुद्ध गुणवाले द्रव्य स्तम्भन कारक होते हैं; अथवा जिस द्रव द्रव्यमें स्थिर, सर, स्निग्ध, रूक्ष और सूक्ष्म गुण होते हैं, वे स्वेदन कार्यमें

हितावह है।

सूचना:—श्लक्ष्ण, रूक्ष और खर गुणोंवाले द्रव्य स्तम्भन करने वाले माने जाते हैं। कड़वा, कसैला और मधुर रस वाले द्रव्य बहुधा स्तम्भक द्रव्य होते हैं। ऐसे स्तम्भन द्रव्योंका प्रमादवश उपचार होजानेपर रोगी जकड़ जाता है।

वृषण, हृदय और नेत्रपर यदि स्वेद देनेकी आवश्यकता हो, तो मृदु स्वेद दें, अथवा न दें। नेत्रपर स्वेद देनेके लिये कपड़ेकी पोटली अथवा गेहूँके आटे, कमल या पलास आदिकी पिण्डीसे थोड़ा सेक करें, या निवाये जलमें कपड़ा डुबोकर नेत्रको धोवें।

स्वेद करनेपर शीतल मोतियोंकी माला या कमल आदि पुष्पोंकी माला हृदयपर धारण करें।

जिसको नस्य, बस्ति, वमन अथवा विरेचन देना हो, उसे पहले स्नेहन और स्वेदन क्रिया ३-३ दिन तक कराना चाहिये। शल्य निकाल लेनेके बाद उपद्रव रहित मूढ़ गर्भ गिरनेके पश्चात् (रक्तस्राव आदि न हुआ हो तो) सुख पूर्वक सन्तान प्रसव होनेपर स्वेद देनेसे विकृति शीघ्र दूर होकर प्रकृति स्वस्थ हो जाती है। भगन्दर, अश्मरी और अर्श रोगीके मस्सेका ऑपरेशन कराना हो, तो ऑपरेशनके पहले और पश्चात् स्वेद देना चाहिये।

स्वेदन फल—स्नेह पानसे स्निग्ध धातुओंमें स्थित दोष और स्वस्थानमें लीन दोष ऊष्म स्वेदनसे पतले होकर उदरमें आ जाते हैं, और वे विशेषतः वमन और विरेचनद्वारा सरलतासे बाहर निकल जाते हैं। इसके अतिरिक्त स्वेदनसे अग्नि प्रदीप्त होना, शरीर मृदु बनना, त्वचा सुन्दर होना, नाड़ियां निर्मल होना, तन्द्रा नाश, मर्यादित निद्रा, मनकी प्रसन्नता, तथा जकड़े हुए सन्धिस्थान खुले हो जाना इत्यादि फल मिलते हैं। ×

स्वेदनकी अवधि—ठण्ढी, जड़ता और शूल आदि विकार बन्द हो और शरीर मृदु होकर पसीना आये, तब स्वेदन दें। उचित स्वेदन होनेसे पसीना निकलना, पीड़ा शमन होना, शरीर हलका होना, शीत उपचारकी इच्छा होना इत्यादि चिह्न प्रतीत होते हैं। न्यून स्वेदन होनेसे इसके विरुद्ध लक्षण देखनेमें आते हैं।

अधिक स्वेदन होनेसे शरीरपर स्फोट, रक्त और पित्त-प्रकोप, तृषा, उन्माद, मूर्च्छा, भ्रान्ति, दाह, सन्धि-स्थानोंमें वेदना और थकावट आ जाती है। कदा-

---

× अग्ने दीप्तिमार्दवं त्वक्प्रसादं भक्तश्रद्धां स्रोतसां निर्मलत्वम् ॥
कुर्यात्स्वेदो हन्ति निद्रां सतन्द्रां सन्धीन् स्तब्धांश्चेष्टयेदाशु युक्तः ॥
(सु० चि० ३२-२२)

चिन् ऐसा हो तो शीतल उपचार करें।

पाश्चात्य स्वेदन विधि।

एलोपैथीमें सार्वाङ्गिक और स्थानिक, दो प्रकारके स्वेदन योग प्रचलित हैं। सार्वाङ्गिकके उष्ण और शीतल, ये दो भेद हैं। पुनः दोनोंके स्नान (Baths) वेष्टन (Packing), मार्जन (Sponging), ऐसे ३-३ प्रकार होते हैं। स्थानिक प्रयोगोंमें सेक, पुल्टिस, लेप, प्रतिक्षोभक प्रयोग, शीत सेक आदि प्रकार हैं।

३. पुल्टिस विधि।

पुल्टिस, यह एक प्रकारका उपनाह स्वेद है। इसे तैयार करनेके लिये अलसी, गेहूँ और चावलका आटा, सत्तू, रोटीके टुकड़े, आलू, पपीता, प्याज, राई, कोलसा और मांस आदि पदार्थोंका उपयोग किया जाता है। यदि गेहूँ, चावल या अलसीके आटेकी पुल्टिस बनाना हो, तो पहले जलको अच्छी तरह उबालें। फिर थोड़ा-थोड़ा आटा डालते जायँ और चम्मच या लकड़ीसे चलाते रहें। गाँठ न हो जाय, इस बातकी संभाल रक्खें। जब अच्छी तरह जलमें मिलाकर पुल्टिस तैयार हो जाय, तब जहाँ लगाना हो उस स्थानके अनुरूप या कुछ अधिक बड़ा फलालेन, कपड़ा, कागज, या रुईका टुकड़ा काटकर ऊपर लेप करें; अथवा, रोटी या पेड़ेके समान आकृति बनाकर पीड़ित स्थान-पर रक्खें और ऊपर रुई, एरण्ड आदिका पत्ता या कपड़ा रखकर सावधानतया बांध लेवें।

यदि आटेको पहले थोड़े घी या तेलमें भूनकर फिर उबलते हुए जलमें डालकर पुल्टिस बनावें, तो वह सत्वर लाभ पहुँचाती है। आवश्यकतापर जलमें आटा डालनेपर हल्दी भी मिलाई जाती है। हल्दीसे रक्तशोधनमें सहा-यता मिलती है। इस तरह अनेक बार अलसीके आटेमें थोड़ा सज्जीखार (Soda Bicarb) भी मिलाया जाता है।

कितने ही दुर्गन्धयुक्त व्रणोंकी सत्वर शुद्धि होनेके लिये आटेमें लकड़ीके कोयलेका कपड़छन चूर्ण मिलाकर रोटी बनाई जाती है; तथा बांधनेके समय पुनः ऊपरसें कोयलेका चूर्ण बुरकाया जाता है। जिससे सड़ा हुआ मांस जल्दी निकल जाता है।

यदि रोटीके टुकड़े डालकर पुल्टिस तैयार करना हो, तो उनको भी उबलते हुए जलमें डाल, पकाकर तैयार करें।

चावलके आटेकी रोटी बनाना हो, तो आटेमें गर्म जल मिला, सान कर बनावें। यदि गेहूँके आटेसे बनाना हो, तो शीतल जल मिलाकर रोटी तैयार करनी चाहिये।

राईकी पुल्टिस बनाना हो, तो ३ भाग अलसीके आटेके साथ एक भाग राईका चूर्ण मिलाकर जलमें पीसकर तैयार करें।

प्याजकी पुल्टिस बनाना हो, तो पहले छोटे-छोटे टुकड़े कर या कूट कर उबाल लेवें ; फिर हल्दी मिलाकर निवायी (कुनकुनी) पुल्टिस बांध देवें। इस पुल्टिससे शूल, वेदना और शोथ दूर होते हैं।

यदि थूहरके पान या घी कुँवारके गर्भकी पुल्टिस बनाना हो, तो गर्भको गर्म कर, हल्दी मिलाकर बांधनी चाहिये। इस पुल्टिससे तीव्र वेदना, शूल और रक्तविकारका नाश होता है।

आलूकी पुल्टिस बांधना हो, तो गर्मकर, थोड़ा-थोड़ा कपूर और सोहागेका फूला मिलाकर प्रयोगमें लावें। इस पुल्टिससे तीव्र वेदना सत्वर शमन होती है।

एरंड ककड़ी (पपीता) की पुल्टिस बनाना हो; तो उसे गरम करनेकी जरूरत नहीं है। इस पुल्टिससे विद्रधिका सत्वर पाक हो जाता है।

यदि दाह अधिक तीव्र हो, तो अफीमको जलमें घिसकर या वच्छनाभको घीमें घिसकर पीड़ित स्थानपर लेप करें। फिर ऊपर पुल्टिस बांधनेसे अफीम या वच्छनाभके सम्बन्धसे "विषस्य विषमौषधम्" इस न्याय अनुसार दाह सत्वर शान्त हो जाता है।

यदि फूटी हुई विद्रधिपर पुल्टिस बांधना है, तो केवल विद्रधिके मुंहपर ही बांधना चाहिए। ज्यादा भागपर बांधनेसे विद्रधिके विषका क्रमागत सम्बन्ध होता रहता है, जिससे उस स्थानकी त्वचामें विकृति होकर खुजली आने लगती है।

फूटी हुई विद्रधिपर पुल्टिस बांधनेके पहले मुखके चारों ओर जल या घीमें मिलाई हुई अफीमका लेप करें, या इतर मल्हमकी पट्टी लगाते रहें। कारण पुल्टिसमेंसे पीप झरता रहता है। वह इतर स्थानमें लग जानेपर कण्डू और दाह आदि उपद्रव उत्पन्न कर देता है। ये उपद्रव अफीम या इतर मल्हमके लेपसे नहीं होते। अफीमके स्थानपर टिंचर ओपियाई (Tinct. Opii) का भी उपयोग हो सकता है।

जब अपक्व विद्रधिपर पुल्टिस बांधना हो, तब पहले गर्म जलसे आध घण्टे तक सेक करें; फिर पुल्टिस बांधें तो गुण सत्वर होता है।

विद्रधिके लिये चावलके आटेकी अपेक्षा गेहूँ या अलसीके आटेकी पुल्टिस अधिक हितकर है।

यदि अधिक गहराईमें रहे हुए फुफ्फुस, फुफ्फुसावरण, हृदय, श्वासनलिका,

हृदय और अन्त्रावरण आदि इन्द्रियोंपर दाह-शोथ हो गया हो, तो कम सेकी हुई रोटी या उसके समान बड़ी पुल्टिस बनाकर पीड़ित स्थान पर बांधें। यदि इन स्थानोंपर पुल्टिस १-१ घण्टेपर निकाल कर नूतन-नूतन बांधते रहें, तो दोषका सत्वर हरण होजाता है। (उदर कठोर होजानेपर रात्रिको रोटी बांधकर सोजानेसे सुबह उदर मुलायम हो जाता है) बालकोंके लिए भी यह पुल्टिस अति उपकारक है।

सूचना—अपक्व या पच्यमान स्थानपर पुल्टिस बदलनेके समय दूसरी पुल्टिस तैयार होनेपर ही पहली पुल्टिसको निकालें। यदि पहली पुल्टिस खोलनेपर नयी तैयार न हुई हो, तो तैयार होने तक गरम जलसे सेक करते रहें। अन्यथा पीड़ित स्थानपर शीतल वायु लगते रहनेसे पाक होनेमें देरी होती है।

पुल्टिसको सह सके, उतनी गर्म बांधनी चाहिये, और अति शीतल हो जानेपर या २-२ घण्टेपर बदलते रहना चाहिये। यदि पुल्टिस पीपसे भर जाय, तो निश्चित समयसे भी पहले निकाल देनी चाहिये।

यदि पहले वाली पुल्टिसका कुछ अंश पीड़ित स्थानपर लगा हुआ हो, या पीप लगा हो, तो उस स्थानको गर्म जलसे धो, साफ कपड़ेसे पोंछ कर, फिर नयी पुल्टिस बांधनी चाहिये।

यदि बालकोंके लिए फुफ्फुस या श्वासनलिका शोथपर रोटीकी पुल्टिस बांधनी हो, तो रोटी बहुत बड़ी बनानी चाहिये। कारण, बालकके स्थिर न रहनेसे रोटी सरक जाती है। होसके तब तक रोटीपर रुई रखकर मुलायम कपड़ेसे उस स्थानको सम्हालपूर्वक भली भांति लपेट लेना चाहिये; ताकि पुल्टिस निकल न सके और श्वासोच्छ्वास क्रियामें भी प्रतिबन्ध न पहुँचे।

पुल्टिस सामान्य रीतिसे एक अंगुल मोटी बनानी चाहिए। किन्तु अन्त्रा-वरणके दाह शोथपर पतली पुल्टिस लगा, ऊपर रुई बांध देना चाहिये।

पुल्टिस फल—पुल्टिसके सेकसे त्वचा, आँतरत्वचा, त्वचाके नीचे रहे हुए माँस आदि और अधिक गहराईमें रहे हुए अवयवोंके दाह शोथकी भी निवृत्ति होती है। पुल्टिसमेंसे स्निग्ध और आर्द्र उष्णता पहुँचती है, जिससे पीड़ित भागमें से प्रस्वेद निकलने लगता है; उस स्थानकी कठोरता नष्ट होकर वह शिथिल और मृदु हो जाता है; दाह, शोथ और शूलकी निवृत्ति होती है; तथा रक्ताभिसरण क्रियामें वृद्धि होती है।

यदि व्रण, विद्रधि आदिका प्रारम्भ होते ही उनपर पुल्टिसका प्रयोग किया जाय, तो उस स्थानमें पूयकी उत्पत्ति नहीं होती; और वेदना भी सत्वर शमन

हो जाती है। यदि पच्यमान विद्रधिपर पुल्टिस बाँधें; तो वेदना न्यून होती है। और पाक सत्वर होजाता है। इस तरह पूयवाले स्थानपर पुल्टिस बाँधनेसे पूय सरलतापूर्वक बाहर आ जाता है और विद्रधि स्थान थोड़े ही समयमें शुद्ध हो जाता है।

ऊष्मस्वेद—बाष्प स्नान अर्थात् (बफारा Vapour bath) देनेके लिये रोगीको एक लंगोट पहनाकर एक कुर्सीपर बैठाया जाता है, फिर चारों ओर जमीनसे सिर तक कम्बल लपेट देते हैं; रोगीका मस्तक मात्र खुला रहता है, सिरपर गीला वस्त्र रखा जाता है। फिर कुर्सीके नीचे गरम जलसे भरा हुआ पात्र रखदेते हैं। पश्चात् उस जलमें तपाई हुई एक ईंट धीरेसे (जलके छींटे न उड़ें इस रीतिसे) रख देते हैं; और रोगीको कम्बल अच्छी रीतिसे उढ़ा देते हैं, जिससे सब बाष्प रोगीको लगती है। कोई-कोई अधिक प्रस्वेद लानेके लिये इस प्रयोगके समय थोड़ा जल पिलाते हैं। इस रीतिसे १० से १५ मिनट तक बाफ देते हैं। यदि बाफ सहन न हो सके, तो कम्बल थोड़ा खोलनेसे कुछ बाफ बाहर निकल जाती है। इस प्रयोगके हो जानेपर रोगीको तुरन्त गीले कपड़ेसे लपेट देते हैं, या निवाये जलसे स्नान कराते हैं।

पक्षाघात, आमवात, जलोदर और शीत लग जानेपर, यह बाष्प स्नान लाभदायक है।

अग्नि स्वेद विधि—(Radiant heat bath) बाष्प स्वेदके समान रोगीको कुर्सीपर बैठाकर कुर्सीके नीचे जल-पात्रके स्थानपर बिजलीकी बत्ती, जलती बत्ती, स्पिरिट लेम्प, गैस लेम्प या स्टोव रखा जाता है; अथवा निर्धूम गोबरीकी अग्नि रखी जाती है, सिरपर शीतल जलसे भिगोया कपड़ा रखते हैं। क्वचित् रोगीके पैर गरम जलमें रखवाते हैं, जिससे प्रस्वेद आजाता है।

जिसके शरीरमें मेद बढ़ा हो, उसके लिये यह प्रयोग हितकारक है। ३-३ दिनपर यह क्रिया करते रहनेसे मेद बिल्कुल गल जाता है। इसी तरह प्रसूता स्त्रियोंकी खाटके नीचे वात-शमन और दोष जलानेके लिये भी अग्नि रखी जाती है।

पारद स्वेद—रोगीको उपरोक्त विधिसे कुर्सीपर बैठाकर कंठसे जमीन तक कम्बल सम्हालपूर्वक लपेट लें, फिर कुर्सीके नीचे स्पिरिट लेम्प रखें। उसपर एक तस्तरी (Metal plate) रखें। तस्तरीमें ४ माशेसे १ तोला तक पारद (बाई सल्फ्युरेट ऑफ मर्क्युरी By Sulphurate of Mercury) अथवा-(केलोमल Calomal) २० ग्रेन (लगभग १। माशा) रखें। इससे पारदके अ वायुमें मिलकर रोगीको लगेंगे। उपदंश (गर्मी) रोगमें यह क्रिया लगभग २० मिनट तक की जाती है। इस क्रियाको (मर्क्युरियल वेपर ऑर हॉट एयर

(Mercurial Vapour or hot air) कहते हैं।

पारद स्नान—(Mercurial bath) जब पारद मिश्रित औषध खानेमें सहन नहीं होती; तब इस स्नान विधिका उपयोग कराया जाता है। केलोमेल २४० ग्रेन और एमोनिया क्लोराइड ८० ग्रेन, इन दोनोंको ४ औंस जलमें मिला देवें। फिर इस जलको स्नान करनेके लिए जलसे भरे हुए टबमें डाल दें। पश्चात् रोगीको टबमें बैठा दें। टबमेंसे औषधकी वाष्प उड़ न जाय, इसलिए एक कम्बल रोगी और टब दोनोंके ऊपर आजाय, इस रीतिसे ढक दें। केवल मुंह बाहर रखें। इस तरह १ घण्टे तक बैठा रखें। यह भी एक प्रकारका द्रव स्वेद है।

सूचना—कदाचित् मुँहमें थूँकका प्रवाह बढ़ने लगे, तो इस प्रयोगको बन्द कर देना चाहिये।

पोस्तडोडाका सेक—भगोनेमें जल भर, उसमें पोस्त डोडा डाल, गरम करें। ऊपरसे चलनी ढकदें, उसपर एक फलानेलका चौलड़ा कपड़ा रखें, उस कपड़ेसे दर्द वाले भागपर सेक करें।

इस तरह लिंट (Lint) अथवा फलानेल (Flannel) को गरम जलमें भिगो, दूसरे कपड़ेसे दबा; निचोड़कर सेक किया जाता है। (दूसरे कपड़ेमें दबानेसे जलका अधिक अंश रहा हो, वह निकल जाता है। अधिक जल रह जानेसे त्वचापर फाला होजाता है।) फिर वेदनावाले भागपर सेक किया जाता है। जहाँ स्नायु खिंचकर ऐंठ गये हों, वहाँपर यह प्रयोग किया जाता है। स्नायु शिथिल होकर वेदना शमन हो जाती है। हृद्रोग और मूत्रकृच्छ्रमें यह प्रयोग हितकर है।

उपर्युक्त विधिसे फलानेलको निचोड़, उसपर २ ड्राम तारपीन तैल डाल कर, वातके दर्दवाले भागपर रखा जाता है।

एवं अफीमका अर्क (Tincture Opii) १ ड्राम डालकर दर्दवाले भागपर रखा जाता है, अथवा पोस्तडोडा २-३ नगको जौकुट कर १ सेर जलमें अच्छी रीतिसे उबाल, फिर उस जलमें फलानेल डुबा, निचोड़कर उपयोगमें लिया जाता है। इनके अतिरिक्त रबरकी थैली या बोतलमें गरम जल भर करके भी सेक किया जाता है, तथा आमवात, वातरक्त, विषमय रक्त-विकार आदि रोगोंमें बिजलीसे भी स्वेद दिया जाता है।

शीत सेक—ज्वर जब बहुत बढ़ जाता है, तब मस्तिष्कको उष्णता न पहुँचनेके लिए बर्फको रबरकी थैलीमें भर, सिरपर रखा जाता है। ऐसे ही इतर वेदनावाले भागपर भी बर्फ रखा जाता है।

ज्वरमें शिर दर्द हो, तो शीतल जलमें कोलन वाटर अथवा सिरका मिला,

चौलड़ा पतला कपड़ा डुबो, कपालपर रखा जाता है।

यदि कोई घाव जल्दी नहीं भरता, दीर्घकाल लेता है, तो उसपर फ्रायर्स बाल सम (Friar's balsam compound tincture of Benzoin) अर्थात् लोबानके अर्कको जलमें मिला, उससे सेक करनेसे त्वरित लाभ होता है।

पित्तविकृतिवालोंको रोज सुबह नियत स्थानमें शीतल जलसे भरे हुए टबमें आधेसे एक घण्टे तक बैठाते हैं। इससे पित्तदोष, रक्तविकार तथा पित्त मिले वात दोष शमन हो जाते हैं। इस विषयमें विशेष विवेचन आगे स्नान क्रियाके अन्तमें किया जायगा। इस तरह वात और कफ प्रकृति वालोंको गरम जलसे भरी हुई कड़ाही, कोठी अथवा टबमें बैठाते हैं। जल गले तक रखते हैं और आधसे एक घण्टे तक अनेक दिनों तक बैठाते हैं।

सुजाक या उष्णवातके रोगीके स्वेदनके लिए औषधयुक्त जलमें मूत्रेन्द्रियको १०-२० मिनट तक रोज सुबह डुबो रखावें। पेशाब करनेके समय भयंकर पीड़ा होती हो, तो वह इससे दूर होजाती है, और रोग काबूमें आजाता है।

अधिकारी—जुकाम, खाँसी, हिचकी, श्वास, स्वरभंग, कर्णरोग, गलेका रोग, अर्दितवायु, पक्षाघात, सर्वांगवात, आध्मान, वातरोग, कमर जकड़ना, पीठ और पसलियोंमें शूल चलना, वृषणवृद्धि, पैर, साँथल, जंघा, पिण्डी अथवा और भागमें दर्द होना, सूजन, आमदोष, चोट लगना, प्लेग आदि रोगोंकी गाँठें, मूत्रकृच्छ्र, अर्बुद (रसोली आदि), शुक्राघात (शुक्रस्रावमें प्रतिबन्ध), ऊरुस्तम्भ, कम्प, शोथ, त्वचाकी शून्यता, अङ्ग भारी पड़ना, अधिक जंभाई आना और कोष्ठके रोग आदिमेंसे कोई होनेपर स्वेदन क्रिया कराना हितकारी है।

चिरकारी विदग्धाजीर्ण, उन्माद, पैत्तिक शिरदर्द, मूत्रावरोध, स्वप्नदोष, मधुमेह, धातुक्षीणता, त्वचादोष, उपदंश, सुजाक, रक्तविकार और पित्तविकार आदि दोषोंमें शीतल जलमें बैठना अर्थात् शीतल जलका स्वेद देना हितकर है। इस शीतल स्वेदसे दाह, शूल, अंगोंका जकड़ना, त्वचादोष, रक्तविकार, मूत्रदोष, शरीरका भारीपन आदि दूर होकर अग्नि प्रदीप्त होती है; शरीर कोमल होता है तथा शान्त निद्रा आने लगती है।

सूचना—समस्त स्वेद निर्वात स्थानमें अन्न पचन हो जानेपर देने चाहिये। ऊष्म स्वेद देनेके समय नेत्र और हृदयपर शीतल जलसे भिगोया वस्त्र बाँधें और मस्तक खुला रखकर स्वेद दें।

स्वेदनके पहले तैलकी मालिश अवश्य करा लेनी चाहिये। स्वेद आ जानेपर रोगीको तुरन्त खुली वायुमें न आने दें। विश्राम करनेके पश्चात् (पसीना सूख जानेपर) निवाये जलसे स्नान करावें।

विदग्धाजीर्ण, अतिरूक्ष, क्षतक्षीण, अतिसार, गुदारोगी, रक्तपित्त, पाण्डु, उदर रोग, पित्त प्रमेह, वमन, तिमिर, मधुमेह, वातरक्त, मदात्यय और क्षत पीड़ितोंको ऊष्म स्वेद न दें। तृपातुर, क्षुधातुर, शोकातुर, क्रोधातुर, अति दुर्बल और दुर्बल सगर्भा स्त्रीको भी ऊष्म स्वेद न दें।

स्वेद लेने वालेको सात्विक और पथ्य भोजन दें, विशेष घी नहीं देना चाहिये; अधिक स्वेद देनेसे शरीर शिथिल होता है और विपरीत स्वेद देनेसे हानि होनेकी संभावना है। इसलिए रोगीका बल, प्रकृति, ऋतु और व्याधिका विचार करके ही स्वेद देना चाहिये।

४. वमन विधि।

वमनं रेचनं नस्यं निरूहं सानुवासनम्।
ज्ञेयं पञ्चविधं कर्म विधानं तस्य कथ्यते॥

वमन, विरेचन, नस्य, निरूह बस्ति और अनुवासन बस्ति, इन क्रियाओंको शास्त्रमें पञ्चकर्म कहा है। इन कर्मोंका फल शास्त्रकारोंने निम्नलिखित बताया है:—

दोपाः कदाचित्कुप्यन्ति जिताः लंघनपाचनैः।
जिताः संशोधनैर्ये तु न तेपां पुनरुद्भवः॥
(च० सं० सू० १६।२०)

लंघन और पाचन उपचारोंसे जीते हुए वातआदि दोष भविष्यमें कदाचित् कुपित हो सकते हैं; किन्तु जो दोष वमन आदि शोधन कर्मोंसे नष्ट होगये हैं, उनका पुनः उद्भव कदापि नहीं हो सकता। अतः संचित दोपोंको सुखानेके लिये लंघन पाचन उपाय करें; और अति बढ़े हुए दोपोंको बाहर निकालनेके लिये वमन आदि पञ्चकर्मका उपयोग करें।

कफ प्रकोपजन्य विकारमें वमन, पित्तजन्य विकारमें विरेचन, वातजन्य विकारमें बस्ति तथा आम प्रकोपमें लंघन और पाचन प्रशस्त माने गए हैं।

अपक्व दोपको वमनद्वारा, पच्यमान दोषको विरेचनद्वारा निकाल देना चाहिए। वमन कराने योग्य दोपोंका पाक न होने देना चाहिये। जिन दोपोंका क्षय हुआ हो, उनको बढ़ाना चाहिये। कुपित दोषोंका प्रशमन करना चाहिये। बहुत ही बढ़े हुए दोपोंको निकाल देना चाहिये और समान दोषका संरक्षण करना चाहिये।

स्नेहपानके पीछे ३ दिन तक घी मिला हुआ भात अथवा घी मिली हुई पतली मधुर राब पिलावें और स्वेदन करते रहें। चौथे दिन उड़द, दूध, गुड़, मछली, मांस, तिल आदि कफ वृद्धिकर भोजन देकर दोषको क्षुब्ध करें। फिर वमनकी औषध देना चाहिये।

विधिपूर्वक स्नेहन और स्वेदन कर्म करानेके पश्चात् संशोधन क्रिया कराई जाती है। संशोधनोंमें सबसे पहला वमन है। विरेचन आदि देनेके पहले इसे यथा विधि करा देना चाहिये। यदि बिना वमन कराये विरेचन आदि अन्य कर्म कराया जायगा तो कफ शिथिल होकर नीचे चला जायगा और वह ग्रहणीको आच्छादित कर देगा। फिर गुरुता या प्रवाहिकाकी उत्पत्ति होती है। इस लिये पहले वमन कराना चाहिये।

वमन विधि—सुकुमार, कृश, बालक, वृद्ध, या भीरु मनुष्यको छोड़, इतर मनुष्योंको यदि वमन साध्य रोग हो, तो पहले दूध, दही, मट्ठा या यवागू खूब पेट भरकर पिला दें। फिर औषध पिलावें, तथा अग्निसे हाथ तपाकर थोड़ा सेक करें। जब उसे पसीना आनेसे शिथिलता आवे और उबाक आने लगे, तब उकड़ू बैठाकर उसके सिर, पीठ, पसलीको थाम लें। यदि सरलतासे वमन न होती हो, तो उंगली, एरंडके पत्तेकी डण्डी, कमलकी नाल या अन्य वस्तुसे कण्ठमें गुदगुदी करके वमन करावें। इस तरह वमन भली भांति हो जाय; तब तक थोड़े-थोड़े समयके पश्चात् ४-६ बार करें।

वमनमें ४–६ वेग प्रायः आते हैं, और विरेचनकी अपेक्षा आधा मल निकल जाता है।

वमनके अधिकारी—विष दोष, स्तनरोग, मन्दाग्नि, श्लीपद (हाथीपगा), अर्बुद, हृद्रोग, कुष्ठ, विसर्प, प्रमेह, अजीर्ण, भ्रम, विदारिका (कांख बिलाई), अपची (गलेपर गांठ या कण्ठमाला), कास, पीनस, अण्डवृद्धि, अपस्मार (मृगी), ज्वर, उन्माद, रक्तातिसार, नाक, तालु या होठका पकना, कर्णस्राव, अधिजिह्वक (जिह्वापर सूजन), गलशुण्डी (तालु-घंटिकाका रोग), अतिसार, पित्त अथवा कफसे उत्पन्न रोग, मेदोरोग और अरुचि रोगमेंसे कोई रोग होवे, रोगी बलवान् हो और कफसे व्याप्त हो, तो वमन कराना हितकर है। यदि रोगी निर्बल हो; तो उसे वमन नहीं कराना चाहिये।

रोगके हेतुसे वमन करानेके लिये शरद् ऋतु, वसन्त ऋतु, प्रावृट् ऋतु (वर्षा कालसे पहलेका समय) विशेष अनुकूल है। विष विकारके हेतुसे वमन कराना होवे, तो ऋतुके विचारकी आवश्यकता नहीं है।

औषध विचार—भगवान् आत्रेयने वमनकारी ओषधियोंके नाम संक्षेपमें निम्नानुसार कहे हैं:—

मदनं मधुकं निम्बं जीमूतं कृतवेधनम्।
पिप्पलीकुटजेक्ष्वाकून्येलां धामार्गवाणि च॥

उपस्थिते श्लेष्मपित्ते व्याधावामाशयाश्रये ।
वमनार्थं प्रयुञ्जीत भिषग् देहमदूषयन् ॥
(च० सं० सू० २ । ५-६)

मैनफल, मुलहठी, नीम, देवदाली, तुरई, पीपल, कुड़ेकी छाल, कड़वी तुम्बी, एला (छोटी इलायची), पीतपुष्पा कोपातकी (कड़वी) आदि ओषधियां आमाशयगत श्लेष्मपित्त विकार उपस्थित होनेपर देहको कष्ट न पहुँचे उस रीतिसे वमनार्थ दीजाती हैं।

श्री० वाग्भट्टाचार्यने निम्न ओषधियां कही हैं:—

मदन-मधु-कलम्बा निम्ब-बिम्बी-विशाला
त्रपुस-कुटज-मूर्वा-देवदाली-कृमिघ्नम् ।
विदुल-दहन चित्राः कोशवत्यौ करञ्जः
कणा लवण वचैला सर्षपाश्छर्दनानि ।
(अ० हृ० सू० १५ । १)

मैनफल, + मुलहठी, कड़वी तुम्बी, नीम, बिम्बी (कन्दूरी), इन्द्रायण, त्रपुस (कड़वी ककड़ी), कुड़ेकी छाल, मूर्वा, देवदाली, वायबिडंग, जलबेंत, चित्रकमूल, मूषाकानी, कड़वी घियातोरई, कड़वी तुरई, करंज, पीपल, सैंधानमक, छोटी इलायची और सरसों आदि ओषधियां वमन करानेवाली हैं।

कफ अधिक हो, तो मैनफल, पीपल और सैंधानमक गरम जलसे तथा पित्त नाशके लिए परवलके पत्ते, अडूसा और नीमकी अन्तर छालका चूर्ण शीतल जलसे देना चाहिये।

अजीर्णनाशार्थ गरमजलमें केवल सैंधा नमक मिलाकर पिलाना चाहिये।

कफनाशार्थ ओषधियोंमें शहद और सैंधानमक आवश्यकतानुसार मिला देना अति हितकारक है।

+ चरक संहिता और सुश्रुत संहिताकारने वमन द्रव्योंमें मैनफलको श्रेष्ठतम कहा है। क्योंकि इसके सेवनमें हानि होनेका भय नहीं है। यह निर्भय कफघ्न ओषधि है। चरक संहिताकारने वसन्त और ग्रीष्म ऋतुके मध्य कालमें (पुष्य, अश्विनी या मृगशिरा नक्षत्रके मैत्र मुहूर्तमें) मैनफलके संग्रहका विधान किया है। फिर कुशाके गुच्छोंसे लपेट ऊपर कीचड़ मिट्टी लगा, सुखा, ८ दिन तक अनाजके ढेरमें दबा देवें। फिर फलोंको धूपमें सुखा, बीजोंको निकाल, सुखाकर अमृतवानमें भर लेवें। इन बीजोंको मसल निवायाकर घी, शहद और सैंधानमक मिली शराबमें, मिलाकर भूतकालमें पिलाते थे। वमनके लिये वर्तमानमें मात्रा १० से ३० रत्ती तक मानी जाती है। इसका विशेष विवेचन गांवोंमें औषध रत्न तृतीय खंडमें देखें।

(१) कड़वी तुम्बीके बीज, कूठ, मुलहठी और सैंधानमक ३-३ माशे और मैनफल १ तोला लेकर बारीक चूर्ण करें। फिर शहद मिलाकर चूर्णको चाटलें ऊपर नीमके पत्तोंका क्वाथ पीनेसे भीतर संचित हुआ कफ वमनके साथ दूर हो जाता है।

(२) मुलहठीके क्वाथमें अडूसा, इन्द्रयव, सैंधानमक और वचका कल्क ६ माशे तथा शहद २ तोले मिलाकर पिलानेसे दूषित कफ और पित्त बाहर निकल जाते हैं।

(३) कड़वी तुम्बीकी छाल १ तोला चावलके धोवनमें पीस, निवायी कर, सुबह पिलानेसे वमन होकर विष और दूपित कफ पित्त नष्ट होजाते हैं।

(४) तुत्थ भस्म २ रत्ती शहदके साथ चटाकर ऊपर निवाया जल या प्रियंगूकी छालको चावलके धोवनमें पीस, निवाया करके, पिला देनेसे कृत्रिम विष और प्रकुपित पित्त-कफ विकार वमन और विरेचन होकर दूर होजाते हैं।

(५) कूड़ेकी छालके क्वाथमें चौथाई हिस्सा मैनफलके बीजका चूर्ण और मिश्री मिलाकर अवलेह बना लेवें। इस अवलेहमेंसे ३ तोलेके साथ शहद और सैंधानमक मिला, मुलहठीके निवाये क्वाथसे सेवन करानेसे, वमन होकर कफ और पित्त निकल जाते हैं।

वमनके अनधिकारी:—तिमिर, गुल्म, उदररोग, उदावर्त्त, उरःक्षत, मूत्र-रोग, ऊर्ध्व रक्तपित्त, अति स्थूलता, अर्श, अर्दित वात, आक्षेपक वात, प्रमेह, मदात्यय, पाण्डु और कृमि रोगवालोंको वमन नहीं कराना चाहिए एवं सगर्भा स्त्री, बालक, अति वृद्ध, अति कृश, क्षत पीड़ित, रूक्ष शरीर वाला, दूषित स्वर वाला हो और जिसको अति कष्ट पूर्वक वमन होती हो, ऐसे मनुष्यको भी वमनकी ओषधि नहीं देनी चाहिए। कदाचित् इनमेंसे किसीको अजीर्ण विकार हो, अथवा विष पीड़ित हो और वमनकी औषध देनी पड़े, तो मुलहठीका क्वाथ मिला सम्हालपूर्वक देनी चाहिए।

वमन फल—वमन क्रिया योग्य होनेपर दूषित कफ निकल कर कफ विकार शमन हो जाता है, तथा हृदय, कण्ठ, मस्तक आदिका शोधन शरीरमें लघुता आना और मुँहसे कफस्राव बन्द होना इत्यादि फल प्रतीत होते हैं। भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि:—

छिन्ने तरौ पुष्पफलप्ररोहा यथा विनाशं सहसा व्रजन्ति।
तथा हृते श्लेष्मणि शोधनेन तज्जा विकाराःप्रशमं प्रयान्ति॥

जैसे वृक्षको काट देनेपर फूल, फल, अंकुर आदि सहज विनाशको पाते हैं,

वैसे श्लेष्माका शोधन होजानेपर उससे उत्पन्न होने वाले विकार भी शमन हो जाते हैं।

वमन करते-करते कफ दूर होकर पित्त आने लगे, तब वमन ठीक समझना चाहिये। योग्य वमन होनेपर स्वरभेद, कफप्रकोप, तन्द्रा, अधिक निद्रा, मुख दुर्गन्धि, विषविकार, आलस्य, खुजली, अपचन, भारीपन आदि विकार शमन हो जाते हैं और वे पुनः उत्पन्न नहीं होते।

अतियोग होनेसे मस्तककी स्तब्धता, वमनका अतिवेग, कंप, पसली और हृदयमें जलन, पित्तप्रकोप, बेहोशी, हृदय और कंठमें पीड़ा आदि लक्षण होते हैं। वमनका अयोग होनेसे मुंहमें चिपचिपापन, खुजली, बेचैनी, छातीमें भारीपन, शीतज्वर, आफरा, अपचन और मस्तकमें भारीपना, ये लक्षण प्रतीत होते हैं।

अतियोगके प्रतिकार—अति वमन हो, तो शरीरपर घी लगावें और ठंडे जलमें बिठावें; मुरमुरे (धानका लावा), शहद और मिश्री मिलाकर खिलावें; सन्तरा, मुसम्बी आदि खट्टे, मीठे, फलका रस अथवा जामुन या चन्दनका शर्बत पिलावें। मिश्री शहद मिलाकर चटावें; अथवा आंवला, रसौंत, खस और नेत्रबालाको चन्दनके जलमें मथकर घी, शहद और मिश्री मिलाकर पिलावें। इसी प्रकार मृदु हृद्य विरेचन देनेसे भी वमन रुक जाती है। थोड़े प्रमाणमें आरोग्यवर्द्धिनी, पञ्चसम चूर्ण, स्वादिष्ट विरेचन या त्रिफला चूर्ण आदि दे सकते हैं।

सूचना—वमन-विरेचनका अयोग (न्यून मात्रामें) होनेपर लंघन करावें; अथवा फिरसे स्नेहन, स्वेदन देवें। पश्चात् यथा विधि वमन करावें।

वमनके पश्चात् कर्म—अच्छी प्रकारसे वमन होनेके ४-६ घण्टे बाद गरम जलसे स्नान करा, कुलथी, मूङ्ग या अरहरकी पतली दाल और थोड़ा भात या खिचड़ी खिलावें; अथवा मांस रसका सेवन करावें। इस तरह ३ दिन तक हल्का भोजन कराना चाहिये।

वमनके पीछे एक दिन तक शीतल जलका सेवन, व्यायाम (कसरत), अजीर्णकारक पदार्थ, मैथुन, तैल-मर्दन और क्रोधका त्याग करें। अति श्रम, मार्ग गमन, तेज वायुका सेवन, रात्रिमें जागरण, मलमूत्रके वेगका धारण, व्याख्यान देना, जोरसे बोलना, इन सबका त्याग कराना चाहिये।

५. विरेचन विधि

स्नेहन, स्वेदन और वमन कर्म जिसने किये हों, उसीको विरेचन देना चाहिये; अन्यथा ग्रहणी रोग उत्पन्न होजाता है। वमनकी औषध देनेके पश्चात् पुनः स्नेहन और स्वेदन देवें, फिर जुलाब देना चाहिये। जिस दिन जुलाब देना

हो उसकी पहली रात्रिको लघु भोजन दें और फलोंकी खटाई खिला, ऊपरसे गरम जल पिलावें; जिससे सुबह कफ नष्ट होजाय अर्थात् उदरमें आ जाय; फिर रोगीको विरेचनकी औषधि देनी चाहिये।

महर्षि सुश्रुताचार्यने कहा है कि:—

पक्षाद्विरेको वान्तस्य ततश्चापि निरूहणम्।
सद्यो निरूढोऽनुवास्यः सप्तरात्राद्विरेचितः॥

"वमन करानेसे १५ दिन पीछे विरेचन, विरेचनसे ७ दिन पश्चात् निरूहण बस्ति फिर तुरन्त अनुवासन बस्ति दीजाती है।" विरेचनसे पहले स्नेहन, स्वेदन, वमन आदि क्रियायें करनेसे सब नाड़ियोंमें रहा हुआ दोष पक्वाशयमें आ जाता है और नाड़ियां मुलायम होजाती हैं। अतः विरेचन लेनेपर सब दोष सुखपूर्वक बाहर निकल जाता है। जब स्नेहन और स्वेदनसे प्रचलित दोष कोठेमें आता है, तब फिर १ से ३ दिन तक मधुर, खट्टा, नमकीन और स्निग्ध भोजन करनेसे दोष क्षुब्ध होता है। पश्चात् विरेचन देनेपर सरलतासे दोष बाहर निकल जाता है। यदि स्नेहन आदि क्रिया कराये विना विरेचन देवें, तो शरीर रोगी बन जाता है। अतः प्राचीन आचार्योंने कहा है कि:—

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्संशोधनं तु यः।
दारु शुष्कमिवाऽऽनामे शरीरं तस्य दीर्यते॥

जो मनुष्य स्नेहन और स्वेदन कर्म किए बिनाही संशोधन औषध (वमन और विरेचन) का उपयोग करते हैं उनकी देह जैसे सूखी लकड़ी मोड़नेपर टूट जाती है, वैसेही फट जाती है।

विरेचन विधि—अधिक पित्तवालेको मृदु विरेचन, कफवालोंको मध्यम ओषधि और वात प्रकृतिवालोंका क्रूर कोठा समझकर तीव्र औषधि देनी चाहिये। मृदु कोठेवालेको एरंड तैल दूधके साथ अथवा अन्य मृदु जुलाब, मध्यम कोठेवालेको निशोथ, कुटकी, अमलतास आदि औषध, तथा कठिन कोठे वालोंको दन्ती, थूहरका दूध, सत्यानाशीकी जड़ और जमालगोटा आदि तीव्र औषध देनी चाहिये। शीत प्रकृतिवालोंको उष्ण और उष्ण प्रकृतिवालोंको शीतल जुलाब हितकर होता है। प्रकृति और ऋतुके अधिक विचार किए बिना जुलाब देना पड़े तो एरण्ड तेल ५ तोले तक पाव डेढ़पाव दूध मिलाकर दें। विरेचन देनेके लिए वसन्त और शरद ऋतु उत्तम हैं। आवश्यकता हो, तो अन्य ऋतुमें भी देवें।

विरेचनके अधिकारी—पित्त, आमविकार, आफरा, बद्धकोष्ठ, दाह, जीर्णज्वर, वातरोग, भगंदर, बवासीर, पाण्डु, उदर रोग, ग्रन्थि (गाँठ), विस्फोटक, नाकके रोग, कर्णरोग, वमन, कुष्ठ, वातरक्त, मस्तकरोग, मुखरोग,

गुदारोग, मूत्रेन्द्रिय विकार, हृद्रोग, अरुचि, योनिरोग, प्रमेह, गुल्म, प्लीहा, विद्रधि, व्रण, नाड़ीव्रण, शोथ, कृमि, क्षारसेवनजन्य विकृति, वातविकार, शूल, मूत्राघात, कृत्रिम विषबाधा, अरुचि, अलसक, विसूचिका (तीक्ष्ण अपचन), वृषणवृद्धि, अभिष्यन्द (नेत्रपाक), मोतियाबिन्दु, तिमिर, मृगी, विसर्प, अर्बुद, अभिघातज व्याधि, अग्निदग्ध, ऊर्ध्व रक्तपित्त, रक्तविकार, श्लीपद, उन्माद, कास और श्वास, इन रोगोंमेंसे कोई भी रोग हुआ हो अथवा विषसे पीड़ित हो, तो जुलाब या विरेचन देना हितकर है।

औषध विचार—भगवान् आत्रेयने विरेचन ओषधियोंके नाम संक्षेपमें निम्नानुसार कहे हैं—

> त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं नीलिनीं सप्तलां वचाम्।
> कम्पिल्लकं गवाक्षीं च क्षीरणीमुदकीर्यकाम्॥
> पीलून्यारग्वधं द्राक्षां द्रवन्तीं निचुलानि च।
> पक्वाशयगते दोषे विरेकार्थं प्रयोजयेत्॥
>
> (च०सं० सू० २।७८)

निशोथ, त्रिफला, दन्ती (जमालगोटा), नील, सप्तला (सातला), बच, कपीला, इन्द्रायण, सत्यानाशी, उदकीर्या (करंज), पीलू, अमलतास, मुनक्का, द्रवन्ती (दन्तीभेद), निचुल (हिज्जल), ये सब पक्वाशयगत दोष होनेपर विरेचनार्थ दीजाती हैं।

श्रीवाग्भट्टाचार्यने निम्न ओषधियाँ कही हैं।

> निकुम्भ-कुम्भ त्रिफला-गवाक्षी स्नुक्शंखिनी-नीलिनी-तिल्वकानि।
> शम्याक-कम्पिल्लक-हेमदुग्धा दुग्धं च मूत्रं च विरेचनानि॥
>
> (अ० हृ० सू० १५।२)

दन्ती, निशोथ, त्रिफला, इन्द्रायण, थूहर, शंखिनी (कालमेघ), नील, तिल्वक (लोधकी छाल), शम्याक, कपीला, सुवर्णक्षीरी (सत्यानाशी), दूध और गोमूत्र आदि ओषधियाँ विरेचन कराने वाली हैं।

एरंड तैलकी दुर्गन्ध दूर करनेके उपाय—(१) सोयेका अर्क १० तोलेमें आवश्यक एरंड तैल मिलाकर पिलानेसे दुर्गन्ध, बेचैनी और बेस्वाद दूर होते हैं, तथा वायु शमनमें सहायता मिलती है।

(२) जिंजर वॉटर (सोंठका अर्क मिलाकर बने हुए पेय) में एरंड तैल मिला कर पिला देनेसे सुप्रेस पीया जाता है। रोगीको एरंड तैल पीनेका बोध नहीं होता; और आम नष्ट होकर क्षुधा प्रदीप्त होती है।

यदि दुग्ध या क्वाथ आदिके साथ एरंड तैल लेनेसे मुँह बेस्वादु होजाय, तो १-१ करके २०-२५ भुने चने चबानेसे मुख शुद्धि होजाती है।

पित्तवृद्धि वालेको मुनक्का आदिके क्वाथके साथ निशोथका चूर्ण दें। यदि पित्त अधिक तेज है, तो अमलतासकी फलीका गर्भ या केवल दूध पिलानेपर भी विरेचन हो जाता है। अत: ऐसे रोगियोंको प्रकृति अनुरूप जुलाब दें। कफ वृद्धिवालेको त्रिकटुके चूर्णको शहदमें चटाकर मुनक्का आदिके क्वाथमें गोमूत्र मिलाकर पिलावें; और वातपीड़ितोंको खट्टे फलोंके रसके साथ निशोथ, सैंधानमक और सोंठका चूर्ण दें।

वमन करानेवाली ओषधियोंमें मैनफल और विरेचन ओषधियोंमें निशोथको श्रेष्ठ माना है। निशोथका उपयोग करनेसे पहले ऊपरसे छील लें और भीतरसे डंठल निकाल दें।

पित्त प्रधान प्रकृतिवालेको कसैले और मधुर पदार्थ, कफवृद्धि वालेको चरपरे पदार्थ तथा वातप्रकृति वालेको स्निग्ध, उष्ण और नमकीन पदार्थोंसे विरेचन कराना हितकारक है।

अति रुचि, अति वातवाले, क्रूर कोष्टवाले, व्यायाम करनेवाले और दीप्ताग्नि वालेको विरेचन औषध देनेपर पचन होजाती है। अत: इनको पहले स्नेह बस्ति देकर फिर विरेचन देना चाहिये। रूक्षको स्निग्ध विरेचन और अधिक स्निग्ध है, उसको रूक्ष विरेचन देना चाहिये। जो मनुष्य भोजनमें अधिक स्नेहका उपयोग करते रहते हैं, उन्हें पहले रूक्ष करें; फिर थोड़ा स्नेहन देकर विरेचन देवें।

विरेचनमें ऋतु विचार—वर्षा ऋतुमें निशोथ, इन्द्रजौ, पीपल और सोंठका चूर्ण देकर ऊपर मुनक्काके रस या क्वाथमें शहद मिलाकर पिलावें।

शरद् ऋतुमें निशोथ, धमासा, नागरमोथा, मिश्री, नेत्रबाला और श्वेत-चन्दनका चूर्ण देकर ऊपर शहद मिला मुनक्काका रस पिलावें।

शिशिर या वसन्त ऋतुमें पीपल, सोंठ, सैंधानमक, अनन्तमूल और निशोथके चूर्णका सेवन करावें।

ग्रीष्म ऋतुमें निशोथ और मिश्रीको समभाग मिलाकर देवें।

हरीतक्यादि रेचन—हरड़, बायबिडङ्ग, सैंधानमक, सोंठ, कालीमिर्च और निशोथ मिला, चूर्ण कर, गोमूत्रके साथ देनेसे आँतोंमेंसे मल निकल जाता है।

त्रिवृतादि गुटिका—निशोथ ३ माशे, त्रिफला ३ माशे, जवाखार, पीपल और वायविडंग १-१ माशे मिलाकर घी शहदके साथ दें। अथवा गुड़में इसकी गोली करके खिलावें। इस विरेचनसे कफवातज, गुल्म, तिल्ली, उदर रोग, भगंदर आदि रोग दूर होते हैं। यह गुटिका अति सौम्य होनेसे इससे हानि होनेकी भीति नहीं है।

अभयादि मोदक—हरड़, पीपलामूल, सोंठ, काली मिर्च, पीपल, दाल-

चीनी, तेजपात, नागरमोथा, वायविडंग और आँवला, ये सब १-१ भाग, दन्तीमूल ३ भाग, निशोथ ८ भाग और मिश्री ६ भाग मिलाकर बारीक चूर्ण करें। बादमें गोली बन सके उतना शहद मिलाकर ३ से ४ माशेकी गोलियाँ बनालें। इनमें १ से २ गोली सुबह शीतल जलके साथ दें। जब जुलाब बन्द करना हो तब निवाया जल पिलावें।

उपयोग—यह पाण्डु, विषविकार, कास, विषमज्वर, मंदाग्नि, उदरशूल, पार्श्वशूल, वातशूल, दोनों प्रकारके अर्श, मूत्राघात, गलगण्ड, भगंदर, सूजन, गुल्म, प्रथमावस्थाका क्षय, उदर रोग, भ्रम, दाह, मूत्रकृच्छ्र, प्लीहावृद्धि, नेत्ररोग, वातरोग, आध्मान, अश्मरी, कुष्ट और प्रमेह आदि रोगोंमें मलविकारको दूर कर सत्वर लाभ पहुँचता है।

जैसे आयुर्वेदमें स्नेहन स्वेदन आदि क्रियाका विधान किया है, वैसे यूनानी मतमें मुञ्जिस देनेके पश्चात् जुलाब देनेका रिवाज है। यूनानी विधि निम्नानुसार है। ❀

पित्तप्रकोपमें मुञ्जिस—नीलोफर, कासनीके बीज, कासनीकी जड़, परशियावशां (हंसराज), रेशाखतमी, खुब्बाजी, गुलबनफ्शा, शाहतरा (पित्तपापड़ा) और गुलाबके फूल, इन ६ औषधियोंको ३-३ माशे मिला, जौकुट कर, रात्रिको जलमें भिगो दें। सुबह तुरंजबीन १ तोला थोड़े जलमें अलग भिगो दें। फिर थोड़ा मल-छान कर पिला दें। इस रीतिसे ३ से ५ दिन तक रोज मुञ्जिस दें।

कफ वृद्धिमें मुञ्जिस—सौंफ, सौंफकी जड़, मुनका, मुलहठी, बादरंजबोया, परशियावशां, सिकाकाई, बादियानरूमी, अंजीर, मकोय, तुख्म करफस, उस्तखद्दूस, गुलाबके फूल, इन १३ औषधियोंको ३-३ माशे लेकर जौकुट करें। फिर मुनका ५ नग और अञ्जीर १ नग मिला, रात्रिको जलमें भिगोदें। सुबह क्वाथ कर, आधा जल जला डालें। बादमें उतार, गुलकन्द २ तोले मिला, मसल छानकर पिलावें। ऐसे ९ दिन तक मुञ्जिस दें।

वातप्रकोपमें मुञ्जिस—गावजवां, लेसुआ, उन्नाव, सौंफ, शाहतरा, उस्तखद्दूस, परशियावशां, मुलहठी, बिसफायज, इन ९ औषधियोंको ३-३ माशे ले, जौकुट कर भिगो दें। फिर सुबह उबाल, ३ तोले गुलकन्द मिला, छान कर पिलावें। इस रीतिसे १५ दिन तक रोज मुञ्जिस दें।

इस तरह प्रकृतिके अनुरूप मुञ्जिस देनेके पश्चात् आगे लिखी हुई विधिसे जुलाब देवें।

❀ सुश्रुत संहिताकी हिन्दी टीकाके आधारसे।

सूचना—मुञ्जिस देनेपर रोगीको शीतल वायु, अधिक परिश्रम और भारी भोजनसे बचाना चाहिये, तथा आग्रहपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन कराना चाहिये। यदि रक्तविकार है, तो उसबा, उन्नाव और चोपचीनी आदि रक्तशोधक ओषधियाँ भी मिला देवें।

मृदु जुलाब—सनाय २ तोले, मुनक्का १५ दाने, इलायची १० दाने और सौंफ ६ माशे लेकर रात्रिको भिगो दें। सुबह उबाल, गुलकन्द ३ तोले मिला, मल-छान कर पिला दें। इससे मृदु कोठे वालेको ८-१० जुलाब लग जायँगे। प्रति जुलाबके बाद थोड़ा-थोड़ा सौंफका अर्क या निवाया जल पिलावें। इस रीतिसे ३ दिन तक जुलाब दें, बीचमें ठंडाई पिलाते रहें। जुलाब लग जानेपर मूँगका यूष दें। फिर ३–४ घण्टे बाद क्षुधा लगनेपर खिचड़ी दें। खिचड़ीमें घी न डालें।

जुलाबके बीचमें लेने योग्य ठण्डाई—वातवृद्धिवालेको रेशाखतमी, बीहदाने और तुख्म खयारैन (खीरा ककड़ीके बीज) को जलमें भिगो, लुआब निकाल, थोड़ी मिश्री मिलाकर पिलावें।

पित्तवृद्धिवालेको कासनी, खयारैन, गुले गावजुवाँ, इलायची और मिश्रीकी ठण्डाई बनाकर पिलावें।

रक्तविकार हो, तो उन्नाव, मुलहठी, मुनक्का, गोरखमुण्डी, गुले बनप्शा और मिश्रीकी ठण्डाई बनाकर पिलावें।

कफवृद्धिमें सौंफ, गुलाबके फूल, मुलहठी, और काली मिर्चकी ठण्डाई बना कर पिलावें। यदि कफप्रकोप अधिक हो, तो ठंडाई न दें।

मध्यम जुलाब—सफेद निशोथकी छील, भीतरका डंठल निकाल, १ तोला चूर्ण करें; तथा बादामका तेल ६ माशे और मिश्री १ तोला लें। सबको मिला १ तोले सनायके काथके साथ दें। जुलाब लगनेपर हर दस्तके बाद सौंफ और मकोयका अर्क ५-५ तोले मिलाकर पिलाते रहें। इससे १०–१२ जुलाब लगते हैं। यदि किसीका कोठा कठोर हो, तो २ तोले गुलकन्द और ५ माशे कालादाना मिलादें यदि कोठा अति क्रूर हो, तो साथमें १ माशा उसारेरेवन भी मिलादें।

अमलतासका जुलाब—अमलतासका गूदा २ से ४ तोलेको जलमें भिगो दें और सनाय १॥ तोले, बड़ी हरड़का छिलका ९ माशे, मुनक्का १५ दाने, आलूबुखारे १५ दाने, (या इमली २ तोले), खतमी, खुब्बाजी, बनप्शा, सौंफ, सफेद चन्दनका चूर्ण, गोरखमुण्डी, ये ६ औषधियाँ ६-६ माशे और उन्नाव ७ दाने लें, इमलीको अलग भिगो दें, शेष ओषधियोंको जलमें मिलाकर उबालें। अमलतासको मल कर छान लें, फिर सबको मिला लें। तुरंजबीन २ तोले और शीरखिस्त १ तोले अलग पानी या अर्क गुलाबमें भिगो-छानकर मिला लें।

तत्पश्चात् गुलकन्द २ तोले मिलाकर मसल लें। फिर थोड़ी बादामकी गिरीका चूर्ण डाल कर पिला दें। हर दस्तपर सौंफका अर्क, गुलाबका अर्क और मकोयका अर्क मिलाकर आध-आध पाव पिलाते रहें। इस रीतिसे ३-४ दिन जुलाब दें। बीचमें १-१ दिन ठंडाई देते रहें। इस जुलाबसे अनेक रोग दूर होकर पाचनशक्ति बलवान बनती है।

यह जुलाब उत्तम है। इसमें पहले विधिवत् मुंजिस लेना चाहिये; और खूब पथ्य पालन करना चाहिये।

जमालगोटेका जुलाब—शुद्ध जमालगोटा, इलायचीके बीज और सफेद कत्था ६-६ मासे तथा कालीमिर्च ३ मासे मिला; जलमें खरल कर आध-आध रत्तीकी गोलियाँ बनालें। १ से २ गोली देनेसे ३-४ दस्त साफ आजाते हैं। ज्यादा दस्त लाना हो, तो ज्यादा गोलियाँ देवें। बार-बार सौंफका अर्क पिलावें।

सूचना—इस ओषधिपर गरम जल नहीं पिलाना चाहिये।

वमन-विरेचन एक साथ करानेके लिये—(१) विषप्रकोपमें वमन-विरेचन करानेके लिये करेलेके पत्तोंका रस ४ तोले और एरण्ड तैल ४ तोले मिलाकर देनेसे वमन और विरेचन होकर आमाशय और अन्त्र, दोनोंकी शुद्धि होजाती है।

आहारके लिये घी-भात, घी-मिश्री, दही-भात या गर्म जल पिलाना चाहिए।

(२) जमालगोटेका १ बीज और एरण्डबीजको ताम्र पत्रमें थोड़े मट्ठेके साथ पीस, फिर पी सके उतना मट्ठा मिलाकर पिला देवें। आवश्यकता हो, तो शीतल जल इच्छानुसार पिलानेसे पाव-आध घण्टेमें वमन और विरेचन होकर विष निकल जाता है। २-३ बार जुलाब लग जानेपर दही-भात या घी-भात खिलावें तथा निवाया जल पिलावें।

(३) मैनफलका मगज और अजवायनको समभाग मिला, आकके दूधमें ३ दिन तक खरल कर २-२ रत्तीकी गोलियाँ बना लेवें। आवश्यकतापर १ से २ गोली निवाये जलके साथ देनेसे तुरन्त वमन-विरेचन होने लगते हैं। यदि जल्दी वमन-विरेचन न हों, तो निवाया जल पेट भर पिला देनेसे वमन-विरेचन होकर विष निकल जाता है।

उतार—दही-भात, घी-भात या मिश्री मिला मट्ठा पिलाना चाहिये।

इनके अतिरिक्त रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें इच्छाभेदी रस, अश्व-कंचुकी रस, जलोदरारि रस, आरोग्यवर्द्धिनी वटी, नारायण चूर्ण, नाराच चूर्ण, पंचसम चूर्ण, विरेचन चूर्ण, पंचसकार चूर्ण, मंजिष्ठादि चूर्ण, लघु मंजिष्ठादि क्वाथ, बृहद्मञ्जिष्ठादि क्वाथ, आरग्वधादि क्वाथ, मुंजिस और जुलाबकी औषध, ऐसे अनेक प्रयोग लिखे हैं। इनमेंसे प्रकृतिका विचार कर रोगानुसार किसी एकका उपयोग करें।

वमन कराये बिना विरेचन देनेसे अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। यूनानीमें स्नेहन, स्वेदन और वमनके बदले मुञ्जिस देनेका रिवाज है। यद्यपि मुञ्जिससे स्नेहन, स्वेदन और वमन क्रिया जितना लाभ नहीं होता, तथापि मल पककर फूल जाता है। पश्चात् जुलाब देनेसे कोठा साफ हो जाता है। परन्तु कोई भी जुलाबकी ओषधि स्वेच्छानुसार ले लेना, अथवा डाक्टरी रीतिके अनुसार चाहे जब (शरीर बल, खानपान, आयु, देश, काल, प्रकृति और रोगका विचार किये बिना) जुलाब ले लेना, यह अति हानिकर है।

विरेचनके अनधिकारी—बालक, वृद्ध, अत्यन्त स्निग्ध, क्षतक्षीण, भयभीत, थका हुआ, तृषासे पीड़ित, अति स्थूल, सगर्भा स्त्री, नवीन ज्वरयुक्त, प्रसूता स्त्री, मन्दाग्निवाला, अधो रक्तपित्तका रोगी, अतिसारी, शोथ रोगी, क्षय रोगी, अत्यन्त क्रूर कोठेवाला, शल्यपीड़ित, नूतन प्रतिश्याय (नये जुकाम) वाला, शोकसंतापित, मदात्यय रोगी और रूक्ष शरीर वालेको विरेचन देना हानिकारक है।

अति विरेचनके दोष—अति जुलाब लगनेपर आमाशयमें दाह, अरुचि, वबाक, चक्कर आना, बेहोशी, मूर्च्छा, गुदाका बाहर आ जाना, शूल, आमका अधिक निकलना, मांसके धोवनके समान जल जैसा रक्तमिश्रित दस्त होना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

विरेचन फल—अच्छी रीतिसे योग्य जुलाब लगनेसे अन्तमें कफ गिरने लगता है। शरीरमें लघुता, मनमें प्रसन्नता, शुद्ध डकार आना, और अपान वायु साफ आना, ये लक्षण भासते हैं। विरेचन उत्तम होनेपर जठराग्नि प्रदीप्त होना, धातुएँ स्थिर होना, इन्द्रियोंका बल बढ़ना, बुद्धि तीक्ष्ण होना, तथा पित्तजन्य विकारोंका शमन होना आदि लाभ होते हैं।

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि:—

यथोदकानामुदकेऽपनीते चरस्थिराणां भवति प्रणाशः।
पित्ते हृते त्वेवमुपद्रवाणां पित्तात्मकानां भवति प्रणाशः॥

जैसे जलाशयमेंसे जलको देनेपर उसके आश्रित मत्स्य आदि चर जीव और कमल आदि स्थिर वनस्पतियोंका विनाश होजाता है, वैसे देहमेंसे पित्तका हरण होजानेपर उससे उत्पन्न होनेवाले समस्त उपद्रवोंका भी नाश होजाता है।

अयोग्य विरेचन प्रतिकार—जुलाब अच्छा न लगे, तो पहले आरग्वधादि क्वाथ मिलाकर आमका पाचन करावें। पश्चात् स्नेहपान करा पुनः विरेचन दें। कदाचित् जुलाब पचकर मूर्च्छा, भ्रम, दाह, शोथ आदि उपद्रव हो जायें, तो शीतल, मधुर और पित्तशामक प्रयोग करें।

अधिक जुलाब लगे तो—(१) पद्मकाष्ठ, नेत्रवाला, नागकेसर और

चन्दनका क्वाथ पिलावें। उसी काढ़ेको शरीरपर छिड़कें, और उसीके चूर्णसे मालिश करें।

(२) आमकी गुठली या आमके वृक्षकी छाल काँजीमें पीसकर नाभिपर लेप करें।

(३) चावलोंके धोवनमें थोड़ासा शहद मिलाकर पिलानेसे अन्त्रमें संग्राहक शक्तिकी वृद्धि होकर विरेचन रुक जाता है।

यदि विरेचन औषधि देनेपर भी जुलाब न लगे, तो निवाया जल पिलावें; तथा रोगीको हाथ तपाकर पसवाड़े और उदरपर सेक करनेको कहें। फिर भी जुलाब कम लगे, तो उस दिन भोजन करादें। पुनः दूसरे दिन या ५-१० दिन बाद (स्नेहन, स्वेदन देकर) विरेचन देवें। कदाचित् जुलाबके दिन समय बहुत रहा हो और रोगी बलवान् हो, तो उसी दिन पुनः दूसरी बार विरेचन औषधि देकर कोष्ठशुद्धि कर लेनी चाहिये।

सूचना—विषपीड़ित, क्षतपीड़ित, पिड़िका शोथ, पाण्डु, विसर्प, कुष्ठ और प्रमेह, इन रोगवालोंको अति स्निग्ध न करें। थोड़ा-सा स्निग्ध करके विरेचनकी औषधि देवें।

जुलाबकी औषधि लेनेपर शीतल वायु, शीतल जलसे हाथ पैर धोना, स्नान करना, शीतल जलपान* शयन (निद्रा), अजीर्णकारक भोजन, व्यायाम, मैथुन और तैलमर्दनका त्याग करना चाहिये। दस्तोंके वेगको न रोकें; निर्वात स्थानमें बैठे या लेटे रहें; शौचके समय अधिक जोर लगाकर प्रवाहण न करें; हाथ निवाये जलसे धोवें तथा नेत्रपर शीतल जल लगावें।

यदि जुलाबके दिन बादल होजायें या शीत होजाय, तो पेटपर रुई या गरम वस्त्र बाँध लेना चाहिये; तथा आवश्यकता हो तो निवाये जलसे पेटपर सेक करना चाहिये।

विरेचन होजानेके पश्चात् जिसकी अग्नि प्रदीप्त न हुई हो, ऐसे क्षीण रोगीको या सम्यक् विरेचन न होनेपर, उस दिन पथ्य वा भोजन न देना चाहिये। मात्र सायंकालको अग्नि प्रदीप्त करनेवाली पेया पिलाना चाहिए; किन्तु जिनके पित्त और कफ कम निकले हों, ऐसे शराबी और बढ़े हुए वात-पित्तवालेको पेया नहीं देनी चाहिये। पहले चावलका सत्तू, फिर पुराना शालि चावल, तीसरे समय मांसरस और भात, इस क्रमसे भोजन देना चाहिये।

जुलाबके पीछे सामान्य रीतिसे खिचड़ी खाना लाभदायक है। जुलाबके

---

* शीतल जलपानकी मनाही होने पर भी दन्ती और जमालगोटा मिश्रित विरेचनमें शीतल जलपानकी आज्ञा दी है।

साथमें सौंफका अर्क पिलानेसे आम विकार नष्ट होनेमें बड़ी सहायता मिलती है।

बार-बार जुलाब लेनेकी आदतसे मन्दाग्नि, निर्बलता, आंतोंमें रूक्षता, नेत्रोंकी कमजोरी आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिए जरूरतके बिना जुलाब नहीं लेना चाहिये।

जुलाब लेनेपर ग्लानि दूर करनेके लिये इलायची, लौंग, दालचीनी, सौंफ, सुपारी या पान देवें, यदि एरंड तैल पिलाया हो, तो भुने हुए चने १-१ करके २०-२५ दाने चबावें।

(६) बस्ति विधि।

शास्त्रकारोंने बस्तियां ३ प्रकारकी कही हैं। १-स्नेह (अनुवासन) बस्ति; २-निरूह (आस्थापन) बस्ति; ३-उत्तर बस्ति ।

बस्ति मूत्राशयको कहते हैं। पहले मृग आदि पशुओंकी बस्तिद्वारा पिचकारी दी जाती थी। इसलिए इस विधिका रूढ़ नाम बस्ति विधि प्रचलित हो गया है।

अनुवासन बस्ति—इन बस्तियोंद्वारा घृत, तैल आदि स्नेह प्रतिदिन गुदामें चढ़ाया जाता है; अतः इसे अनुवासन बस्ति कहते हैं । अनुवासनका अर्थ 'अनुवसन्नपि न दूष्यति' इस व्युत्पत्तिके अनुसार इस स्नेहयुक्त बस्तिका घृत तैल आदि स्निग्धांश कोठेमें रह जानेपर भी दोष उत्पन्न नहीं करता; एवं अधिकारी अनुदिन (नित्यप्रति मर्यादित दिनों तक) बस्ति ले सकते हैं, इन दोनों हेतुओंसे इस विधिको अनुवासन बस्ति कहा है।

आस्थापन बस्ति—यह बस्ति निवाया जल, क्काथ, तैल या दूध आदि को मिश्रित करके दी जाती है; शरीरमें रहे हुए दोषको निकालती है और वयः स्थापन कराती है। अतः वयः स्थापनके हेतुसे आस्थापन बस्ति तथा मल और दोषोंको बाहर निकालती है, इसलिए निरूह बस्ति भी कहलाती है ।

निरूहबस्ति संशोधन और लेखन है, और स्नेह बस्ति बृंहण है।

निरूह बस्तिद्वारा मार्गको शुद्ध कर स्नेह बस्ति देनेसे स्नेह अपने मार्गपर ठीक गमन कर सकता है, अतः मलिन देहवालेको दोष दूर करनेके लिये निरूहण बस्ति देकर पश्चात् स्नेह बस्ति देना चाहिये। शुद्ध देह व रूक्ष कोठेको पहले अनुवासन बस्तिसे स्निग्धकर, पश्चात् निरूहण बस्ति देनी चाहिये।

सब स्नेह आदि पंच कर्मोंमें बस्ति कर्मको आचार्योंने प्रधानतम कहा है। इसलिए कि इस एक बस्ति क्रियासे ही अनेक कार्योंकी सिद्धि होजाती है। यह बस्ति कर्म यदि दोष, ओषधि, देश, काल, सात्म्य, अग्नि, सत्त्व, वय और बल

आदि बातोंका विचार कर सम्यक् प्रकारसे दी जाय, तो नाना प्रकारोंके द्रव्योंके संयोगसे दोषोंका संशोधन, संशमन और संग्रहण रूप सिद्धि-प्रदान करती है, यह महर्षि चरकका उपदेश है कि—

समीक्ष्य दोषौषधदेशकालसात्म्याग्निसत्वादिवयोबलानि ।
बस्तिः प्रयुक्तो नियतं गुणाय स्युःसर्वकर्माणि च सिद्धिमन्ति ।।च. सं. ।।

इतना ही नहीं, बस्ति क्षीण वीर्यवालेको वाजीकरण शक्तिप्रदान करती है; कृशको स्थूल बनाती है; नेत्रोंको तृप्त; वलीपलितका नाश, वयकी स्थापना, शरीरकी पुष्टि; तथा वर्ण, बल, आरोग्य और आयुकी वृद्धि करती है ।

बस्ति गुण—बस्ति वयस्थापक, आरोग्यप्रद, आयुर्वर्द्धक, बलप्रद तथा वर्ण, अग्नि और स्वरको बढानेवाली है । बुद्धि (विचार शक्ति और मानसिक प्रसन्नता) प्रदान करती है, एवं अनेक रोगोंको समूल नष्ट करती है ।

बस्ति बालक, वृद्ध, स्त्री और सुकुमार आदि सबके लिये हितकर है । यह वातप्रकोपक रोगोंको विशेषतः नाश करती है । वर्तमानमें अन्त्रशोधनार्थ इसका अत्यधिक उपयोग हो रहा है ।

बस्तिके अधिकारी—जीर्णज्वर, पक्वातिसार, तिमिर, पक्व प्रतिश्याय, शिरोरोग, अधिमन्थ (नेत्रदबाव वृद्धि), अर्दित वायु, आक्षेपक वायु, पक्षाघात, एकांगवात, सर्वांगवात, आध्मान, उदररोग, शर्करा (मूत्रमें रेतीके कण जाना), शूल, वृषणवृद्धि, उपदंश, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, गुल्म, वातरक्त, वातरोग, बद्धकोष्ठ, बद्धकोष्ठजनित रोग, उदावर्त, शुक्र, आर्तव और स्तन्य (दूध) की न्यूनता, विकृति या नाश होना, हृदय, ठोड़ी और मन्याका रुक जाना, अर्श, अश्मरी और मूढ़गर्भ आदि रोगोंमें बस्तिका उपयोग अवश्य करना चाहिये । इस विषयमें भगवान् धन्वन्तरिने कहा है कि—

बस्तिर्वाते च पित्ते च कफे रक्ते च शस्यते ।
संसर्गे सन्निपाते च बस्तिरेव हितः सदा ॥

(सु० सं० चि० ३५ । ६)

बस्ति कर्म वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, द्वन्द्वज एवं त्रिदोषज रोगोंमें सर्वदा हितकारी है ।

अनुवासन बस्तिके अनधिकारी—उदरकृमि, आढ्यवात (ऊरुस्तम्भ), अपची, श्लीपद, गण्डमाला, पाण्डु, कामला, पीनस, प्लीहावृद्धि, अतिसार, क्षतक्षीण, राजयक्ष्मा, अभिष्यन्द, प्रमेह, उदररोग, इन रोगोंसे पीड़ित, स्थूल शरीर वाले, विष पीये हुए, कृत्रिम विष प्रकोपवाले और भोजन न करनेवाले, इनमेंसे किसीको भी स्नेह बस्ति नहीं देनी चाहिये ।

दोनों बस्तियोंके अनधिकारी—अति स्निग्ध, वमनकी इच्छावाले, उरःक्षत

रोगी, अतिकृश, आध्मान, वमन, हृल्लास (उबाक), प्रसेक (मुँहमें पानी आना), अति मन्दाग्नि, हिक्का, अर्श, कास, श्वास, गुदाके रोग, शोथ, अतिसार छिद्रोदर, बद्धोदर, जलोदर, मधुमेह, विसूचिका और महा कुष्ठके रोगी, ७ मासकी सगर्भा स्त्री तथा संशुद्ध, ये सब निरूह और स्नेह बस्तिके अनधिकारी हैं। इन्हें भूलकर भी बस्ति नहीं देनी चाहिये।

भयभीत, उन्माद रोगी, तृषा रोगी, शोप, अजीर्ण, अरुचि, प्रमेह, मूर्च्छा, महा कुष्ठ, उदर, मेद रोगी (स्थूल शरीरवाला), श्वास, कास, क्षय, शोथ, भ्रम, मदात्यय, वमन, इनमेंसे किसी भी रोगसे पीड़ित और जिनसे बस्ति सहन न होती हो, उनमेंसे यदि कोई वात रोगी न हों, (तीक्ष्ण वातप्रकोप वाले न हों), तो आस्थापन या अनुवासन बस्तिमेंसे एक भी नहीं देनी चाहिये।

उदर, प्रमेह, कुष्ठ और मेद रोगीको आवश्यकता होनेपर आस्थापन बस्ति दें। परन्तु अनुवासन बस्ति कदापि नहीं देनी चाहिये।

मूत्र संस्थानमें क्षत, मूत्राघात, पौरुष ग्रन्थि प्रदाह (Prostatitis), पौरुष ग्रन्थि वृद्धि (Prostatauxe), यकृत् प्रदाह (Hepatitis), पित्ताशयाश्मरी, यकृत् पित्तोत्पत्तिका ह्रास, पित्ताशय प्रदाह (Cholecystitis), वृक्कविकारज शोथ और अन्तर्विद्रधि, इनमेंसे कोई रोग होनेपर भी अनुवासन बस्तिकी अति आवश्यकता हो, तो विचार पूर्वक देनी चाहिये।

सूचना—स्नेह (घृत, तैल, वसा और मज्जा) का पचन यकृत्के पित्तसे होता है। यदि यकृत् निर्बल या बीमार होनेसे आवश्यक पित्त स्राव नहीं होता, तो स्नेह बस्ति पोषक या हितकर होनेकी आशा कम रहती है। अतः अनुवासन बस्तिकी योजना करनेके पहले यकृत्के बलका विचार करना चाहिये।

बस्तिका सम्यक् उपयोग होनेसे वह पक्वाशय, कमर और नाभिके नीचेके समस्त भागमें स्थित हो जाती है। इनमें पक्वाशय (अन्त्र) द्वारा सारे शरीरके सूक्ष्म छिद्रोंमें इस रीतिसे पहुँच जाती है, जैसे कि वृक्षके मूलमें सिंचन किया हुआ जल वृक्षके समस्त भागोंमें पहुँच जाता है। फिर वही बस्ति द्रव्य तुरन्त उदर, पृष्ठ और कटिस्थानके संग्रहीत दोष या मलको लेकर वापस लौट आता है। फिर अपान आदि वायुद्वारा मल दोष बाहर निकाल दिया जाता है। भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि, जैसे आकाशमें रहते हुए सूर्य पृथ्वीपरसे रसोंको आकर्षित कर लेता है; ठीक वैसे ही बस्ति पक्वाशयमें स्थित रहकर मस्तकसे लेकर पैरों तकके दोषोंको खींच लेती है। सम्यक् उपयोग की हुई बस्ति कटि, पीठ और कोष्ठ स्थानोंमें संचित दोषोंका विलोडन कर मूलसे उखाड़कर फेंक देती है। तीनों दोषोंका कोप होनेमें प्रधान प्रेरक वात धातु ही है। तब वातके वेगका निरोध करनेके लिए बस्तिसे इतर कोई भी उत्तम साधन नहीं है।

वस्तिका प्रयोग सम्हाल पूर्वक करना चाहिये। प्राचीन विधिका वस्तियन्त्र लेनेपर वस्ति देनेके समय इधर उधर हिलना, वस्तिको अधिक बलसे दबाना, तिरछी दबाना, इन सभी बातोंका सावधानीपूर्वक ध्यान रखना चाहिये। वर्तमानमें प्रचलित डूशमें औषध भर कर प्रयोग किया जाय; तो ये आपत्तियां कुछ अंशमें कम हो जाती हैं। वस्ति अति शीतल, अति उष्ण, अति स्निग्ध और अति रूक्ष नहीं देनी चाहिये। एवं वस्तिकी अधिक मात्रा और अल्प मात्रा भी नहीं होनी चाहिये। क्योंकि, अति शीतल होनेपर स्तम्भन, अति उष्ण होनेपर विदाहकारी और अति रूक्ष होनेपर वातवर्धक होती है। एवं अधिक मात्रामें अतियोग होनेपर लाभके स्थानपर हानि होती है। कारण, अधिक मात्रा देनेपर अधिक शोषण हो जायगा, किन्तु सब पचन नहीं हो सकेगा। मात्रा न्यून होनेपर वस्ति उचित फल नहीं दर्शा सकेगी। अतः बुद्धिपूर्वक विचार करके प्रकृतिके अनुरूप मात्रा रखनी चाहिये। इसके अतिरिक्त वस्तिके नेत्र आदिका प्रणिधान आदि दोषोंसे रहित वस्तिका समयानुरूप ही प्रयोग करना चाहिये।

इस वस्तिके उपयोगार्थ शास्त्रकारोंने बैल, बकरे, भैंस, सूअर आदिकी चर्मबस्तिको रंगाकर उपयोगमें लेनेको लिखा है। तथा नेत्र (नली) विशेषतः मूलमें अंगुष्ठ समान और अग्रभागमें कनिष्ठिकाके समान, बीचमें मूंग, मटर और छोटे बेरके समान छिद्रवाली अर्थात् गोपुच्छसदृश चढ़ाव-उतारवाली बनवानेको लिखा है। यह नेत्र (नली) कारीगरको समझाकर सुवर्ण, चाँदी, ताम्र आदि धातु या वृक्षकी शाखामें से बनवालें। फिर नेत्रको सूत्रसे यथाविधि वस्तिके साथ बाँध दें। अथवा साम्प्रतमें वस्तिके लिये जो विदेशी चमड़े और रबरकी एनीमा तथा अनेमल और काँचके डूश आते हैं, उनका उपयोग करें।

सूचना—भगवान् आत्रेय और धन्वन्तरिजी कहते हैं कि, स्नेह वस्ति या निरूहण वस्ति, किसीका भी अत्यधिक सेवन नहीं करना चाहिये। स्नेह वस्तिका अतियोग होनेपर पित्त-कफकी वृद्धि होकर वेदना और अग्निमांद्य; तथा निरूहणके अतियोगसे वातप्रकोपका भय रहता है।

स्नेह (अनुवासन) वस्ति।

आयुर्वेदप्रणेता आचार्योंने त्रिदोष (वात, पित, कफ) को शरीरका मूल द्रव्य माना है। इन्हीं दोषोंके आधारपर शरीर स्वस्थ और अस्वस्थ कहलाता है। इन तीनों दोषोंमें पित्त और कफ पंगु अर्थात् स्थिर रहते हैं और वायु सर्वत्र विचरने वाला तन्त्र यन्त्रधर है। जैसेकि :—

पित्तं पङ्गुः कफः पंगुः-पंगवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥

यह तन्त्र यन्त्रधर वायु जब तक स्वस्थ और सबल रहता है, तब तक बाहरके कृमि कीटाणु, विष, सूर्यका ताप या शीत आदिका आक्रमण होनेपर अपथ्य, या विकृत भोजन, अत्यन्त भोजन, दूषित भोजन, विष प्रकोप अथवा मानस-चिन्ता आदिसे विकार उत्पन्न होनेपर वह उसके नाशके लिये प्रयत्न करनेमें असमर्थ हो जाता है फिर विविध रोगोंकी संप्राप्ति होजाती है।

यथार्थमें वायुका बल वातनाड़ी संस्थानपर अवलम्बित है, जब वातनाड़ी संस्थान निर्बल बनेगा, तब वायु भी निर्बल होजायगा अतएव वातनाड़ी संस्थानको सबल बनानेके लिये प्राचीन आचार्योंने घृत, तैल प्रधान भोजनका सेवन तथा स्नेह (अनुवासन) बस्ति, मूर्द्ध तैलविधि, बृंहण नस्य, कर्ण तर्पण और तैलाभ्यंग आदि विविध उपचारोंका विधान किया है।

यद्यपि वायु द्रव्य स्वभावतः सर्वदा शुद्ध और सबल ही है। तथापि जिस तरह किला सुदृढ और साधन संपत्तिका संग्रह हो, तो राजा सबल माना जाता है, अन्यथा निर्बल; उसी तरह सांसर्गिक गुण दोषोंसे वायु भी सबल निर्बल वातनाड़ी संस्थानके अनुरूप संज्ञावाला बनता है।

वातनाड़ी संस्थान निर्बल बननेपर आशुकारी रोगका आक्रमण हो जाता है और विशेषतः चिरकारी रोगोंका। जो चिरकारी रोगोंकी संप्राप्ति होती है, वे रोग लम्बे अरसे तक बने रहते हैं, सरलतासे दूर नहीं होते और कभी रोगीको दीन व संशयी भी बना देते हैं।

जब वातनाड़ी संस्थानकी दयनीय स्थिति होजाती है, तब कई वातरोगोंका प्रकृति भेदसे भिन्न भिन्न संस्थानोंमें आक्रमण होजाता है। एलोपैथिक मर्यादा अनुसार वे सब विभिन्न संस्थानोंके रोग माने जाते हैं; किन्तु आयुर्वेदके सिद्धान्त अनुरूप सबका मूल वातविकृति होनेसे उन सब रोगोंका अन्तर्भाव वातरोगमें स्वीकार किया गया है। जैसे कि बार बार बड़ी बड़ी डकार आते रहना, आमाशय प्रसारण, आंतोंका चौड़ापन, आमाशयमें वायु भरी रहना, आंतोंमें वायुका संग्रह होना, आमाशय शूल, उदरशूल, फुफ्फुसशूल, हृदयशूल, पार्श्वशूल, शीर्षशूल, वृक्कशूल, बस्तिशूल, मक्कलशूल, मांसपेशियोंमें शूल और खिंचाव, बांयटे आना, नाड़ीशूल, फुफ्फुसकोष-प्रसारण होनेसे श्वासप्रकोप, वातज कास, उदावर्त (गैसबढना), शुक्रपात, पौरुषग्रन्थि वृद्धि (Enlargement of the Prostate), पौरुष ग्रन्थिमें वेदना (Prostatodynia), बस्तिप्रसारण, वृक्कवृद्धि, गर्भाशयप्रसारण, उन्माद, अपस्मार, अपतानक, विभिन्न पक्षवध आदि ८० वात रोग आदि। इन सब रोगोंकी विकृतावस्थामें बस्ति कर्म चमत्कारिक लाभ पहुँचाता है, ऐसा हमें कई बार अनुभव हुआ है। इस तैल बस्ति विधिको

हम आचार्योंकी श्रेष्ठ देन मानते हैं।

विधि—अनुवासन वस्ति-रूक्ष शरीर, तीक्ष्ण अग्नि और केवल वात प्रकृति वालेको दी जाती है। उनमें भी जिन्होंने शरीरको वमन-विरेचनसे शुद्ध किया होवे केवल, उन्हींको विरेचन लेनेके ७ से १० दिन बाद, शरीरमें अच्छी शक्ति आने पर, भोजन कर लेनेके पश्चात् हाथ गीले हों उतनेमें (तुरन्त) दें। यदि कोई जुलाब न देने योग्य रोगी होवे, तो उनको पहले कोठेका मल दूर करनेके लिये निवाये जल वाली निरूहण वस्ति तीसरे-तीसरे दिनपर ३ बार दें। फिर अनुवासन वस्ति दें।

शीतकाल और वसन्त ऋतुमें दिनमें; तथा ग्रीष्म, वर्षा और शरद् ऋतुमें रात्रिमें वस्ति देना हितकर है। अनुवासन वस्ति लेनेवाले रोगीको भोजन हलका (तुरन्त पचन होजाय ऐसा), थोड़ा कम प्रमाणमें (पौना), एवं थोड़े घृतवाला कराना चाहिये। अधिक घृत युक्त भोजन कराकर वस्ति न दें। (अन्यथा स्नेह द्विगुण होजानेसे मद या मूर्च्छा होजायगी) एवं रूक्ष भोजनके पश्चात् भी वस्ति न दें।

वस्ति कम मात्रामें देनेसे इच्छित लाभ नहीं होना; और अधिक मात्रामें देनेसे उदरमें आफरा, ग्लानि, अपस्मार उत्पन्न होते हैं। इसलिये देश, काल और प्रकृतिका विचार करके वस्ति दें।

वस्ति देनेके समय शौच और लघु शंका कराकर रोगीको बांयी करवट सुलावें। रोगी बांयाँ पैर फैलावे और दाहिना मोड़ले। फिर गुदापर घी-तैल आदि स्नेह लगाकर वस्ति दें। पश्चात् १-२ मिनट तक चित लिटाकर रोगीके पैरोंके तलुओंमें वैद्य अपनी उँगलियोंसे ३-३ बार धीरे-धीरे ठोकें। फिर इच्छानुसार सोने या बैठने दें। वेग उत्पन्न होनेपर स्नेह सहित मल त्याग करें। दो या तीन प्रहर तक तैल भीतर रह जाय, तो अच्छा लाभ पहुँचता है। क्योंकि तुरन्त स्नेहको निकाल देनेसे इच्छित लाभ नहीं होता।

अनुवासनके गुण:—पहले देहमें निरूह वस्तिद्वारा मार्ग-शुद्धि होजानेपर स्नेह (अनुवासन) वस्ति देनी चाहिये। यह स्नेह वस्ति वर्णकारक और बलप्रद है। विशेषत: शास्त्रकारोंके मत अनुसार वात पीड़ित मानवोंके लिये इससे उत्तम लाभदायक अन्य ओषधि नहीं है।

स्नेहके द्वारा वायुकी रूक्षता, लघुता और शीतलताका नाश करके मनको प्रसन्न और शरीरको पुष्ट बनाती है। तथा बल, वर्ण और अग्निका पोषण करती है। जैसा कि आत्रेय भगवान्‌ने कहा है।

मूले निषिक्ते हि यथा द्रुम: स्यान्नीलच्छद: कोमलपल्लवाग्र: ।

काले महान् पुष्पफलप्रदश्च तथा नरः स्यादनुवासनेन ।
अपत्यसन्तानविवृद्धिकारी काले यशस्वी बहुकीर्तिमांश्च ॥

अर्थात् जिस प्रकार मूलमें पानी सींचनेसे पेड़ हरे पत्तोंवाला होजाता है और शाखाओंमें नवीन कोमल पत्ते आने लग जाते हैं। फिर वह कुछ कालमें बड़ा होकर फूल और फलोंसे शोभित हो जाता है, इसी प्रकार अनुवासनसे मनुष्य थोड़े ही कालमें बहुत सन्तानों युक्त, यशस्वी और कीर्तिमान् होजाता है।

बस्तिकी मात्रा:—बस्तिद्वारा शरीरमें घृत-तैल आदि चढानेके लिये ६ से २४ तोले तककी मात्रा प्राचीन ग्रन्थोंमें लिखी है। यह बस्ति क्रियाकी प्राचीन विधि अति हितकर है, तथापि वर्त्तमानमें यह प्रथा बहुधा नष्ट हो गई है। कचित् कोई चिकित्सक मात्र भयङ्कर मलावरोधके समय ५ से २० तोले तक एरण्ड तैल चढ़ाते हैं।

घृत तैल आदि स्नेहके साथ सौंफ और सैंधानमक बारीक पीसकर मिला दें। यह चूर्ण ४ तोले स्नेहमें १ माशा मिलावें। फिर थोड़ा निवायाकर बस्ति दें। बस्ति देनेके समय बस्तिमें रहे हुये सब तैलको न चढ़ा दें। अन्यथा बाहरसे वायु भी भीतर प्रवेश कर जाती है।

जिस मनुष्यको बिना उपद्रव ६ से ९ घण्टे बाद मल सहित स्नेह बाहर निकल आवे, उसे अच्छी रीतिसे अनुवासित हुआ जानें। कदाचित् २४ घण्टे तक स्नेह भीतर रह जाय, फिर बाहर आवे, तो भी कोई दोष नहीं। परन्तु स्नेह वापस न आनेपर अन्य स्नेह बस्ति नहीं देनी चाहिये। कदाचित् स्नेह पाचन हो जाय, तो गुण कम करेगा। किन्तु हानिका लेश मात्र भय नहीं है।

कदाचित् अनुवासन बस्तिका स्नेह भीतर रह जानेसे त्रास होता हो, तो निम्न वर्त्तिको चढ़ाकर स्नेहको बाहर निकाल डालें, या लङ्घन करावें।

आगारधूमादि वर्त्ति—घरका धूँआँ, बड़ी कटेली, पीपल, मैनफल, सैंधानमक और सोंठको मिला, काँजी, गोमूत्र या शराबमें खरलकर वर्त्तियाँ बना लें। यदि अनुवासित तैल वापस न आता हो, तो इस बत्तीका उपयोग करें। इस बत्तीके उपयोगसे यदि गुदामें दाह होजाय, तो स्नेह वापस आनेपर मुलहठीके काथको शीतल कर, शक्कर और शहद मिलाकर बस्ति दें। अथवा गूलर, वट आदि दूधवाले वृक्षोंकी छालके क्वाथकी या शीतल दूधकी बस्ति दें। या उस क्वाथको छिड़कते रहें।

प्रदीप्त अग्निवालेको अनुवासन बस्ति देनेके बाद प्रातःकालका भोजन पचन हो जानेपर सायंकालको हलका भोजन दें।

उपरोक्त विधिसे अधिकसे अधिक अनुवासन बस्ति कफविकार वालेको ३, पित्तप्रकृति वालेको ७ और वातप्रकृति वालेको ९ बार देनी चाहिये।

यदि स्नेहन ठीक न हुआ हो, तो और स्नेहन वस्ति देनी चाहिये। हीन अनुवासनमें वायु, मल, मूत्र और स्नेह स्तब्ध हो जाते हैं; तथा अति अनुवासित होनेपर दाह, ज्वर, प्यास और बेचैनी होजाती है।

अनुवासन वस्ति अधिक लेनेसे पित्त, कफकी वृद्धि होती है। अतः प्रकृतिका विचारकर उपयोग करना चाहिये।

प्राचीन आचार्योंने लिखा है कि पहली वस्तिसे वंक्षण (पेंडू) में स्निग्धता, दूसरीसे मूर्धस्थानका वातशमन, तीसरीसे बल और वर्णकी उत्पत्ति, चौथी और पाँचवींसे रस-रक्तमें, छठीसे माँसमें, सातवींसे मेदमें तथा आठवीं-नवमीसे अस्थि और मज्जामें स्निग्धता उत्पन्न होती है। परन्तु शुक्रदोषके नाशार्थ द्विगुण वस्ति (१८ वस्ति) साधनी चाहिये। इस रीतिसे जो पुरुष १८ दिन १८ वस्तियोंका सेवन करेगा वह हाथीके समान बलवान, घोड़ेके समान वेगवान और देवोंके सदृश कान्तिवान होजाता है।

रूक्ष शरीर, अधिक वातवाले अथवा तीक्ष्ण अग्निवालेको नित्य प्रति वस्ति दें। मन्दाग्नियुक्त रोगीको स्नेह वस्ति देनेके बाद, दूसरे दिन वस्ति न दें; स्नेह विकार नष्ट होनेके लिये धनियाँ और सोंठका क्वाथ षडंगपानीय विधि अनुसार कर पिलावें और तीसरे दिन पुनः वस्ति दें।

यदि कोई रोगी तीव्र वात-विकारसे पीड़ित हो, वमन-विरेचन आदिसे संशोधन न किया हो और अनुवासन वस्ति देना हो तो प्रकृतिका विचार कर किसी भी समय (दिन या रात्रिको) एक-एक दिन छोड़कर अनुवासन करावें। यदि वायुसे पीड़ित रोगी स्निग्ध न हो, तो भी उसे स्नेह-मिश्रित निरूहण वस्ति दे सकते हैं। ठीक निरूहण होनेपर वायुमें बिल्व तैल, पित्तमें मुलहठी तैल और कफमें मैनफलके तैलसे अनुवासन करें।

बहुधा रात्रिको वस्ति नहीं दी जाती, इसलिए कि रात्रिमें दोषोंका उत्क्लेश होता है और उससे आध्मान, भारीपन तथा ज्वर आजानेकी भीति रहती है; फिर भी रोगी अधिक पित्त, क्षीण कफ, रूक्ष शरीरवाला और वातपीड़ित हो, तो रात्रिमें भी वस्ति दी जाती है। उष्णकालमें तो पित्तप्रकृतिवालेको रात्रिके पहले पहरमें ही वस्ति देना हितकर है।

कोई मनुष्य वमन आदि क्रियासे शरीर शुद्ध न करे, केवल वस्तिका ही प्रयोग करे, उसके यदि मलसहित तैल निश्चित समयपर बाहर न आवे, शिथिलता, आफरा, शूल, श्वास और आँतोंमें भारीपन (बद्धकोष्ठ) हो जाय, तो निरूह वस्तिद्वारा दोषको बाहर निकाल लें, या तीक्ष्ण औषधकी फलवर्तिद्वारा मलको त्याग करानेका प्रयत्न करें।

यदि वायु स्नेह और मलसहित ऊर्ध्वगति करने लगे तो विरेचन और तीक्ष्ण

नस्य देवें।

स्नेह बस्ति देनेके पीछे तुरन्त केवल स्नेह ही बाहर निकल आवे (मल न निकले), तो पुनः थोड़े परिमाणमें बस्ति देनी चाहिये।

अति रूक्ष और भयङ्कर वातविकार वालेको २-३ स्नेह बस्ति देकर निरूह बस्तिमें स्नेह मिश्रित करके देना चाहिये।

अनुवासन बस्तिके लिये रास्ना, देवदारु, बेल छाल, मैनफल, सौंफ, श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, गोखरू, अरणी और श्योनाक, ये १० ओषधियाँ विशेष उपयोगी हैं। इसमेंसे अनुकूल ओषधि और व्याधिशामक ओषधियोंको मिला, यथा विधि तैल सिद्ध करके, बस्ति कर्ममें उपयोग करें और बस्तिके तैलमें थोड़ा सैंधानमक भी मिला लें।

वात, पित्त और कफ दोषोंके शमनार्थ शास्त्रमें सहस्रशः सिद्ध प्रयोग लिखे हैं। उनमेंसे यहाँ केवल ९ प्रयोग ही दिए हैं, तथा कुछ प्रयोग रोगोंकी चिकित्साके साथ भी आगे दिए जावेंगे। यदि किसीको बस्तिके अधिक प्रयोगोंका उपयोग करना हो, तो, मूल शास्त्रीय ग्रन्थोंका अवलोकन करें।

गुडूच्यादि तैल—गिलोय, एरण्डकी जड़, पूतिकरञ्ज, भारङ्गी, बासा, रोहिष घास, शतावर, पियावाँसा और काकजंघा ५-५ तोले, जौ, उड़द, अलसी, बेर और कुलथी १०-१० तोले लें। सबको कूट ६४ सेर जलमें क्वाथ करें। चतुर्थांश रहनेपर उतारकर छान लें। फिर इस क्वाथके साथ जीवन्ती, काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, ऋषभक, मेदा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी और मुलहठी, इन ९ ओषधियोंका एक-एक छटाँक कल्क तथा ४ सेर तिल तैल मिला यथाविधि तैल पाक करें।

इस बस्ति तैलके साथ देवदारु, बच, रास्ना, सोया, कूठ और सैंधानमकका चूर्ण, २-२ माशे मिला देना हितकर है। इस तैलकी बस्तिसे सम्पूर्ण वात विकार नष्ट हो जाते हैं। दोष-शमनके लिये धनियाँ और सोंठका क्वाथ पिलावें।

शठ्यादि तैल—कचूर, पुष्करमूल, पीपल, मैनफल, देवदारु, सोया, कूठ, मुलहठी, बच, बेलकी छाल और चित्रकमूल—इन ११ ओषधियोंको सम भाग लेकर दुगुने दूधके साथ पीसकर कल्क करें। फिर कल्क, कल्कसे चार गुना तैल और कल्कसे चतुर्गुण जल मिलाकर यथाविधि पाक करें। इस तैलका बस्तिकर्ममें उपयोग करनेसे मूढ़ वातका अनुलोमन होता है, तथा अर्श, ग्रहणी-दोष, आनाह, विषमज्वर, कटि, उर, पृष्ठ, कोष्ठ, इन सब स्थानोंके वात-रोग नष्ट होजाते हैं।

वचादि तैल—बच, पुष्करमूल, कुष्ठ, इलायची, मैनफल, देवदारु, सैंधा-नमक, काकोली, क्षीर काकोली, मुलहठी, मेदा, महामेदा, अमलतासकी छाल,

पाठा, जीवक, जीवन्ती, भारंगी, सफेद चन्दन, कायफल, सरला (सफेद निशोथ), अगर, वेलछाल, नेत्रबाला, असगन्ध, चित्रकमूल, वृद्धि, वायविडङ्ग, अमलतासकी फलीका गूदा, वृद्ध दारू, काली निशोथ, पीपल, ऋद्धि, इन ३२ ओषधियोंको समभाग मिलाकर कल्क बनावें। फिर कल्क १ सेर, बृहत्पंचमूल १६ सेरका क्वाथ, दूध ८ सेर और तिलका तैल ४ सेर मिलाकर यथाविधि सिद्ध करें।

इस तैलका वस्तिमें उपयोग करनेसे गुल्म, आफरा, अग्निमांद्य, अर्श, ग्रहणी, मूत्रमें प्रतिबन्ध, ये सब रोग दूर होते हैं। यह तैल वात रोगीके लिये उत्तम लाभदायक है।

चित्रकादि तैल—चित्रकमूल, अतीस, पाठा, दन्तीमूल, बेल छाल, वच, गूगल, श्वेत निशोथ, शालपर्णी, रास्ना, काली निशोथ, अमलतासकी फलीका गूदा, चव्य, अजमोद, सोया, रेणुकबीज, असगन्ध, मजीठ, कचूर, पुष्करमूल, गठौना, इन २१ ओषधियोंको समभाग मिलाकर कल्क करें। फिर कल्क १ भाग, दूध १६ भाग, जल ४ भाग और तैल ४ भाग मिला, यथाविधि पाक करें।

यह तैल गृध्रसी, खञ्जवात, कुब्जवात, ऊरुस्तम्भ, मूत्रदोष, उदावर्त, इन सब रोगोंके लिये ठीक है। मन्दाग्निवालोंके लिए भी वस्ति कर्ममें हितावह है।

मधुकादि घृत—मुलहठी, खस, गंभारी, कुटकी, कमलगट्टा, चन्दन, श्यामा (प्रियंगू), पद्माख, नागरमोथा, इन्द्रजौ, अतीस, नेत्रबाला, इन १२ ओषधियोंको समभाग मिलाकर कल्क करें। फिर इस कल्कके साथ ४ गुना घृत और आठ गुना जल मिलाकर यथाविधि सिद्ध करें। पकनेके समय कल्कसे चतुर्थांश तैल और अठगुना दूध मिलावें।

इस घृतमें न्यग्रोधादिगणका क्वाथ मिलाकर वस्तिकर्ममें उपयोग करनेसे पित्तप्रकोपजनित दाह, रक्तप्रदर, विसर्प, वातरक्त, विद्रधि, रक्तपित्त और ज्वर आदि रोग दूर होते हैं।

मृणालादि घृत—कमलकी नाल, कमल, कमलकन्द, श्वेत अनन्तमूल, कृष्ण अनन्तमूल, नागकेशर, सफेद चन्दन, लाल चन्दन, चिरायता, कमलगट्टे, कसेरू, पटोलपत्र, कुटकी, मजीठ, प्रियंगू, पित्तपापड़ा, अड़ूसा, इन १७ ओषधियोंको समभाग मिलाकर कल्क करें। फिर कल्क, कल्कसे ४ गुना तैल, तैलसे द्विगुण दूध, तथा तैलसे ४ गुना तृण पंचमूलका क्वाथ मिलाकर, यथाविधि तैल सिद्ध करें। इस तैलका वस्ति, नस्य, मर्दन और पीनेके लिए उपयोग करनेसे पित्तके अनेक प्रकारके रोग नष्ट होजाते हैं।

त्रिफलादि तैल—हरड़, बहेड़ा, आँवला, अतीस, मूर्वा, निशोथ, चित्रकमूल, अड़ूसा, नीमकी अन्तर छाल, अमलतासकी फलीका गूदा, पीपलामूल, सातला, हल्दी, दारुहल्दी, गिलोय, इन्द्रायणकी जड़, पीपल, कूठ, सरसों,

सोंठ, इन २० ओषधियोंको समभाग मिलाकर कल्क करें। फिर कल्क, कल्कसे ४ गुना तैल, तैलसे ४ गुना सुरसादिगण* का क्वाथ मिलाकर यथाविधि तैल सिद्ध करें।

इस तैलकी योजना पीने, मर्दन करने, गण्डूष (कुल्ले करने), नस्य देने और बस्तिकर्मके लिये करनेसे स्थूलता, आलस्य और खुजली आदि कफ प्रकोपज रोग नष्ट हो जाते हैं।

पाठादि तैल—पाठा, अजमोद, महाकरंज, पीपल, गजपीपल, सोंठ, निशोथ, काला अगर, भारंगी, चव्य, देवदारु, कालीमिर्च, छोटी इलायची, हरड़, कुटकी, कचूर, पीपलामूल, कायफल, इन १८ ओषधियोंको समभाग मिलाकर कल्क करें। फिर कल्क, कल्कसे ४ गुना तिल तैल या एरण्ड तैल तथा वल्ली पंचमूल (विदारीकन्द, अनन्तमूल, हल्दी, गिलोय और मेंढ़ासिंगी) और कंटक पंचमूल (करोंदा, गोखरू, कटसरैया, शतावर और महाशतावर); इन १० ओषधियोंका क्वाथ तैलसे २-२ गुना डाल, यथाविधि तैल सिद्ध करें। इस तैलकी अनुवासन बस्ति देनेसे सब प्रकारके कफ रोग नष्ट होते हैं।

जीवन्त्यादि यमक—जीवन्ती, अतिबला, मेदा, काकोली, क्षीर काकोली, जीरा, पीपल, काकजंघा, कौंचके बीज, कचूर, काकड़ासिंगी, जीवक, सफेद सारिवा, काली सारिवा, पियाबाँसा, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, पीपलामूल, इन २० ओषधियोंको समभाग मिलाकर कल्क करें। फिर कल्क, कल्कसे २ गुना तैल, २ गुना घी और १६ गुना दूध मिलाकर यथाविधि पाक करें। इस यमकका स्नेहबस्ति द्वारा उपयोग करनेसे वीर्य, अग्नि और बलकी वृद्धि होती है। यह यमक बृंहण गुण पहुँचाता है। वात-पित्त विकार, गुल्म और आनाहको नष्ट करता है। इस यमकके पान और नस्यसे गलेके ऊपरके रोग नष्ट हो जाते हैं।

सामान्य औषध—वातशमनके लिये सौंफ, करञ्ज और कांजी आदि पदार्थोंसे सिद्ध किये हुए तैलका उपयोग हितकारक है। इस तरह सैंधानमकको गरम कर तैलमें मिलाकर बस्ति देनेसे वातप्रकोप दूर होता है। वात-शमनार्थ किंचित् उष्ण तैलकी बस्ति देनी चाहिए।

---

* सुरसादिगण—तुलसी, श्याम तुलसी, मरुवा, अजबला, वन तुलसी, रोहिषतृण, सुगन्धिततृण, क्षुद्रतुलसी, काले पत्तेकी छोटी तुलसी, कसोंदी, नकछिकनी, भारंगी, काकजंघा, खरपुष्पा-बर्दरी, वायविडंग, कायफल, श्वेतनिर्गुण्डी, लाल निर्गुण्डी, तालमखाना मूषाकर्णी, मकोय और राजनिम्ब, इनमेंसे जितनी ओषधियां मिल जायें, उनको मिलालें।

श्लेष्मनाशार्थ बिल्वादि बृहद् पंचमूल और इतर कफघ्न ओषधियोंसे सिद्ध किए हुए तैलकी बस्ति देवें। इस तरह मैनफल और काँजीको मिला तैल सिद्ध कर बस्ति देनेसे भी कफ नाश हो जाता है।

सूचना—उष्णतासे पीड़ितोंके लिए शीतल ओषधियोंकी तथा शीत प्रकोपसे पीड़ितोंके लिए उष्ण ओषधियोंकी बस्तिकी योजना करनी चाहिए।

शोधन—साध्य रोगोंपर कदापि बृंहण ओषधि नहीं देनी चाहिए।

तैलाक्तगात्रं कृतमूत्रविट्कं नाति क्षुधार्तं शयने मनुष्यम्।
समेऽथ वेपन्नतशीरसे वा नात्युच्छ्रिते स्वास्तरणोपपन्ने॥
(च० सि० अ० ३। १६,)

बस्ति देनेसे पूर्व रोगीके देहपर तेल चुपड़ देना चाहिये, रोगी मल-मूत्र त्याग बस्तिसे पूर्व करलें, वह बहुत भूखा न होना चाहिये। अब आस्थाप्य मनुष्यको शय्या (तख्त मेज) पर लिटा दें। शय्याका पृष्ठ सम होना चाहिये अथवा शिरका भार कुछ नीचा हो, शय्या बहुत ऊँची न हो, उसपर बिछौना ठीक बिछा हो।

निरूह (आस्थापन) बस्ति।

इस निरूह बस्तिका सेवन विशेषतः अनुवासन बस्तिसे कोठा स्निग्ध होने पर किया जाता है; अतः इस निरूहका विवेचन अनुवासनके पश्चात् किया है। अनुवासनके जो अनधिकारी हों, उनको वमन-विरेचन आदिसे शुद्ध करके निरूह बस्ति दें; तथा अनुवासित (स्निग्ध) पुरुषको प्रायः तीसरे दिन निरूहण बस्ति दी जाती है। इस निरूह बस्तिका प्रयोग स्नेहन और स्वेदन क्रिया जिसने की है उसको, मलमूत्रका त्याग करनेके पश्चात् और भोजनके प्रथम प्रहरमें पहले करना चाहिये।

बस्ति मिश्रिण—आस्थापन बस्तिमें सामान्य रीतिसे वातरोगीके लिये शहद १२ तोले, स्नेह २४ तोले और प्रक्षेप १२ तोले मिलावें।

पित्तरोगीके लिये शहद १६ तोले, स्नेह १६ तोले और शेष प्रक्षेप १६ तोले लेवें।

कफ रोगीके लिये शहद २४ तोले, स्नेह १२ तोले और आवाप (प्रक्षेप) १२ तोले मिलाये जाते हैं।

कल्क ८ तोले, गुड़ ४ तोले, सैंधानमक १ तोला और क्वाथ ४० तोले, ये तीनों प्रकृतिके लिये बहुधा समान मिलाये जाते हैं। फिर भी शक्ति अनुसार देश-कालका विचारकर मात्रा न्यूनाधिक की जाती है। बस्तिमें शहद, स्नेह, कल्क, गुड़, क्वाथ और सैंधानमकसे इतर काँजी, गोमूत्र, मट्ठा, दूध, मांसरस,

नींबूका रस आदि मिलाये जाते हैं, उन्हें प्रक्षेप कहते हैं।

शास्त्रोक्त निरूह बस्ति तैयार करनेके लिये १ तोले सैंधानमकको १६ तोले शहदके साथ मिलावें। बादमें घी अथवा तैल मिलाकर मथन करें। पश्चात् ८ तोले ओषधियोंका कल्क और क्वाथका जल ३२ तोले मिलावें। यदि दूध, गोमूत्र, काँजी, मांसरस आदि ओषधि मिलाना हो, तो उसको भी ३२ तोले तक अच्छी रीतिसे मसल-कूटकर मिलावें।

इस तरह मिश्रण तैयार कर बस्ति लेनेसे शरीर शुद्ध होता है। इतना ही नहीं, जो-जो ओषधियाँ मिलाई जाती हैं, उनका गुण भी शीघ्र ही प्रतीत होने लगता है। इस निरूह बस्तिमें क्वाथादि वस्तु कुछ गर्म लेवें, किन्तु अधिक गर्म न लें। शीतल बस्तिसे आफरा और शूल आदि उपद्रव होते हैं; तथा अधिक उष्ण बस्तिसे दाह, शुक्राशयको हानि और मूर्च्छा आदि उपद्रव होनेका भय है।

मात्रा—निरूहणकी मात्रा पहले वर्षमें ४ तोले, फिर १२ वर्ष तक प्रति वर्ष ४-४ तोले बढ़ाता जाय, अर्थात् पहले वर्षमें ४ तोले, दूसरेमें ८ तोले, ५ वें वर्षमें २० तोले और १२ वर्ष होनेपर ४८ तोले लेवें। पश्चात् १८ वर्षकी आयु तक ८-८ तोले बढ़ाना चाहिये; अर्थात् १३ वें वर्षमें ५६ तोले, १५ वें वर्षमें ७२ तोले और १८ वें वर्षमें ९६ तोले लेवें। फिर यही मान ९६ तोले ७० वर्षकी आयु तक कायम रखें। पुनः अति वृद्धावस्थामें मात्रा थोड़ी कम (८० तोले) करनी चाहिये।

वक्तव्य—बस्ति देनेके पहिले रोगीको तैलकी मालिश करा स्वेदन करालें। फिर भोजनसे पहले मध्याह्न कालमें बस्ति क्रिया करावें।

निरूहबस्तिके अनधिकारी:—अजीर्ण पीड़ित, अति स्निग्ध, जिसने स्नेह पान किया हो, अग्निमांद्य पीड़ित, अति निर्बल, भूख और प्याससे पीड़ित, अत्यन्त कृश, मूर्च्छित, वमन रोग या श्वास, कास, हिक्का, बद्धोदर, जलोदर, आध्मान, अलसक, हैजा, आमातिसार, मधुमेह और कुष्ठ, इन रोगोंसे पीड़ितोंको निरूह बस्ति नहीं देनी चाहिये।

वक्तव्य:—यद्यपि आचार्योंने बद्धोदर रोगीके लिये निरूह बस्तिका प्रयोग करना बताया है। परन्तु वह बद्धोदर रोगीको आध्मान न हो तबके लिए है। यदि आध्मान हो तो निरूह बस्तिका निषेध है।

निरूहबस्तिके अधिकारी—वातरोगी, उदावर्त्त, वातरक्त, विषमज्वर, मूर्च्छा, तृषा, जलोदरसे अन्य उदररोग, अफारा, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, अण्ड-वृद्धि, रक्तप्रदर, अग्निमांद्य, शूल, अम्लपित्त और हृदय रोगसे पीड़ितको विधि पूर्वक निरूह बस्ति देनी चाहिये; तथा आवश्यकतानुसार उदररोगी, प्रमेह-पीड़ित,

कुष्ठ रोगी तथा स्थूल शरीरवालेको भी निरूह बस्ति दी जाती है।

क्षय रोगी, उरःक्षत पीड़ित, अशक्त, मूर्च्छित, इनमेंसे जो वमन-विरेचन आदिसे अति कृश हुए हों और जिनको शोधन बस्ति देनेसे दोष दूर होनेपर मृत्यु हो जानेकी भीति हो, उनको शोधन बस्ति नहीं देनी चाहिये।

निरूह बस्ति लेनेके बाद आध पौन घण्टे तक उकड़ू बैठे रहनेसे आम सहित मल और क्वाथ आदि द्रव्य सब बाहर आजाते हैं। क्वाथ या जलका कुछ अंश शोषण होजाता है, वह मूत्रमार्गसे निकल जाता है।

शास्त्रकारोंने इस निरूह बस्तिके भिन्न-भिन्न गुणोंकी प्राप्तिके लिये निम्नानुसार अनेक विभाग किये हैं। जैसे कि:—

उत्क्लेशन बस्ति—एरण्डके बीज, मुलहठी, पीपल, सैंधानमक, वच और हाऊबेरका कल्क मिलाकर तैयार की हुई बस्तिसे दोष पृथक् होजाते हैं। इस हेतुसे इस बस्तिको उत्क्लेशन बस्ति कहते हैं।

दोषघ्न बस्ति—सोया, मुलहठी, बेलकी छाल और इन्द्रजवके कल्कको कांजी और गोमूत्रमें मिलाकर बस्ति देनेको दोपहर बस्ति कहते हैं। इस बस्तिसे दोषोंके वृद्धि-क्षय दूर होकर वायु अनुलोमन होती है।

माधुतैलिक बस्ति—शहद, तैल और एरण्डमूलका क्वाथ, तीनों समभाग, सौंफ २ तोले, सैंधानमक १ तोला, मैनफल (१नग) का गर्भ मिलावें। फिर रईसे मथ, निवायाकर बस्ति देवें। यह बस्ति दोष बाहर निकालने और बल-वर्णकी प्राप्तिके लिये राजा, स्त्री, सुकुमार, बालक और वृद्ध, सबको दी जाती है। इसके सेवन-कालमें सवारी, स्त्री-सेवन या खानपानमें अधिक बन्धन नहीं है। यह भी दोषघ्न बस्ति है।

शोधन बस्ति—दन्तीमूल, त्रिफला, थूहरका दूध आदि विरेचन कराने वाली ओषधियोंको घृत-सेंधवादिके साथ मिला, मंथन कर जो बस्ति तैयार की जाय, या निशोथादि ओषधियोंके क्वाथसे बनाई जाय, उसे शुद्धिकर और शोधन बस्ति कहते हैं। इस बस्तिके सेवनसे भीतर रहे हुए मल निकल जाते हैं और मूत्र आदि शुद्ध हो जाते हैं।

संशमन बस्ति—प्रियंगु, मुलहठी, नागरमोथा और रसोंतके कल्कको दूधमें मिलाकर बस्ति देनेसे दोषोंका शमन होता है; अतः इस बस्तिको संशमन बस्ति कहते हैं।

उपर्युक्त उत्क्लेशन, दोपहर और संशमन बस्तिका उपयोग क्रमशः करना चाहिये; अर्थात् पहले उत्क्लेशन बस्ति लेकर दोषको उत्क्लेशित करें (इसकी क्रिया सुश्रुतके समान है), फिर दोपहर बस्तिद्वारा उत्क्लिष्ट दोषको निकाल

दें; तत्पश्चात् शेष लीन दोषके शमनार्थ संशमन वस्तिका प्रयोग करना चाहिये।

लेखन वस्ति—त्रिफलाका क्वाथ, गोमूत्र, शहद और जवाखार आदि मिश्रित बस्तिको लेखन बस्ति कहा है। इन ओषधियोंकी वस्तिसे भीतर रहे हुये मेद, कफ और आम आदि सूक्ष्म दोष सूख जाते हैं; और स्थूल दोष बाहर निकल जाते हैं।

यापन वस्ति—शहद, घृत ८-८ तोले तथा हाऊबेर और सैंधानमक १-१ तोला लें। सबको यथाविधि मिलाकर वस्ति तैयार करनेको यापन वस्ति कहते हैं। यह बस्ति पाचक और शोधक है।

बृंहण वस्ति—मांसरस, घृत, काकोली आदि बृंहणीय ओषधियोंकी वस्तिको बृंहण कहा है। इस वस्तिके सेवनसे अङ्ग पुष्ट होता है।

एरण्डमूलका क्वाथ, शहद और सिद्ध तैलादि मिश्रित वस्ति, वृष्य, दीपन और बृंहण है। तथा उदर, उदावर्त्त, मेद, गुल्म, कृमि, प्लीहा आदि रोगोंको दूर करती है।

बलादि वस्ति—बलामूल, गिलोय, हरड़, बहेड़ा, आँवला, रास्ना, लघुपञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू) और बृहत् पञ्चमूल (बिल्व, श्योनाक, गम्भारी, पाटला और अग्निमंथ) प्रत्येक ओषधि ४-४ तोले, मैनफल ३२ तोले, बकरेका मांस २०० तोले, इन्हें एकत्रकर, चारगुने पानीमें डालकर पकावें चतुर्थांश अवशेष रह जाय, तब उतारकर छान लें। पुनः अजवायन, मैनफल, बिल्व, कूठ, वच, सोया, पीपल, इन सबका मिला हुआ कल्क ७ तोले, गुड़ ४ तोले, घी और तैल ८-८ तोले, शहद और सैंधानमक प्रकृतिके अनुसार युक्तिपूर्वक डाल मथकर बस्ति क्रियामें उपयोग करें। यह बस्ति एकांग वात, सर्वांग वात, पक्षाघात, आध्मान, और उदररोगमें लाभदायक है।

दीपन वस्ति—दीपनीय ओषधियोंकी बस्तिको दीपन वस्ति कहा है।

अर्ध मात्रिक वस्ति—दशमूल क्वाथमें सौंफ और सैंधानमक १-१ तोला, शहद ८ तोले, तैल ८ तोले और मैनफल ४ तोले मिलाकर वस्ति देनेसे क्षय और कृमि रोगको नष्ट करती है, शुक्रकी वृद्धि करती है, तथा वातरक्तको दूर करती है। यह बस्ति बल-वर्णकारक, वृष्य तथा शक्ति देने वाली है।

एरण्ड वस्ति—एरण्ड मूल, कचूर, लघुपञ्च मूल (शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी कटेली, बड़ी कटेली और गोखरू) रास्ना, असगन्ध, अति बला, गिलोय, पुनर्नवा, अमलतासका गूदा, देवदारू, ये १४ ओषधियां ४-४ तोले और मैनफल ३२ तोलेको जल २५६ तोलेमें मिलाकर अष्टमांश क्वाथ करें। फिर सोया, हाऊबेर, प्रियंगु, पीपल, मुलहठी, बच, रसौंत, इन्द्रजौ, नागरमोथा और सैंधा-

नमक १-१ तोला मिलावें। शहद, तैल और गोमूत्र आवश्यकता अनुरूप मिलाकर बस्ति देवें। यह बस्ति दीपन और लेखन है तथा जंघा, ऊरु, पैर, कटिस्थान और पीठ आदि स्थानोंके शूल और कफावृत वात, मलावरोध, मूत्रावरोध, शूल सह अफारा, अश्मरी, मूत्रमें रेत जाना, आनाह, अर्श और ग्रहणी आदि रोगोंको दूर करती है।

द्राक्षादि बस्ति—मुनक्का, ऋद्धि, गंभारी फल, महुआ, खस, अनन्तमूल, लाल चन्दन, काकोली, मुण्डी, मुद्गपर्णी, वंशलोचन, कौंच, मुलहठी, इन सबको १-१ तोला लेकर कल्क करें। फिर १ तोले मेदाकी पेया× तथा शहद, घी, मुलहठीसे सिद्ध किया हुआ तैल, विदारीकन्दका रस, ईखका रस और गुड़ उचित मात्रामें मिलाकर बस्ति देवें। यह बस्ति पित्तहर है। हृदय, नाभि, पार्श्वभाग और उदरकी पीड़ा, दाह, अन्तर्दाह, बहिर्दाह, मूत्रकृच्छ्र, क्षीणता, क्षतरोग, वीर्यनाश और पित्तातिसारमें यह प्रशस्त है।

पुनर्नवा बस्ति—श्वेत पुनर्नवा, रक्त पुनर्नवा, एरण्ड मूल, अडूसा, पाषाण भेद, बलामूल, कचूर, ढाककी छाल, दशमूल, इन १८ द्रव्योंको ४-४ तोले लें। तथा मैनफल ३२ तोले, बेलगिरी, जौ, बेर फलकी छाल, कुलथी, धनियां प्रत्येक ८-८ तोले लें। फिर सबको मिला दूध २ सेर और जल २ सेरमें डालकर पकावें। जब दूध अवशेष रह जाय, तब उसे उतार कर स्वच्छ, श्वेत वस्त्रसे छान लें, फिर बच, सोया, देवदारू, कुष्ठ, मुलहठी, श्वेत सरसों, पीपल, अजवायन और मैनफल इनका कल्क तथा गुड़, सैंधानमक इन्हें उचित प्रमाणमें तथा शहद, तिल तैल और घी प्रत्येक ८-८ तोले मिला यथाविधि २ से ४ बार निरूह बस्ति प्रयुक्त करें। वात रोगोंमें किञ्चित् निवायी दी जाती है। पित्तप्रकोपमें दुग्ध प्रधान और शीतल बनाकर देनी चाहिये। इस तरह किसीभी रोगमें वात, पित्त, कफ, इनमेंसे जिसकी प्रधानता हो, उसपर उक्त विधिसे प्रयुक्त करनेपर केवल इस बस्ति क्रियासे ही अनेक रोगोंमें सफलता मिल जाती है।

मुस्तादिक बस्ति—नागरमोथा, पाठा, गिलोय, कुटकी, खरेंटी, रास्ना, पुनर्नवा, मजीठ, अमलतासकी फलीका गूदा, खस, त्रायमाण, गोखरू, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी कटेली, बड़ी कटेली और गोखरू, इन १७ ओषधियोंको ४-४ तोले और मैनफल ८ नग लें। इन सबको २५६ तोले जलमें क्वाथ कर चतुर्थांश शेष रहनेपर उतारकर छान लें। फिर जंगली जीवोंका मांसरस, शहद और घी १६-१६ तोले तथा सौंफ, प्रियंगु, मुलहठी, इन्द्रजौ, रसौंत, सैंधानमक १-१ तोलेका कल्क, यथाविधि मिलाकर बस्ति देवें।

इस बस्तिके सेवनसे वातरक्त, मोह, शोथ, अर्श, गुल्म, मूत्रदोष, मलावरोध,

---

×पेया बनानेकी विधि-आधुनिक बस्तिमें आगे दर्शाई जायगी।

विसर्प, ज्वर, अतिसार और रक्तपित्त रोग नष्ट होते हैं। यह वस्ति बलकारक, जीवनीय, वृष्य, नेत्रोंको हितकारक और शूलनाशक है। यह योग सब आस्थापन योगोंमें राजाके तुल्य श्रेष्ठ है।

यष्ट्यादि बस्ति—मुलहठी ५ तोले लेकर ८ गुना दूध और ३२ गुना जल मिलाकर दुग्धावशेष क्वाथ कर छान लें; तथा सोया, मैनफलकी गिरी और पीपलको समभाग मिला १६ तोले कल्क करें। फिर उपर्युक्त क्वाथमें कल्क, घी और शहद १६-१६ तोले तथा सैंधानमक १ तोला मिला, यथाविधि मथन करलें। पश्चात् शीतल होनेपर बस्ति देनेसे वातरक्त, स्वरभंग और विसर्प रोग नष्ट होते हैं।

द्वितीय विधि—मुलहठी, लोध, खस, रक्त चन्दन, कमल और नीलोफर १-१ तोला लेकर ४० तोले दूध और १६० तोले जलके साथ मिला, दुग्धावशेष क्वाथकर छान लें। पश्चात् जीवनीय गण (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, जीवन्ती, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी और मुलहठी) का कल्क ८ तोले करें। फिर क्वाथ, कल्क, सैंधानमक १ तोला, घी और शहद १६-१६ तोले मिला, यथाविधि मथन कर शीतल होनेपर बस्ति देनेसे पित्त-प्रकोपज रोग दूर होते हैं।

क्षार बस्ति—सैंधानमक १ तोला, सौंफ १ तोला, गोमूत्र ३२ तोले और गुड़ ८ तोले लें। सबको खूब मसल छान, गरमकर बस्ति क्रियामें उपयोग करें। इसके सेवनसे शूल, मलावरोध, आफरा, दारुण मूत्रकृच्छ्र, कृमि, उदावर्त्त और गुल्म आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। यह बस्ति सुवह रात्रिको भोजन पचन होजानेपर या आवश्यकता होनेपर शामको किया हुआ भोजन पच जानेपर रात्रिको भी दे सकते हैं।

वैतरण बस्ति—इमली १ तोला, गुड़ २ तोले, सैंधानमक १ तोला, गोमूत्र ३२ तोले और तैल १ से ४ तोले तक आवश्यकतानुसार मिलाकर बस्ति कर्ममें उपयोग करें। इसके सेवनसे शूल, आनाह और आमवात नष्ट होते हैं। यह बस्ति भोजनके पश्चात् सायंकालको भी दे सकते हैं। यदि रोगी निर्बल हो, तो भोजनसे पहले देवें।

इस रीतिसे भिन्न-भिन्न ओषधियोंके क्वाथसे निरूह बस्तिके अनेक भेद प्राचीन आचार्योंने दिखाये हैं। जिस रोगमें जो ओषधि हितावह हो, उसके क्वाथका निरूह बस्तिमें उपयोग करना चाहिये।

बस्ति मर्यादा—निरूह बस्ति (दोष बाहर निकालनेके लिये) प्रायः वात-वृद्धि वालेको स्नेहयुक्त, उष्ण, माँसरस सहित १; पित्तवृद्धि वालेको मधुर शीतल ओषधि और दूध सहित २; और कफप्रकोप वालेको गोमूत्रमें चरपरे

और रूक्ष पदार्थ मिला, गरम कर ३ वस्ति देना चाहिये।

इससे अधिककी आवश्यकता रहे तो एक वार अधिक शोधन करें। यह लक्ष्यमें रखें, कि वस्तिमें हीनक्रम भले ही हो; किन्तु अतिक्रम न होना चाहिये, ऐसा भगवान् धन्वन्तरि जी 'अपि हीनक्रमं कुर्यान्न तु कुर्यादतिक्रमम्।' इस वचनसे कहते हैं।

इस मतका समर्थन करनेके पश्चात् नाना प्रकारकी जीर्ण व्याधियोंमें उतनेसे कार्यसिद्धि न हुई तो क्या करना? इस प्रश्नके उत्तरमें श्री० वाग्भट्टाचार्यने अन्य आचार्योंके मतसे उत्क्लेशन, शुद्धिकर और शमन, ये त्रिविध वस्ति कही हैं। फिर स्वमतसे चरक संहितामें कहे अनुसार कर्म, काल और योगरूप त्रिविध वस्तिका वर्णन करते हैं। इनमें यथाक्रम ३०, १५ और ८ वस्तियां कही हैं।

कर्मवस्तिमें पहले १ स्नेह वस्ति, फिर १२ निरूह और १२ अनुवासन (निरूहके बाद देने योग्य स्नेह वस्ति); तथा अन्तमें ५ स्नेह वस्तियां मिलाकर ३० वस्तियां देना चाहिये।

काल वस्ति विधानके लिये १ स्नेह वस्ति, फिर ५ निरूहण और ६ स्नेहन; तथा अन्तमें ३ स्नेह वस्ति मिलाकर १५ वस्तियां देना चाहिये।

योग विधानमें पहले १ स्नेह वस्ति, ३ निरूहण, ३ स्नेहन तथा अन्तमें १ स्नेह वस्ति मिलाकर ८ वस्तियां देना चाहिये। यद्यपि इन कर्म आदि योगोंका अधिक व्यवहार शास्त्रोंमें नहीं है; तथापि वस्तिकी योजना करनी हो, तो कर सकते हैं।

सूचना—निरूह वस्तिके प्रयोगसे आंतोंमेंसे मल निकल कर स्थान खाली हो जाता है, जिससे उसमें वायु प्रविष्ट होनेका प्रयत्न करता है। इसलिए निरूह वस्ति करानेके पश्चात् निवाये जलसे स्नान करा, भोजन करा देवें; और सायं कालको स्नेह वस्ति देवें या नारायण तैल या अन्य (वातहर तैल) की हलके हाथसे पेटपर मालिश करावें।

पित्त रोगीको दूध-भातका भोजन; श्लेष्मप्रधान रोगीको यूष व भातका भोजन; और वातप्रकृति वालेको मांसरस और भातका भोजन करा, सायंकालको बृंहण कार्यार्थ स्नेह वस्ति देवें।

निरूह वस्तिका क्वाथ, अथवा जल मलसहित निकले; मल, पित्त, आम (कफ) और वायु, क्रमसे निकले; तथा शरीरमें हलकापन प्रतीत होवे, तो निरूह वस्ति उत्तम प्रकारसे हुई जानें। यदि पानी, मल और वायु थोड़े थोड़े प्रमाणमें निकले; मूर्च्छा, पीड़ा, जड़ता और अरुचि उत्पन्न होवे, तो निरूह वस्ति दोष वाली जानें।

यदि निरूह बस्तिके क्वाथ आदि द्रव्य पौन घण्टेसे अधिक समय भीतर रह जायँ, तो मल-मूत्रावरोध, शूल, अस्वस्थता, ज्वर, श्वास, उदरवात आदि विकार होने लगते हैं। इसलिये अति निर्बलको निरूह बस्ति न दें। कदाच बस्ति द्रव बाहर न निकले, तो फलवर्त्ति को गुदामें प्रवेश करा कर दोषको दूर करें; अथवा स्वेदन करावें या ३ माशे सोंठकी चाय (क्वाथ) कर घी और सैंधानमक मिलाकर पिलावें।

यद्यपि भोजन करनेके बाद निरूह बस्ति देनेसे खाया हुआ अन्न बाहर निकलता है और वात आदि दोष प्रकुपित भी होते हैं, तथापि तीव्र उदरशूल, विषप्रकोप अथवा अफारा आनेपर फलवर्त्ति देकर बादमें निरूह बस्ति देना चाहिये।

अजीर्ण होनेपर बस्ति नहीं देनी चाहिये। बस्ति प्रयोग करनेपर दिनमें नहीं सोना चाहिये; शेष आहार आचार आदि कर्म यथा नियम करते रहें।

दाह प्रतिकार—बस्तिमें द्रव्योंकी तीक्ष्णता अधिक होनेसे दाह होजाय, तो गोदुग्धमें घी मिलाकर बस्ति दें, या बीज निकाली मुनक्का अथवा गुलकन्द २ तोले खिला, ऊपरसे गोदुग्ध पिलाना चाहिये।

रक्तस्राव प्रतिकार—रक्तस्राव होने लगे, तो बड़, पिलखन, पीपल (अश्वत्थ) और गूलरकी कोंपल या तृण पञ्चमूल (कुश, कास, शर, दर्भ और ईख) के साथ बकरीके दूधको सिद्धकर बस्ति देवें, गुदापर शीतल पदार्थका लेप करें। अधिक आवश्यकता हो, तो रक्तातिसारनाशक औषधका सेवन करावें।

आध्मान प्रतिकार—आंतोंमें वायु भर जाय, तो उदरपर तैलकी मालिश करें या दारुषट्क लेप करें; तथा हिंग्वष्टक या शिवाक्षारपाचन चूर्ण घृतके साथ देवें।

अपथ्य—अधिक भोजन, भारी भोजन, विरुद्ध भोजन, अधिक शीतल पदार्थका सेवन, दिनमें शयन, रात्रिका जागरण, मैथुन, मलमूत्र आदि वेगका धारण, शीतल वायु या सूर्यके तापका सेवन, प्रवास, व्याख्यान देना, क्रोध, शोक और चिन्ता आदिका त्याग करना चाहिये।

स्नेह पान, वमन, विरेचन, शिरावेध और निरूह बस्ति, इन क्रियाओंके करनेपर जठराग्नि मन्द हो जाती है। अतः लघु अन्नका सेवन कर शनैः-शनैः अग्निको प्रदीप्त कर लेना चाहिये। इन बस्ति आदि क्रियाओं और आहार-बिहारके यथोचित करनेसे सब रोग दूर होते हैं; तथा मनुष्य कान्तिवान् और बलवान् होकर पूर्ण आयु भोगता है।

—ःआधुनिक बस्तिः—

आयुर्वेदके समान एलोपैथीमें भी बस्ति देनेका रिवाज है। इस शास्त्रके

---

* फलवर्त्तिका पाठ रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रह प्रथम खण्डमें देखें।

अनुसार मुख्य ५ उद्देश्य हैं। १ मलाशय (बड़ी आंत और गुदनलिका) में भरे हुए मलको बाहर निकाल कर शुद्ध करना; २-अफारेको दूर करना; ३ स्थानिक (Local) उपचार निमित्त; ४ शरीरमें द्रव पदार्थ कम होनेपर पहुँचानेके लिए और ५ रोगविनिर्णयार्थ वस्ति दी जाती है।

वस्ति विधि—वस्ति लेनेके लिये १ से ५ सेर निवाया जल (सावुन आसरे ४-६ माशे मिला हुआ) इरिगेटरमें भरकर १८ इञ्च अथवा ड्यूशमें भरकर लगभग ३-४ फीट ऊँचाईपर दीवारमें लटका देवें। पश्चात् नलीके मुखपर घी अथवा तैलका हाथ लगा, थोड़ा जल बाहर निकाल, नलीको गुदामें प्रवेश करावें। वस्ति लेने वालेको बांयी करवट मुड़कर या चित सोकर लेनी चाहिये। नितम्ब भागको तकियेपर ऊँचा रखें; तथा घुटनोंसे दोनों पैरोंको मोड़कर वस्ति लेवें। जल आंतोंमें प्रवेश करते समय शुष्क मलके हेतुसे किसी-किसी समय रुकता है। ऐसे समयपर १ सेकिण्ड नलीका मुख (नल) बन्द कर दें; फिर तुरन्त जलप्रवाह चालू करें। जिनको अभ्यास न हो, उनको १ सेरसे अधिक जल नहीं देना चाहिये (वस्ति लेनेके समय ड्यूशमें शेष थोड़ा जल रह जाना चाहिये; अन्यथा गुदामें वायु भी प्रवेश कर जाती है।) वस्ति लेनेके पीछे थोड़े समय तक (५ से १० मिनट तक) जलको आँतोंमें रोककर निकाल देनेसे जलके साथ बड़ी आंतमें रहा हुआ पुराना मल निकल जाता है; और आंत साफ होजाती है।

वस्तिके जलमें एरंड तैल या जैतून तैल ५ तोले मिला लिया जाय, तो पुराने मलको निकालनेमें विशेष सहायता मिल जाती है। ड्यूशका उपयोग एक-एक दिन छोड़कर करें। ८-१० समय वस्ति लेनेसे आँत शुद्ध होजाती है।

सूचना—(१) किन्तु इस बातका स्मरण रखें, कि गर्म जल और सावुनसे बड़ी आंतकी श्लेष्मल त्वचा क्षुब्ध होती है, इस हेतुसे सावुन अधिक न डालें, एवं जल भी ९८ से १००° फा० से अधिक गर्म न लेवें। सावुन स्नान करनेमें उपयोगी हो, वैसा लेना चाहिये।

(२) गुदसंकोचनी पेशी (Sphicterani) १॥ इञ्च लम्बी है, अतः गुदाके भीतर नलीका प्रवेश २ इञ्च तक कराना चाहिये।

(३) दो वर्षके ऊपरके बच्चेको सावुन जलकी वस्ति देनी हो, तो ४ से ६ औंस जल चढ़ाना चाहिये।

इसके अलावा रवरकी एनिमा (हिगिन्सनकी सिरिञ्ज) आती है। उसके द्वारा जल, दूध, ओषधि, ग्लिसरीन या तैल गुदासे बड़ी आँतमें चढ़ाया जाता है। इस यन्त्रमें रबरकी गेंदको दबानेसे नलीद्वारा प्रवाही ओषधि मलाशयमें चली जाती है। अस्वस्थ हालतमें यह अधिक उपकारक है। प्रारम्भमें एक

बार गेंदको दबा भीतर भरी हुई वायुको बाहर निकाल डालनी चाहिये।

यदि वातप्रकृतिवालोंका शरीर शुष्क हो और वातनाड़ियोंमें विकृति हो, तो सिद्ध घी अथवा तैलकी पिचकारी एनिमासे दी जाती है।

पित्तप्रकृति वालोंको आंतमें उष्णता और दाह हो, शरीर निर्बल हो तथा खाया हुआ अन्न न पचता हो, तो दूधकी बस्ति देवें।

कफप्रकृतिवालोंको कसैले और चरपरे पदार्थ मिले जलकी बस्ति देना हितकर है।

किसी रोगीको भोजनमें काँच अथवा तीक्ष्ण विष आजानेसे आंतमें दाह होकर रक्त निकलता हो, तो ऐसी स्थितिमें घी की पिचकारी देनी चाहिये।

बालकों और सन्निपात आदि व्याधिपीड़ितोंके लिये एरण्ड तैलकी पिचकारी अथवा गुदामें चढ़ाने लायक वर्त्तिका प्रयोग करना चाहिये। विलायती ओषधि बेचनेवालोंके पास ग्लसरीनकी सपोजिटरी मिलती है, वह लगानेसे सत्वर मलको दूर करती है।

सूचना—(१) निरूह बस्ति लेने या नव्य चिकित्साशास्त्र कथित ड्यूशका उपयोग उदरशोधनार्थ करनेपर (मल शुद्धि होनेपर) तुरन्त निवाये जलसे स्नान कराकर थोड़ा भोजन करा देना चाहिये। अन्यथा आंतोंके भीतर वायुका प्रवेश होजाता है। एवं बस्तिका शेष दूषित जल, जो आंतोंमें हो, वह रक्तके भीतर शोषित होजाता है।

(२) बस्ति सेवन कालमें मैथुन, दिनमें निद्रा, अश्व आदि वाहनोंपर प्रवास, मार्गगमन, शीतल वायुका सेवन, सूर्यके तेज ताप या अग्निका सेवन और विरुद्ध भोजन आदिका त्याग करना चाहिये। हल्का पथ्य भोजन लेना चाहिये।

(३) नूतन आशुकारी रोगीके लिये बस्तिका उपयोग हो सके तब तक दिनमें करना चाहिये। रात्रिमें उपयोग करनेपर आमवृद्धि और कफप्रकोप होनेकी भीति रहती है।

एलोपेथीमें बस्तिप्रकार

एलोपेथीवाले आयुर्वेदिक बस्तिके सदृश रोगशमन और बल वृद्धिके लिये बहुधा नहीं देते। फिर भी उस शास्त्रने भी इस सम्बन्धमें कतिपय नियम बना लिये हैं, और निम्न १२ प्रकारकी बस्तियोंका निर्माण किया है।

१. उत्सर्जक बस्ति; २. विरेचन बस्ति; ३. वातहर बस्ति; ४. कृमिघ्न बस्ति; ५. पोषक बस्ति; ६. उत्तेजक बस्ति; ७. सतत पोषक जल बस्ति; ८. औषध

वस्ति; ६. ग्राही वस्ति; १० शामक वस्ति; ११ संमोहनी वस्ति; १२. रोग निर्णयार्थ वस्ति।

उक्त वस्तिप्रकारोंके भीतर उत्सर्जकके ४ प्रकार (नं. १ से ४), विरेचनके ४ प्रकार (५ से ८), वातहर ६ प्रकार (६ से १४), कृमिघ्नके २ (नं. १५-१६), पोषक नं. १७, उत्तेजक वस्ति नं. १८-१९, सतत पोषक जल वस्ति नं० २०, औंषध वस्ति नं. २१, ग्राही नं. २२, शामक नं. २३-२४, संमोहनी नं. २५ और रोगनिर्णयार्थ वस्तिका वर्णन नं० २६ में किया है।

१. सामान्य वस्ति (Enema Simplex) सादे कदुष्ण जल या नमक जलकी वस्ति। इसका उद्देश्य मलाशय शुद्धि (Rectal Lavage) के लिये अधिक मात्रामें लवण जल १०० फेरन हाइट डिग्री उष्ण, अनेक बार चढा, तुरन्त निकालते रहते हैं। जिससे बृहदन्त्र धुल जाता है। फिर अन्तमें पोषणार्थ १० औंस लवण द्रव भीतर छोड़ देते हैं।

२. सावुन जलकी वस्ति—(Enema Saponis) स्नान करनेके सावुन १ तोलेको १ सेर जलमें उबालकर जलको कपड़ेसे छान लें। जल १०० फा० गरम होना चाहिये। इसमें अन्तरत्वचाके रक्षणार्थ ४ तोले एरण्ड तैल मिलाया जाता है। इस प्रकार जल बड़े मनुष्यके लिये आयु, शरीरबल और रोग दृष्टिसे १ से २ सेर तक चढाया जाता है।

३. तैल वस्ति—यह वस्ति रबरके कैथेटरसे दी जाती है। पहले कैथेटरको कुछ गरम जलमें डुबोकर मुलायम बना लेवें। जिससे चढानेपर विना कष्ट मलाशयके ऊपर तक चढ़ जाता है। फिर निम्न सिरेको चोंगा लगा, उसमें निवाया तिल तैल या जैतुनका तैल ४ से २० औंस तक डालते हैं। इस वस्तिको आध घण्टे तक रोकनेका प्रयत्न करना चाहिये।

उपयोग—यह वस्ति जमे हुये मलको या मलकी गांठोंको तोड़ मुलायम बना अन्तरत्वचाका संरक्षण करते हुये बाहर निकालनेके लिये दी जाती है।

वक्तव्य—(अ) आध घण्टे बाद आवश्यकता हो तो सावुन जलकी अथवा ४-८ औंस तैल मिलाये हुए निवाये जलकी वस्ति देवें।

(आ) कैथेटरसे तैल चढानेके पश्चात् तुरन्त सावुन जलमें डाल दें। अच्छी तरह तैल धुल जाने तक रखें। फिर निकाल कर सुखा दें।

४. ग्लिसरीनकी वस्ति—मुड़ी हुई नलीवाली वल्कनाइट या कांचकी पिचकारी (Syringe) द्वारा बालकोंको १ ड्रामसे १ औंस तक ग्लिसरीन चढाया जाता है। वल्कनाइटके मुखसे कभी कभी गुदाके भीतरकी श्लैष्मिक कलामें घाव हो जानेकी भीति है। इसलिये सिरेपर रबरकी छोटी नली लगा देनी चाहिये।

कचित् २-४ औंस ग्लिसरीनमें समान साबुनका जल मिलाकर कैथेटरसे चढाया जाता है। बच्चोंके कष्टको शीघ्र दूर करनेके लिये ऐसा किया जाता है।

वर्तमानमें ग्लिसरीनकी गुदवर्ति (Suppository) को निवायी करके चढ़ा देनेका अधिक रिवाज होगया है। क्वचित् तिल तैल और ग्लिसरीन, दोनों मिला कर वस्ति देते हैं। ग्लिसरीनके क्षोभक (Irritant) प्रभावको शमन करनेके लिये ऐसा करते हैं।

वक्तव्य—विरेचन बस्ति (Purgative enemas) निम्न नं० ५ से ८ में कही हुई विरेचन बस्तिको १-२ घंटे तक भीतर धारण करते हैं। यह शोथ, जलोदर आदिके जल और विषको बाहर फेंकनेके लिये दी जाती है। (यह कार्य उत्सर्जन बस्तिसे नहीं हो सकता) विरेचन बस्तिका द्रव्य ४ घण्टे तक बाहर न आवे, तो फिर साबुन जलकी बस्ति देकर विरेचन द्रव्य सह विकार या विषको आकर्षण करा लिया जाता है। इसके लिये निम्न ४ द्रव्योंकी बस्ति प्रयुक्त होती है।

५. **एरण्ड तैलकी बस्ति**—२ से ४ औंस एरण्ड तैलको दूने तिल तैलमें मिला रबरके कैथेटर या नलीके ऊपर लगे हुये चोंगेमें डालकर चढ़ाया जाता है। अथवा १ औंस एरण्ड तैलको २० औंस पेयामें मिलाकर चढाते हैं।

पेया (Mucilage) बनानेकी विधि-२ ड्राम (७॥ माशे) मैदेको थोड़े ठंडे जलमें मिलाकर लेई (Paste) बनावें। फिर उबलते हुए २० औंस जलमें मिला दो पात्रोंमें उलट पुलट करें। जिससे सफेद रंग दूर होकर पारदर्शक बन जाय। उस बस्तिकी नलिकामेंसे सरलतापूर्वक भीतर प्रवेश कर सके, वैसी पतली बना लेवें।

६. **मेगनेसिया सल्फेटकी बस्ति**—इस विदेशी नमकको १ से ४ औंस तक लेकर ४ से ८ औंस उबलते जल या पेयामें पिघलावें, फिर उष्णता १०० फा० रहनेपर बस्ति देवें, जल अधिक न मिलावें। क्योंकि २ घण्टे तक बस्ति द्रव्यको रोकनेसे ही जल शोषित होकर फिर गुदमार्गसे बाहर निकल जाता है।

मस्तिष्कावरण प्रदाह (Meningitis) और मस्तिष्कमें ग्रन्थि (Tumour) होनेपर मस्तिष्क करोटी (खोपड़ी Skull) के भीतरके दबावका ह्रास करनेके लिये यह बस्ति हितावह मानी गई है। इसी तरह हृद्रोग और वृक्क रोगके हेतुसे उत्पन्न शोथ रोगमें भी यह उपयोगी सिद्ध हुई है।

७. **एलुवाकी बस्ति**—विशुद्ध एलुवा २० से ३० ग्रेन तककी पतली पेया या निवाये जलमें मिलाकर बस्ति देते हैं।

८. **गोपित्त**—(Ox gall) की बस्ति बैल या गौके २ से ४ ड्राम पित्तको

१० औंस साबुन जल या पेयामें मिलाकर वस्ति देवें।

वक्तव्य—वातहर वस्ति (Carminative Enemas) निम्न नं०९ से १४ तक कही हुई वायु निकालने और अफारा (Distension) को दूर करनेके लिए व्यवहृत होती है। इसके ५ द्रव्य या साधन प्रयोजित होते हैं। (१) तार्पिन तैल, (२) हींग, (३) फिटकरी, (४) राब (Molases), (५) सिताबका तैल (Oil of Ruc) और (६) वायुनिःसारण नलिका (Flate tube) को चढाना।

९. तार्पिन तैलकी वस्ति—सामान्यतः २ से ८ ड्राम तार्पिन तैल चढाया जाता है। भीतर श्लैष्मिक कलाका रक्षण करते हुये चढ़ाना पड़ता है। इसके लिये निम्न ४ प्रकार हैं:—

(१) तार्पिन तैल और तिल तैल १-१ औंसको मिला उलट पुलट कर मिलावें। फिर उसे २० औंस साबुन जलमें मिला लें।

(२) तार्पिन तैल १ औंस और तिल तैल ४ औंसको अच्छी तरह मिलाकर ४ औंस पेया मिलावें। फिर मथन कर एक जीव करें। पायस (Emulsion) बननेपर देवें।

(३) तार्पिन तैल १ औंसमें १ अण्डेकी सफेदी डाल कर मथें। फिर ४ औंस साबुन जल मिला १००· फा० गरम करें। पश्चात् १६ औंस और साबुन जल मिलाकर वस्ति देवें।

(४) साबुन जल १ पिण्टको उबाल, उसमें बूंद बूंद करके तार्पिन तैल डालें और अच्छी तरह चलाते रहें। जिससे तार्पिन फट जाता है। इसकी वस्ति १००· फा० गरम देवें।

सूचना—तार्पिन तैल जलसे पृथक् हो जायगा, तो भीतर लगनेपर दाह करेगा, अतः गुदामें पहले वेसलीन लगा लेवें।

१०. हिंगु वस्ति-हींग ३० ग्रेनको ४से ६ औंस पेयामें मिलाकर वस्ति देवें।

११. स्फटिका वस्ति—फिटकरी २ औंसको २० से ४० औंस गुनगुने जलमें मिलाकर प्रयोजित करें।

१२. फाणित वस्ति—राब (प्रवाही गुड़) ३ से ८ औंसको समान दूध या पेयामें मिलावें, या १५ औंस जलमें मिला १०५· फा० गरम करके वस्ति देवें।

१३. सिताब तैलकी वस्ति—इस तैलकी २० बूंदोंको ४ औंस पेयामें अच्छी तरह मिलाकर वस्ति देवें, फिर १५ मिनट बाद २० औंस साबुन जलकी वस्ति देवें।

१४. वायुनि:सारक नलिका–नलीको वैसलीन लगा गरम जल भरे हुए प्यालेमें या कटोरेमें नीचेका सिरा डुबावें, और ऊपरका सिरा मलाशयमें प्रवेश करावें, शेष हिस्सा कटोरेके जलमें रहने दवें, जिससे वायु नलीके सिरेमें रहे हुए छिद्रमें प्रवेश कर बाहर निकलती रहेगी और वह जलमें बूंद बूंदके रूपमें दिखेगी। इसके विपरीत यदि शोषण क्रिया होगी, तो बाहरसे जल भीतर शोषित हो जायगा। इस नलिकाको १० मिनट तक भीतर रखते हैं।

उदरपर शस्त्रक्रिया करनेके पश्चात् पहले समय १० घण्टेपर और फिर ४-४ घण्टेपर वायु निकालनेके लिये इसका उपयोग किया जाता है।

वक्तव्य–कृमिघ्न बस्ति (AnthelminticEncma)–इसके २ प्रकार हैं। निम्न नं. १५-१६ की बस्ति उदर कृमिको बाहर निकालने और मारनेके लिये दी जाती है। इसके लिये २ साधन हैं। १ शीतल लवण जल; २-क्वाशियेका क्वाथ।

१५. नमक जलकी बस्ति–३ औंस नमकको ठण्डे २० औंस जलमें मिला तेज नमक द्रव (Hypertonic Saline) बनावें। इसका उपयोग सौम्य विरेचन अथवा उत्सर्जन बस्ति देकर मलाशय साफ करके किया जाता है।

१६. क्वाशियाकी बस्ति (Enema of Infusion of Quassia) काशियाकी छाल या लकड़ी १ औंसको २० औंस जलमें मिलाकर क्वाथ करें। ८ औंस रहनेपर छान गुनगुना रहनेपर उपयोग करें। इस बस्तिको आध घण्टे तक धारण करें। फिर नमक जलकी बस्तिसे उदर शोधन करें। आयुर्वेदके चिकित्सक अनार छालके क्वाथकी और सातविन छालके क्वाथकी बस्ति देते हैं।

१७. पोषक बस्ति–मलाशयको शुद्धकर द्राक्षशर्करा ५ से १०% को नमक जलमें मिलाकर बस्ति देनेसे उसका शोषण होकर शरीरको पोषण देता है।

तृषा वृद्धि होनेपर सादे, जलकी और रक्तवृद्धिके लिये नमक जलकी बस्ति देते हैं, तथा शस्त्रक्रियाके पश्चात् अम्लातिशय (Acidosis) के निवारणार्थ १ ड्राम सोडा बाई कार्बको २० औंस जलमें मिलाकर प्रयुक्त करते हैं।

वक्तव्य–उत्तेजक बस्ति (Stimulant enema) के निम्न २ प्रकार नं० १८-१९ का प्रयोग अकस्मात् क्षीणता आनेपर होता है। इसके दो साधन हैं।

१८. नमक जल, और १९ तेज निवायी कॉफी।

इसका उपयोग प्रबल रक्तस्राव, अत्यधिक वमन या प्रबल स्राव होकर शरीरमेंसे बहुत जल बाहर निकल जानेपर, देहमें जलकी कमी (Dehydra-tion) होती है, रक्ताभिसरण क्रिया और शारीरिक व्यापारमें अन्तराय आ जाता है, शरीर कृश और निस्तेज बन जाता है। फिर अम्लातिशयकी अति वृद्धि होती जाती है। पश्चात् हृदयकी क्रिया बन्द होकर मृत्यु भी हो

जाती है। उस स्थितिमें रक्तके भीतर लवण जल या सादा जल पहुँच जाय तो जीवन बच जाता है।

उदरपर शस्त्रक्रिया और रक्तस्रावके पश्चात् आघात (Shock) होने, शक्ति पात (Collapse) होने और उदर्य्या कला प्रदाह (Peritonitis) होनेपर इस वस्तिका उपयोग होता है। इससे देहमें उष्णता बढती है।

अफीमके विष प्रकोपसे उत्पन्न बेहोशी (Coma) और शक्तिपातमें भी इसका उपयोग होता है।

रोगी किसी कारणसे द्रव पदार्थ या औषध लेनेमें असमर्थ होनेपर उसे वस्तिद्वारा पोषण और उत्तेजना देना पड़ती है।

१८. नमक जलकी वस्ति—नमक जलमें १०% द्राक्ष शर्करा (१ पिंट जलमें २ औंस) मिलानेपर उससे २२६ उष्णांक (Calories) गरमी मिल जाती है। उसके साथ उत्तेजना देनेको १ औंस ब्राण्डी भी मिलाते हैं। इस प्रकारसे वस्ति ४-४ घण्टेपर दी जाती है।

सूचना—(१) पोषणार्थ वस्ति १००° फा० की और उत्तेजनार्थ १०५° से १२०° की दी जाती है।

(२) कभी नमक जल चढ़ानेके पहले गुदनलिकाद्वारा वायु निकाल लेनी पड़ती है।

(३) जल भीतर ठहर जाय इस लिये पहले मल-मूत्रको मलाशय और मूत्राशयसे बाहर निकाल लें, फिर द्रावण सावकाश और सतत देते रहें।

(४) वस्ति जलका उत्ताप शारीरिक उत्तापके अनुरूप रखें।

(५) जिस चोंगेसे द्रव डालकर चढाया जाता है, उसे गुदासे २ इञ्च ऊंचा रखें।

(६) १० औंस नमक-शर्करा द्रव चढावें।

१९. तेज कॉफी—कॉफीका जल ५ से १० औंस द्राक्ष शर्करा ४ ड्राम और ब्राण्डी आध से १ औंस मिला १०५° से ११०° फा० गरम करके देवें।

सूचना—कॉफी चूर्ण आध औंसको १० औंस उबलते हुये जलमें मिलावें। ५ मिनट तक रहने दें, फिर छान लेवें।

२०. सतत पोषक जल वस्ति-(Continuous Drip)-इस प्रकारकी वस्तिमें बूंद बूंद नमक द्रव सतत चढाया जाता है। यह भी उत्तेजक वस्तिका ही एक प्रकार है। इसके लिये कांच पात्र विशेष प्रकारके नली सह तैयार मिलते हैं। या थर्मास, फ्लास्क जैसे पात्रपर डाट लगा, उसमें ३ छिद्र करके उसमें कांचकी ३ नलियां डालें। इनमेंसे १ पर रबरकी नली लगाकर उसके दूसरे

सिरेपर बूंद-बूंद डालने वाला यन्त्र (Drip connection) जोड़ देवें। उसके आगे 'Y' आकारकी रबरकी नली लगाकर कांचकी नलीका एक जोड़ (Glass connection) मिला दें। उसके भीतर ही थर्मामीटर रहता है। इसके आगे ७-८ नम्बरका कैथेटर जोड़ें।

थर्मासकी योजना की हो तो उसके डाटमेंसे दूसरी नलीके भीतर द्रावण कितना है, यह विदित हो सकेगा। तीसरीमेंसे थर्मासके भीतर बूंद-बूंद निर्जन्तुक वायु प्रवेश करती रहती है।

सूटरके थर्मास (Souter's flask) में योग्य द्रावण १४०° फा० उष्ण करके भरें। इसमेंसे द्रावण चाहिये, उतना धीरे-धीरे छोड़ सकते हैं। यह गुदाशयमें पहुँचने तक १०० फा० उष्ण रह जाता है।

सूचना—(१) सब नलियां प्रारम्भमें द्रावणसे भरें। जिससे मलाशयके भीतर अनावश्यक वायु नहीं जा सकेगी। फिर थर्मासको उलटा लटकाकर द्रावण देना प्रारम्भ करें। प्रत्येक मिनटमें ६० बूंदके हिसाबसे देवें। इस तरह अनेक पाइण्ट चढ़ा सकते हैं।

(२) थर्मास न होनेपर इरिगेटर या गरम जलकी रबरकी थैलीका उपयोग हो सकेगा।

(३) मलाशयके भीतर नमक जल प्रवेश करता है या नहीं, यह परिचारकको देखते रहना चाहिये। यदि बाहर टपकता हो तो २० से ४० बूंदके अनुपातसे जल देना चाहिये।

२१. **औषध वस्ति**—यह वस्ति विभिन्न औषध मिश्रणकी दी जाती है। आमाशयके रोग या अत्यधिक वमन, बेहोशी, आक्षेप (Convulsions) और अपस्मारकी मूर्च्छामें बस्ति प्रयोग किया जाता है।

वक्तव्य—गुदाद्वारा औषध चढानेपर उदर सेवनकी अपेक्षा दूनी मात्रा दी जाती है। अपस्मारमें १ ड्राम ब्रोमाइड या ३० ग्रेन क्लोरलभी चढाया जाता है।

२२. **ग्राही वस्ति**—(Astringent enema) यह बस्ति रक्त वाहिनियोंको आकुंचित करती है और श्लैष्मस्राव कम कराती है। इस बस्तिका उपयोग गुदनलिका या बृहदन्त्रमें व्रण होनेपर और रक्त प्रवाहिका होनेपर होता है। टेनिक एसिड १ से २% का या हल्के सिल्वर नाईट्रेटका द्रावण १ पिण्ट दिया जाना है। कभी सिल्वर नाइट्रेटका १=१००० का द्रावण धीरे धीरे अनेक पिण्ट तक चढ़ाते हैं। क्वचित् पूय मेहहर अल्बार्जिन (Albargin) या प्रवाहिका नाशक चूर्ण (Chiniofou powder) आदि औषधियोंकी बस्ति दी जाती है।

वक्तव्य—शामक बस्ति (Sedative enema) के निम्न २ प्रकार हैं। नं० २३-२४ को अतिसार और अन्त्रज्वरमें अन्त्रके भीतर क्षोभ होकर शौच

अधिक वार होनेपर इसे दूर करनेके लिये प्रयोजित करते हैं।

२३. मैदेकी पेया २ से ४ औंसमें २० से ६० बूंद अफीमके निष्कर्ष (Tro pii) मिलाकर वस्ति देते हैं। फिर शेष पेया चढ़ाते हैं।

२४. मैदा या अलसीकी पेया या ट्रेगेकान्थ (Tragacanth) गोंद या कतीला गोंद या अन्य लेसदार औषधिका मिश्रण ५ औंस देवें। इसका उपयोग किन छने-हाजत बनी रहने (Tenesmus) पर होता है।

२५. संमोहनी वस्ति—(Anaesthetic enema)-इस वस्तिका उपयोग शस्त्र क्रियाकी वेदनाका भान न होनेके लिये होता है। यह वस्ति मस्तिष्ककी क्रियाको स्तम्भित कर सब शरीरको बेहोश बना देती है। इसके लिये गुद मार्गसे अवर्टिन (Avertin or E 107) का प्रयोग करते हैं। भूतकालमें ईथर (Ether) को भी प्रयोजित करते थे, किन्तु उससे अन्त्र प्रदाह हो जानेकी भीति रहती है। अतः वर्त्तमानमें इसे छोड़ दिया है।

शरीरके प्रति पौण्ड वजनसे १ से २ ग्रेनके अनुपातसे एवर्टिन लेकर २॥% का द्रावण बनाते हैं। इस द्रावणकी वस्ति ४ से ८ औंसकी देते हैं।

रीति—रोगीको पूर्व दिन शामको सारक ओषधि और रात्रिमें निद्रा लानेके लिये सल्फोनल देवें। सुबह थोड़ा लघु भोजन करावें। फिर मोर्फिया या एट्रोपिनका अन्तःक्षेपण कर उसे पेशाब कर लेनेको कहें। पश्चात् उदरस्थ वायु (Flatus-अपानवायु) को निकाल डालें। फिर औषध द्रावण धीरे धीरे देवें। रोगीको निद्रा आनेकी प्रतीति हो, तब वस्ति देना बन्द करें। चाहे सब औषध न जाय तो भी चलेगा। बेहोशी आनेपर नियमानुसार शस्त्रक्रियाकी उचित व्यवस्था करें।

२६. रोगनिर्णयार्थ वस्ति (Diagnostic Enemas)—क्ष किरणसे बृहदन्त्रके रोगका निदान हो सके इसलिये बेरियम सल्फेट (Barium Sulphate) का मिश्रण वस्ति रूपसे देते हैं।

बेरियम सल्फेट १० औंस और ट्रेगेकान्थ गोंद १५ ग्रेनको खरलमें डाल थोड़ा जल मिलाकर घोटें और उसमें २० औंस तक जल मिलावें। यदि उण्डूक (Caecum) तक ओषधि पहुँचानी हो तो मिश्रण ४ पिण्ट लेना चाहिये।

सूचना—सामान्य विरेचन १ दिन पहले देना चाहिये। एवं क्ष किरण परीक्षाके ४ घण्टे पहले सामान्य वस्ति देकर बृहदन्त्रकी शुद्धि कर लेनी चाहिये। फिर ठीक समयपर बेरियम मिश्रण धीरे धीरे देवें।

उत्तर वस्ति।

आचार्योंने पुरुषोंके लिङ्ग अथवा स्त्रियोंकी योनि मार्गसे मूत्राशय और गर्भाशयमें पिचकारी डालें। देनेको उत्तर वस्तिका विधान किया है।

निरूह बस्ति लेनेके थोड़े दिन पश्चात् यह बस्ति दी जाती है। इसलिये इसे उत्तर बस्ति कहते हैं।

प्राचीन कालमें उत्तर बस्तिके लिये मेंढ़े, शूकर या बकरेकी बस्ति या पक्षियोंके गलेके चमड़े या अन्य साफ किये मुलायम चमड़ेमेंसे बस्तिके आकारका यन्त्र बनवानेका रिवाज था। इस उत्तर बस्तिके लिये नली पुरुषोंके लिये (उसरोगीके) १२ अंगुल लम्बी लें। वह नली सुवर्ण, रौप्य या शीशा आदि धातुओंमेंसे मालतीके पुष्पकी डंडी जैसी पतली, अन्तका भाग मोड़ा हुआ, सरसोंका दाना घुस सके ऐसे चौड़े छिद्रवाली, खूब साफ बनवानी चाहिये। उस नलीद्वारा तैल २ से ४ तोले तक प्रकृतिके अनुसार विचार कर चढाना चाहिये। वर्त्तमानमें जर्मनसिल्वर, कांच वल्कनाइट और रबर आदि की विविध आकार और प्रकारकी नली विदेशोंसे तैयार आती है। इनका भी उपयोग हो सकता है।

स्त्रियोंके लिये उत्तर बस्तिकी नलीमें (गर्भाशयमें अधिक नली न चली जाय इसलिये) ४ अंगुलपर किनारी रखें; और अन्त भागमें मूंग प्रवेश कर सके इतने चौड़े छिद्र वाली दश अंगुल लम्बी बनवावें। इसको गर्भाशयमें ४ अंगुल; स्त्रियोंके मूत्राशयमें २ अंगुल; और कन्याओंके मूत्राशयमें १ अंगुल तक ही प्रवेश कराना चाहिये। (यह अंगुल उस रोगीके अंगुल सदृश समझना चाहिये) मूत्राशयके शोधनार्थ स्नेहकी मात्रा २ तोलेसे ४ तोलेतक और गर्भाशय शोधनार्थ ८ तोले लें।

मूत्रमार्गसे आगे मूत्राशय और गर्भाशय, ये दो विभाग होते हैं। उनको अच्छी रीतिसे समझकर बस्ति क्रिया करें।

बस्ति-विधि—निरूह बस्तिसे शुद्ध हुए पुरुषोंको उकडू बैठाकर तथा स्त्रियोंको चित लेटा, पैरोंको मोड़, घुटनेको ऊपर करा, उत्तर बस्ति देनी चाहिये। ३ दिन तक नित्य प्रति बस्ति देवें; और मात्रा थोड़ी-थोड़ी बढ़ाते जायँ। फिर आवश्यकता हो, तो पुनः ३ दिन तक देवें। शेष विधि अनुवासन बस्ति समान है।

सूचना—स्त्रियोंको यदि गर्भाशयमें उत्तर बस्ति देना हो, तो (ऋतुकालमें) या मासिक धर्म आनेके पश्चात् १२ दिनके भीतर गर्भाशयका मुँह खुला हो, तब देना चाहिये। इन दिनोंमें योनि स्नेह ग्रहण कर लेती है। अन्य समयमें मुँह आवृत्त रहनेसे स्नेहका ग्रहण नहीं कर सकती। यदि योनिभ्रंश, योनि-शूल, रक्तप्रदर आदि रोगोंमें उत्तर बस्ति देनी हो; तो ऋतुकालके पश्चात् भी दे सकते हैं।

बस्ति विधि—पुरुषोंको स्नेहन-स्वेदन कराकर जब मार्ग साफ हो जाय, तथा उत्तर बस्तिकी नलीको प्रवेश करानेमें प्रतिबन्ध न होता हो, तब प्रातः

काल दूध और घृतयुक्त यवागु शक्ति अनुसार पिलाकर उत्तर वस्ति दें। उत्तर वस्ति देनेसे पहले नाभिके नीचे वस्ति भाग तक अच्छी रीतिसे तैलकी मालिश करें और इतर समान आकृति वाली नलीके मुँहपर घृत चुपड़, प्रवेश कराकर मार्ग प्रतिवन्ध रहित है, या नहीं, इस वातकी परीक्षा करलें। फिर उत्तर वस्तिकी नलीको धीरे-धीरे ६ अंगुल मेढ़्में प्रवेश करा वस्तिको दवावें, जिससे स्नेह आदि द्रव्य भीतर मूत्राशयमें पहुँच जायें। बादमें नलीको निकाल लेवें। जब स्नेह वापस निकल आवे, तव तीसरे प्रहरको दूध पिलावें; अथवा मूँगका यूप या मांसरस मिलाकर हलका भोजन करावें।

यदि उत्तर वस्तिका स्नेह द्रव्य वापस न निकले, तो चिकित्सकको चाहिये कि शोधन वस्ति दें; अथवा निम्न आरग्वधादि वर्तिका उपयोग करें। शोधन वर्तिको गुदामें प्रवेश करावें। वस्ति मार्गमें नली डालकर स्नेह आकर्षित करें; अथवा नाभिके नीचेके भागको युक्तिपूर्वक धीरेसे दवाकर स्नेह निकाल लें। यदि मूत्रेन्द्रियमें उग्र ओपधि या नली लग जानेसे दाह हो जाय, तो गूलर आदि दूधवाले वृक्षोंके क्राथकी या शीतल हिमकी पिचकारी लगावें।

आरग्वधादि वर्ति-अमलतासके पत्तोंको पहले निर्गुण्डीके स्वरसमें १ दिन तक खरल करें। फिर सैंधानमक मिला, गोमूत्रमें पीसकर वत्तियाँ बनावें। अवस्था और शक्तिका विचार कर, सरसों, मूंग या इलायचीके दानों जैसी बनावें। फिर शलाकाद्वारा मूत्राशयसे स्नेह द्रव्यको बाहर निकालनेके लिये पहुँचावें; और गर्भाशयसे स्नेह द्रव्य खींच लेना हो, तो वर्ति ४ अंगुल लम्बी और पेन्सिल सदृश पतली बनाकर प्रवेश करावें।

डाक्टरीमें मूत्ररोगीका पेशाव जब रुक जाता है, तब मूत्रमार्गमें रबरकी मूत्रनलीका (Catheter) प्रवेश कराकर पेशाव निकाल लेते हैं। ये इस कार्यके लिये आकृति और कार्य भेदसे अनेक प्रकारके बने हैं। उदा० कूर्पराकार (Coude Or elbowed), द्विकूर्पराकार (Bicoude), मृदु सुखनम्य (Flexible), पौरुष ग्रन्थि सदृश मोडयुक्त (Prostatic), द्विमुखी (Double Way), मूत्राशयके छिद्रमें रखने योग्य (Selfretaining) और लघु परिच्छेद युक्त (Vertebrated) आदि। इन सबका उपयोग आवश्यकता अनुसार होता रहता है। वर्तमानमें परिचारिकाओं (Nurses) को यह सिखाया जाता है। वैद्यों (Conpounders) को भी जान लेनेकी आवश्यकता है।

१. रबरकी नली यह वस्ति कार्यके लिए एवं नाकसे दूध आदि आहार देनेके लिये प्रयोजित होती है।

२. गोंदकी-(Elastic) यह नली भी रबरके समान आकारकी होती है;

किन्तु डोरे या रेशमी सूतसे बनी हुई और ऊपर गोंद लगाकर दृढ की हुई काली या भूरी होती है। इसके सिरे अनेक प्रकारके होते हैं।

३. कांचकी–यह स्त्रियोंके लिये प्रयोजित होती है।

४. धातुकी–यह पुरुष और स्त्री दोनोंके लिए उपयोगी होती है। प्रसव क्रियामें प्रायः यह ली जाती है।

५. गविनी प्रवेशक नली २– (Ureteric. Catheter), यह पतली नली है। यह मूत्राशयसे आगे रहे हुए गविनी (Ureter) मार्गद्वारा वृक्कालिंद (मूत्रपिण्ड-द्रोणी-Pelvis of the Kidney) तक पहुँचाई जाती है।

६. गर्भाशय प्रवेशक नली–(Uterine Catheter), यह रबरकी बनी हुई पतली नली है। यह नली इञ्चोंके चिह्न युक्त होती है। इसे विशेष प्रकारके गर्भाशय प्रवेशक चिमटे (Uterine Forceps)से पकड़कर गर्भाशयमें प्रवेश कराते हैं। प्रसवोत्तर पूति विकृति (Pueperalrsepis)होनेपर गर्भाशयके भीतर ग्लिसरीन पहुँचानेके लिए उसका उपयोग किया जाता है।

७. मूत्रमार्ग विस्फारक शलाका (Bougie)—यह ठोस शलाका है। यह मूत्रमार्गको चौड़ा बनानेकेलिये व्यवहृत होती है। इसमें १से २० नम्बर आते हैं। १ पतली और नं २० सबसे अधिक मोटी होती है।

८. मूत्राशय रोग निर्णायक शलाका (Bladder Sound)—यह मोटे सिरेकी ठोस शलाका है। पुरुषोंके मूत्राशयमें अश्मरी होनेपर वह इस नलीद्वारा विदित होती है। इसमें भी १से २० नम्बर तक है।

९. गर्भाशय रोग निर्णायक शलाका (Uterine Sound)—यह लम्बी शलाका है। इसमें सिरेकी ओर ३" इञ्चपर गर्भाशय सदृश चौड़ा कोन होता है। इसपर इञ्चके चिह्न होते हैं। जिससे भीतर कितनी शलाका गई है, यह विदित होता है। इस शलाकाद्वारा गर्भाशय आकृति मोड़ और ग्रन्थि आदि रोग जाने जाते हैं। एवं टेढे बने गर्भाशयको सरल बना सकते हैं।

१०. गर्भाशय विस्फारक (Uterine Dilators), यह गर्भाशय ग्रीवा (Cervix Uteri) को चौड़ी बनानेके लिये व्यवहृत होता है। इसमें भी १ से २० नम्बर हैं। ग्रीवामुख चौड़ा होनेपर गर्भाशय धोने या औषध लगानेमें सुविधा रहती है।

इनके अतिरिक्त कण्ठमार्गसे कर्णमार्ग प्रसारक नली (Eustachian Catheter) और ग्रसनिका (Pharynx) में प्रवेश कराने योग्य नली (Faucial Catheter) आदि प्रकार आते हैं। किन्तु उनका उपयोग उत्तर वस्तिमें न होनेसे यहाँ वर्णन नहीं किया है।

(१३) मूत्राशय धोना हो, तो पहले भीतर भरा हुआ मूत्र निकाल लेना चाहिए।

योनिमार्ग धोना:—योनिमार्ग और गर्भाशयमें प्रदाहको दूर करने और रक्तस्रावको स्तम्भित करनेके लिए गर्भाशय बस्ति पात्र (Douche pan) द्वारा जल प्रवेश कराया जाता है। यह बस्ति पात्र भी मलाशय-बस्ति पात्रके समान ही होता है। कभी उसी पात्रसे भी काम चला लेते हैं। इसके लिए योनि मार्गमें प्रवेश करानेकी नली लम्बी और फौवारे जैसी अग्रभाग (Douch-nozzle) युक्त होती है। कभी रबरकी नलिका नं. १० की भी ले लेते हैं।

पूयमय स्राव होनेपर कीटाणुनाशक तेज धावनका उपयोग करते हैं अन्यथा सौम्य धोनेका धावन १०५° उष्ण रखते हैं। श्रोणिगुहामें शोथ हो तो १००°से १२०° तक और रक्तस्राव रोधार्थ ११८°से १२० फा० उष्ण धावन लेते हैं। धो लेनेपर योनिद्वार और चारों ओरके बाह्य भागको मसलकर पोंछे। पुन: उस फौवारे जैसी नलीको ३" इञ्च योनिमार्गमें डालकर थोड़े धावनसे धो लेवें। इसी तरह आगे पीछेके महराव (Fiornices) को भी नलीके जलसे धो लेवें।

गर्भाशय धो लेनेपर रुग्णाको डूशपेनपर ही थोड़े समय तक लेटी रहने दें, जिससे गर्भाशयमें रहा हुआ शेष धावन बाहर निकल जायगा। फिर बाहरके हिस्सेको कीटाणुनाशक धावनके फोहेसे साफ करें और कीटाणुरहित गद्दी रखें। तत्पश्चात् रुग्णाको बस्ति दें। जिससे भीतर रहा हुआ सब जल बाहर निकल जायगा।

सूचना:—

(१) डूशका जल १२५° से अधिक उष्ण हो, तो सांथल और विटपपर वेसलीन लगा लेना चाहिए।

(२) कमसे कम ३ मिनट धावनका उपयोग करें।

(३) योनिमार्गका जल बाहर निकलनेपर डूशपेनमें गिरे, इस तरह प्रबंध करके फिर आरम्भ करें। इसके लिए परफेक्शन पेन (Perfection pan) विशेष सुविधाप्रद है।

(४) विटप प्रदेशपर अस्त्र क्रिया करके टांके लगाये हों, तो रबरकी नलीका उपयोग कराना चाहिये।

(५) श्रोणिगुहामें शोथ होनेपर डूश देनेके समय रुग्णाको आड़ी करवटसे लिटाकर डूश दे सकते हैं। घुटनोंको खड़े करें, छोटा सिराना रखकर नितम्बको ऊंचा रखें। नितम्बको बिछौनेके किनारेके पास रखना चाहिये, जिससे जल मोमजामेपर गिरकर पलंगके नीचे बाल्टीमें सरलतासे चला जाय।

गर्भाशयान्तर शोधन—(Intra Uterine douche) यह उपचार प्रसव कालमें रक्तस्राव निरोधार्थ या गर्भाशय कलाको खुरचने (Curetting) पर किया जाता है। इसके लिये काच और धातुकी बनी हुई विशिष्ट लम्बाईकी मुड़ी हुई दोहरी नाली युक्त नलिका (Intra Uterine tube double chanal) प्रयोजित होती है तथा गर्भाशयमें खुरचनेके लिये फ्लशिंग क्यूरेट (Flushing curette) का उपयोग करते हैं।

पहले योनि मार्ग शोधक डूश देकर सब भागोंको स्वच्छ करते हैं। फिर ११८° से १२०° फा० उष्ण धावनका डूश उक्त नलिका लगाकर देते हैं। जिससे खुरचनेपर निकले हुए छिलके और चूर्ण तत्काल धावनके साथ धुलकर बाहर निकल जाते हैं।

गर्भाशयस्थ स्राव निरोधार्थ—रूईका फोहा या गॉजकी छोटी गेंद (Tanipon plug) को बीचमें बांध, लम्बा डोरा लटका, ग्लीसरीन या अन्य कीटाणुहर, स्रावरोधक ओषधिसें भिगोकर चिमटेसे योनिकी पूर्व या पश्चिमकी महरावमें रखते हैं, जिससे निकालना हो तब सरलतासे बाहर निकाल सकें। सामान्यतः १२ घण्टे बाद फोहेको निकालकर डूश दिया जाता है।

सूचना—पहले स्त्रीको चित या बांयीं करवटसे आधी झुकी हुई (Senai-Prone) स्थितिमें लिटावें। फिर कीटाणुनाशक फोहेसे बाह्य भागको पोंछे और सब भागको स्राव रहित करें। पश्चात् योनि मार्ग प्रसारक (Vaginal Speculum) को चिकना करके लगा, चिमटेमें कीटाणुनाशक फोहेको पकड़, योनिमार्गको हो सके उतना पोंछकर सूखा करें। फिर उक्त फोहा रखना चाहिये।

सूचना-(१) प्राचीन कालमें उत्तर बस्ति बकरेके मूत्राशय आदि साधनोंसे स्त्रियोंके रजोदोष, रक्तप्रदर और योनि रोग तथा मूत्रकृच्छ्र, बढ़े हुए मूत्ररोग, प्रसूताकी जेर नहीं गिरना, पुरुषोंका शुक्र निकलते ही रहना, पथरी, शर्करा, (छोटे-छोटे अश्मरीके टुकड़े), बस्तिशूल, वृक्कशूल, मूत्रेन्द्रियमें शूल और मूत्राशयके सब रोगोंपर देते थे। वर्तमानमें इसके लिये विशेष सुविधाप्रद यन्त्र और नलिका आदि साधन मिलते हैं। इनसे शास्त्रीय बस्ति देना हितावह है।

(२) प्रमेह रोगमें उत्तर बस्तिका उपयोग नहीं करना चाहिये।

(७) नस्य विधि।

मस्तिष्ककी तरावट, ग्रीवा, स्कन्द और हृदयमें बलवृद्धि या दृष्टिकी प्रसन्नताके लिये जो स्नेहादि ओषधियोंका उपयोग नासिकाद्वारा मस्तिष्कमें चढ़ानेके लिए किया जाता है, उसे नस्य कहते हैं। यद्यपि गलेके ऊपरके भागके रोगोंको दूर करनेके लिये वमन, शिरावेध आदि क्रियाओंका उपयोग भी होता

है; तथापि नस्यका उपयोग विशेषरूपसे होता है। नासिका, यह शिरका द्वार होनेसे श्रोत्र,नेत्र, कण्ठ, मस्तिष्क आदि सब भागोंके रोगोंको दूर करने और उन अवयवोंको बलवान् बनानेके लिए नस्यद्वारा ओषधि पहुँचानेमें विशेष अनुकूल है।

नेत्रको वायु और धूँआँ लगनेसे विविध प्रकारके कीटाणु सर्वदा नेत्रकी श्लैष्मिक कलापर आक्रमण करते रहते हैं। किन्तु दिनमें पलककी निमीलन-उन्मीलन क्रिया अनवरत होती रहनेसे अश्रुप्रवाहसे वे धुल जाते हैं, और अश्रु मार्गद्वारा नासिकामें चले जाते हैं जहाँ वे नष्ट हो जाते हैं। किन्तु कितने ही जो बच जाते हैं वे रात्रिको सन्तान वृद्धिकर फिर समूहबद्ध बनकर आक्रमण करते हैं। इनके अतिरिक्त कितने ही न्यूमोनिया, इन्फ्लुएन्ज़ा, प्रतिश्याय आदिके कीटाणु नासामार्गमें प्रवेशकर फिर नेत्रमें चले जाते हैं। जिस तरह नासिकाका नेत्रके साथ सम्बन्ध है; उस तरह श्रोत्र आदि भागोंका भी सम्बन्ध है। अतः नासिका शुद्ध रखी जाय तो अनेक ऊर्ध्वजत्रुगत रोगोंकी संप्राप्ति ही नहीं हो सकेगी। प्राचीन आचार्योंने इसी उद्देश्यको लेकर प्रतिमर्ष नस्य-तेलका नस्य प्रतिदिन लेनेका विधान किया है।

नस्यके बृंहण (स्नेहन), शिरोविरेचन और शमन, ये ३ प्रकार हैं। शक्ति-वृद्धि करे वह बृंहण, भीतरके दोषको बाहर निकालनेमें सहायता करे, वह विरेचन और नीलिका आदि क्षुद्र रोगोंका शमन करे वह शमन नस्य कहलाता है। पुनः अन्य रीतिसे निम्न ५ भेद होते हैं।

(१) बृंहण नस्य—मस्तक बलवृद्धिकर घृत-तैल आदि नस्य।

(२) शिरोविरेचन—मस्तिष्कस्थ दोषको गिरानेवाला।

(३) प्रतिमर्श—नासामलको गिराने और मस्तिष्कके बलको बढानेके लिये स्वल्प मात्रामें लेनेकी तैल आदि ओषधि। यह प्रतिमर्श बृंहण नस्यका भेद है।

(४) अवपीड़—बेहोशी और तन्द्रानाशक क्वाथ अथवा स्वरस नस्य। यदि तीक्ष्ण ओषधिसे बना हो तो विरेचन नस्यका भेद कहाता है; और दोषशामक ओषधिसे बना हो, तो शमन नस्य कहलाता है।

(५) प्रधमन—मूर्च्छित अवस्थामें नलीद्वारा तीक्ष्ण ओषधिका चूर्ण नाकमें फूँकना, यह विरेचन नस्यका भेद है।

विधि—नस्य देनेमें एक-एक या दो-दो दिन छोड़कर ७ बार नस्य दें। पुनः थोड़े दिन छोड़कर १५ समय नस्य दें। कतिपय आचार्योंका मत है कि स्नेहपानके समान नस्य भी ९ दिन बाद सात्म्य भावको प्राप्त हो जाता है।

बृंहण नस्यके अधिकारी—वातिक अथवा पैत्तिक शिरोविकार, दन्तरोग, मस्तक अथवा दाढीके बाल झड़ने, भयङ्कर कर्णशूल, कानमें शब्द गूँजना, सूर्यावर्त्त, तिमिर, स्वरभेद, नासारोग, मुखशोष, मगजकी वृद्धि रुकना, अकालमें बालसफेद होना, मुखरोग, अपबाहुक (वातप्रकोपसे हाथ स्तम्भित होना), रक्ताभिसरण क्रिया मन्द होकर मुँहपर निस्तेजता आना और असमय मुँहपर झुर्री पड़ना इत्यादि विकारोंमें वातपित्तनाशक द्रव्योंसे सिद्ध किये हुए तेलका नस्य कराया जाता है। मात्रा ४ से ८ बूँद तक।

शिरोविरेचन नस्यके अधिकारी—तालु, गला, मस्तकमें कफ भरजाना, अरुचि, मस्तकका भारीपन, मस्तकशूल, पीनस, सूर्यावर्त्त, अर्धावभेदक (आधाशीशी), कृमि, जुकाम, अपस्मार, कुष्ठ, गन्धज्ञान न होना और गलेके ऊपरके भागके कफजन्य विकारोंपर शिरोविरेचन द्रव्योंसे सिद्ध किया हुआ तैल नस्यके लिए देना चाहिए।

सूचना—रक्तपित्तके क्षीण रोगीको घृत, दूध, ईखका रस, मिश्री आदिका नस्य देवें। भीरु स्त्री, कृश और बालकोंको शिरोविरेचन नस्य देना हो, तो रेचन ओषधियोंमें सुगन्धित ओषधि मिला तैल सिद्ध करके दें।

शिरोविरेचन नस्यके नियम—स्नेहन, स्वेदन क्रिया जिसने की है, उसको मल-मूत्र विसर्जन करनेके बाद, भोजनसे पहले बादल रहित आकाश हो तब नस्य देवें। पहले नाक साफ करा लें। फिर हाथोंको तपाकर गला, गाल और कपालको थोड़ा सेक लें। पश्चात् निर्वात स्थानमें चित सुला, मस्तक कुछ नीचा रखा, नेत्रोंको वस्त्रसे ढक, बाएँ हाथकी तर्जनी और अँगूठेसे नाकके अग्रभागको कुछ मोड़, दूसरे छिद्र बन्दकर, तैलका नस्य दें। नलीद्वारा नाकमें थोड़ा-थोड़ा तैल २-३ समय डालें, और नेत्रमें तैल चला न जाय यह सम्हालें। वर्तमान समयमें ड्रोपर (नेत्रमें ओषधिके बूंद डालनेकी काचकी रबर लगी हुई नली) आती है, वह अधिक अनुकूल रहती है।

कफ विरेचनार्थ नस्य भोजनसे पहले सुबह ६ बजे; पित्त शमनार्थ मध्याह्नके समय और वातहरणके लिये तीसरे पहर (दोपहरके २ बजे) को दें। कारण, इन समयोंमें ये दोष उत्क्लेशित होते हैं और इतर समयमें प्रायः धातुओंमें लीन रहते हैं। यदि ऊर्ध्व रोग हों तो रात्रिके समय भी नस्य दें; अर्थात् दिनमें २ समय तैल चढ़ावें।

प्रकृति स्वस्थ है, तो शरद् और वसन्त ऋतुमें पूर्वाह्णकालमें; हेमन्त और शिशिर ऋतुमें मध्याह्न कालमें; ग्रीष्म ऋतुमें सायंकालमें; तथा वर्षा ऋतुमें सूर्यका दर्शन हो सके उस समयपर नस्य कराना चाहिये।

मस्तिष्कमें वातविकार, आयाम, अपतानक, मन्यास्तंभ और स्वरभ्रंशमें नस्यका समय निश्चित नहीं है। इनसे इतर रोगोंमें १-१ दिन छोड़कर ७ बार नस्य क्रिया करायी जाती है।

नस्यके पश्चात् कर्तव्य—नस्य देकर कान, कपाल, तालु, गर्दन, कमर, हाथोंके तलुवे, पैरोंके तलुवे इत्यादि भागोंमें थोड़ी-थोड़ी मालिश करें, नस्यौषधको गलेके नीचे न जाने दें, ऊपरके हिस्सेमें ही रहने दें। मुँहमें आजाय तो थूक दें। नस्य देनेपर गालपर थोड़ा स्वेदन करें। नस्यौषध देनेके आधे मिनट बाद रोगीको बैठाकर कण्ठशुद्धिके लिये निवाये जलसे कुल्ले करावें। फिर शास्त्रोक्त विधिपूर्वक धूम्रपान (१८ वर्षसे बड़ी आयु वालोंको) करा, पथ्य भोजन (अनभिष्यन्दी भोजन) और गरम जल पीनेके लिये दें।

अपथ्य—धूल, धूँआ, धूप, शराब, तेल, प्रवाही वस्तु लेना, शिरपर स्नान, क्रोध और मनको ग्लानि होवे ऐसे कर्त्तव्योंका त्याग करें।

नस्य फल—स्नेहयुक्त नस्यका उपयोग योग्य परिमाणमें होनेसे नाड़ियें स्वच्छ होकर सब विकार दूर होते हैं। अच्छी शान्त निद्रा आना, मस्तक शुद्धि, इन्द्रिय शुद्धि और मनमें प्रसन्नता होना, ये फल प्रतीत होते हैं।

हीन शिरोविरेचन होनेपर मस्तकमें खुजली, भारीपन, मस्तकके भीतर कफ रह जाना, नाकमेंसे कफ गिरना इत्यादि प्रकोप होते हैं।

अतियोग होनेपर वातप्रकोप, चक्कर आना, मगजमेंसे चर्बी और मांस आदिका स्राव, मस्तक खाली होना आदि लक्षण होते हैं।

हीनशुद्धि हो, तो पुनः यथोक्त कफघ्न स्नेहन नस्यका उपयोग करें; और अतियोग होजाय तो वातशामक उपचार करें।

नस्यके अनधिकारी—भोजन किया हुआ, उपवासी, नूतन तीक्ष्ण जुकाम वाला, जिनकी शिराका वेधनकर रक्तस्राव कराया हो, सूतिका, सगर्भा स्त्री, मदिरा पीया हुआ, ज्वर रोगी, अपचन होवे तब, बस्ति दिया हुआ, क्रोधावस्था युक्त, शोकातुर, स्नेह, जल या आसव तुरन्त पीया हो, कृत्रिम विषसे पीड़ित, तृपातुर, ७ वर्षसे छोटी आयुवाला बालक, अत्यन्त वृद्ध (८० वर्षसे अधिक आयु वाला), थका हुआ, मल-मूत्रके वेगको रोका होवे तब, स्नान किया हुआ, शिरपर स्नानकी इच्छावाला, इनको नस्य न दें। आवश्यकता हो तो प्रतिमर्श देनेमें बाधा नहीं है।

असमयके बादल होनेपर और अति शीत या अति गर्मी होनेपर भी नस्य न दें।

प्रतिमर्ष नस्यका समय—सुबह उठनेके समय, दाँतुन करके मुँह धोनेपर, घरसे बाहर जानेपर, मार्ग गमनके समय, रात्रिमें विश्रान्ति लेनेके समय, मल-त्याग, मूत्रविसर्जन, मैथुन, कसरत, कवलधारण (मुँहमें ओपधिका कुल्ला धारण

करना), अञ्जन, भोजन, वमन होना, दिनमें शयन, इन सब कार्योंके पश्चात् और सायंकालको प्रतिमर्ष नस्य दे सकते हैं। इस नस्यका उपयोग नित्य प्रति मरणपर्यन्त स्वस्थावस्थामें हो सकता है। नित्य सेवन करते रहनेसे बृंहण नस्यके समान लाभ पहुँचाता है।

प्रतिमर्श नस्यसे नाकके मल निकल जाते हैं। जिससे मनमें प्रसन्नता उत्पन्न होती है। मुँहमें सुगन्ध आती है, इन्द्रिय शुद्धि होती है; गलेके ऊपरके रोग दूर होते हैं; तथा दाढ़ी, दाँत, मस्तक, गला, हाथ और हृदयका बल बढ़ता है। युवावस्थामें बाल सफेद होजाना और व्यंग आदि दूर होते हैं। जिस नस्यकी मात्रा स्वल्प (२ से ४ बूंद) हो, वह प्रतिमर्श नस्य कहलाता है। नाकमें डाला हुआ नस्य किञ्चित् भीतर खींचनेसे कण्ठ या मुँह तक जाता है, वह प्रतिमर्श है।

यह नस्य बैठकर अथवा खड़े-खड़े लिया जाता है। चित सोकर मस्तक नीचा रखकर लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। कफ और कफवात दोषमें तैलका नस्य दें। केवल वातमें चरबी, पित्तप्रकोपमें घृत तथा वात-पित्त विकारमें मज्जा (हड्डीमें रहे हुए स्नेह) का नस्य लाभदायक माना गया है। अथवा कफ-विकारको छोड़कर अन्य सब विकारोंमें सिद्ध घृतका प्रतिमर्श नस्य २-२ बूँद दें। वर्तमानमें आंखोंमें बूंद डालनेकी काचकी नली (Eye dropper) मिलती है, उससे बूंद डालना सुविधाप्रद होता है।

सूचना—प्रतिमर्शकी मात्रा लघु होनेसे यह नस्य दुष्ट पीनस रोगमें, मद्यपानसे जिनके कानका मार्ग रुक गया हो, शिरमें कृमि हो, बढ़े हुए रोगमें और प्रचलित हुए दोषोंमें नहीं देना चाहिए।

अणु तैल—श्वेत चन्दन, अगर, तेजपात, दारुहल्दीकी छाल, मुलहठी, खरैंटी, कमल, छोटी इलायची, बायबिडङ्ग, बेल छाल, नीलोफर, नेत्रवाला, खस, जंगली मोथा, दालचीनी, नागरमोथा, कृष्णसारिवा, शालपर्णी, जीवन्ती, पृश्नपर्णी, देवदारु, शतावरी, रेणुकबीज, बड़ी कटेली, छोटी कटेली, वन-तुलसी, कमलकेशर, इन २७ ओषधियोंको ३०-३० तोले लेकर जोकुट करें। फिर ८ गुना जल मिलाकर क्वाथ करें। चतुर्थांश जल शेष रहनेपर उतारकर छान लें। पश्चात् १८० तोले तिल-तैल और क्वाथका नववाँ हिस्सा जल (अर्थात् १८० तोले) मिलाकर पाक करें। पानी जल जानेपर पुनः १८० तोले क्वाथ मिलावें। इस रीतिसे ९ बार क्वाथ मिलाकर तैल पाक करें। दशवीं बार बकरीका दूध १८० तोला मिला, यथाविधि पाककर तैल छान लें।

इस तैलका नस्य यथाविधि एक एक दिन छोड़कर ७ बार करानेसे तथा पथ्य पालन करनेसे मस्तिष्कके वात, पित्त, कफ दोष दूर होते हैं; तथा

इन्द्रियोंके बलकी वृद्धि होती है।

यदि स्वस्थ मनुष्य इस तैलका नस्य प्रतिवर्ष प्रावृट् ऋतु (आषाढ़ श्रावण), शरद् ऋतु (कार्तिक-मार्गशीर्ष) और वसन्त ऋतु (फाल्गुन-चैत्र) में जब आकाशमें बादल न हों तब करते रहें तो नेत्र, घ्राणेन्द्रिय और श्रवणेन्द्रियकी शक्ति क्षीण नहीं होती, तथा बाल नहीं गिरते, प्रत्युत बढ़ते जाते हैं। मन्यास्तम्भ, शिरःशूल, अर्दित, हनुग्रह, पीनस, आधाशीशी और शिरकम्प आदि रोग शमन हो जाते हैं। नस्य कर्मद्वारा तर्पित हो जानेसे शिर और कपालकी शिराएँ, सन्धियां, स्नायु और कण्डरायें अधिक सुदृढ़ हो जाती हैं। मुख प्रफुल्लित और तेजस्वी होता है। स्वर मधुर, स्थिर और सबल बन जाता है। समस्त इन्द्रियाँ बलवान् बनती हैं। गलेके ऊपर सहसा रोगकी उत्पत्ति नहीं होती। वृद्धावस्थामें भी मस्तिष्क, नेत्र आदि इन्द्रियाँ और मुखपर वलीपलित आदि लक्षण या जराके बलका प्रभाव नहीं पड़ता।

अवपीड़नस्यके अधिकारी—गलेके ऊपरके मार्गके रोग, विषमज्वर, सन्निपात, विषप्रकोप, सन्यास (मूर्च्छाका एक प्रकार), मूर्च्छा, मोह, अपतन्त्रक (हिस्टीरिया), भेद, अपस्मार, शोक, उन्माद, दुःख, चिन्ता, क्रोध, भय, मानसिक विकार, भ्रम, व्याकुलता और वेशुद्धि दूर करनेके लिए अवपीड़ नस्य दिया जाता है।

पीपल, कायफल, वायविडङ्ग, नकछिकनी आदि ओषधियोंका क्वाथ अथवा स्वरसके ४-६ बूंद नाकमें डालनेको अवपीड़ नस्य कहते हैं।

इसमें शोधक और अवलम्बक दो भेद हैं। इनमें रक्तपित्त आदि रोगोंमें स्तम्भन अवपीड़ और शेष रोगोंमें शोधक और उत्तेजक नस्य उपकारक माना गया है।

प्रधमन नस्य—सर्पदंश, मृगी और हिस्टीरिया जन्य मूर्च्छावस्था, विषप्रकोप और कृमिरोगमें तीक्ष्ण चूर्णोंको नलीद्वारा नाकमें फूँकना या ऊपर चढ़ाना, यह प्रधमन नस्य कहलाता है। सैंधानमक, सफेद मिर्च, सरसों और कूठको बकरेके मूत्रकी भावना देकर तैयार किया हुआ चूर्ण, अथवा पीपल, सुहिंजनेके बीज, वायविडङ्ग और श्वेत मिर्चका चूर्ण या नौसादर और चूना मिलाकर सुँघाना, अथवा इतर शुद्धि लानेवाली उग्र ओषधिका नस्य देना, ये सब प्रधमन नस्य हैं। इस नस्यका फल रोगीको शुद्धिपर लाना, उतना ही है।

ऐलोपैथीमें नस्योपचार (Inhalation)

आयुर्वेदके समान ऐलोपैथीमें भी निम्न रोगोंमें श्वासद्वारा औषधोपचार किया जाता है।

१. कण्ठ, बृहत् श्वासनलिका (Trachea) और श्वास नलिका शाखा

(Bronchus) का प्रदाह होनेपर, जुकाम और इन्फ्लुएञ्जा आदिमें रोग दमनार्थ।

२. फुफ्फुसके भीतर रक्ताभिसरण बढाकर वहाँपर संगृहीत कफको मुक्त करा, या कमी करा, क्षय और कास आदि रोगोंके दमनार्थ।

३. श्वास रोगमें।

४. संमोहिनी देकर बेहोशी लानेके लिये।

५. मस्तिष्क विकारमें तत्काल लाभ पहुँचानेके लिए।

६. हृद्रोग आदि कतिपय रोगोंमें रक्ताभिसरण क्रियाको सबल बनानेके लिए।

श्वसन संस्थानमें उत्तेजनार्थ—मेन्थोल सुंघाते हैं। एवं नीलगिरी तैलको रूमालपर या उबलते जलमें मिलाकर सुंघाते हैं। भीतर पूय होनेपर कार्बोलिक एसिड, क्रियोसोट, आयोडिन, लोहबान सत्व, देवदारूका तैल (Pineoil) आदि कीटाणुनाशक द्रव्यकी बाष्प उचित मात्रामें सावकाश देते हैं।

कास, श्वास और प्रतिश्यायमें लोहबान अर्क १ ड्रामको उबलते हुए जल १ पिण्टमें मिलाते हैं अथवा प्रतिश्यायमें लोहबान अर्क और नीलगिरी तैल १०-१० बूंद मिलाकर सुंघाते हैं। एवं इन्फ्लुएञ्जामें मेन्थोल २॥ ग्रेन और लोहबान अर्क १ ड्राम मिलाते हैं।

क्षय रोगमें निम्नानुसार औषधि मिलाकर सुंघाते हैं।

क्रियोसोट (Creosote) १० बूंद।
एसिड कार्बोलिक (Acid Carbolic) १० बूंद।
टिंचर आयोडिन (Tincture Iodine) ५ बूंद।
स्पिरिट ईथर (Spirit Aetheris) ५ बूंद।
स्पिरिट क्लोरोफार्म (Spirit Chloroform) १० बूंद।
गरम उबलता हुआ जल २० औंस।

इस तरह और भी अनेक प्रकारकी ओषधियोंकी वाष्प दी जाती है। एवं फुफ्फुसमें पूय होनेपर वर्नी-योओके यन्त्रसे भी ओषधि सुंघाई जाती है।

सूचना—नेत्रमें बाष्प न चली जाय यह सम्हालना चाहिये।

मूर्च्छा अथवा बेहोशी (Fainting and syncope) आनेपर चेतना लानेके लिए स्मेलिङ्ग साल्ट (Smelling salt) सुंघाते हैं। आयुर्वेदमें प्याजको काटकर तुरन्त सुंघानेका उद्देश्य भी यही है। इसे भी सावकाश और योग्य परिमाणमें सुंघाना चाहिए।

हृदयमें प्रबल शूल चलनेपर अमिल नाइट्रेट (Amyl nitrate) सुंघाया जाता है। इसकी ३-३ बूंदकी केपशूल आती है। उसे रूमालमें रख दबाकर

तोड़ देते हैं। इसका श्वास मार्गमें प्रवेश होनेपर तत्काल शूल निवृत्त हो जाता है।

श्वास रोगमें कफ अधिक संगृहीत होनेपर धतूरे या राजधतूरेके पानोंके चूर्णको बीड़ीमें डालकर धूम्रपान कराया जाता है।

कफकासमें—वाष्प देनेके लिए रोगीके पलंगके चारों ओर मोम लगाया हुआ मोटा कपड़ा बांधकर तम्बू सदृश बना लेते हैं। फिर उसके भीतर अंगीठी-पर रखी हुई या उबलते हुए जलकी केटली या सुराही भगोनेमें रख, उसमेंसे रबरकी नलीद्वारा वाष्प छोड़ते हैं।

इस केटलीके भीतर जलमें मेन्थोल या लोहबान अर्क या अन्य ओषधि मिलाते हैं, जल २ घण्टे चले उतना भरते हैं।

सूचना—वाष्प मुंह या शरीरपर न लग जाय यह सम्हालें। रोगी बालक हो, तो वह जल न जाय यह भी सम्हालना पड़ता है।

फुफ्फुसप्रदाहपर—फुफ्फुसके ऊपरमें प्रदाह होनेपर नेल्सनके चीनी-मिट्टीके वाष्पयन्त्र (Nelson's inhalar) का उपयोग अधिक सुविधाजनक है। इसमें २ पिण्ट उबलता हुआ जल लगभग आधा भाग भरते हैं और १-२ ड्राम लोहबान अर्क या अन्य ओषधि मिला लेते हैं। उस पात्रके चारों ओर फ्लेनलकी थैली रखते हैं। फिर सबको अन्य चीनी मिट्टीके पात्रमें रखकर रोगीको देते हैं। उस पात्रकी काचकी टोंटीको होठ लगा मुंहसे श्वास खेंचकर नाकसे बाहर निकालनेको कहें। बार-बार टोंटीको धोकर कीटाणु रहित करते रहें। उपचार होनेपर रोगीको वस्त्र ओढाकर शान्त लेटा देवें। शीतल वायु न लगने देवें।

सूचना—मुंह लगानेकी नली हो, उसपर गोज लपटनेसे मुंह नहीं जलेगा। उष्णताके निर्णयार्थ सुराहीमें थर्मामीटर रखना चाहिए।

फुफ्फुसमें पूयोत्पत्ति होनेपर—क्षयरोगकी द्वितीया और तृतीयावस्थामें एवं अन्य पूयप्रधान रोगोंमें बर्नी-यीओ (Burney-yeo) के पात्रका उपयोग किया जाता है। इस यन्त्रके भीतर ओषधिका फोहा रखा जाता है। विशेषतः स्पञ्जपर क्रियोसोटकी २ बूंदें डाल, अहोरात्र कानपर ऐनकके समान लगाकर उसकी औषधद्वारा श्वसन कराते हैं।

शुष्क कास आदि रोगोंमें—वेगके शमनार्थ नाक और कण्ठमें सब जगह ओषधि फव्वारे (Spray) से ओषधि छिड़कते हैं। कोकेन स्प्रे देनेपर उस स्थानकी वात वाहिनियोंमें शून्यता आजाती है। फिर बार-बार वेग उत्पन्न नहीं होता। स्प्रेके समान सूखी ओषधिका चूर्ण छिड़कना हो, तो वह भी इन्सफ्ले-टर (Insufflator) में रखकर उड़ाते हैं।

प्राणवायुका श्वसन कराना—जब रक्ताभिसरण ठीक नहीं होता, श्वसन-क्रिया कष्टसे हांफते हांफते होती है। ऐसी स्थिति रक्तमें रक्ताणु और रक्त रञ्जकी न्यूनता होने तथा न्यूमोनिया आदि फुफ्फुस रोगोंमें मानसिक आघात (Shock) होनेपर होती है, ऐसी अति विषम परिस्थितिमें प्राण वायुका श्वसन कराया जाता है, जिससे रोगीको विश्रान्ति मिलती है, शारीरिक व्यापार उत्तम रीतिसे चलने लगता है, मस्तिष्क उत्साहित होता है। एवं अन्य महत्त्वके उपचारोंको अति सहायता मिल जाती है।

इस कार्यके लिए लोहेके अनृतवानों (Steel Cylinders) में प्राण वायु दबावके नीचे अनेक गेलन भरी जाती है। शहरवासी आवश्यकतापर किरायेसे लेजाते हैं। एक सिलिण्डरमें सामान्यतः ४० से १०० घन फुट वायु रहती है। इस सिलिण्डरमें रबरकी नली लगाकर मुंहके पास लाते हैं। इस सिलिण्डरके साथ वायु-वहनपरिमाणदर्शक (Flow meter) और प्राणवायु मापन-यन्त्र (Meter) रहता है।

प्राणवायु अति कम मात्रामें छोड़ा जाता है। अधिक मात्रा होजानेपर श्वासवाहिनीमें दाह होता है। इसलिए प्राणवायुमें आर्द्रता लाने और उसे गरम करनेके लिए प्राण वायुके बुदबुदे सुराईमें रखी हुई उष्ण जल पूरित बोतल (Wolf's bottle) से निकलवाकर श्वसनके लिए देते हैं। जलमें डुबानेवाली नलीके साथ सिलिण्डरकी ओरकी रबरकी नली जोड़कर मुंहके पास लाते हैं और चोंगेसे वायु देते हैं। किन्तु उसमें बहुत वायु व्यर्थ चली जाती है। अतः सूक्ष्म कैथेटरों या साइकलके वाल्वकी रबरकी नलीको जोड़ नासापुटोंमें डाल उनमेंसे प्राण वायुको छोड़ते हैं। कैथेटरोंको कपालपर पट्टी बांधकर स्थिर करते हैं। इसमें भी नाकको कष्ट पहुँचता है। इस हेतुसे कभी कभी विशिष्ट तम्बू (Oxygen tent) द्वारा देते हैं।

सूचना—प्राण वायु प्रत्येक मिनटमें ४-६ लिटर भीतर जाय; उस तरह योजना करें। नापके ६ घन फीटके ४.५४५ लिटर अथवा ४५४५ सी०सी० प्राण वायु होती है।

रोगीके लिये सबसे अधिक सुविधा वाला हैल्डनका यन्त्र (Haldanes apparatus) है। इसमें एक ओरसे प्राणवायु प्रवेश करती है और दूसरे वाल्वसे निःश्वासकी वायु बाहर निकलती रहती है। इसका उपयोग प्रलाप (Delirium) पीड़ितोंके लिये नहीं हो सकता।

प्राणवायुका तम्बू—इसके भीतर ४० से ६०% प्राण वायु डाल सकते हैं। तम्बूमें शिर रहता है, शेष अवयव बाहर रहते हैं। तम्बूके भीतरसे रोगी बाहर देख सकता है; उसे घबराहट नहीं होती। तम्बूमें थर्मामीटर लगा रहता

है। एवं बाहरसे खाने पीनेके पदार्थ देनेकी सुविधा भी होती है।

(८) धूम्र पान विधि

शास्त्रकारोंने कफ और वात रोगोंकी अनुत्पत्ति अर्थ और उत्पन्न रोगोंको नष्ट करनेके लिये धूम्रपान लिखा है। किन्तु वर्त्तमानमें मर्यादारहित तमाखूके धूम्रपान (वीड़ी, सिगरेट, हुक्का, चिलम आदि) से नाना प्रकारके रोगोंकी उत्पत्ति दृष्टिगोचर हो रही है। अत: भावी रोगोंकी अनुत्पत्तिके लिये इस दुर्व्यसनके जालमें फँसना, यह अति हानिकर माना जाता है। रोगशमनके लिये कदाच आवश्यकता हो, तो शास्त्रोक्त विधि अनुसार हितकर ओषधियोंकी वर्ति तैयार करा, थोड़े दिन सेवन कर लेनेमें आपत्ति नहीं है। यद्यपि प्राचीन पद्धतिका धूम्रपान बहुधा वर्त्तमानमें कोई नहीं करते, तथापि रोगके हेतुसे किसीको उपयोग करना हो, तो कर सके, इस हेतुसे अत्र विवेचन किया है। इस धूम्रपानके ५ प्रकार हैं।

१. प्रायोगिक—कफको पतला करने और बाहर निकालने तथा वातको शमन करनेवाला धूम्र। इसे शमन धूम्र और मध्यम धूम्र भी कहते हैं।

२. स्नेहन—स्निग्धता पहुँचाने और वातको शमन करनेवाला धूम्र। इसका पर्याय नाम बृंहण और मृदु भी है।

३. विरेचन—अपने रूक्ष, तीक्ष्ण और उष्ण गुणके हेतुसे कफको पिघलाकर बाहर निकालने वाला धूम्र। इसका नामान्तर शोधन और तीक्ष्ण भी है।

४. कासहर—कफ, कास, कंठरोग और हिक्काका नाश करनेवाला धूम्र।

५. वामनीय—छाती और कंठमें चिपके हुए कफको पतला करके बाहर लानेवाला धूम्र।

विधि—इस शास्त्रीय धूम्रपानके लिये कनिष्ठिका उँगली जैसी मोटी सोना, चाँदी, ताम्बा आदि धातुकी नली ३ स्थानसे घूमी हुई, अग्रभागमें मटर जितने छिद्रवाली, मूलमें अंगुष्ठ समान मोटी और जिनमें धूम्र द्रव्यकी बत्ती आ सके, ऐसे छिद्रवाली बनानी चाहिये। अथवा हुक्केको ही प्रयोगमें लावें। वर्त्ति प्रायोगिक धूम्रके लिये ३६ से ४८ अंगुलकी लंबी, स्नैहिकके लिये ३२ अंगुल; वैरचनिकार्थ २४ अंगुल; कासहर और वामक धूम्रके लिये १६-१६ अंगुल लम्बी बनावें।

धूम्रका सेवन स्वस्थ बैठकर, प्रसन्न चित्तसे नीचे दृष्टि रख, सावधान होकर करना चाहिये। पहले धूम्र द्रव्योंकी वर्त्तिको थोड़ा घृतवाला हाथ लगा, वर्त्तिकी नोकको अग्निसे जला, नलीके ऊपरके छिद्रमें रखकर धूम्रपान करें। पहले मुँहसे धूआँ खींचें। फिर नाकके एक-एक छिद्रसे खींचें। तथा मुख और नाकसे

खींचे हुए धूँएको मुखसे ही निकालें। नाकसे कदापि न निकालें; अन्यथा नेत्रदृष्टिको हानि होती है।

इन धूम्रपानोंमेंसे प्रायोगिक धूम्रपान विशेषतः नाकसे; स्नेहन मुख और नाक दोनोंसे; वैरेचनीय धूम्र नाकसे ही; तथा वामनीय और कासघ्न धूम्र मुखसे ही सेवन करें।

हृदय और कण्ठमें दोष संचित होनेपर पहले नाकसे, फिर मुँहसे धूम्रपान करें। मस्तिष्क, कण्ठ, नाक और नेत्रमें दोष हो तो नाकसे ग्रहण करें। स्नेहन धूम्र हृदय और कण्ठके दोषमें मुख और नाकसे; तथा मस्तिष्कमें दोष हो, तो केवल नाकसे लें।

सूचना—वामनीय धूम्र कदापि नाकसे न लें।

प्रायोगिक धूम्रको ३ समय नाकसे खींचें। स्नेहन धूम्र ३-४ समय खींचें। वैरेचनीय धूम्रमें जल आवे तबतक खींचते रहें। वैरेचनीय धूम्र लेनेके पहले तिल और चावलकी पतली काँजी पिलावें; किन्तु कासघ्न धूम्र भोजनके प्रत्येक ग्रासके साथ लेते रहें। इस रीतिसे धूम्र ३ से ६ समय तक लेवें। स्नेहन धूम्र दिनमें १ बार, प्रायोगिक २ बार और तीक्ष्ण धूम्र ३-४ बार सेवन करें।

वर्त्ति बनानेकी विधि—पहले मुञ्ज (सरकंडे) की शलाकाओंको १२-१२ अंगुल लम्बी काटकर ऊपरसे साफ करें। फिर बत्तीकी ओषधियोंके खूब महीन चूर्णको जलके साथ मिला, अच्छी रीतिसे खरलकर कल्क बनावें। पश्चात् सणके ८ अंगुल लम्बे और ३ अंगुल चौड़े कपड़ेपर १ तोले कल्कको फैला, उक्त मुञ्ज शलाकापर दोनों ओर २-२ अंगुल छोड़कर १ बार लपेट लें। फिर सम्हालपूर्वक छायामें सुखा, बीचमेंसे मुंजशलाका निकाल लें। इस वर्तिकी नोकको जला, नलीमें रखकर धूम्र पीवें। धूम्र लेनेके समय बीचमें घी मिलाई हुई बत्ती रखें।

प्रायोगिक वर्त्ति—छोटी इलायची, जटामांसी, दालचीनी, तेजपात, नागकेशर, प्रियंगु, रेणुका, खुरासानी अजवायन, थुनेर, सरल वृक्षका गोंद, लौंग, गठौना, नेत्रवाला, गूगल, राल, गंधाबिरोजा, अगर, कपूरीमाधुरी, खस, देवदारु, केसर और कमल केशर आदि ओपधियोंको मिला, कूट, जलसे खरल-कर बत्तियाँ बना लें।

स्नेहन वर्त्ति—नारियल या एरण्डके बीजका मगज, मोम, राल, गूगल और घृत मिलाकर बत्तियाँ बना लें। घृत बत्ती बन सके उतना ही मिलावें।

वैरेचनिक वर्त्ति—कायफल, वायविडङ्ग, सुहिंजनेके बीज, सूर्यफलके बीज, मकोयके बीज, पीपल, राई तथा तुलसी, जङ्गली तुलसी और अपामार्गके बीज आदि शिरोविरेचनीय ओपधियोंमेंसे तैयार करें। यदि तीक्ष्ण गुणके लिये

बनाना हो, तो मालकाँगनी, हल्दी, दशमूल, मैनशिल, हरताल, लाख, पाटला, त्रिफला और सुगन्धि द्रव्योंको भी मिला लें।

कासघ्न वर्त्ति—बड़ी कटेली, छोटी कटेली, त्रिकटु, कसौंदी, हींग, हिंगोट, दालचीनी, मैनसिल, गिलोय, काकड़ासिंगी आदि कफघ्न ओषधियोंसे तैयार करें।

वामनीय वर्त्ति—मैनफल आदि वामक ओषधियोंसे बनावें; या स्नायु, चर्म, खुर, सींग, केंकड़े, अस्थि, सूखी मछली और सूखे मांस आदिमेंसे तैयार करें।

प्रायोगिक, स्नेहन और विरेचन वर्तिके भीतरकी शलाका निकालकर धूम्रपान करें। कासघ्न और वामनीय धूम्रपानके लिये एक सरावमें गोबरी या लकड़ीके अंगारे रख, उनपर बत्तीकी ओषधि डालें। फिर बीचमें छेद किये दूसरे सरावसे ढक दें; और उसके छेदमें नलीके मूलको लगाकर धूम्रपान करें। जब तक दोषकी शुद्धि न हो, तब तक अनेक बार धूम्रपान करें।

धूम्रपान समय—मल-मूत्र त्याग, छींक, क्रोध और मैथुनके पश्चात् स्नेहन धूम्रपान; स्नान, वमन और दिनमें शयनके पश्चात् वैरेचनीय; तथा दाँतुन, नस्य, स्नान, भोजन और शस्त्रकर्मके पश्चात् प्रायोगिक धूम्रपान करें। इन समयोंमें कफ और वातका उत्क्लेशन होता है। अतः इन समयोंमें धूम्र पीना चाहिये।

कासघ्न तथा वामनीयका समय नियत नहीं है। कास आदि व्याधियोंमें कासघ्न और वमन करना हो, तो वामनीय धूम्रपान करावें।

शास्त्रीय मर्यादा अनुसार धूम्रपान करनेपर वाणी, मन और इन्द्रियोंकी प्रसन्नता होती है, केश, दाँत, दाढ़ी और मूंछ दृढ़ होते हैं, तथा मुख साफ रहता है। इनके अतिरिक्त कास, श्वास, अरुचि, मुँहमें चिपचिपापन, स्वरभंग, मुंहसे लार गिरना, मुंहमें पानी भर जाना, तन्द्रा, अति निद्रा, हनु (ठोड़ी) और ग्रीवा जकड़ना, पीनस, शिरोरोग, कर्ण और नेत्रके शूल, वात और कफके इतर रोग तथा मुख रोग नष्ट होते हैं।

धूम्रपान फल—धूम्रपानसे रोगकी सम्यक् प्रकारसे शान्ति होना, कोई उपद्रव नहीं होना, यह सम्यक् योग है। तालुशोष, (कर्णशोष), दाह, तृषा, मूर्च्छा, भ्रम, मद, कर्ण, नेत्र-दृष्टि और नासिकामें रोग हो जाना, निर्बलता आ जाना आदिको अयोग और अति योग जानें।

इस धूम्रका व्रणके शोधन-रोपणके लिये भी उपयोग होता है। उसे व्रण धूपन कहते हैं। व्रणको धूंआँ देनेके लिये एक सरावमें अग्नि रख ऊपर ओषधि डालें। फिर छिद्रवाला दूसरा सराव ऊपर रख, उसके छिद्रमें नली रखकर धूंआँ दें। इस धूम्रसे सत्वर जन्तु मर जाते हैं, पीड़ा शमन होती है; तथा व्रण

साफ होकर सूख भी जाता है।

इसके अलावा अनेक प्रकारके धूम (धूप), जीर्णज्वर, क्षय, बालग्रह, ग्रन्थि, सन्निपात (प्लेग), विसूचिका (कॉलेरा), कर्णपीड़ा, दन्तकृमि आदि रोगोंके नाशार्थ उपयोगमें लिये जाते हैं। इनमेंसे कतिपय प्रयोग रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रहके अन्तिम प्रकरणमें दिये हैं।

धूम्रपानके अनधिकारी—शोक, श्रम, भय, क्रोध, उष्णता, विषप्रकोप, रक्तपित्त, मद, मूर्च्छा, दाह, तृषा, पाण्डुरोग, शोष, वमन, उरःक्षत, क्षय, उदर, प्रमेह, तिमिर, ऊर्ध्ववात, आफरा, रोहिणी (जिह्वा मूलपर शोथ), पांडुरोग, इन रोगोंसे पीड़ितोंको धूम्रपान न करावें। एवं विरेचनके पश्चात् आस्थापन वस्ति दी हो; मत्स्य, मद्य, दही, दूध, शहद, घृत, तैल, या यवागू इनमेंसे कोई एक पदार्थ जिसने सेवन किया हो; जिसके शिरमें चोट लगी हो, उपवासी, १२ वर्ष (वाग्भट्टाचार्यके कथनानुसार १८ वर्ष) से कम आयुवाले, वृद्ध, सगर्भा, शुष्क मनुष्य, क्षीण, जिनके शरीरमें कफ अधिक न हो और रात्रि जागरण करनेवालेको धूम्रपान नहीं कराना चाहिये।

असमयपर या अधिक धूम्र पीनेसे रक्तपित्त, आन्ध्य, बहिरापन, तृषा, मूर्छा, मद या मोह उत्पन्न होजाते हैं। ऐसा होनेपर दुग्धपान, घृतपान और इतर नस्य, लेप, परिषेक आदि शीतोपचार करें।

भयभीत, क्रोधी और शोकातुर धूम्रपान करे, तो उनको आन्ध्य, भ्रम और निर्बलता आ जाती है। सूर्यके तापमें परिश्रम करके धूम्रपान करे, तो निर्बलता, तृषा, शोष और मोह विकार उत्पन्न होते हैं। क्षीण शुक्रवाले धूम्रपान करे, तो उनको क्षय और वातपित्तज व्याधियाँ हो जाती हैं। रक्तशोष और पित्तप्रकोपके रोगी धूम्रपान करे, तो उनके वे ही रोग दिनोंदिन बढ़ते जाते हैं। तृषा रोगी धूम्रपान करे, तो उनके तालुमें त्वचा फट जाती है। ज्वर और मदात्यय रोगी या शराब पीनेपर धूम्रपान करे, तो मूर्च्छा, तृषा, शोष, दृष्टिनाश और शिरदर्द आदि व्याधियाँ हो जाती हैं। रात्रिको जागरण करने वाले धूम्रपान करे, तो उनको शिरोरोग हो जाता है; और वातवहानाड़ियोंमें विकृति होती है। धूम्रपानसे तिमिर वालेको दृष्टिनाश; व्रण रोगीको अधिक व्रणकी उत्पत्ति; तथा गर्भिणीको शोष, गर्भ निर्बल होना, दाह और इन्द्रिय व्यथा आदि रोग हो जाते हैं। शराबीको धूम्रपान करते रहनेसे नाकमें शोष, पित्तप्रकोप, निद्रानाश, मगजकी विकृति और त्वचा विकार हो जाते हैं। दही, तैल, घृत, दुग्ध और मत्स्य आदि विरुद्ध गुणवाला भोजन करके धूम्रपान करने वालेको अन्धता, मूर्च्छा, हृदयमें पीड़ा और उबाक रोग उत्पन्न होते हैं।

(९) गण्डूष, कवल और प्रतिसारण विधि

प्राचीन आचार्योंने नित्यप्रति दाँतुन करके तैलके गण्डूष (कुल्ले-Gargles) करनेकी आज्ञा की है। इस क्रियासे हनुबल, स्वरबल, मुखकान्ति, रसज्ञान, रुचि और दाँतोंकी दृढ़ता, ये सब लाभ होते हैं। मुखपाक, कण्ठशोष, होठ फटना, दन्तक्षय, दन्तशूल, दन्तहर्ष या इतर मुखरोग कदापि नहीं होते।

रोग हो जानेपर नाना प्रकारकी ओषधिके रस, तैल आदिके गण्डूष, कवल और प्रतिसारणका सेवन कराया जाता है। इनमें गण्डूष और कवल ओषधि मुँहमें धारण की जाती है; तथा प्रतिसारणसे मुख, जिह्वा और दन्तपर लेप या घर्षण किया जाता है।

मुँहको पूरा ओषधि द्रवसे भर देना, उसे गंडूष (कुल्ला) और सुखपूर्वक घुमा सके उतनी ओषधि (कल्क आदि) को धारण करना उसे कवल (ग्रास) कहते हैं। कुल्ले करनेके लिये दूध, क्वाथ और तैल आदि द्रवका एवं कवल-धारणार्थ विशेषतः कल्कका उपयोग होता है।

गंडूष और कवलको जब तक सहन हो सके, या मुँहमें कफ आजाय, अथवा भीतरके दोषका छेदन होने तक, अथवा नेत्र और नाकमेंसे पानी गिरने लगे और गलेमें कफ आ जाय तब तक मुखमें धारण करें; अर्थात् स्वस्थतापूर्वक कपाल, कण्ठ और गालपर प्रस्वेद आजाय, या दोष नष्ट हो जाय तब तक ओषधि धारण करें। इस तरह ३-५ या ७ कुल्ले करें।

गंडूष और कवलके ४-४ प्रकार हैं। स्नेहन (वातशमनार्थ), शमन (पित्त-शमनार्थ), शोधन (कफशमनार्थ) और रोपण (व्रणके लिए)। इनमें शमनको प्रसादी भी कहते हैं। जब वात अधिक हो, दन्तहर्ष या दन्त कृमि हो, तब स्निग्ध और उष्ण ओषधियोंके; पित्ताधिकतामें मधुर और शीतल ओषधियोंके; कफकी वृद्धिमें चरपरी, खट्टी, नमकीन और उष्ण ओषधियोंके; तथा व्रण होनेपर निवायी, कसैली, कड़वी और मधुर ओषधियोंके गण्डूष और कवल धारण करें।

इनमें कवलकी ओषधिको धारणके समयके पश्चात् चबाकर थूक देना चाहिये; गण्डूषमें ओषधिका चूर्ण या कल्क ६ माशे और कवलमें १ तोला कल्क लेवें।

वातशामक गण्डूष—तिल कल्क, तिल तैल, दूध और जल मिलाकर गण्डूष धारण करावें; अथवा मांसरस या इतर वातघ्न ओषधियोंके तैल, क्वाथ आदिका उपयोग करावें।

पित्तशामक गण्डूष—घी, दूध, मिश्री, कमल, तिल, शहद आदि ओषधियाँ मिलाकर गण्डूष करावें।

दुर्गन्धशमनार्थ—कांजीका गंडूष करनेसे मुखकी विरसता, मल और दुर्गन्ध दूर होती है।

शोषशमनार्थ—नमक मिली हुई कांजीका गंडूष धारण करें।

विषविकार या क्षारप्रकोपपर—घी या दूधके गंडूष धारण करनेसे चूना, क्षार, तेजाब या विषप्रभावजन्य मुखपाक, दाह और जीभ फटना आदि विकार शमन होते हैं।

मुखपाकनाशार्थ—१-शहद धारणसे दाह और तृषासह मुखपाक दूर होता है।
२—जातिपत्रादि क्वाथ (रसतन्त्रसारोक्त) में शहद मिलाकर गण्डूष धारण करनेसे त्रिदोषज मुखपाककी भी निवृत्ति होती है।

विरसतानाशार्थ—निवाये जलके कुल्ले करनेसे चिपचिपापन और विरसता दूर होकर लघुता आती है।

कवल धारण विधि—कफनाशके लिये त्रिकटु, वच, सरसों और हरीतकीका कल्क बना, घृत, तैल, काँजी, शराब, गोमूत्र, क्षार, दूध, जल या शहदमेंसे रोगानुसार हितकारक वस्तु मिला, मथ, थोड़ा नमक डालकर तैयार करें। पश्चात् रोगीके कंठ, कपोल और कपालको थोड़ा स्वेदित कर, उनपर थोड़ा सेक और मर्दन कर, फिर, कवलको निवायाकर धारण करावें।

कवल फल—कवलके योग्य धारणसे व्यंग, असमयमें पलित रोग, तिमिर और मुँहपर दाग आदि व्याधियोंका घटना; तथा तृप्ति, मुखशुद्धि, हल्कापन और इन्द्रियोंमें प्रसन्नता आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

हीनयोग होनेपर भारीपन, कफका उभार, रसका ज्ञान पूरा न होना आदि विकार उपस्थित होते हैं; एवं अतियोग होनेपर मुखपाक, शुष्कता, तृषा, अरुचि, ग्लानि आदि चिह्न होते हैं। विशेषत: ये लक्षण शोधनीय कवलमें उत्पन्न होते हैं।

दाहनाशक कवल—तिल, नीलकमल, घृत, शक्कर, दूध आदिमें शहद मिलाकर कवल ग्रहण करनेसे मुँहमें दाह, फाला, जीभ कटजाना आदि पित्त विकृतिजन्य दोष तथा, विष, क्षार या अग्नि जनित दग्धविकार दूर होते हैं।

सूचना—गण्डूष और कवल ५ वर्षसे छोटी आयुवाले, अति वृद्ध, पीनस, अजीर्ण, हनुग्रह और अरुचिवाले रोगियोंको तथा नस्य लेनेपर और जिसने जागरण किया हो, उनको नहीं करना चाहिये।

प्रतिसारण विधि—मुखरोगमें रोगानुसार जिह्वा और दांतोंको घिसनेके लिये कल्क, रसक्रिया (काढ़ेको औटाकर अवलेह समान बनाया हुआ),

शहद और चूर्ण, ये ४ प्रकारकी ओषधियाँ प्रतिसारण रूपसे उपयोगमें आती हैं। ओषधियोंको दत्तौन, ब्रुश या उँगलीपर लगाकर ५-७ या ९ समय घिसना चाहिये।

प्रतिसारण फल—प्रतिसारण प्रयोगसे मुखकी दुर्गन्ध, विरसता, शोष, तृषा, अरुचि और दन्तपीड़ा नष्ट होते हैं; तथा कण्ठ तकके कफ और मल खिंचकर बाहर आजाते हैं।

हीनयोगसे रसज्ञानका ह्रास और कफ प्रकोप होता है; तथा अतियोगसे मुखपाक, मुखशोष, तृषा, वमन, कण्ठदाह, अथवा ग्लानि उत्पन्न होती है।

प्रतिसारणरूपसे कफनाशार्थ कफघ्न और मुखपाक दूर करनेके लिये गण्डूष और कवलमें कही हुई दाहशामक ओषधिको प्रयुक्त करें।

दन्त प्रभाकर मञ्जन, दन्तदोषहर मञ्जन तथा जातिपत्रादि चूर्णको प्रतिसारणरूपसे उपयोग करनेसे मुख, जिह्वा, दांत और मसूड़ोंके दोष दूर होते हैं।

(१०) कर्णतर्पण विधि।

स्वस्थावस्थामें कानकी शक्ति सुरक्षित रखनेके लिए कानमें नित्यप्रति तैल डाला जाय, उसे कर्णतर्पण कहते हैं। इस क्रियाके सेवनसे वातप्रकोपज कर्णरोग, मन्यास्तम्भ, हनुग्रह, श्रवणेन्द्रियकी निर्बलता या बधिरताकी उत्पत्ति नहीं होती।

मस्तिष्क, कर्ण और कण्ठके रोगोंमें रोगशमनार्थ कानमें ओषधि भरी जाती है, उसे भी कर्णतर्पण कहते हैं। इस क्रियाके लिये रोगीको करवटसे सुला, कानपर थोड़ा स्वेद देकर कर्णके छिद्रमें तैल, निवाया मूत्र या रस भरें। नीरोगी अवस्थामें १०० मात्रा (३२ सेकण्ड) तक, कर्णरोग या कण्ठरोगमें ५०० मात्रा (लगभग २॥ मिनट) तक, और मस्तिष्क रोगमें १००० मात्रा (५। मिनट) तक ओषधि रहने दें।

यदि कर्णमें गोमूत्र या रस भरना हो तो प्रातःकाल भोजनके पहले; और तैल डालना हो तो सूर्यास्त हो जानेपर डालें।

यदि कर्णमें शूल चलता हो और पीप पैदा हो गया हो तो सैंधानमक मिला हुआ किंचित् उष्ण बकरेका मूत्र डालें।

कानमें दर्द होता हो तो अदरकका रस, शहद, सैंधानमक और तैलको मिला, निवाया करके डालें।

लहशुन, अदरक, सुहिंजना, लाल सुहिंजना, मूली या केलेका खंभा, इनमेंसे किसी एक ओषधिका रस या सबके रसको मिला, निवायाकर कानमें

डालनेसे वेदना दूर होती है।

कानमें शूल चलता हो, तो आकके पीले पत्तोंको घीसे चुपड़, निर्धूम मन्दाग्निपर सेक, निचोड़कर रस कानमें डालें; या सुहिंजनेके गोंदके चूर्णको मिला, गरम करें। फिर छान, निवाया रहनेपर कानमें डालनेसे कर्णशूल दूर होता है।

सूचना—यदि कर्णमें जल हो तो तैल नहीं डालना चाहिए; एवं कर्णपाक होना प्रारम्भ हो गया हो तो भी तैल नहीं डालना चाहिए।

कर्णपाकज शूल होनेपर वच्छनाभका लेप करें, कानके पीछे जलसे सेक करें, तथा सत्वर पकानेवाली, ओषधिका रस डालें या वेदनाहर अफीम अर्क आदि ओषधि डालें।

(११) नेत्र शोधन क्रिया

नेत्रकी शुद्धि और शक्तिवृद्धिके लिए सेक, आश्च्योतन, पिण्डी, बिडाल, तर्पण, पुटपाक और अञ्जन क्रियाओंसे उपचार किया जाता है।

सेक—सेकके दो प्रकार हैं। धारा सेक और उपनाह। इनमें नेत्रको बन्द कर ऊपर प्रवाही ओपधियोंकी धारा डालें वह धारा सेक; और ओषधियोंको कपड़ेमें (पोटली) बांध, निवायाकर, सेक करनेको उपनाह सेक कहते हैं।

धारा सेक—इस सेकके स्नेहन, रोपण और लेखन भेदसे ३ प्रकार हैं। वातरोगमें घृत आदिकी धारा डालें। यह स्नेहन सेक; पित्त और रक्तकी वेदनामें त्रिफला आदिके हिमकी धारा डालें, वह रोपण सेक; तथा कफप्रकोपमें मल-दोषको निकालनेके लिए सोंठ, कालीमिर्च आदिके क्वाथकी धारा डालें वह लेखन सेक कहलाता है। यह धारा प्रायः प्रातःकाल ही डाली जाती है; तथा तीक्ष्ण प्रकोपमें सायङ्काल या रात्रिको भी डाल सकते हैं।

स्नेहन सेक ६०० मात्रा (३। मिनट) तक; रोपण सेक ४०० मात्रा (२ मिनट) तक और लेखन सेक ३०० मात्रा (१॥ मिनट) तक करें। धाराको ४ अंगुल ऊंचाईसे डालें।

नव्य चिकित्साशास्त्रवाले नेत्रधूपन (Undine) में टंकणाम्ल धावन (Boric Lotion) आदि भरकर नेत्रोंको धोते हैं, वह भी धारा सेकके समान उपयोगी होता है।

इस धारा सेकसे नेत्रकी लाली, पीड़ा और शूल आदि दोष दूर होकर नेत्र स्वच्छ हो जाते हैं।

इस धारा सेक करनेके पश्चात् एरण्डके पत्तोंको कूट बकरीके दूधमें मिला,

उबाल, छानकर नेत्रपर छिड़कें अथवा उस दूधमें रुई (Absorbent cotton) के फोहे भिगो, उनको थोड़ा निवायाकर सेक करें; फिर नेत्रपर बाँध देवें और त्रिफलादिसे उदरशुद्धि रखें तो नेत्रशूल, वेदना और वातज पीड़ा नष्ट हो जाती है।

रुईके फोहेको त्रिफलाके हिम या फिटकरीके जलमें भिगो, निचोड़, गोघृतमें पूरी समान तल, फिर उस निवाये फोहेसे १०-२० मिनट तक सहन हो उतना मन्द सेककर, नेत्रपर बाँध देनेसे लाली, शूल, पीड़ा आदि शमन हो जाते हैं।

आश्च्योतन विधि—रोगीके नेत्रमें क्वाथ, स्वरस, शहद, आसव, गोघृत आदि ओषधिकी बूँदें डालनेको आश्च्योतन कहते हैं। इस आश्च्योतन विधिसे नेत्रपीड़ा, लाली, दाह, खुजली, अश्रु आना आदि दोष दूर होते हैं। लेखन क्रियाके लिये ८ बूँदें, रोपणार्थ १० बूँदें और स्नेहनके लिये १२ बूँदें डालनेका शास्त्रमें लिखा है; परन्तु वर्त्तमानमें उतनी अधिक मात्रा सहन नहीं हो सकेगी। अतः आईड्रोपरसे २ से ५ बूँदें डालें।

वातपीड़ामें कड़वी और स्नेहयुक्त ओषधिकी बूँदें थोड़ी-सी (धारोष्ण दूध समान) निवायी कर डालें। पित्तज व्यथामें मधुर और शीतल बूँदें और कफ प्रकोपमें कड़वी, गरम और रूक्ष ओषधिकी बूंदें (थोड़ी निवायी कर) डालें।

इस ओषधिको १०० मात्रा (३२ सेकण्ड) तक धारण करें। फिर साफ मुलायम कपड़ेसे पोंछकर नेत्रको साफ करें। पश्चात् कफ और वातके शमनार्थ गरम जलमें कपड़ोंको डुबोकर मृदु सेक करें।

सूचना—अधिक गरम तथा तीक्ष्ण आश्च्योतन उग्र पीड़ा और दृष्टिनाश करता है। अधिक शीतल हो, तो सुईचुभानेके समान पीड़ा और जकड़ाहट उत्पन्न करता है। अधिक परिमाणमें आश्च्योतन होनेपर जकड़ाहट, किरकिरी, नेत्र खोलनेमें कठिनता आदि दोष उत्पन्न होते हैं। अति न्यून परिमाण होनेपर रोगको बढ़ाता है। इस तरह वस्त्रसे उचित सफाई की जाय, तो शोथ और लाली उत्पन्न होती है।

नेत्रकी आमावस्थामें अतिशय वेदना, नेत्रमें लाली, खुजली, शोथ, शूल, वेदना, गरम अश्रु निकलना और मल आना इत्यादि लक्षण होते हैं। फिर जब मन्द वेदना, खुजली, शोथ, अश्रु आदि कम हो जाय, तब पक्व दशा (निरामावस्था) कहलाती है।

वातज और पित्तज नेत्ररोगमें निरामावस्था आनेपर आश्च्योतन क्रिया करें; परन्तु कफज रोगमें तो आमावस्थामें ही तीक्ष्ण ओषधिसे आश्च्योतन

क्रिया की जाती है।

वात-पित्तज आमावस्थामें आश्च्योतन क्रिया न करें। सेक, पिण्डी, लङ्घन और पाचन उपचार क्रिया जाता है।

बिल्वादिक्वाथ—वातज प्रकोपपर आश्च्योतनार्थ बृहद् पंचमूल, छोटी कटेली, एरण्डकी मूल या पत्ती और सुहिंजनाकी छाल, इन ८ ओषधियोंके क्वाथको फिल्टर पेपरसे छानकर नेत्रमें आश्च्योतन करें। इस आश्च्योतनसे वाताभिष्यंदकी व्यथा (वातजन्य नेत्रकी लाली) दूर होती है।

बिल्वपत्र स्वरसादि आश्च्योतन—बिल्वपत्रका स्वरस, समभाग घी, थोड़ा सैंधानमक और कालीमिर्चका चूर्ण मिला, ताँबेकी परातमें कौड़ीसे आध घण्टे तक घोटें। फिर बीचमेंसे ओषधिको हटाकर गोबरीकी निर्धूम अग्निको परातमें रखें। पश्चात् अग्निपर घी डाल, तुरन्त दूसरी परातसे ढक दें। कुछ देर बाद अग्निको निकाल दें। फिर ओषधिमें दूध मिलाकर नेत्रमें डालनेसे नेत्रशोथ, शूल, लाली, अधिसन्थ, पानी गिरना, नेत्रपाक, ये रोग दूर होजाते हैं।

एरण्डपत्रादि आश्च्योतन—एरण्डके कोमल पत्ते, मूल, छाल और छोटी कटेलीकी मूलको समभाग मिला ८ गुने बकरीके दूध और ८ गुने जलमें मिला, क्षीरपाक विधिसे क्वाथ कर, दुग्धावशेष रहनेपर छान, शीतलकर आश्च्योतन क्रियामें उपयोग करनेसे वातज और पित्तज लाली, वेदना, दाह और नेत्रशूल आदि व्यथा सत्वर शमन होती है।

पिण्डी विधि—ओषधियोंके कल्ककी टिकिया या पुल्टिस जैसी आकृति बना, नेत्रपर रख, ऊपर वस्त्र बाँधनेको पिण्डी-क्रिया कहते हैं। इस क्रियासे नेत्रपीड़ा शमन हो जाती है।

वातप्रकोपमें घृत मिली हुई निवायी पिण्डी; पित्तज व्याधिमें बकरीके दूध या अन्य शीतल रसयुक्त पिण्डी; और कफज व्ययामें रूक्ष ओषधियोंकी सहन हो सके ऐसी गरम पिण्डी बाँधें।

एरंडके पत्ते, मूल और छालकी टिकिया वातजको; आमलोंकी टिकिया पित्तजको; और सुहिंजनेके पत्तेकी पिण्डी कफप्रकोपको नष्ट करती है या आमावस्थाके प्रारम्भमें निम्न श्रीवासादि पिण्डी बाँधें।

श्रीवासादि पिण्डी—श्रीवास (इसे-सरलका गोंद), अतीस और लोदके चूर्णमें थोड़ा सैंधानमक मिला, पिण्डी बांध, नेत्राभिष्यन्द होनेके पूर्वरूप प्रतीत होनेपर, नेत्रपर फिराते रहनेसे नेत्रव्यथाकी उत्पत्ति ही नहीं होती।

बिडालक विधि—नेत्रकी भांफणी (पलकों) के बालको छोड़-शेष भागपर ओषधिके लेप करनेको बिडालक विधि कहते हैं। मुलहठी, सोनागेरू, सैंधा-

नमक, दारुहल्दी और रसौंतको जलमें पीस, नेत्रपर लेप करनेसे लाली, वेदना और शूल आदि शमन होते हैं।

हरड़, सोनागेरू, सैंधानमक और रसौंतको जलमें पीसकर नेत्रपर लेप करनेसे सब नेत्ररोग नष्ट होते हैं।

रसांजनादि लेप (रसतन्त्रसारोक्त) को जलमें घिस, नेत्रपर लगाने और अंजन करनेसे नेत्र लाली, शूल, व्रण, वेदना, जल गिरना और नेत्रपाक दूर होते हैं।

तर्पण विधि—सूर्यका ताप, अग्नि, तेजवायु, धुआँ, धूली आदि उपद्रवसे रहित, सुखकारक, घरमें क्रोध और भय जिसका चला गया है, जिसने वमन, विरेचन और शिरोविरेचन किया है, ऐसे रोगीको भोजन पचजानेपर सुबह या शामको स्वस्थ चित्त सुला, उड़दके आटेको जलमें सान, दोनों नेत्रोंके चारों ओर मजबूत सुन्दर १ अंगुल ऊँची; नीचे २ अंगुल चौड़ी तथा ऊपर आध अंगुल चौड़ी बाड़ बनावें। फिर १०० बार जलसे धोये घृत अथवा गोदुग्धमेंसे निकाले हुए मक्खनके घृतको गरम जलमें रख, पिघलाकर नेत्रपर पलकोंके बाल डूब जायँ, उतना भ्रू तक भर देवें। पश्चात् हरे कपड़े या पानसे ढककर सम्हालपूर्वक नेत्र खुलवावें। स्वस्थ मनुष्यको ५०० मात्रा (२॥ मिनट) तक, कफज व्याधिमें ६०० मात्रा (३। मिनट) तक, पित्तजमें ८०० मात्रा (४। मिनट) तक, और वातजमें १००० मात्रा (५। मिनट) तक धारण करें।

अथवा अन्य आचार्योंके मतानुसार सन्धिगत रोगमें ३०० मात्रा (१॥ मिनट) तक, वर्त्मगत (भाफणी के) रोगमें १०० मात्रा तक, शुक्ल भागके रोगमें ५०० मात्रा तक, कृष्णगत पीड़ामें ७०० मात्रा (३॥ मिनट) तक और नेत्रशूल या अधिमन्थ (नीला मोतिया) में १००० मात्रा (५। मिनट) तक तर्पण करें। फिर मेडमें छेद कर घृतको कोयेसे गिरा, किसी पात्रमें निकाल, नेत्रको पोंछ डालें; और भुने हुए जौ के आटे [उबटन] से शेष घृतको दूर करें। तत्पश्चात् यथा योग्य शास्त्रोक्त धूम्रपान करा, नेत्रोंमें बढ़े हुए कफका शोधन करें।

इस तर्पण विधिके सम्यक् प्रयोगसे नेत्रकी रूक्षता, पानी गलना, मैल आना, पक्ष्मके बाल चले जाना, नेत्रकी नसें लाल होना, भयंकर दाह और वेदना होना, तिमिर, अर्जुन (सफेद भागमें लाल बिन्दु होना), फूला, अभिष्यन्द (नेत्रकी-लाली), अधिमन्थ, शुष्कनेत्र, नेत्रपाक, नेत्रशोथ, वातविपर्यय जनित रोग, ये सब नष्ट होते हैं; तथा अच्छी निद्रा आना, नेत्रोंमें हलकापन, तेजी, निर्मल-वर्ण और खोलने बन्द करनेमें त्रास न होना, इत्यादि लाभ होते हैं।

तर्पणके अतियोगसे नेत्रमें भारीपन, मैलवृद्धि, अत्यन्त स्निग्धता, अश्रुस्राव, खुजली आदि दोष उत्क्लेशित हुए प्रतीत होते हैं। जो नेत्रका हीन तर्पण हुआ

हो, तो नेत्रोंसे पानी झरना, शोथ और वेदना होती रहती है; तथा नेत्रमें मैल आना, रूक्षता और लाली प्रतीत होते हैं। तर्पण न्यूनाधिक होनेपर दोषोंकी वक्रता होती है। इसलिये इनकी सत्वर चिकित्सा करनी चाहिये।

अतियोगमें रूक्ष उपचार और अल्पयोगमें नस्य, अञ्जन आदि स्निग्ध उपचार करके सत्वर दोषको दूर करें। यह तर्पणक्रिया १, ३ या ५ बार करें। स्वस्थ मनुष्यको २-२ दिन छोड़कर वातज विकारमें प्रतिदिन; पित्तज और रक्तज विकारमें १-१ दिनके पश्चात्; तथा कफप्रधान रोगोंमें २-२ दिनके बाद तर्पणक्रिया करनी चाहिए।

सूचना—बद्दल आनेपर अत्यन्त उष्ण या अत्यन्त शीतल समयमें और मानसिक चिन्ता या भ्रम होने या अन्य उपद्रव होनेपर तर्पण क्रिया न करें।

तर्पणके दिनोंसे दूने दिनोंतक पथ्य पालन करें। एवं रात्रिको मालती या मल्लिकाके पुष्पोंको नेत्रपर बाँधें।

तर्पणके अनधिकारी—जिनको नस्यक्रियाका निषेध किया है, उनके लिए तर्पण और पुटपाक क्रियाका भी निषेध है।

पुटपाक विधि—पुटपाकका उपयोग तर्पणके ही रोगोंमें किया जाता है। पुटपाकके स्नेहन, लेखन और प्रसादन भेदसे ३ प्रकार हैं। वातज विकारमें स्नेहन, कफजमें लेखन, एवं पित्तप्रकोप, रक्तविकार, व्रण और दृष्टिदोष दूर करने तथा स्वस्थ मनुष्यकी दृष्टिको सबल बनानेके लिए प्रसादन पुटपाकका उपयोग किया जाता है।

पुटपाकके लिए मांस और ओषधिके कल्कको मिला, पिण्ड बना, ऊपर एरण्ड (स्नेहनमें), बरगद (लेखनमें), या कमल (प्रसादनमें) के पत्तेको लपेट, उसपर मिट्टीका लेप करें। फिर निर्धूम गोबरीकी अग्निपर पकावें। पुटपाकके ऊपरकी मिट्टी अग्नि सदृश लाल होनेपर निकाल, शीतल कर, ओषधिका रस निचोड़ लें। फिर दोनों नेत्रोंके चारों ओर तर्पणमें कही विधिसे मेंड बाँधकर रस डालें।

लेखनके लिए १०० मात्रा (३२ सेकण्ड), स्नेहनमें २०० मात्रा और प्रसादनार्थ ३०० मात्रा तक नेत्रमें धारण करें। लेखन और स्नेहन पुटपाकका रस किञ्चित् उष्ण रखें; और प्रसादनका रस बिल्कुल शीतल करें।

सूचना—इस पुटपाक क्रियाके पश्चात् तर्पण विधि अनुसार रस निकाल कर धूम्रपान करावें।

स्नेहन पुटपाक—स्नेह, मांस, चरबी, मज्जा, मेद और मधुर ओषधियोंसे बनाये हुए पुटपाकका रस स्नेहन कहलाता है।

लेखन पुटपाक—जंगली जीवोंके यकृतका माँस, लेखन ओषधि, मण्डूर, लोहचूर्ण, ताम्रका चूर्ण, शङ्ख चूर्ण, प्रवाल चूर्ण, सैंधानमक, समुद्रफेन, कसीस,

काला सुरमा और दहीके जलसे तैयार किये हुए पुटपाकका रस लेखन कहलाता है।

प्रसादन पुटपाक—स्त्री दूध, जंगली पशुओंका माँस, मज्जा, घी, नीम-गिलोय, अडूसा, परवल और कटेलीसे बनाये हुए पुटपाकका रस प्रसादन और रोपण कहलाता है।

सूचना—नस्यके जो अनधिकारी हैं, वे तर्पण और पुटपाकके भी अनधिकारी माने जाते हैं।

पुटपाकके सेवनके पश्चात् दूने दिनों तक पथ्य पालन और नेत्रका तेज वायुसे रक्षण करना चाहिये।

अञ्जनविधि—नेत्रके सम्पूर्ण दोष पकजानेपर अंजन करें। अञ्जनके ३ प्रकार हैं। चूर्ण, गोली और रसक्रिया। इनमें चूर्णसे गोली और गोलीसे रस बलवान् हैं। फिर गुण भेदसे सबके ३-३ भेद होते हैं। लेखन रोपण और प्रसादन। प्रसादनको स्नेहन भी कहते हैं।

लेखन अञ्जन—क्षार, तीक्ष्ण, कसैले और खट्टे रस वाला अंजन हो, वह लेखन (लेखनमें मात्र मधुर रस नहीं होता)। यह अंजन वर्त्म (पलककी त्वचा), शिरा, कोष (नसोंके समूह), कान और शृङ्गाटक (कपालकी हड्डी) में रहने वाले दोषोंको गिराकर मुँह, नाक और नेत्रसे बाहर निकाल देता है।

रोपण अञ्जन—कसैले और कड़वे रस वाले स्नेह युक्त अंजनको रोपण अञ्जन कहते हैं। यह शीतल होनेसे नेत्रके वर्णकी वृद्धि करता है और दृष्टिको बलवान बनाता है।

प्रसादन अञ्जन—मधुर रस और स्नेहयुक्त अञ्जनको प्रसादन अञ्जन कहते हैं। यह अञ्जन दृष्टिदोषको दूर कर नेत्रको स्निग्ध बनाता है।

लेखन कार्यके लिए रसतन्त्रसारमें रसकेश्वर गुटिका, चन्द्रोदयादिवर्त्ति, तुत्थादिवर्त्ति, नेत्ररोगान्तक अञ्जन, शंखादि नेत्राञ्जन, नयनशाणाञ्जन और पुष्पहर अञ्जन लिखा है। इनमेंसे रोगानुरूप उपयोग करें।

लेखन रसक्रिया—नीलाथोथा, सुवर्णमाक्षिक, सैंधानमक, मिश्री, शंखनाभिका चूर्ण, मैनशिल, सोनागेरू, समुद्रफेन और कालीमिर्च, इनको खरल कर ४ गुने शहदमें मिला, अञ्जन करनेसे वर्त्म रोग, अर्म, तिमिर, काच और शुक्र रोग नष्ट हो जाते हैं।

रोपण कार्यके लिए रसतन्त्रसारमें जसदभस्म, चन्दनादि वर्त्ति, दार्व्यादि रसक्रिया, बबूलादि स्वरस, ये ओषधियाँ लिखी हैं। इनमेंसे रोगानुसारप्रयोगमें लावें।

स्नेहन कार्यके लिए रसतन्त्रसारमें नेत्रप्रभाकर अञ्जन, श्वेत नेत्राञ्जन, पथ्यादि अञ्जन और नेत्रसुदर्शन अर्क लिखे हैं। इनमेंसे प्रकृति अनुरूप दृष्टिदोषनाशार्थ योजना करें।

नेत्रशलाका—लेखन अञ्जनके लिए ताम्र, लोह, पत्थर या बारहसिंगे की,

रोपणके लिये काले लोहकी तथा प्रसादनके लिये सोने या चाँदीकी शलाका बनावें, या उँगलीसे रोपण और प्रसादन अञ्जन करें। शलाका बनावें वह ८ अंगुल लम्बी, बीचमें मोटी, दोनों सिरोंपर पतली और मटरके सदृश गोल और चिकनी बनावें।

अञ्जन काली पुतलीके नीचे नेत्रके कोने तक आंजें। अञ्जन सदा निर्मल आकाश होनेपर प्रातः और सायंकालको करें। मध्याह्न काल या रात्रिको न करें। इनमें लेखनांजन प्रातः तथा रोपणाञ्जन और प्रसादकाञ्जन सायङ्कालको करें।

दूसरे आचार्योंका मत है, कि तीक्ष्ण अञ्जन दिनमें न डालें; रात्रिमें सोनेके समय अञ्जन करनेसे सुबह तक क्षोभित दृष्टि शान्त हो जाती है। इस मतको वाग्भट्टाचार्यने स्वीकार नहीं किया। नेत्रमें आमविकार और कफ प्राधान्य तथा शिशिर ऋतु हो, तो रात्रिकाल सौम्य होनेसे दोपस्रवणमें अयोग्य माना है; इस हेतुसे रोग शमन होनेके बदले कण्डु, जाड्यता आदिकी वृद्धि हो जाती है। परन्तु अनेक देशोंमें तीक्ष्ण अञ्जन आदिको सोनेके समय ही डालनेका रिवाज परम्परागत चला आया है।

अञ्जनके अनधिकारी—परिश्रम करनेपर, उदावर्त्त रोगी, रोया हुआ, शराब पिया हुआ, क्रोधित हुआ, भयभीत, ज्वरपीड़ित, मल-मूत्र आदि वेग धारण किया हुआ और शिरोरोगसे पीड़ित, इनको अञ्जन नहीं लगाना चाहिये। इनके अतिरिक्त वमन, विरेचन या भोजन करनेपर, जागरण करनेपर, शिर-स्नान करके तुरन्त, सूर्यके तापसे संतप्त होनेपर, अजीर्ण होनेपर, प्यास लगनेपर, दिनमें शयनके पश्चात्, बद्दल आये हुए हों और अधिक शीतलता या अधिक उष्णता हो, तब भी अञ्जन नहीं करना चाहिए।

सूचना—सोकर उठनेपर तुरन्त अञ्जन करनेसे नेत्र खोलने-मींचनेमें निर्बलता आती है। प्रचण्ड वायु चलनेपर अञ्जन करनेसे दृष्टिबलमें न्यूनता तथा धूल या धुँएसे व्याकुल होनेपर अञ्जन करनेसे नेत्र लाली, आँसू आना और अधिमन्थ, नीला मोतिया हो जानेका सम्भव है। नस्य करनेपर तुरन्त अञ्जन लगानेसे शोथ और शूल उत्पन्न होते हैं। सिरदर्द होनेपर अञ्जन करनेसे सिरदर्दकी वृद्धि होती है। सिरपर स्नान करनेके पश्चात् अति शीत लगनेपर, सूर्योदयसे पहले या असमयमें बद्दल होनेपर अञ्जन करनेसे दोष उत्क्लेशित होकर व्यथाकी वृद्धि होती है। अजीर्णमें अञ्जन लगानेसे स्रोतसोंके मार्ग रुके होनेसे दोष उत्क्लेशित होता है फिर दोषकी वृद्धि होती है।

दोषके तीव्र वेगमें अञ्जन लगानेपर वात, पित्त, कफ अधिक कुपित होते हैं। इसलिए सम्हालपूर्वक अञ्जनका उपयोग करना चाहिये।

अञ्जन लगानेपर नेत्रोंको तुरन्त नहीं धो देना चाहिए।

(४) चिकित्सा सहायक विधान

१–सिरावेधन (रक्त मोक्ष) विधि ।

अपथ्य आहार-विहारसे रक्तमें विकृत होने या मस्तिष्क नेत्र आदि अङ्गोंमें रक्त दबावकी वृद्धि होनेपर सिरा (फस्त) को खोलकर रक्तस्राव करानेको सिरावेधन (Venesection) कहते हैं ।

सुश्रुत-संहिताके शारीरस्थानमें लिखा है, कि इस शरीरमें ७०० प्रधान सिराएँ हैं। बाग नालियोंद्वारा जैसे सींचा जाता है, वैसे इन सिराओंद्वारा शरीरका पोषण किया जाता है। इन सब सिराओंका मूल नाभि है। इन सिराओंमें मूल सिरा ४० हैं। १० वातवहा, १० पित्तवहा, १० कफवहा, और १० रक्तवहा। फिर चारोंकी १७५-१७५ उपसिराएँ हो जाती हैं। इनमें रक्तवाहिनी सिरा समस्त शरीरमें फैलकर यकृत् और प्लीहाको प्राप्त होती हैं। इन सिराओंमेंसे कितनीक सिराओंको खोलकर रक्त निकाला जाता है।

वर्त्तमानमें प्रत्यक्ष शारीरमें जिनको 'सिरा' संज्ञा दी है, और भगवान् धन्वन्तरिने जिन्हें 'सिरा' संज्ञा दी है, उन दोनोंकी परिभाषामें अन्तर है प्रत्यक्ष शारीरकारने रक्तको हृदयमें लानेवाली रक्तवाहिनियोंको सिरा कहा है। फुफ्फुस प्रभवा ४ सिराओंके अतिरिक्त समस्त सिराओंमें अशुद्ध रक्त ही बहता है।

इस चिकित्सातत्त्वप्रदीपमें प्रत्यक्ष शारीरकी परिभाषानुसार (वेइन्स-Veins) को ही सिरा लिखा है।

यदि ओषधिसे असाध्य और सिरावेधनसे साध्य रोगोंमें यथा समय सिरावेधन न कराया जाय, तो विसर्प, विद्रधि, प्लीहा, गुल्म, दाह, मन्दाग्नि, ज्वर, मुख, नेत्र, शिरोरोग, मद, तृषा, मुँहका नमकीन स्वाद हो जाना, कुष्ठ, वात (पक्षवध), रक्तपित्त, रक्त गन्ध वाला चरपरा या अम्ल-डकार, भ्रम, सरलतासे साध्य न हो सके ऐसे कष्टसाध्य रक्त प्रकोपज रोग आदि उपस्थित होते हैं। अतः सत्वर सिरावेधन कराना हितकर माना गया है।

किन्तु विद्रधि आदि रोगोंमें जब तक पककर पीप न हो जाय, तब तक वेधन नहीं कराना चाहिये।

सिरावेधन विधि—जिस रोगीकी सिरा वेधन करनी हो, उसे स्नेहन दें। या स्निग्ध मांसरस आदि भोजन करा या यवागू आदि पिला स्वेदन देकर रक्त निकालें। रक्त निकालनेके समय अधिक शीत और अधिक उष्ण न हो, ऐसे दिनके समयमें अनुकूलतानुसार बैठा या लेटाकर हाथ, पैर, सिर आदि अङ्गोंमेंसे उचित स्थानको मुलायम कपड़ेसे बांधकर शस्त्रसे सिरावेधन करें, अथवा सिंगी,

निर्विष जोंक या तूम्बी लगवाकर रुधिर निकालें।

एक दोषसे दूषित रक्तको सिंगी आदिसे निकालें; और दो या तीन दोषसे दूषितको सिरा खोलकर निकालें।

सिराव्यध करनेपर अशुद्ध रुधिर शेष रह गया हो, तो सायंकाल अथवा दूसरे दिन पुनः सिराव्यध कराना चाहिये। यदि दुष्ट रक्त अधिक रह जायगा, तो खाज, सूजन, पाक आदि व्याधियोंकी उत्पत्ति कराता है।

शोणित अधिक निकल जायगा, तो सिरदर्द, अन्धापन, अधिमन्थ, चक्कर, धातुक्षय, आक्षेपक वात, पक्षाघात, एकांगवात, तृषा, दाह, हिक्का, श्वास, कास, पाण्डु आदि रोगोंकी उत्पत्ति करा देता है; अथवा मृत्युकारक हो जाता है।

यदि रक्त निकलकर आप ही बन्द हो जाय, तो शुद्ध और सम्यक् प्रकारसे उचित रक्त निकला जानें।

सिरा खोलकर देहव्यापी पतला रक्त निकाला जाता है। वातदूषित नाड़ियोंके भीतर रहे हुए रक्तको शृंगसे; इसके नीचेमें रहे हुए रक्त और कफसे विकृतको तूम्बीसे; तथा इसके भी अन्तरमें रहे हुए और पित्त दूषितको जोंकोंसे निकाला जाता है, और जहाँ रुधिर जम जाता है, वहाँ उस्तरा लगाकर निकालना पड़ता है।

सिरामेंसे दूषित रक्त न्यूनांशमें निकले तो—कपूर, हरड़, कूठ, तगर, पाठा, देवदारु, बायबिडङ्ग, चित्रकमूल, त्रिकटु, सैंधानमक, धुआँ, हल्दी, आककी कोंपल, डहरकरञ्जके फल, इनमेंसे जो मिले, उन ३-४ या अधिक ओषधियोंको पीस; सरसोंका तैल और नमक मिला, घावके मुँहपर मलें। इससे सम्यक् प्रकारसे रक्त निकल आवेगा।

रक्तस्राव बन्द करनेकी विधि—रुधिर अधिक निकलता रहता है, तो उसे सत्वर बन्द करनेके ४ उपाय हैं। संधान (हरड़ आदि कसैले रससे जोड़ देना), स्कन्दन (शीतलता पहुँचाकर जमा देना), पाचन (भस्म आदिसे पका देना), दहन (नसको जलाकर रक्त बन्द करना)। पहले तीनों उपायोंसे रक्त बन्द न हो, तो दग्धकर, सिराके मुखको बन्द कर देना चाहिये। इस तरह बर्फकी शीतलता पहुँचानेसे भी रक्तस्राव बन्द हो जाता है। उपर्युक्त पहले उपायसे बन्द न होनेपर दूसरा प्रकार, दूसरेसे लाभ न होनेपर तीसरा और तीसरेसे कार्यसिद्धि न होनेपर चौथा प्रयोग करें।

दूषित रक्तस्वरूप—यदि वातविकारसे रक्तविकृति हुई हो, तो रक्त कुछ लाल, पकनेपर काला, झागों वाला, रूक्ष (अपिच्छिल), पतला और अति वेग वाला होता है, और उसमें सुई चुभानेके समान पीड़ा होती है।

पित्तप्रकोपसे दूषित रक्त गरम, नीले, हरे, काले रङ्ग वाला, पतला, मक्खियों और चिउंटियोंको अप्रिय और दुर्गन्धयुक्त होता है।

कफप्रधान विकृति होनेपर रक्त शीतल, स्निग्ध, गाढ़ा, पिच्छिल, गेरूके पानी जैसे रङ्गवाला और मन्द गति वाला होता है।

दो दोषसे रक्त बिगड़नेपर दो दोषके लक्षण प्रतीत होते हैं; और तीनों दोषोंसे बिगड़नेपर रुधिर अधिक दुर्गन्धवाला, काँजीके सदृश और सम्पूर्ण लक्षण वाला तथा विषसे दूषित होनेपर भिन्न-भिन्न विषके प्रभाव अनुसार विकृति युक्त होता है।

शुद्ध रक्तका स्वरूप—शुद्ध रुधिर पतला, वीरबहूटी या शशे (खरगोश) के रक्त सदृश रङ्ग वाला होता है। शुद्ध रक्तका रस मधुर और किंचित् खारा होता है। रङ्ग लाल, वीर्य मन्दोष्ण, जड़, स्निग्ध तथा आमगन्धी होता है। इनकी दाह-शक्ति पित्त समान होती है।

इसमें आमगन्धपना भूमिका, पतलापन जलका, लाल रंग अग्निका, चलन गुण वायुका और विलयगुण आकाशका है। इस तरह रक्तमें पाँचों भूतोंके गुण अवस्थित हैं। रासायनिक रीतिसे परीक्षा करनेपर इसके १००० भागमें जल ७८४, रक्तकण १३१, एल्युमिन ७०, क्षार ६ और इतर द्रव्य ९ भाग होते हैं। रक्तरचनाका विशेष विचार चिकित्सातत्त्वप्रदीप द्वितीय खण्डके रक्तरचना विकृति प्रकरणमें किया है।

अनुचित रक्तवृद्धि—रक्तमें अनुचित वृद्धि होनेपर नेत्रमें लाली, नसें फूलना, देहमें भारीपन, निद्रावृद्धि, बेचैनी और प्रमेह रोगकी उत्पत्ति हो जाती है, रुधिर विकृति होजानेपर प्रायः शोथ, लाली, चकते, गाँठ, पीड़ा, दाह, फोड़े-फुन्सियाँ होना, खुजली चलना, इत्यादि विकार होते हैं।

सिरावेधनके अधिकारी—शोथ, दाह, अङ्गपाक, त्वचा लाल हो जाना, वातरक्त, कुष्ठ, वातप्रकोपज तीक्ष्ण पीड़ा, पाण्डु, श्लीपद, विषविकारसे रक्त-विकृति, गाँठ, अर्बुद (रसौली), अपची (गलेकी गाँठ), क्षुद्ररोग, अधिमन्थ (नीला मोतिया), विदारी (काँख-बलाई), स्तन रोग, अङ्गका भारी होना, रक्ताभिष्यन्द (नेत्र पककर भयंकर लाल होजाना), तन्द्रा, विद्रधि, फोड़ा, कान, होंठ, नाक और मुँहका पकना, मस्तक रोग, मस्तकमें रक्तकी वृद्धि, रक्तभाराधिक्य, उपदंश और रक्तविकार, इन रोगोंमें सिरावेधन कराना हितकारक है।

भिन्न-भिन्न रोगोंमें भिन्न-भिन्न सिरा खोलनेका भगवान् धन्वन्तरिजीने लिखा है। इन सिराओंको खोलनेके समय हाथ-पैर या शरीर कैसे रखना, कहाँ

बंध बाँधना, किन-किन सिराओंको न खोलना, मर्मस्थानोंॐ को छोड़ सुगम स्थानोंपर सिरावेधन करना, शस्त्र कितना प्रवेश करना, किस शस्त्रसे कहाँ वेधन करना, इन सब बातोंका विवेचन सुश्रुत संहिताके शारीर स्थानमें विस्तारसे लिखा है। वर्त्तमानमें उस विधिका प्रयोग न होनेसे अत्र विवेचन नहीं किया।

वर्त्तमानमें सिरावेधनमें विशेषतः हाथमें रही हुई अन्तर्बाहुका (कनिष्ठिकाके मूलसे ऊपर जाने वाली) सिरा (Basilic vein), बहिर्बाहुका (अंगुष्ठके मूलसे आगे जाने वाली) सिरा (Cephalic vein) और मध्यबाहुका (उक्त दोनों सिराओंको जोड़ने वाली कूर्परके पासकी) सिरा (Median cubital vein), इन तीन सिराओंको अधिक अनुकूल माना है। अलावा अनेक मारक रोगोंके शमनके लिए इन सिराओंमें इन्जेक्शन भी किया जाता है।

उदररोग, यकृद्विकार, हृद्रोग, मधुमेहज संन्यास (coma), मस्तिष्कमें रक्तस्राव, रक्तद्बाव वृद्धि, इन रोगोंमें एलोपैथीमें शिरा मोक्ष करके रक्त निकालनेका रिवाज है।

हाथकी सिरासे रुधिर निकालनेके लिए कोहनीके ऊपर रक्तरोधक यन्त्र बाँधें। इस यन्त्रको अति दृढ नहीं बाँधना चाहिए। अन्यथा मणिबन्धके पासकी नाड़ी बन्द हो जायगी। फिर मुट्ठीमें कपड़ेके रोलको दृढ़ पकड़नेका कहें। पश्चात् रक्तद्बाव ८० मिलीमीटर पर्यन्त बढावें। शिरा फूलनेपर उस स्थानको धोकर स्वच्छ करें। फिर ऐलोपैथी वाले थोड़ा संमोहिनीका उस स्थानपर अन्तः क्षेपण करते हैं।

फिर शिरा काटकर भीतर सुई टोंचे। वह न हिले, इसलिए उसे पकड़ रक्खें। शिराके ऊर्ध्व भागके साथ रबरकी नलीका सम्बन्ध जोड़कर मेजर ग्लासमें रक्त आने देवें। आवश्यक रक्त बाहर निकल जानेपर पहले बन्धको छोड़ें। फिर सूईको निकालें। पश्चात् सुई और रबरकी नलीको तुरन्त जलमें डालकर धो लेवें।

सिरासंधान विधि—रक्त निकलनेके पीछे घावके मुंहको बन्द करनेके लिए शीतल उपचार करें। राल, रसौंत, जौका आटा, गेहूँका आटा, धायके फूलका चूर्ण, लोध, प्रियंगू, रक्तचन्दन, उड़द, मुलहठी, सोनागेरू, मिट्टीके

ॐ सिरावेधनके समय मर्मस्थानोंकी रक्षा करनी चाहिए। शरीरमें सब मिलकर १०७ मर्मस्थान हैं। इनमें ११ मांसमर्म, ४१ सिरामर्म, २७ स्नायुमर्म, ८ अस्थिमर्म, और २० सन्धिमर्म हैं। इनमेंसे १९ सद्य प्राणहर और ३३ कालान्तरमें प्राणहर हैं, (इनकी पूर्ण रक्षा करनी पड़ती है।) ३ विशल्यघ्न, ४४ विकलताकर और ८ रुजाकर हैं।

पके हुए बर्तनोंका चूर्ण,सुरमा, रुई, रेशमी कपड़ा या अलसीकी भस्म, चार, वृक्षोंकी छाल और अंकुर, संगजराहत, सोहागेका फूला, या गन्धकका चूर्ण, इनमेंसे जो अनुकूल हो, उसे चतके ऊपर बुरकावें।

बर्फ रखना आदि शीतल उपचार करनेसे भी रुधिरस्राव बन्द हो जाता है।

चार डालनेसे उसका मुंह जुड़ जाता है।

दाग देनेसे नस सिकुड़ जाती है। (एलोपैथीमें साधारण रीतिसे आपरेशन करके घाव वाले भागको कास्टिकसे जलाकर बोरिक लोशनकी पट्टी बाँध देते हैं या कलोडिग्रन (Collodion) लगा देते हैं।

रुधिर योग्य प्रमाणमें निकलता है, तो व्यथा शमन, उपद्रवोंसह रोगके वेगका चय, शरीरमें लघुता तथा मनमें प्रसन्नता होती है; एवं त्वचा दोष, ग्रन्थि, शोथ, रक्तविकार, रक्तदबाव वृद्धि आदि रक्त मोचणशील व्यक्तिको कदापि नहीं होते।

सूचना-(१) रक्तस्राव करानेमें रोगीके बल, प्रकृति, व्याधि और ऋतुका विचार करना चाहिये। अवेध्य और अदृष्ट शिराओंका वेधन न करें। वेधन योग्य शिरा, यन्त्रसाध्य और ऊपरको उठी हो, उसका ही वेधन करें। घावमें जन्तु या विजातीय परिमाणु प्रवेश न कर जायँ, इस बातका सम्हाल रखना चाहिये।

(२) व्रणके वेधनमें चीरा ऊभा ही लगाना चाहिये; आडा चीरा लगाया जायगा तो अनेक केशिकायें कट जायँगी। रुधिर थोड़ा सा दूषित शेष रह जाय, तभी रक्तप्रवाहको बन्द कर देना चाहिये; शेष थोड़े दोषको ओषधियोंसे ही शान्त करें।

(३) रात्रिके समय, अति शीत लगती हो ऐसे समयपर और जब मल-मूत्रावरोध हो तब रक्त नहीं निकालना चाहिये। रक्तस्राव करानेके पहले मल-मूत्रकी शुद्धि अवश्य करा लेनी चाहिये।

(४) रक्त निकालनेके पीछे अत्यन्त परिश्रम, मैथुन, क्रोध, ठण्डे जलसे स्नान, अधिक खुली वायुका सेवन, खट्टा, क्षार आदि तीक्ष्ण पदार्थ, अजीर्ण-कारक भोजन, शुष्क भोजन, कम भोजन और उपवास, ये सब शरीरमें बल न आ जाय, तब तक नहीं करना चाहिये।

(५) रक्त निकल जानेसे अग्नि मांद्य हो जाती है; और वायुका परम कोप होता है। अतः रोगीको स्निग्ध और रक्तवृद्धिकर भोजन देना चाहिये; या दुग्ध आदि लघुपौष्टिक भोजन देवें।

(६) सूई और रबरकी नलीको पहले कीटाणुनाशक जलमें या सोडियम

सॉइट्रेट धावनमें रखें। इस धावनमें रखनेसे रक्त नहीं जमता तथा सुई और नली बन्द भी नहीं होती।

सिरावेधन अनधिकारी—दुर्बल कृश, १६ वर्षसे कम आयु वाला बालक, अति वृद्ध, रूक्ष, क्षीण, भीरु, मदोन्मत्त, वमन, विरेचन या बस्ति करनेपर तुरन्त, जिसने स्नेहन और स्वेदन न किया हो, अति मैथुन करनेवाला, वातरोगी, अर्शरोगी, निर्बल, रक्तपित्त वाला, नपुंसक, कामान्ध, परिश्रान्त, रात्रिको जिसे निद्रा न आती हो, सगर्भा, प्रसूता स्त्री, पाण्डु रोगी, अम्ल भोजनसे उत्पन्न शोष, सम्पूर्ण शरीरमें सूजन युक्त उदर रोगी, तृषापीड़ित, मूर्च्छा वाला या श्वास, कास, शोष, ज्वर, आक्षेपक वात और पक्षाघात, इन रोगोंमेंसे किसी एकसे पीड़ित तथा उपवासीकी सिराओंमेंसे रक्त निकालना हानिकारक है। यदि आवश्यकता हो, तो सम्हालपूर्वक निकालें।

२-जलौका विधि

कतिपय रोगोंमें जलौका (Leaches), सिंगी, तूम्बी आदि लगाकर रक्त निकाला जाता है। जलौका १८ अंगुलसे। सिंगी १० अंगुलसे और तुम्बी १२ अंगुलसे रक्त आकर्षित कर सकती है। उस्तरा लगानेपर रुधिर १ अंगुल नीचेसे बाहर आजाता है।

दूषित रक्तको शोषण कर बाहर निकालनेके लिये जोंकें लगायी जाती हैं। जोंकोंमें विषैली और निर्विष २ प्रकार हैं। निर्मलजल, कमल और शैवाल वाले तालाबमें जो जोंकें रहती हैं, वे बहुधा निर्विष होती हैं। इसके विपरीत कीचड़ या मेंढ़क जिसमें रहते हैं, ऐसे क्षुद्र तालाबमें रहने वाली जोंकें प्रायः विषैली रहती हैं। इनमेंसे निर्विष जोंकोंको ही प्रयोगमें लाना चाहिये। निर्विष जोंकोंमें भी जो बीचसे मोटी हो अथवा रोगपीड़ित, निर्बल, या सांसर्गिक ग्रन्थि ज्वर आदि रोगोंमें प्रयुक्त हुई हो, उनको उपयोगमें नहीं लाना चाहिये।

जलौकाकी लम्बाई अधिकसे अधिक १८ अंगुल तक होती है। इनमेंसे मनुष्योंके लिये ४ से ६ अंगुल लम्बी जोंक उपयोगमें आती है। अधिक लम्बाई वाली जोंक घोड़ा आदि पशुओंके लिये काममें ली जाती है।

जोंकमें नर और मादा २ भेद हैं। इनमें स्त्री जातिकी जोंक नाजुक, पतली त्वचा वाली, छोटे कण्ठ वाली और मोटी पूंछ वाली होती है। नर जातिकी जोंक अर्ध चन्द्राकृति होती है और उनके आगेका हिस्सा गोल होता है। इसका मुंहकी ओरका भाग शुण्डाकार और पूंछकी ओरका मोटा होता है। इनमेंसे जीर्ण या सबल रोगोंके लिये नर जोंक और मुलायम स्थानके लिये मादा जोंकको उपयोगमें लें।

जोंकें पकड़नेके लिए ताजे चमड़ेको जलमें रख देवें। थोड़े समय पश्चात् जोंकें चमड़ेको काटनेके लिए चिपक जाती है। पश्चात् चमड़ेको बाहर निकाल, जोंकोंको कोरे घड़ेमें शुद्ध मिट्टीके कीचड़में रख देवें। इनको खानेके लिए कमल कन्द, कमलके बीज, काई और सिंघाड़े आदि कीचड़में उत्पन्न होने वाले पदार्थ देते रहें; तथा बार-बार स्वच्छ जल डालते रहें और ३-३ दिन पर मिट्टी बदलते रहें; इसी प्रकार ५-५ या ७-७ दिनपर घड़ेको भी बदलते रहें, जिससे दुर्गन्ध उत्पन्न न हो। २-३ घड़े रक्खें; बार-बार निकालकर धूपमें रख देवें; तो दोष सब उड़ जाता है।

जो जोंक घड़ेके जलमें खानेके लिये चपलतापूर्वक फिरती रहती है, ऐसी जोंकोंको निकाल, थोड़े समय तक हल्दीके जलमें डालें। फिर खट्टी छाछमें डालकर क्षुधा प्रदीप्त करें। तत्पश्चात् उपयोगमें लेवें।

जोंकें लगानेके पहले उनपर हल्दी और सरसों लगा, आध घण्टे तक स्वच्छजलमें रख दें। जिससे वे उत्तेजित हो जाती हैं। फिर जहाँपर लगाना हो, उस भागके बालोंको उस्तरासे निकाल, साबुनसे धोवें। पश्चात् कपड़ेसे जोंकको पकड़, रक्त निकालनेके स्थानपर उसका मुँह लगा दें कदाच जोंक न चिपके, तो वहाँपर थोड़ा शहद, शर्बत या दूध लगावें; अथवा सुईसे जरा-सा रुधिर निकालें। जिससे जोंक सत्वर लग जाती है। फिर बारीक कपड़ा जलसे भिगोकर ढक दें। कपड़ा सूखनेपर फिर थोड़ा जल डाल लेवें। इस तरह करनेसे आधसे एक घण्टेमें जोंक रक्तको पी, तृप्त हो कर, स्वयमेव गिर जाती है।

नव्य चिकित्सक जोंक जहां लगाते हैं, उस स्थानको धोकर स्वच्छ करते हैं। फिर उसपर छिद्र किया हुआ लिण्टका टुकड़ा रखते हैं। छिद्रोंपर १-१ जोंकको लगाते हैं। इस तरह प्रयोग करनेमें आपत्तिकी संभावना नहीं है। यदि जोंक जल्दी नहीं चिपकती है, तो उस स्थानपर दूधकी बूंद डालते हैं। जोंकको चम्मचसे उठाकर पूंछकी ओरसे टेस्टट्यूबमें डालते हैं। उसे हाथ नहीं लगाते। फिर टेस्टट्यूबके मुखपर पतला कागज रख, उस नलीको उल्टी कर लिण्टके छिद्रपर रखकर कागजको सरका लेते हैं।

एक जोंक लगभग १ तोला रक्तका शोषण कर लेती है; इस हिसाबसे आवश्यकता हो, उतनी जोंकें लगावें। अधिक लगानेपर हानि होती है।

सूचना—(१) हो सके तब तक हड्डीके समीपके स्थानपर लगानी चाहिये। अधिक गहराई वाले स्थानपर लगाई जायँगी, तो उस स्थानके रक्तप्रवाहको बन्द करनेमें कठिनता होती है। अतः खूब सम्हालपूर्वक उपयोग करना चाहिये।

(२) यदि जोंक कण्ठ या गुदापर लगानी हो, तो उसे काचकी नलीके भीतर डालकर लगाना चाहिए, जिससे वह भीतर घुस न सके; केवल अपने मुँहको ही वाहर निकाल कर रुधिर चूषण कर सके।

(३) सूजनके बिल्कुल ऊपर या विषैले घावोंके अति समीपमें जोंक नहीं लगानी चाहिये।

(४) जोंकें लगानेके पश्चात् पीड़ा या खुजली होने लगे तो समझना चाहिये कि वे जोंकें शुद्ध रक्त खींच रही हैं, ऐसी जोंकोंके ऊपर नमकका चूर्ण डालकर तुरन्त छुड़ा देना चाहिये।

(५) रुधिर शोषण होजानेपर उस स्थानको थोड़ी देर तक उँगलीसे दबाए रखनेसे रक्तस्राव बन्द होजाता है। यदि उतनेसे रक्त बन्द न हो, तो वहाँपर शहद लगावें; अथवा बोरिक लोशन या त्रिफला काथके जलसे धोकर पट्टी वाँध दें।

(६) जिन जोंकोंने रुधिर पीया है, उनके मुँहपर नमकका जल लगाकर पोंछ देनेसे वे वमन कर दूषित रक्तको बाहर निकाल देती हैं। फिर इन जोंकोंको प्रयोगमें लाना हो तो उन्हें नमक जलमें डाल धोकर, शीतल जलमें रख देवें; कमसे कम एक सप्ताह तक पुनः प्रयोगमें नहीं लेनी चाहिये। यदि जोंक नमक वाले जलमें रखी जायेंगी, तो वे मर जाती हैं।

(७) एलोपैथीवाले एक बार प्रयोगमें ली हुई जोंकोंको दूसरी बार बहुधा प्रयोगमें नहीं लेते। उपयोगके लिये हॉस्पिटलमें ही जोंकोंको रखकर, उनकी संततिको बढाते हैं और उनको सम्हालपूर्वक पालते हैं।

(८) जोंकोंने सांसर्गिक रोगवालेका रक्त चूषण किया है, तो उनको कार्बोलिक धावनमें डालकर मार देते हैं।

(९) कदाचित् जोंकको किसी हेतुसे बीचमें ही छुड़ाना हो, तो उसके मुँहपर नमकका चूर्ण डाल देना चाहिये। कितनेही लोग जोंक चिपक जानेपर उसके मुँहपर थूकते हैं; जिससे वह छूट जाती है। बलात्कारसे खींचकर जोंकको कदापि नहीं छुड़ाना चाहिये अन्यथा उसके दाँत टूटकर वहाँ रह जाते हैं फिर पककर घाव हो जाता है।

(१०) जलौका लगानेके समय रोगीको न दिखलावें, एवं त्वचापर जलौकाको हलचल न करने दें। लगानेपर दूर न चली जाय, यह सम्हालें। कभी यही स्थल छोड़ देती है और दूर जाकर अन्यत्र चिपक जाती है। कनपटीपर लगाई हुई जलौका, दुर्लक्ष्य होने पर कान, नाक या मुँहमें घुस जाती है।

(११) जलौका निकालनेके पश्चात् उस स्थानपर एलोपैथीमें कभी कभी आर्द्र सेक (फोमेण्टेशन) करते हैं। सामान्यत: घावको धो, पोंछ, रूईका फोहा रख बांध देते हैं और उसपर स्टिकिंग प्लास्टर लगा देते हैं। यदि घावमेंसे रक्त बह रहा हो तो वहींपर एड्रिनलीन लगाते हैं।

एलोपैथीमें अधिमन्थ (Glau-coma), ताराप्रदाह (Iritis), हृदयावरण प्रदाह, श्वसनक ज्वरमें फुफ्फुस प्रदाह और हृदयकी क्षीणतासे यकृत्में रक्त संग्रह आदि रोगोंमें भी जलौका लगाते हैं।

३-ग्लास विधान

जैसे सिंगी और तूम्बी लगाई जाती है, वैसे दर्दवाले भागमें रक्त खींच लेने और वेदना शमन करनेके लिये काचके ग्लासका प्रयोग भी किया जाता है।

ग्लास लगाना

इस कार्यके लिये भिन्न-भिन्न आकारके विशेष प्रकारके मोटे किनारेके काचके गिलास और रबरकी गेंद युक्त काचकी तुम्बी आती है, उनको लेते हैं। न होनेपर गृह कार्यमें उपयोगी प्यालेका उपयोग करते हैं।

वृक्कोंके रोगोंमें कमरपर, अनेक दिनों तक चित लेटे रहनेसे श्वसनक ज्वरके अन्तर्लक्षण उत्पन्न होनेपर कप लगानेसे उस स्थानपर प्रतिक्षोभक क्रिया होती है। कपमें रक्त खींचनेपर भीतर रक्ताभिसरण कम हो जाता है और रोग दूर होनेमें सहायता मिल जाती है।

इस प्रयोगके २ प्रकार हैं। शुष्क और आर्द्र तुम्बी प्रयोग।

शुष्क तुम्बी:—गिलासके किनारेपर वेसलीन लगावें, स्पिरिटकी २-४ बूंदें गिलासमें डालें और गिलासको फिराकर चारों ओर स्पिरिट फैलादें। स्पिरिट अधिक हो तो ब्लोटिंग पेपरसे पोंछ लें। दियासलाईसे स्पिरिटको जलावें और जलता होनेपर गिलासको त्वचापर गाढा बिठा देवें। अग्नि तत्काल बुझ जाती है। फिर भीतरकी त्वचा और त्वचाके नीचेके तन्तु ग्लासमें खिंच जाते हैं। इसे १० से २० मिनट तक रखते हैं। उतने समयमें भीतरका हिस्सा नीलाभ हो जाता है।

गिलासको छुड़ानेके लिये बाजूमें अंगुलीसे दबावें जिससे बाहरकी वायु भीतर जायगी और गिलास खुल जायगा। फिर त्वचाको पोंछलें और ऊपर रूईका फोहा बांध देवें।

रबरकी गेंदयुक्त तुम्बी—(Bier's Suction cups) इसमें गिलासके साथ रबरकी गेंद जुड़ी हुई रहती है। उस गेंदको दबाकर तुम्बीको ठीक लगाई जाती है। चिपकनेपर त्वचा और तन्तु भीतर खिंचते हैं। इस तुम्बीका प्रयोग

प्रदाह (Inflammation) को दूर करने और वहाँपर नूतन और अधिक रक्त लाने (Hyperaemia) के लिये होता है।

आर्द्र तुम्बी—यह प्रयोग वर्तमानमें बहुधा नहीं होता। इस प्रकारके लिये त्वचाको धो, स्वच्छ कर चाकूसे रक्त आने तक सूक्ष्म पंक्ति-या + चिह्न खिंचते हैं। जिससे तुम्बी लगानेपर उसमें रक्त आजाता है। तुम्बी निकालनेपर वहां-पर कीटाणु नाशक ड्रेसिंग किया जाता है।

लोटेका प्रयोग—कपिंग ग्लासके स्थानपर लोटेका प्रयोग भी किया जाता है। तीव्र उदर पीड़ा हो, तब एक कपड़ेको लपेट (या रूईकी) बत्ती बना, एरण्ड तैलमें डुबो, पेटपर रखकर जलावें। फिर ताम्बेका लोटा उसपर उल्टा रख देनेसे दृढ चिपक जाता है। पश्चात् १०-२० मिनट बाद वह खुल जाता है और पीड़ा शमन हो जाती है।

४-अग्निकर्म विधि

अग्निकर्म अर्थात् दाग देना, यह अनेक असाध्य रोगोंमें हितकर है। इस अग्निकर्मके लिये 'क्षारादग्निर्गरीयान् क्रियासु' ऐसा भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं; अर्थात् क्रियामें (सत्वर लाभ पहुँचानेमें) क्षारकी अपेक्षा अग्निकर्म विशेषतर है। जो रोग औषध, शस्त्रकर्म और क्षारक्रियाद्वारा साध्य नहीं होते; उनपर दाग दिया जाता है। कितनेही रोगोंमें त्वचा पर्यन्त, कितनेही रोगोंमें रक्त तक, कितनेहीमें मांस तक और कतिपय रोगोंमें अस्थिपर्यन्त असर पहुँचाया जाता है।

दहन क्रियार्थ पिप्पली, बकरीकी मेंगनी, गौके दाँत, शर शलाका, गुड़, स्नेह, जामुन जैसी काले पत्थरकी वर्ति, लोहेके शस्त्र अथवा सुवर्ण या ताम्रकी शलाकाको अग्निमें तपाकर लाल करें। फिर दाग देनेके स्थानपर पेंसिल आदिसे निशानकर, रोगीको नेत्र बन्द करनेको कहकर सम्हालपूर्वक दाग लगा देवें। यह दाग चमड़ी जलकर धूँआ और दुर्गन्ध आने तक देवें; अति गहराई तक घाव हो जाय ऐसा न देवें।

त्वचाको जलानी हो तो पिप्पली, अजा शकृत्, गौका दाँत या सरकण्डेका उपयोग करें। माँसको जलानेके लिये पत्थरकी वर्त्ति या धातु शलाकासे कार्य लेवें। शिरा, स्नायु अस्थिगत रस आदिको जलानेके लिये राब, गुड़ या घृत, तैल आदि स्नेहको गरम करके प्रयोजित करें। ऐसा भगवान् धन्वन्तरिका मत है। किन्तु कश्यप मुनिके मत अनुसार सिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि और मर्मस्थानमें कदापि दहन क्रिया नहीं करनी चाहिये।

वृद्ध वाग्भट्टाचार्यके मत अनुसार मश, तिल, कालक (कालादाग), चर्म-

कील, अङ्गोंका वेदना सह जकड़ जाना, नेत्र पाक, अधिमन्थ (Glaucoma) तथा मस्तिष्क, भ्रू , ललाट आदिमें शूल चलना इत्यादि रोगोंमें सूर्यकान्त, पिप्पल, अजा शकृत्, गौके दाँत या शरशलाकाको तपाकर त्वचा-दाह करना चाहिये । अभिष्यन्द आदिमें भ्रू , शंख या ललाट देशमें ।

ग्रन्थि, अर्बुद, अर्श, भगन्दर, गण्डमाला, श्लीपद, अन्त्रवृद्धि, दुष्ट व्रण, नाडीव्रण, और नेत्रके जीर्ण नाड़ीव्रणमें पत्थरकी जामुन आकारकी वर्ति सरकण्डा, घी, गुड़, शहद, मोम, तैल, वसा अथवा सुवर्ण, ताम्र, लोह, रौप्य, काँस्य आदि धातुकी शलाकासे मांस स्थानमें दाह करें ।

सिरा, स्नायु, संधिस्थान, अस्थिमें काटनेके समान पीड़ा, अति रक्तस्राव, दन्तनाड़ी, श्लिष्टवर्त्म (पलक संकोच), उपपक्ष्म (वरूनी विकार), लगण (नेत्रवर्त्म रोग), लिङ्गनाश (परिपक्व मोतिया बिन्दु) और अयोग्य सिरावेध आदि रोगोंमें पत्थरकी वर्त्ति, सुई, शलाका, शहद, मोम, गुड़, स्नेह आदिसे दाह कर्म करें ।

यह अग्निकर्म शरद् और ग्रीष्मको छोड़कर अन्य सब ऋतुओंमें हो सकता है । यदि आशु प्राण विनाश आदि प्रसंग उपस्थित हुआ हो और अग्निकर्म साध्य व्याधि हो, तो शरद् और ग्रीष्मऋतुमें भी सम्हालपूर्वक दाह कर्म करना चाहिये ।

सर्व व्याधि और सर्व ऋतुओंमें दहन क्रिया करनेके पहले पिच्छिल अन्न (शीतल, मृदु और पित्तघ्न भोजन) देना चाहिये; किन्तु मूढगर्भ, अश्मरी, भगन्दर, उदररोग, अर्श, मुखरोग आदिमें भोजन करनेके पहले ही दाहकर्म करना चाहिये ।

अग्निकर्म प्रकार—इस क्रियामें त्वचादग्ध और माँसदग्ध ऐसे २ प्रकार हैं । अतः शिरा, स्नायु, अस्थिके लिये अग्निकर्म निषिद्ध नहीं माना जायगा । त्वचा दग्धमें शब्द होना, दुर्गन्ध और त्वचाका संकोच, ये लक्षण भासते हैं और मांसदग्धमें कपोत वर्ण (नीले रङ्गकी त्वचा), कुछ शोथ, शुष्कता, संकोच, और क्षत प्रतीत होते हैं । कालापन, उन्नतपन, व्रण और स्रावका निरोध, ये सिरा और स्नायुदग्धमें; तथा सन्धि और अस्थिदग्धमें रूक्षता, अरुणता, कर्कशता और कठिन व्रणता प्रतीत होते हैं ।

इस क्रियाके न्यूनाधिकताके अनुसार ४ प्रकार होते हैं । सुदग्ध (अच्छी तरह जलाना), हीनदग्ध (थोड़ा जलाना), अतिदग्ध (अति जलाना), और तुच्छदग्ध (किञ्चित् जलाना) ।

सुदग्ध अर्थात् सम्यग्दग्ध होनेपर वह स्थान पक्के तालफलके समान ऊपर उठा हुआ और नीले रङ्गका हो जाता है । यह व्रण जल्दी भर जाता है; और

जलानेपर पीड़ा भी कम हो जाती है। हीन दग्ध होनेपर न्यूनता और अति दग्ध होनेपर अधिकता प्रतीत होती है। तुच्छ दग्ध होनेपर त्वचा लाल या विवर्ण हो जाती है।

हीन दग्धमें दाह और स्फोट हो जाता है। अति दग्ध होनेपर मांसमें शिथिलता; अति दाह, वेदना और उस स्थानमेंसे बाष्प निकलती हो ऐसा भासना, ये लक्षण प्रतीत होते हैं; तथा संकोच, रक्तवाहिनियोंका नाश, तृषा, मूर्च्छा और कचित् मृत्यु भी हो जाती है। क्षुद्र दग्ध होनेपर केवल दाह होता है; स्फोट भी नहीं होता।

सुदग्ध होनेपर पहले घी शहद लगावें; फिर वंशलोचन, रक्तचन्दन, गिलोय, सोनागेरू और पीलखनकी छालके चूर्णको धोये घी में मिलाकर लेप करें; या इतर स्निग्ध और शीतल उपचार करें। पित्त विद्रधिपर कहे हुए उपचार भी लाभदायक हैं।

मोम, मुलहठी, लोध, राल, मजीठ, चंदन और मूर्वाके कल्कको चार गुने घीमें पचन कराकर मलहम बना लेवें। यह सब अग्निदग्धोंके लिए उत्तम प्रयोग है, ऐसा सुश्रुत संहिताकारका मत है।

अति दग्ध होनेपर पहले शीत और उष्ण, पश्चात् केवल शीतोपचार करना चाहिये। रसतन्त्रसारमें कहे हुए चन्दनादि यमक और अग्निदग्ध व्रणहर मलहम लाभदायक है।

तुच्छ दग्ध होनेपर अग्निसे सेक करें पश्चात् उष्णोपचार करें। यदि स्नेहसे दाहक्रिया की हो तो अत्यन्त रूक्ष लेप आदि उपचार करना चाहिये।

पृथक् पृथक् रोगोंमें पृथक् पृथक् स्थानपर दग्ध लगानेकी आचार्योंकी आज्ञा है। यह क्रिया अनुभवीद्वारा ही करानी चाहिये।

त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि, इनमें अति उग्र वेदना होनेपर तीव्र वातशूल, शोथ, कठिन सुप्त माँस, व्रण, ग्रन्थि, अर्श, अर्बुद, भगन्दर, अपची, श्लीपद, चर्मकील, तिल, कालक, अन्त्रवृद्धि, सन्धि, सिराछेद और अति रक्तस्राव, इनमें वेदना स्थानपर अग्नि कर्म करना चाहिये।

इनमें पृथक्-पृथक् व्याधियोंके बलके अनुरूप वलय (वर्त्तुल), बिन्दु, या विलेखा (+, ×, ※-आदि) आकृतियाँ अथवा प्रतिसारण (तप्तशलाका आदिसे घर्षण आदि) दहन क्रिया की जाती है। यह क्रिया रोग, स्थान, मर्म, बलाबल, व्याधि और ऋतु आदिके विचारपूर्वक करनी चाहिये।

एलोपैथीमें भी नाकके मस्से, कण्ठमें रही हुई लसीका ग्रन्थियाँ (Adenoids)

की वृद्धि आदिको क्यास्टिक क्षार या विद्युत् सूचीका (Paquelin's Cautery) द्वारा दहन क्रिया (Cauterization) करते हैं। इस कोटरीके तारको बेनभीनकी ज्योतिसे लाल करके जलाते हैं। विद्युत् कोटरीको विद्युत् प्रवाहसे लाल कर लेते हैं।

अपस्मार, उन्माद और धनुर्वातपर—दोनों नेत्रोंपर दो, कण्ठपर एक, ब्रह्मरंध्रपर एक और दोनों पैरोंपर दो मिलाकर ६ दाग दिये जाते हैं।

सन्निपातपर—दोनों नेत्रोंपर भ्रू के दो अंगुल ऊपर दो गोल दाग, नासिकाके अग्रभागसे ६ अंगुल ऊपर (ब्रह्मरंध्रपर) एक वर्तुल दाग तथा जत्रु-स्थानमें दोनों शिराओंके मध्य भागमें एक दाग '+' इस आकृतिका देना चाहिये। शिरःशूलमें भी इसी तरह दाग दिये जाते हैं।

श्वास, कास, हृद्रोगपर—वक्षस्थानपर दहनक्रिया की जाती है।

रक्तभार वृद्धिपर—मस्तिष्क और फुफ्फुसमें रक्तवृद्धि होती है। अथवा पूय उत्पत्तिका भय रहता है, तब वक्षस्थान और कानपर दाग दिये जाते हैं।

अतिसार और ग्रहणीपर—नाभिके चारों ओर ३ अंगुल स्थान छोड़कर कछुएके पैरके अग्रभाग समान ४ गोल दाग देवें; और पाँचवाँ दाग नाभिके तीन अंगुल नीचे ४ अंगुल लम्बा देवें।

उदररोगमें—शोफोदर और जलोदरमें नाभिके चारों ओर १ अंगुल स्थान छोड़कर १ गोल दाग तथा दोनों पार्श्वभागमें २ खड़े दाग देवें।

वमनमें—जब वमन बार-बार होती रहती है; थोड़ा जल पीनेपर भी आमाशयमें नहीं रहता, तब नाभिके २ अंगुल ऊपर दाग देना चाहिये।

नेत्र वर्त्मरोगमें—पलकोंके रोगमें प्रतिच्छन्न दृष्टि करा रोमकूपोंपर दाग देना चाहिये।

पाण्डुरोगपर—नाभिके चारों ओर १ अंगुल स्थान छोड़कर एक गोल दाग देवें।

प्लीहावृद्धिपर—प्लीहापर एक चतुष्कोण दाग लगावें।

गुल्म और उदर शूलपर—इन स्थानोंपर चतुष्कोण निशान करें।

मदात्ययपर—बाँयीं पसलीपर दाग लगा, ऊपर थूहरके दूधका लेप करें, ताकि घाव न भर जाय और जल निकलता रहे।

कामलापर—बाँयें हाथके अंगुष्ठ से ९ अंगुल ऊपर अर्धचन्द्राकृति एक दाग देवें।

अजीर्णजन्य विसूचिकापर—(१) पहले दोनों पैरोंके तलोंपर राख मसलें, फिर गरम लोहेकी पत्तीको जल्दी-जल्दी फिराकर सेक देवें। लोहपत्ती फिरा लेने बाद तुरन्त जमीनपर पैरको दबानेको कहें, जिससे दाह न हो।

(२) इमलीके पत्ते या मट्ठेमें थोड़ी हल्दी और थोड़ा नमक मिलाकर पैरपर लगा लेवें। फिर ऊपर कही हुई विधिसे सेक देवें; इससे चटका नहीं लगता, उलटा रोगीको अच्छा लगता है।

सूचना—रोगीके पैरको दृढ़तापूर्वक पकड़, दूसरे हाथसे अति त्वरित वेगसे तपी हुई लोहेकी पट्टी या साँटको चलाना चाहिये। धीरे-से चलानेपर पैर जलते हैं। जब त्वचा जलनेकी बास आने लगे, तब सेक क्रिया बन्द करें। फिर पैरोंको पोंछकर कपड़ेसे लपेट लेवें।

पसली आदि भागपर सूढमार लगनेपर—पीड़ित स्थानपर तेल लगावें। फिर ऊपर मोटा कपड़ा तेल मिलाये हुए जलसे भिगोकर लपेटें और विसूचिकामें लिखे अनुसार लोहकी साँटको जल्दी-जल्दी फिराकर सेक देनेसे अति बढ़ी हुई वेदना त्वरित शमन हो जाती है।

यकृत् विद्रधिपर—यदि यकृत्में पाक होनेका पूर्वरूप प्रतीत होता हो, तो यकृत्पर चतुष्कोण दाग देनेसे आराम हो जाता है।

कटिवातपर—कमरके दोनों कसेरुकाओंपर दाग देवें।

अन्तर्विद्रधिपर—हृदयके मूलसे १ अंगुल नीचे एक गोल दाग, पीठपर जहाँ अधिक वेदना हो वहाँपर एक गोल दाग और विद्रधि स्थानपर चार अंगुल लम्बा दाग देना चाहिये।

वृषण वृद्धिपर—बाँयें वृषणपर शोथ आनेपर दाहिने पैरके अंगूठेकी शिरापर और दाहिने वृषणपर शोथ आनेपर बाँयें पैरके अंगूठेकी शिरापर दाग देवें तथा उस पैरके घुटनेके चारों ओर छोटे-छोटे ५ दाग देवें। यदि पैरोंकी पिण्डी या उदरमें वेदना होती है, तो पीड़ित स्थानपर भी दाह क्रिया करें।

हल्दीसे दहनक्रिया—अग्निमान्द्य, अजीर्ण, अफारा, गलग्रह, हाथ-पैर या कटि आदि स्थानोंका वातरोग जब जीर्ण हो जाता है और ओषधिसे लाभ नहीं होता, तब यह क्रिया की जाती है। इस क्रियाके लिये हल्दीकी गाँठको जलाकर हाथ और पैरपर दाग देवें। पश्चात् मक्खन लगा ऊपर हल्दीकी गोली रखकर नागरवेलका पान रखें; फिर रुई या कपड़ा रख, पट्टीसे बाँध देनेसे एक-दो दिनमें बहने लग जाता है। पश्चात् सीसम आदि गीले लकड़ेकी गोली बनाकर ऊपर बाँधें; और व्रणमेंसे जल २-४ या ६ मास तक बहने देवें। रोग दूर हो जाने पर लकड़ीकी गोलीको निकालकर रोपण मल्हम लगावें।

यह क्रिया करनेपर २-३ दिन तक इच्छानुसार अपथ्य भोजन करें; (अपथ्यसे दोष प्रकुपित होकर आंतोंमें आ जाता है) फिर जुलाब लेनेसे सब दोष निकल जाता है।

यह क्रिया पुरुषोंके हाथ और पैर, दोनों स्थानोंपर की जाती है। पैरोंमें घुटनोंके ४ अंगुल नीचे पिण्डीपर होती है। स्त्रियोंको केवल पैरोंपर होती है।

यदि कण्ठके ऊपर नेत्र, नासा, कर्ण, मुख या मस्तिष्कगत रोग हो, तो हाथ या कण्ठपर दाग दिया जाता है।

सूचना—बालक, वयोवृद्ध, निर्बल हृदय वाले, सुकुमार पित्त प्रकृतिवाले व अनेक व्रणोंसे पीड़ित-डरपोक तथा पाण्डु, प्रमेह, रक्तपित्त, तृषार्त हो या कृश और जिनकी सहनशीलता कम हो, उनको दहनक्रिया नहीं करनी चाहिये। उनके पीड़ित स्थानपर भिलावाके तैलसे निशान करें।

जो रोगी क्षार लगानेके लिये अयोग्य हो, जिसके शरीरमें शल्य हो, रक्त जम गया हो और भिन्न कोष्ठ वाले, बार-बार दस्त जिन्हें होते हों, उनको यह दाहक्रिया नहीं करनी चाहिये।

५. प्रतिक्षोभक नियोग विधि

जैसे कितने ही रोगोंमें अग्निक्रिया की जाती है; उस तरह कतिपय रोगोंमें प्रतिक्षोभक नियोग (Counter Irritants) किया जाता है। जीर्णरोग, जीर्ण-ज्वर, मस्तिष्कके रोग, नेत्ररोग, कर्णरोग, उन्माद, फुफ्फुस, फुफ्फुसावरण और स्वरयन्त्रके रोग, दुःखदायी खाँसी, रक्ताशयका जीर्णरोग, वमन, शूल, आमवात और वातरक्त आदि रोगोंमें पीड़ा शमनार्थ यह प्रयोग किया जाता है। तीक्ष्णरोगकी अपेक्षा जीर्ण रोगोंमें अधिक लाभ पहुँचाता है।

वृषण, स्तन आदि कोमल त्वचापर एवं सगर्भा स्त्रीके रक्तपित्त, दाँतोंके मसूड़ोंमेंसे और अनेक स्थानोंकी त्वचामेंसे रक्त जाना (स्कर्वी Scurvy) या इतर तीक्ष्ण व्याधिमें ब्लिस्टर नहीं लगाना चाहिये। अन्य प्रतिक्षोभक प्रकारोंका आश्रय लिया जाता है।

प्रति क्षोभक प्रकार—१. प्रस्फोटक उत्पादक; २. उष्णतावर्द्धक; ३. स्थानिक पूतिहर और रक्त प्रसादन; ४. स्थानिक जलमय प्रदाहहर; ५. वेदनाहर मर्दन। इसके लिये प्रस्फोटकार्थ मक्खियोंका विलयन; उष्णतावर्द्धनार्थ राईका प्रयोग; स्थानिक पूतिहर और रक्त प्रसादनार्थ आयोडीन निष्कर्ष; स्थानिक जलमय प्रदाह नाशार्थ पारद मल्हम और मर्दन प्रयोग क्रमशः देते हैं।

१ प्रस्फोटक प्रयोग—(Blister) एक प्रकारकी मक्खी कैन्थारिडिसका विलयन (Liquor Epispastcus) लगानेपर बड़ा फफोला हो जाता है।

इस प्रयोगसे वातनाड़ी प्रदाहज व्यथा शमन हो जाती है। कान और नेत्रके लिये कानके पीछे; शिरदर्दमें कण्ठपर तथा हृदयावरण और फुफ्फुसावरणमें जल सञ्चय (Pleurisy) होनेपर जल वाले स्थानपर प्रस्फोटक लगाया जाता है।

सूचना—स्पर्शज्ञान रहित स्थान; चलन विहीन अवयव, अस्थियोंके उभाड़ (Prominence) पर तथा वृद्ध और छोटे बालकको प्रस्फोटक लगाकर फफोला नहीं उठाना चाहिये।

४-५ घण्टेमें फफोला न हुआ हो, तो लेपको निकाल, उस स्थानपर आर्द्र-सेक (फोमेण्टेशन) करें।

फफोला होकर लसीका संगृहीत होने तक लेपको रखें या आर्द्र सेक करें। उसमें १० घण्टे भी क्वचित् लग जाते हैं।

प्रयोग रीति—(१) प्रस्फोटकका कागज होनेपर रुपया जितना गोल काटें। त्वचाको स्पिरिट या ईथरसे भली भांति स्वच्छ करें। फिर कागजको गरमकर चिपका देवें। उसपर लिण्टका टुकड़ा रखें। फिर चारों ओर स्टिकिंग प्लास्टर चिपका देवें।

(२) प्रस्फोटक अर्क लगाना हो, तो त्वचाको स्वच्छ कर पेंसिलसे पंक्ति खेंचें। पंक्तिके बाहर चारों ओर वेसलीन लगा लेवें। फिर पंक्तिके भीतर अर्क ब्रश या फोहेसे लगावें। सूखनेपर दूसरी, फिर तीसरी बार लगा लें। गॉजके ऊपर रुई रख उसपर शिथिल-सी स्टिकिंग प्लास्टरकी पट्टी लगा लेवें।

फफोला अच्छी तरह ऊपर आनेपर ड्रेसिंगको निकालें। फालेके निम्न कोणको रुई लगाकर कैंचीसे काटें। लसीका फैलकर चारों ओर मलिनता न फैले, यह सम्हालें। फिर सूखा ड्रेसिंग या बोरिक मल्हम लगा लेवें। या केलेके पत्तेपर मक्खन लगाकर बांधते रहनेसे ४-५ दिनमें फफोला मिट जाता है।

सूचना-(१) फफोलेको कैंचीसे काटनेके समय चमड़ी न निकाल डालें। अन्यथा वहांपर घाव होकर दाह होने लगता है। यदि फफोलेमें दूसरी और तीसरी बार जल भर जाय, तो भी उसे पहलेके समान काटकर मल्हम या मक्खन लगावें।

(२) फफोलेको पकाकर पानी बहने देना हो, तो उसपर पुल्टिस बाँधनी चाहिये।

(३) छोटे बालकोंको प्रस्फोटक द्रव्य लगाना हो, तो १ घण्टे बाद आर्द्रसेक करें, या पुल्टिस बांधें।

(४) कतिपय मनुष्योंको इस प्रस्फोटक औषधसे मूत्र दाह हो जाता है। इसलिए २-४ घण्टेमें प्रस्फोटक द्रव्यको दूर कर वहां आर्द्र सेक करें या पुल्टिस बांधें।

२. राईका प्रयोग—राईको ३ प्रकारसे प्रयोजित करते हैं। अ. लेप (Mustard Plaster) आ. पुल्टिस (Mustard Poultice); इ. राईके कागज (Mustard Leaf).

राई अति तीव्र प्रतिक्षोभक है। इसलिये फफोला उठानेके लिये उसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। फफोला उठनेपर वह भाग मृत हो जाता है। उसे छुड़ानेमें बहुत कष्ट होता है।

वहांपर बड़ा व्रण हो जाता है। अतः राईको त्वचा लाल होनेपर निकाल लेना चाहिये।

(अ) राईका लेप—छिल्टे रहित राईका पीला चूर्ण १ भाग और चावल या गेहूँका आटा ३ भाग मिला, उसमें ठण्डा जल डाल गाढा मलाई जैसा करें। उसे ४-६-८ चौकोर इञ्चके कागज या मलमलके टुकड़ेपर लेपनीसे फैलावें। फिर कागजका किनारा मोड़, उसपर पतला मलमलका टुकड़ा चिपकावें और उसे पीड़ित स्थानपर लगा देवें। १० मिनटके पश्चात् उस स्थानको देखें। लाल प्रतीत होनेपर लेपको हटा लें। क्वचित् २०-३० मिनट भी लेप रखना पड़ता है। लेपको निकाल देनेपर तैल वाले हाथसे सब राईको पोंछ लें। फिर फेस पाउडर लगा लें और लिण्ट या पतले कपड़ेकी तह रखें। जिससे त्वचाकी रक्षा होगी।

(आ) राईकी पुल्टिस—राईका चूर्ण १ भाग और अलसीका आटा ३ भाग (बालकके लिये १०-१५ गुना) मिला ठण्डे जलमें पिण्ड बना, आटेका ८ वां हिस्सा बोरिक पाउडर मिलाकर अच्छी तरह मसलें। उसमें आध सेरसे १ सेर तक उबलता जल मिलाकर पकावें। पकनेपर मिश्रण गाढा हो जाता है।

फिर कपड़ेके टुकड़ेको गीलाकर पाटेपर फैलावें। उसपर पुल्टिस डालें, किनारेपर पुल्टिस न लगावें। गर्मी कम होनेपर उस पर पतला गॉजका कपड़ा डालें।

फिर त्वचाको तैलके फोहेसे स्निग्ध करें। पुल्टिसके किनारेपर भी तैल लगा लें। जिससे वहांपर पुल्टिस नहीं सूखेगी। यह अच्छी चिपकती है और बहुत खिंचाव करती है। इसपर गटापर्चाका टुकड़ा और रुईकी तह रख कर बंध बांधें।

इसे १०-१५ मिनटसे अधिक समय नहीं रखनी चाहिये। बार बार उठाकर त्वचाको देखते रहना चाहिये। लाल त्वचा होनेपर पुल्टिस निकाल लेवें।

(इ) राईके कागज—तश्तरीमें गरम जल थोड़ा डाल उसपर कागजको फैलावें। राईवाला हिस्सा नीचे रखें। आर्द्र होनेपर लगा देवें और ऊपर रूई रखें। पट्टी न बांधें। १५-२० मिनटसे अधिक समय न रखें। पीड़ित स्थान लाल होनेपर कागज उठा लें। फिर तैल लगा राईको पोंछकर हटा दें। ऊपर पाउडर लगाकर पतले कपड़ेकी तह रखें।

(३) आयोडिन प्रयोग—त्वचापर प्रतिक्षोभक रूपसे १०% का तीव्र या २॥% का सौम्य या दोनों मिलाकरके बीचके प्रकारका अर्क लगावें, दोनों प्रकारका वर्णन रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रह द्वितीय खण्डमें किया है।

पीड़ित स्थानपर फोहेसे अर्क लगावें। सौम्य अर्क हो, तो २-३ तह करनेपर बैंगनी रंग आजायगा। तीव्र अर्कको एकही समय लगावें। द्रावण सूखनेपर फिर रूई रखकर पट्टी बांध लेवें। द्रावण न सूखाहो, इतनेमें ही पट्टी बांध देते हैं, तो फफोला हो जाता है।

आवश्यकतासे अधिक अर्क लग गया हो तो स्पिरिटवाले फोहे या तैलके फोहेसे पोंछ लेनेसे आयोडिन सौम्य बन जाता है। दाह होने लगे, तब रूईको बाजूमें सरका स्वेदयुक्त त्वचाको स्पिरिटसे पोंछ लेनेसे दाह शमन हो जाता है।

(४) पारदमलहम:—लिण्टके टुकड़ेपर लगा, संधि स्थानपर आये हुए जलशोथ अर्थात् श्लेष्मधराकला प्रदाह (Synovitis) पर लगाते हैं। फिर स्टिकिंग प्लास्टरकी पट्टियाँ लगा '8' आकारकी पट्टी बांधते हैं। यह ड्रेसिंग दिनोंतक रह सकता है। किन्तु एक सप्ताहसे अधिक समयतक न रखें।

पारद मलहम विधि:—पारद १२ भाग, वेसलीन २८ भाग, मक्खियोंका मोम २४ भाग, तिल तैल २४ भाग, और कपूर १२ भाग लें। पहले वेसलीन और मोमको मिला गरम करके छान लें। फिर उसमें पारद, तेल और कपूरको मिला खरलकर एकजीव बनालें। इसे एलोपैथीमें स्काटड्रेसिंग संज्ञा दी है।

(५) मर्दन:—वेदना शामक द्रव्य और साबुन आदि मिलाकर मर्दन (Liniment) बनाये जाते हैं। मर्दनसे पीड़ित स्थानमें रक्ताभिसरण क्रियामें वृद्धि होती है। वेदनाका दमन होता है और वह स्थान मृदु बनता है। शूल, वेदना, कटि शूल, वात नाड़ी शूल (Neuritis) और आमवातज शूल (Rheumatic pain) आदिपर मर्दन करानेके लिये सामान्यत: बच्छनाभ मर्दन, सूची बूंटी मर्दन, क्लोरोफार्म मर्दन, विण्टर ग्रीन मर्दन आदिका प्रयोग होता है। इनमें आमवात और वात वेदना आदिपर विण्टर ग्रीन विशेष फलदायी है। इसके मर्दन, मलहम आदिके प्रयोग रसतन्त्रसार द्वितीय खण्डमें तथा कर्पूर प्रधान मर्दन प्रथमखण्डमें दिये हैं। स्वरभंग और शुष्क कास आदिमें कण्ठ, छाती और पीठपर मर्दन करनेके लिये व्यवहृत होता है। स्थानिक वेदना शमनार्थ धतूरा और सूची बूंटीका प्रयोग होता है।

कर्पूर तैल और तार्पिन तैल मर्दन कराया जाता है। एवं तार्पिन तैलवाली पट्टी पीड़ित स्थानपर रखी जाती है। ऊपर तैल लगा हुआ चमडेका टुकड़ा रखनेसे त्वचा लाल हो जाती है।

६. क्षारपाक विधि

जिन स्थानोंपर शस्त्रक्रिया नहीं की जासकती, ऐसे स्थानोंपर क्षारद्वारा छेदन भेदन या पाटन आदि क्रियायें की जाती हैं। छेदन, भेदन, लेखन आदि क्रियाओंमें क्षारप्रयोगको शस्त्र-अनुशस्त्र आदि उपचारकी अपेक्षा प्रधानतम माना है।

क्षार विविध ओषधियोंके समूहमेंसे बनाया जाता है इसलिये त्रिदोषघ्न है; शुक्ल वर्ण होनेसे सौम्य है; एवं सौम्य होनेपर दहन, पचन, दारण आदि शक्तियुक्त है। यह आग्नेय गुणभूयिष्ठ होनेसे कटु, उष्ण, तीक्ष्ण, पाचन, विलयन (वात कफप्रधान शोथको दूर करने वाला), शोधन (दुष्ट व्रणके लिये), रोपण, शोषण, स्तम्भन, लेखन आदि गुण दर्शाता है; कृमि, आम, कफ, कुष्ठ, विष, मेद आदिका नाशक है तथा अधिक सेवन करनेपर पुंस्त्वका ह्रास कराता है।

इसके मुख्य २ प्रकार हैं। प्रतिसारणीय और पानीय (पीने योग्य)। इनमेंसे प्रतिसारणीय कुष्ठ, किट्टिभ, दाद, किलास (त्वचागत श्वित्र, कुष्ठ), भगन्दर, अर्बुद, अर्श, दुष्टव्रण, नाड़ीव्रण, चर्मकील, तिल, कालक, न्यच्छ, व्यङ्ग, मशक (मश), बाह्यविद्रधि, कृमि, विष आदिपर लगाने व जलानेमें व्यवहृत होता है; तथा ७ प्रकारके मुखरोग-उपजिह्वा, अधिजिह्वा, उपकुश, दन्तवैदर्भ, तथा तीन प्रकारके रोहिणीमें यह अनुशस्त्र प्रयोगका कार्य करता है।

पानीय क्षार गर (कृत्रिम विष), गुल्म, उदर रोग, अजीर्ण, अग्निसंग (वातश्लैष्मिक ग्रहणी), विसूचिका, अलसक, विलम्बिका आदि विकार जिनमें अग्निमांद्य, अरुचि, आनाह आदि लक्षण उपस्थित हों, शर्करा (अश्मरीके सूक्ष्मकण), अन्त्रविद्रधि, उदरकृमि, विष और अर्श आदि रोगोंमें दिया जाता है।

अनधिकारी—रक्तपित्तरोगी, ज्वररोगी, पित्तप्रकृतिवाले, बालक, वृद्ध, दुर्बल, डरपोक, सगर्भा, रजस्वला, नपुंसक, भ्रम (चक्करपीड़ित), मद, मूर्च्छा और तिमिर रोगी, सर्वाङ्गशोथ, जलोदर, प्रमेहरोगी, रूक्ष, क्षतक्षीण, तृषारोगी, मूर्च्छापीड़ित, त्रस्त, अण्डकोष या योनिरोग युक्त, ऊर्ध्वगत अण्ड या योनि (गर्भाशय) युक्त आदिकी क्षारचिकित्सा नहीं करनी चाहिये। इनके अतिरिक्त मर्मस्थान, सिरा, स्नायु, सन्धि, तरुणास्थि, सेवनी, धमनी, गल, नाभि, नखके भीतर, मेढ्र, स्रोत, स्वल्प मांसयुक्त प्रदेश तथा पलकके अतिरिक्त नेत्रस्थान, इनपर क्षार प्रयोग नहीं करना चाहिये।

क्षार साध्यरोगोंमें भी सर्वाङ्ग शोथ, अस्थिशूल, अन्नद्वेषी, हृदयसंधिमें पीड़ा आदि उपद्रव हों, तो क्षारका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

क्षारक्रियाके अधिकारी—अर्श, अग्निमांद्य, अश्मरी, गुल्म, उदररोग, विषप्रकोप आदि रोगोंमें क्षार खानेको दिया जाता है; एवं अर्शके मस्से, नाक-कानके मस्से, कुष्ठ, त्वचाकी बधिरता, भगन्दर, अर्श, चर्मकील, अर्बुद, ग्रन्थि और दुष्ट नाड़ीव्रण आदि रोगोंपर इसका लेप किया जाता है।

क्षारक्रियाके अयोग्य काल—हेमन्त और शिशिर ऋतुमें अति शीत, ग्रीष्म ऋतुमें अति उष्णता और वर्षा ऋतुमें जिस दिन बादल हुये हों, उस दिन क्षार सेवन या लेप नहीं करना चाहिये।

क्षारयोजना—विविध रोग, रोगीबल, रोगबल, स्थान विशेषका रोग, ऋतु, देश आदि भेदसे क्षारके तीक्ष्ण, मध्यम और मृदु ऐसे ३ प्रकार होते हैं। ग्रन्थि ज्वर और वातश्लेष्म और मेदप्रकोपजन्य अतिजीर्ण अर्बुद आदि विकारों-पर तीक्ष्ण क्षार लगावें। मध्यमबल वाले विकारोंपर मध्यम क्षारकी योजना करें। मृदु क्षारका उपयोग रक्तज और पित्तज अर्शके मस्से, नासिका आदि कोमल स्थान और निर्बलोंके लिये किया जाता है।

मृदुक्षारविधि—मृदुक्षार तैयार करनेके लिये सीप, कौड़ी, शंख आदि पदार्थोंको गरमकर बार-बार जलमें बुझाते रहें।

मध्यम क्षार विधि—अमलतास, केलेके खम्भे, देवदारु, राल, थूहर, पलाश, आक, कूड़ा, अर्जुन, करंज, दुर्गन्धयुक्त करंज, अपामार्ग, अरनी, चित्रक और लोध्र आदि वृक्षोंके हरे पञ्चांग लाकर छायामें सुखावें; फिर छोटे-छोटे टुकड़े करें। इस तरह दोनों प्रकारकी कड़वी तुरई, देवदाली, कड़वी तुम्बी आदि पदार्थोंका संग्रह करें; और इस समूहमें सीप आदि या छोटे-छोटे पत्थर (चूने जिसमेंसे बनते हैं वे) रखें। पश्चात् तिलोंकी लकड़ी चारों ओर रखकर जलावें। चूना तैयार हो जानेपर अलग निकाल लें और राखको अलग रखें।

इस राखका ६ सेर वजनकर, ५ सेर जल और ५ सेर गोमूत्रमें मिलावें। फिर लाल, पतले और तीक्ष्ण हो, तब तक क्षार जलको मोटे वस्त्रसे अनेक बार छानें। पश्चात् छानेहुए जलको एक लोहेकी कढ़ाईमें डाल, चूल्हेपर चढ़ाकर जलावें। चतुर्थांश रहनेपर जल दूसरी कढ़ाहीमें निकाल, उसमें चूनेको गरम कर बुझावें और सबको उसमें मिला देवें। फिर चूल्हेपर चढ़ाकर मुर्गे, मोर, कबूतर और मांसाहारी पक्षियोंकी विष्ठाको पीसकर मिला देवें, तथा पशु-पक्षियोंके पित्त, हरताल, मैनसिल, सैंधानमक आदि ओषधियाँ मिलाकर कलछीसे चलावें। जब भापके साथ बुदबुदे उठने लगें, तब कढाहीको नीचे उतार लें। शीतल होनेपर लोहपात्रमें भरकर सत्तू या जौके भीतर ७ दिन तक रखें; फिर निकाल लेवें।

तीक्ष्णक्षार विधि—मध्यम क्षारमें कही हुई ओषधियोंके साथ कलिहारी,

दन्तीमूल, चित्रकमूल, अतीस, वच, सज्जीखार, सत्यानाशी, हींग, दुर्गन्ध करंजके पान, मूसली और त्रिडलवण मिलाकर क्षार तैयार करें। फिर सत्तूके भीतर ७ दिन रखकर निकाल लेवें।

रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रह प्रथम खण्डमें लिखा हुआ प्रतिसारणीयक्षार भी तीक्ष्ण और तेजाब सदृश प्रबल दाहक है।

क्षारगुण—तीक्ष्ण क्षार लगानेपर उस स्थानमें जोरसे खिचने सदृश और दबाने सदृश पीड़ा तथा दाहसह चारों ओर फैलकर दोषोंको मूलसह जला डालता है। अपना कार्य कर लेनेपर वह स्वतः शान्त होजाता है। इस क्षारसे शस्त्र और अग्निका कार्य हो जाता है।

मृदु और मध्यम क्षारमें न्यून तीक्ष्णता, मृदु और सत्वर फैलना, ये गुण हैं; ये अति वेदना नहीं करते।

क्षारप्रयोग विधि—क्षारसे साध्य रोगोंपर क्षार लगानेके पहले, उस स्थानपर लोहेके शस्त्र या लकड़ी आदिको रगड़ें; अथवा उसमें जल, रक्त या पूय हो, तो स्राव करा देवें। फिर एक शलाकापर रुई लपेट उसपर क्षार लगा, पीड़ित स्थानपर १०० मात्रा (३२ सैकण्ड) तक रहने देवें।

अर्शके मस्सेपर क्षार लगानेके पश्चात्, सलाईपर हाथ रख, मस्सेके मुँहको ढक देवें। विशेष विधि अर्श रोगमें लिखी जायगी।

यदि नाकके मस्सेपर क्षार लगाना हो, तो रोगीको सूर्यकी ओर मुँह कर बैठावें। फिर नासाग्र भागको दबा, मस्सेपर पतला लेप करें; और ५० मात्रा (१६ सेकण्ड) तक रहने देवें। फिर अच्छी तरह दग्ध हुए हों, तो कपड़े या रुईसे पोंछकर शहद-घी मिश्रणका लेप करें।

यदि स्राव कराना हो, तो अभिष्यन्दि पदार्थोंका सेवन करावें।

यदि क्षार लगानेपर भी रोगका मूल दोष सबल होनेसे न गिर गया हो, तो तेज काँजीमें मुलहठी और तिलको पीसकर लेप करना चाहिये।

सम्यक् दग्धव्रणपर उपचार—दग्धस्थान सम्यक् जलनेपर वह भाग नरम और जामुन सदृश वर्णवाला हो जाता है। उस स्थानपर तिल कल्क, मुलहठी और घीको मिलाकर लेप करें।

दुर्दग्ध लक्षण—यदि सम्यक् दग्ध न हुआ हो, तो लाली, शूल और कण्डू होते हैं; एवं अति दग्ध होजानेपर अति दाह, लाली, रक्तस्राव, ज्वर, अंगमर्द, व्याकुलता, तृषा लगना तथा क्वचित् मूर्च्छा आकर मृत्यु भी होजाती है।

यदि गुदस्थानपर अतियोग हुआ हो, तो मल-मूत्रावरोध या इनकी अति प्रवृत्ति हो जाती है। कभी पुरुषत्व भी नष्ट हो जाता है; अथवा गुदा गलकर

रोगीकी मृत्यु हो जाती है। नाकमें अति दाह होनेपर बीचका पर्दा फट जाता है या संकुचित हो जाता है और उससे गन्धज्ञान नष्ट हो जाता है। कानमें अतियोग होनेपर नाकके उपद्रवोंके सदृश ही लक्षण प्रतीत होते हैं।

क्षारप्रयोगसे अति दाहपर उपचार

१. खट्टे पदार्थोंमें वस्त्र भिगोकर दाह वाले भागपर रखें। क्षारमें अम्ल पदार्थ (दही आदि) का संयोग होनेपर क्षार मधुर बन जाता है, इस हेतुसे वेदना सत्वर शान्त हो जाती है।

२. शहद, घी और तिलका कल्क मिलाकर लगावें।

३. अग्निदग्धव्रणहर मल्हम (रसतन्त्रसारमें लिखे हुए) का लेप करें।

७. मुखलेप

मुँहको तेजस्वी बनाने और दोष दूर करनेके लिये लेप लगाया जाता है, उसे मुखलेप कहते हैं। लेपके ३ प्रकार हैं। दोषघ्न, विषघ्न और वर्णकर। ये लेप क्रमशः आध, पौन और एक अंगुल ऊँचा लगाया जाता है। गीला लेप रोग-नाशक और सूखनेपर रहने देनेसे कान्तिको हरनेवाला होता है। अतः सूखनेपर थोड़ा जल लगाकर दूर कर देना चाहिये।

वस्तुतः लेपके प्रलेप, आलेप और प्रदेह, ये तीन प्रकार हैं। इन तीनों लेपोंको बहुधा भैंसेके गीले चमड़े जितना मोटा रखा जाता है। इनमें जो लेप शीतल, पतला और सूख जाय, ऐसा हो, वह आलेप या प्रलेप कहाता है, वह पित्त शामक है।

जो लेप गाढ़ा, जल्दी न सूखने वाला और गरम हो, वह प्रदेह कहाता है। यह वात और कफको नष्ट करता है।

दोषघ्न लेप—दोषघ्न लेप (र० त० सा० में लिखा हुआ) और उसके समान गुणवाले इतर लेपोंको दोषघ्न लेप कहते हैं।

विषघ्नलेप—(१) दशाङ्ग लेप (र० त० सा०) और उसके समान लाभ पहुँचाने वाले लेपोंको विषघ्न लेप कहते हैं।

(२) तिलको बकरीके दूधमें पीस, मक्खन मिला, लेप करने या काली मिट्टीको जलमें मिलाकर लेप करनेसे भिलावेकी सूजन नष्ट होती है।

(३) कलिहारी, अतीस, कड़वी तुम्बी, घिया तोरईके बीज और मूलीको काँजीमें पीसकर लेप करनेसे जहरी जन्तुओंके काटनेसे उत्पन्न विस्फोट दूर होता है।

वर्णकर लेप—(१) रक्त चन्दन, मजीठ, लोध, कूठ, प्रियङ्गु, वड़के

अंकुर और मसूरको काँजीमें पीसकर लेप करनेसे व्यंग (झाई) दूर होकर मुखकी कान्ति सुन्दर होती है।

(२) मसूरके आटेको घी में मिला, फिर दूधसे मिश्रित कर ७ दिन तक लगानेसे मुँह कमलपुष्पके समान प्रफुल्लित हो जाता है।

(३) सफेद शिरीष, हल्दी, दारुहल्दी, मजीठ, सोनागेरू, घी और बकरीके दूधको यथाविधि लेप करनेसे मुख शरदृऋतुके चंद्र समान तेजस्वी हो जाता है।

सूचना—पीनस, अजीर्ण, हनुग्रह और अरुचि रोगमें, नस्य लेनेपर, जागरण करनेपर तथा रात्रिको मुख लेप न करें। एवं मुँहपर लेप करनेके पश्चात् दिनमें शयन न करें।

८. मूर्द्ध तैल विधि

शिरपर तैल लगानेके ४ प्रकार हैं। अभ्यंग, परिषेक, पिचु, और शिरोबस्ति। इनमें उत्तरोत्तर विधि क्रमशः अधिक गुणप्रद है।

अभ्यङ्ग—मालिश करनेको अभ्यङ्ग कहते हैं। तैल मर्दनसे बाल मुलायम, स्निग्ध और काले रहते हैं; अधिक बढ़ते हैं; एवं मगजको पुष्ट, मस्तिष्ककी त्वचाको सुन्दर, नासा, श्रवण और नेत्र आदि इन्द्रियोंको तृप्त तथा शिरको पूर्ण करता है।

मस्तिष्कपर लगानेके लिये मुलहठी, विदारीकन्द, ब्राह्मी, सीसम, आँवला, नेत्रबाला, गुलाबके फूल, सरल, देवदारु और लघु पंचमूल आदि ओषधियोंके कल्क और क्वाथ मिलाकर यथाविधि तैल सिद्ध करें।

परिषेक—शिरपर फुन्सियें, जन्तुप्रकोप, दाह, पाक और व्रण आदि विकार हो, तो तैलको तपाकर उसमें कपड़ा, रुई या अन्य ओषधिकी पोटली डुबोकर निवाया-निवाया सेक किया जाता है, उसे परिषेक कहते हैं।

पिचु—बाल झड़ जाना, सिरमें पीड़ा होना, नेत्रकी नाड़ियाँ खिचना आदि रोगोंमें रुईको सिद्ध तैलमें भिगो, शिरपर बाँध देनेको पिचु प्रयोग कहते हैं।

शिरोबस्ति—मस्तिष्कपर यथाविधि तैल धारण करनेको शिरोबस्ति कहते हैं। शिरोबस्तिका उपयोग नाक और मुँहके शोष, तिमिर रोग, वातज शिरोरोग, हनुग्रह, मन्यास्तम्भ, नेत्रव्यथा, कानकी पीड़ा, अर्दितरोग, मस्तक कम्प और दारुण शिरोरोगोंमें किया जाता है।

शिरोबस्ति देनेके लिये दो मुँह वाली १२ अंगुल ऊँची और रोगीके मस्तकपर अच्छी रीतीसे बैठजाय, ऐसी चमड़ेकी टोपी बनवावें। मस्तकके सब बाल निकलवाकर इस टोपीको पहनावें। फिर उड़दके जलसे साने हुए आटेसे चारों

और बाड़ लगाकर सन्धियोंको बन्द करें। ऊपरकी ओर जहाँ सिलाई की है, वहाँसे भी तैल न निकल जाय, इस तरह ऊपरके सन्धिस्थानोंको भी बन्द करना चाहिये। फिर कपालपर अच्छी रीतिसे वस्त्र लपेट, निवाया तैल शिरके ऊपर दो अंगुल [मतान्तरमें ४ अंगुल] तक टोपीमें भर दें। नाक, मुँह और कानसे पानी झरने लगे, तब तक या वेदना शमन होने तक तैलको धारण करें।

यह बस्ति सामान्य अवस्थामें १००० मात्रा (५। मिनट) तक, वातरोगमें १०००० मात्रा (५३। मिनट) तक, पित्तरोगमें ८००० मात्रा (४२॥। मिनट) तक और कफरोगमें ६००० मात्रा (३२ मिनट) तक धारण करें। ऐसा वाग्भट्टाचार्यने लिखा है। इतर आचार्योंने १॥ से ३ घण्टे तक धारण करनेको लिखा है।

बस्ति धारणका समय पूरा होने या वेदना शमन होनेपर सम्हालपूर्वक तैलको निकाल लें; और आटेको पृथक् कर टोपीको उतार लें। फिर स्कन्ध आदि भागमें मालिश कर, निवाये जलसे भरे हुए बड़े जलपात्रमें खड़ा [या बैठा] रखकर स्नान करावें। पश्चात् जंगली पशुओंका मांसरस और लाल शालि चाँवल आदिका भोजन दें। रात्रिमें मूँग, उड़द और कुलथीकी या केवल कुलथीकी दाल बना, घी मिलाकर खिलावें। आवश्यकतानुसार मिर्च मिलाकर निवायी दालका भोजन करावें, बादमें निवाया दूध पिलावें।

यदि पित्तज शिरोरोग हो, तो शीतल पंखेकी वायु और कमल पुष्पकी मूल आदिसे शीतल उपचार करें; और सौ बार धुले हुए घीका शिरपर मर्दन करें।

पाँच सात दिन तक भोजनके पहले प्रातःकाल इस तरह शिरोबस्ति देनेसे शिरःशूल और कम्प आदि कठिन व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। आवश्यकता हो, तो ज्यादा दिन तक शिरोबस्ति दें। किन्तु यह शिरोबस्ति रोगीको वमन, विरेचन आदिसे शुद्ध करके देनी चाहिये।

९. फुफ्फुसको विश्रान्ति प्रदान

क्षय रोगमें यदि फुफ्फुसको विश्रान्ति मिल जाती है, तो अनेक रोगी सुधर जाते हैं, ऐसा एलोपेथीवालोंने परीक्षणोंसे निश्चित किया है। इस कार्यके लिये उपकारक विधिके २ प्रकार हैं।

१. फुफ्फुसावरणमें वायु भरना (Artificial Pneumothorax); २. महा प्राचीरा पेशीकी अनुकोष्ठिका नाड़ी (Phrenic Nerve) को काटना।

वायु भरना:—फुफ्फुसावरणमें वायु भरनेपर फुफ्फुसका निम्न भाग आकुंचित होकर दब जाता है। उसके भीतर प्रत्येक श्वासके साथ वायु नहीं जा सकती। एवं प्रत्येक श्वास ग्रहणके साथ स्फीत होना और निःश्वासके साथ आकुंचित होना, यह क्रिया स्थगित होजाती है। सामान्यतः फुफ्फुसका कार्य

बन्द होजाता है, उसे विश्रान्ति मिल जाती है। इसी हेतुसे क्षय रोगकी सरलतासे निवृत्ति होजाती है। यह वायु ८-१० दिन तक फुफ्फुसावरण (Pleura) में रहती है। यह शनैः शनैः शोषित होजाती है। फिर फुफ्फुस पूर्ववत् बनने लगता है। यह वायु पुनः पुनः यन्त्रद्वारा ५० से ५०० सी० सी० तक भरनी पड़ती है।

यह क्रिया केवल लिखनेपर विद्यार्थी नहीं कर सकेंगे। विशेष अनुभवीके पास रहकर प्रत्यक्ष क्रियाद्वारा सीखना चाहिये।

अनुकोष्ठिका नाड़ी छेदन—(Phrenectomy) इस नाड़ीका करीब १ इञ्चभाग कण्ठ देशमेंसे काटकर निकाल दिया जाता है। जिस ओरकी नाड़ी काटी जायगी, उस ओरकी महा प्राचीराके अर्ध भागका आकुंचन नहीं होगा, जिससे श्वासोच्छ्वास क्रियाद्वारा फुफ्फुस कोषोंकी प्रसारण-आकुंचन क्रिया बन्द होजाती है। इस नाड़ी छेदनसे उस फुफ्फुसको आजीवन विश्रान्ति मिल जाती है।

१० रक्तवाहिनीमें अन्तः सेचन

रक्तक्षय या प्रबल रक्तस्राव और हैजा आदि रोगोंमें रक्तवारि निकल जानेसे रक्त गाढ़ा बन जाता है। उस समय जीवनरक्षार्थ तुरन्त अन्तः सेचन (Infusion) करना पड़ता है। इसके ५ प्रकार हैं। (१) रक्त सेचन; (२) लवण जल सेचन; (३) द्राक्षशर्करा मिश्रित लवण जल सेचन; (४) तेज लवण जलसेचन; (५) निर्यास जल सेचन।

जिस तरह अन्तःक्षेपण (Injection) में प्रवाही ओषधिको पिचकारीद्वारा चढाया जाता है, उस तरह अन्तः सेचनमें एक साथ अधिक मात्रामें या बूंद बूंद रक्त आदि द्रवको प्रवेश कराया जाता है।

१. रक्त सेचन—रक्तक्षय, रक्तवमन, अति रक्तस्राव और अति निर्बलता आनेपर एक मनुष्यका रक्त प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे दूसरोंके रक्तमें पहुँचाया जाता है, उसे देहान्तरनिवेश (Transfusion) संज्ञा दी है।

बीमारोंमें अन्तः सेचन करते हैं; तथापि चाहे जिस मनुष्यका रक्त चाहे जिसके देहमें प्रवेशित नहीं कराया जाता। प्रतिकूल रक्त रचनावालोंके रक्तका प्रवेश कराया जायगा, तो रक्तके थक्के जमना (Clotting) या रक्त विनाश (Haemolysis), इनमेंसे एक दुष्परिणाम आता है।

रक्त प्रदानार्थ रक्तके ४ वर्ग बनाये हैं। इनके भीतर चतुर्थ वर्गका रक्त किसी वर्गके मनुष्यके रक्तमें बिना हानि किये मिल जाता है। उसे सार्वत्रिक दाता (Universal donor) कहा है। पहले वर्गके मनुष्यको सार्वत्रिक ग्राहक

(Universal receiver) माना है। यह किसी भी वर्गका रक्त ग्रहण कर सकता है। दूसरे वर्गके मनुष्यको दूसरे और चौथे वर्गका रक्त दे सकते हैं। तीसरे वर्ग वालोंको तीसरे या चौथे वर्गका और चौथे वर्गवालोंको चौथे वर्गका ही रक्त चाहिये। इसका विशेष विचार सिद्ध परीक्षापद्धति पृष्ठ ३८४ से पृष्ठ ३८६ तक किया है।

वर्तमानमें रक्त देने वालोंका रक्त निकाल सोडियम साइट्रेटमें मिलाकर संगृहीत (Banked Blood) करते रहते हैं।

बूंद बूंद रक्त सेचन—रोगीकी मरणोन्मुख अवस्था प्रतीत होनेपर उसे तत्काल थोड़े थोड़े परिमाणमें बूंद-बूंद रक्त यन्त्रद्वारा दिया जाता है। इस क्रिया कालमें आरम्भमें और बीच बीचमें रोगीके रक्तके वर्णका माप किया जाता है। प्रत्येक मिनटमें ३० से ६० बूंद रक्त दिया जाता है। यह रक्त कुहनीके आगे देते हैं। प्राणवायुके सिलिण्डरकी साथ साथ योजना होनेसे रक्तके थक्के नहीं बनते। इसका बुदबुदा युक्त मिश्रण बराबर चलता रहता है।

सूचना—(१) रुधिर देनेसे हाथमें वेदना होने लगे, तो रुधिर देना बन्द करें, दूसरी ओर देवें। अन्यथा शिराप्रदाह (Phlebitis) की उत्पत्ति होती है।

(२) भूल होनेपर शीत कम्प, ज्वर, कामला, श्वासोच्छ्वासमें कष्ट, छातीमें भारीपन, घबराहट, रक्तके थक्के जमना, रक्त विनाश और कीटाणु प्रकोप आदिकी संभावना है।

लवण जल सेचन—द्विवार शोधित बाष्प जल १ पाइण्टमें शुद्ध नमक ८० ग्रेन (०.४५ प्रतिशत) मिला फ्लास्कमें भर ओटो क्लेव (Auto clave) में ३० मिनट रख, कीटाणु रहित करलें और मंदोष्ण होनेपर उपरोक्त विधिसे सेचन करें।

द्राक्षशर्करामिश्रित लवण जल सेचन—उपरोक्त द्रावणमें १ औंस द्राक्षशर्करा (८.५ प्रतिशत) मिश्रित १ पाइण्ट द्रावण मिलाकर (२ पाइण्टको) कीटाणु रहित करके उपयोगमें लेवें।

४. **तेज लवण जल सेचन**—एक पाइण्ट जलमें ८७५ ग्रेन (१० प्रतिशत) नमक मिलाकर कीटाणु रहित बनाकर प्रयुक्त करें।

५. **निर्यास जल सेचन**—१ पाइण्ट सादे लवण जलमें ५२५ ग्रेन अच्छा अरबी गोंद मिलाकर पिघला देवें। यह ६ प्रतिशतका द्रावण होता है। इसे कीटाणु रहित करके प्रयोजित करना चाहिये।

सूचना—(१) दण्डपर रक्तरोधक यन्त्र बांधें। यन्त्रमेंसे सब वायु निकाल लें। फिर सुई शिरामें टोंचकर रक्त रोधक यन्त्रको छोड़ें। सुई न हिलनेके

लिये स्टिकिंग प्लास्टरकी पट्टी लगा देवें। पश्चात् १००° फा० उष्ण द्रावण शनैः-शनैः शिरामें चढावें।

(२) लौरीकी ड्रिप-फीड नलिका—(Laurie's drip Connection) लगानेसे शनैः शनैः लम्बे समय तक और ५०० सी० सी० पर्यन्त द्रावण दे सकते हैं। उक्त विधिसे २४ घण्टेमें १० पाइण्ट (६००० सी० सी०) द्रावण दिया जाता है।

(३) उक्त विधिसे टखनेके ऊपरकी सिरामें भी अन्तः सेचन हो सकता है।

(४) द्रावण कितना चढाया और पेशाब कितना उतरा, इसकी यादी रखनी चाहिये। यदि द्रावण देनेमें शीघ्रता होगी तो फुफ्फुसमें द्रावणका अधिक संग्रह हो जायगा और निमोनियाकी संप्राप्ति हो जायगी, या पैरोंपर शोथ आजायगा। दोनों उपद्रव कष्टप्रद हैं।

११. पथ्य विचार

मनको प्रिय, पवित्र और ताजा तथा अति गरम न हो, ऐसा भोजन हितकर माना गया है। पहले मधुर भोजन, बीचमें खट्टा और नमकीन रस खायें अथवा वैद्यकी आज्ञानुसार पथ्य रसयुक्त भोजनका सेवन करें।

यदि मीठे अनार आदि फल हैं, तो उन्हें भोजनके पहले लें (यह भगवान् धन्वन्तरिका मत है; पाश्चात्य विद्वानोंके मत अनुसार भोजनके बाद फल खाने चाहिये) पश्चात् पेया और तत्पश्चात् भोज्य, भक्ष्य आदि विविध भोजनका सेवन करें।

आवलोंका सेवन भोजनके आदि, मध्य और अन्त, सब समय लाभ-दायक है।

कमलकी डण्डी, मूल, शालूक, कन्द और ईखका सेवन भोजनके पहले ही करना चाहिये; भोजनके पश्चात् कदापि न देवें।

भोजन खूब चबा-चबाकर शान्तिपूर्वक करना चाहिये। स्निग्ध, मन्दोष्ण और लघु भोजन करनेपर उसका पाक सत्वर हो जाता है; तथा वह बल और अग्निको बढ़ाता है। भोजनका समय होनेपर तुरन्त योग्य मात्रामें भोजन कर लेना चाहिये, और भोजन कर लेनेपर दुग्ध आदि द्रवका सेवन करें, जिससे पाक योग्य होता है। देर करनेपर भोजनका पाक योग्य नहीं बनता।

एक बार भोजन करनेपर फिर उसके पचन होनेके पहले दूसरी बार भोजन नहीं करना चाहिये। भोजनमें अत्यधिक देर भी नहीं करना चाहिये; अति देरसे भोजन करनेपर बलका क्षय होता है।

भोजनका समय टल जानेपर उदरमें वायु प्रकुपित होता है। फिर भोजन

करनेसे अग्नि नष्ट होती है और भोजनके पचनमें देर होती है।

मलिन, दुष्ट, उच्छिष्ट, कंकर, मिट्टी आदि मिला हुआ, बासी, बेस्वादु, और दुर्गन्धमय भोजनका त्याग कर देना चाहिये।

संक्रामक रोग पीड़ित द्वारा बनाया हुआ या संक्रामक रोग पीड़ितके स्पर्श वाला, अथवा शुष्क कण्डू, पूयमेह, कुष्ठ और अन्य दुष्ट पूय विकारयुक्त रोगीके स्पर्शवाला भोजन नहीं करना चाहिये।

वर्त्तमान होटलोंके भोजन, हलवाईकी मिठाई, विविध प्रकारके पेय और स्टेशनोंपर खानेके पदार्थ विविध प्रकारके घातक रोग फैलानेके अति प्रबल साधन हैं।

मक्खियाँ, मच्छर, चिऊंटी आदि जन्तु भोजनको दूषित कर देते हैं। फिर उससे आमाशय, रक्त आदिमें विविध कीटाणुओंकी सृष्टि होती है। अतः भोजन बनाने और रखनेमें पूर्ण स्वच्छता रखनी चाहिये।

होटल आदिमें संक्रामक रोगीके झूंठे बर्त्तनोंको केवल जलसे धोकर उनमें भोजन आदि दूसरोंको परोस दिया जाता है। इस हेतुसे भी अज्ञानपूर्वक क्षय, कुष्ठ, उपदंश, सुजाक, आमवात, मधुरा आदि रोग अनेकोंको प्राप्त होते रहते हैं।

भगवान् धन्वन्तरि लिखते हैं कि:—

जीर्णेऽन्ने वर्द्धते वायुर्विदग्धे पित्तमेव तु।
भुक्तमात्रे कफश्चापि तस्माद् भुक्ते हरेत्कफम्॥

भोजनके पच जानेपर वायु, पचनकालमें पित्त और भोजन कर लेनेपर कफकी वृद्धि होती है। इस हेतुसे भोजन करनेपर कफको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

इसी उद्देश्यको लेकर ताम्बूल भक्षण और धूम्रपानका प्रचार हुआ है। भोजन कर लेनेपर दिनमें २-३ बार पान, सुपारी खाना हानिकर नहीं है; मुख-शुद्धि होती है और पचनमें सहायता मिलती है; किन्तु अत्यधिक पान बार-बार खाते रहना, यह अति हानिकर है।

धूम्रपानका अभ्यास भारतके लिये हितकर नहीं है। फिर भी जिनको अत्यधिक कफप्रकोप रहता हो, उनके लिये भोजनके पश्चात् दिनमें २-३ बार धूम्रपान करना कफहरणमें सहायक होता है; यदि अधिक बार धूम्रपान किया जायगा, तो वह कफवर्द्धक ही बनेगा।

ट्रेन, मोटर आदिमें पूय विकारसे पीड़ित मनुष्य चाहे जहाँ पूय लगा देते हैं इस हेतुसे भी पूय और कफ मिश्रित सूक्ष्मरजसे अनेक निरपराधियोंको विविध रोगोंकी संप्राप्ति हो जाती है।

कितने ही मुसाफिर रेलकी मुसाफिरीमें स्टेशनोंकी धूलसे हाथ धोते हैं और बर्त्तन साफ करते हैं। वे अज्ञानवश अनेक रोगोंके कीटाणुओंको ग्रहण कर लेते हैं। स्टेशनपर रोज अनेक ट्रेनें निकलती रहती हैं। जिससे स्टेशनोंकी धूल चाहे जैसी सूखी होनेपर भी उसमें थूक, कफ, मल, मूत्र, पूय आदिके कीटाणु रह जाते हैं। जो स्पर्श करनेवालोंपर सवार हो जाते हैं।

अजीर्ण थोड़ा-सा शेष रहा हो, तो निर्बल अग्निवालोंको सुबह भोजन नहीं करना चाहिये; अन्यथा अग्निमान्द्य, उदरमें भारीपन, वायुवृद्धि, मलावरोध, स्वप्नदोष, ज्वर, प्रमेह आदि अनेक उपद्रव उपस्थित होते हैं। यदि श्वास-रोगी अजीर्ण शेष रहनेपर शामको भोजन कर लेता है, तो रात्रिको श्वासका दौरा होजाता है। इसी तरह हृदयशूलका आक्रमण भी अजीर्णमें भोजन कर लेनेपर होता है।

कितने ही स्थानोंमें दूधके साथ केला मसलकर खानेकी रूढ़ी होगई है। स्वादके हेतुसे यह रिवाज अधिक फैला है। किन्तु भगवान् धन्वन्तरि उसका विरोध करते हैं। दूध और केला सेवन करनेपर यदि मलावरोध और अजीर्ण होजाय, फिर उसको दूर न करते हुए भोजनका सेवन किया जाय तो निर्बलोंको आमवातिक ज्वरकी प्राप्ति हो जाती है।

दूध और खटाईका आयुर्वेद शास्त्रमें विरोध माना गया है। पाश्चात्य विद्वानोंने खट्टे फलोंके साथ दूधका सेवन लाभदायक माना है। किन्तु निर्बल शरीर वाले जिनके मूत्रकी प्रतिक्रिया अम्ल है, उनको दूध और फल एक साथ खिलानेपर दिनमें मूत्रावरोध और रात्रिको स्वप्नदोषकी प्राप्ति होती है। इस तरह कसौटीमें जो बात नहीं उतरती, उसको स्वीकार नहीं करना चाहिए।

(१२) आवश्यक सूचना।

१—रोगीके बिस्तर, वस्त्र, स्थान, जलपात्र तथा मलमूत्रके पात्र आदिकी स्वच्छता और विशुद्धतापर पूर्ण लक्ष्य देना चाहिये। शरीरको भी सम्हाल-पूर्वक स्वच्छ रखना चाहिये।

२—रोगीको पथ्य भोजन और जलपान नियमित समयपर योग्य परिमाणमें ही देना चाहिये। (अपथ्य या अधिक न दें)

३—रोगीके कमरेमें रात्रिको अति तेज प्रकाशवाली बिजलीकी बत्ती या वायु दूषित करनेवाली रोशनी न रखें और दर्पण भी नहीं रखना चाहिये। दर्पण हो, तो उसपर वस्त्र ढक देना चाहिये। कमरेमें दुर्गन्धकी उत्पत्ति न हो जाय, एवं मक्खियोंका उपद्रव न हो, इस बातकी भी सम्हाल रखना चाहिये।

४—रोगीका पलंग दीवारको लगा हुआ नहीं होना चाहिये।

५—रोगीके कमरेमें ताजे सुगन्धित पुष्प रखें। एवं विविध रोगोत्पादक कीटाणुओंको नष्ट करनेके लिये अगरबत्ती या दूसरा धूप सुबह-शाम करते रहें।

६—सेवा करनेवालेको चाहिये कि, रोगीको प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करे। रोगी नाराज होकर क्रोध करे; फिर भी उसे शान्तिपूर्वक समझाना चाहिये।

७—रोगीके ज्वर बढ़ना; घटना, दस्त, पेशाब आदिकी यादी चिकित्सकके कथनानुसार करते रहना चाहिये।

८—रोगीकी इच्छा होनेपर भी अपथ्य भोजन नहीं देना चाहिये।

९—सम्बन्धी वर्ग कदाचित् कोई मिलने आवें तो उन्हें भी चाहिये कि रोगीको धैर्य दें। मिलनेवालेको चाहिए कि रोगीके कमरेमें अधिक समय न बैठें। रोगीको अधिकसे अधिक विश्रान्ति लेने दें।

१०—संक्रामक रोगमें सेवा करनेवालोंको अपनी प्रकृति न बिगड़ जाय, इस बातकी सम्हाल रखना चाहिए। अपने शरीर, वस्त्र, भोजन आदिकी स्वच्छताका पूर्ण लक्ष्य रखें। रोगीके बिस्तरको रोज एक घण्टा धूपमें निकाल दें। मल, मूत्र, और वमनको तुरन्त बाहर दूर भिजवा दें और जमीनमें गड़वा दें। कफके पात्रको खुला न रखें और पात्रमें थोड़ा मिट्टीका तैल (kerosene oil) डाल दें, ताकि मक्खियोंका त्रास न हो।

११—रोगी अधिक दिन तकका बीमार हो, तो गरम जलमें स्पञ्जको भिगो कर सारे शरीरको साफ करते रहें। कदाचित् ज्वर हो, तो निम्बपत्रका क्वाथ, कोन्डिस फ्ल्यूड (Condys Fluid) या कॉलन वाटर जलमें मिला उससे शरीरको पोंछते रहें।

११० बूँद जलमें १ ग्रेनके हिसाबसे पोटास परमेंगनेट मिलानेसे कोन्डिस फ्ल्यूड या लाइकर पोटास परमेंगनेट तैयार होता है।

१२—रोगीके दीर्घकाल तक शय्यावश रहनेसे यदि पीठपर शय्या व्रण हो जाय, तो उस भागको त्रिफलाके क्वाथ या कोन्डिस फ्ल्यूडसे धोकर, सेलखड़ीकी भस्म, सोहागा फूला, बोरिक एसिड, वेसलीन या जात्यादि घृतकी पट्टी लगाते रहें।

१३—जिन रोगियोंको मलावरोध रहता हो; उन्हें गेहूँके मोटे आटेकी रोटी, हल्का भोजन, ताजे पत्ती और फूलोंका शाक, अञ्जीर, मुनक्का, संतरा, मोसम्बी आदि फल, गरम करके निवाया रखा हुआ दूध इत्यादि पथ्य भोजन दें। गरम गरम चाय, चावल; मैदाके पदार्थ, वेसनकी मिठाई, बार-बार भोजन, असमयपर भोजन, ये सब हानिकर हैं।

१४—पतले दस्त लगते हों, तो मट्ठा, भात, खिचड़ी, कच्चे खट्टे फल और

थोड़े परिमाणमें भोजन हितकर है। गरम-गरम भोजन हानिकर है। दूध देना हो, तो बकरीका दें। रोगीको अधिक परिश्रम न करने दें।

१५—मूत्रमें अम्लता अधिक हो, तो खट्टे पदार्थ, भात, मठ्ठा, अधिक घी, तैल, गुड़, पक्का भोजन, शराब, गरम मसाला, इनका त्याग करना चाहिये। दूध, थोड़ा घी, सादा भोजन, ये सब हितकर हैं।

' १६—मूत्रपिण्डों (वृक्कों) में दाह हो, तो चावल, कुलथी, शराब, दही, गरम चाय, गरम मसाला, इनका त्याग करना चाहिये।

वात-पित्त और कफ प्रकोपमें अनुकूल-प्रतिकूल आहार-विहारका, जो कि उपोद्घात प्रकरणमें लिखा है, विचार करना चाहिये। अधिक विस्तार पृथक्-पृथक् रोगोंके साथ किया जायगा।

रोगीकी सेवा कैसे करनी, विविध रोगोंमें क्या-क्या सम्हाल रखना चाहिये, ओषधियाँ कैसे देना, कब देना, ज्वर आदिकी पारी कैसे रखनी चाहिये, सफाई किस तरह रखनी चाहिये, इन सब बातोंके लिये चिकित्सकको पूर्ण लक्ष्य रखना चाहिये।

१३. बालकोंके लिये औषध मात्रा।

बालककी आयु जितने वर्षकी हो, उस संख्याके साथ १२ मिलाकर फिर आयुके वर्षसे भाग करें। जैसे एक बालककी आयु ४ वर्षकी है तो ४ में १२ मिलानेसे १६ होता है। फिर ४ से भाग करनेपर $\frac{1}{4}$ होता है। अतः बड़े मनुष्यको जितनी ओषधि दी जाय, उसका चौथा हिस्सा देवें। इसी हिसाबसे भिन्न भिन्न आयु वालेको निम्नानुसार मात्रा देनी चाहिये।

आयु			मात्रा		आयु			मात्रा	
३ मासतक	पूर्णमात्राका		१/३६	हिस्सा	४ वर्ष तक	पूर्ण	मात्राका	$\frac{1}{4}$	हिस्सा
६	,,	,,	१/२४	,,	८	,,	,,	$\frac{1}{3}$	,,
१२	,,	,,	१/१२	,,	१२	,,	,,	$\frac{1}{2}$	,,
२ वर्ष	,,	,,	१/७	,,	२०	,,	,,	$\frac{2}{3}$	,,
३	,,	,,	१/५	,,	६०	,,	,,	पूर्णमात्रा	

फिर शक्ति कम होनेपर थोड़ी-थोड़ी मात्रा कम करनी चाहिये।

१४ संक्रामक रोगोंका चयकाल।

(Incubation Period of Infectious Diseases)

संक्रामक (संसर्गजन्य) रोगोंके कीटाणुका प्रवेश होनेपर चय अवस्था अर्थात् भिन्न-भिन्न रोगोंकी उत्पत्ति होनेमें न्यूनाधिक दिन लगते हैं।

इस चयकालके लिये भिन्न-भिन्न रोगोंका समय निम्नानुसार माना है।

रोगका नाम	चय दिन	सामान्यतः
आंत्रिक ज्वर Typhoid	७ से २१	१४
वातश्लैष्मिक सन्निपात Influenza	२ से ४	
ग्रन्थिक सन्निपात Plague	३ से ७	
सूतिका ज्वर Puerperal Fever	३ से १०	
दुग्ध ज्वर Abortus Fever	५ से १५	
विषम ज्वर Malaria Fever	६ से २५	११-१४
सविराम ज्वर Intermittent Fever	आधा दिन	
काला आजार Kala Azar	३ से ६ मास	
प्रलापक ज्वर Typhus Fever	५ से २१	१२-१४
परिवर्त्तित ज्वर Relapsing Fever	४ से १०	
शोणित ज्वर Scarlet Fever	१ से ८	२ - ३
पीत ज्वर Yellow Fever	१ से १८	
शीतला Small pox	१० से १४	१२-
लघुमसूरिका Chicken pox	११ से २१	१४-
खसरा (रोमांतिका) Measles	७ से १४	१०-११
शोणित ज्वरसह रोमांतिका German measles	५ से २१	१७-१८
कर्णमूलिक ज्वर Mumps	१२ से २३	
रसग्रन्थि प्रदाहक ज्वर Glandular Fever	७ से ८	
दण्डक सन्निपात Dengue	५ से ९	
हैजा-विसूचिका Cholera	१ से ६	
कण्ठ रोहिणी Diphtheria	२ से १०	३ - ४
विसर्प Erysipelas	३ से ६	२ - ३
काली खाँसी Whooping Cough	६ से १८	७ -
घातक स्फोटक* Anthrax	२ से ३	१ -
पूयमेह (सुजाक) Gonorrhoea	३ से १०	
उपदंश (फिरंग) Syphilis	१० से २८	
अपतानक (धनुर्वात) Tetanus	१ से २४	१२-
क्षय Phthisis	कुछ सप्ताह	
श्वान विष Hydrophobia	१२ से २४०	१८०-

भिन्न-भिन्न रोगोंमें रोग हो जानेपर पिटिका कितने कालके पश्चात्

* क्वचित् भेड, बकरी आदिको रखने वाले तथा इन पशुओंके ऊन और चमड़ेके व्यापार करने वालेको यह अन्थ्रेक्स रोग हो जाता है।

निकलती हैं और रोग दूर हो जानेके पश्चात् विष शमनमें कितना समय लगता है, यह निम्न कोष्ठकमें दर्शाया है।

रोग	पिटिका दर्शन	विष शमन काल
आन्त्रिक ज्वर	दूसरा सप्ताह	ज्वर जानेके कितने ही सप्ताह बाद
वातश्लैष्मिक ज्वर		ज्वर जानेके २ सप्ताह बाद
प्रलापक ज्वर		ज्वर उतरनेके ५ दिन बाद
शीतला	तीसरे दिन	३ से ८ सप्ताह-ऊपरकी त्वचा निकल जाय तब
मोतिया	पहले दिन	२ से ४ सप्ताह
खसरा	चौथे दिन	४ से ८ दिन
दण्डक ज्वर	पहले या चौथे दिन	
कण्ठ रोहिणी		कण्ठ खुलनेके पश्चात् २१ दिन

(५) प्राकृतिक चिकित्सा (Naturopathy; Physicotherapy.)

इस चिकित्सामें किरण (प्रकाश किरण और उष्ण किरण), विद्युत्, वायु (गेस), अंग मर्दन, व्यायाम, जल, अग्नि, मिट्टी आदि नैसर्गिक साधनोंसे उपचार किया जाता है। इस चिकित्सा प्रणालीमें आयुर्वेद कथित पञ्चकर्म का भी उपयोग हो रहा है। वर्तमानमें इस चिकित्साके भीतर अधिकतर विदेशी उपकरणोंका उपयोग हो रहा है।

१. किरणोपचार—(Roentgenotherapy) इसका महत्व वर्तमानमें बढ़ रहा है। वर्ण, भेद और तरंग और शक्ति आदिके भेदसे इसके साधन कतिपय प्रकारके होते हैं। दीपकवृत्त (Chandelier) के काचकी त्रिकोनी लटकनमेंसे सूर्यके प्रकाशको देखनेपर उसमें इन्द्रधनुषके लालसे नीले पर्यन्तके सप्तरंगके किरण प्रतीत होते हैं। इन किरणों (Rays) में प्रबल महाशक्ति अवस्थित है। इससे आकाश (Ether) में तरंग (Waves) उत्पन्न होते हैं। इन किरणोंके रंग, तरङ्गोंकी लम्बाई और बल भेदसे विभिन्न प्रकारके होते हैं। नील लोहित (वनप्साई Violet) किरणकी तरंग लालकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है और अति जल्दी बहती है। उस वनप्साईकी अपेक्षा सूक्ष्मतर और लालकी अपेक्षा बड़े तरंग भी होते हैं।

ज्ञ किरणमें प्रतीत होने वाले गामा (Gamma) किरणकी तरंगकी लम्बाई एक मीटर (३९$\frac{1}{3}$ इञ्चके एक खर्वांश ८१०० अरबवां हिस्सा) जितनी ही होती है। यह प्रबल प्रवेशक शक्ति प्रधान किरण है। इससे तारमें समाचार भेजा जाता है। उस पद्धतिमें ३००० मीटरकी तरंगोंका उपयोग होता है।

नील लोहितातीत (Uletra-violet) किरणकी तरंगें नीललोहितकी अपेक्षा सूक्ष्मतर और दृष्टिसे अगोचर होती हैं। क्ष. किरणकी तरंगें उससे सूक्ष्म और रेडियनसे निकलने वाले गामाकी तरंगें क्ष. किरणसे भी सूक्ष्मतर होती हैं।

विद्युत् लोह चुम्बक (Electro-magnetic) तरंगोंमेंसे रक्तके इस ओर के बड़े तरंग अधोरक्त (Infra-red) उष्णोपचार (Heat therapy) में प्रयुक्त होते हैं। इसकी तरंगोंकी लम्बाई ७७०० से ५००,००० एंगस्ट्रम यूनिटके बीचकी होती है। इनकी बड़ी तरंगोंको हर्टझनकी किरण (Hertzian rays) संज्ञा दी है। इनमेंसे कतिपय तरंगें डायाथर्मी (Diathermy) अर्थात् त्वचाके निम्न अवस्थित तन्तुओंको सेक पहुँचानेमें उपयोगी होती हैं।

कतिपय टेलिविजन (Television) अर्थात दूरके पदार्थोंका निरीक्षण करने एवं कई तारके समाचार भेजने और आकाशवाणी (Wireless Broad casting) के लिये उपयोगी होती हैं। उक्त सब किरणें विद्युत् लोह चुम्बक Electro magnetism) के तरंगोंकी हैं। तरंगें जितनी सूक्ष्म होंगी, उतनेही उनके आंदोलनके प्रकम्पन (Vibrations) फैलते जाते हैं।

किरणें उत्पत्ति स्थानसे जितने अधिक दूर जाती हैं, उतनी ही उनकी तीव्रता (Intensity) न्यून और न्यूनतर होती जाती है। एक फुटके अन्तरपर किरणकी तीव्रता (१) माननेपर दो फीट अन्तरपर $\frac{१}{४}$ अंश और १० फीट दूरीपर $\frac{१}{१००}$ अंश ही रहजाती है। जितने अन्तरका वर्ग (Square) हो, उतने अंशमें तीव्रता (प्रखरता) रह जाती है।

रेडियमकी गामा किरणें ही विक्षिप्त् पदार्थसे निकलती हैं। शेष सब किरणें अनेक प्रकारकी विद्युत् आदि शक्तिद्वारा उत्पन्न करानी पड़ती हैं।

रेडियम किरणें रेडियम धातुसे उत्पन्न होती हैं। इसका परमाणु भार (Atomic Weight) २२६ है। इसका प्रयोग वर्तमानमें विविध चर्मरोग १. मण्डल कुष्ठ; २. क्षिट्टिभ, (और विचर्चिका); ३. ग्रन्थि विसर्प; ४. रसार्बुद, ५. फंगस कीटाणु जनित रक्ताभ अर्बुद सदृश वृद्धि पूयात्मकक्षत (1. Lupus; 2. Eczema; 3. psoriasis; 4. Xanthoma; 5. Mycosis or Fungoides) और कर्क स्फोट; (Cancer,Sarcoma) आदि अर्बुद, त्वचाके अर्श (Papilloma, Warts) तथा घातक पाण्डुरोग (Lymphatic Ieukemia) आदिपर विष और कीटाणुओंको नष्टकर सत्वर लाभ पहुँचानेके लिये सफलता सह हो रहा है।

रेडियमसे जो तेज किरणें निकलती हैं, उनके ३ प्रकार हैं। जो किरण ऋण (Negative) विद्युत् क्षेत्रकी ओर झुकती है अर्थात् जिसपर धन (Positive) विद्युत् होती है उसे अल्फा (Alpha or Anode Rays) किरण

संज्ञा दी है। एवं जो किरण धन विद्युत् क्षेत्रकी ओर झुकती है अर्थात् जिसपर ऋण विद्युत् होती है, वह बीटा (Beta or Kethode rays) किरण कहलाती है। जो किरण ऋण या धन विद्युत् क्षेत्रकी ओर नहीं झुकती, अपने मार्गपर सीधी चली जाती है, वह गामा (Gamma रोएटेजनसे छोटे तरङ्ग) किरण कहलाती है।

एल्फा किरणमें हीलियम मूल तत्वका परमाणु केन्द्र होता है, जिसमें २ प्रोटोन और न्यूट्रोन होते हैं। बीटा किरणमें १ इलेक्ट्रोन और गामामें कोई परमाणु नहीं होते। वह शक्तिकी तरङ्ग धारा है।

तेजवान् पदार्थसे निकलनेवाली उक्त तीनों किरणोंकी तरङ्गोंकी लम्बाई बहुत कम होती है। इसी हेतुसे ये तीनों किरणें ठोस एक्स किरणोंके समान ठोस वस्तुओंके भी पार हो जाती हैं।

बीटा किरणोंपर विद्युत् मात्रा होती है, इस हेतुसे तेजवान पदार्थोंको सरलतासे छिपाकर नहीं रखा जासकता। तेजवान परमाणुओंसे निकलनेवाली किरणें मानव देहमें प्रवेशकर जाती हैं, वे उसे जला देती हैं। इसलिये उचित सावधानी पूर्वक इन किरणोंका उपयोग केन्सर, अर्बुद आदिके उपचारार्थ किया जाता है।❀

A क्ष—किरण-X.Rays.

क्ष किरणका शोध १८६५ ई. में जर्मन डाक्टर रञ्जन (Roentgen) ने किया है। इसलिये इसे रञ्जन किरण (Roentgen Rays) भी कहते हैं। इन किरणोंकी उत्पत्ति प्रचण्ड तीव्र विद्युत् शक्ति द्वारा होती है। बम्बईके विद्युद्दीपकको २४० वाल्ट (Volt) शक्ति लगती है। ये किरणें अनेक धातुओंके लिये पारदर्शक हैं। बेरियम प्लेटिनो साइनाइड (Barium Platino Cyanide) द्रव्यपर ये किरणें पड़नेपर उसे स्वप्रकाश्य (Fluorescent) बनाता है। जिससे पिछली ओर खड़े हुए मनुष्यके अस्थि और घन भागका हूबहू चित्र प्रतीत हो जाता है। इन किरणों द्वारा फोटो ले सकते हैं। इसी

❀ केन्सरकी चिकित्साके लिए पहले रेडियम और शक्तिशाली क्ष किरणका प्रयोग किया जाता था। रेडियम बहुत महँगी वस्तु है और क्ष किरण उत्पादनार्थ निश्चित प्रकारकी सामग्रीकी आवश्यकता रहती है। वर्तमानमें परमाणुरिएक्टरमें बना हुआ कोबाल्ट (Cobalt) का तेजवान आईसोटोप (Isotope) प्रयोजित हो रहा है। प्रबल कोबाल्टसे शक्तिशाली किरणें निकलती हैं और यह उक्त दोनों प्रयोगोंकी अपेक्षा सस्ता पड़ता है। केन्सरके अतिरिक्त इसका उपयोग कागज, प्लास्टिक रबर और लोह आदि विभिन्न उद्योगोंमें विशेष निर्णयार्थ भी हो रहा है।

हेतुसे रोग विनिर्णयार्थ इसका उपयोग हो रहा है। एवं दाह, चर्मरोग और अन्य अवयवोंके रोगोंमें भी अधिक व्यवहृत होता है।

सूचना—क्ष किरणका प्रयोग करनेमें यदि भूल होती है, त्वसंरक्षणका लक्ष्य नहीं रखा जाता है, तो कर्कस्फोट (Cancer) हो जाता है, या त्वचा जल कर असाध्य रोगकी प्राप्ति हो जाती है।

शिलाजतु (Pitchblende) के भीतर रेडियम और पोलोनियम सूक्ष्म परिमाणमें अवस्थित हैं। इसके किरण प्रभाव (Radio active) का शोध १८६७-६८ में हुआ है। शिलाजतु हिमालय और अमेरिकाके भीतर कनाडा-कांगो आदि प्रदेशोंमें पहाड़ोंके पत्थरसे टपकता है।

सुवर्णके दागसे बन्द की हुई चांदी और प्लेटिनमकी नलियोंमें रेडियम लवण आता है। इन १/१० मिलि ग्रामकी नलीका मूल्य करीब १०००८) रु० है। इन नलियोंमेंसे रेडियम नहीं उड सकता। ये नलियां आवश्यकता अनु-सार विभिन्न आकारकी बनाई गई हैं। इनका उपयोग अति सम्हालपूर्वक किया है। ये उष्णता और प्रकाश देती हैं। इनमें सड़े प्रकारके विभिन्न विकि-रण (Radiation) निकलते हैं, जिनको आल्फा (मन्द प्रभावी) बेटा (B या Cathode) और गामा किरण संज्ञा दी है। इनके अतिरिक्त रेडियम प्रभाव पूर्ण गेस भी निकलता है। जिसे क्ष किरण निःसरण (Radium-emena-tion) कहते हैं।

नीललोहितातीत किरण (Ultraviolet rays)

यह किरण सूर्य प्रकाशसे भी मिल सकती है। ग्रीष्म ऋतुमें दोपहरके समय प्रखर धूप पड़ती है, उसके भीतरसे ये किरणें अधिकांशमें मिलती हैं। इस प्रकारके किरणोपचारका उपयोग भारतमें प्राचीन कालसे हो रहा है। इसका विधान आयुर्वेदके संहिता ग्रन्थोंके अतिरिक्त स्मृतियोंमें भी मिलता है।

पहाड़ोंकी अपेक्षा शहरोंके वायु मण्डलमें बद्दल, धूली, धूआं, आदि होने से बहुतसे नीललोहितातीत किरणें भूमि तक नहीं पहुँच सकतीं। एवं दरवाजे और खिड़कियोंके सादे काचमेंसे यद्यपि सूर्यका प्रकाश आ जाता है, फिर भी नीललोहितातीत किरणके आनेमें सफेद काचसे भी व्यवधान पड़ता है। मात्र बिल्लौर काच (Luartzglass) से ये किरणें मिल सकती हैं।

C सूर्य किरण चिकित्सा (Helio therapy)

यह प्राकृतिक चिकित्साका अंग है। सूर्य किरण न मिलनेपर विद्युत्की सहायतासे उतनी ही प्रखर कृत्रिम सूर्य किरण उत्पन्न करायी जाती है। जाम-नगर (सौराष्ट्र) में किरणोपचार गृह (Solarium) बनाया गया है।

पेशियोंका परीक्षण, विभिन्न स्थानके तन्तुओंसे उष्णता उत्पन्न कराना, देहके भीतर प्रकाशका प्रवेश कराकर अन्तस्थ अवयवोंका निरीक्षण करना, अवयव और ग्रन्थियोंको निकाल देना, घावको कीटाणु रहित विशुद्ध बनाना, चिरकारी (Chronic) घावोंके तन्तुओंको उत्तेजना पहुँचाना, तन्तुओंके भीतर विद्युत् प्रवाह द्वारा औषधि पहुँचाना (Medical ionization) और अर्बुदकी अस्त्र चिकित्सामें रक्तस्राव न होने देना आदि कार्योंके लिये विद्युत् प्रयोग किया जाता है।

विद्युत्प्रवाह प्रकार—(१) खण्डित (Faradic or inter rupled; २. सन्तत (Yalvanic); ३. वर्द्धनशील (Sinus oidal);

१. खण्डित—इसके लिये विद्युत् लोह चुम्बकीय बेटरी (Electro magnetic battery) का उपयोग होता है। बेटरीके तारमेंसे विद्युत्प्रवाह प्रति सेकण्ड ५० से १०० वार प्रवाहित होता है। इस प्रकारसे बार-बार उलट सुलट विद्युत्प्रवाह बलपूर्वक बहता है। बार-बार वहन और बन्द होनेके लिये यन्त्रके भीतर लोह चुम्बककी उसी प्रकारकी योजना होती है। इसके अतिरिक्त प्रवाहको लघु-दीर्घ और तीव्र-तीक्ष्ण करनेकी योजना भी रहती है।

क्ष. किरण

(विद्युत् लोह चुम्बकीय लघु तरंगोंका प्रकम्पन)
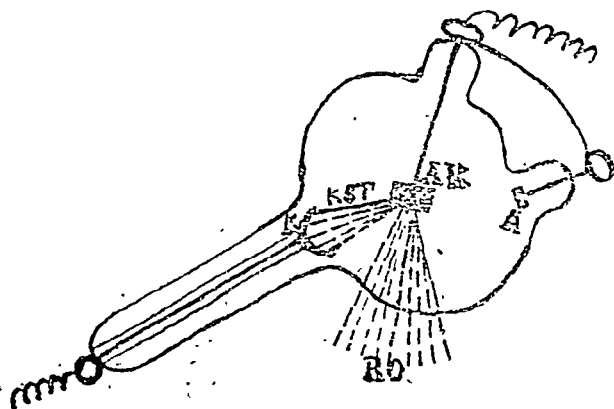
अनुलोम धनविद्युत् स्थान	A=Anode (Positve)
विलोम ऋणविद्युत् स्थान	K=Cathode (negative)
विलोम किरण	KST=Cathodc (ray)
प्रति विलोम	AK=Anticathode
विभिन्न रोगोंपर उपयोगी क्ष. किरण	RO=Roentgen rays

डायाथर्मी--(Diathermy) यह उष्णोपचारप्रद क्रिया है। इस डाया-थर्मीके यन्त्रद्वारा परिवर्तित (Alternating) खण्डित प्रवाह अधिक त्वरासे बहते हैं। अतः इसे त्वरित प्रवाह (High frequency curent) कहते हैं। सामान्यतः प्रतिसेकण्ड ५० बार उलट सुलट प्रवाह होता रहता है। उस स्थानपर शहरोंमें इसे आवश्यकता अनुसार १०००० बार या कभी करोड़ों बार उलट सुलट बहने वाली चना लेते हैं। औषधीय प्रकारमें तरंग सीधी गति करती है। यह अपक्रान्ति वाले कोषाणु और तन्तुओंको जीवन प्रदान करती है। अस्त्रोपचारीय प्रकारमें तरंग तिर्यक् गति करती है। यह तन्तुओंको जमाती है। अतः इसके २ प्रकार होते हैं।

विलम्बित तरंग युक्त उष्णोपचार (Long wave diathermy)-:इसमें १०० से ३०० मीटर लम्बाईकी तरंगोंका प्रयोग करते हैं। यह प्रवाह अस्त्र-चिकित्साके समय व्यवहृत होता है इसका उपयोग किसी स्थानको काटने, ग्रन्थिको समूल निकाल देने या ग्रन्थिमें उष्णता उत्पन्न कराकर पकानेके लिये होता है।

लघुतरंग युक्त उष्णोपचार (Short wave diathermy)—:इस प्रकारमें विद्युत् प्रवाह अति त्वरित बहता है। प्रति सेकण्ड १ करोड़से १० करोड़ चक्रतक प्रगति होती है। तरंगकी लम्बाई ३० मीटर तक होती है। इसे जहां लगाते हैं, वहां १०८° से ११२° फा० उष्णता उत्पन्न होती है। यह उपचार आध घण्टेतक करते हैं। यदि तरंग १२ मीटरसे छोटी हो, तो उसे लघुतर तरंगयुक्त उष्णोपचार संज्ञा देते हैं।

वक्तव्य—इस उष्णोपचारका उपयोग आमवात (Rheumatism) राज-यक्ष्मा (Tubereulosis) और त्वग् विकारोंपर होता है । इसका प्रयोग अति सम्हालपूर्वक थोड़े समयतक ही किया जाता है।

२. सन्ततप्रवाह—इलेक्ट्रिक बेटरीमें एसिड या एमोनियम क्लोराइडके द्रावणकी सहायतासे संतत प्रवाह उत्पन्न कराया जाता है। यह प्रवाह एकही दिशामें संतत धन-अस्ति अग्र (Positive Pole anode) से ऋण-नास्ति अग्र (Negative pole cathode) की ओर बहता रहता है। इन अग्रोंको गीला करके पीड़ित स्थानपर १० से १५ मिनट तक रखते हैं। इस प्रवाहसे मांसपेशियां और अन्य अवयव उत्तेजित होते हैं, उनका क्षोभ दूर होता है और उनको शान्ति मिलती है।

३. वर्द्धनशील—इसमें क्रमशः विद्युत् प्रवाह बढाया और घटाया जाता है। इस प्रकारके प्रवाहको स्नातपात्र या अन्य किसी औषध मिश्रित जल पात्रमें प्रवाहित करके उपचार किया जाता है। यह प्रवाह प्रबल हो जानेपर भी वेदना

नहीं होती है और न चटका लगता है।

श्नीतापन—(Schneebath) जो रोगी नित्य उपचार लेनेके लिये आते हैं, उनके लिये यह अधिक सुविधा प्रद है। इसमें कपड़े उतारनेकी आवश्यकता नहीं है, तत्काल उपचार लेकर रोगी अपने कार्यपर जा सकता है। इसके लिये ४ द्रावण पात्र भरे हुए रखने हैं। फिर प्रत्येकमें एक एक हाथ और एक एक पैर रखवाते हैं और विद्युत्प्रवाह छोड़कर उपचार किया जाता है। यह कोषाणु नाशक विद्युत् क्रियां (Elctrolysis) है। इसके प्रवाहसे कोषाणुओंमें विश्लेषण (Analysis) होता है। एवं प्राणवायु या अन्य वायु उत्पन्न होकर इन कोषाणुओंको नष्ट करते हैं। यह उपचार विकृत वृद्धि, ग्रन्थि (अर्बुद) और कोषाणु विकार आदिको समूल नष्ट करता है।

त्वचापर या गहरे स्थानमें बढ़े हुए कोषाणु या ग्रन्थि, तिल (Naevus), मस्से (Warts) अस्थानपर उत्पन्न केश, इनको नष्ट करनेके लिये यह तापन व्यवहृत होता है।

अणु पृथक्करण—(Ionization) विद्युत्की संतत प्रवाहकी पद्धतिद्वारा आयोडीन आदि ओषधिके सूक्ष्म परमाणुओंको गहराईमें रहे हुए रोग स्थानपर पहुंचाया जाता है।

संधि स्थानमें जल संग्रह होनेपर आयोडीन, आमवातमें सोडियम सेलिसिलेट, वातनाड़ी प्रदाह (Neuritis) में क्विनाइन, व्रण संधानक त्वचा (Scar) के खिंचावके दमनार्थ नमकका उपयोग होता है। इनमें उपधातुओंके लवण और क्विनाइन ऋणकी ओरसे तथा आयोडिन, नमक आदि धनकी ओरसे देहमें प्रवेश करते हैं।

इलेक्ट्रो कार्डियोग्राफ-(Electro cardiograph)-शरीरमें रक्तप्रवाहकी दिशामें हृदयकपाटके आकुंचन (Systol) और प्रसारण (Diastole) के समय अति सूक्ष्म विद्युत् प्रवाह प्रारम्भ होता है। उनकी गति और तीव्रता का माप इस यन्त्रद्वारा विदित होता है। एवं उसका चित्र भी इस यन्त्रकी सहायतासे लेकर हृद्रोगकी सूक्ष्म विकृतिका विनिर्णय भी किया जाता है।

असहिष्णुता—(Intolerance)—कितने ही पित्त प्रकृतिवाले और पित्त प्रकोपयुक्त रोगी विद्युत्प्रवाहके उपचारको सहन नहीं कर सकते। उनपर उपचार किया जाता है, तब अतिदाह, अम्लवान्ति, हांफचढना, अति स्वेद आना, मुख मण्डल निस्तेज होना, चक्कर आना और बेहोशी आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

चेहरा लाल लाल हो जाय, दाह होने लगे या हांफ चढने लगे तो उपचार बन्द करें और प्रवाहको शनैः शनैः बन्द कर देवें, रोगीको सुला देवें। धड़से

मस्तिष्कको नीचा रखें, खिड़की खुली रखें, पैरोंके पास गरम थैली रखें और ब्राण्डी या गरम कॉफी पिलावें।

३. गेसोपचार

कार्बन डायओक्साइड गेसको अति शीतल करनेपर बर्फके सदृश जम जाता है। वह शहरोंमें मिल जाता है अथवा गेसकी सिलिण्डरमेंसे गेसको वेगपूर्वक कपड़ेपर छोड़नेपर बन जाता है। इसकी सलाई बनाकर क्षयजक्षत (Rodentulcer), रोहे (Trachoma), मस्से (Warts), तिल (Naevus) आदि पर लगानेसे वह स्थान जल जाता है और गलकर बिल्कुल दूर हो जाता है।

(४) श्वसनोपचार।

हृद्रोगमें जब रक्ताभिसरण ठीक न हो, तब शरीरको प्राणवायुकी अति आवश्यकता होती है और श्वसन हाँफ सह होता है। ऐसी ही स्थिति रक्तालय (blood dept) में रक्ताणु और रक्तरंगकी न्यूनता होने तथा न्युमोनिया आदि फुफ्फुसके रोगोंमें मानस धक्का (Shock) लगनेपर भी उपस्थित होती है। इस विकृतिको दूरकरनेके लिये प्राणवायु सुंघाया जाता है, जिससे थोड़े श्रमसे पूर्त्ति होती है। रोगीको विश्रान्ति मिलती है, शारीरिक व्यापार उत्तम रीतिसे चलता है; मस्तिष्क उत्साहित रहता है; और अन्य रोगहर उपचारसे लाभ होने तक बहुत सहायता मिल जाती है।

प्राणवायु फोलादके अमृतबानों (Steel cylinders) में अनेक गेलन भरी हुई मिलती है। शहरोंमें ऐसा सिलिण्डर किरायेसे मिलता है, या एक सिलिण्डर मोल लिया हो, तो वह अखण्ड टिकता है। जिसमें बार बार प्राणवायु भरा सकते हैं। सिलिण्डरमें कितने घनफुट प्राणवायु है, यह वजनपरसे विदित होता है। सिलिण्डर सामान्यतः ४० से १०० घनफुटका होता है। सिलिण्डरका मुँह स्क्रुसे बन्द किया हुआ होता है। कमरेसे बाहर चाबीसे स्क्रु फिराकर प्राणवायु धीरेसे छोड़ें, फिर रोगीके पास सिलिण्डर लावें। वायु व्यर्थ न जाय, सब वायुका श्वसनमें उपयोग हो; इसलिये सिलिण्डरको रबरकी नली जोड़कर मुँहके पास लावें। सिलिण्डरके स्क्रु आदिको तेल न लगावें। भीतर प्राणवायु अति दबावके नीचे रहता है, अतः स्क्रु धीरेसे फिरावें। इसके अतिरिक्त सिलिण्डरके ऊपर एक पर्दा (Valve) बैठावें; और उसमेंसे प्राणवायु छोड़ें। एवं प्राणवायुके बहनेका परिमाण दर्शानेवाला यन्त्र (Flow-meter) और भीतर प्राणवायु कितनी है यह दर्शानेवाला मापन यन्त्र (Meter) बिठा लेवें।

प्राणवायु अति परिमाणमें श्वसनको दी जायगी या बिना जलसे निकाल

दी जायगी तो श्वासवाहिनी और सूक्ष्म श्वास प्रणालिकाओं (ट्रेकिया और ब्रोंकिओलाय) में दाह होगा। इसलिये प्राणवायुमें आर्द्रता (Moistened) लावें और उसे गरम करें। इन उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये प्राणवायुके बुदबुदे एक बोतलके भीतर उष्ण जलमें निकाल फिर उसमेंसे श्वसनके लिये देवें। इसके लिये वुल्फकी बोतल (Wolff's bottle) का उपयोग करें। जलमें डूबने वाली नलीको सिलिण्डरकी ओरकी रबरकी नलीसे जोड़कर उसे मुखके पास लेवें। एक सुराहीमें गरम जल रख उसमें वुल्फकी बोतलको रखें। फिर कोई कोई इस दूसरी नलीको चोंगा लगा रोगीके मुँहके पास रखते हैं, किन्तु वह पद्धति भूलवाली है। उसमें प्राणवायु बहुत व्यर्थ जाती है। एवं रोगीको कितना मिला, यह समझमें नहीं आता। सबसे उत्तम युक्ति यह है कि, नासापुटोंमें सूक्ष्म कैथीटर डाल उनके द्वारा प्राणवायुको छोड़ें। नाकको त्रास होता है इसलिये कभी प्राणवायु देनेके लिये विशिष्ट तम्बू (Oxygen tent) बनाकर वायु देते हैं।

नाकको धावनसे स्वच्छ कर भीतर परकेन (Percaine) का द्रावण फवारेसे छिड़कें। एवं कैथीटरको मलहम लगावें फिर नासापुट और कण्ठमेंसे उतारकर काकलक (कागलिया) तक जाने दें। इसके आगे उतारनेमें ठसके आते हैं। फिर उसे ऐसा ही रहनेके लिये हेड़-बड या स्टिकिंग-प्लास्टरसे दृढ करें। कैथीटरके स्थानपर बायसिकलकी छोटी नलिकाका उपयोग कर सकते हैं। यह सूक्ष्म और मुलायम होती है; और उससे नाकमें त्रास नहीं होता।

प्राणवायु प्रत्येक मिनटमें ४-६ लिटर, भीतर जाय, इस तरह सिलिण्डरकी टोंटीको फिरावें। मापके ६ घनफीटके ४.५४५ लिटर या ४५४५ सी. सी. प्राणवायु होती है। सिलिण्डरमें यदि मीटर न हो, तो गेसके बुदबुदे जल्दीसे छोड़ें। जिससे लगभग उतना गेस बाहर निकलता है।

उपर्युक्त साधनके अतिरिक्त हैल्डनका यन्त्र और प्राणवायु देनेमें सहायक तम्बू, इनका भी उपयोग आवश्यकता अनुसार किया जाता है।

हैल्डनका यन्त्र (Haldane's apparatus)—इसमें मुख और नाकपर रखनेके लिये क्लोरोफार्मके मास्कके समान एक हल्का मास्क होता है। प्राण-वायु एक वेल्वमेंसे भीतर जाती है; और निःश्वासकी दूषितवायु दूसरे वेल्वमें से बाहर निकलती है। इस मास्कको जोड़ने वाली नलीको एक रबरकी थैली प्राणवायुका संग्रह करनेके लिये होती है। फेस-पीस (चहरेके ऊपर मास्क) को ठीक पट्टीसे बाँधें। इस तरह करनेपर प्राणवायु व्यर्थ नहीं जाती। इस यन्त्रमें एक ही बड़ा दोष है कि रोगीको त्रिदोष प्रलाप (delirium) होनेपर उससे यह बन्धन सहन नहीं होता और वह इसे बार बार निकालकर फेंक

देता है।

प्राणवायुका तम्बू—ऐसे तम्बू अनेक प्रकारके मिलते हैं। इसमें प्राणवायु ४० से ६० प्रतिशत डाल सकते हैं। मात्र शिर तम्बूमें रहता है। भीतरसे बाहरके सब पदार्थ दिखते हैं; और कष्ट या घबराहट नहीं होती। तम्बूमें थर्मामीटर होता है, और बाहरसे खाने पीनेके पदार्थ देनेकी सुविधा भी होती है।

(५) व्यायाम।

शरीरायासजननं कर्म व्यायाम उच्यते।
लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः॥
विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते॥

शरीरको श्रम उत्पन्न हो, ऐसी क्रियाको व्यायाम (कसरत) कहते हैं। व्यायाम करनेसे देह सब ओरसे सुडौल बनती है। शरीरकी सुदृढता, कांति-वृद्धि, अवयवोंकी सुन्दरता, जठराग्निकी प्रदीपता, आलस्यका अभाव, प्रसन्नता, लघुता और मृदुताकी प्राप्ति होती है। परिश्रम, थकान, प्यास, गरमी, सर्दी आदि सहन करनेकी शक्ति बढती है; तथा परम आरोग्यकी प्राप्ति होती है। स्थूलता कम करनेके लिये व्यायामके समान कोई भी साधन नहीं है। व्यायाम करने वालेको शत्रुका भय नहीं रहता, सहसा जरावस्थाका आक्रमण नहीं होता और मांसपेशियाँ सुदृढ़ बनी रहती हैं। जैसे-सिंहके पास मृग आदि क्षुद्र पशु नहीं जा सकते, वैसे नियमपूर्वक व्यायाम करते रहनेसे कोई भी व्याधि नहीं आ सकती। व्यायाम अवस्था, रूप और गुणोंसे हीन मनुष्योंको भी सुन्दर स्वरूप वाला बना देता है।

व्यायामसे विरुद्ध भोजन, विदग्ध (जला हुआ) या अविदग्ध (कच्चा) सब प्रकारके भोजन सुखसे पच जाते हैं। बलवान् मनुष्य और पक्के भोजन करने वालोंको व्यायाम सदा ही पथ्य है। ऋतुओंमें शीतकाल और वसंत ऋतु तो इसके लिये पथ्यतम मानी गई हैं। अपना हित चाहने वाले मनुष्योंको चाहिये कि सब ऋतुओंमें सर्वदा अपने बलसे आधा व्यायाम करते रहें, अन्यथा अधिक व्यायाम हानिकर है।

व्यायाम करते-करते जब श्वासोच्छ्वास मुँहसे चलने लगे, वह आधे बलका लक्षण है। वय, बल, शरीर, देश, काल और भोजनका विचारकर व्यायाम करना चाहिये; अन्यथा रोगकी उत्पत्ति हो जाती है। जब व्यायामसे थकान आजाय, तब पैरोंपर उबटन लगाते रहें। इस बातका स्मरण रखें कि, यदि अधिक व्यायाम किया जायगा तो देह क्षीण हो जायगी; तथा क्षय, तृषा, अरुचि, वमन, रक्तपित्त, चक्कर, थकावट, कास, शोष, ज्वर और श्वास आदि

रोगोंकी उत्पत्ति हो जायगी।

व्यायामके अनधिकारी—रक्तपित्ती, कृश, शोषरोगी, श्वास, कास, उरः-क्षत पीड़ित, भोजन कर लेनेपर, स्त्री समागमसे क्षीण और चक्कर जिसे आता हो, उन सबको व्यायामका निषेध है।

(५) अङ्ग मर्दन (Massage)

विश्रान्ति अवस्थामें त्वचा और मांसपेशियोंको हाथोंसे शास्त्रीय शैली अनुसार उसी स्थानपर चलानेको अंग मर्दन और मालिश कहते हैं।

औषध-चिकित्सा और अस्त्रचिकित्सा, दोनोंकी अनेक व्याधियोंमें मर्दनका उपयोग होता है। औषध चिकित्सा योग्यमें गात्र शिथिलता (Paresis), बालकम्प (Chorea), निद्रानाश, हृद्रोग, आमवात, मधुमेह, पक्षवध (Paralysis) बालकोंकी गात्रसादता, पक्षवध (Infantile paralysis), कटिशूल (Lumbago), गृध्रसी (Sciatica) और अन्य वातनाड़ीशूल (Neuralgia) आदिमें मर्दन प्रयुक्त होता है।

अस्त्र-चिकित्सा साध्य रोगोंमें औषध साध्य रोगोंकी अपेक्षा भी अधिकतर महत्व माना जाता है। संधि विकार, वेदना, चोट लगना, मुड़ जाना, संधिभ्रंश, अस्थिभंग, सपाट पादतल (Flat-foot) आदि विकृतियोंमें मर्दनसे विशेष सहायता मिल जाती है।

वक्तव्य—अङ्ग मर्दनके लिये रोगीको जिस स्थितिमें बैठना या सोना हो, उस स्थितिमें रखें, मर्दनीय भागको खुला रखें, नीचे मृदु सिराना रखें। मर्दनके लिये मांसपेशियां शिथिल हों और रोगीको अच्छा लगे उस तरह स्वाभाविक और सुखावह स्थितिमें उसके अवयवोंको रखने देवें।

मर्दन विधि—मर्दनकार पुरुष (Masseur) या स्त्री (Masseuse) को चाहिये कि रोगीकी ओर मुंहकर उसे कष्ट न हो, उस तरह कुछ अन्तरपर बैठे और अपने हाथ आदिको चलाने जितना स्थान रिक्त (वस्त्ररहित) कर लेवें तथा शान्तिपूर्वक मर्दन करें। जो अवयव दुःखते हों, उनका संचालन सम्हालपूर्वक धीरेसे करावें। मर्दनकी पूर्ण क्रियामें न दुखानेका लक्ष्य रखें। मर्दन वाले हिस्सेको कभी काला, नीला न होने दें। एवं चलाने फिरानेमें अति बल प्रयोग न करें एवं न खींचातानी करें।

मर्दनसे अच्छा होने योग्य स्थानमें अधिक वेदना होनेपर हानि पहुँचती है। मसलने और मर्दनकी अन्य क्रियाओंसे पीड़ित स्थानमें जमा हुआ रुधिर दूसरे दिन ऊपर फैला हुआ प्रतीत हो, वह स्वाभाविक और मर्दनजनित लाभ

है, ऐसा समझना चाहिये ।

मर्दन करनेमें हाथोंको त्वचापर घिसरने न देवें और रोगीकी त्वचा हाथके साथ कुछ सरके और ऊपर नीचे होती है; या नहीं, यह देखें । इसलिये मलहम आदि पदार्थोंको हो सके तब तक टाल देना अच्छा है। यदि औषधि ही मसलनी हो या घर्षण अधिक न हो ऐसा प्रतीत होता हो तो मात्र स्नेहनको उपयोगमें लेवें । स्नेहनोंमें जैतून तेल, गोलेका तैल, सरसोंका तैल, गौ आदि पशुओंके खुरोंसे निकाला हुआ तेल (Ncat's foot-oil) या ऊनका तैल (Lanolin) आदिका उपयोग करें ।

मुख्य उद्देश्य—१. त्वचा और अवयवोंकी क्रियाको उत्तेजना देना ।

२. गहरे भागसे रक्तको ऊपरकी ओर आनेमें सहायता करना ।

३. सर्वाङ्गके रक्त प्रवाह और लसीका प्रवाहको उत्तेजित करना ।

४. आन्तरिक प्रतिबन्ध, प्रदाह जनित रक्त संग्रह और विकृतिको दूर करना ।

५. वेदना शमन कराना ।

६. अङ्गउपाङ्गोंको सबल बनाना और मलको निकाल देना ।

७. मलावरोधको दूर करना ।

८. संधि स्थानोंकी अकड़ाहटको दूर करके संचलनशीलताको उत्तेजित करना ।

९. मांस पेशी संस्थानको सुदृढ़ बनाना ।

१०. वात नाड़ी संस्थानको स्फूर्ति प्रदान करना ।

अङ्ग मर्दन (मालिश) यह रिवाज भारतवर्षका प्राचीन है । स्त्रियोंके लिये पतिका पैर और सासुजीका पैर दबाना यह कर्त्तव्य माना गया है । व्यायाम करनेके पश्चात् मालिश कराते हैं । एवं प्रसूताके पेटको मसलने और तैल मर्दन के लिए दाईको बुलाई जाती है । धनिक और अमीर लोग नाईसे मालिश कराते रहते हैं । यदि मर्दन करनेवालोंको मांस पेशियाँ, मांस पेशियोंकी रचना, उनका मूल (Origin) और पेशीनिवेश (Insertion of muscles) एवं उनको उत्तेजित करने वाली वातनाड़ियां, रक्ताभिसरण और संधि स्थानोंका परिचय हो और कला कुशल हो, तो रोगीको लाभ पहुँच सकता है, तथा थकावट, अकड़ाहट और वेदनाको दूर करके शान्ति दे सकता है ।

रोगी स्वस्थ पड़ा रहता है और अवयव शिथिल कर देता है । फिर मर्दन करनेवाला मांसपेशियों और संधि स्थानोंको निश्चेष्ट स्थिति (Passive-Movements) में संचलित करता है । मर्दनका उपयोग कतिपय रोगोंमें अत्यधिक होता है । इसके लिये कभी-कभी अज्ञ चिकित्सकको मांस पेशियों, नाड़ियों आदिका सम्यक् बोध होता है । अतः उनकी आज्ञा अनुसार कही हुई

पद्धतिसे कहे उतने समय तक मर्दन कराया जाता है। समझपूर्वक मर्दन कराया जाय, तो ही सच्चा लाभ मिलता है, अन्यथा हानि भी हो जाती है। यदि शिरामें रक्त जम गया हो, उस स्थानपर मर्दनकर जमे हुए रक्तको बिखेर दिया जाय और उसका कण रक्ताभिसरण द्वारा हृदयमें आ जाय तो हृदया-वरोध होकर जीवन कष्ट मय बन जाता है।

मर्दनप्रकार—१. मृदुमर्दन (Stroking or Effleurage), २. पेशीमर्दन (Neading or petrissage), ३. आवर्तित मर्दन (Friction), ४. ठेपन मर्दन (Percussion or Tapotment), ५. वातनाड़ी आवर्तन (Nerve friction), ६. संचलन (Movement)—

१. मृदु मर्दन—इस प्रकारमें हलके हाथसे नीचेकी ओरसे ऊपर तक या निम्न सिरेसे धड़की तथा हृदयकी ओर त्वचाको एक ही दिशामें चलाते हैं या त्वचापर हाथ फिराते हैं। इस मर्दनसे वेदना और प्रदाह शान्त होता है। वात-नाड़ी संस्थान प्रकुपित होनेपर निद्रानाश (Insomnia) में यह हितावह है। एवं यह अङ्ग मुड़ने, सांधा उतरने और अस्थिभंग होनेपर रक्ताभिसरण बढाकर क्षोभको शमन करता है।

मर्दनके उक्त ६ प्रकारोंमें मृदु-मर्दन, पेशी-मर्दन और ठेपन-मर्दन ये ३ मुख्य हैं। इनमें भी मृदु-मर्दन सबसे सरल क्रिया है। किन्तु इसका उपयोग त्वचा और उस सम्बन्धवाले हिस्से तक ही मर्यादित है। इससे गहराईमें रहे हुए अवयवोंपर प्रभाव नहीं होता। इस क्रियामें हस्ततलको या अंगुलियोंको ठीक नीचेसे ऊपर फिराना चाहिये। अवयवोंके ऊपर गहरे मुड़े हुए कोण युक्त भाग हों, तो उन स्थानोंके अनुसार हाथ न उठाते हुए, समस्थितिमें रखते हुए फिराना चाहिये। प्रारम्भमें हाथ हलका रखें और ऊपरकी ओर हाथ पूरा होनेके समय बल बढाते जायें।

हाथ फिरानेपर कुछ समयमें त्वचा उष्ण और लाल होती है, उसमें रक्ता-भिसरण बढता है। कुछ दिनोंतक इस प्रकारसे मर्दन कराते रहनेपर त्वचाका पोषण सुधरा हुआ प्रतीत होता है, त्वचाकी वातनाड़ियाँ उत्तेजित होती हैं, उनका क्षोभ दूर होता है, नूतन चोटकी वेदना और कोमलता कम होती है तथा मर्दन करनेपर वह स्थान हलका और सुखावह भासता है। ऐसे मर्दनके पश्चात् त्वचाके नीचे रही हुई मांसपेशियोंको मसलना श्रेयस्कर होता है। संधिभ्रंश, अस्थिभंग और मरोडके उपचारमें हाथ फिरानेकी क्रियासे बहुत लाभ पहुँचता है।

वक्तव्य—हाथ फिरानेमें अंगुलियोंको सरल और परस्पर मिलाकर रखें। हाथ वापस लेनेमें अवयवपरसे न उठाते हुए त्वचाको लगा हुआ ही प्रारम्भके

स्थानपर लावें। सामान्यत: हाथको जल्दी जल्दी फिरावें।

शोथ (Inflammation) या चोट जनित कोमल (Tender) स्थानपर मर्दन करना हो और रोगीको शान्ति पहुँचाना हो, तो हाथको शनै: शनै: फिराना चाहिये।

मर्दन क्रियाके अन्तमें ठेपन मर्दन (मुठ्ठीमार) और पेशी मर्दन क्रिया करनेके पश्चात् शनै: शनै: हाथ फिराकर क्रिया समाप्त करें।

२. पेशी मर्दन—इस प्रकारमें मांसपेशियोंको मसल, रगड़ और मोड़कर गहराई तक मर्दन किया जाता है। दोनों हाथोंसे मांसपेशियोंको अस्थिके पाससे उठाकर चलायी और दबायी जाती हैं। इसका उपयोग आमवात और हृद्रोगमें अधिक होता है। इससे मर्दित स्थानसे मलद्रव्य रक्ताभिसरणद्वारा आगे चला जाता है और वह भाग मुक्त हो जाता है। मांसपेशियां सूखती हों, तो उनको नूतन रक्त मिल जाता है और अशुद्ध द्रव्य निकल जाता है। फिर वे सबल और मोटी बन जाती हैं। प्रसवके पश्चात् अन्त्र और गर्भाशयकी क्रिया बढाने तथा उदरकी मांसपेशियोंको सुदृढ़ बनानेके लिये इस प्रकारसे मर्दन किया जाता है।

पेशी मर्दन (मसलना), यही सच्ची मर्दन क्रिया है। यह क्रिया गहराईमें रहे हुए अवयवोंके लिये उपकारक है। मांस पेशियां और वातनाड़ियाँ मसली रगड़ी, मरोड़ी और संचालित की जाती हैं।

मर्दनकी गति और बल वेदनावस्थापर अवलम्बित है। इसका अनुभवसे ही बोध होता है। वेदनावस्थामें पहले धीरे धीरे और कोमलतासे हाथ फिराया जाता है और ऊपरका हिस्सा उत्तेजित होनेपर उसमें रुधिराभिसरण सुधरनेपर फिर मसलनेकी क्रियाको आरम्भ किया जाता है। तथा सब अवयवोंपर मृदु मर्दनकर (हाथ फिराकर) मर्दन समाप्त किया जाता है।

पीड़ित स्थानपर मर्दन करनेके समय चारों ओरके स्वस्थ विस्तृत हिस्सेपर भी मर्दन करते रहें। पहले दूरके किन्तु धड़के समीपके भागोंका मर्दन करनेपर फिर पीड़ित भागकी ओर मर्दन करें। कोमल और सूजे हुए भागपर अन्तमें मर्दन करें। चारों ओर पहले मर्दन कर लेनेपर सूजन कम होने लगती है और उस भागमें कोमलता कम होकर सहन-शीलता बढ जाती है।

वक्तव्य—पेशी मर्दनमें क्रमश: त्वचा, त्वचाके निम्न स्थानवाले तन्तुओं (Tissues) और मांस पेशियोंको लाभ पहुँचाया जाता है।

अंगुष्ठ, अंगुलियोंके सिरे और हथेली इन सबको और दोनों हाथोंको पास-पास रखकर मर्दन करें। अंगुलियोंसे मांस पेशियोंको उठावें और मुट्ठीसे दबावें। अस्थियोंकी ऊँचाईके चारों ओर गोलाईमें हाथ फिरावें। शोथ कम

होनेपर मर्दनका विस्तार सत्वर बढावें। दबाव क्रमशः बढावें और गहरे भागका क्रमशः मर्दन करें।

प्रारम्भमें मर्दन १५ मिनटसे अधिक न करें। उसमें भी १० मिनट मृदु-मर्दनमें देवें। थोड़े समय तक बार-बार मर्दन करनेसे बहुत लाभ पहुँचता है।

३. आवर्तित मर्दन–इस प्रकारमें त्वचा गहराईमें अवस्थित मांसपेशियों और अवयवोंको इधर उधर मसलकर चलाया जाता है। इसमें अंगुष्ठ और तीन अंगुलियोंसे आवश्यक दबाव डालकर अंग-उपाङ्गोंको उत्तेजित किया जाता है।

४. ठेपनमर्दन (चम्पी करना)--इस प्रकारमें हाथके तलोंके किनारे या पृष्ठ भागसे हलके और त्वरित ठोके मारे जाते हैं। इस मर्दनसे मांसपेशियाँ और नाड़ियां उत्तेजित होती हैं। इसके निम्नानुसार उप प्रकार हैं।

(अ) मुष्टि ठेपन (Pounding)--मुट्ठीको दृढ रखकर पीठ और जंघाकी मांसपेशियोंपर ठोके देनेसे वे उत्तेजित होती हैं।

(आ) सरल ठेपन (Hacking)--इस प्रकारमें खड़े हस्त-तलके निम्न ओरसे कुल्हाड़ीके समान ठोके मारे जाते हैं। दोनों हाथोंको क्रमशः और तेजीसे चलाते हैं। इससे मांसपेशियां और नाड़ियां उत्तेजित होती हैं।

(इ) शिथिल मुष्टि ठेपन:—(Beating) सामान्यतः मुट्ठीको ढीली रखकर ऊपरसे नीचेकी ओर ठोके लगाये जाते हैं। इस प्रकारमें हाथोंको मणिबन्धके पाससे शिथिल रखा जाता है। यह मर्दन कटिशूल और मलावरोधमें उपयोगी है।

(ई) हस्त-तल ठेपन (Clapping)—हस्ततलोंसे पीठ और सांथलपर ताली मारनेके सदृश ठोके लगाये जाते हैं। इससे रक्ताभिसरण क्रिया उत्तेजित होती है।

(उ) हस्त संचालन (Vibration)—प्रकुपित स्थानपर हाथोंके तलोंको धीरे धीरे फिराते हैं। हड्डी मुड़नेपर प्रारम्भमें इस मर्दनका उपयोग होता है।

ठेपन-मर्दन (चम्पी)—यह क्रिया भूतकालमें हाथोंसे ही की जाती थी; किन्तु वर्तमानमें हाथ, छड़ी, रूल बट्टा, आदि उपकरणकी सहायतासे विधिपूर्वक की जाती है। हाथोंसे चम्पी करनेपर हाथोंको १ इञ्चसे अधिक नहीं उठाना चाहिये एवं ठोके सत्वर और हलके हाथसे लगाना चाहिये।

सूचना—नये पीड़ित स्थानपर उस तरह चम्पी नहीं करनी चाहिये।

५. वातनाड़ी आवर्त्तन:—वातनाड़ियोंकी तीव्र प्रकोपावस्थामें इस प्रकारके मर्दनसे शान्ति मिलती है।

६. संचलन:—इस प्रकारमें रोगी अवयवोंकी चलन-वलन क्रिया दूसरेकी

सहायता लिये बिना या प्रतिबन्ध किये बिना करता है। इसके २ उप प्रकार हैं। ऐच्छिक (Active) और आ-अनैच्छिक या निश्चेष्टित (Passive) इनमेंसे ऐच्छिकके पुनः उपप्रकार होते हैं। A. प्रतिरोध रहित (Irresistive) और B. प्रतिरोध सह (Resistive)।

A. प्रतिरोध रहित संचलन (Irresistive)—रोगी स्वतःबिना दूसरोंकी सहायता या प्रतिबन्ध न होनेपर संचलन कर सकता है।

प्रतिरोधसह संचलन करानेपर मांसपेशियां बलवान् बनती हैं, वे पुष्ट होती हैं और उनकी आकुंचन शक्ति बढती है।

मर्दनकारके प्रतिरोधक दबावके विरुद्ध रोगीको हलन-चलन किस तरह और कितने समय तक करना, इसका निर्णय मर्दनकार मांसपेशियोंको स्थितिके अनुरूप करता है। हिलाने डुलानेसे बहुत लाभ होता है। प्रतिरोध योग्य स्वरूपका और रोगीसे सहन हो सके, उतनी मात्रामें होनेपर मांसपेशियोंकी शक्ति बढती जाती है।

सूचना:—मर्दन पूरा होनेके पहले हलन-चलन नहीं करना चाहिये और उसके पश्चात् पुनः उस हिस्सेपर मृदु मर्दन करके मर्दनको समाप्त करें। भिन्न-भिन्न भागके लिये एवं मरोड़, अस्थिभंग आदिके लिये मर्दन क्रियामें विभेद किया जाता है।

B. प्रतिरोधसह संचलन (Resistive)—इस प्रकारमें रोगी अवयवको चलानेका प्रयत्न करता है और मर्दनकार इस क्रियामें कुछ प्रतिरोध करता है। पहले प्रकारमें रोगी पीड़ित हाथको ऊपर उठाता है। मर्दनकार उसमें स्वल्प प्रतिरोध करके अधिक श्रम पहुँचाता है। दूसरे प्रकारमें मर्दनकार ऊपर उठानेका प्रयत्न करता है और रोगी उस क्रियामें कुछ प्रतिरोध करता है।

जैसे रोगी चित लेटा होनेपर मर्दनकार पैर ऊपर उठाता है, तब रोगी पैर न उठनेके लिये कुछ प्रतिबन्ध करता है।

आ. अनैच्छिक या निश्चेष्टित संचलन (Resistive)—अनैच्छिक संचलनका परिणाम मांसपेशियों और संधिस्थानोंपर अच्छा होता है। मांसपेशियां खिंचती हैं, उनका तनाव कम होता है, कोषोंकी सूजन उतरती है और मांसपेशियां मुक्त होती हैं। फिर उनका शोष (Atrophy) नहीं होता और वे पुष्ट होने लगती हैं।

हलचलके कारण चिपके हुए सन्धिस्थान मुक्त होते हैं। हड्डीका पृष्ठ भाग चिपक गया हो तो वह भी मुक्त हो जाता है। इनमें होनेवाली वेदना दूर होजाती है और जकड़े हुए सांधे मुक्त होते हैं। रोगीको चाहिये कि मर्दन करनेवालेको

पीड़ित अवयव सौंप दें। यह अवयव अपना नहीं है, ऐसा मान लेवें।

वक्तव्य—मर्दनकारको चाहिये कि यथाशक्य पूर्ण हलन-चलन कराना और इससे अधिक नहीं होता है, ऐसा लगनेपर अवयवको पुनः पूर्ववत् कराना चाहिये। एवं प्रत्येक हलन चलनके पश्चात् थोड़ा-सा विश्राम देना चाहिये।

सूचना:—कुछ समय सांधे जुड़जाने (Adhesions) पर अवयवोंमें वेदना होने तक सांधेको मोड़ना पड़ता है; किन्तु यह क्रिया अधिक समय तक और अधिक वेदना होनेतक नहीं करनी चाहिये।

(६) तैलाभ्यंग

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा।
दृष्टि-प्रसाद-पुष्ट्यायुः स्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्॥

शरीरपर तेलकी मालिश करनेको तैलाभ्यङ्ग कहते हैं। जो मनुष्य नित्य या ३-४ दिन बाद तैल मालिश करते रहते हैं, उनकी दृष्टि विमल, रक्ताभिसरण क्रिया सम्यक्, देह सुदृढ़, शान्त निद्रा, त्वचा मुलायम और तेजस्वी तथा मनमें प्रसन्नता बनी रहती है। कफ-वातका निरोध, धातुओंकी पुष्टि और परिश्रमका शमन होता है। इनके अतिरिक्त जरावस्था आनेपर भी देहमें बल बना रहता है। मस्तिष्क, कर्णमूल और पादतलपर मर्दन करनेपर मस्तिष्क और स्मरण-शक्तिको भी लाभ पहुँचता है।

मालिश न करते रहनेसे या इतर रोग आदि हेतुओंसे जिस मनुष्यकी त्वचा शुष्क, बालोंकी रूक्षता, खुजली चलना, वातविकार, मैल बढ़ना आदि दोष हो गये हों, उनको तैल की मालिश करना अति हितकर है।

तैलाभ्यंगके अनधिकारी—आमसह व्याधियाँ, कफवृद्धि, तरुण ज्वर, अजीर्ण, वमन, विरेचन और निरूहण बस्ति करनेपर तथा संतर्पणजनित रोगोंमें तैलाभ्यंग निषिद्ध माना गया है।

स्नेहमर्दन घर्षण—(Inun ction) मलहम या औषध स्नेह मर्दनकी पद्धतिको घर्षण कहते हैं। इस प्रकारमें मत्स्यतैल, कलामिश्रित औषध आदि होते हैं। बालकोंके अस्थिमार्दव और फिरङ्ग पीड़ितोंके लिये नीला मल्हम (Blue ointment) प्रयोजित होते हैं। यह प्रकार बालकोंके लिये तो अति उपकारक है।

स्नेह मर्दन हेतु

१—खपाची या प्लास्टरमें अवयव अधिक दिन तक रहनेपर उस स्थितिमें त्वचाके छिलके निकलने लगते हैं। हाथसे मर्दन या घर्षण करनेपर तो

अधिक छिल्टे उतरते हैं। यदि तैल लगाया जाय तो घर्षण कम होता है, दाह नहीं होता, छूटने योग्य होंगे, उतने ही निकलेंगे और वे इधर-उधर नहीं उड़ेंगे।

२—ताजे भरे हुये घावपर स्नेहसे घर्षण कम होता है और वेदना भी नहीं होती।

३—रोगी वृद्ध, कृश या बालक होनेपर बिना स्नेहन लगाये मर्दन नहीं करना चाहिये।

४—रोगीकी त्वचा या मर्दनकारका हाथ खुरदरा या कठोर हो, तो स्नेह लगाना चाहिये।

(७) उद्वर्त्तन और उद्घर्षण

उद्वर्त्तनं कफहरं मेदसः प्रविलायनम्।
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम्॥

स्नानसे पहले उद्वर्त्तन (उबटन) लगानेसे कफ और मेदका विलय होता है; अङ्ग स्थिर और दृढ़ होते हैं; त्वचा तेजस्वी और मुलायम बनती है तथा सिराओंके मुख खुल जाते हैं। फिर पसीना नियमित रीतिसे निकलता रहता है; रक्ताभिसरण क्रिया बलवान् बनती है; और त्वचाकी ऊष्मा उत्तेजित होती है।

उद्घर्षण—स्नान करनेके समय समुद्रके झाग, ईंट, मोटा कपड़ा या स्पंज (Sponge) से सब अवयवोंका उद्घर्षण करना (घिसना) और आँवले, चिकनी पीली मिट्टी, दही या साबुन आदि स्निग्ध और शुद्धिकर वस्तुओंका उत्सादन करना (मलना), ये स्वास्थ्यके लिये हितावह हैं। उद्घर्षणसे शरीरमें लघुता और दृढ़ता होती है; खाज, खुजली, कुष्ट, रक्तविकार, वायुसे अङ्ग अकड़ना और मैल आदि दोष दूर होते हैं; त्वचाकी अग्नि उत्तेजित होती है तथा रक्तवाहिनियोंके मुख खुलकर प्रस्वेद निकलता रहता है।

(८) स्नानविधि

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम्।
कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित्॥

नित्यप्रति स्नान करनेकी महर्षियोंने आज्ञा की है। स्नान करनेसे मनोवृत्ति प्रसन्न होती है; अग्नि प्रदीप्त होती है; आयु, उत्साह, बल और अग्निकी वृद्धि होती है तथा खुजली, मैल, पसीना, परिश्रम, आलस्य, तृषा, दाह, त्वचा और रक्तविकार नष्ट होते हैं। जो मनुष्य नित्य आँवलोंके चूर्णसे शरीरको मलकर स्नान करता है, वह पूर्ण आयु भोगता है।

स्नानके गुण विदुर नीतिमें दर्शाये हैं, कि:—

> गुणाः दश स्नानपरस्य साधोः रूपञ्च तेजश्च बलञ्च वीर्यः ।
> स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥

नित्यप्रति नियमानुसार स्नान करनेवालेको, वर्ण, तेज, बल-वीर्यकी वृद्धि एवं त्वचाकी शुद्धि, दुर्गन्धका नाश, उत्तम पवित्र विचार, लक्ष्मी, सुकुमारता और उत्तम स्त्री, ये १० लाभ मिलते हैं ।

शीतल जल स्नानके गुण—ठण्डे जलसे स्नान करनेसे गरमी भीतर जाकर अग्निको प्रदीप्त करती है, पाचन-शक्ति बलवान् बनती है; देह पुष्ट होती है; तथा रक्त और पित्तजन्य विकार शमन होते हैं ।

उष्ण जल स्नानके गुण—गरम (निवाये) जलसे नित्य स्नान करनेसे वात और कफ दूर होते हैं । जीर्णज्वर, जुकाम, मासिकधर्म-विकृति, कफ, कास, श्वास और वातरोगमें लाभदायक है ।

शिरपर गरम जलसे स्नान करनेसे बल, केश और नेत्रोंको हानि पहुँचती है (शीतल जलसे शिरःस्नान चक्षुओंके लिये लाभदायक है) । किन्तु कफ प्रकृति वालोंको या वात कफ प्रकोपमें निवाये जलसे मस्तक धोनेमें विशेष आपत्ति नहीं है । (सु० सं० चि० अ० २४) ।

स्नान करनेमें अत्यन्त शीत न पड़ती हो, ऐसे देश और कालमें सूर्योदयसे पहलेका समय विशेष हितकर है । शौच (टट्टी) जाकर, दतौन और कुल्ला करनेके पश्चात् स्नान करना चाहिये । उष्ण ऋतुमें स्वस्थ मनुष्यके लिये सायं-कालको दूसरी समय स्नान करना भी लाभदायक है । यदि स्वस्थ मनुष्य शीतकालमें भी शीतल जलसे या जलाशयमें स्नान करते रहें, तो पूर्णायु तक निरोगी रहते हैं । किन्तु निर्बल शरीरवालेको हेमन्त और शिशिर ऋतुमें या नित्यप्रति निवाये जलसे स्नान करना चाहिए । स्नानके पश्चात् तुरन्त मोटे स्वच्छ कपड़ेसे सारे शरीरको बलपूर्वक अच्छी तरह पोंछ देनेसे त्वचादोष और रक्तविकार दूर होते हैं; रक्ताभिसरण क्रिया बलवान् बनती है और कान्ति बढ़ती है ।

अत्यन्त शीतल जलसे शीत ऋतुमें स्नान करनेसे वात और कफ प्रकुपित होते हैं एवं अति गरम जलसे उष्ण ऋतुमें स्नान करते रहनेसे रक्तपित्तकी वृद्धि होती है ।

एलोपैथीके मत अनुसार भिन्न-भिन्न स्नानोंके लिये बहुधा जलमें निम्नानुसार उष्णता रखी जाती है ।

शीतल जलसे स्नान (Cold Bath)	३२ से ६० *	डिग्री
किञ्चित् शीतल जलसे स्नान (Cool Bath)	६० से ७५	,,
शीतरहित सामान्य जलसे स्नान (Temperate Bath)	७५ से ८५	,,
किञ्चित् उष्ण (निवाया) ,, (Tepid Bath)	८५ से ९२	,,
उष्ण जलसे स्नान (Warm Bath)	९२ से १०४	,,
अधिक उष्ण जलसे स्नान (Hot Bath)	१०४ से ११२	,,

अधिक शीतल जलसे स्नान दाह या ग्रीष्म ऋतुमें लाभदायक है, किञ्चित् शीतल निरोगी मनुष्योंको सर्वदा उपयोगी है। निवाया जल निर्बलोंके लिये, उष्ण जल शीतकालमें निर्बलोंके लिये तथा अधिक उष्ण और अत्यधिक उष्ण जल रोगाक्रान्त अवस्थामें आवश्यकतापर उपयोगमें लिया जाता है। क्वचित् उष्ण या अत्यधिक उष्ण जलमें स्पञ्ज, तौलिया या दूसरा कपड़ा भिगोकर रोगीको देहको पोंछ लिया जाता है। इस क्रियाको टेपिड स्पञ्जिङ्ग (Tepid sponging) कहते हैं। क्वचित् सिर्के को ४ गुने जलमें मिला स्पञ्ज आदिको डुबो, निचोड़कर ज्वरको गर्मी घटानेके लिये कई वार पोंछा जाता है।

इनके अतिरिक्त रोगीको अधिक उष्णता पहुँचानी हो, तब राईको पीस, मिला, जलको गरम कर उसमें पैर डुबो रखते हैं। जिससे पैरकी त्वचा थोड़ी लाल हो जाती है; पैरमें उष्णता आती है, तथा शिरदर्द, ज्वर और जुकाम दूर होते हैं। १ गेलन (लगभग ३॥ सेर) जलमें २-४ तोले राई मिलाई जाती है। राई मिलानेसे उष्णता अधिक पहुँचती है। इस रीतिसे इस जलसे स्नान भी कराया जाता है। उसे मस्टर्ड बाथ (Mustard Bath) कहते हैं।

सन्ताप शमन विधि—किसी समय ताप बहुत बढ़ जाता है, तब कम करनेके लिये शीतल जलमें कपड़ा भिगो, निचोड़कर रोगीके शरीरपर लपेट लेवें। फिर ऊपर २ सूखे कम्बल लपेट लें। जब १०१ डिग्री गरमी रह जाय, तब गीला कपड़ा हटा लें। इस क्रियाको वेट पेक और ब्लेंकेट बाथ (Wet Pack and Blanket Bath) कहते हैं।

इनके अतिरिक्त रोगियोंको वाष्प स्नान कराया जाता है, वह पहले स्वेदन विधिमें लिखा गया है।

सूचना—स्नान हो सके, तब तक एकान्तमें करें। स्नान कर लेनेपर सब अवयवोंको मोटे स्वच्छ वस्त्रसे रगड़कर पोंछना चाहिए। शरीर गीला रह

---

* बर्फमें ३२ डिग्री फारनहाइट (Fahrenheit) उष्णता रहती है। और अति उबलते हुए गरम जलमें २१२ डिग्री उष्णता रहती है। इन दोनोंके बीच रहे हुए १८० डिग्रीके सम भाग करके उष्णताका निर्णय किया जाता है।

जानेसे शिरमें भारीपन, कृमिकी उत्पत्ति, दाद, खुजली, फोड़ा, फुन्सियाँ इत्यादि रोग हो जाते हैं।

ज्वर, अतिसार, अफारा, पीनस, अजीर्ण, अर्दितवायु, तीक्ष्ण नेत्ररोग, तीव्र कर्णरोग और तीव्र वातशूलके रोगियोंको स्नान नहीं करना चाहिये और मलशुद्धि होनेके पहले भी स्नान न करें।

अति तेज वायुमें स्नान करना हानिकर है।

परिश्रमके पश्चात् तुरन्त स्नान करनेसे न्यूमोनिया आदि व्याधियोंकी उत्पत्ति होती है; अतः थोड़ी विश्रान्ति लेकर, प्रस्वेद सूख जानेपर स्नान करना चाहिए।

भोजनके पश्चात् ३ घण्टे तक स्नान नहीं करना चाहिए।

उष्ण जलमें बैठना—अनेक रोगोंमें रोगियोंको निर्वात स्थानमें ९८ से ११२ डिग्रीतक गरम जलसे भरे हुए टब या कड़ाहीमें बैठाया जाता है। इसको होट बाथ (Hot-Bath) कहते हैं। इस क्रियासे अकड़ा हुआ शरीर खुल जाता है, हृदयकी बढ़ी हुई गतिका बल कम होकर रक्तदबाव और नाड़ीका वेग कम हो जाता है। इससे कभी-कभी अशक्ति बढ़कर रोगीको मूर्च्छा आ जाती है; अतः रोगीकी स्थितिको देखते रहें।

सूचना—टबमें बैठानेपर रोगीका शिर कुछ पीठकी ओर रहना चाहिये अर्थात् आगेकी ओर नीचा न रहने दें।

सामान्यतः बालककेलिये जल ९६ से ९८ डिग्री गरम और बड़े मनुष्यके लिये १०० से १०५ तक रखें। ऋतु, दिन और रात्रिके समय-भेदसे थोड़ा अन्तर हो सकता है। टबमें सामान्य रीतिसे आध घण्टे तक बैठाना चाहिये। प्रकृतिके अनुसार समयमें न्यूनाधिक भी करें। स्नानके पश्चात् रोगीको पोंछकर सुला दें।

उष्ण जलके टबसे लाभ—बड़े मनुष्योंके अंग अकड़ना, रक्तविकार, पेचिस, मूत्रमें रेती या कंकडी जाना, मूत्राघात, अंत्रावरण विकार, मेदोवृद्धि, वातप्रकोप, मलावरोध, आमवात आदि रोगोंमें और बालकोंके धनुर्वात, श्वास-नलिकामें कफ भर जाना, अंत्रमें वेदना, दाँत आनेकी पीड़ा, आदि विकारोंमें गरम जलमें बैठाया जाता है।

क्वचित् जलमें नमक, सोड़ा, एसिड आदि मिलाते हैं। प्लीहा और यकृत्के जीर्ण विकारोंमें निम्न औषध मिलाते हैं।

नमकका तिजाब (म्युरियाटिक एसिड Muriatic Acid) १॥ औंस और कलमी शोरेका तेजाब (नाइट्रिक एसिड Nitric Acid) १ औंस इन दोनोंको सम्हालपूर्वक धीरे-धीरे मिलावें। फिर २॥ औंस जल धीरे-धीरे मिलावें। उफान शांत हो जाय; तब स्नान करनेके (९८॥) डिग्री गरम जलमें मिला लेवें।

पश्चात् रोगीको १५ मिनट तक बैठावें। जल शीतल हो जानेपर उसमें और गरम जल मिला लेना चाहिये।

दाह, पित्तप्रकोप, मन्दाग्नि, स्मृतिलोप, निद्रानाश, रक्तविकार, विषविकार, मूत्रदाह आदि विकारोंमें रोगीको शीतल जलसे भरे हुए टबमें आधेसे एक घण्टे तक बैठाया जाता है।

इस तरह जलमें शराब, सोमल मिश्रित अर्क, फिटकरी, सोहागा, क्रियोसोट, ग्लिसरीन, काशीश, सोडा, नमक (या समुद्र जल), गन्धक या इतर रोग शामक ओषधियोंके क्वाथ मिलाकर कड़ाही या टबमें रोगीको बैठाया जाता है। क्वचित् रोगीको ताजे रक्त या दूधमें बैठाते हैं एवं आवश्यकतापर सूर्यके ताप, उष्ण रेती, मिट्टी, वाष्प, बिजली आदिद्वारा समस्त देह या किसी अवयवकी शुद्धि करायी जाती है।

वक्तव्य—टबमेंसे निकलनेपर रोगीको खुली वायु न लगे, यह सम्हालना चाहिये; और जल्दी अंगको पोंछकर कपड़े पहना देना चाहिये।

(९) मृत्तिकोपचार

आर्य सिद्धान्तानुसार ब्रह्माण्डकी रचना आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, इन ५ भूतों (तत्त्वों) से हुई है। इनमें पृथ्वीके शेष चार भूतोंके परमाणु भी अवस्थित हैं। इस पृथ्वी द्रव्यसे ही तृण, वनस्पति और प्राणी समूहके शरीरोंकी रचना हुई है अर्थात् देहमें पार्थिव द्रव्यकी प्रधानता है। यह पञ्चभूत ही शरीरके भीतर त्रिदोष-वात, पित्त, कफ रूपसे परिवर्तित हुआ है। जब तक पञ्चभूत (त्रिदोष) सम स्थितिमें रहते हैं, तब तक देह नीरोगी रहता है। जब उसमें न्यूनाधिकता होजाती है, तब रोगोत्पत्ति हो ही जाती है। इन पञ्चभूतोंकी न्यूनाधिकताको दूरकर समता लानेके लिये मिट्टीका प्रयोग उपयोगी होता है, ऐसा मानकर प्राकृतिक चिकित्सकोंने मिट्टीको विशेष स्थान दिया है।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी अपने लिये एवं अन्य सब आश्रमवासियोंके लिये भी सफलतापूर्वक मिट्टीका उपयोग अत्यधिक परिमाणमें करते रहते थे। यद्यपि मिट्टीका लेप देहसे बाहर किया जाता है, तथापि वह देहके अन्तर्गत विकृतिको बाहर खींच लेता है। इसका प्रयोग रातदिन ठण्डी, गर्मी और वर्षाऋतु इन सब ऋतुओंमें निर्भयतापूर्वक हो सकता है।

शिरदर्द, उदरपीड़ा, हैजा, अपचन, अतिसार, विषप्रकोप, गलत्कुष्ठ, फोड़ा-फुन्सी, दुर्गन्धियुक्त फोड़े, जखम, चेचक, वातप्रकोप, शूल, ज्वर, रक्त-

स्राव, मधुमक्खिका, ततैया आदिके विष आदिपर मिट्टीका प्रयोग उपकारक होता है। सर्पविष, बिच्छू और पागल कुत्तेके विषको भी मिट्टी हरण कर लेती है। मिट्टीका उपयोग औषध रूपसे भारतमें अति प्राचीन कालसे हो रहा है। यूरोपमें इसका औषधोपचार रूपसे प्रचार एडाल्फ ज्यूस्ट नामक जर्मन चिकित्सकने कराया है। आयुर्वेदमें मिट्टीकी मुख्य ४ जातियां दर्शायी हैं। सफेद (खड़ियामिट्टी), लाल (गेरु), पीली (मुलतानी) और काली (खेतकी मिट्टी) इन सबके गुणधर्म कुछ भेद सह परस्पर समान हैं। इसके अतिरिक्त चिकित्सक वर्ग तालाबके कीचड़ और बालूरेतका भी औषधरूपसे उपयोग करते रहते हैं।

सूचना—(१) जंगल या खेतोंसे मिट्टी औषधरूपसे लेनी हो उसे भी २ हाथ गहरा गड्ढा खोदकर निकालनी चाहिये।

(२) नव्य चिकित्सकगण मिट्टीको पहले विमर्दित लवणाम्ल (Dilute-hydro-Chloric acid) में उबाल धोकर स्वच्छ करते हैं, जिससे अपक्व अंश और विकृत अंश दूर होजाता है तथा स्फीत परमाणु दब जाते हैं। ऐसी मिट्टीको विशुद्ध मृत्तिका (Infusorial earth or silicious earth) कहते हैं। इसकी लेटिन संज्ञा (Terra silicea Purificata) है। यह मुलायम, धूसरवर्णका चूर्ण बन जाता है। इसका औषधोपयोग करनेपर पूरा पूरा गुण मिलता है।

सामान्यतः सब प्रकारकी मिट्टियोंमें विषघ्न और शीतल गुण न्यूनाधिक अंशमें रहता है। इस हेतुसे यहां सबका पृथक् गुण दर्शाया है।

१. खड़िया मिट्टी—इसमें मलिन और उज्वल, ऐसे कुछ भेद होते हैं। उज्वल, सफेद और मृदु है, वह अधिक गुणप्रद है। वह शीतल, मधुर और लेखन है। दाह, रक्तविकार, विषप्रकोप, शोष, कफवृद्धि और नेत्रविकारकी नाशक है। बालकोंके लिये हितावह है।

दंत-मञ्जनमें खड़िया मिलायी जाती है या केवल खड़ियाके चूर्णसे दाँतोंको घिसनेपर भी दांत स्वच्छ और तेजस्वी बन जाते हैं। खड़ियाके अतिरिक्त गोपीचन्दन आदिको भी सफेद मिट्टी कह सकते हैं। उसमें भी सफेद मिट्टीका गुण है, किन्तु खड़ियाकी अपेक्षा कम है।

गोपीचन्दन—कासीसके विष और उदरमें काचका चूर्ण चले जानेपर गोपीचन्दनको मट्ठेमें मिलाकर पिलाया जाता है। कठोर या दाहक वस्तुके सेवनसे मुँहमें छाले हो गये हों, या विष स्पर्शसे त्वचापर छाले हुए हों तो

गोपीचन्दन घिसकर लगानेपर लाभ पहुँचता है।

विसर्प और व्रणशोथपर गोपीचन्दनका लेप करनेपर लाभ पहुँचता है।

२. लाल मिट्टी (सोनागेरू)—गेरूके २ प्रकार हैं। एक पत्थर जैसा गेरू और दूसरा मिट्टी जैसा गेरू। जो लाल मुलायम गेरू है, उसमें लोह तत्व रहता है, वही अधिक लाभप्रद है। वह चक्षुष्य, बल्य और शीतवीर्य है। रक्तविकार, व्रणरोग, रक्तपित्त, कफ प्रकोप, हिक्का और विषम ज्वरमें हितावह है। यूनानी वाले गिले अरमनीका अधिक प्रयोग करते हैं।

बालकोंका उदररोग—उदर मिट्टी खानेसे बड़ा हो गया हो, उदरमें मिट्टी जमा हो गई हो, तब सोनागेरूको थोड़े घीमें सेक, शहद मिलाकर खिलानेसे संगृहीत मिट्टी निकल जाती है। उदर समस्थितिमें आजाता है और बालक सशक्त बन जाता है।

हिक्का—भुनी हुई सोनागेरूका चूर्ण शहदके साथ देनेसे हिक्का शान्त होती है।

रक्तार्श—इसकी पुल्टिस बांधनेसे रक्त बन्द हो जाता है।

३. पीली (मुलतानी) मिट्टी—पीली मिट्टीमें भी देश भेदसे अनेक प्रकार हैं। इनमें मुलतानी अधिक गुणयुक्त है। यह शीतल रक्त स्तम्भन, ग्राही, संशमन और लेखन है एवं यह विषप्रकोपको दूर करती है। नकसीर, मूत्रमें रक्त आना और सगर्भाके रजोदर्शनको बन्द करनेके लिये इसका जल पिलाया जाता है। मुलतानी लगाकर स्नान करनेपर बाल मुलायम होते हैं। त्वचा शुद्ध होती है और मस्तिष्कको शान्ति मिलती है। कब्ज और आंतोंकी वायुको दूर करनेके लिये इसका लेप आंतोंपर किया जाता है एवं पेचिश, रक्तातिसार, रक्त पूयमय अतिसार आदि रोगोंमें भी उदरपर इसका १-१ अंगुल मोटा लेप किया जाता है।

कब्ज सह ज्वरमें उदर और कपालमें भी इसका लेप लगाया जाता है। मोतीझरेमें इसका उपयोग होता है।

नाकसे रक्त गिरनेपर इसकी १-१ अंगुल मोटी रोटी बना, शिरपर बांध देनेसे रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

श्वेतप्रदर और रक्तप्रदरमें सोनागेरूका उदर सेवन कराया जाता है। मांसके टुकड़े गिरते हैं, तो भी सोनागेरूसे लाभ पहुँच जाता है। बालकोंको विसर्प होनेपर दशांग लेपके साथ सोनागेरू मिलाकर लेप किया जाता है।

बालकोंकी नाभिका शोथ—मुलतानीको अग्निमें तपा, उसपर दूध

डालनेसे उसमेंसे बाष्प निकलेगी, इस बाष्पका सेक नाभिको देनेपर १-२ दिनमें सूजन दूर हो जाती है।

खुजली—मुलतानीको दही या नारियलके तैलमें खरलकर मालिश करनेपर खुजली नष्ट हो जाती है।

४. काली मिट्टी—खेतोंकी मिट्टी जो अधिक चिकनी होती है, वह औषधोपयोगी है। गांवोंके नजदीककी मिट्टीमें दूसरे कचरे गिर जाते हैं। इस हेतुसे उससे हानि होनेकी भीति भी रहती है। काली मिट्टी शीतल, विषघ्न, शोथहर और पीड़ाशामक है। रक्तविकार, दाह, पित्तप्रकोप, व्रण, मूत्रकृच्छ्र, उदरशूल, विसर्पके फोड़े, जहरी फोड़े, शोथ, खुजली और व्यूची आदिपर लाभदायक है। यह मधुमक्खिका, ततैया, मकड़ी आदिके विषका शोषण करती है, पीड़ाको शमन करती है और शोथको दूर करती है। जर्मनी डाक्टर एडोल्फ ज्यूस्टने मिट्टीका प्रयोग करके सर्पविषसे बेहोश लड़कीको जीवन दान दिया था। डाक्टरने जमीनमें गड्ढेको जलसे आर्द्र करके कण्ठ तक लड़कीको दबा दिया, २४ घण्टे होनेपर सब विषका शोषण जमीनमें हो गया था।

सौराष्ट्रमें मूढमार या अकस्मात् चोट लगकर सूजन आजानेपर खखसाके फूलों और काली मिट्टीका लेप करते हैं। उससे सूजन कम हो जाती है।

आँखोंमें जलन होने, जल गिरने और शूल चलनेपर काली मिट्टीकी पुल्टिस बाँधनेसे चमत्कारिक लाभ होता है। नेत्रदृष्टि कम होनेपर मिट्टीके फोहे बाँधते रहनेसे दृष्टि सुधर जाती है।

गांठ, फोड़े और पके हुए व्रत आदिसे पीप आरहा हो और वेदना भी होती हो, तो उसपर काली मिट्टीका लेप करनेपर तुरन्त वेदना शान्त हो जाती है और पूय शोषण होना प्रारम्भ हो जाता है। मिट्टीको बार-बार बदलते रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें लाभ हो जाता है।

हैजेके रोगीको ३२ गुने जलमें उबाली हुई मिट्टीसे नितारा हुआ जल १-१ तोला बार-बार पिलाते रहनेसे वमन और दस्त बन्द हो जाते हैं। अपचन और अफाराको दूर करनेके लिये मिट्टीको १-१ अंगुल मोटा लेप उदरपर बांध देने और नींबूका रस मिला हुआ गरम जल पिला देनेसे प्रकृति स्वस्थ हो जाती है।

मूत्रावरोध—नाभिके नीचे मूत्राशयपर मिट्टीका लेप १-१ अंगुल मोटा बांध देनेसे आध घण्टेके भीतर पेशाब साफ आजाता है।

गर्भस्राव—चोट लगकर या भोजनमें उग्र पदार्थ मिल जानेसे गर्भाशयमें उष्णता बढकर गर्भस्राव हो रहा हो, तो कुम्हारके चाककी मिट्टी या सोनागेरू

५-५ तोलेको ४० तोले जलमें मिला छानकर १-२ बार पिला देनेसे गर्भस्राव होता हुआ रुक जाता है।

छुरीका ताजा घाव—विशुद्ध मिट्टीका लेप कर देनेसे रक्तस्राव बन्द हो जाता है और फिर घाव सरलतासे भर जाता है।

सूचना-(१) मिट्टीकी पुल्टिस फोड़ेपर बांधें, तब २-२ घण्टे (अधिक पूय होनेपर १-१ घंटे) पर बदल देना चाहिये।

(२) शिरदर्द और शूल आदिके लिये पट्टी बांधी जाय, उसे २-३ घण्टेमें बदल देनी चाहिये। वेदना तीव्र हो, तो पट्टी जल्दी बदलनी चाहिये।

(३) विष प्रकोपमें पुल्टिसको आध घण्टेपर बदल देनी चाहिये।

५. कीचड़ (कर्दम)-प्राचीन संहितामें तालाबके कीचड़को शीतल तथा दाह, विष शोथ और वेदनाका नाशक कहा है। इसके लेपसे तत्काल शान्ति आजाती है। विशुद्ध मिट्टीको भिगो कर्दम बना लिया जाय, तो विशेष लाभप्रद माना जायगा।

विष प्रकोपसे देहमें फाला हो जाने और दाह होनेपर कीचड़का लेप लगानेसे लाभ पहुँच जाता है।

६. बालुका—बालू रेतको लेखन, शीतल, व्रणहर, और उरःक्षत नाशक कहा है एवं यह दुर्गन्धहर और उदर शोधक है। बालू समुद्रके किनारे, नदीके किनारे और मरुस्थलमें सर्वत्र मिलती है। इनमें समुद्र तटपर रही हुई बालूमें सबसे अधिक, मरुभूमिमें अपेक्षाकृत कम और अन्य नदी किनारेकी बालूमें इससे भी कुछ कम गुण माने गये हैं।

सूचना—बालूमें कंकरीली मिट्टी मिली हो, तो उसे छानकर पृथक् करदें।

यदि संक्रामक रोगके कीटाणुओंका नाश और वायुको शुद्ध करनेके लिये (दुर्गन्धहर रूपसे) नदीतटकी बालूका उपयोग करना हो, तब थोड़ा नमक भी साथमें मिलाकर तवेपर डालें, फिर तवेको चूल्हेपर चढानेसे कमरेके भीतर फैली हुई वायु शुद्ध हो जाती है और कीटाणु नष्ट हो जाते हैं।

पुराना कब्ज—पुराने कब्ज विकारवाले बार बार विरेचन लेते रहते हैं और शक्तिका क्षय करते रहते हैं। ऐसे क्रूर बद्ध कोष्ठपर भी बालू लाभ पहुँचाती है। इस रोगसे पीड़ितोंको बालू ३-४ माशे दिनमें ३ बार जलके साथ कुछ दिन तक देनेसे आंतोंमें चिपका हुआ पुराना मल निकल जाता है और आंतें मुलायम हो जाती हैं। फिर अशक्ति, मानसिक विकृति अग्निमांद्य और आलस्य आदि, जो उपद्रव उत्पन्न हुए हैं वे दूर हो जाते हैं।

---

(६) ज्वर प्रकरण

ज्वरोत्पत्ति—ज्वरके विषयमें अन्य बातें जाननेसे पूर्व पाठकोंके लिये, ज्वर किसे कहते हैं, यह जान लेना अत्यावश्यक है। ज्वर है या नहीं, इसका निर्णय सामान्य रूढि अनुसार शारीरिक उष्णता वृद्धिसे करते हैं। किन्तु यह विधि सदोष है। इस हेतुसे शास्त्राचार्योंने इसके निर्णयार्थ कहा है कि:—

स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा।
युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते॥

जिस रोग विशेषमें पसीना निकलना बन्द होनेके साथ साथ समूचा शरीर गरम हो जाय, व्यक्त या अव्यक्त वेदना और शरीरमें अकड़नका अनुभव होने लगे, उसे ज्वर कहते हैं।

अथवा जिस रोगमें औदर्य्याग्निका अवरोध, शरीरके तापमानमें अति वृद्धि या चित्तको अति कष्ट, एवं सब अंगोपाङ्गोंमें अकड़ाहट, ये लक्षण एक साथ हों, उसे ज्वर कहा गया है।

प्राचीन आचार्योंने ज्वरको रोगोंका राजा (देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली) कहा है; यह बात ठीक ही है। क्योंकि यह बहुधा प्राणिमात्रके जन्म और मृत्युके समय उपस्थित होता है। प्रसवकालमें प्रसूता और शिशु, दोनोंको होकर उनका अपकार करता है। इसी प्रकार यह मृत्युकालमें भी जब जीवोंका प्राण कण्ठगत होता है, तब उनका प्राणान्त कर देता है। इनके अतिरिक्त कितनेही कीटाणुजन्य दुराग्रही रोगोंमें ज्वर न आनेपर भी कृत्रिम ज्वर उत्पन्न करा देनेसे उन रोगोंके मूल कारणरूप कीटाणुओंको जलाकर जीवनकी रक्षा करता है। इस बुखारको छोड़कर मानव देहमें होनेवाले जितने भी रोग हैं, वे शरीरके जिस संस्थान या इन्द्रियपर होते हैं, उसीको अकर्मण्य बनाते हैं, शेष संस्थान या इन्द्रियाँ अपना अपना कार्य करती रहती हैं। ज्वरके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं है, उसका प्रभाव समूचे शरीरपर पड़ता है। ज्वराक्रान्त व्यक्तिका आपादतल मस्तक संतप्त हो जाता है। साथ साथ वह दर्दके मारे व्यथित हो जाता है। इतना ही नहीं, बुखार शरीरके साथ मनको भी क्षुब्ध कर देता है। मनके पीड़ित होनेमे अन्यमनस्कता, उत्साहनाश और व्याकुलता प्रभृति लक्षण भी उपस्थित होते हैं।

सामान्यतः मनुष्यके रोग मनुष्योंको और पशुओंके रोग पशुओंको होते हैं। फिर भी बहुतसे रोग ऐसे हैं जो दोनोंको समानरूपसे पीड़ा पहुँचाते हैं। ज्वर

मनुष्यों और पशुओंके साथ साथ वृक्षों और पृथ्वीको भी हो जाता है। पृथ्वी भी इसके प्रभावसे नहीं बची। पृथ्वीके जिस प्रदेशको ज्वर संतप्त करता है, उसकी उतनी दूरकी उर्वरा शक्ति नष्ट होजाती है। फलतः वह भूमिभाग 'ऊसर' होकर सर्वदाके लिये बेकार हो जाता है। इस ज्वरके वेगको मानव देह ही सहन कर लेता है, बहुतसे पशु और पक्षी उसी समय अपना प्राण छोड़ देते हैं।

इन बातोंसे ज्वरकी गुरुता और भयङ्करता प्रमाणित हो जाती है। ज्वरसे जन्म, जीवन और निधनकालमें जितना उपकार होता है; उससे कई गुना अधिक अनुपकार भी होता है। कभी कभी बुखारका योग्य उपचार न करने, दुर्लक्ष्य करने या आहार, विहारमें स्वच्छन्दी बननेपर स्मृतिनाश, बुद्धिभ्रंश, उन्माद, शक्तिक्षय, दृष्टिमान्द्य, बाधिर्य, मूकता, पङ्गुता, पचनक्रिया विकृति, अतिसार आदि उपद्रवोंकी सम्प्राप्ति हो जाती है। फिर इस हानिको आजीवन सहन करनी पड़ती है। शास्त्रकारोंने हिक्का (हिचकी) और श्वास (दमा), इन दो रोगोंको दूसरोंकी अपेक्षा अधिक घातक माना है, तथापि वे दोनों ही रोग इसके उपद्रव मात्र हैं। अतः ज्वरकी उपेक्षा करना, मानो अपने हाथोंसे पावोंमें कुल्हाड़ी मारनेके समान है।

आजकलके पाश्चात्य प्रणालीके चिकित्सक वर्ग ज्वरको प्रधान रोग नहीं मानते। उस प्रणालीकी मर्यादानुसार यह विकारदर्शक एक लक्षण मात्र है। इस मतभेदका मुख्य कारण प्राचीन और अर्वाचीन रोगकी परिभाषामें अन्तर है। आधुनिक मतावलम्बी यान्त्रिक या आङ्गिक विकृतिको रोग मानते हैं। जैसे मस्तिष्कावरणप्रदाह, फुफ्फुसावरण प्रदाह आदि।-इनमें उत्पन्न होनेवाले ज्वर, प्रलाप आदि लक्षण मात्र हैं। इसके विपरीत प्राचीन मतानुसार रोग दोष, दूष्योंके विशिष्ट मिलनसे उत्पन्न दुःखदायी अवस्था विशेष है और इस अवस्थाकी सूचना देनेवालोंको लक्षण कहते हैं। इस परिभाषाके अनुसार यदि प्रदाहके कारण ज्वर उत्पन्न हुआ है, तो प्रदाहको रोग और ज्वरको लक्षण कहना ठीक है। परन्तु यदि ज्वरके कारण प्रदाह हुआ है, तो इसके विपरीत कहना पड़ेगा। क्योंकि कार्यसे पूर्व कारणका अस्तित्व मानना ही पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त आधुनिक वैज्ञानिक शरीरके तापकी वृद्धिमात्रको ज्वर समझकर उसे लक्षण मात्र मानते हैं। और यह तापवृद्धि मिथ्या आहार-विहार और अनेक प्रकारके कीटाणुओंद्वारा रक्तमें उत्पन्न विषवृद्धिको जला देनेके लिये उत्पन्न होती है। परन्तु आयुर्वेदमें इसकी पृथक् सम्प्राप्तिका वर्णन है। एवं ज्वरको इसके साथ ही राजयक्ष्मा, विसर्प, विद्रधि आदिका लक्षण और ग्रहणी, रक्तपित्त आदिके उपद्रव स्वरूपमें भी वर्णन किया है। अतः मनुष्य शरीरमें

ज्वर मुख्य रोग, लक्षण और उपद्रव, तीनों रूपोंमें देखा जा सकता है।

पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति वालोंने शारीरक उत्तापके निर्णयार्थ उपकरण-उष्णतादर्शक नलिका (Thermometer) बनाया है। इसका उपयोग वर्तमानमें डाक्टर, वैद्य और हकीम और सामान्य गृहस्थ, सब कोई करते रहते हैं, इस उपकरणसे ज्वरावस्था, ज्वरवृद्धि और ज्वरह्रासका चित्र या सच्चा परिचय मिल जाता है।

इस उष्णतादर्शक नलीसे नापनेपर मनुष्यकी स्वस्थावस्थामें शारीरिक उष्णता (Temperature) बहुधा ६७ से ९८॥ डिग्री तक रहती है। इस उष्णतासे अधिक वृद्धि होनेपर ज्वर कहलाता है। जिसका तापमान सदा ९७ ही रहता है, उसे गर्मी ९८॥ डिग्री होनेपर १॥ डिग्री बुखार माना जाता है। रोगीके साधारण तापमानसे २ डिग्री उष्णता बढ़ने तक सामान्य ज्वर (Simple fever) और इससे अधिक बढ़नेपर तीव्र ज्वर (High fever) कहलाता है। यदि तापमान १०४° डिग्रीसे बढ़ जाता है, तो वह तीव्रतर ज्वर (Hyperpyrexia) कहलाता है और यह अवस्था भयप्रद मानी गई है। उतना उत्ताप लू लगने या तीव्र संधिवातमें प्रतीत होता है।

आयुर्वेदमें ज्वरके निज और आगन्तुक, ये २ विभाग माने गये हैं। इनमें मिथ्या आहार-विहार आदिसे उत्पन्न निज ज्वरको स्वतन्त्र रोग मानकर अग्रस्थान दिया गया है। आधुनिक पाश्चात्य शास्त्रने ज्वरको रोग नहीं कहा अपितु इसे कृमिज और संक्रामक अनेक रोगोंमें महत्त्वका लक्षण माना है। उक्त सिद्धान्तानुसार रोगोत्पादक कारणोंमें सेन्द्रिय विष, कृमि या कृमि विषको नष्ट करनेके लिये देहकी प्रतिक्रियारूपसे उत्ताप व्यक्त होता है × इस तरह आयुर्वेद और एलोपैथिकके विचारोंमें भेद होनेसे अनेक रोगोंके वर्गीकरण और संज्ञा विषयमें मतभेद होता रहता है।

देहमें उष्णतावृद्धि होनेके २ प्रकार हैं। प्रथम इतर लक्षणोंसह ज्वर और दूसरा केवल उष्णताधिक्य। इन कारणोंमेंसे ज्वरकी उष्णता बढ़नेपर हृदय और श्वासोच्छ्वास क्रियामें अन्तर, पचन और उत्सर्जन क्रियामें विकृति तथा इतर इन्द्रियोंकी शक्तिमें न्यूनता आदि लक्षण हो जाते हैं। किन्तु केवल उष्णता

× उत्ताप वृद्धि यह रोगनिवारणका नैसर्गिक उपाय है। उससे बढ़े हुए कीटाणुओंका ह्रास होता है और रोग बीजको नष्ट करनेवाले रक्षक पदार्थ (Immune bodies) उत्पन्न होते हैं। किन्तु इस प्रकारके उत्तापकी वृद्धि होनेपर मस्तिष्क, हृदय आदि कोमल इन्द्रियोंको अति हानि पहुँच जाती है। इस हेतुसे ऐसी उष्णता त्वचाद्वारा बाहर फेंकी जाती है। कुछ निःश्वासद्वारा एवं मल मूत्रद्वारा भी कुछ उष्णता बाहर निकलती है।

वृद्धि (पायरेक्सिया अथवा हाइपरथर्मिया (Pyrexia or Hyperthermia), अति परिश्रम, बाहरसे उष्णता लगना, मूत्रमार्गमें नलिका (Catheter) डालना, अति क्रोध, मस्तिष्कपर आघात, चरस, गांजा, कोकेन, कुचिला, बेलाडोना आदि ओषधि सेवन, रक्तमें श्वेत जीवाणु वृद्धि (ल्युकिमिया Leucaemia), अर्बुद और आघात आदि कारणोंसे होती है।

ज्वर सम्प्राप्ति—आयुर्वेदके मतानुसार आहार-विहारके नियमोंका भंग करने या अन्य कारणोंसे वात आदि दोष दूषित होकर आमाशयमें प्रवेश करते हैं और फिर वे रस धातुको दूषित कर, (रस वाहिनीके मार्गोंमें प्रतिबन्ध कर) पचनशक्तिको मन्द करते हैं, तथा पाचकाग्निको बाहर निकाल शरीरमें उष्णताकी वृद्धि करते हैं; इसके पश्चात् दूषित धातु बहुधा प्रस्वेदवाहिनियोंके मुखोंको बन्द करती हैं, फिर सब शरीरमें व्याप्त होकर अपने-अपने प्रकोपकालमें ज्वरकी उत्पत्ति और वृद्धि करती हैं, एवं त्वचा आदिमें अपना-अपना लक्षण प्रकट करती हैं। +

एलोपैथिकके मतमें सेन्द्रिय विष उत्पन्न होकर, रक्तमें मिल जानेपर उसको बाहर निकालनेके लिये रक्तमें उष्णता बढ़ती है। फिर प्रस्वेद रूपसे विष बाहर निकल जानेपर प्रायः सब प्रकारके ज्वरका वेग शमन हो जाता है।

आयुर्वेदके सिद्धान्त अनुसार विचार किया जाय, तो भोजन करनेपर प्रारम्भिक पचन क्रिया आमाशयमें होती है। इस आमाशयके चतुर्थ स्तरमें रहनेवाली रसोत्पादक ग्रन्थियोंकी क्रियामें दूषित वात आदि धातुओंद्वारा प्रतिबन्ध होता है तब आमकी वृद्धि और ज्वरकी उत्पत्ति होती है।

ज्वर विभाजन—आयुर्वेद शास्त्रमें ज्वरोंका विभाजन अनेक प्रकारसे किया गया है। इस कार्यसे चिकित्सामें सौकर्य होता है। ज्वरोंमें कतिपय ज्वर ऐसे होते हैं, जो अपने शरीरमें रहनेवाले दोषोंसे पैदा होते हैं और दूसरे प्रकारके वे हैं, जो बाह्य कारणोंसे पैदा होते हैं। इनमेंसे पहिलेको निज और दूसरेको आगन्तुज कहते हैं। पुनः ज्वर शरीर और मानस भेद करके भी दो प्रकारका होता है। कोई अन्तर्वेग वाला होता है, तो कोई बहिर्वेगवाला होता है। कोई सुख साध्य होता है, तो कोई असाध्य होता है। इसी तरह प्राकृत वैकृत भेदसे भी ज्वरके दो प्रकार हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त दोष और कालके बलाबलसे सन्तत, अन्येद्यु, तृतीयक और चातुर्थिक; ये ५ प्रकार होते हैं। पुनः ज्वरके रसरक्त आदि धातुरूप आश्रय भेदसे ७ प्रकार और पृथक्-पृथक् कारण भेदसे

+ मिथ्याहार विहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः।
बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदा स्युः रसानुगाः॥ (मा. नि.)

८ प्रकार हैं। पुनः इनके अनेक उपविभाग होते हैं।

शारीरिक ज्वर पहले शरीरसे और मानस ज्वर मनसे प्रारम्भ होता है। ❀ मानस संताप, बेचैनी, ग्लानि, शरीर, इन्द्रिय और मनमें पीड़ा इत्यादि मानस ज्वरके और विशेषतः इन्द्रिय-विकृति, ये शारीरिक ज्वरके लक्षण हैं। द्वन्द्वज अर्थात् वात-पित्तात्मक ज्वरमें शीतकी इच्छा होनेसे आग्नेय और वात-कफात्मक ज्वरमें उष्णताकी इच्छा होनेसे वह सौम्य कहलाता है। अन्य द्वन्द्वज ज्वरोंमें भी दो प्रकारके दोष मिश्रित होनेसे दोषानुरूप लक्षणोंकी इसी प्रकार प्रतीति होती है।

अन्तर्वेग वाले ज्वरमें अधिक दाह (अन्तर्दाह-बाहर ज्वर अल्प होनेपर भी भीतर अधिक संताप), तृषा, प्रलाप, श्वास, भ्रम, संधिस्थान और अस्थियोंमें शूल, प्रस्वेद न आना, मल-मूत्रावरोध तथा दोषावरोध आदि लक्षण होते हैं। इनमें ज्वर तृषा, श्वास, कास, प्रलाप आदिकी वृद्धि होनेपर वह घोर रूप धारण कर लेता है अर्थात् मांस आदि धातुओंमें प्रविष्ट होकर वह कष्टसाध्य होता है। बहिर्वेगमें संताप अधिक होनेपर भी त्वचा आदिमें दाह और तृषा आदि लक्षण कम होने से (रस-रक्ताश्रित होनेसे) सुखसाध्यता मानी गई है।

प्राकृत-वैकृत ज्वर—आयुर्वेदने ज्वरके ऋतुभेदसे २ विभाग किये हैं। प्राकृत ज्वर और वैकृत ज्वर। इनमें ऋतुके अनुकूल आने वाला प्राकृत और ऋतु विपरीत वैकृत ज्वर कहलाता है। वर्षा ऋतुमें वातज्वर, शरद् ऋतुमें पित्तज्वर और वसन्त ऋतुमें कफज्वर हों, तो वे प्राकृत ज्वर कहलाते हैं। जो ज्वर इस नियमसे विपरीत आते हैं; जैसे कि वर्षाऋतुमें पित्त या कफ ज्वर, शरद् ऋतुमें कफ या वात ज्वर और वसन्त ऋतुमें पित्त या वात ज्वर, ये सब वैकृत ज्वर कहलाते हैं। इनमें वातज्वरसे इतर प्राकृतज्वर प्रायः सुखसाध्य और वैकृतज्वर कष्ट-साध्य माने जाते हैं। प्राकृत वातज्वरको कष्टसाध्य ही कहा है। इतर प्राकृत ज्वर भी निर्बलोंके लिये कष्टसाध्य हो जाते हैं।

संतत ज्वरमें रसवहा नाड़ियोंमें प्रायः अधिक विकृति होती है; तथा संतत ज्वरमें रक्तधातुमें विकृति, अन्येद्युमें विशेषतः मेदोवहा नाड़ियोंका रोध तथा तृतीयक और चातुर्थिक ज्वरमें अस्थि-मज्जामें विकार होता है। कितनेही आचार्योंने अन्येद्युमें रक्ताश्रय, तृतीयकमें माँसाश्रय और चातुर्थिकमें मेद धातुको आश्रय रूप कहा है; अर्थात् ये उत्तरोत्तर विशेष कष्टदायक है।

धातुके आश्रय भेदसे रसगत, रक्तगत, मांसगत, मेदोगत, अस्थिगत, मज्जागत और शुक्रगत, ऐसे ज्वरके ७ प्रकार होते हैं।

❀ शारीरो जायते पूर्वं देहे मनसि मानसः ॥ (च. चि. ३।३६)

सामान्य रीतिसे नीरोगावस्थामें शारीरिक उष्णता रात्रिके अन्त भागसे लेकर सुबहके ७ बजे तक कम रहती है और वह फिर धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। सायंकालको ६ से ७॥ बजे तक सबसे ज्यादा बढ़ जाती है और पुनः धीरे-धीरे कम होने लगती है। कितनेही ज्वरोंमें यही क्रम रहता है; और कई ज्वरोंमें इस नियमका भङ्ग हो जाता है।

एलोपैथिकके मत अनुसार ज्वरोंके मुख्य ३ विभाग हैं। १—स्वतः जात (प्राथमिक); २—आनुषंगिक (लाक्षणिक); ३—अभिघातज।

१-स्वतः जात (Idiopathic) इस प्रकारमें विशेषतः बाहरसे देहके भीतर कीटाणु या विषका प्रवेश होता है, फिर रक्त आदिमें विषकी वृद्धि होती है। क्वचित् देहमें चयापचय (Metabolism) रूप व्यापारसे स्थानिक या सार्वाङ्गिक विकृति होकर सेन्द्रिय विषकी वृद्धि होती है। इस तरह भोजनके अविपाकसे आमाशयमें आहार विष (Food poison) बन, वह रक्तमें शोषित होजाता है। इन विविध विषोंको जलानेके लिये ताप नियामक मस्तिष्क केन्द्र उत्तेजित होकर शारीरिक उत्तापकी वृद्धि कर देता है।

इसमें १—अविशेष (Non-specific) और असंक्रामक (Non-Contagious) ज्वर अर्थात् सामान्य अविराम ज्वर (Febricula); तथा २—विशेष (Specific) और संक्रामक (Contagious) ऐसे २ प्रकार हैं।

२—आनुषङ्गिक—(लाक्षणिक Symptomatic) किसी रोग विशेषके साथ लक्षण रूपसे उत्पन्न ज्वरको आनुषंगिक ज्वर कहते हैं। जैसे अनेक प्रकारकी विद्रधि, विसर्प आदिमें ज्वर लक्षण रूपसे प्रकट होता है।

३—अभिघातज—(Traumatic) चोट लगजानेसे रस रक्त आदि जम जाता है। फिर वहाँपर सेन्द्रिय विषकी उत्पत्ति होती है। उसका रक्तमें शोषण होनेपर प्रबल ज्वर उपस्थित होता है। उसमें सार्वाङ्गिक विविध लक्षण प्रकट होते हैं।

किसी भी प्रकारकी उग्र बाष्प श्वास नलिकामें ग्रहण होनेपर या सूर्यके प्रखर तापमें विशेष घूमनेसे विष या उष्णताद्वारा स्वरयन्त्र और श्वास नलिकाओंकी श्लैष्मिक त्वचामें प्रदाह होता है। फिर सेन्द्रिय विषकी उत्पत्ति होनेसे शारीरिक उत्तापको समतोल रखनेकी क्रियामें अन्तर हो जाता है, जिससे ज्वर उपस्थित होता है। ऐसे प्रदाहक ज्वरको प्रतिश्यायज ज्वर (Catarrhal fever) कहते हैं। यह भी विषसंशोषणजनित ज्वर (Absorption fever) माना जायगा।

रक्तमें रक्ताणुओंका अति ह्रास होनेपर ज्वरकी उत्पत्ति होती है। यह रक्ताणुओंका ह्रास प्रायः चयापचयसे होता है। फिर रक्तमें विषकी क्रिया होनेपर ज्वर उपस्थित होता है। उसे रक्त न्यूनताजनित ज्वर (Anaemic fever) कहते हैं।

शस्त्र चिकित्साके पश्चात् कीटाणुओंका संक्रमण न होनेपर भी रोगीको ज्वर आजाता है। वह ३ दिनसे १५ दिन तक रहता है। इसमें कोई विशेष लक्षण उपस्थित नहीं होते। मूत्र परिमाण और देहके वजनमें व्यतिक्रम नहीं होता। शारीरिक उत्तापके अनुरूप नाड़ी स्पन्दनोंमें वृद्धि होती है। जिस स्थानपर शस्त्र प्रयोग हुआ है, उस स्थानमें सङ्गृहीत रक्तके दबाव या रक्तरसके संग्रह और त्याज्य तन्तुओंके रह जानेसे उत्सेचन क्रिया जनित पदार्थ (विष) का शोषण होता है, जिससे ज्वर उपस्थित होता है। ऐसे ज्वरको प्रत्याघातज (Reactionary) या क्षतपाकज (Aseptic) ज्वर कहते हैं।

अनेक वार शस्त्र चिकित्सामें योग्य सावधानता न रहनेपर विषका संसर्ग होकर क्षतपाक होने लगता है। जिससे ज्वर प्रकट होता है। ऐसे ज्वरको पूतिविषज ज्वर (Septic Fever) कहते हैं।

प्रसवकालमें अबोध स्त्रियाँ प्रायः ऐसी भूल कर देती हैं, कभी आँवल या जरायुका लेश गर्भाशयमें शेष रह जाता है, कभी दूषित शस्त्रका प्रयोग करती हैं; एवं मलिन वस्त्रोंका स्पर्श भी करती हैं। जिससे पाक होता है या गर्भाशयमें विष उत्पन्न होता है। फिर विष शोषण होकर ज्वर आ जाता है। उसे सूतिका ज्वर (Puerperal fever) कहते हैं।

सूर्यके तापसे लू लग जाने या एञ्जिन आदिकी गर्मीका आघात (Sun-stroke, heat stroke) होजानेपर श्लैष्मिककलामें प्रदाह होता है, फिर विषकी वृद्धि होकर रक्त आदि धातुओंका शोषण होता है, उसे जलानेके लिये ज्वर उपस्थित होता है। कभी अत्यधिक उष्णता लग जानेपर प्रदाह होता है तथा मस्तिष्कका केन्द्रस्थान भी अतिशय उत्तेजित होजाता है। फिर प्रबल ज्वर १०४ से १०६ डिग्री तक उत्पन्न होता है।

ज्वर रोगमें शारीरिक उत्तापकी वृद्धिद्वारा विकृत क्रियाको स्थगित करायी जाती है या नष्ट कर दी जाती है; तथा क्षयग्रस्त त्याज्य द्रव्य देहसे बाहर निकाल दिये जाते हैं जिससे स्वास्थ्यकी पुनः प्राप्ति होजाती है। यदि ऐसा न हुआ और देहमें त्याज्य द्रव्यका संग्रह अधिक होगया तो ज्वर बना रहता है फिर क्रमशः दुर्बलता बढ़ती जाती है। अन्तमें आनुषंगिक उपद्रव उपस्थित होकर मृत्यु होजाती है।

वर्त्तमानमें नूतन शोधसे यह विदित हुआ है कि मच्छर आदिके विषसे विविध प्रकारके ज्वर, विषम ज्वर (Maleria) आदिकी उत्पत्ति होती है। ज्वर रोगमें चयापचयगत तन्तुओंका विनाश अधिक होता है। सामान्यतः स्वस्थ व्यक्तिके २४ घण्टेके मूत्रमें ४५० से ५४० ग्रेन मूत्रीया (Uria) निकलता है। ज्वरावस्थामें ५०० से ६०० ग्रेन मूत्रीया होजाता है। फिर पथ्य पालन करानेपर २२५ से ३०० ग्रेन तक कम होजाता है। ज्वर आनेपर मांसपेशियोंके तन्तु और रक्ताणुओंका क्षय होता है, जिससे यूरीयामें पोटासियम लवणकी वृद्धि होती है। एवं रक्ताणुओंका वर्णद्रव्य नष्ट होजाता है। इस हेतुसे पेशाब गहरे रंगका बन जाता है। इनके अतिरिक्त पेशाबके जलीय अंशका ह्रास होता है।

ज्वरमें तन्तु-विनाश क्रिया जितने परिमाणमें बढ़ती है, उतने ही परिमाणमें शारीरिक उत्ताप बढ़ता है। इस उत्तापके वृद्धि-ह्रासानुरूप डाक्टरीमें ज्वरके मुख्य ३ विभाग किये हैं। इन ३ विभागोंके अन्तर्गत सब प्रकारके ज्वर आ जाते हैं।

१. समप्रकोपी—(कन्टीन्यूअस फीवर Continuous Fever) यह ज्वर अनेक दिनों तक रहनेपर भी उष्णता मानका अन्तर नीरोगावस्थाके समान (२ डिग्री) ही रहता है; अर्थात् प्रातःसायंकी उष्णतामें जितना अन्तर स्वस्थावस्थामें था, उतना ही अन्तर ज्वर होनेपर भी रहता है।

२. विषमप्रकोपी—(रिमिटेण्ट फीवर Remittent Fever) यह ताप बहुधा एक-सा बना रहता है। नीरोगावस्थाके प्रातःसायंके उष्णता मानके अन्तरकी अपेक्षा इस ज्वरकालमें अन्तर (२ डिग्रीसे) अधिक रहता है। न्यूमोनिया, टाइफस, टाइफॉइड आदि ज्वर प्रायः इस विभागमें आते हैं।

३. सविराम—(इन्टरमिटेन्ट फीवर Intermittent Fever) यह ज्वर दिनमें कभी न कभी उतर जाता है; और नैसर्गिक उष्णता आजाती है। सतत, अन्येद्यु, तृतीयक, चातुर्थिक आदि ज्वर।

यदि इस सविराम ज्वरमें उष्णता बहुत दिनों तक सायंकालमें २-३ डिग्री या अधिक बढ़ जाती है, तो उस जीर्णज्वरको अन्तरित ज्वर हेक्टिक फीवर (Hectic Fever) कहते हैं। यह ज्वर दिनमें एक या अधिक बार बिल्कुल उतर जाता है और फिर शीत लगकर बढ़ जाता है।

पाश्चात्य वैद्यककी दृष्टिसे ज्वरके हेतुका विचार करने पर विशेषतः कृमि या कृमिजन्य विष ही मिलते हैं। इस विषका संचार होनेपर मस्तिष्कमें रहे

हुये; उष्णोत्पादक केन्द्र (थर्मोजेनेटिक सेन्टर Thermogenetic Centre), उष्णतानियामक केन्द्र (थर्माटेक्सिक Thermotaxic) और उष्णताशामक केन्द्र (थर्मोलाइटिक Thermolytic) ये दूषित होते हैं। इन केन्द्रोंकी व्यवस्थित क्रियाके आधारपर ही स्वस्थावस्थामें शारीरिक उष्णता रहती है। किन्तु जब विष रक्तमें फैलकर शरीरके प्रत्येक कोषाणुमें पहुँच जाता है, तब उसे निकालनेके लिये उष्णताकी वृद्धि होजाती है।

ज्वरके साथ अन्तरविकृति करनेवाले कीटाणु या विषके मुख्य स्थान भिन्न-भिन्न ज्वरमें भिन्न-भिन्न होते हैं। मधुरामें अन्त्र, न्यूमोनियामें फुफ्फुस और मेनिञ्जायटिस (मस्तिष्क दाह) में मस्तिष्क आदि। ज्वर जीर्ण होनेपर रक्त, प्लीहा, हृदय, फुफ्फुस, फुफ्फुसावरण आदि अनेक भागोंमें विक्रिया कर देते हैं।

विष या कीटाणु ज्वरके उत्पादक कहलाते हैं, उनको नष्ट करनेके लिये उनके साथ रक्तके श्वेताणुओं (White cells) का युद्ध होता है। यदि ये बलवान् और विष निर्बल है, तो ज्वर कम होता है। दोनों बलवान् होते हैं, तो ज्वर अधिक होता है। इस नियमानुसार बालकोंमें श्वेताणु सबल होनेसे विषप्रकोप सत्वर बढ़कर तीव्र ज्वर आजाता है। किन्तु वृद्ध और निर्बल रोगियोंमें श्वेताणु निर्बल होनेसे बलपूर्वक युद्ध नहीं कर सकते। इसलिए ज्वरका वेग मन्द रहता है। रोग प्रचण्ड और ज्वरका वेग कम हो, तो ऐसी अवस्थाको भयप्रद माना है।

श्वेताणु युद्ध करके जब विषको नष्ट कर देते हैं, अर्थात् विषको प्रच्छ्वास, स्वेद, मूत्र और मलद्वारा बाहर फेंक देते हैं या जला डालते हैं, तब ज्वर उतर जाता है। ज्वरके अधिक काल तक रहनेसे श्वेताणुओंकी अधिक मृत्यु होकर रक्त न्यून हो जाता है; यकृत् और प्लीहा बढ़ जाते हैं; और देहमें दुर्बलता आ जाती है। यकृत् और प्लीहाकी वृद्धि अधिक काल (अनेक मास) तक रहनेसे उनमें सौत्रिक तन्तु (Fibrous Tissues) उत्पन्न होकर, वे कठिन हो जाते हैं। ज्वरमें स्वेद अधिक आनेसे प्रस्वेद ग्रन्थियोंके मुखोंपर छोटी-छोटी, पिटिकाएँ हो जाती हैं।

आयुर्वेदीय दृष्टिसे केवल कृमिसे रोग नहीं हो सकता। धातु वैषम्य होगा तब ही कृमि अपना प्रभाव दिखा सकेंगे। अथवा रोग निरोधक शक्तिके निर्बल हो जानेपर ही कृमि संताप हो सकेगा, अन्यथा नहीं। इस रोग निरोधक शक्ति (इम्युनिटी Immunity) के ह्रास अथवा धातु वैषम्य होनेका कारण विशेषतः मिथ्या आहार विहार हैं। आहार-विहारमें पथ्यके त्याग तथा अपथ्यके सेवनसे धातुविकृति होती है और इसके पश्चात् कृमि, विष या रोगकी उत्पत्ति होती है।

एलोपैथिक मत अनुसार स्वतःजात (Idiopathic) ज्वरका क्रम (Course) बहुधा नियमित रहता है, जिससे उनमें निम्न ६ अवस्थायें प्रतीत होती हैं।

१. संचयावस्था—(Incubation stage)—इस अवस्थामें रोग विष गुप्त रूपसे कार्य करता है, शनैः शनैः अपनी शक्तिका संचय करता है। इस अवस्थामें शारीरिक लक्षण प्रकट नहीं होते।

२. आक्रमणावस्था—(Stage of invasion) इस अवस्थामें वेपन, शीतबोध या शारीरिक उत्तापकी वृद्धि होकर ज्वरीय लक्षण प्रकट होने लगते हैं। छोटे बालकोंको वेपन (कम्प) के बदले आक्षेप (Convulsions) आकर ज्वर आजाता है।

३. प्रगतिशीलावस्था—(Stage of advance)

४. पूर्णावस्था—(Fastigium stage) इस अवस्थामें अनेक ज्वरोंमें पिटिकायें निकल आती हैं।

५. परिणतावस्था—(Stage of resolution) इसमें रोग क्रमशः शमन होने लगता है।

६. मुक्तावस्था—(Stage of convalescence) इस अवस्थामें रोगसे मुक्ति मिलती है।

लक्षण—आक्रमणावस्थामें लक्षण दो प्रकारसे प्रकट होते हैं। सत्वर अथवा क्रमशः। यदि सत्वर ज्वर आरम्भ होता है, तो शारीरिक उत्ताप सत्वर बढ़ जाता है। वेपन और शीतावस्था रहकर ज्वर प्रारम्भ हो जाता है। कभी-कभी कितनेही घण्टों या दिनों तक व्याकुलता, अस्थिरता, क्लान्ति, आलस्य, थकावट, शिरमें भारीपन, हाथ पैर टूटना, क्षुधानाश, अरुचि, मलावरोध और निद्रामें व्याघात आदि पूर्वरूप प्रतीत होते हैं। फिर वेपन और शीतकी प्राप्ति होती है।

ज्वर बढ़ जानेपर या परिणतावस्थाकी प्राप्ति होनेपर शिरदर्द शमन हो जाना चाहिये। यदि ज्वर शमन नहीं होता, तो किसी मस्तिष्क विकारकी कल्पना होती है। बार-बार ज्वर आता रहता है, तो वर्द्धितावस्था तक शिरदर्द बना रहता है। उस अवस्थामें पीठ और हाथ पैरकी वेदना कम हो जाती है। दीर्घ काल तक बार-बार ज्वर आनेपर मुक्तावस्था तक वेदना बनी रहती है।

ज्वरकी वर्द्धितावस्था या पूर्णावस्थामें मुखमण्डल लाल, रक्त प्रणालियाँ प्रसारित, त्वचामें उष्णता और शुष्कता, आमवातिक ज्वरमें अति प्रस्वेद, कभी मधुराकी परिणतावस्थामें अति प्रस्वेद आना, अति तृषा, निद्रानाश और

अस्थिरता आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

ज्वरकी परिणतावस्थामें उत्ताप और नाड़ीके द्रुतत्वका ह्रास होता है। इस ज्वर शमनके दो प्रकार हैं। आकस्मिक और क्रमशः। तुरन्त शमन होनेपर आकस्मिकोपशम (Crisis) और शनैः-शनैः शमन होनेपर अनुक्रमोपशम (Lysis) कहलाता है।

आकस्मिक उपशम होनेपर कुछ घण्टोंमें उत्ताप १०५ का ९५ हो जाता है, नाड़ीके स्पन्दन १४० से ५०-६० हो जाते हैं। इस अवस्थामें शक्तिपात होता है। अतः बाह्य उत्ताप (सेक) गरम जल, उत्तेजक औषध आदिका प्रयोग करके सम्हालना चाहिये। उत्तेजना मिल जानेपर रोगीको शान्त निद्रा आ जाती है फिर निद्रापूर्ण होनेपर रोगी स्वास्थ्यका अनुभव करता है। उस समय आर्द्र जिह्वा, उज्ज्वल नेत्र, सामान्य गतियुक्त नाड़ी और मानसिक प्रसन्नता आदि लक्षण भासते हैं।

इस प्रकारके शमनमें सविराम ज्वर और पुनः पुनः आने वाले ज्वरमें अति प्रस्वेद आता है। किसीको अतिसार या पेशाबमें यूरेट क्षारकी अति वृद्धि और कभी श्वास कृच्छ्रता या क्षणिक प्रलाप होकर ज्वर शमन होता है।

क्रमशः ज्वरोपशम होनेपर ज्वर शनैः-शनैः कम होता है, नाड़ीका द्रुतत्व दिन-दिन कम होता है; जिह्वा शुद्ध होती जाती है। इस तरह अन्य लक्षण भी क्रमशः शान्त होते जाते हैं, अस्थाई उपशम (Ramitting lysis) होनेपर प्रतिदिन उत्ताप वृद्धि, ह्रास और कभी स्वेदावस्था और शक्तिपात दृष्टिगोचर होते हैं।

भयप्रदावस्था—ज्वररोगमें निम्न लक्षण होनेपर कष्ट साध्य या असाध्यावस्थाकी प्राप्ति होनेकी भीति रहती है।

१. ज्वरोत्पादक कीटाणु या विषकी प्रबलता हो जाना। उदा०शोणित ज्वर २४ घण्टेमें मार देता है।

२. प्रबल प्रतिक्रिया (Reaction) हो जाना। यथा-शारीरिक उत्ताप अत्यधिक बढ़ जानेपर मृत्यु।

३. भिन्न-भिन्न रोगोंमें स्थानिक घातक विकृति। शोणित ज्वरमें गलक्षत होनेपर श्वासावरोध, विद्रधि फूटनेपर रक्त प्रणाली टूटकर और फिर अन्तरमें रक्तस्राव होना। शीतलामें दाने काले, परिपक्व होनेके समय ज्वराधिक्य या कण्ठ नलिकाका प्रदाह होना आदि।

४. देहमेंसे त्याज्य पदार्थ (मल-मूत्र-प्रस्वेद आदि) न निकलनेसे संगृहीत

हो जाना ।

५. फुफ्फुस, फुफ्फुसावरण, श्वासनलिका आदिके प्रदाहसे घातक उपद्रव उत्पन्न होना । इन लक्षणोंकी प्राप्ति होनेपर जीवन संशय होता है ।

ज्वर प्रकार विनिर्णय—ज्वर होनेपर उसका कारण निर्णय करना चाहिये । केवल शारीरिक उत्तापपरसे ज्वरकी जातिका निर्णय नहीं हो सकेगा । विशेष लक्षण, ज्वरके स्वभाव, शारीरिक उष्णताके वृद्धि-ह्रास समय और कारणोंका परिचय प्राप्त करके निर्णय करना चाहिये ।

इन्फ्लुएन्जा, ग्रन्थिज्वर, शीतला, रोमान्तिका आदि संक्रामक ज्वर होनेपर रोगीको अलग रखना चाहिये और पूर्ण स्वच्छता रखनी चाहिये । भूल होनेपर रोग विशेष फैल जाता है ।

ज्वर प्रदाह जनित है या नहीं, इसके निर्णयके लिये निम्न अवस्थाओं और लक्षणोंपर लक्ष्य देना चाहिये ।

१- रोगी या उसके कुटुम्बियोंसे ज्वरके प्रधान लक्षण, ज्वरकी वर्द्धन रीति आक्रमण काल और उसकी शैली जान लेना चाहिये ।

(शीत कम्प आते हैं या नहीं ? उत्ताप कितना बढ़ता है ? ज्वर कब घटता है ? नाड़ी, श्वास गति, निद्रा, मलमूत्र शुद्धि आदिका निर्णय करना चाहिये) ।

२. यदि विशेष प्रकारका (Specific) ज्वरका अनुमान हो, तो उत्तापकी वृद्धिके अंक और स्थानिक लक्षणोंको देखना चाहिये । शारीरिक उत्ताप और ज्वरकी व्यवस्था अनुमित ज्वरके अनुरूप है या नहीं । रोगीके अनुमित ज्वरसे आक्रान्त होनेकी संभावना है या नहीं ? उस मोहल्ले या मकानमें उस ज्वरसे अन्य कोई पीड़ित है या नहीं अथवा ऐसे रोगसे पीड़ित रोगीका सम्बन्ध हुआ है ?

३. प्रादाहिक ज्वरका अनुमान होता हो तो स्थानिक पीड़ा अथवा क्रिया विकृति आदि प्रदाहके लक्षण वर्तमान हैं या नहीं ?

४. विषम ज्वरका अनुमान हो, तो शारीरिक उत्तापके वृद्धिह्रास, ज्वरका समय शीतकम्प आदि अवस्था, ऋतु, स्थान और प्रदेश मलेरिया वर्द्धक है या नहीं ? एवं प्लीहा और रक्तकी अवस्थाको भी देखना चाहिये ।

५. यदि क्षतपाकज ज्वरका अनुमान हो, तो बाह्य या आभ्यन्तर क्षत या आघात आदिसे क्षतपाकज विषके प्रवेश स्थान और कारणका अनुसन्धान करना चाहिये । एवं ज्वरके उत्तापके क्रम और लक्षण आदिका विचार करना चाहिये ।

६. ज्वर अत्यधिक बढ़ गया हो और कोई घातक लक्षण उपस्थित न हो, तो पुनरावर्त्तक ज्वर या हिस्टीरिया जनित ज्वर अनुमेय होता है।

७. उपर्युक्त कारणोंमेंसे कोई प्रतीत न हो और वातनाड़ीविकारके लक्षण प्रतीत हों, तो वातनाड़ी विकारज ज्वर मानना चाहिये।

आयुर्वेदमें विकृत वात आदि दोष भेदसे ज्वरके मुख्य ८ प्रकार हैं।

१ वातज्वर; २. पित्तज्वर; ३. कफज्वर; ४. वातपित्तज्वर; ५. वातकफज्वर; ६. पित्तकफज्वर; ७. सन्निपात (त्रिदोष) ज्वर; ८. आगन्तुक ज्वर।

सब प्रकारके ज्वरोंकी चिकित्साके मुख्य २ विभाग हैं। १. प्रतिबन्धक चिकित्सा; २. शमन चिकित्सा।

प्रतिबन्धक चिकित्सा—भावी होनेवाला रोग जिस चिकित्सासे रुक जाय, उसे प्रतिबन्धक चिकित्सा कहते हैं। शारीरिक स्वास्थ्यकी रक्षा करना, यह प्रतिबन्धक चिकित्सा है। इसके अतिरिक्त किसी रोगकी प्राप्तिके भयसे उस रोग विरोधी औषधिके सेवन या इञ्जेक्शन आदि कृत्रिम साधनोंद्वारा प्रतिविष उत्पन्न करके रोग-क्षमता उत्पन्न करना, वह भी प्रतिबन्धक चिकित्सा कहलाती है।

यदि ज्वरके पूर्वरूपमें बेचैनी, जँभाई, हाथ-पैरका ऐंठना, शरीरका भारी होना इत्यादि होनेके पहले ही वमन, विरेचन या उपवास करा लिया जाय, तो ज्वर आना प्रायः रुक जाता है। कदाचित् ज्वर आ जाय, तो भी अधिक बलपूर्वक नहीं आ सकता।

किन्तु पूर्वरूप या रूपके प्रारम्भ हो जानेपर यदि व्याधि प्रतिबन्धक चिकित्सा की जायगी, तो वह अधिक हानिप्रद होगी। केवल लङ्घन आदि द्वारा रोगका बल हरण किया जाय, तो उसे हानिकर नहीं माना जायगा।

ज्वरके रूपकी प्राप्ति होनेके पहले ज्वरके दोष जब तक आमाशयमें हों, तब तक उपचार किया जाय, तो स्वल्प कालमें ही लाभ होजाता है। अल्प दोष कुपित हुआ हो, तो वह केवल लंघन करनेसे दूर होता है। मध्यम दोषमें सहन हो सके उतना लङ्घन और पाचन देना चाहिये और अत्यन्त बढ़े हुए दोषोंमें वमन-विरेचन आदि कर्म कराना चाहिये।

ज्वरका वेग उत्पन्न होजानेपर रोगीको वमन नहीं करा सकते; अन्यथा हृद्रोग, श्वास; आफरा और मोहकी उत्पत्ति होती है और दोष धातुओंमें प्रवेश कर जाता है, जिससे धातुगत ज्वर विषमज्वर बनकर बहुत समय तक त्रास पहुँचाता है।

अत्यन्त भारी भोजन कर लेनेपर तुरन्त ज्वर आया हो; दोष आमाशयमें

ही स्थित हो; और हृल्लास (उबाक) आती हो, तो सम्हालपूर्वक वमन करा लेनेमें प्राचीन आचार्योंने आपत्ति नहीं मानी है।

शमन चिकित्सा—आम विषको नष्ट करनेके लिये जब उष्णता बढ़ी हो, तब बलात्कारसे उसका शमन करना हितकर नहीं हो सकता, बल्कि हानिकर है। इसलिये प्राचीन महर्षियोंने सेन्द्रिय ज्वर प्रारम्भ होते ही, उसको दूर करने वाली औषधका उपयोग न करनेकी और दोषको जलाकर अन्तर शक्ति बलवान बने उस तरह लङ्घनसह चिकित्सा करनेकी आज्ञा की है।

वर्तमानमें पाश्चात्य विद्यावाले क्विनाईन आदि तीव्र औषध देकर ज्वरको तुरन्त दूर कर देते हैं, उसका परिणाम आन्तरिक शक्ति और रक्तपर बहुत खराब आता है। कारण, किनाइन विषमज्वरके कीटाणुओंको मारनेके साथ ही रक्तके रक्ताणुओंको भी मार देती है। इतना ही नहीं, किनाइन जीवनीय शक्तिको भी निर्बल और पराधीन बना देती है। अतः ऐसी तीव्र औषधियोंका उपयोग हो सके तब तक नहीं करना चाहिये। यदि रोगीसे ज्वरका वेग न सहा जाता हो, या शमन उपचार न करनेसे ज्वर घातकरूप धारण करेगा, ऐसा अनुमान होता हो, तो रोगको सत्वर दूर करनेकी चिकित्सा करनी चाहिये।

ध्यान रहे कि, आहारका साररूप रस, अग्निकी मन्दताके कारण जब नहीं पचता है, तब वही अपक्व रस विकृत होकर आम बन जाता है। यह चिपचिपा और दुर्गन्धयुक्त होता है। इसके साथ वात आदि दोष और रक्त आदि दूष्योंका संयोग होनेसे जो रोग उत्पन्न होते हैं, वे सब साम अर्थात् आमसह कहलाते हैं। इस आमके सम्बन्धसे ज्वरकी निम्न ३ अवस्थाएँ होजाती हैं। सामावस्था, पच्यमानावस्था और निरामावस्था।

ज्वरकी सामावस्था—नूतन ज्वरकी सामावस्थामें मुँहसे लार गिरना, उबाक, हृदयका भारीपन (आमाशयकी अशुद्धि), भोजनका पाक न होना, अरुचि, क्षुधा नाश, मुखकी विरसता, अङ्गोंमें भारीपन, अकड़ाहट, शून्यता, तन्द्रा, बारबार लघु शङ्का होना, शौच शुद्धि न होना, मांसमें क्षीणता न आना इत्यादि लक्षण होते हैं। इस अवस्थामें ज्वर शामक औषध नहीं देनी चाहिये। वृद्धव्यवहारानुसार आम पाचक रसादि औषध दे सकते हैं।

पच्यमानावस्था—इस अवस्थामें ज्वरका वेग बढ़ना, तृषा, प्रलाप, श्वास, भ्रम, प्रस्वेद, मल-मूत्र आदि की सम्यक् प्रवृत्ति, हृदयमें बेचैनी और वमन करनेकी इच्छा आदि लक्षण होते हैं। ❀

❀ ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम्॥

निरामावस्था—निराम ज्वर होनेपर क्षुधा लगना, देह हलकी होना, ज्वर कम होजाना, वात आदि दोषोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होना, मनमें उत्साह आना इत्यादि लक्षण प्रतीत होने लगते हैं।

यह अवस्था १२ घण्टेसे लेकर १० दिनमें आती है। दोष प्रकोपके कम होनेपर सत्वर निरामावस्था आ जाती है। सामावस्थामें शमन औषध न दें। मात्र पाचन औषध दें + और निरामावस्था आनेपर शमन औषध देवें।

ज्वरजनित विकृतियाँ—ज्वरके अधिक दिनों तक रहनेसे निम्नलिखित विकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

१. रक्त अधिक पतला और काले रङ्गका होजाता है; तथा रक्तमें रक्ताणु कम होकर श्वेताणुओंकी संख्या बढ़ जाती है।

२. मांसपेशियां (Muscles) काली-सी और कुछ शोथयुक्त (Cloudy Swelling) होजाती हैं।

३. हृदय शिथिल (Softened) और क्वचित् विस्तृत (Dilated) होजाता है। हृत्केन्द्र दूषित हो जानेसे उसका वेग बढ़जाता है। नाड़ी स्पन्दन एक मिनट में ८० से १२० तक होते हैं।

४. फुफ्फुसोंमें रक्त शेष (हाइपोस्टेटिक कन्जेशन Hypostatic congestion) रह जाता है। श्वासोच्छ्वासकेन्द्र दूषित हो जाने और हृदयका वेग बढ़जानेसे श्वासोच्छ्वास क्रिया अधिक वेगपूर्वक अर्थात् १ मिनटमें ३० से ४० तक होजाता है।

५. त्वचा उष्ण, रूक्ष या प्रस्वेदके हेतुसे चिपचिपी हो जाती है। रोमान्तिका आदि ज्वरोंमें पिटिकाएँ निकल आती हैं। प्रारम्भमें मुँह लाल और तेजस्वी, फिर हृदय क्रिया मन्द हो जानेपर निस्तेज काला-सा हो जाता है।

६. सब रसोत्पादक पिण्डोंको दूषित रक्त मिलनेसे उनका नैसर्गिक स्राव कम हो जाता है; तथा पचनेन्द्रिय विकृत हो जाती है।

७. जिह्वापर सफेद मैलकी तह आजाती है। जिह्वा पहले गीली और उसकी किनारी लाल रहती है। फिर रूक्ष काली-सी और जड़ हो जाती है; उस पर चीरे पड़ जाते हैं।

८. होठ, दाँत और मसूढ़ोंपर मैल (Sordes) जमता है; और वे शिथिल हो जाते हैं।

+ क्षुत्क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम्।
दोष प्रवृत्तिरुत्साहो निरामज्वर लक्षणम्॥ (च० चि० ३।१३५)

९. आमाशय और अन्त्रकी क्रिया दूषित होनेसे क्षुधा नहीं लगती; क्वचित् वमन होती है; और मलावरोध रहता है।

१०. यकृत्-प्लीहा कुछ अंशमें बढ़ जाते हैं।

११. वृक्कोंकी मूत्रोत्पादक शक्तिका ह्रास हो जाता है; तथा प्रस्वेद अधिक निकलने और श्वासोच्छ्वास क्रिया बढ़ जानेसे भीतरका जल द्रव्य न्यून हो जाता है। इन दोनों कारणोंसे मूत्रोत्सर्ग कम होता है। मूत्र लाल होता है; और कुछ काल तक पड़ा रहनेपर तलेमें क्षार (Urates) बैठ जाता है। पेशाबमें मूत्रीया (Uria) बढ़ जाता है; और क्लोराईड कम हो जाता है।

१२. मस्तिष्क जड़ होना, शिरदर्द, बुद्धिमांद्य (Dullness), तन्द्रा (Drowsiness), प्रलाप (Delirium), और मूर्च्छा (Coma) हो जाते हैं।

अनेक बार ज्वरमें सन्निपात (तीनों दोषोंका) प्रकोप होनेपर वातवहा नाड़ियोंमें विकृति हो जाती है, तब डाक्टरी-मत अनुसार उसके निम्नानुसार २ प्रकार होते हैं।

पहले प्रकारके सन्निपातमें नाड़ी त्वरित, मृदु और अनियमित होती है। जिह्वा रूक्ष, काली-सी, कम्पयुक्त और शिथिल (मुँहसे जल्दी बाहर नहीं निकल सकती) हो जाती है, दांतोंपर मैल जम जाता है, मुँहसे दुर्गन्ध निकलती है। मांसकी शक्तिहीनता (मस्क्युलर प्रॉस्ट्रेशन (Muscular prostration) मांस पेशियाँ आदि गात्रोंका कम्पन (सब्सलटस टेन्डिनम Subsultus tendinum), नेत्रकी पुतली बड़ी हो जाना, बेशुद्धि, प्रलाप, बेशुद्धिमें ही मल-मूत्रोत्सर्ग हो जाना इत्यादि लक्षण होते हैं। इस सन्निपातको-(टाइफॉइड स्टेट Typhoid state) कहते हैं।

दूसरे प्रकारमें रोगी अति प्रलाप और भयंकर उत्पात करते हैं। इसे प्रबल प्रलाप (वायोलेन्ट डिलिरियम Violent Delirium) कहते हैं।

चिकित्सोपयोगी सूचना

देहमेंसे नियमित रूपसे सर्वदा त्वचा, मूत्र ग्रन्थि, अन्त्र आदि निःसारक यन्त्रोंकी क्रिया द्वारा त्याज्य पदार्थ बाहर निकलते रहते हैं; किन्तु ज्वर रोगमें इन यन्त्रोंकी क्रियाका ह्रास या प्रतिबंध होता है। इस हेतुसे देहके भीतर विष संगृहीत हो जाता है। उसे दूर करनेके लिये ज्वर उपस्थित होता है। फिर जब यह विष स्वतः या अन्य औषधोपचार द्वारा देहमेंसे निकल जाय या ध्वंस हो जाय तब ज्वर शमन हो जाता है। इस सिद्ध नियमके अनुरूप वृक्क आदि यन्त्रोंकी क्रियाको उत्तेजित कर विष या त्याज्य पदार्थको बाहर निकालने और

फिर विष द्रव्यकी असाधारण उत्पत्ति होती हो, तो उसे नियमित बनानेके लिए औषधोपचार किया जाता है।

अतएव ज्वर रोगीको लङ्घन करा, प्रारम्भमें आवश्यकता अनुसार संशोधन चिकित्सा करनी चाहिये। वमन, विरेचनद्वारा आमाशय और अन्त्रको शुद्ध करें फिर स्वेदल और मूत्रल ओषधिद्वारा निःसारण क्रियावृद्धि करानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

ज्वर रोगकी चिकित्सामें यदि कोई लक्षण यन्त्रणाप्रद हो तो उसे सत्वर शमन करनेके लिये लक्ष्य देना चाहिये। एवं कितनेही विशेष लक्षणोंके प्रतिकारार्थ विशेष प्रबंध करना चाहिये।

सामान्य ज्वरमें त्वचा और वृक्कोंकी क्रियाको उत्तेजित करनेसे प्रायः ज्वरका लाघव होता है। किन्तु कितनेही ज्वरोंमें औषध प्रयोग करने और प्रस्वेद पूर्ण देह हो जानेपर भी ज्वरका ह्रास नहीं होता। ऐसे समयपर किस प्रकारका ज्वर है ? यह निर्णय करना चाहिये।

यदि विषम ज्वर है, तो उसके कीटाणुओंके नाशके लिये सप्तपर्ण सत्व या क्विनाइन अथवा सत्यानाशीके सत्व प्रधान औषधि देनी चाहिये।

वर्त्तमानमें क्विनाइनका उपयोग अत्यधिक बढ़ गया है। कभी-कभी रोगीकी भूल या चिकित्सकके प्रमादवश अतियोग होकर हानि होनेके उदाहरण मिलते हैं। कितनेही रोगियोंको मूत्रावरोध, निद्रानाश, नेत्रमें लाली, व्याकुलता, अरुचि, चक्कर आना, मनकी अस्थिरता आदि लक्षण क्विनाइन बन्द करनेपर भी २-३ दिनों तक रह जाते हैं।

यदि मुद्दती ज्वर है तो शमन चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। ज्वर पचन और शक्ति संरक्षण निमित्त ओषधि देनी चाहिये।

यदि आम वातिक ज्वर है तो लंघन, स्वेदन, विरेचन और हृद्य चिकित्सा करनी चाहिये। मूत्रकी अम्लताको दूरकर क्षारीय बनानेके लिये क्षार प्रयोग करना चाहिये। विण्टरग्रीन तैलकी मालिश करनेसे तीक्ष्ण वेदना शमन होती है और विकार सत्वर पचन होनेमें सहायता मिल जाती है।

सविराम ज्वरमें शारीरिक उत्ताप १०२ से १०६ तक बढ़ जाता है। किन्तु थोड़ेही समयमें घट जाता है। इस हेतुसे उसमें बलात्कारसे ज्वरको उतारने वाली ओषधि नहीं देनी चाहिये। अन्यथा शक्तिपात या हृदय निर्बल होनेकी भीति रहती है।

प्रादाहिक ज्वर होनेपर प्रदाहको दूर करनेकी चिकित्सा मुख्य तया करनी

चाहिये। स्वर यन्त्रके प्रदाह (प्रतिश्याय) से ज्वर हो, तो बनफशा क्वाथ या अन्य प्रदाहघ्न चिकित्सा प्रधान तया होनी चाहिये। यदि ज्वर १०५-१०६ डिग्री हो जाय, तो शिरपर बर्फ रखना, शीतल जलसे देहको पोंछना आदि उपचार करना चाहिये।

मधुरामें ज्वरका उत्ताप अधिक न होगया हो, किन्तु प्रलाप और उत्ताप आदि सन्निपातिक लक्षण उपस्थित हों, तो ज्वरको प्रबल मानकर उसके दमनार्थ सूतशेखर आदि शामक चिकित्सा करनी चाहिये। हृदय अति शिथिल हो तो कस्तूरीभैरव रस देना चाहिये। यदि उत्ताप दीर्घकाल पर्यन्त कम न हो या अकस्मात् बढ़ गया हो तो उसे विषम उपद्रव मानकर विशेष लक्ष्य देना चाहिये। अनिद्रा, अस्थिरता, प्रलाप और शिरदर्दको दूर करनेके लिये तगरादि कषाय विशेष लाभदायक माना गया है।

कितनीही डाक्टरीय औषधियाँ ज्वरको बलात्कारसे शमन करती हैं। किन्तु वे हृदय और स्वरयन्त्रपर अवसादक असर पहुँचाती हैं। अतः वे लाभकी अपेक्षा अधिक हानिकर सिद्ध हुई हैं। देहमें जिस क्रियाद्वारा उत्ताप-जनन होता है, उसपर कार्यकारी होकर उत्तापका ह्रास नहीं करती। अतः उन घातक औषधियोंको सर्पसमान भयप्रद समझकर उनसे दूर रहना चाहिये।

ज्वर दमनकारक क्रिया निम्नानुसार ३ प्रकारसे हो सकती है—

१. उत्ताप उत्पादन क्रियाका दमनकर ज्वरको शान्त करना।

२. उत्तापजननकी अपेक्षा—उत्तापको चारों ओर फैलानेकी क्रिया और नाशक्रियाको बढ़ाकर ज्वरका लाघव करना।

३. उत्तापजननपर असर न पहुँचाना, केवल उत्तापनाश क्रियाको प्रबलकर ज्वरका दमन करना।

इनमेंसे आयुर्वेदिक औषधियाँ कुटकी, चिरायता, गिलोय, कालमेघ, प्रवालपिष्टी, गोदन्ती भस्म आदि पहले प्रकारकी हैं। इनको उत्तम प्रकारकी मानेंगे। ये किसी भी प्रकारकी हानि नहीं पहुँचातीं।

सप्तपर्णसत्व, पटोलपत्र, द्रोणपुष्पी, अर्कमूलत्वक्, किनाईन, एस्पिरिन, एण्टी पाइरिन आदि दूसरी श्रेणीमें हैं।

वच्छनाभ, डिजिटैलिस, सोमल, कपूर, अफीम, कस्तूरी, खुरासानी अजवायन, गाँजा, फिटकरी, सिर्का, क्षार, जसदभस्म आदि तीसरी श्रेणीकी ओषधियाँ हैं।

अफीम, किनाइन, क्षारप्रधान ओषधि, विषप्रधान ओषधि और बलात्कारसे ज्वरको दमन करनेवाली कितनीही औषधियोंका प्रयोग दीर्घकाल पर्यन्त करनेसे

शारीरिक रचना-तन्तुओंको हानि पहुँचती है या भीतर विष संग्रह होता है। अतः ऐसी ओषधियोंका उपयोग आवश्यकतापर ही करना चाहिए।

प्रायः ज्वर १०५ से अधिक बढ़ जानेपर कितनेही रोगी बेचैनी, निद्रानाश, मानसिक अस्थिरता आदिसे विशेष पीड़ित हो जाते हैं, तब एलोपैथिक मत अनुसार उनको निवाये जलमें शराब मिला हाथ पैर या कभी पीठको भी पोंछ देनेका रिवाज है उससे रोगीको शान्ति मिलती है। कभी केवल निवाये जलमें वस्त्र डुबोकर समस्त देहको पोंछना पड़ता है। फिर भी आवश्यकता रही तो छातीको शीतल जलसे पोंछते तथा बर्फके जलमें कपड़ा भिगो निचोड़कर छाती और उदरपर फैला देते हैं और बार-बार वस्त्रको बदलते रहते हैं। कारण, छाती पर रखा हुआ वस्त्र सत्वर गरम हो जाता है। उतनेसे भी ज्वर शमन न हो तो रोगीको गीले वस्त्रमें लपेट देते हैं; और थर्मामीटरको मुँह या गुदामें रखते हैं। उत्ताप १०१ होनेपर गीले वस्त्रोंको हटा देते हैं। फिर देहको सूखे वस्त्रसे पोंछकर शान्त सुला देते हैं। इस क्रियाको शीतवेष्टन (Coldpack) कहते हैं।

स्नान वेष्टन और मार्जन—स्नान (Bath) वेष्टन (Coldpack) और मार्जन (Sponging) ये तीनों शीतोपचार हैं। तीनों उत्तापको ह्रास करानेके लिये व्यवहृत होते हैं।

उत्तापका ह्रास करानेके लिये जलकी उष्णता कम रखी जाती है। स्नान पात्रमें रोगीको बैठानेसे जल अधिक उष्णताका तत्काल शोषण कर लेता है। वेष्टन और मार्जन पद्धतिमें जलकी बाष्प बननेपर शीतलता आ जाती है। यदि अवयव खुले रखे जायेंगे, तो बाष्प जल्दी बन जाती है।

क्वचित् जलके स्थानपर स्पिरिट या स्पिरिट मिश्रित जलका उपयोग किया जाता है। बाष्प जितनी होती है उतना ही जल्दी उष्णताका ह्रास होता है।

शीतोपचारका फल—१. रोगीकी सामान्य स्थितिमें सुधार; २. त्वचाके नीचे रक्ताभिसरणमें वृद्धि; ३. शरीरमें परिवर्तन (चयापचयक्रिया वृद्धि); ४. विषोत्पत्तिका ह्रास; ५. त्वचा और मूत्र संस्थानसे मलद्रव्यका सत्वर बाहर निकलना; इनमेंसे मल विषका ह्रास होनेसे अस्वस्थता कम होती है, शान्ति मिलती है और रोगीको निद्रा आजाती है।

वक्तव्य—क्वचित् सारे शरीरपर शीतोपचार होनेसे प्रारम्भमें रोगी ठिठुरता है; किन्तु वह लक्षण सत्वर ही दूर हो जाता है। यदि ठिठुरना चालु रहे तो रोगीकी स्थिति अच्छी नहीं है, ऐसा मानकर शीतोपचार बन्द करें।

रक्ताभिसरणमें तेजी आनेसे हृदय क्रिया सबल बनती है, नाड़ी भी भरी हुई और सबल बनती है। किन्तु शीतोपचार आवश्यकतासे अधिक हो जायगा,

तो नाड़ी बारीक और निर्बल हो जायगी। फिर प्रतीत नहीं होगी। ऐसा हो, तो उस समय आध औंस ब्राण्डी या काफी, कस्तूरी प्रधान ओषधि अथवा अन्य हृदयोत्तेजक ओषधि दे देनी चाहिये।

शीत स्नान—५०° से ६०° उष्ण जल भरे हुये पात्रमें बैठावें। फिर १०°से २०° डिग्री उष्णता कम करके ६५°तक उष्णता रखें (अर्थात् बर्फका जल मिला कर उष्णता कम करें।) यह कठोर उपाय है। सामान्यतः ३ मिनट तक यह स्नानोपचार किया जाता है। यह कठिन और कड़े परिणाम वाला है। तीव्र विष प्रकोपमें इसका प्रयोग होता है। रोगीको चद्दरपर बैठाकर कण्ठ तक भरे पात्रमें रखते हैं। फिर चद्दरको ऊपर उठाते हैं और पुनः जलमें छोड़ते हैं। रोगीके शरीरपर शीतल जलका स्पञ्ज निचोड़ते हैं या जल छिड़कते हैं। ऐसा करनेपर शीतकम्प (Shiver) होने लगता है। कम व अधिक होने या देहका रंग नीला प्रतीत होनेपर रोगीको बाहर निकाल लिया जाता है फिर नाड़ीपर पूरा लक्ष्य रखना चाहिये। तुरन्त शरीर गरम तोलियेसे पोंछ लिया जाता है। फिर बिछौनेपर लेटाकर गरम ब्लैंकेट ओढा देते हैं।

क्वचित् रोगीको पलङ्गके ऊपर मोमजामेपर लिटाकर फिर कुछ ऊंचाईसे झारी द्वारा शीतल जल डालते रहते हैं। पलंगके आगेके पाये ऊँचे रखते हैं, जिससे जल पैरोंकी ओरसे नीचे बाल्टीमें गिरता जाता है।

वेष्टन—शीतल जलमें भिगोई हुई चद्दर फैलाकर उसपर रोगीको लिटाकर फिर एक भिगोकर निचोड़ी हुई चद्दर ऊपर ओढा देवें। ऊपरकी चद्दरसे बाष्प निकलनेपर उसे हटा देवें। नयी वैसी दूसरी चद्दर ओढा देवें। इस तरह ३-३ मिनटपर चद्दर बदलते रहें। बहुधा २० मिनट तक ६ चद्दरें बदलनी पड़ती हैं।

मार्जन—ज्वरके उत्तापको कम करानेके लिये यह शामक सौम्य उपचार है। इस पद्धतिका उपयोग अधिक होता है। इस प्रयोगसे रोगीको तुरन्त निद्रा आ जाती है।

सामान्यतः मार्जन (जिसमें शान्ति प्रदान हेतु है) में ८०° से ९०° डिग्री तक उष्ण जल लेते हैं। १०३° से अधिक ज्वर होनेपर उष्णता शीघ्र कम कराना इष्ट हो, तो ७५° डिग्रीसे भी कम उष्ण लेना चाहिये। विष प्रकोपमें १०६° उत्ताप होनेपर यह उपचार करें तो चल सकता है।

पहले मुखको पोंछें। फिर प्रत्येक अवयवको दोनों हाथ, छाती, उदर और पैरोंको तथा उसी तरह पिछली ओरके भागको ३-३ मिनट तक गीले कपड़ेसे पोंछें और खुला रखकर सूखने देवें।

ज्वर रोगमें कभी प्रबल शिरदर्द होता है। उसके निवारणार्थ योग्य उपचार सत्वर करना चाहिए। शिरमें भारीपन और वेदना हो, तो उष्ण उपचार

करना चाहिये। उष्णता हो, तो बर्फ, सिर्का आदिकी पट्टी रखनी चाहिये। कभी रोगी बेहोश हो जाता है। उसके लिए विकृत पदार्थ जो संगृहीत हुए हों, उन्हें निकालनेकी चेष्टा करनी चाहिए। आवश्यकतानुसार विरेचन, मूत्रल, या स्वेदल औषधि देवें। कण्ठमें कफ रुका हुआ हो, तो उसे निकालनेके लिए सत्वर प्रयत्न करना चाहिए। श्वासावरोध अथवा हृदयकी शिथिलता हो, तो हृदयपौष्टिक औषधिकी योजना करनी चाहिए। रसतन्त्रसार भाग दूसरेमें लिखी हुई हिंगुकर्पूर वटी भी तत्काल फल दर्शाती है।

कभी ज्वरके साथ उपद्रवरूपसे हिक्का उत्पन्न होती है। उसकी चिकित्सा कारणके अनुरूप की जाती है। प्रदाह, उग्रता, वातनाड़ी विकृति, मस्तिष्कगत अर्बुद आदि अनेक कारण होते हैं। अतः इसका विचार यथास्थान किया जायगा।

ज्वर दीर्घकाल तक रहनेपर रोगी लेटा रहता है। ऐसी अवस्थामें फुफ्फुसके निम्न प्रदेशमें रक्त संग्रह (Hypostatic Congestion) हो जाता है। ऐसा होनेपर प्रत्युग्रता साधक उपचार करना चाहिये।

ज्वर दीर्घकाल तक रहनेपर या आमाशय विकार होनेपर मुँहमें दुर्गन्ध, बेस्वादुपन और दाँतोंपर मैल जमना आदि लक्षण होते हैं। ऐसा होनेपर सरसोंके तैलमें बारीक पिसा हुआ सैंधानमक मिला, दाँत और मसूढ़ोंको साफ करना चाहिए एवं फलोंको चबाना चाहिये।

विशेष दिन रहने वाले या मुद्दती ज्वर या संक्रामक प्रबल या अनिर्णित ज्वरकी चिकित्सा करनेपर स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक प्रकारके ज्वरका प्रकृतिगत इतिहास है। अर्थात् इसका आरम्भ हो जानेपर उस ज्वरको कितनी ही अवस्थाओंकी प्राप्ति हो जायगी। ऐसी कोई औषधि नहीं है कि ज्वरके क्रमका परिवर्त्तन कर दें। इसलिए रोगीको शुद्ध वायु वाले स्वच्छ स्थानमें रखना, विश्रान्ति देना, योग्य परिचर्या, पथ्यकी व्यवस्था, स्वच्छता, मानसिक चिन्ता हो तो भुला देना, ये सब प्रधान चिकित्सा हैं। इसे सम्हालते हुए लक्षणके अनुरोधसे औषधोपचार करना चाहिए।

विविध प्रकारके ज्वरके प्रारम्भमें ज्वर प्रकारका निर्णय कर लेना बिल्कुल असम्भव है। योग्य परिचर्या ही प्रथम सोपान है। (प्रारम्भमें विशेष चिकित्साका प्रयोजन नहीं है) तथा उपस्थित लक्षणोंके अनुसार रोगीकी वेदना शान्त हो और लक्षणोंका निवारण हो, बाहरसे नूतन संक्रामक विषका प्रवेश हुआ हो, तो वह विष प्रतिरुद्ध हो, ऐसा सामान्य उपचार करना चाहिये।

रोगीके कमरेमें वायु शुद्ध रहनी चाहिए। उस कमरेमें अनावश्यक वस्तु नहीं रखनी चाहिए। कमरा, बिछौना, वस्त्र, पात्र आदि शुद्ध रखने चाहिए।

ज्वर-रोगीको तेज वायु लगकर हाथ पैर शीतल न हो जायँ, यह सम्हालना चाहिए।

ज्वरकी चिकित्सार्थ महर्षि आत्रेय ने कहा है कि :—

ज्वरादौ लङ्घनं प्रोक्तं ज्वरमध्ये तु पाचनम्।
ज्वरान्ते भेषजं दद्याज्ज्वरमुक्ते विरेचनम्॥ च० सं०॥

ज्वरके प्रारम्भमें शक्ति और दोष आदिका विचारकर, आम पाचन, जठराग्नि प्रदीप्त और स्रोतसोंकी शुद्धि (निरामावस्थाकी प्राप्ति) के लिये लङ्घन कराना चाहिये। दोष नष्ट होनेपर शेष दोषको पचानेके लिये यवागू पान और पाचन ओषधि आदिकी योजना करें। पश्चात् ज्वर संशमनके लिये ज्वरघ्न ओषधि और ज्वरके चले जानेपर विरेचन ओषधि दें।

लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः।
पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे॥

सर्वदा नूतन ज्वरमें दोष पाचनार्थ क्रिया सबसे पहले करनी चाहिए। शारीरिक शक्तिका संरक्षण हो, इस तरह सम्हालपूर्वक उपवास, स्वेदन क्रिया (प्रस्वेद निकालना), १ से ८ दिनकी प्रतीक्षा करना, यवागू, तिक्तरस (पेया, यवागू आदिके संस्कारमें पीपल, सोंठ आदि चरपरे पदार्थ मिलाना) इत्यादि क्रियाका उपयोग तरुण ज्वर (अविपक्व ज्वर) में आमदोषको पचानेके लिए करें।

इनके अतिरिक्त आमको पचानेके लिये सब प्रकारके ज्वरोंमें कंटकार्यादि (छोटी कटेली, बड़ी कटेली, धनिया, सोंठ और देवदारु इन ५ ओषधियोंका) क्वाथ दिया जाता है। इस कषायको नागरादि पाचन भी कहते हैं। यह कच्चे दोषोंको पकानेमें अति हितकर है।

लङ्घन—लङ्घन करनेसे आम और अपचनकी निवृत्ति, पित्तशमन, कफनाश, वातक्षय, क्षुधा प्रदीप्त, उत्साहवृद्धि, ज्वर पचन, ज्वर निवृत्ति और सर्व दोष विनाश, ये सब कार्य अनुक्रमसे होते हैं। सामान्यतः बलवान देहवालोंको ये सब सत्वर होते हैं। आचार्योंके मत अनुसार इन लाभोंके लिये ६ दिन व्यतीत हो जाते हैं। इस दृष्टिसे वात-पित्तादि ज्वरोंमें लङ्घन मर्यादा बाँधी है।

वर्तमानमें जनताकी शारीरिक और मानसिक शक्ति निर्बल हो जानेसे उतने लङ्घन नहीं कराये जाते। शक्ति देखकर उपवास कराने चाहिये। ज्वरमें उपवास करानेसे रक्त आदि धातुओंमें लीन दोष जल जाता है और आन्तरिक शक्ति सबल बन जाती है; किन्तु कितने ही दुराग्रही और मन्दमति रोगी एक समयका भोजन छोड़नेको भी तैयार नहीं होते, जिससे वे बहुत दिनों तक

दुःख भोगते रहते हैं और ज्वर जानेके पश्चात् भी निर्बल रहते हैं।

यद्यपि नूतन ज्वरके रोगीको उपवास करना अति हितकर है, तथापि बालक, वृद्ध, सगर्भा स्त्री और अति निर्बलोंको लङ्घन नहीं कराना चाहिये। अलावा क्षय (राजयक्ष्मा या धातुक्षय) ज्वर; निराम वातज्वर एवं आगन्तुक ज्वर (भय, क्रोध, काम, शोक, श्रम या कीटाणु जन्य ज्वर) में उपवास न करानेका चरक संहिताकारने लिखा है। (च० सं० चि० अ० ३।१३७)। उपवास करानेमें इस बातका भी लक्ष्य रखना चाहिये कि चेतना शक्तिका क्षय न हो; इसीपर सारे शरीरका आधार है। चेतना शक्ति (बल) का संरक्षण होने से ही आरोग्य प्राप्त होता है।

जलपान—ज्वर पीड़ित रोगीको जल पिलानेके लिये, वात और कफ ज्वरमें ओटाकर आधे रहे हुए जलमेंसे इच्छानुसार थोड़ा-थोड़ा जल देते रहें। शराबके पीनेसे आये हुए ज्वरमें और पित्तज्वरमें, कड़वे रसयुक्त ओषधिके साथ औटाकर शीतल किया हुआ जल देना चाहिये।

उबाले हुए जलको अपने आप ठण्डा होने दें। वायु डालकर शीतल नहीं करना चाहिये। इसलिये कि बाहरकी वायुके योगसे शीतल हुआ जल जल्दी नहीं पचता। सुबहको औटाया हुआ जल शाम तक और शामको औटाया हुआ सुबह तक, कार्यमें लाना चाहिये। १२ घण्टे बाद वह सदोष बनने लगता है।

जिस ज्वरमें प्यास अधिक लगती हो, उसमें निम्न "षडंग जल" देनेका आचार्यों ने लिखा है।

षडंग जल—नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खस, लालचन्दन, नेत्रबाला और सोंठ, सबको समभाग मिला, २ तोले लेकर १२८ तोले जलमें औटावें। आधा जल शेष रहनेपर उतार लें। शीतल होनेपर छानकर थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहें।

प्राचीन आचार्योंने ज्वरको ७ दिन तक तरुण, ८ से १२ दिन तक मध्यम, पश्चात् पक्व ज्वर और २१ दिन बाद जीर्ण ज्वर कहा है। वातज्वर प्रातः ७ दिनमें, पित्तज्वर प्रायः १० दिनमें, और श्लैष्मिक ज्वर प्रायः १२ दिनमें पकता है। ज्वर पक्व होनेपर थोड़ा थोड़ा दूध, घी और भोजन देना प्रारम्भ करना चाहिये; अथवा ज्वर दूर होने तक दूध और फलोंके रसपरही रोगियोंको रखना चाहिये। अनाजकी अपेक्षा दूध और फलोंका रस विशेष लाभदायक सिद्ध हुआ है।

अपथ्य सेवन, अत्यधिक भोजन आदिसे उत्पन्न निज ज्वरोंमें यद्यपि आयुर्वेदने तरुण ज्वरकी आमावस्थामें दूध देना, विष सदृश हानिकर माना

है। (सु० सं० उ० अ० ३९।१३५); तथापि वर्तमानमें शारीरिक और मानसिक निर्बलता और व्यावहारिक अधिक चिन्ताके हेतुसे जो रोगी उपवास नहीं कर सकते, उनको एलोपैथिक मतानुसार दूध देना हितावह माना गया है। यद्यपि भोजन (अनाज) की अपेक्षा, दूधसे अधिक हानि नहीं होती, फिर भी बलवानोंको उपवास करा, अन्तर शक्तिको सबल बनाकर, ज्वरको विदा करनेमें जो लाभ होता है, वह दूध पिलानेसे कदापि नहीं होता।

आन्त्रिक ज्वर-२१ दिनके मुद्दती ताप (Typhoid fever) के आरम्भमें ३-४ दिन तक केवल जलपर, पश्चात् दूधपर रखा जाय तो रोगी तीसरे सप्ताहमें अधिक अशक्त नहीं होता, नये उपद्रव नहीं होते; और ज्वर मुद्दतपर या इससे २-४ दिन पहले ही चला जाता है। यदि आरम्भसे ही अन्न देते रहते हैं, तो तीसरे सप्ताहमें अनेक रोगी निर्बल हो जाते हैं, लक्षणोंकी वृद्धि होती है; एवं स्वस्थ होकर बल आनेमें बहुत ज्यादा समय लगता है। ऐसा सैकड़ों रोगियोंकी चिकित्सासे अनुभव मिला है।

साम ज्वर—जब तक दोष साम और विरुद्ध हों, तब तक ओषधि नहीं देना चाहिए; ऐसा प्राचीन आचार्योंका कथन है। परन्तु वर्तमानमें बहुधा चिकित्सकगणोंको ज्वर आनेके साथ ही औषधि देकर उसे दूर करना पड़ता है। परिणाममें आन्तरिक शक्ति दीर्घकाल तक निर्बल रहती है, और अनेक बार थोड़े-थोड़े दिनोंके अन्तरपर बार-बार ज्वर आता रहता है।

एक दोषज और द्विदोषज ज्वरोंमें दोषानुरूप चिकित्सा की जाती है। किंतु सान्निपातिक ज्वरमें विशेषतः आमनाशक और कफ शोषक ओषधि ही पहले देना चाहिये। पश्चात् पित्त और वातको शमन करना चाहिए। किसी समय इस विधिमें कुछ परिवर्तन प्रकृति भेदसे करना हो, तो अत्यन्त सोच विचार कर करें। मधुरा (Typhoid) में आरम्भसे ही प्रायः पित्त शमनके लिये विशेष लक्ष्य देना पड़ता है।

इन क्रियाओंसे यदि ज्वरका प्रशमन न हो तथा बल मांस और अग्निका क्षय भी न हुआ हो, तो विरेचन देकर मलको दूर करें। यदि रोगी अधिक क्षीण हो गया हो, तो दूधकी निरूह बस्तिद्वारा (डाक्टरी मत अनुसार साबुन जल या एरण्ड तैलकी ही बस्तिद्वारा) मलको निकालें। इस तरह जीर्णज्वरमें कफ-पित्तका क्षय हुआ हो, पाचक अग्नि अच्छी हो और बद्धकोष्ठ हो, तो अनुवासन बस्ति दें; तथा तैलमर्दन और स्नान भी प्रकृतिके अनुरूप करा सकते हैं।

विषमज्वर-इस प्रकारके ज्वरोंमें पहले वमन और विरेचन कराकर ओषधि देनेसे सत्वर लाभ पहुँचता है। फिर भी प्रकृति, दोष-दूष्य और देश-कालका

विचार करना चाहिए। अनुचित वमनसे हृदयमें वेदना, श्वास, आफरा तथा मूर्च्छाकी उत्पत्ति होती है। इस तरह अनुचित विरेचनसे धातुओंमें विकृति होकर नाना प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें लिखे हुए पंचसम चूर्ण, आरग्वधादि क्वाथ दूसरी विधि, ज्वरकेशरी वटी या अश्वकंचुकी रस आदि ओषधियाँ अनेक ज्वरोंमें विरेचनके लिए और नीलकण्ठ रस वमनके लिये दिया जाता है।

ज्वरावस्थामें मलको पचन कराये बिना सरलतापूर्वक निकाल देनेका कार्य आरग्वध (अमलतासकी फलीके गूदे) से उत्तम प्रकारसे होता है। १ समयमें २।। तोलेका क्वाथ दिया जाता है, यह अति निर्दोष ओषधि है।

नूतन ज्वर—सर्वदा नये ज्वरके रोगीको तेज वायुसे रहित किन्तु शुद्ध वातावरण वाले स्थानमें रखना चाहिए। तेज वायु लगती रहेगी तो प्रस्वेद बाहर नहीं आ सकेगा; और रोगीको अशुद्ध वातावरणमें रखा जायगा, तो श्वासोच्छ्वासमें दूषित वायु आती रहनेसे रोग जल्दी दूर नहीं हो सकेगा।

नये ज्वरमें स्नान, तैलमर्दन, स्नेहपान, वमन, विरेचन, शीतल जलपान, दिनमें निद्रा, क्रोध, व्यायाम, मैथुन, खुली तेज वायुका सेवन, कच्चे आम दोष हों तब तक भोजन और कसैले पदार्थका सेवन, इन सबसे रोगीको आग्रहपूर्वक बचाना चाहिये। (च० चि० ३।१३६)

जलपान और भोजन कर लेनेपर, लङ्घनवालेको क्षीण और अजीर्णयुक्त रोगीको और तृषा अधिक लगती हो उसे संशोधन या संशमन, इनमेंसे एक भी ओषधि न दें (मात्र पाचन ओषधि दें)। किन्तु, बालक, वृद्ध, स्त्री और सुकुमारोंके लिए यह नियम नहीं है।

नये ज्वर प्रकोपमें दिनमें नहीं सोना चाहिए, कारण दिनमें सोनेसे कफ-वृद्धि होती है; किन्तु निर्बल, चिन्तातुर, बालक और वृद्धोंके लिये यह नियम नहीं है। एवं ग्रीष्म ऋतुमें थोड़े समय तक दिनमें विश्रान्ति लेनेमें आपत्ति नहीं मानी है।

तरुण ज्वर—रोगीको तरुण ज्वरमें कसैले रसयुक्त ओषधिका कषाय (क्वाथ) नहीं देना चाहिए, क्योंकि कषाय देनेसे बढ़े हुए दोष अपने मार्गको छोड़कर आममें सम्मिलित हो जाते हैं और फिर उनको दूर करने या पचन करनेमें बहुत त्रास पहुँचता है। (च० चि० ३।१५६-१६०)

यदि कोई चिकित्सक ज्वर रोगीको अज्ञानवश या भूलसे कषाय रस वाली ओषधिका क्वाथ विशेष मात्रामें दे देवेगा, तो आध्मान आदि उपद्रव उत्पन्न हो जायेंगे।

सब प्रकारके ज्वरोंमें विशेषतः पहले पित्तप्रकोप होता है, अतः पित्तप्रकोपक चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

अनेक रोगियोंको निद्रा नहीं आती या बहुत कम आती है, अतः निद्रा लानेके लिए कस्तूर्यादि वटी या पीपलामूल और गुड़, अथवा भांगको शहदके साथ मिलाकर देना चाहिये। अलावा हाथ पैरोंके तलोंमें कांसीकी कटोरीसे घीकी मालिश करनी चाहिये।

ज्वर चले जानेके पश्चात् भी जब तक शरीरमें बल न आ आ जाय, तब तक व्यायाम, मैथुन, स्नान, भ्रमण, परिश्रम, शीतल जल और शीतल वायुका सेवन, इन सबसे आग्रहपूर्वक बचना चाहिये; अन्यथा पुनः ज्वर आजायगा या इतर नूतन रोगकी उत्पत्ति हो जायगी, अथवा बहुत काल तक निर्बलता बनी रहेगी।

जिस रोगीका हृदय कमजोर हो, उसको भूलकर भी वच्छनाभ प्रधान औषधि न दें। यदि दें तो बहुत कम मात्रामें दें, कारण, वच्छनाभ हृदयकी गतिको शिथिल बनाता है। गदमुरारि रस (रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह) में वच्छनाभका परिमाण बहुत कम है। एवं लक्ष्मीनारायण रसमें हृदयकी पौष्टिक औषधि (हिंगुल और अभ्रक भस्म) मिलाई है, इससे हृदयको बाधा नहीं पहुँचती। यदि निर्बल हृदय वाले रोगीको वच्छनाभ प्रधान औषधि दी जाय, तो साथमें लक्ष्मीविलास रस या अभ्रक भस्मकी योजना करनी चाहिये।

(१) क्षुद्र ज्वर

रसगत ज्वर-हरारत-फेब्रिक्युला (Febricula)

निदान—सूर्यके तापका अधिक सेवन, जागरण, अधिक श्रम, ऋतु परिवर्तन, अत्यधिक आहारका सेवन (असंयम-Intemperance) अज्ञात कारण (Idiopathic) और अपचनसे आमवृद्धि और बद्धकोष्ठ होते हैं। फिर वात आदि धातुका आमसे सम्बन्ध होनेपर रस धातुमें विकृति होकर ज्वर आजाता है। इस क्षुद्रज्वरमें वात, पित्त अथवा कफमेंसे एक या दो के मिश्रित अस्पष्ट लक्षण प्रतीत होते हैं।

लक्षण—अरुचि, अजीर्ण, पेटमें भारीपन, बेचैनी, उबाक, वमन, तन्द्रा, आलस्य, क्षुधानाश, मलावरोध आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

क्षुद्रज्वर चिकित्सा—इस ज्वरमें अधिकारीके लिये उपवास सर्वोत्तम उपचार है। इस ज्वरके प्रारम्भमें भोजन और शमन औषधि नहीं देनी चाहिये। बहुधा एक दिन लङ्घन करनेपर आम पक जाते हैं। फिर क्षुधा, कृशता, लघुता, ज्वरके वेगमें कमी, मनमें बेचैनीका अभाव, अधोवायुकी प्रवृत्ति इत्यादि

निरामज्वर (पके ज्वर) के लक्षण प्रतीत होनेपर शमन ओषधि देवें। जब तक दोष कच्चे हों, तब तक संशमन ओषधि न दें; पाचन ओषधि देवें। (डाक्टरी मत अनुसार मलावरोध हो तो विरेचन और उबाक हो तो वामक ओषधि दी जाती है। फिर ज्वर रहनेपर स्वेदल और मूत्रल ओषधि देते हैं।

उपवास करनेपर नमक और कालीमिर्च लगाकर १०-२० मुनक्का खानेको दें, जल गर्म कर शीतल किया हुआ पिलावें। दूसरे दिन चाय, थोड़ा दूध अथवा मोसम्बीका रस दें। तीसरे दिन (बिलकुल ताप चला जानेपर खानेको गेहूँकी रोटी, मूँगकी दाल, परवल या चौलाईका शाक, पौदीनेकी चटनी, आरग्वधादि कल्क, अदरक आदिकी चटनी तथा सोंठ, लौंग आदि मसाला देवें।

ज्वर निकल जानेपर रोगीको हल्का-सा पथ्य देना चाहिये। पथ्य बिगड़नेसे ज्वर फिर आजाता है; अतः उस समय बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। केवल पञ्चमुष्टि यूषपर रोगी रह जाय, तो उत्तम है। न रह सके, तो लघु-भोजन आदि सम्हालपूर्वक दें।

इनके अतिरिक्त पृथक्-पृथक् लक्षणोंके लिए अनेक ओषधियां लिखी हैं, उनमेंसे आवश्यकता अनुसार विचारपूर्वक उपयोग करें।

आम पाचनार्थ—(१) धनिया और परवलके पत्ते १-१ तोला ले, जौकुट कर १६ गुने जलमें उबाल, अर्धावशेष क्वाथ करके पिलावें। इससे आमपचन, अग्नि प्रदीप्त, मलभेद, कफनाश और वात-पित्तका अनुलोमन होता है।

(२) आँवला, चित्रकमूल, हरड़, पीपल और सैंधानमक, इन ५ औषधियोंको मिला, कूटकर ४ माशे निवाये जलके साथ देनेसे अपचन दूर होकर ज्वरका शमन हो जाता है।

(३) चिरायता, कुटकी, नागरमोथा, गिलोय, सोंठ, पाठा, खस और नेत्र-बाला, इन ८ औषधियोंको मिला, २ तोलेका क्वाथ कर पिला देनेसे मलावरोध सह ज्वर दूर हो जाता है।

दोष संशमनार्थ सब ज्वरोंपर—(१) श्वेत पुनर्नवा, बेल छाल और लाल पुनर्नवाको १-१ तोले लेकर २४ तोले दूध और ९६ तोले जल मिला, उबाल, दूध शेष रहनेपर उतार, छानकर पिलावें। इस दूधसे मूत्रद्वारा विष निकल कर ज्वर शमन होता है।

(२) शीशमकी छाल २ तोलेको जल ६४ तोले और दूध १६ तोलेके साथ मिला, उबाल, दुग्धावशेष क्वाथ करके पिलानेसे ज्वर शमन हो जाते हैं।

(३) नरसल, बेंतकी जड़, मूर्वा और देवदारुका क्वाथ करके पिलावें। या

त्रिफलाके क्वाथमें घी मिलाकर पिलानेसे आमाशय और अन्त्रस्थ दूषित रसका पचन होकर रस गत ज्वर दूर हो जाता है।

(४) अनन्ता (जवासा), नेत्रवाला, नागरमोथा, सोंठ और कुटकीका चूर्ण ६ माशे सूर्योदयके पहले निवाये जलके साथ देनेसे आमका पचन और मलका भेदन होकर ज्वरका शमन होता है।

(५) गिलोय, धनिया, नीमकी अन्तर छाल, पद्माख और लालचन्दनको मिला, २॥ तोलेका क्वाथकर पिलानेसे क्षुद्र ज्वरका शमन होता है; तथा अपचन, दाह, उबाक, तृषा, वमन और अरुचि दूर होते हैं।

शास्त्रोक्त सिद्ध ओषधियोंमेंसे इस ज्वरपर दोष पचन और ताप शमनार्थ निम्न ओषधियाँ दी जाती हैं।

ज्वरघ्न ओषधियाँ*—मृत्युञ्जय रस, प्रवालपिष्टी, महासुदर्शन चूर्ण, जयावटी, जयंती वटी, कंटकार्यादि क्वाथ, कपित्थादि यवागू, ज्वरहर अर्क, करंजादि वटी, इनमेंसे अनुकूल ओषधिका उपयोग करें। इनमेंसे मृत्युञ्जय रस और महासुदर्शन चूर्णका उपयोग हम अधिक परिमाणमें करते हैं।

मृत्युञ्जय, महासुदर्शन, जयाजंयती वटी, करंजादि वटी ये सब दोषको पचाकर ज्वरको दूर करती हैं। प्रवालपिष्टी ज्वर दोषको पचाती है और शक्तिका संरक्षण करती है। ज्वरहर अर्क स्वेद लाकर बढ़े हुए ज्वरका ह्रास कराती है।

मलावरोध हो, तो-आरग्वधादि क्वाथ द्वितीय विधि (आरोग्यपञ्चक), ज्वर-केशरी वटी, अभ्रकंचुकी रस, त्रिवृतादि कषाय, इनमेंसे एक औषधि देवें। ये सब औषधियाँ बद्धकोष्ठको दूरकर ज्वरका शमन करती हैं। इनमेंसे ज्वर-केशरीका उपयोग हम अधिक प्रमाणमें करते हैं।

दाह, तृषा और वमन हो, तो—गुडूच्यादि क्वाथ और गोदन्ती भस्म देवें।

पतले दस्त, कफ और जुकाम हो तो—आनन्दभैरव रस, दुर्जलजेता रस, गदमुरारि रस, नागगुटिका, सञ्जीवनी वटी, इनमेंसे एक ओषधि देवें।

इनमेंसे आनन्दभैरव रस और संजीवनी वटीको हम विशेष रूपसे उपयोगमें लेते रहते हैं। किसी किसी समय इतर औषधियोंको भी प्रयोगमें लाते हैं।

यदि ताप जल्दी नहीं उतरता, खूब तेज रहता है, उसको उतारनेके लिये

*इस ग्रन्थमें औषधियोंके नाम दिये हैं। ये सब औषधालयकी ओरसे प्रकाशित "रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह" में से लिये हैं। अतः उन ओषधियोंकी बनानेकी विधि, मात्रा, गुण आदिका वर्णन उस ग्रन्थमें देखें।

हम पाचन रूपसे रत्नगिरी रस देते हैं। इस रसायनके सेवनसे उष्णताकी वृद्धि होकर ४-६ घण्टेमें भीतरका विष जल जाता है; और प्रस्वेद आकर ताप उतर जाता है। अधिक दिनों तक त्रास पहुँचानेवाले तापमें बालक, प्रसूता और वृद्धोंके लिये भी यह रत्नगिरी रस निर्भयतापूर्वक दिया जाता है।

ज्वर लक्षण चिकित्सा

ज्वर रोगमें प्रायः श्वास, मूर्च्छा, अरुचि, वमन, प्यास, अतिसार, उदरशूल, आफरा, मलावरोध, हिक्का, कास, दाह, शिरदर्द, जुकाम, कर्णनाद, निद्रानाश, प्रलाप आदि लक्षणोंमेंसे न्यूनाधिक साथमें रहते हैं। इनमेंसे, जब कोई अधिक दुःखदायी होता है, तब मूलरोगकी चिकित्साके साथ-साथ लक्षणके अनुरोधसे निम्नानुसार ओषधि दी जाती है।

१. श्वास हो, तो—

१. पीपल, कायफल और काकड़ासिंगीका चूर्ण ४-६ रत्ती दिनमें ३ समय शहदके साथ दें।

२. मुख्य ओषधिको ही अदरकके रस और शहदमें दें।

३. अभ्रकभस्म आध-आध रत्ती और ६४ प्रहरी पीपल २-२ रत्ती शहदके साथ दिनमें ३ समय चटावें।

४. दशमूल क्वाथमें पुष्करमूलका चूर्ण डालकर पिलावें, अथवा अष्टादशांग क्वाथ दें।

कफसुखानेकी आवश्यकता हो, तो—मल्लसिंदूर या शृंगभस्म शहदके साथ दें। अथवा वातेभकेसरी या अचिन्त्य शक्ति रस दें।

दूषित कफ बाहर निकालना हो, तो—समीरपन्नगरस, शृंगभस्म (मिश्री के साथ) या कफ-कर्त्तनरस, इनमेंसे कोई एक ओषधि देवें।

२—मूर्च्छा हो, तो—संचेतनी वटी, कस्तूरीभैरव रस, हेमगर्भपोटलीरस, इनमेंसे उपद्रवोंका विचारकर उचित ओषधि दें। इनमें संचेतनी वटी अधिक उग्र है, अतः सम्हालपूर्वक दें; अथवा कस्तूरी आध से एक रत्ती या ६४ प्रहरी पीपल २-२ रत्ती शहदके साथ देनेसे बेहोशी दूर होती है। यदि रोगी बिल्कुल अचेत है, तो पहले सूचिवेध, अंजन और नस्यका प्रयोग करें।

सूचिवेध—सूचिकाभरण रस या लघु सूचिकाभरण रस इनमेंसे एकको सुईके अग्रभागपर रहे, उतना लेकर सिरके मध्यमें बाल निकाल, रक्त निकाल, उसपर मसल देनेसे तत्काल मूर्च्छा दूर होती है।

नस्य—मूर्च्छान्तक नस्य या श्वासकुठाररस सुँघानेसे बेहोशी दूर होती है।

अंजन—प्रचेतानाम गुटिका या अञ्जनरसका अञ्जन करनेसे चेतना आजाती है।

३ अरुचि हो, तो—

१. बिजौरेकी केशर, घी और सैंधानमक मिलाकर थोड़ा-थोड़ा चटावें।

२. आँवला, मुनक्का और मिश्री मिला चटनी पीसकर देवें।

३. अदरकके रसमें शहद मिलाकर चटावें।

४. आरग्वधादि कल्क चटावें।

५. जीर्णज्वर हो, तो पीपल ६४ प्रहरी और गिलोय सत्व २-२ रत्ती शहदके साथ देते रहनेसे जीर्णज्वर, अग्निमांद्य, अरुचि, श्वास, कास, शिरदर्द, दाह, व्याकुलता आदि दूर होते हैं।

६. पित्तवृद्धिसे अरुचि हो तो—सितोपलादि चूर्ण २ माशे और प्रवाल पिष्टी १ से २ रत्ती या वराटिका भस्म ३ रत्ती मिलाकर शहदके साथ देनेसे सूक्ष्म ज्वर, दाह, निद्रानाश, मुखपाक, खट्टी डकारें आना, अग्निमांद्य और शोष शमन होते हैं।

७. अरुचि, मन्दाग्नि, मलावरोध और कफाधिकता हो तो—लवणभास्कर चूर्ण १-१ माशे दिनमें २ समय देवें।

८. मुँहमें दुर्गन्ध और चिपचिपापन हो तो—त्रिकटुके क्वाथ या अदरकके रसके कुल्ले करावें।

४. हृल्लास और वमन—

१. पित्तपापड़ेके क्वाथमें शहद मिलाकर पिलानेसे उबाक और वमन दूर होते हैं।

२. वान्तिहृद्रस या एलादि चूर्ण शहद-मिश्रीके साथ दें।

३. पीपल (अश्वत्थ) की छालको जला, राख कर, १६ गुने जलमें ३ घण्टे भिगो, ऊपरसे नितरे हुए जलमेंसे थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहनेसे वमन दूर हो जाती है।

४. पतले दस्त और वमन हो तो बेलगिरी और आमकी गुठलीके क्वाथमें शहद मिश्री मिलाकर पिलावें।

५. हिक्का और वमन हो तो—जायफलको चावलोंके धोवनमें घिसकर पिलावें या हिक्कान्तक रस १-१ रत्ती बिजौरेके रस या शहदके साथ देवें।

६. तृषा हो, तो—

१. बड़ी इलायचीको भूनकर थोड़े-थोड़े दाने खिलानेसे तृषा और अतिसार दूर होते हैं।

२. बड़की जटा, आँवला, धानकी खील, कूठ और कमलगट्टे की गिरीको सम-भाग मिला, चूर्णकर शहद में १-१ माशेकी गोली बनाकर-मुँहमें रखावें।

३. मुँहमें आलूबुखारा, मुनक्का, या आँवला रखावें।

४. सौंफको कूट १६ गुने जलमें १ घण्टे भिगो, मसल छान शहद मिलाकर पिलावें; या सौंफका अर्क पिलावें।

५. षडंगपानीय पिलावें; या कंटकार्यादि क्वाथ (दूसरी विधि) देनेसे दाह, तृषा, अरुचि, वमन, कास और शूल नष्ट होते हैं।

६. कुमुदेश्वर रस या रसादि चूर्ण देनेसे प्यास दूर हो जाती है।

७. अतिसार हो, तो—ज्वरातिसारमें कही हुई औषधि दें। यदि पित्त ज्वरमें पतले दस्त लगते हों, तो नागरादि क्वाथ (चौथी विधि), आनन्द-भैरव रस, सूतराजरस और कनकसुन्दर रसमेंसे एक औषधि देवें। यदि मलमें दुर्गन्ध हो, तो सूतराज या कनकसुन्दर देवें। इनमें सूतराज अधिक उग्र है। इसलिये उसका उपयोग सम्हालपूर्वक करें।

सूचना—अतिसार बलात्कार पूर्वक जल्दी बन्द करनेका प्रयत्न न करें। ज्वर उतरनेपर अतिसार न मिटे, तो लघुगंगाधर चूर्ण या इतर ग्राही औषधि देनी चाहिये।

अफीम वाली औषधि दूषित मल हो, तब तक नहीं देनी चाहिये।

८. उदरशूल और आफरा हो, तो—

१. देवदारु, सफेद बच, कूठ, शतावर, हींग और सैंधानमकको नींबूके रस या कांजीमें पीस, गरमकर उदरपर लेप करें। इस लेपको देवदार्वादि षट्क कहते हैं। आफरा दूर करनेके लिए अति हितकर है।

२. पंचसम चूर्ण निवाये जलके साथ दें; या त्रिकट्वादि वर्ति गुदामें चढानेसे आफरा शीघ्र ही शमन हो जाता है।

३. एरण्ड तैल उदरपर धीरे धीरे हाथसे मलें, फिर रबरकी थैली, बोतल या लौटेमें गरम जल भरकर सेक करें।

९. मलावरोध हो, तो—

१. निशोथका चूर्ण शहदके साथ दें।

२. ज्वर केशरी वटी, अश्वकंचुकी रस या आरग्वधादि क्वाथ (दूसरी विधि) इनमेंसे एक औषधि दें।

३. अरण्डीका तैल या अन्य सारक औषधि विचार करके दें। बालकोंको

ग्लिसरीनकी वत्ती (सपोझीटरी) गुदामें चढ़ानेसे दस्त साफ आजाता है।

हिक्का हो, तो—

१. बकरीके दूधमें सोंठ डाल, औटा, निवायाकर १०-१० तोले, दो-दो घण्टे पर पिलावें।
२. पीपलके क्वाथमें हींग डालकर पिलावें।
३. हालो (चन्द्रसूर) का क्वाथ कर पिलावें।
४. उड़दोंका धूम्रपान करावें; या हींगकी धूनी दें।
५. १-१ माशा सोंठ २-२ माशे गुड़में मिलाकर २-२ घण्टेपर २-३ बार खिलावें और सोंठका चूर्ण सुंघावें।
६. जिह्वापर त्रिकटु मिला हुआ त्रिफला लगाकर दोहन करें।
७. हिक्कान्तक रस, सूतशेखर या आरोग्यवर्द्धिनीमेंसे एक ओषधि देवें।

११. कास हो, तो—कफ रहित शुष्क वात प्रधान कासमें कर्पूरादि वटी या अतिविषादि वटी मुँहमें रखें, और प्रवाल पिष्टी १-१ रत्ती दिनमें २ समय शहद, गिलोय सत्वके साथ देते रहें।

पित्त प्रधान हो, तो कासमर्दनवटी मुँहमें रखकर रस चूसें; अथवा लऊक सपिस्ता चटावें; या शुष्क कासहर क्वाथ पिलावें।

कफकास हो, तो—शृंगभस्म २-२ रत्ती दिनमें ३ समय शहदके साथ दें। यदि कफ बाहर निकालना हो तो मिश्रीके साथ देवें; अथवा अभ्रक भस्म शहद-पीपलके साथ दें; या मरिचादि वटी दें।

१२. दाह हो, तो—

१. मौक्तिक पिष्टी १ रत्ती (या प्रवाल पिष्टी २ रत्ती) और गिलोय सत्व ४ रत्ती मिलाकर शहदके साथ दें।
२. कामदुधा रस, पर्पटादि क्वाथ या अमृताष्टक क्वाथ दें।
३. कुकरौंधेके रस या बकरीके दूधकी मालिश करें। अथवा पलास, बेर या नीमके कोमल पत्तोंको नींबूके रसमें पीस, शरीरपर लेप करनेसे दाह शमन होकर पित्त ज्वर दूर होता है।
४. काली गूलर (काकोदुम्बर) और मुनक्काका क्वाथ कर पिलानेसे अन्तर्दाह पित्तप्रकोप और कण्ठशोष दूर होते हैं।

१३. शिरदर्द—पित्तप्रकोपजनित हो तो शतधौत घृतकी शिरपर मालिश करें; या चन्दन और कपूर पीसकर कपाल पर लगावें; अथवा केशरको घृतमें पीसकर सुँघावें; या अन्य शीतल उपचार करें।

शिरोरोग वातज या कफज है, तो शिरःशूलान्तक बाम लगावें। या

लौंगको जलके साथ पीस, गरम कर कपालपर लेप करें। यदि मलावरोधजन्य है, तो मलावरोधको दूर करनेका प्रयत्न करें। तीक्ष्ण कफ वातज दर्दमें शिरः शूलान्तक नस्य सुँघानेसे जुकाम, शिरदर्द, तन्द्रा और श्वासावरोध दूर होते हैं।

१४. जुकाम हो, तो—प्रतिश्यायहर क्वाथ, सुदर्शन चूर्ण, नाग गुटिका, आनन्द भैरव रस, मृत्युञ्जय रस, इनमेंसे एक ओषधि देवें, पित्तप्रधान है तो मधुकादि हिम देवें।

सुँघनेके लिये नजलानाशक नस्यको प्रयोगमें लावें।

१५. कर्णनाद हो, तो—पीपल, हींग, बच और लहसुनको कड़वे तेलमें पका २-२ बूँदें कानमें डालनेसे कानमें शब्द होनेकी व्यथा दूर होती है; अथवा क्षार तैलकी २-२ बूँदें डालें।

१६. निद्रानाश—(इन्सोम्निया Insomnia) में—

१. सूतशेखर, मौक्तिक पिष्टी या प्रवाल पिष्टी दें अथवा वातकुलान्तक रस या कस्तूर्यादि वटी देवें।

२. शिरपर कद्दू तैल (रोगन कद्दू), काहूके तैल या चन्दनादि तैलकी मालिश करें।

३. एरंडके झौरा (मंजरी Bunch) को दूधके साथ मिला, पीसकर कपाल और कानके पास थोड़ा मर्दन करें।

४. मकोय, काकजंघा, काकनासा (कौआठोडी) या सहदेवीमेंसे किसीकी जड़को शिरपर बांध देवें।

१७. प्रलाप (डिलिरियम Delirium) में चिन्ताजनक, धीरे धीरे अस्पष्ट बड़बड़ाना (Low muttering type) ये लक्षण होनेपर मौक्तिक पिष्टी, सूतशेखर या कस्तूर्यादि वटी दें। इनमें कस्तूर्यादि वटीमें अफीम आता है; इस लिये मलावरोध हो, तो कस्तूरी भैरव रस या दूसरी ओषधि देवें। कस्तूर्यादि वटीसे प्रलाप, उन्माद और निद्रानाश सत्वर दूर हो जाते हैं। सूतशेखर वात-पित्तप्रकोप जनित दोषमें अति हितकारक है। यदि केवल पित्तप्रकोप है, तो मौक्तिक पिष्टीको प्रयोगमें लाना चाहिए।

तीव्र वातप्रकोपज प्रलाप पर—रोगी अपना हाथ चलाता ही रहे, वस्त्रोंको खेंचता रहे, वायुमें उड़ने वाली वस्तुको पकड़नेका प्रयत्न करे, भागने दौड़नेका प्रयत्न करे आदि वातवाहिनियोंके क्षुब्ध होनेपर लक्षण प्रकट होते हैं। उनपर हिंगुकर्पूर वटी (ब्राह्मी क्वाथके साथ), महावातविध्वंसन रस या अष्टादशांग क्वाथ (दूसरी विधि देना चाहिये)।

(२) वातज्वर।

लक्षण—वातज्वरमें कम्प, विषम वेग (क्वचित् ज्वर अधिक क्वचित् कम), कण्ठ, होठ और मुँहका सूखना, निद्रानाश, छींक आनेमें प्रतिबन्ध, रोमहर्ष, अंगोंका अकड़ना, प्रलाप, त्वचा शुष्क होना, शिर, हृदय और सारे शरीरमें पीड़ा, मुँहका स्वाद बिगड़ जाना, मलका रंग काला हो जाना, मलावरोध, बार बार जम्भाई आना, अफारा और शूल, ये लक्षण प्रतीत होते हैं। उष्णता प्राय: १०२° से १०४° डिग्री तक हो जाती है। +

एलोपैथी मत अनुसार यह ज्वर अविराम क्षुद्र ज्वर (Continuous Febricula) के अन्तर्गत माना जायगा। अविराम अर्थात् सतत बने रहने वाले ज्वरोंमें मधुरा, प्रलापक, गर्दनतोड़ बुखार, ग्रन्थिक, संतत, विषम, कण्ठरोहिणी, इन्फ्लुएञ्जा, विसर्प आदि अनेक हैं। इन सबमें ज्वरोत्पादक विष प्राय: बाहरसे प्रवेशित होता है; तब इस ज्वरका विष पचनेन्द्रिय संस्थानमें उत्पन्न होता है।

यद्यपि प्रारम्भमें असंक्रामक और संक्रामकका स्पष्ट भेद विदित नहीं होता। संशोधन और पाचन उपचार करनेपर अविराम क्षुद्र ज्वर शमन हो जाता है, किन्तु इतर कायम रहते हैं। कचित् किसीको विशेष लक्षण पहलेसे उपस्थित हुआ हो, तो उपचार भेद हो सकता है।

एलोपैथिक निदान—आहारका व्यतिक्रम, सूर्यके तापमें भ्रमण, शीत लग जाना, अति परिश्रम और दूषित आहार या जलका सेवन आदि कारणोंसे इसकी उत्पत्ति होती है। यह ज्वर कीटाणु जनित ज्वरोंसे पृथक् नहीं हो सकता इस हेतुसे आधुनिक प्रणालीमें इसे स्थान नहीं दिया।

इस ज्वरके उतरनेपर अधिक प्रस्वेद आता है। यह अकस्मात् आक्रमण करता है एवं अन्य ज्वरोंके विशेष लक्षण इसमें नहीं मिलते।

सामान्य लक्षण—देहकी उष्णता, जिह्वा काँटेदार, नाड़ी द्रुत, भारी और दृढ़, कपालमें वेदना, कमर और हाथ पैर फूटना, अग्निमान्द्य, कभी-कभी प्रलाप, मलावरोध, पेशाबके आपेक्षिक गुरुत्वकी वृद्धि, पेशाब परिमाण कम और गहरे रंगका होना आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

यदि यह ज्वर एक दिन या कम समय तक रहे तो उसे अल्पकाल स्थायी (Ephemeral Fever) और ७ दिन तक रहे तो मध्यम कालस्थायी ज्वर

+ वेपथुर्विषमो वेगः कण्ठौष्ठपरिशोषणम्।
निद्रानाशः क्षवस्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च॥
शिरोहृद्गात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं गाढविट्कता।
शूलाध्माने जृम्भणञ्च भवन्त्यनिलजे ज्वरे॥

Febricula) कहते हैं। ज्वर अधिक दिन रहे तो प्रबल लक्षण नहीं होते किन्तु आमाशय और अन्त्रके विकारके लक्षण प्रधानरूपसे भासते हैं। १ सप्ताहमें यदि शमन न हो तो अनियमित स्वल्प विराम स्वरूप धारण करता है। यदि आमाशय या अन्त्रके लक्षण प्रबल हों, तो उसे अपचन जनित ज्वर (Gastric fever) कहते हैं।

यह ज्वर ग्रीष्म और वर्षा ऋतुमें आता है, तब अतिशय तृषा, कण्ठशोष, जिह्वा रक्त होना, नाड़ीकी दृढ़ता और भारीपन, मलावरोध, शिरदर्द, मुख लाल हो जाना, उबाक और पित्तप्रधान वमन आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। किसी-किसीको चक्कर आना, निद्रानाश, प्रलाप, वेहोशी भी होते हैं।

चिकित्सोपयोगी सूचना ।

उदरके विकार जनित होनेपर संशोधन-चिकित्सा-वमन-विरेचनका पहले प्रयोग करना चाहिये।

आमाशय और अन्त्रको शुद्ध करनेके पश्चात् शेष लक्षणोंपर लक्ष्य रख कर चिकित्सा करनी चाहिये।

स्वेदल और मूत्रल ओषधि देनेपर अनेकोंको लाभ हो जाता है।

रोग शमन होनेपर लघु पौष्टिक आहार और बल्य ओषधि सुवर्ण वसंत या लघु वसंत आदिकी व्यवस्था करनी चाहिये।

आयुर्वेदके मतानुसार इस ज्वरमें पहले कच्चे आमको पाचन करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। आम पाचनके लिये अच्छी क्षुधा न लगे तब तक (२–३ दिन तक) लङ्घन कराना उत्तम है। फिर पाचन ओषधि देनेसे सत्वर लाभ हो जाता है, इसलिये मृदु विरेचन (एरण्ड तैल आदि) देनेसे या ज्वर केसरी वटी देनेसे कोष्ठ शुद्धि होकर ताप शमन हो जाता है।

पाचन चिकित्सा ।

(१) शतावरी और गिलोयका स्वरस आध-आध तोला और गुड़ ३ माशे मिलाकर खिलावें।

(२) गिलोय, पीपलामूल और सोंठ; या सोंठ, चिरायता, नागरमोथा और गिलोय; अथवा धनियाँ, देवदारु, छोटी कटेली और सोंठ, इन ३ मेंसे कोई भी एक प्रकारका क्वाथ कर, शहद मिलाकर पिलानेसे दोष पचन होकर वातज ज्वर निवृत्त हो जाता है।

(३) पीपलामूल, पित्तपापड़ा, अडूसेके पत्ते, भारंगी, सोंठ और गिलोयका क्वाथ पिलानेसे उपद्रवोंसह तीव्र वातज्वर नष्ट हो जाता है।

(४) गिलोय, सोंठ, नागरमोथा और धमासाका क्वाथ पिलानेसे, कच्चे

आमका पचन होकर ज्वर दूर हो जाता है।

(५) लवंगादि कषाय—लौंग १ माशा, कालीमिर्च ३ माशे तथा सौंफ, पोदीना, मुलहठी, सोंठ और गिलोय १-१ तोला मिला, क्वाथ कर ३ हिस्से करें। दिनमें ३ समय ३-३ माशे मिश्री मिलाकर पिलावें। इस लवंगादि क्वाथसे प्रस्वेद आता है; तथा आम पचन और वात शमन होकर ज्वर उतर जाता है।

(६) बिल्वादि क्वाथ—बेल, अरलू, गम्भारी, पाढल, इन सबकी छाल १-१ तोला मिला क्वाथके २ हिस्से करें और दिनमें २ समय प्रातः सायं पिलावें।

(७) पीपलामूलादि क्वाथ—पीपलामूल, सोंठ, गिलोय १-१ तोला मिला क्वाथकर दिनमें ३ बार पिलावें।

(८) चिरायता, नागर मोथा, गिलोय, सुगन्धवाला, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, शालपर्णी और पृश्निपर्णी इन ओषधियोंको समभाग मिलाकर २-२ तोलेका क्वाथ करें। फिर २ हिस्से दिनमें २ समय पिलावें।

(९) आमला, धनियां और गिलोयका क्वाथ भी वात ज्वरको नष्ट करता है।

(१०) छोटी पीपल, अनन्तमूल, मुनक्का, सौंफ, सम्हालुके बीज, इन सबको समभाग मिलाकर १-१ तोलेका क्वाथ करें। उसमें थोड़ा शहद या शक्कर मिलाकर पिलावें। इसी तरह दिनमें ३ बार ताजा क्वाथ बनाकर देवें। यह ज्वरको पाचन करनेके लिये उत्तम ओषधि है।

(११) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें दी हुई निम्न ओषधियाँ इस ज्वरमें आम पाचनार्थ हितकारक हैं। रत्नगिरी रस, बृहत्पञ्चमूल क्वाथ, कंटकार्यादि क्वाथ, आरग्वधादि क्वाथ (दूसरी विधि), पिप्पल्यादि क्वाथ, महासुदर्शन चूर्ण, लघु सुदर्शन चूर्ण, ज्वरहर अर्क, प्रवाल पिष्टी और मृत्युञ्जय रस, इनमेंसे अनुकूल ओषधिको प्रयोगमें लावें। इनमें मृत्युञ्जय रस आमका पचनकर ज्वरको दूर कर देता है।* यदि रसायन ओषधि न देनी हो, तो सुदर्शन चूर्ण हितावह है। सुदर्शन चूर्णके उपयोगमें ज्वरकी जाति, प्रकृति, ऋतु या आयुके विशेष विचारकी आवश्यकता नहीं है।

यदि मलावरोध है, तो आम पक जाने पर—ज्वरकेसरी वटी या अश्व-

* किन्तु बढ़ते हुये ज्वरमें मृत्युञ्जय रस या इतर ज्वर शामक ओषधि न दी जाय तो अच्छा। ज्वर उतरने लगे उस समय या उतर जानेपर ओषधि देनेसे शारीरिक शक्तिको हानि नहीं पहुँचती।

कंचुकी रस देवें। ज्वरकेसरी वटीसे कब्ज, आम और अफारा आदि लक्षण दूर होकर ज्वरका शमन हो जाता है। यदि २-४ घण्टेमें दस्त न आवें; तो पुनः दूसरी मात्रा देनी चाहिये। ज्वरकेसरी यह अश्वकंचुकीका ही सौम्य पाठ है, केवल हरताल कम की है। वातप्रकोप अधिक हो और हरतालकी उष्णता सहन हो सके, तो अश्वकंचुकी रस विशेष अनुकूल रहता है।

ज्वरघ्न अन्य ओषधियां—महाज्वरांकुश रस (प्रथमविधि), विश्वतापहरण रस, त्रिभुवन कीर्ति रस और सूतराज रस अनुपान अदरकका रस और मिश्री या चित्रकमूल और त्रिकटु, सौम्य औषधियोंमें करञ्जादि वटी, जया या जयन्ती वटी, ये सब उपकारक हैं। इन सबका अनेक बार हमने अनुभव किया है।

सहन हो सके इतने अंशमें लंघन करा पाचनार्थ लवंगादि कषाय देवें। मलावरोध हो, तो ज्वरकेसरी या अश्वकंचुकी; बद्धकोष्ठ न हो, तो मृत्युञ्जय, महाज्वरांकुश और संजीवनीमेंसे एक ओषधि रोगकी अवस्थानुसार हम देते रहते हैं।

जिनसे बच्छनाभ वाली ओषधि सहन नहीं हो सकती, उनको करंजादि वटी या सुदर्शनचूर्ण और ऊपर लिखे हुए लवंगादि कषाय ही देते हैं।

सन्धिस्थानमें पीड़ा हो, तो—बालुका स्वेद दें। बालुकाको मिट्टीके बर्तनमें गरमकर, कपड़ेकी पोटलीमें बाँध, काँजीमें बुझाकर सेक करें। इस स्वेदसे वात-कफ प्रकोप, शिरःशूल, हृदयव्यथा, जम्भाई, पैर शून्य होजाना, हड़फूटन, जड़ता, ठोड़ी जकड़ना, रोंगटे खड़े होना इत्यादि वेदना शमन होती है।

अफारा हो, तो—पहले धीरे हाथसे एरंड तैल मलें, फिर रबरकी थैली, बोतल या लोटेमें गरम जल भरकर सेक करें। या लवणोंकी चिकित्सामें लिखा हुआ दारुषट्क लेप उदरपर करें।

शुष्ककास हो, तो—कर्पूरादि वटी अथवा कासमर्दन वटीकी १-१ गोली मुँहमें रखकर रस चूँसते रहें, या बहेड़ाका छिलका मुँहमें रखें, अथवा नागर वेलके पानमें पीपल, बच, अजवायन डाल, मुँहमें रखकर चूँसें। कपूर १-१ रत्ती छटांक भर दूधमें डालकर दिनमें ३ बार पिलावें।

सूचना—पीनेको जल औटाया हुआ कुछ गुनगुना थोड़ा थोड़ा देते रहें। ज्वर अधिक हो, तब ताड़के पंखेसे धीरे धीरे वायु डालें।

३. पित्त ज्वर।

लक्षण—ज्वरका तीक्ष्ण वेग (१०४ डिग्री या कचित् इससे भी अधिक), अतिसार (पतले पीले दस्त), निद्रा कम हो जाना, पित्तकी वमन, कण्ठ, होठ, मुख और नाक पक जाना, अति पसीना, प्रलाप (कचित् तीव्र ज्वर होनेपर वात संसर्गसे प्रल[illegible]), मुँह कड़वा रहना, मूर्च्छा (मोह), दाह,

मद, तृषा, मल, मूत्र और नेत्रमें कुछ पीलापन, भ्रम (चक्कर), शिरदर्द, अरुचि और शीतल जल-वायु सेवनकी इच्छा इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। यह ज्वर विशेषत: भोजन पचनेके समय दोपहरको, मध्यरात्रिमें और शरद् ऋतुमें आता है। इन लक्षणोंमेंसे कुछ कुछ लक्षण प्रतीत होते हैं; सब नहीं। सब लक्षण वात-पित्त प्रधान सन्निपातमें मिलते हैं।*

अतिसारसह भीषण अवस्थामें ज्वरातिसारकी भ्रान्ति हो जाती है; किन्तु ज्वर वेग, ज्वरातिसारकी अपेक्षा पित्तज्वरमें अधिक रहता है, तथा तृषा, दाह, प्रलाप आदि चिह्न भी विशेष रूपमें रहते हैं।

क्वचित् त्वचाके ऊपर रक्तके चकत्ते भी हो जाते हैं। क्वचित् इस पित्तज्वरके लक्षण विषम ज्वर और मसूरिका एवं रोमान्तिकामें दृष्टिगोचर होते हैं, जिससे प्रारम्भ कालमें इनका पूर्णरूपसे विवेक नहीं हो सकता, दो दिन बाद लक्षणोंके भेद हो जानेपर तीनों पृथक् हो जाते हैं।

एलोपैथीमें कहे हुए लक्षण—इस मतके अनुसार यह ज्वर फेब्रिक्युला (Febricula) के अन्तर्गत है। यदि भूलसे इसे मलेरिया मानकर किनाइन दिया जाय, तो रोगोपशम नहीं होता, बल्कि वृद्धि हो जाती है। यह ज्वर उष्ण प्रधान देशोंमें होता है।

कभी-कभी इस ज्वरमें आमाशय और अन्त्र दोनों आक्रान्त हो जाते हैं। तब डाक्टरीमें आमाशय अन्त्रविकारज ज्वर (गेस्ट्रो इण्टेस्टाइनल फीवर Gastro-intestinal fever) कहलाता है, जो १५-२० दिन रहता है। फिर मधुरा (टाइफॉइड) होनेका भ्रम कराता है। किन्तु मधुरामें उत्तापकी नियमित वृद्धि, ह्रास, दंतमल, प्रलाप, पिटिकाएँ आदि लक्षण होते हैं, वे प्रतीत नहीं होते। फिर भी लक्ष्मीनारायण, प्रवालपिष्टी, गोदंती भस्म, गिलोय सत्व, मधुरान्तक वटी, गुडूच्यादि क्वाथ आदि ओषधि निःसंदेह लाभ पहुँचाती हैं।

किसी किसीको यह ज्वर बढ़ जाता है। उत्ताप १०५° से १०७° डिग्री पर्यन्त बढ़ जाता है। तब वह तीव्रतर ज्वर (हाइ पर पाइरेक्सिया) कहलाता है। १५ से ३० दिन तक रह जाता है। प्रारम्भके २ सप्ताह तक ज्वर कम नहीं होता। इस रोगमें जिह्वा शुद्ध और आकुञ्चित, प्लीहा और यकृत निर्दोष, अग्नि पेशाब स्वाभाविक, उदरशुद्धि नियमित, नेत्रकी श्ले

---

* वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्वं तथा वमिः।
कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते॥
प्रलापो वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा।
पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च॥

निका (Pupil) आकुञ्चित और व्याकुलता आदि लक्षण प्रतीत होते हैं, कभी-कभी प्रलाप भी होता है। यदि रोगका उपशम होता हो, तो तृतीय सप्ताहमें सुधार होने लगता है। किसी-किसी रोगीको स्वाभाविक उत्तापकी प्राप्तिमें ६ सप्ताह लग जाते हैं।

रक्त परीक्षा करनेपर श्वेताणुओंकी वृद्धि होती है। रक्त बाहर निकालनेपर थोड़ी वायु लगनेके साथ जम जाता है। रक्तमें रोगोत्पादक कीटाणु नहीं मिलते।

सूचना—इसमें भूल करके किनाइन या अन्य प्रबल उष्ण ओषधि नहीं देनी चाहिये, अन्यथा हानि पहुँचती है। सुदर्शन चूर्ण, गोदन्ती भस्म, प्रवाल पिष्टी, सूतशेखर, गिलोय सत्व, मधुरान्तक वटी आदि ओषधियाँ हितकारक हैं।

पित्तज्वर चिकित्सा

त्रायमाणादि क्वाथ—त्रायमाण, मुलहठी, पीपलामूल, चिरायता, नागरमोथा, महुआ और बहेड़ा, इन ७ औषधियोंको समभाग मिला १-१ तोलेका क्वाथ करें। शीतल होनेपर शक्कर, शहद मिलाकर पिलावें। इस तरह दिनमें दो या तीन समय पिलावें।

मृद्विकादि क्वाथ—मुनक्का, मुलहठी, नीमकी अन्तर छाल और कुटकी इन ४ औषधियोंको समभाग मिला २-३ तोलेका क्वाथ बना रात्रिमें रख देवें। प्रातः पिलानेसे पित्त ज्वरको नष्ट करता है।

द्राक्षादि क्वाथ—मुनक्का, बड़ी हरड़का छिलका, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, कुटकी तथा अमलतासका गूदा इन ६ ओषधियोंको समभाग मिलाकर २ तोलेका क्वाथ करें। प्रलाप, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, मुखशोष तथा तृषा युक्त पित्त-ज्वरमें लाभ दायक है।

वक्तव्य—(१) कुटकी प्रबल विरेचन और स्वादमें कड़वी है। आवश्यकता अनुसार उसे न्यूनाधिक करें।

(२) यदि पित्त ज्वरमें रोगीको दाह अधिक हो, तो धनिया १ तोलाको कुचल जलमें भिगो देवें। ६ घण्टे बाद मल, छान, शक्कर मिलाकर पिलानेसे पित्त ज्वरका दाह दूर हो जाता है।

आम पाचनार्थ—रसतन्त्रसार व सिद्ध प्रयोगसंग्रहमें लिखे हुए प्रयोग—

(१) कण्टकार्यादि क्वाथ, महासुदर्शन चूर्ण, लघु सुदर्शन चूर्ण, किराताादि अर्क, पित्तज्वरांतक वटी, गदमुरारि रस, नागरमोथाके क्वाथके साथ, इन ओषधियोंमेंसे कोई भी एक देनेसे कच्चे आमका पचन होकर ज्वर शमन हो जाता है।

(२) कायफल, इन्द्रजौ, पाठा, कुटकी और नागरमोथा १-१ तोला मिला, क्वाथकर ६-६ माशे मिश्री मिलाकर, २ या ३ भागकर दिनमें २ या ३ समय पिलानेसे सम्पूर्ण लक्षणोंसह पित्तज्वर दूर हो जाता है।

(३) पित्तपापड़ेका क्वाथ; या पित्तपापड़ा, रक्तचन्दन, नेत्रवाला और सोंठका क्वाथ; अथवा धमासा, अडूसा, कुटकी, पित्तपापड़ा, प्रियंगू और चिरायताका क्वाथ कर, ६ माशे मिश्री मिलाकर पिलानेसे दाहसह पित्तज्वर दूर हो जाता है।

(४) परवलके पत्ते, इन्द्रजौ, धनिया और मुलहठीका क्वाथ कर, २ तोले शहद मिलाकर पिलानेसे दाहसह पित्तज्वर शमन हो जाता है।

(५) शर्बत बजूरी, शर्बत नीलोफर या शर्बत अनार, जलमें मिलाकर पिलानेसे दाह शान्त हो जाता है।

(६) शामको २ तोले धनियेको जौकुट कर २० तोले जलमें भिगो दें। सुबह छान, शक्कर मिलाकर पिलानेसे अन्तर्दाह शमन हो जाता है और ज्वरविष जल जाता है।

(७) तृषा, वमन और दाह हो, तो—नागरमोथा और पित्तपापड़ेका क्वाथ पिलावें।

(८) चिरायता, गिलोय, धनिया, रक्तचन्दन, पित्तपापड़ा और पद्माखका क्वाथ कर पिलानेसे अरुचि, वमन, तृषा बेचैनी और दाह आदि लक्षणसह पित्त ज्वर दूर होता है।

(९) गंधकका तेजाब (एसिड सल्फ्युरिक Acid Sulphuric) ४५ ग्रेन (३ माशे), मिश्री ४ तोले, बाष्प जल १६ औंस (१ रतल) लें। पहले बोतलमें जल और मिश्रीको मिला, ऊपरसे तेजाब डालकर हिलावें। जल शीतल हो जानेपर उपयोगमें लें। इस मिश्रणमेंसे १-१ औंस दिनमें ३ बार पिलाते रहनेसे ज्वरकी तीव्रता, तृषा, शोष, दाह, अतिसार, अपचन, अरुचि, उदरशूल और बेचैनी आदि दूर होते हैं।

(१०) गिलोय, पित्तपापड़ा और आँवलाका क्वाथ या गम्भारीकी छालका क्वाथ या अमलतासके फलके गूदेका क्वाथकर ६ माशे मिश्री मिलाकर पिलानेसे तृषा, भ्रम और दाहसह पित्तज्वर दूर होता है।

(११) गिलोय, चिरायता, नेत्रबाला, खस, नागरमोथा, निशोथ, आँवला, खरैंटी, मुनक्का और पित्तपापड़ाका क्वाथकर पिलानेसे सम्पूर्ण लक्षणोंसह पित्तज्वर नष्ट हो जाता है।

दाह, प्रलाप और वमन होवे तो—गदमुरारि रस, (शहद मिश्रित जल या नागरमोथाके क्वाथके साथ) दें; अथवा सूतशेखर रस शहदके साथ देवें; या

पर्पटादि क्वाथ या गुडूच्यादि क्वाथ दें।

अरुचि हो तो—मुनक्का और आँवले, या मीठे अनारदाने अथवा धनियेको पीस, कल्क कर मुँहमें कवल धारण करें।

वमन और अरुचिके दमनार्थ—एलादि चूर्ण २-२ माशे देते रहें।

मालिशार्थ—शतधौत घृत या निम्बके पत्तोंके रसकी मालिश करें। अथवा पीला चन्दन, सफेद चन्दन, धमासा, मुलहठी, बेरकी पत्ती, इनको पीस, घी और कांजी मिलाकर शिरपर लेप करें।

जल पीनेके लिये— (१) षडङ्ग पानीय देते रहें।

बनप्साका शर्बत—गुल बनप्सा ५ तोले, सौंफ २ तोले, लौंग, लालचंदन, गुले गाजवाँ, खूब्रकला ये ६-६ माशे; उन्नाव और मुनक्का ११-११ दाने लेवें। इन सबको मोटा-मोटा कूट, मिट्टीके पात्रमें शामको ३ पाव जलमें भिगो दें; सुबह अर्धावशेष क्वाथकर छान लेवें, फिर ३ पाव मिश्री मिला, शर्बत बना लेवें। इसमेंसे २-२ तोले शर्बत थोड़ा जल मिलाकर पिलानेसे तृषा, कण्ठशोष, शिरदर्द, दाह, घबराहट, मूत्रमें दाह, ये दोष दूर हो जाते हैं।

रोगशामक इतर शास्त्रीय ओषधियाँ—कासीस गोदन्ती भस्म, गोदन्ती भस्म, प्रवाल भस्म, गिलोय सत्वके साथ, ज्वरारि वटी इन ओषधियोंमेंसे कोई भी एक, जो अधिक अनुकूल हो, वह देवें। प्रवालपिष्टी, सितोपलादि चूर्ण और गिलोयसत्व मिलाकर दिनमें ३-४ समय शहदके साथ देनेसे दाह-सह पित्तज्वर दूर होजाता है।

पर्पटादि क्वाथ, सुदर्शन चूर्ण, किरातादि अर्क, गदमुरारि, सूतशेखर, प्रवाल पिष्टी, इन ओषधियोंको हम अधिक प्रयोगमें लाते हैं। पित्तज्वरांतक वटी सामान्य ओषधि होनेपर भी बहुत अच्छा काम देती है। बालक, स्त्री और सुकुमार प्रकृति वालोंके लिये गोदन्ती भस्म, कासीस गोदन्ती भस्म और प्रवाल पिष्टी बिल्कुल निर्भय और उत्तम उपाय हैं। यदि आम दोष है, तो कासीस गोदन्ती भस्मका उपयोग विशेष हितकारक है।

पित्तज्वरमें मुँह और गलेमें छाले, नाकपर शोथ, होठोंके भीतर छाले, भयङ्कर प्रलाप, भयङ्कर तृषा, मल मूत्र पीले, ताप १०५° डिग्रीसे अधिक होना इत्यादि चिह्न होनेपर भीषण अवस्था समझकर २-२ घण्टेपर प्रवाल पिष्टी १ रत्ती, गिलोयसत्व १ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण १॥ माशे, तीनोंको मिलाकर अनार शर्बतसे दें। ऐसी अवस्थामें सूतशेखर भी सत्वर लाभ पहुँचाता है।

बाह्य उपचार—(१) अधिक बढ़े हुए ज्वरको कम करनेके लिये केलेके खम्भेका रस या कलमी शोराके जलमें भिगोया हुआ कपड़ा मस्तकपर रखें, किन्तु उत्ताप १०१° या १००° डिग्री होनेपर इस प्रयोगको बन्द कर देना चाहिए।

(२) सिरकामें जल मिला, उसमें कपड़ा भिगोकर कपालपर रखें एवं पैर या समस्त शरीरको पोंछनेसे व्याकुलतासह ज्वरकी अधिकता शान्त होती है।

(३) रोगीको चित लेटा, सारे शरीरको कपड़ेसे ढक, नाभिके चारों ओरसे कपड़ा काट (या सम्हालपूर्वक चारों ओरसे हटा) फिर नाभिपर काँसीका कटोरा रखें। उसपर धीरे-धीरे शीतल जलकी धारा डालें। मात्र मुख (नेत्र, नाक और मुँह) खुला रखें। इस उपायसे पसीना आकर ताप कम हो जाता है। काँसीका पात्र न हो तो ताम्बेका पात्र लेवें।

निद्रा लानेके लिए—सूतशेखर और कामदुघा मिलाकर देवें। ब्राह्मीका क्वाथ देवें। अथवा कस्तूर्यादि वटी या भूनी हुई भाँगका चूर्ण शहदमें मिलाकर शामको खिलावें।

(४) कफज्वर ।

लक्षण—अंगमें भारीपन, ठण्डी लगना, उबाक, रोंगटे खड़े होना, निद्रा वृद्धि, स्वेद वाहिनियोंमें रुकावट, मल-मूत्र आदिमें प्रतिबन्ध, शिरमें भारीपन, मुँहसे लार गिरना, मीठा मुँह, शरीर चिपचिपा, अधिक गर्म न रहना (१००° से १०१° डिग्री तक), वमन, सारा बदन अकड़ जाना, जुकाम, अरुचि, कफ-युक्त कास, त्वचा और नेत्र सफेद होना, + गरम वायु और गरम पदार्थकी इच्छा, आवाजमें भारीपन, भोजनका परिपाक न होना, मल-मूत्र सफेद होना, चिकना दस्त, आलस्य, ज्वरका वेग कम होना इत्यादि लक्षण दीखते हैं। कचित् साम कफज्वरमें मूत्रकी अधिकता प्रतीत होती है। कचित् कफज्वर में १०१°-१०२° डिग्री तक उत्ताप बढ़ जाता है; किन्तु नाड़ीकी गति मन्द ही प्रतीत होती है।

एलोपैथी मत अनुसार यह ज्वर क्षुद्रज्वर (Febricula) के अन्तर्गत है। लक्षणके अनुरूप चिकित्सा की जाती है। चिकित्साके प्रारम्भमें उस मत अनुसार वमन, विरेचन देकर शुद्धि करायी जाती है। आयुर्वेद मत अनुसार लङ्घन और पाचन विशेष हितावह माने गये हैं।

कफज्वर चिकित्सा।

दोष पाचनके लिए—(१) छोटी कटेली, गिलोय और अडूसाके पत्ते या सोंठ, अडूसा, नागरमोथा और जवासा, इनका क्वाथ करके पिलावें।

+ स्तैमित्यं स्तिमितो वेग आलस्यं मधुरास्यता।
शुक्लमूत्रपुरीषत्वं स्तम्भस्तृप्तिरथापि च॥
गौरवं शीतमुत्क्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रता।
प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्चशुक्लता॥

(२) मुस्तादि कषाय-नागरमोथा, इन्द्रजौ, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), कुटकी और फालसा, इन ७ ओषधियोंका काथ करके पिलावें।

(३) निम्बादि क्वाथ-निम्बकी अंतर छाल, सोंठ, गिलोय, देवदारु, कचूर, चिरायता, पुष्करमूल, गजपीपल, पीपल, बड़ी कटेली, इन १० ओषधियोंका काथकर पिलानेसे दोष पचन होकर कफज्वरका शमन हो जाता है।

(४) कटुकादि क्वाथ—कुटकी, चित्रकमूल, निम्बकी अंतर छाल, हल्दी, अतीस, बच, कूठ, इन्द्रजौ, मूर्वा, परवलके पत्ते, इन १० ओषधियोंका काथ कर, कालीमिर्च और शहद मिलाकर पिलानेसे मलावरोध, अग्निमान्द्य, उबाक आदि लक्षणोंसह कफज्वर दूर होता है।

(५) मृत्युञ्जय रस, कण्टकार्यादि काथ, पिप्पल्यादि काथ, दशमूल काथ, रत्नगिरी रस, महासुदर्शन चूर्ण, लघुसुदर्शन चूर्ण, अमृत चूर्ण, इनमेंसे कोई भी एक औषध देनेसे आम पचन होकर कफज्वर दूर हो जाता है।

(६) ज्वर केसरी वटी, अश्वकंचुकी रस या आरग्वधादि काथ (दूसरी विधि) देनेसे आम पचन और मलशुद्धि होकर कफज्वर नष्ट हो जाते हैं।

(७) प्रतिश्यायहर कषाय देनेसे जुकामसह मन्द कफज्वर दूर हो जाता है।

(८) बिजौरे निम्बूकी जड़, सोंठ, मुनक्का, पीपलामूल सब समान भाग लें। इनका काथ बना २ रत्ती यवक्षार मिलाकर पिलानेसे कफज्वरका पाचन हो जाता है।

(९) पिप्पल्यादि काथ—पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, कालीमिर्च, छोटी इलायचीके दाने, अजमोद, इन्द्रजौ, सम्हालूके बीज, सफेद जीरा, भारंगी, बकायनके फल, भुनी हींग, कुटकी, सरसों, बायबिडंग, अतीस, मूर्वा इन १९ औषधियोंको समान भाग मिला लेवें, फिर ६-६ तोलेका काथ करें। इसके विभागकर ३ समय देनेसे कफज्वर, प्रतिश्याय, अरुचि तथा कफवृद्धि ये नष्ट होते हैं, अग्नि प्रदीप्त होती है और आमका पाचन होता है। यह अति हितावह काथ है।

(१०) कटुकादि काथ—कुटकी, चित्रक, नीमकी अंतर छाल, हल्दी, अतीस, बच, कूठ, इन्द्रजौ, मूर्वा, परवलके पत्ते, इन १० ओषधियोंको समभाग मिलावें। फिर २-२ तोलेका काथ बना, कालीमिर्च ४-४ रत्ती और ६-६ माशे शहद मिलाकर पिलावें। इस तरह दिनमें १ बार या २ बार देवें।

(११) नीमकी छाल, सोंठ, गिलोय, देवदारु, कपूरकचरी, चिरायता, पुष्करमूल, छोटी पीपल, बडी पीपल, बडी कटेरी, इन १० ओषधियोंको समभाग मिलावें। फिर ४ तोलेका काथ कर दो हिस्से करें। प्रातःसायं पिला देनेसे कफज्वर नष्ट हो जाता है।

(१२) ज्वरशमन होनेपर अरुचि रहे, तो—आरग्वधादि कल्क भोजनके साथ देवें।

(१३) अष्टांगावलेह अथवा चातुर्भद्रावलेहिका, कांकड़ासिंगी, पीपल, कायफल और पुष्करमूलके चूर्णको शहद मिला, चटनी बना कर ४-४ माशे दिनमें ३ समय या शामको १ तोला चटाने से श्वास-काससह कफज्वरका शमन होता है।

(१४) ४ रत्ती ६४ प्रहरी पीपलको ६ माशे शहदमें मिलाकर चटानेसे कास, श्वास, हिक्का, प्लीहा और ज्वर दूर होते हैं। बालकोंके लिये भी यह हितकर औषधि है। गलेसे ऊपरके रोगोंको नष्ट करनेके लिये अवलेह बहुधा सायंकालको दिया जाता है; और अधोगामी दोषोंको दूर करनेके लिए भोजनके पहले देनेकी प्राचीन प्रथा है।

शास्त्रीय रोगनाशक ओषधियाँ—शीतभंजी रस (प्रथम विधि), महाज्वरांकुश रस (तीसरी विधि), नारायण ज्वरांकुश रस, त्रिभुवनकीर्त्ति रस, दुर्जल जेता रस, आनन्द भैरव रस, सूतराज रस, मृत्युञ्जय रस, संजीवनी वटी, ज्वरारि वटी, करंजादि वटी (प्रथम विधि), जया या जयन्ती वटी, इनमेंसे आवश्यकतापर कोई भी ओषधि कफज्वरको दूर करनेके लिये दी जाती है। ज्वर अधिक तेज हो, शीतसह हो, तो शीतभंजी रस देना विशेष हितकर है। पसीना लाकर ताप उतारनेमें त्रिभुवनकीर्ति रस उत्तम काम देता है। सूतराज रस अधिक तेज है, इसलिये सम्हालपूर्वक प्रयोगमें लाना चाहिये।

कफज्वर शमनार्थ हम कटुकादि क्वाथ, पिप्पल्यादि क्वाथ, संजीवनी वटी, अभ्रकंचुकी (मलावरोध हो तो), मृत्युञ्जय, शीतभञ्जी (अधिक शीतपूर्वक ज्वर हो तो), त्रिभुनकीर्त्ति (वातविकारभी साथमें हो तो), दुर्जल जेता (पाचक पित्त बिगड़ा हुआ हो तो), इन ओषधियोंको बार-बार बर्त्तते रहते हैं।

सूचना—जब तक कफ पचन न हो जाय, अग्नि प्रदीप्त न हो और भोजनकी रुचि न हो, तब तक लंघन कराना चाहिये।

(५) वात-पित्त ज्वर।

लक्षण—इसमें तृषा, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, निद्रानाश, शिरदर्द, कण्ठ और मुखमें शोथ, वमन, रोंगटे खड़े होना, अरुचि, साँधोंमें पीड़ा, जँभाई और चक्कर आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। *यह ज्वर प्रायः दोपहर और मध्यरात्रिको अधिक

---

* तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाहः स्वप्ननाश शिरोरुजा।
कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ॥
पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृतिः ॥

रहता है। इस ज्वरमें ज्वरशामक ओषधि पाँचवें दिन देनेका शास्त्रीय विधान है।

दोषपाचनार्थ—महासुदर्शन चूर्ण, लघुसुदर्शन चूर्ण, कण्टकार्यादि क्वाथ, पंचमूलादि कषाय, पर्पटादि क्वाथ (दूसरी विधि), (पंचभद्रादि कषाय), जया और जयन्ती वटी; ये सब आमको पचाने वाली ओषधियाँ हैं। इनमेंसे कोई एक देनेसे आमपचन होकर ज्वर शान्त हो जाता है।

पित्तप्रकोपका प्राधान्य हो, तो—मधुकादि शीतकषाय या महाज्वरांकुश रस प्रथम विधि देवें।

मलावरोध होवे, तो—ज्वरकेसरी वटी, अश्वकंचुकी रस या पटोलादि क्वाथ देवें। यदि पित्तप्रकोप अधिक हो, तो अश्वकंचुकी रस नहीं देना चाहिये।

हम पंचभद्र क्वाथ, मधुकादि शीतकषाय, ज्वरकेसरी और सुदर्शन चूर्णको बारबार उपयोगमें लेते रहते हैं।

इस रोगमें आम पचन हो जानेपर अनार या आंवले मिले हुए मूँगका यूष हितकर है। यदि पित्तप्रकोपज दाह आदि लक्षण विशेष हों, तो चनेका यूष देना चाहिए। मूँग और करेला आदि कफवातघ्न पदार्थ नहीं देना चाहिये। कारण ये विष्टम्भ, शूल और आफरासह ज्वरको उत्पन्न करने वाले हैं।

(६) वात-कफ ज्वर।

लक्षण—इस ज्वरमें शरीर गीला जैसा रहना, सन्धियोंमें दर्द, निद्रा-वृद्धि, शरीरमें भारीपन, मस्तक जकड़ा हो ऐसी वेदना, जुकाम, खाँसी, पसीना अधिक आना, व्याकुलता, मलमें मैलापन, चिपचिपापन और ज्वरका मध्य-वेग आदि चिह्न प्रतीत होते हैं। ॐ

वात ज्वर और कफज्वर, इन दो मेंसे एकमें भी प्रस्वेद नहीं आता, किन्तु इन दोनोंका संयोग होनेपर इस ज्वरमें (मूल कारणोंके विरुद्ध) खूब पसीना आने लगता है। यह ज्वर दोपहरको प्रायः कम हो जाता है। इस ज्वरमें संशमन ओषधि नवें दिन देनेका प्राचीन आचार्योंका विधान है।

आयुर्वेदमें समवाय कारण (उपादान कारण) दो प्रकारके माने हैं। १. प्रकृतिसम समवाय कारण और २. विकृति विषम-समवाय। जैसे सफेद तन्तुरूप समवाय कारणमेंसे बना हुआ वस्त्र सफेद (कारण अनुरूप) होता है। यह प्रकृतिसम-समवाय कहलाता है। वैसे वातविकारसे उत्पन्न वात ज्वर वातके कम्प आदि गुणोंसे युक्त रहता है। किन्तु हल्दी और चूना, इन दोनोंका

ॐ स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रा गौरवमेव च॥
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम्।
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः॥

संयोग होनेपर कारणोंसे भिन्न रक्त-रंगरूप कार्यकी उत्पत्ति होती है, वह विकृति विषम-समवायका उदाहरण है। इस नियमानुसार इस वात-कफ ज्वरमें संताप और प्रस्वेद अधिक आना, इन लक्षणोंकी उत्पत्ति होती है एवं वात पित्त ज्वरमें अरुचि और रोमहर्ष, ये लक्षण; कफ-पित्त ज्वरमें थोड़े-थोड़े समयपर दाह और शीत; तथा त्रिदोष ज्वरमें मस्तकको पटकना, ये सब लक्षण विकृति विषम समवायरूप हैं।

दोष पाचनार्थ—(१) पंचकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ) का चूर्ण शहदके साथ देनेसे अग्नि प्रदीप्त होती है और वात-कफ ज्वर दूर होता है।

(२) छोटी पीपल या नागरमोथा, सोंठ और चिरायताका क्वाथ करके पिलावें।

(३) रत्नगिरी रस, संजीवनी वटी, जया या जयंती वटी, महा सुदर्शन चूर्ण, दशमूल क्वाथ (पीपलका चूर्ण मिलाकर), कंटकार्यादि क्वाथ, पिप्पल्यादि क्वाथ, नागरादि क्वाथ (प्रथम विधि), इनमेंसे कोई भी एक ओषधि देनेसे दोष पचन होकर ज्वर दूर हो जाता है।

(४) आरग्वधादि क्वाथ (दूसरी विधि) देनेसे दोष सत्वर पचन हो जाता है। यदि मलावरोध रहता हो, तो थोड़ा निशोथका चूर्ण मिलाकर पिलाना चाहिए। इस क्वाथको 'गिरिमाला पञ्चक' और 'आरोग्य पञ्चक' भी कहते हैं।

(५) छोटी कटेली, गिलोय, सोंठ तथा पुष्कर मूल सम भाग लें, क्वाथ बनाकर पिलानेसे वात कफ ज्वर नष्ट हो जाता है।

(६) नागर मोथा, पित्तपापड़ा, सोंठ, गिलोय और जवासाका क्वाथ पिलानेसे कफ वात ज्वर शमन हो जाता है।

(७) देवदारु, पित्तपापड़ा, भारंगी, नागरमोथा, वच, धनियां, कायफल, बड़ी हरड़, सोंठ, अजवायन इन १० औषधियोंको समभाग मिला लेवें फिर ४ तोलेका क्वाथ बना, दो हिस्सेकर प्रातः-सायं पिलानेसे वात श्लेम ज्वर शमन हो जाता है। इस ज्वरको शमन करनेके लिये प्रारम्भमें मृत्युञ्जय रस बहुत अच्छा काम देता है। प्रस्वेद अधिक लाकर आम या सेन्द्रिय विषको जलानेकी आवश्यकता हो, तो रत्नगिरी रस देना चाहिये। रत्नगिरी रससे एक समय उष्णता बढ़ जाती है, किन्तु ४-६ घण्टेमें ही प्रस्वेद आकर तापका वेग शमन हो जाता है। रत्नगिरी रस बालक, युवा, वृद्ध, सबके लिए निर्भय ओषधि है। मलावरोध हो, तो—ज्वर केसरी वटी या अश्वकंचुकी रस दें।

शास्त्रीय इतर औषधियाँ—हरताल गोदन्ती भस्म, शृङ्ग भस्म, मल्लभस्म (तीसरी विधि); त्रिभुवनकीर्ति रस, त्रैलोक्यचिन्तामणि रस, पञ्चवक्त्र रस,

नारायणज्वरांकुश रस, जया या जयन्ती वटी, अचिन्त्य शक्ति रस, इनमेंसे किसी एकको विचारपूर्वक योजना करनेसे वात-कफज्वर सम्पूर्ण लक्षणोंसह दूर हो जाता है।

रोग प्रबल है, तो—मल्लादि वटी, पञ्चवक्त्र रस, सूतराज रस, अश्वकंचुकी (बद्ध कोष्ठ हो तो), समीरपन्नग या अचिन्त्य शक्ति रस (कफ अधिक हो तो), इन ओषधियोंका प्रयोग विशेष लाभदायक है। इनमेंसे जो अधिक अनुकूल हो, वह देवें।

यदि विष रहित ओषधि देनी हो, तो दशमूल क्वाथ, शृंग भस्म और आरग्वधादि क्वाथ (मलावरोध हो, तो) मेंसे अनुकूल ओषधिकी योजना करनी चाहिये। आरग्वध शोधन क्रियामें उत्तम है।

प्रस्वेद लानेके लिये—इस ज्वरकी चिकित्सामें पहले पसीना लाकर छिद्रोंको मुलायम बनाना चाहिये। इसलिये बालुका (रेती) को किसी मिट्टीके बर्त्तनमें गरमकर, कपड़ेकी पोटली बाँध, काँजीमें डुबो, हाथ-पैर आदि अङ्गोंको सेक करनेसे मस्तकशूल, जुकाम, अकड़ाहट और अङ्ग टूटना आदि पीड़ायें दूर होती हैं।

प्रस्वेद बहुत हो, तो रोकनेके लिये—भूनी कुलथीका आटा या चूल्हेकी जली हुई मिट्टी पीसकर मालिश करें; अथवा भूनिम्बादि उद्धूलनसे मालिश करें।

अरुचि हो, तो—बिजोरे नींबूकी केसर, सैंधानमक और कालीमिर्चको पीस, नींबूका रस और शहद मिला, मुँहमें कवल धारण करें; या आरग्वधादि कल्क चटनीरूपसे भोजनके साथ खानेको देवें।

पथ्य भोजन—इस ज्वरमें बृहत्पंचमूल क्वाथमें बनाया हुआ यूष ७ वें दिन देनेका शास्त्रकारोंने विधान किया है। यूषार्थ क्वाथ १२८ गुना जल मिलाकर करना चाहिये। भोजनका विशेष विवेचन ज्वरके अन्तमें पथ्यापथ्यमें किया जायगा।

(७) पित्तश्लेष्मज्वर।

लक्षण—इस ज्वरमें मुँह चिपचिपा और कड़वा, तन्द्रा, मोह, कास, अरुचि, तृषा, शिरदर्द, संधिस्थानोंमें पीड़ा, बार-बार थोड़े समयमें दाह और ठण्ड लगना, अथवा पहले ठण्ड बादमें पसीना आना व कभी कभी पसीना न आना, मूर्च्छा और वमन द्वारा कफ पित्तकी प्रवृत्ति इत्यादि लक्षण होते हैं। * यह

---

* लिप्ततिक्तास्यता तंद्रा मोहःकासोऽरुचिस्तृषा ॥
मुहुर्दाहो मुहुःशीतं श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः ॥ (सु० उ० ३९।५०)

ज्वर रात्रि और दिनके अन्तमें प्रायः कम होजाता है। शास्त्रकारोंने इस ज्वरमें १० वें दिन (दोष पचन होनेपर) संशमन औषधि देनेकी आज्ञा की है। +

दोषपाचक और ज्वर शामक ओषधियाँ—(१) परवलके पत्ते, लाल चन्दन, मूर्वा, कुटकी, पाठा और गिलोयका क्वाथ कर पिलानेसे पित्त-कफज्वर, अरुचि, वमन, खाज, विष प्रकोप, ये नष्ट होते हैं।

(२) चिरायता, सोंठ, नागरमोथा और गिलोयका क्वाथ बनाकर पिलानेसे दोष पचन होकर कफाधिक्य ज्वर दूर हो जाता है।

(३) उक्त चिरायतादि ओषधियोंके साथ रक्तचन्दन, नेत्रबाला और खस मिला, क्वाथकर पिलानेसे पित्ताधिक ज्वर शमन हो जाता है।

(४) अमृताष्टक क्वाथ, महासुदर्शन चूर्ण, कण्टकार्यादि क्वाथ (दूसरी विधि), गुडूच्यादि क्वाथ, नागरादि क्वाथ (दूसरी विधि), इनमेंसे एक ओषधिका सेवन करानेसे दोष पचन होकर ज्वर शान्त हो जाता है।

(५) प्रवाल पिष्टी २-२ रत्ती, गिलोय सत्व और शहदके साथ मिलाकर दिनमें ३ समय देवें तथा कासमर्दन या कर्पूरादि वटी चुसाते रहें, तो पित्त-श्लेष्म ज्वर और शुष्क कास दूर होते हैं।

(६) अडूसेका स्वरस, मिश्री और शहद १-१ तोला मिलाकर दिनमें ३ समय पिलाते रहनेसे कफप्रकोप, अम्लपित्त और कामलासह पित्त-श्लैष्मिक ज्वर निवृत्त हो जाता है।

(७) कण्टकार्यादि क्वाथ (दूसरी विधि) या अमृताष्टक क्वाथ देनेसे पतले दस्त, वमन और श्वास आदि लक्षण सह पित्त कफ ज्वर शमन होजाता है।

(८) प्रवाल पिष्टी और शृङ्ग भस्म २-२ रत्ती पियावाँसेके रसके साथ दिनमें ३ बार देते रहनेसे २-३ दिनमें दूषित कफ, श्वास, वमन और दाहसह पित्तश्लेष्मज्वर निवृत्त हो जाता है।

बद्धकोष्ठ हो, तो—कुटकीका चूर्ण ६ माशे समान मिश्री मिलाकर निवाये जलसे देवें; अथवा ज्वर केसरी वटी या अश्वकंचुकी रसमेंसे एक ओषधि देवें।

शास्त्रीय इतर ओषधियाँ—महाज्वरांकुश रस (दूसरी विधि), विश्वताप हरण रस, अभया या जयंती वटी, शीतभंजी रस इनमेंसे कोई भी एक देनेसे ज्वर शमन हो जाता है। हम इन ओषधियोंमेंसे अमृताष्टक क्वाथ, सुदर्शन चूर्ण, विश्वताप हरण रस और ज्वरकेसरी वटी (मल शुद्धि-अर्थ) प्रयोगमें अधिक रूपसे लाते हैं। रोगीकी अवस्था और लक्षण भेदसे इतर ओषधि भी दी जाती है।

+ दशरात्रात्परं केचिद्दातव्यमितिनिश्चिता ॥ (सु० उ० ३९।१२०)

ज्वर उतरनेपर पथ्य—परवलके पत्ते और धनियेके क्वाथमें यूष सिद्ध करके पिलानेकी शास्त्रकारोंकी आज्ञा है।

(८) त्रिदोषज ज्वर।

त्रिदोषज ज्वर-सन्निपात ज्वर–(Sever Toxaemia or Septicemia.) इस ज्वरके लक्षण भेदसे अनेक प्रकार होते हैं। इसकी उत्पत्ति वात, पित्त, कफ, तीनों दोष दूषित होनेपर होती है; तथापि जिस दोषके लक्षण अधिक प्रबल हों, उसकी उल्बणता (प्रधानता) मानकर चिकित्सा की जाती है।

लक्षण—इस ज्वरमें माधवाचार्यके लिखे अनुसार सामान्यरूपसे निम्न लक्षणोंमेंसे कुछ-कुछ प्रतीत होते हैं। क्वचित् नये विचित्र लक्षण भी दीखते हैं। क्षणमें दाह और क्षणमें शीत; अस्थि, सन्धि और शिरमें दर्द; अश्रु-स्राव युक्त मैले, लाल और फटे हुए नेत्र, कानोंमें शब्द और तीक्ष्ण पीड़ा, कण्ठमें काँटे आ जाना; मस्तिष्क विकृतिजन्य चक्कर आना; तन्द्रा, मोह, उन्माद और प्रलाप, फुफ्फुस विकृतिदर्शन, कास और श्वास, मुखगत थूकमें कफ, पित्त और रक्त आना; तथा जिह्वा काली और खरदरी। सार्वाङ्गिक लक्षण—सम्पूर्ण अंगोंमें शिथिलता, चेतना-शक्तिका ह्रास (क्वचित् मक्खी आदिके स्पर्शका अनुभव सम्यक् न होना), पीड़ाके हेतुसे शिरको इधर-उधर पटकना, तृषा, निद्रानाश (क्वचित् दिनमें निद्रा और रात्रिमें जागरण), हृदयमें पीड़ा, प्रस्वेद और मल-मूत्र बहुत कम आना (क्वचित् प्रस्वेद बहुत ज्यादा आना), व्याधिके बलसे अंगोंमें अधिक कृशता न भासना (क्वचित् वातप्रकोप होनेसे असाधारण बलकी प्रतीति होना), निरन्तर गलेमेंसे घर-घर आवाज आते रहना, शरीरमें लाल, काले चकत्ते होना, अधिक शिथिलता आ जानेपर ज्यादा बोलनेकी इच्छा न होना, मुँह, नाक, कान आदि पक जाना, उदरमें भारीपन और आमकी अधिकता होनेसे दोषोंका परिपाक दीर्घकालमें होना इत्यादि लक्षण होते हैं।

चरकोक्त १३ विभाग—इस ज्वरके चरक संहितामें दोषोंके विकृतिभेदसे १३ विभाग किये हैं। १. वातोल्बण, २. पित्तोल्बण, ३. कफोल्बण, ४. वातपित्तोल्बण, ५. वातकफोल्बण, ६. कफपित्तोल्बण, ७. वाताधिक मध्यपित्त हीनकफ, ८. वातमध्य पित्ताधिक हीन कफ, ९. वातहीन पित्ताधिक कफमध्य, १०. वाताधिक हीनपित्त मध्यकफ, ११. वातमध्य हीनपित्त कफाधिक, १२. वातहीन मध्यपित्त कफाधिक और १३. त्रिदोषोल्बण। इन सबके पृथक्-पृथक् विशेष विस्तारकी आवश्यकता नहीं है। कारण, जिस दोषके लक्षण अधिक

बढ़े हों, उनका शमन किया जाता है।

१. वातोल्बण—इस प्रकारमें सन्धियां अस्थियां, और शिरमें शूल होना, प्रलाप, गुरुता, भ्रम, तृष्णा, कण्ठ और मुख सूखना, ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं।

२. पित्तोल्बण—इस प्रकारमें मल-मूत्रका लाल वर्ण हो जाना अथवा रक्त मिश्रित होना, प्रस्वेद, तृषा, निर्बलता, मूर्च्छा, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

३. कफोल्बण—इस सन्निपातमें आलस्य, अरुचि, हृल्लास, जी मिचलाना, दाह, वमन, मानसिक व्याकुलता, भ्रम, तन्द्रा और कास ये लक्षण प्रतीत होते हैं।

४. वातपित्तोल्बण—इस सन्निपातमें भ्रम, पिपासा, दाह, गुरुता, शिरमें अत्यधिक वेदना; ये लक्षण होते हैं।

५. वातकफोल्बणः—इस प्रकारमें शीत लगना, कास, अरुचि, तन्द्रा, तृषा, दाह, वेदना और व्यथा ये लक्षण होते हैं।

६. पित्तकफोल्बणः—इस जातिके सन्निपातके लक्षण शीत लगना, बार-बार दाह होना, तृषा, मोह (मूर्च्छा) अस्थियोंमें दर्द आदि माने गये हैं।

७. वाताधिक, मध्यपित्त, हीनकफः—इस सन्निपातके श्वास, कास, प्रतिश्याय, मुखका सूखना और पसलियोंमें उत्पन्न वेदना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

८. पित्ताधिक, वातमध्य, हीनकफः—इस प्रकारके भीतर पर्वमें भेदनवत् पीड़ा, अग्निमांद्य, तृषा, दाह, अरुचि, भ्रम, ये लक्षण बहुधा होते हैं।

९. वातहीन, मध्यकफ, पित्ताधिक—ऐसा प्रकोप होनेपर मूत्र और नेत्रका रंग हल्दीके समान पीला होना, दाह, तृषा, भ्रम, अरुचि, ये लक्षण प्रतीत होते हैं।

१०. वाताधिक, मध्यकफ, हीनपित्त—इस प्रकारमें शिरदर्द, श्वास, प्रलाप, वमन, अरुचि, ये लक्षण होते हैं।

११. कफाधिक, वातमध्य, हीनपित्त—इस प्रकारका प्रकोप होनेपर शीत लगना, गुरुता, तन्द्रा, प्रलाप, अस्थियां तथा शिरमें अत्यन्त वेदना, ये लक्षण होते हैं।

१२. कफाधिक, मध्यपित्त, वातहीन—इस प्रकारमें प्रतिश्याय (जुकाम), वमन, आलस्य, तन्द्रा, अरुचि, मन्दाग्नि, ये लक्षण विशेषतः प्रतीत होते हैं।

१३. त्रिदोषोल्बण—इसमें तीनों दोषोंकी विकृतिके प्रबल लक्षण प्रतीत होते हैं।

सुश्रुत संहिता और अष्टांगहृदयमें सन्निपातका पृथक्-पृथक् विभाग नहीं किया एक अभिन्यास संज्ञा ही दी है।

सुश्रुतोक्त लक्षण—शरीर अति गरम या अतिशीतल न होना, संज्ञाचेतना कम हो जाना, उन्मत्तके समान देखना, बोलनेकी शक्ति लुप्त हो जाना, जिह्वा खरदरी, मोटी और शिथिल हो जाना, कण्ठ सूखना, प्रस्वेद, मल-मूत्र रुकना, अश्रुपूर्ण नेत्र, चित्तकी मूढ़ता, भोजन-पान आदिकी इच्छाका अभाव, कान्ति-हीनता, श्वासका प्रबल वेग, जिस ओर सुलाओ उस ओर लकड़ीके समान अचेत होकर पड़ा रहना और प्रलाप (क्वचित् असम्बद्ध बोलना) इत्यादि लक्षण होते हैं। × इस सन्निपातमें यदि कफाधिकता है, तो अभिन्यास और वात या पित्तका प्राधान्य है, तो हतौजस कहलाता है। ÷ हतौजसमें ओजका क्षय हो जाता है। इस सुश्रुत संहिताके अनुरूप सिद्धान्तनिदानकारने भी सन्निपातके भेद नहीं किये। किन्तु चिकित्सा वात, पित्त और कफके वृद्धि-ह्रासानुसार ही की जाती है, इस विषयमें सबका एक ही मत है।

रक्तमें कृमि या सेन्द्रिय विष प्रवेश कर, जब चारों ओर फैल जाता है या मूत्र विषकी वृद्धि हो जाती है, तब इस रोगकी उत्पत्ति होती है। फिर विष जल जानेपर रोगकी शान्ति हो जाती है।

भाव प्रकाशोक्त १३ भेद—भाव प्रकाश आदि आचार्योंने सन्निपातके लक्षण भेदसे १३ भेद किये हैं। १. शीतांग, २. तन्द्रिक, ३. प्रलापक, ४. रक्तष्ठीवी, ५. भुग्ननेत्र, ६. अभिन्यास, ७. जिह्वक, ८. सन्धिक, ९. अन्तक, १०. रुग्दाह, ११. चित्त विभ्रम, १२. कर्णक, १३. कण्ठग्रह (कण्ठकुब्ज), यह क्रम चिकित्सामें उपयोगी है। इन सन्निपातोंके दोषप्राधान्य, साध्यासाध्यता और परिपाक समय निम्नानुसार हैं।

× नात्युष्णशीतोऽल्प संज्ञो भ्रान्तप्रेक्षी हतस्वरः।
खरजिह्वः शुष्ककण्ठः स्वेदविण्मूत्रवर्जितः ॥१॥
सास्रो निर्भुग्नहृदयो भक्तद्वेषी हतप्रभः।
श्वसन्निपतितः शेते प्रलापोपद्रवैर्युतः ॥२॥

÷ तमभिन्यासमित्याहुर्हतौजसमथापरे।
सन्निपातज्वरं कृच्छ्रमसाध्यमपरे विदुः॥
(सु० उ० ३९।३९-४१)

रोग	साध्यासाध्यता	दोषप्राधान्य	परिपाकदिन ❀
१ शीतांग	असाध्य	कफ	१५
२ तन्द्रिक	कष्टसाध्य	वात	२५
३ प्रलापक	असाध्य	पित्त	१४
४ रक्तष्ठीवी	,,	,,	१०
५ भुग्ननेत्र	,,	,,	८
६ अभिन्यास	असाध्य	वात	१६
७ जिह्वक	कष्टसाध्य	पित्त	१६
८ संधिक	साध्य	वात	७
९ अंतक	असाध्य	पित्त	१०
१० रुग्दाह	अति कष्टसाध्य	,,	२०
११ चित्तविभ्रम	कष्टसाध्य	वात	२४
१२ कर्णक	,,	पित्त	३०
१३ कण्ठकुब्ज	,,	,,	१३

शास्त्रकारोंने इन सन्निपातोंकी संज्ञा प्रधान लक्षणके अनुसार दी है। जिससे उनका बोध नामपरसे भी हो जाता है। इनके लक्षणोंमें काल भेदसे कुछ-कुछ अन्तर हो गया है। कितनीही जातिके सन्निपात प्रतीत नहीं होते। फिर भी कौनसे समय, कहाँ और किस जातिका सन्निपात हो जाय, इसका कोई नियम नहीं।

इन सन्निपातोंमेंसे तन्द्रिककी वातश्लेष्म प्रधान इन्फ्लुएञ्जा (Influenza) से, प्रलापककी वातपित्त प्रधान टाईफस (Typhus Fever) से, रक्तष्ठीवीकी कफ पित्त प्रधान न्यूमोनिया (Pneumonia) से; भुग्ननेत्रकी गर्दन तोड़ बुखार सेरीब्रोस्पाइनल फीवर (Cerebro-Spinal Fever or Meningitis) से, संधिककी आमवात प्रधान ज्वर-र्‌यूमेटिक फीवर (Rheumatic Fever)

❀ पक्षमेकं तु शीताङ्गे तन्द्रिके पञ्चविंशतिः।
संधिके वासराः सप्त चान्तके दश वासराः ॥
रुग्दाहे विंशतिर्ज्ञेया वह्न्यष्टौ चित्तविभ्रमे।
विज्ञेया वासराश्चैव कण्ठकुब्जे त्रयोदश ॥
कर्णके च त्रयो मासा भुग्ननेत्रे दिनाष्टकम्।
रक्तष्ठीवी दशाहानि चतुर्दश प्रलापके ॥
जिह्वके षोडशाहानि कलाऽभिन्यास लक्षणे।
परमायुरिति प्रोक्तं म्रियते तत्क्षणादपि ॥

से, मतान्तरमें दंडक ज्वर-डेंग्यु फीवर (Dengue Fever) से और रुग्दाहका पित्त प्रधान-मोतीझरा-टाईफॉईड फीवर (Typhoid Fever) से अधिकांशमें साम्य प्रतीत होता है।

१. शीतांग—शरीर बर्फ समान शीतल होना, श्वास, कफयुक्त कास, हिक्का, मोह, कम्प, प्रलाप, अंगोंकी शिथिलता, धीमी आवाज, भीतरमें उग्र संताप, थकान, कफवात बढना, दाह, मानसिक बेचैनी, वमन और अतिसार आदि लक्षण होते हैं। अवधि १५ दिन मानी है।

२. तन्द्रिक—अत्यन्त तन्द्रा (रात्रि-दिन तन्द्रामें ही पड़ा रहना), प्यास, अतिसार, भयंकर घबराहट, श्वास, कास, दाह, जिह्वा श्याम, मोटी, कठोर और काँटेदार हो जाना, ग्लानि, सन्ताप, कानोंसे कम सुनना, कण्ठमें कफ भर जानेसे जड़ता और घर-घर आवाज आना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। अवधि २५ दिन मानी है।

३. प्रलापक—सब दोषोंका कोप, भूतकालके बोधानुसार पठित विषयका अभिमान पूर्वक प्रलाप, कम्प, सन्ताप, भयङ्कर शिरदर्द, दूसरोंके लिये चिन्तातुर, बार-बार गिर जाना, बेहोशी, दाह, विकलता और अत्यन्त बकवाद आदि लक्षण होते हैं। अवधि १४ दिनकी है।

४. रक्तष्ठीवी—थूकमें रक्त आना, लाल नेत्र, प्यास, मोह, शूल, अतिसार, हिक्का, आफरा, चक्कर, सन्ताप, वमन, श्वास, संज्ञानाश, जिह्वा काली और लाल हो जाना, शरीरपर रक्तविकारके काले चकते होना, बारबार गिर पड़ना आदि लक्षण होते हैं। अवधि १० दिनकी है।

५. भुग्ननेत्र—नेत्र फटेसे रहना, बलनाश, स्मृतिनाश, श्वास, कास, तन्द्रा, बेहोशी, प्रलाप, भ्रम, कम्प, कानोंसे बहुधा न सुनना, मूर्च्छा और शोथ आदि लक्षण होते हैं। अवधि ८ दिनकी है।

६. अभिन्यास—इस सन्निपातमें सब दोष तीव्रतर बलवान् होते हैं। संज्ञाचेतनाका प्रायः त्याग (ज्ञान कम हो जाना), निद्रा, चेष्टाहीनता, दाह, मुँहपर घी या तैल लगा हो ऐसी स्निग्धता, बेहोशी, बोलनेमें कष्ट होना, बलक्षय, श्वासावरोध, मल-मूत्रावरोध, हृदय और नाड़ीकी गतिका रोध आदि लक्षण होते हैं। अवधि १६ दिनकी है।

७. जिह्वक—जिह्वा अत्यन्त कठिन, काँटोंसे व्याप्त, श्वास, कास, सन्ताप, घबराहट, बहरापन, गूँगापन और बलहानि आदि लक्षण होते हैं। यह सन्निपात बहुधा १६ दिन तक रहता है।

८. सन्धिक—इस ज्वरमें सन्धि-स्थानोंमें शोथ सहित अत्यन्त पीड़ा, वात

प्रकोपज शूल, मुँहमें बहुत कफ आना, निर्बलता, निद्रा नहीं आना, कफ-कास जनित अधिक पीड़ा आदि लक्षण होते हैं। इसकी अवधि ७ दिनकी है।

६. अन्तक—भयङ्कर दाह, शिरदर्द, अत्यन्त सन्ताप, बेचैनी, प्रलाप, निरन्तर शिरकम्पन, बेहोशी, हिक्का, कास और श्वास आदि लक्षण होते हैं। अवधि १० दिनकी है। यह ज्वर महामारक होनेसे इसका नाम 'अन्तक' रखा है।

१०. रुग्दाह—दाह, तीव्रतृषा, श्वास, प्रलाप, अरुचि, भ्रम (चक्कर), बेहोशी, नाड़ी मन्द, मन्या (नाड़ी). ठोड़ी और कण्ठमें दर्द, शरीरमें शिथिलता और क्वचित् हिक्का, काम, श्वाम आदि लक्षण होते हैं। इसकी अवधि २० दिनकी है।

११. चित्तविभ्रम—मानसिक भ्रम, हँसना, नाचना, गाना, बकना, मोह, संताप, बेहोशी, दाह, घबराहट और नेत्रकी व्याकुलता आदि लक्षण होते हैं। अवधि २४ दिन, मतान्तरमें १७ दिनकी है।

१२. कर्णक—कानकी जड़में त्रिदोपज शोथ होना, शोथके हेतुसे भयङ्कर व्यथा, बहरापन, प्रलाप, मोह, दाह, कण्ठ जकड़ना, श्वास, कास, लार गिरना, पसीना आना और सन्ताप आदि लक्षण होते हैं। इसकी अवधि १ मास मतान्तरमें ३ मासकी है।

१३. कण्ठकुब्ज—कण्ठ सैकड़ों तिनकोंसे रुका हुआ-सा जान पड़ना, अति श्वास, प्रलाप, अरुचि, सारे शरीरमें वेदना, दाह, मोह, कम्प, तृषा, वातप्रकोप, रक्तमें विकृति, ठोडी अकड़ जाना, शिरदर्द, संताप और मूर्च्छा आदि लक्षण होते हैं। इस सन्निपातमें श्वास लेनेमें कष्ट और जलको निगलनेमें भयङ्कर पीड़ा होती है। अवधि १३ दिनकी है।

इन सन्निपातोंमें संधिक साध्य; तन्द्रिक, कर्णक, कण्ठकुब्ज, जिह्वक और चित्तविभ्रम कष्ट साध्य; रुग्दाह अति कष्ट साध्य, तथा शेष ६ असाध्य हैं। इस विषयमें शास्त्रकारोंके मतभेद हैं।

वाताधिक, पित्ताधिक और कफाधिक, सन्निपातोंका प्रायः अनुक्रमसे ७-१० और १२ दिनोंमें मल पाक होता है। यदि मलपाक न हुआ और धातु पाक हुआ तो सन्निपात रोगीको मार डालता है। +

उक्त अवधि अग्निवेश आचार्यके मतसे है। हारीताचार्यने द्विगुण मर्यादा मानी है; अर्थात् ७-६-११ के १४-१८-२२ दिन हो जाते हैं।

+ सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा ॥
पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा ॥ (सु० उ० ३९।४५)

सप्तमी द्विगुणा प्रोक्ता नवम्येकादशी तथा।
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च॥

इस मर्यादामें त्रिदोष ज्वर रोगीको छोड़ देता है या मार डालता है। सारांश यह है कि मलपाक होनेसे लक्षणोंका बल उत्तरोत्तर कम होकर रोगी बच जाता है, तथा धातुपाक होनेपर लक्षणोंका बल बढता जाता है, जिससे रोगी मर जाता है।

मलपाक-धातुपाक परीक्षा—त्रिदोष ज्वरकी साध्यासाध्यताका अनुमान लक्षणोंके बलके वृद्धि-ह्रास अनुसार किया जाता है; अर्थात् निद्रानाश, हृदयावरोध, मल-मूत्रका निग्रह, जड़ता, अन्नद्वेष, बलनाश और दर्दवाले भागको हाथसे दबाना इत्यादिमें रोगीको पहले दिनकी अपेक्षा अधिक पीड़ा हो, तो उसे धातुपाकी ज्वर समझना चाहिए; और ज्वरकी न्यूनता, शरीरमें हलकापन तथा पीड़ा कम होना आदि लक्षण होनेपर, ज्वरको मलपाकी समझना चाहिए।

जिन रोगोंमें दोष विरुद्ध हो जाय, अग्नि नष्ट हो जाय और सम्पूर्ण लक्षणोंकी उत्पत्ति हो जाय; वे समस्त रोग असाध्य हो जाते हैं। उपर्युक्त लक्षण न्यून होवें तो कष्टसाध्य या साध्य माने जाते हैं।

ज्वर उपशम—ज्वरका उपशम दो रीतिसे होता है। शनैः-शनैः और एक दम। इनमें शनैः शनैः ज्वर उतरता है उसे अनुक्रमोपशम (लायसिस Lysis) और अकस्मात् ज्वर उतरता है, उसे आकस्मिक उपशम (क्रायसिस-Crisis) कहते हैं। सिद्धान्त-निदानकारने इनको अदारुण और दारुण संज्ञा दी है।

इनमें दोष स्वभावके आश्रयसे संताप आदि उत्पन्न होकर शनैः शनैः ताप शमन होता है, उसे अनुक्रमोपशम कहते हैं। व्याधि जीर्ण होनेपर इस प्रकारसे ज्वरोंकी मुक्ति होती है। आन्त्रिक ज्वर इसी तरह उतरता है।

आकस्मिक (दारुण) उपशम होनेमें रोग तीव्र क्षोभ उत्पन्न करता है। जैसे श्वसनक ज्वर (न्युमोनिया) में ७ वें या ८ वें दिन अकस्मात् अत्यंत प्रस्वेद आकर ज्वर उतर जाता है; या रोगीकी मृत्यु हो जाती है।

जो ऊपर ज्वर-मुक्तिकी मर्यादा कही है; वह आकस्मिक उपशमके निमित्त ही कही है। जो विषमज्वर हैं, वे भी त्रिदोषज होनेसे इनमें तृतीयक आदि ज्वरमें प्रायः आकस्मिक उपशम हो जाता है।

रोगी बलवान् है, तीव्र संताप आदि लक्षण और तीव्र दोष प्रकोपसह नूतन ज्वर है, तो प्रस्वेद या अतिसारादि क्रिया उत्पन्न होकर सद्यः दोषपाक और ज्वरका उपशम अकस्मात् हो जाता है।

कभी-कभी सन्निपात ज्वरके अन्तमें बधिरता, हाथ पैरोंकी शक्ति नष्ट हो

जाना, उन्माद, अन्धता, मूकता (वाक् शक्तिका लोप या मिनमिनत्व) इत्यादि उपद्रव हो जाते हैं। इसी प्रकार कभी कानोंके मूलमें दारुण शोथ हो जाता है। इस कर्णशोथके होनेपर कोई भाग्यशाली ही बचता है। ÷

यद्यपि सन्निपातकी चिकित्सामें दोष-दूष्य विवेक मुख्य हैं, तथापि मुख्य लक्षणोंके शमनार्थ भी ध्यान देना पड़ता है। सामान्यतः पहले कफ और आम शोषणकारक उपचार, फिर पित्त-वात शमनका प्रयत्न किया जाता है। साथ ही साथ रोगीका बल-क्षय तो नहीं हो रहा है ? इस बातका पूरा खयाल रखना चाहिये।

एलोपैथिक मत अनुसार त्रिदोष ज्वर।

एलोपैथिक मत-इस चिकित्सा पद्धतिमें न्यूमोनिया, इन्फ्लुएञ्जा आदि रोगोंके अतिरिक्त सेप्टीसिमिया, पायीमिया और टोक्सीमिया भेदसे अलग वर्णन मिलता है। परीक्षा करनेपर रक्तके भीतर सेन्द्रिय विष या विजातीय प्राणिज विष (वनस्पतिज कीटाणु या पूय) का संग्रह प्रतीत होता है। इनके सूक्ष्म भेद अनुसार उक्त तीनों विभागकी कल्पना की है।

१. कीटप्रवेशज प्रकुपित रक्त (Septicaemia)–इस विकारमें गुण्यांकके हिसाबसे बढ़ते हुए वनस्पतिज कीटाणु, विशेषतः कोकाई जातिके मिलते हैं। इसमें स्थानिक विद्रधिकी प्रतीति नहीं होती। किन्तु ये कीटाणु भयंकर विषोत्पत्ति करके रक्तमें प्रवेशित होकर उसे दूषित बना देते हैं।

२. विषप्रवेशित प्रकुपित रक्त (Toxaemia)—इस प्रकारमें केन्द्रस्थानमें कीटाणु रहते हैं और उसका विष रक्तके भीतर प्रवेशित हो जाता है। उदा०—कण्ठरोहिणीमें कण्ठमें कीटाणु रहते हैं। वहांसे विष उत्पन्न होकर रक्तमें चला जाता है।

३. पूयविकृत रक्त (Pyaemia)—इस विकारमें सन्तानतन्तु और अन्तरके अवयवोंमें वनस्पतिज कीटाणुओंका गुण्यांक वृद्धिमय व्यापार प्रतीत नहीं होता। किन्तु रक्तमें पूयकीटाणु उत्पन्न होते हैं, जो स्थान स्थानपर विद्रधि उत्पन्न करते हैं।

१. कीटप्रवेशित प्रकुपित रक्त (सेप्टीसीमिया Septicaemia)।

व्रण पाक करनेवाले वनस्पति कीटाणु देहके किसी स्थानपर बढ़कर रक्तमें प्रवेशित होते हैं और विष अधिक फैलाकर रक्तको अति विकृत बना देते हैं, इसे सेप्टीसीमिया कहते हैं। इन कीटाणुओंमें विशेषतः जंजीर सदृश

÷ सन्निपात ज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः।।
शोथः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते।।

चिपककर रहनेवाले (Strepto cocci) मिलते हैं, ये बलपूर्वक रक्ताणुओंका विनाश करते हैं। इनके अतिरिक्त Pneumo cocci Staphylo cocci और क्वचित् Menigo cocci तथा मोतीझरा आदिके कीटाणु भी मिल जाते हैं।

रक्तमें विष बढ़जानेपर रक्त पतला या श्याम रंगका होजाता है। प्लीहा बढ जाती है और मुलायम होजाती है। वृक्क, फुफ्फुसावरण, हृदयावरण आदि अन्य अवयवोंपर भी श्यामशोथ (Clody Swelling) आजाता है। एवं सूक्ष्म रक्तवाहिनियोंकी पतली श्लैष्मिक कलासेंसे रक्तस्राव होनेसे धमनियोंकी दीवार पीड़ित होजाती है।

सार्वाङ्गिक लक्षण—वेपन और स्वेद, उत्तापवृद्धि (घटकर ९७° और बढ़कर १०५° डिग्री) कुछ समय तक बढ़ना फिर घटना, नाड़ी लघु, मुलायम और द्रुत, पचनेन्द्रिय संस्थान विकृत हो जानेसे जिह्वा कांटेदार, बहुधा शुष्क, अग्निमांद्य, मलावरोध (या गंभीर स्थितिमें पतले दस्त), दुर्बलता बढ़नेपर प्रलाप, पाण्डु, रक्ताणुओंकी नाशवृद्धि, प्लीहावृद्धि, दर्दका अभाव, संधिस्थानोंमें शोथ और मृदुता, सूक्ष्म रक्तग्रन्थियोंमेंसे रक्तस्राव, त्वचापर अचिर स्थायी-रक्तके धब्बे, रक्तमें श्वेताणुओंकी वृद्धि(१०००० से १०००० तक प्रति सेण्टी-मीटर), इनमें भी केन्द्रस्थान वाले (Polynuclear ९० प्रतिशत या अधिक वृद्धि) मूत्रमें कभी एल्ब्युमिन आदि लक्षण भी उपस्थित होते हैं।

अपचनजनित विकार होनेपर सामान्यतः ज्वर, शिरदर्द, तृषा, वमन, आमाशय और अन्त्रकी उग्रता, मांसपेशियोंकी क्षीणता और शक्तिपात आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं।

अन्य प्रकार—ऊपर लिखे हुए प्रकारके अतिरिक्त "ट्रोपिकल डिजिज" के लेखक उष्ण कटिबन्धमें होनेवाले अन्य प्रकार भी दर्शाते हैं जो सामान्य हैं और विशेष अनुभवमें आते हैं। इनमेंसे एक प्रकारकी उत्पत्ति अन्त्रके मलमें स्वाभाविक रहनेवाले कीटाणु—वेसिलस फिसिलिस आल्कलिजेनिस (Bacillus faecalis alcaligenes) से होती है। ये कीटाणु निवासस्थानमें रहनेपर हानिकर नहीं हैं; किन्तु रक्तमें प्रवेशित होनेपर २ से १५ दिनमें ज्वर उपस्थित होता है। उसकी वृद्धि शामसे होने लगती है और प्रातःकाल शमन हो जाती है।

लक्षण—इस प्रकारमें लक्षण मृदु मधुरा (Enteric) के समान भासते हैं। नाड़ी गति शारीरिक उत्तापकी अपेक्षा मंद होती है। जिह्वा किञ्चित् मलिन होती है।

उक्त प्रकारके अतिरिक्त बारंबार अपचन जनित सेन्द्रिय विष (Foodpois oning) से उत्पन्न वनस्पति कीटाणु (Bacilli Salmonella group, B. enteritidis &. B. aertrycke) रक्तप्रवाहमें पहुँच जाते हैं फिर

वे पृथक् होकर ज्वर उपस्थित करते हैं। वह ज्वर लगभग मधुरासे मिलता हुआ होता है। वह अकस्मात् वेपन सह आक्रमण करता है। अतः मधुरासे पृथक् हो जाता है। इसमें आमाशय अन्त्र के विकृति लक्षण प्रतीत होते हैं। इस प्रकारमें रक्तसह पूयमय दस्त भी होते हैं। इस ज्वरकी स्थिति थोड़े समय तक है। इसका अन्त जल्दी होता है।

कभी अन्त्रके अनाक्रमणशील कीटाणु वेसिलस कोली (Bacillus Coli) मूत्रमार्गपर आक्रमण कर देते हैं। फिर रक्तप्रवाहमें पहुँचकर सविराम ज्वर उत्पन्न होता है। यह सामान्यतः मधुराके समान भासता है। यह विशेषतः वेसिलस कीटाणु जन्य प्रवाहिकाके पश्चात् उपस्थित होता है।

इस प्रकारमें अन्त्रका कर्षण होता है। वृक्कोंमें जानेवाली केशिकाओंके गुच्छ-ऋजुका Glomeruli) प्रभावित होती है। फिर वृक्कके वहिर्वस्तु भाग (Cortex) पर सूक्ष्म-सूक्ष्म पाक होने वाली पिटिकाएँ उपस्थित होती हैं। विष वहाँसे भीतर प्रवेश करता है, तब रक्तमें प्रतीत होता है।

लक्षण—कभी-कभी अचेतना आती है। विष प्रकोपसे मधुराके सदृश लक्षण भासते हैं। विशेषतः अकस्मात् शिरदर्द और दोनों वृक्कोंमें तीक्ष्ण वेदना उपस्थित होती है। सामान्यतः रक्तग्रन्थियोंकी उत्तेजना नहीं होती। जिह्वा मोटे मल युक्त भासती है, वेपन, शीत और स्वेदावस्था आती है। तीक्ष्ण आक्रमणमें मलेरियाके लक्षण भासते हैं। (इस प्रकारपर क्विनाइन कभी नहीं देना चाहिये)।

वेसिलस कोलाई (अन्त्रकृमि कीटाणुओं) का आक्रमण अनेक बार वृक्कालिन्द (Renal pelvis) के ऊपर होता है, फिर उसका प्रदाह (Pyelitis) होता है। विशेषतः यह विकार उष्ण कटिबन्धमें स्त्रियोंको होता है। उस स्थानमें वेदना होती है, दबानेपर वेदना अधिक भासती है। इसका परिणाम थोड़े ही दिनोंमें यह प्रतीत होता है कि, पेशाबमें एल्ब्युमिन, पूय कोषाणु और कभी रक्त आता है। उस समय पेशाबकी परीक्षा करनेपर वेसिलस कोलाई बड़ी संख्यामें मिल जाते हैं।

मूत्राशय प्रदाह, पेशाबकी अम्ल प्रतिक्रिया और उत्तापवृद्धि, ये प्रारम्भिक अवस्थाके लक्षण हैं। फिर रोगवृद्धि होनेपर मधुराके समान ज्वर उपस्थित होता है। इसमें उत्ताप घटकर ९७° तक और बढ़ कर १०२° से १०३° डिग्री तक हो जाता है। उपचार मूल कारण और लक्षणोंके अनुरूप किया जाता है।

(२) विष प्रवेशित प्रकुपित रक्त

(टॉक्सिमिया–Toxaemia)

विषोत्पादक कीटाणु या शल्य रक्तके बाहर किसी स्थान विशेष, गुहा या

स्तमें रहते हैं। रोगोत्पादक कीटाणु (Pathogenic bacteria) उत्तान भागमें हों या गम्भीरतर विधानमें हों, उनकी वंशवृद्धि होनेपर विष (Toxin) बढ जाता है, उसका रक्तमें शोषण होता है। फिर रक्तप्रवाहद्वारा फैल जाता है और रक्तवाहिनियोंद्वारा इतर अवयवोंमें भी विष पहुँच जाता है।

विष रक्तमें जितने अधिक परिमाणमें शोषित हो, उतना ही सन्निपातका उग्र रूप प्रतीत होता है। जिन अवयवोंमें कीटाणुओंका अड्डा हो, उसके विकृतिके अनुरूप विभिन्न लक्षण उपस्थित होते हैं एवं रोगाणु और उनके विषके प्रभाव भेदसे लक्षणोंमें विभिन्नता आ जाती है।

क्वचित् विष रक्तमें शोषित होनेके पश्चात् पुनः परिवर्द्धित नहीं होता और रोगनिरोधक शक्तिकी प्रबलता या योग्य उपचारके हेतुसे अनुकूल अवस्थाकी प्राप्ति हो जाती है। आक्रान्त स्थानकी स्थितिमें सुधार हो जाता है तथा आगे विषशोषण बन्द हो जाता है। परिणाममें रोगी स्वस्थ होने लग जाता है।

ये कीटाणु विशेषतः कण्ठरोहिणी (Diphtheria), नासागुहा प्रदाह (Inflammation of Nasal Sinus), गल ग्रन्थि प्रदाह (Tonsillitis), अन्त्रपुच्छ प्रदाह (Appendicitis), मासिकधर्मज विष (Poison from the menses) तथा गर्भज विष (Toxaemia of Pregnancy)(यह विशेषतः चयोपचयक्रियामें प्रतिबन्ध (Metabolic disturbance) के हेतुसे उत्पन्न होता है।) इनमें पाये जाते हैं।

इस विकारके कारण और गति भेदसे आशुकारी और चिरकारी २ प्रकार होते हैं।

आशुकारी प्रकार (Acute Toxaemia)—इस प्रकारमें न्यूनाधिक ज्वर, प्रलाप, अनिद्रा या मूर्च्छा, तन्द्रा, संन्यास आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। कभी धनुर्वात (Tetanus) मांसपेशी आकुञ्चन आदि भी प्रतीत होते हैं, रक्तवाहिनियां प्रसारित होने लगती हैं। तुरन्त योग्य चिकित्सा न होनेपर आगे रक्ताभिसरण क्रिया शिथिल हो जाती है। परिणाममें हृदयावरोध होकर रोगी प्राण मुक्त हो जाता है।

चिरकारी प्रकार (Chronic Toxaemia)—इस प्रकारमें प्रबल लक्षण उत्पन्न नहीं होते। कभी त्रिदोषकी प्राप्ति नहीं होती। मात्र अनियमित या सविराम ज्वर (Irregular Fever), अस्थिकला प्रदाह (Periostitis), संधिप्रदाह (Arthritis सांधे जकड़ना), पाण्डुता, कृशता और निर्बलता आदि उपद्रव उपस्थित होते हैं।

३. पूय विकृत रक्त

पायीमिया (Pyaemia)

निदान—इस प्रकारमें पूयका केन्द्रस्थान देहके किसी भी स्थानमें रहता

है। ये केन्द्रस्थान पक्व विद्रधि, अन्तर्विद्रधि, मज्जा प्रदाह (Osteomyelitis), मध्यकर्णप्रदाह (Otitis media), पूय प्रधान अन्त्रपुच्छ विद्रधि (Appendicitis), देहके किसी भी स्थानकी रक्तवाहिनीका पूय प्रदाह तथा पूतिजन्य संधिप्रदाह (Septic arthritis) आदि होते हैं। फिर उनमेंसे पूय (कीटाणु विष) फैलता है। यदि यकृत् या अन्नरसवाहिनीका पाक हुआ हो, तो यकृत् द्वारा या अन्नरसवाहिनी द्वारा फैलता है। बाह्य घावका विष हो, तो शिराओं-द्वारा और हृदयावरण प्रदाहज विष हो, तो धमनीद्वारा फैलता है।

इस रोगमें सामान्यतः क्षत स्थानसे देहके विभिन्न स्थानोंमें शल्य (दूषित पूयमय कोषाणु–Thrombus) रक्तवाहिनियोंमें जाकर अवरोध (Embolic Thrombosis) करते हैं, फिर वहाँपर भी पूयोत्पत्ति होने लगती है।

इस विकारमें विशेषतः समूहबद्ध कीटाणु होते हैं। क्वचित् जञ्जीर सदृश और अति क्वचित् अन्य जातिके होते हैं।

सार्वाङ्गिक लक्षण—सेप्टीसिमियाके सदृश अति प्रस्वेद, शीत और वेपन होते हैं। इस रोगमें बारम्बार ज्वर बढ़ता रहता है। एक दो दिनमें नेत्र और शरीर निस्तेज हो जाते हैं। जिससे अविराम ज्वरके सदृश लक्षण प्रकट होते हैं। अति तृषा, क्षुधानाश, उबाक, वमन, अतिसार, तन्द्रा, द्रुतनाड़ी, द्रुतश्वास, श्वासोच्छ्वासमें नासापुट प्रसारित होना, ज्वर १०५°–१०७° डिग्री तक बढ़ जाना, सन्धिस्थान प्रसारित और वेदनामय, रूक्ष त्वचा आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। विष प्रबल होनेपर रोगी कृश होता जाता है, रक्त धीरे-धीरे जलता जाता है, मृत्युके पहले मुखमण्डल अति निस्तेज, कृश, प्रतीत होता है, मनोवृत्ति विकृत होती है; कभी-कभी मन्द प्रलाप होता है, कभी आक्षेप होता है, कभी क्षणिक मूर्च्छा आती है। ये सब लक्षण भासते हैं।

स्थानिक चिह्न—स्थानिक विद्रधि, जहाँसे प्रथमावस्थाका शल्य (Embole) फैलता है, श्वासकृच्छ्रता, कास, रक्तमय थूक, फुफ्फुसावरणमें द्रवोत्पत्ति, हृदयावरणप्रदाह, दर्दमय प्लीहा वृद्धि, रक्तमेह (Haematuria), मस्तिष्कगत विद्रधि आदि उपस्थित होते हैं।

शिरा विद्रधिजन्य पूय ज्वरमें जानुसन्धिपर कुछ शोथ होता है; और चलनेमें कुछ अधिक वेदना होती है। जिह्वा सफेद और मोटी, शिरदर्द, शीत-वेपन सह ज्वरका आक्रमण उत्ताप १०१°–१०२° तक बढ़ना, नाड़ीगति १२० से १३० हो जाना और शेष लक्षण ऊपर कहे अनुसार प्रतीत होते हैं।

रोगविनिर्णय—विद्रधि निर्णय हो जानेपर रोगविनिर्णय सहज हो जाता है। रक्त-परीक्षामें कीटाणुओंकी अवस्थिति विदित होती है। वृक्कावरण विद्रधि

(Perinephric abscess) आदिमें कभी कभी रोगविनिर्णय सरलतासे नहीं होता ।

सन्निपात चिकित्सोपयोगी सूचना

समस्त सन्निपातोंमें चिकित्सा करनेके लिये आचार्योंने कहा है कि, "मृत्युना सह योधव्यं सन्निपातं चिकित्सता ।" अर्थात् सन्निपातकी चिकित्सा, यह मृत्युके साथ लड़ाई करना है । इसके चिकित्सार्थ निम्नानुसार उपचार करनेका शास्त्रमें दर्शाया है ।

"लङ्घनं वालुकास्वेदो नस्यं निष्ठीवनं तथा ।
अवलेहोऽञ्जनं चैव प्राक् प्रयोज्यं त्रिदोषजे ॥
सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफापहम् ।
पश्चाच्छ्लेष्मणि संक्षीणे शमयेत् पित्तमारुतौ ॥"

अर्थात् सन्निपातमें लंघन, बालुका स्वेदन, नस्य, निष्ठीवन, अवलेहन और अञ्जन, ये उपचार प्रथम करने चाहिये । इन उपचारोंद्वारा ज्वरमें आम और कफको नष्ट करनेके पश्चात् (कफके क्षीण होनेपर) पित्त और वातको शमन करना चाहिए । जब तक दोष साम अर्थात् कच्चे हों, तब तक ३ से १० दिन तक लंघन कराना अत्यन्त हितावह होता है ।

वात और कफका आधिक्य हो तो बालुका-स्वेद या अन्य सूखे पदार्थोंका सेक तथा वातोल्वण प्रकोपमें स्निग्ध सेक करना चाहिये । श्लेष्माको दूर करने के लिये नस्य, बेहोशी दूर करनेके लिये अञ्जन, कफको बाहर निकालनेके लिये निष्ठीवन (त्रिकटु और सैंधानमकको अदरकके रसमें मिला, मुँहमें भर-भर कर बार-बार थूकनेकी क्रिया) कराना चाहिये । हिक्का, श्वास, कास और कण्ठमें कफ भर जाना इत्यादिपर अवलेहन (अष्टाङ्गावलेह अदरकके रस या शहदके साथ चटाना) इत्यादि उपचार करना चाहिये । कतिपय आचार्योंने शहदको मक्खियोंका विष माना है, इस हेतुसे विषप्रकोपज सन्निपातमें शहद देनेका निषेध किया है ।

सन्निपात होनेपर प्रायः कोई लक्षण बढ़कर वह अन्य अनेक उपद्रवोंको उत्पन्न कर देता है । जैसे प्रबल वमनसे हिक्का, हिक्कासे श्वास, प्रस्वेदसे शीतदेह (शरीर शीतल होजाना), मल मूत्रावरोधसे आनाह, आनाहसे श्वासप्रकोप, काससे श्वास इत्यादि । इसलिये बलवान् लक्षणोंको बहुत जल्दी शमन करनेका प्रयत्न करना चाहिये । जिस तरह वातका अनुलोमन हो और अग्नि-बलकी वृद्धि हो, उस तरह चिकित्सा करनी चाहिये । उरःस्थान (छाती) में संचित कफको तरल बनाकर जल्दी बाहर निकालनेका प्रयत्न करना चाहिये । हो सके

तब तक कफको सुखानेका प्रयत्न न करें और न विरेचन औषधि ही देवें। आवश्यकता हो, तो मलशुद्धिके लिये एरंड तैलकी वस्ति अथवा ग्लिसरीनकी पिचकारी या बत्ती (Suppositoria Glycerini) का उपयोग करें।

यदि स्फोटक हो, तो पुल्टिस प्रयोग करना चाहिये; पूयपूर्ण विद्रधि होनेपर काटकर पूयको निकाल देना चाहिये।

वेदना अधिक होनेसे निद्रा न आती हो, तो अहिफेनका प्रयोग हितकर है किन्तु उदर शोधन करनेके पश्चात् अफीमका प्रयोग करना चाहिये।

उत्ताप अधिक होनेपर मस्तिष्कपर शीतल जल या बर्फकी पट्टी या शीतल जल धाराका प्रयोग करना चाहिये।

आम वातिक वेदना होनेपर लोहवानके फूलका सेवन करना चाहिये और अन्य आमवातिक ज्वरकी चिकित्सा करनी चाहिये।

दूषित रक्त होनेपर जलौकाद्वारा या सिंगी लगवाकर निकाल देना चाहिये।

शुद्ध वायु, शुद्ध वस्त्र, मकानकी शुद्धि और त्वचाको स्वच्छ रखना, देहको गीले वस्त्रसे पोंछना आदि स्वच्छताका आग्रहपूर्वक पालन करना चाहिये।

मूत्रमार्गका प्रदाह, मूत्र विकृति, मूत्रमें कीटाणुओंका होना आदि दोष निर्णित होनेपर पुनर्नवादि क्वाथके साथ शिलाजीत, यवक्षार, केलेका क्षार आदिकी योजना करनी चाहिये।

वातोल्वण सन्निपात चिकित्सा

१. २॥-२॥ तोले पञ्चमूलका क्वाथकर, निवाया रहनेपर दिनमें २ से ३ बार पिलावें।

२. कस्तूरी, केशर, लौंग, जायफल और पीपलको समभाग मिला, अदरकके रसमें २ दिन खरलकर, १-१ रत्तीकी गोलियाँ बनालें। फिर १-१ गोली अदरकके रस और शहदके साथ दिनमें २ से ३ बार देनेसे वात प्रकोप सत्वर शमन होता है।

(३) सुवर्णभूपति रस, सूतराज रस, वातेभकेसरी रस, कस्तूरी भैरव रस, कस्तूर्यादि वटी, हिंगुकर्पूर वटी, लक्ष्मीनारायण रस, कालारि रस, अर्कादि क्वाथ, देवदार्वादि क्वाथ, हरतालगोदन्ती भस्म, इनमेंसे दोष-बलका विचारकर अनुकूल औषधकी योजना करें।

सुवर्णभूपति विषके परिवर्त्तन और मस्तिष्क पोषणके लिये सहायक है। सूतराजमें बच्छनाभकी मात्रा अधिक है अतः हृदयगति अति प्रबल हो, तब व्यवहृत होता है। वातेभकेसरीमें अफीम है अतः कफ सुखाना हो, तब वह प्रयोजित होता है। कस्तूरीभैरव हृदयको उत्तेजना देनेका कार्य करता है और

आक्षेपको मिटाता है। कस्तूर्यादि वटी निद्रा ला देती है। अफीम प्रधान होनेसे कब्ज न हो, तो उपयोग करना चाहिये। आमाशय या अन्त्रसे वायुका शोषण होकर प्रलाप होता है और उदरमें वायु भरा हो, तो हिंगुकर्पूर वटी तुरन्त लाभ पहुँचाती है। लक्ष्मीनारायण शनैः शनैः दोष पाचन करानेमें उत्तम है। अर्कादि क्वाथ तीक्ष्ण वेगमें उपयोगी है, कफको बाहर निकालता है, तन्द्राको दूर करता है, स्वेद लाता है और आक्षेपको मिटाता है। अर्कादि क्वाथके साथ कालारि रस देनेसे सत्वर लाभ पहुँचता है। देवदार्वादि क्वाथ प्रलाप और धनुर्वातको सत्वर शमन करता है। वमन मिटाता है तथा आमाशय और अन्त्रका शोधन करता है। हरतालगोदन्ती विष और कीटाणुओंको नष्ट करती है।

पित्तोल्बण सन्निपात चिकित्सा।

पित्तोल्बण सन्निपातमें निम्नलिखित चिकित्सा करनी चाहिये :—

(१) **मुस्तादि क्वाथ**—नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खस, देवदारु, सोंठ, हरड़, बहेड़ा, आँवला, धमासा, नीलकी जड़, कपीला, निशोथ, चिरायता, पाठा, खरैंटीकी जड़, कुटकी, मुलहटी और पीपलामूल, इन १८ ओषधियोंको समभाग मिला, क्वाथकर पिलानेसे सन्निपात, मन्यास्तम्भ, हृदय, फँफड़े, पसली और शिरकी अकड़न आदि लक्षणों सह पित्तज सन्निपात दूर होता है।

(२) **परूषकादि क्वाथ**—फालसा, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), देवदारु, कायफल, लाल चन्दन, पद्माख, कुटकी और पृश्नपर्णी, इन १० औषधियोंका क्वाथ बना, शीतल कर पिलानेसे पित्तप्रधान सन्निपात शमन हो जाता है।

(३) तुलसीके स्वरसके साथ गोदन्ती भस्म, मुक्ता पिष्टी और सूतशेखर, लक्ष्मीनारायण रस, सूतशेखर रस और मधुरान्तक वटी, सुवर्णभूपति रस, तगरादि कषाय, इनमेंसे अनुकूल ओषधिकी योजना करनेसे शीघ्र ही पित्त-प्रकोपज लक्षणों सह सन्निपात शमन हो जाता है।

सौम्य लक्षण होनेपर गोदन्ती देवें। दोषको शनैः शनैः पचन कराना हो, तो लक्ष्मीनारायण और मधुरान्तक वटी मिलाकर देवें। वात पित्तके लक्षण हों तथा उग्रतासह विषज प्रलाप शमन करना हो तब सूतशेखर दें। यकृत्, आमाशय आदि स्थानोंकी विकृति प्रधान हो, तो सुवर्णभूपतिकी योजना करनी चाहिये। तीक्ष्ण प्रलाप हो, तो सूतशेखर तगरादि कषायके साथ देना चाहिये।

कफोल्बण सन्निपात चिकित्सा।

(१) **बृहत्यादि क्वाथ**—बड़ी कटेली, छोटी कटेली, पुष्करमूल, भारंगी,

कचूर, काकड़ासिंगी, धमासा, इन्द्रजौ, परवलके पत्ते और कुटकी, इन १० औषधियोंका क्वाथ कर, पिलानेसे कास आदि लक्षणों सह सन्निपात दूर होता है। + विशेषतः यह पित्तकफात्मक सन्निपातपर दिया जाता है।

(२) हरताल भस्म, हरताल गोदन्ती भस्म, अभ्रक भस्म, और शृंग भस्म मल्लभस्म, मल्लसिंदूर, समीरपन्नग, शीतभंजी रस, त्रैलोक्य चिन्तामणि, नारायण ज्वरांकुश, सूतराज रस, कालकूट रस, त्रिभुवनकीर्ति रस, संचेतनी वटी, संजीवनी वटी, कालारि रस, ये सब औषधियाँ हितावह हैं। इसमेंसे प्रकृति और रोगबलका विचार करके देनेसे कफोल्बण सन्निपात जल्दी शमन हो जाता है।

हरताल, हरताल गोदन्ती, मल्लभस्म, मल्लसिंदूर, समीरपन्नग, संचेतनी वटी ये सब कीटाणुनाशक हैं। कीटाणुओंके साथ कफको सुखाना हो तो मल्ल भस्म या मल्लसिंदूर और बाहर निकालना हो, तो समीरपन्नग दें। उत्तेजना देनेमें ये सब उपयोगी हैं, तथापि संचेतनी विशेष प्रबल है। किन्तु जिनका वृक्क स्थान सदोष हो, उनको मल्ल प्रधान औषध-मल्लभस्म, मल्लसिंदूर, समीर-पन्नग या संचेतनी नहीं देना चाहिये। उनको तत्काल उत्तेजना लानेके लिये कालकूट दिया जाता है।

कालकूट देनेपर नाड़ी सत्वर सुधर जाती है और हृदय उत्तेजित हो जाता है। त्रैलोक्य चिन्तामणि हृदय, फुफ्फुस, मस्तिष्क केन्द्र आदिको बल देने और उत्तेजित करनेमें उत्तम औषध है। नाडीमान्द्य, हृदय-शूल, बेहोशी, शीतलता आदिको सत्वर दूर करता है। विषको नष्ट करता है तथा शक्तिप्रदान करता है।

सामान्य दोष हों तब आम विषका पचन करा रोगको शमन करनेके लिये संजीवनी वटी तथा अन्त्रमें अधिक प्रकोप हो, तो कालारि रस दिया जाता है।

कफविकारको दूर करने और वातनाड़ियोंको उत्तेजना देनेके लिये अभ्रक, शृंग और मल्लमिश्रण दिया जाता है।

आम कफका पचन कराना हो और बढ़े हुए ज्वरको सत्वर कम कराना हो, तो त्रिभुवनकीर्ति रस हितकारक है।

जीर्ण कफाधिक सन्निपात पर—कफमें रक्त भी जाता हो, तो गदमुरारि रस, ब्राह्मी (जलनीम), वासा, अथवा दूर्वाके रसके साथ देना चाहिये।

वातपित्तोल्बण सन्निपात चिकित्सा।

(१) चातुर्भद्र क्वाथ—(चिरायता, नागरमोथा, गिलोय और सोंठका

+ बृहत्यौ पुष्करं भार्गी शटी शृङ्गी दुरालभा।
वत्सकस्य च बीजानि पटोलं कटुरोहिणी॥
बृहत्यादिर्गणः प्रोक्तः सन्निपातज्वरापहः॥ (च० चि० ३।२०९-२१०)

क्वाथ) देनेसे सन्निपात दूर हो जाता है।

(२) सूतशेखर रस, कस्तूरीभैरव रस, लक्ष्मीनारायण रस, इनमेंसे किसी एककी योजना करें।

प्रलाप, निद्रानाश, अतिसार आदि लक्षण हों, तो सूतशेखर; व्याकुलता और उत्तापको कम कराना और हृदयको बल देना हो, तो कस्तूरीभैरव रस; आमाशय और अन्त्रमें अवस्थित आम विषका शनैः शनैः शोधन और पचन कराना हो, तो लक्ष्मीनारायणकी योजना करनी चाहिये।

वक्तव्य—इस सन्निपातका विशेष विचार प्रलापक ज्वरकी चिकित्सामें आगे किया जायगा।

वात-कफोल्बण सन्निपात चिकित्सा

(१) अर्कादि क्वाथ या कट्फलादि क्वाथ दिनमें २ या ३ बार देनेसे दोष पचन होकर सन्निपातकी जल्दी निवृत्ति हो जाती है।

(२) त्रैलोक्य चिन्तामणि, त्रिभुवनकीर्ति रस, पञ्चवक्त्र रस, सूतराज रस, हेमगर्भपोटली रस, संचेतनीवटी, समीरपन्नग रस, कालारि रस, अचिन्त्यशक्ति रस, वातेभकेसरी रस और कस्तूरी भैरव, इनमेंसे प्रकृतिका विचार कर योजना करनेसे त्रिदोषज ज्वर नष्ट हो जाता है।

तन्द्रा, आक्षेप, धनुर्वात आदि लक्षण प्रबल होनेपर अर्कादि क्वाथ; कण्ठरोध, हिक्का, कर्णमूल शोथ आदि लक्षणोंमें कट्फलादि क्वाथ, अति शिथिलता, शक्तिपात और बेहोशी हो, तो त्रैलोक्य चिन्तामणि; वेदना शमन, अन्त्रशोधन और हृदयकी उत्तेजनाको दमन करनेके लिये त्रिभुवनकीर्ति, पञ्चवक्त्र या सूतराज रस; वातकेन्द्रको उत्तेजित करनेके लिये हेमगर्भपोटली या अचिन्त्य शक्ति रस (यह दिव्य औषधि है, किन्तु इसमें मल्ल है, सम्हालपूर्वक प्रयोग करें); वात केन्द्रकी शिथिलता और कफप्रकोप हो, तो सञ्चेतनी; कफको बाहर निकालनेके लिये समीरपन्नग; आमाशय और अन्त्रके आमविषको पचानेके लिये कालारि तथा कफको सुखाने और निद्रा लानेके लिये अहिफेन प्रधान वातेभकेसरी या कस्तूरीभैरव देना चाहिये।

विशेष उपचार वातश्लैष्मिक ज्वर (Influenza) में आगे लिखा जायगा।

पित्त-कफोल्बण सन्निपात चिकित्सा।

(१) पर्पटादि क्वाथ—पित्तपापड़ा, कायफल, कूठ, खस, रक्तचन्दन, नेत्रवाला, सोंठ, नागरमोथा, काकड़ासिंगी और पीपल, इन १० ओषधियोंका क्वाथ देनेसे पित्त-कफात्मक सन्निपात दूर हो जाता है।

(२) कालारि रस या संचेतनी वटी अर्कादि कषायके साथ दिनमें ३-३ समय देते रहनेसे दोष-पचन होकर रोग शान्त हो जाता है। विशेष उपचार आगे कर्कच सन्निपातमें लिखे जायँगे।

कण्ठकुब्ज सन्निपात चिकित्सा।

त्रिफलादि क्वाथ—त्रिफला, त्रिकटु, नागरमोथा, कुटकी, इन्द्रजौ, अडूसा और हल्दी, इन ११ ओषधियोंका क्वाथ करके पिलानेसे कण्ठकुब्ज ज्वर सत्वर शमन होता है।

सूतशेखर + प्रवालपिष्टी देवें। बनप्सा कषाय अति हितकारक है। मुँहमें बारबार ग्लीसरीन लगाना चाहिए। विशेष उपचार लक्षण अनुसार करना चाहिये।

अभिन्यास चिकित्सा।

(१) कारव्यादि कषाय—काला जीरा, पुष्करमूल, एरण्डमूल, त्रायमाण, सोंठ, गिलोय, दशमूल, कचूर, काकड़ासिंगी, धमासा, भारंगी, पुनर्नवा, इन २१ ओषधियोंको समभाग लें, ५ गुने गोमूत्रमें मिला, क्वाथकर पिलानेसे सब नाड़ियोंकी शुद्धि होकर घोर अभिन्यास ज्वर दूर होजाता है।

(२) द्वात्रिंशदाख्य क्वाथ और योगराज क्वाथ (ऊपर वात-पित्तकफोल्वण ज्वरमें कहा हुआ), ये दोनों सब प्रकारके सन्निपात ज्वरोंमें लाभदायक हैं।

अति शक्तिपात हो गया हो, तो त्रैलोक्यचिन्तामणि देवें, दाह विशेष हो, तो सूतशेखर + मुक्तापिष्टीकी योजना करें। वातकेन्द्रको उत्तेजना देनी हो, विशेष कफ न हो, तो हेमगर्भपोटली रस देना चाहिये।

सन्निपात चिकित्सामें हम विशेषतः वात और कफकी प्रधानतामें त्रैलोक्य-चिन्तामणि, त्रिभुवनकीर्ति, सूतराज, कालारि रस, सञ्चेतनीवटी (उत्तेजना देनी हो, तो), समीरपन्नग, इन ओषधियोंको अनुपान भेदसे उपयोगमें लेते हैं। अनुपान रूपसे अर्कादि क्वाथ, तगरादि कषाय, अष्टादशाङ्ग क्वाथ, द्वात्रिंश-दाख्य क्वाथका अधिक उपयोग करते हैं।

पित्ताधिकता होनेपर सूतशेखर, चन्द्रशेखर रस, बृहत्कस्तूरी भैरव, इनमेंसे किसी भी रसको उचित अनुपानके साथ देते हैं। चन्द्रशेखर श्लेष्मपित्त प्रकोपपर और शेष दो वात-पित्त प्रकोपपर हितावह हैं। चन्द्रशेखरका पाठ रसतंत्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रह द्वितीय खण्डमें है।

उपद्रवोंके शमनार्थ अंजन, निष्ठीवन, नस्य, अवलेह आदि आवश्यक क्रियायें भी साथ-साथ करते रहना चाहिए। उन्माद, प्रलाप, निद्रानाश, उष्णताकी अतिवृद्धि, शीताङ्ग, हृदयावरोध, कण्ठावरोध, मल-मूत्रावरोध आदि मारक

उपद्रवोंपर पहले लक्ष्य देना चाहिये। अच्छी निद्रा आजानेपर उन्माद, प्रलाप, आमवृद्धि आदि अनेक दोषोंकी शान्ति हो जाती है। मलावरोध हो, तो उसे प्रारम्भमें ही वर्ति या वस्तिसे एरण्ड तैल चढ़ाकर दूर कर देना चाहिये। बद्ध-कोष्टता जब तक रहेगी, तब तक विष शमन नहीं हो सकेगा।

सूचना—एक औषध देनेसे थोड़े समय बाद उसकी विरोधी दूसरी औषध न दी जाय, इस बातको अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये।

आमपाचनार्थ—सूतराज रस, पिप्पल्यादि क्वाथ या आरग्वधादि क्वाथ (दूसरी विधि) पंचकोल मिलाकर दें।

हाथ, पैर, जंघा, ऊरु आदि स्थानोंपर बालुका-स्वेद करें। यदि आमाशय आम और कफसे आवृत्त हो, तो आमाशयपर रूक्ष स्वेद देवें।

वातावरण शुद्धिके लिये—अपराजित धूप, सहदेव्यादि धूप, जन्तुघ्न धूप, इनमेंसे किसी एकका उपयोग करें।

वातशूल पर—यदि आमाशयमें वातप्रकोप हो, तो तार्पिन तैल लगाकर गरम जलसे सेक करें। लघु अन्त्र (पक्वाशय) और मूत्राशय (बस्तिस्थान) में वात भर जानेसे आनाह, कोष्ठशूल, मल-मूत्रावरोध आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। वहाँ पर तार्पिन तैल लगाकर निवाये गरम जलसे सेक करें। पार्श्व और हृदयमें शूल हो, तो उन स्थानोंपर भी इसी तरह सेक करें। किन्तु हृदयपर अधिक सेक न करें।

फुफ्फुस आदि भागमें कफप्रकोप हो, तो पुराना घी, अदरकका रस और कपूर मिला, गरम कर मालिश करें। फिर आकके पत्ते बांध, गरम जलसे सेक करनेसे संचित श्लेष्मा सरलतासे छूटकर बाहर निकल जाता है। इस तरह कण्ठपर भी उपचार कर सकते हैं।

तन्द्रा—आमाशयमें आम और कफप्रकोप बढ़ जानेके पश्चात् जब कफ वायुके मार्गका रोध कर शिरोहृदयकी धमनी (वात वाहिनियों) में प्रवेश करता है, तब तन्द्राकी उत्पत्ति होती है। तन्द्रावाले रोगीके नेत्र आधे बन्द रहते हैं, पुतलियाँ फिरती हैं; नेत्रस्राव होता रहता है, पलक स्थिरसे हो जाते हैं, मुख खुला रहता है। अतः युक्तिसे इसे दूर करना चाहिये। ३ दिनके भीतर प्रयत्न किया जाय तो तन्द्रा रोग साध्य होता है, इसके पश्चात् अति कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है।

तन्द्रा शमनार्थ—छोटी कटेली, गिलोय, पुष्करमूल, सोंठ और हरड़का क्वाथ करके पिलावें।

तन्द्रा, मूर्च्छा और बेहोशीमें नस्य—श्वासकुठार रस या शीतभंजी रस

(प्रथम विधि) अथवा सफेद मिर्च, सरसों, कूठ और सैंधानमकको बकरेके मूत्रमें पीसकर नस्य दें। ये सब नस्य कफको बाहर निकालकर बेहोशी शमन करने वाले हैं।

सूचना—मस्तिष्क और हृदय यदि निर्बल हो, या मस्तिष्कमें उष्णता पहुँचनेसे शुष्कता आगई हो, तो इन तीक्ष्ण नस्योंको प्रयोगमें नहीं लाना चाहिये। सरसोंके तैलमें लहसुनका स्वरस मिला हुआ नस्य या और कोई स्निग्ध नस्य दें।

तन्द्रामें अंजन—(१) मैनसिल और बचको लहसुनके रसमें महीन पीस कर नेत्रमें अञ्जन करें।

(२) अञ्जन रस अथवा प्रचेता नाम गुटिकाको जलमें घिसकर अञ्जन करें।

(३) मैनसिल, पीपल और हरतालको पीसकर अञ्जन करें।

(४) लोहभस्म, गोरोचन, कालीमिर्च और सफेद लोधको जलमें घिसकर अञ्जन करनेसे तन्द्रा दूर होती है।

तन्द्रामें पट्टी—रोगीके नेत्र निस्तेज-रक्तशून्य हों और निद्रा या तन्द्रा अधिक हो, तो शिरके आगेके हिस्सेके बाल कटवाकर अदरकके रसकी या हींगके जलकी पट्टी लगावें। जब तक नेत्रमें लाली (रक्त) न आ जाय, रोगीको चेतना न व्यापे, तब तक पट्टी रखें।

तन्द्रामें रोटिका बन्धन—लहसुन, राई और सुहिंजनेके बीज प्रत्येक १०-१० तोले लेकर गोमूत्रमें खरल करके रोटी बना लें। इस रोटीको तवेपर घी लगाकर एक ओरसे सेक, मस्तकके बाल दूर कर, घी चुपड़ कर गरम-गरम बांधें, चेतना होनेपर रोटीको खोल लेवें। यदि १ घण्टेमें चेतना न आवे तो उस रोटीको खोल, पुनः दूसरी रोटी बाँधनी चाहिये। ऊपर कही हुई पट्टीकी अपेक्षा यह रोटिका अति तीव्र है। जहाँ पट्टीसे लाभ होता हो, वहाँपर रोटीका उपयोग नहीं करना चाहिये।

तन्द्रापर पेटमें देनेकी औषधियाँ—अर्कादि क्वाथ, त्रैलोक्यचिन्तामणि, प्रतापलंकेश्वर रस, संचेतनी वटी, हेमगर्भ पोटली, कस्तूरी भैरव रस, सूतराज रस, हिंगुकर्पूर वटी (रसतन्त्रसार दूसरा खण्ड), इनमेंसे अनुकूल औषधको प्रयोगमें लानेसे सत्वर शुद्धि आ जाती है।

दाँत खोलनेके लिए—आधा या एक मिनट श्वासोच्छ्वासको बन्द करनेसे अर्थात् नाकको दबानेसे दाँत खुल जाते हैं।

बेहोशीमें सूची भेद—शिरपर १ इञ्च जितने भागमें उस्तरेसे बाल निकालकर, थोड़ा घावकर सूचिकाभरण रस वा लघु सूचिकाभरण रसको

सकता हो, तो रुईकी फुरैरीसे पोंछकर निकाल लेना चाहिये।

हिचकीपर—मोरपङ्खके चन्दलोंकी भस्म, ताम्र भस्म (हालोंके क्वाथके साथ), हिक्कान्तक रस, इनमेंसे एकको प्रयोगमें लावें; या साँपकी हड्डियोंकी भस्म ४-४ रत्ती जलके साथ देनेसे हिक्का शमन हो जाती है।

प्रदाह जनित हिक्का हो, तो मारक लक्षण माना जाता है। उत्तेजना जनित हिक्का हो, तो उग्रता शामक औषध कनकासव आदि; स्वतः जात हिक्का-पर सोंठका क्वाथ आदि; सेन्द्रिय विषसंचयजनित होनेपर विषशामक और रक्तशुद्धिकर हिक्कान्तक रस; वात संस्थानकी विकृति हेतु हो, तो वातशामक योगेन्द्र रस, आम मल संग्रह जनित होनेपर आरोग्य वर्द्धिनी आदि औषध भी व्यवहृत होती हैं।

वात कफोल्बणमें उष्णता कम करनेके लिये—त्रिभुवनकीर्ति रस, महा-ज्वरांकुश रस (तीसरी विधि), कट्फलादि क्वाथ, सञ्जीवनी वटी, जया अथवा जयंती वटी, सूतराज रस, कालारि रस, इनमेंसे अनुकूल औषधका उपयोग करें। त्रिभुवन कीर्ति और सूतराजमें अधिक बच्छनाभ होनेसे पसीना आकर उष्णता सत्वर कम हो जाती है।

पैत्तिक प्रकोपमें उष्णता और दाह शमनके लिये—सूतशेखर रस, चन्द्र-कला रस, मौक्तिक पिष्टी, प्रवाल पिष्टी और दिवालमुश्क, ये सब हितावह हैं। सूतशेखर वात-पित्त प्रकोपको शमनकर मस्तिष्कको शान्त बनाता है। चन्द्र-कला रस रक्तस्राव, दाह तथा रक्तकी उष्णता और विकृतिको दूर करता है। शेष तीनों पित्तप्रकोपजनित निद्रानाश, मुखपाक, दाह, व्याकुलता, उन्माद, नेत्रस्राव आदि विकारोंको दबा देते हैं।

अति बढ़े हुए ज्वरकी तीव्रता कम करनेके लिये डाक्टरीमें निम्न ओषधियाँ उपयोगमें ली जाती हैं:—

एस्पिरीन (Aspirin)	५ से १५ ग्रेन
फेनासिटीन (Phenacitin)	५ से १० ग्रेन
एण्टीफेब्रीन (Antifebrin)	२ से ५ ग्रेन
एण्टीपायरीन (Antipyrine)	५ से १० ग्रेन

ये ओषधियाँ सत्वर प्रस्वेद लाकर तापको उतार देती हैं। इन ओषधियोंमें ज्वरघ्न, पीड़ाशामक, शान्तिदायक, स्वेदल और निद्रा लानेका गुण है, किन्तु ये बलात्कारसे उत्तापको कम कराती हैं; तथा इनमें तीव्र हृदयावसादक दोष भी रहा है। अतः इनका उपयोग न किया जाय तो अच्छा, अन्यमार्ग न होनेपर उप-योग करना पड़े तो सम्हालकर करना चाहिये। यदि इनमेंसे किसीका उपयोग करना हो, तो केफीन साइट्रास (Caffein Citras) २ से ५ ग्रेन (हृदय-

पौष्टिक औषध) मिला देना अच्छा है । एण्टीफेब्रीन और एण्टीपायरीन तत्काल गरमी कम कर देते हैं। अतः इनकी अपेक्षा एस्पिरीन और फेनासिटीन अच्छी मानी जायँगी। वे २ घण्टेमें उष्णताको कम करती हैं। इस बातका भी लक्ष्य रखना चाहिये कि उष्णता अधिक न्यून न हो जाय; इस हेतुसे कम मात्रामें उपयोग करें।

उष्णता शमनार्थ मालिश—कपूर, सफेद चन्दन और नीमके पत्तोंको मठ्ठेके साथ पीसकर लेप करें या बकरीके दूधकी मालिश करें।

पित्त प्रकोप हो तो—(१) शिरपर शत धौत घृत १०-२० तोले चुपड़ दें। घृत पिघलनेपर पोंछले। इस तरह बार-बार लगाते हैं।

(२) पित्तप्रधान सन्निपातमें गरमी १०४ डिग्रीसे ऊपर चढ़ी जानेपर शिर पर गुलाबजल या सिरकेकी पट्टी या बर्फकी थैली रखें।

(३) जब उष्णता १०४ से १०८ डिग्री तक पहुँच जाती है, तब उष्णताको जल्दी शमन करनेके लिये रोगीको कपड़ा ओढ़ा दें। केवल नाभिका थोड़ा भाग और नासिकाका भाग खुला रखें। पीछे कांसीकी कटोरीमें शीतल जल भरकर नाभिपर रखें। आध घण्टेमें प्रस्वेद आकर गरमी कम हो जाती है।

(४) कोहनीसे नीचे दोनों हाथ और घुटनोंसे नीचे दोनों पैरोंको निवाये जलमें डुबोये हुए कपड़ेसे पोंछते रहनेसे भी उष्णता न्यून हो जाती है।

मुँहमें छाले हों तो—गूलरका दूध २-३ बूँदें लगावें।

नाकसे या मुँहसे रक्त गिरनेपर—मिश्री मिले हुए अनारके फूलोंका रस १०-१० बूँदें नाकमें डालें और चन्द्रकला रस या सूतशेखरका सेवन करावें।

रक्त वमनपर—सूतशेखर दाड़िमावलेहके साथ दें, अथवा प्रवाल पिष्टी या मौक्तिक पिष्टी, गिलोय सत्व और शहदसे दें।

मुखपाक पर—बिजौरे नीबूका रस, सैंधानमक, पीपल, अदरक और काली मिर्चको मिला, पीसकर मुखमें धारण करने या जिह्वापर मलनेसे वात-कफ दोषसे मुँह सूखना, अरुचि और चिपचिपापन आदि दूर होकर मुँहमें रुचि उत्पन्न होती है तथा जिह्वा और कण्ठमें रहा हुआ कफ भी दूर होजाता है।

जिह्वा विकृतिपर—जिह्वा शुष्क होकर फट गई हो, तो किसमिस या मुनक्काको शहदके साथ पीस, गोघृत मिला, जिह्वापर मालिश करनी चाहिये।

यदि जिह्वामें जड़ता आजानेसे बोलनेकी या स्वाद जाननेकी शक्ति नष्ट हो गई हो, तो त्रिकटु, आँवला, सैंधानमक और तैल मिलाकर जिह्वापर मलें और पहले लिखी हुई निष्ठीवन क्रिया करें।

जिह्वापर काँटे आनेपर सोनामुखी (सनाय) के चूर्णको शहदमें मिलाकर

मलनेसे काँटे और रूक्षता दूर होकर जिह्वा मुलायम बनती है।

मूत्रावरोधपर —(१) गोखरूके क्वाथमें शुद्ध शिलाजीत या जवाखार मिला कर पिलावें; या अनन्तमूलके मूलत्वक्‌की चाय बनाकर पिलावें।

(२) रबरकी नलीसे मूत्र निकाल लें।

(३) कलमीशोरा और नौसादरको शीतल जलमें डाल, कपड़ा भिगो, नाभिके नीचे बस्ति स्थानपर रखनेसे सत्वर मूत्रशुद्धि हो जाती है।

आधा अङ्ग उष्ण और आधा अङ्ग शीतल हो जाय तो—कचित् हाथ पैर शीतल और शेष शरीर गरम होता है या हाथ पैर गरम और शरीर ठण्डा हो जाता है, अथवा कमरसे नीचेका भाग शीतल तथा ऊपरका उष्ण होजाता है। तब हेमगर्भपोटली, द्राक्षासव, अभ्रक भस्म, ६४ प्रहरी पीपलके साथ; त्रैलोक्य चिन्तामणि, जयमङ्गल रस, संचेतनी वटी, कट्फलादि क्वाथ, इनमेंसे अनुकूल औषध थोड़ी-थोड़ी मात्रामें २-२ घण्टेपर बार-बार देते रहें। विशेषतः ऐसे समय पर मस्तिष्ककेन्द्र और हृदयको उत्तेजना देनेवाली औषध देनी चाहिये। पूर्ण-चन्द्रोदय और रससिन्दूर आदि भी लाभदायक हैं।

शीतांग होनेपर उष्णता बढ़ानेके लिये—(१) कालकूट रस, संचेतनी वटी, अचिन्त्यशक्ति रस, हेमगर्भपोटली रस, समीरपन्नग, हरताल भस्म, मल्ल भस्म, मल्ल सिन्दूर, इनमेंसे अनुकूल ओषधियोंका उपयोग करें। कालकूट रस शरीरमें बहुत जल्दी उष्णता बढ़ा देता है। संचेतनी वटी हृदयको उत्तेजना देती है और उष्णता भी बढ़ा देती है। हेमगर्भपोटली रस उष्णता उत्पादककेन्द्रको सबल बनाकर उष्णता बढ़ाता है और रोगीको सचेत करता है। मल्लसिंदूर आदि भी उष्णतावर्धक और कफघ्न हैं।

(२) हाथ, पैर और पार्श्वमें गरम जलकी बोतलसे सेक करें।

प्रस्वेद लानेवाली ओषधियाँ—(१) चाय या काफी सोंठ मिलाकर तैयार करें। फिर निवाथी रहनेपर छान कर पिला देवें और मोटे कपड़े ओढाकर सुला दें तो खूब प्रस्वेद आ जाता है।

(२) सफेद पुनर्नवाकी मूल या काली अनन्तमूलकी जड़ १ तोलेका क्वाथ कर पिला देनेसे प्रस्वेद आजाता है और पेशाब साफ होकर ज्वर दूर होजाता है।

(३) अर्कादि क्वाथ देनेसे प्रस्वेद आकर तन्द्रा, शीत, दाँत भिचना और धनुर्वात आदि उपद्रव दूर होते हैं।

(४) त्रिभुवनकीर्ति रस १ रत्तीको अदरकके रस और शहदके साथ देनेसे वातश्लेष्म सन्निपातमें आध घण्टेमें ही प्रस्वेद आने लगता है; हृदयकी बढी हुई गति मन्द होती है; पेशाब साफ होता है और बेचैनी कम हो जाती है।

वातिक प्रलाप शमनके लिये—प्रलापहर लेप।

पैत्तिक प्रलाप शमनार्थ—यदि अत्यन्त उष्णता बढनेसे प्रलाप, प्यास, पूर्ण बलयुक्त वेगवती नाड़ी, उष्ण और शुष्क त्वचा तथा नेत्रमें खूब लाली हो, तो शिरपर शतधौत घृतका लौंदा (लम्प Lump) रखें। पिघलनेपर उसे निकाल दूसरा रखें। इस प्रकार कई बार शतधौत घृतके मोटे-मोटे लेपसे प्रलाप शमन हो जाता है।

निद्रानाश—इसको प्रबल उपद्रव समझना चाहिये। निद्रा अच्छी मिल जाय, तो रोग-बल सहज कम हो जाता है। निद्रा न आनेसे अच्छी औषध देनेपर भी रोग-बल घट नहीं सकता। इस हेतुसे इस उपद्रवको सत्वर दूर करना चाहिये।

निद्रा उत्पादक अञ्जन—मुगलाई एरण्डके फलको लेकर घीकी बत्तीपर सेक, ऊपरसे छिल्का निकाल, पीस, ३ रत्ती कस्तूरी मिला, उसमेंसे थोड़ा अञ्जन करें। यदि प्रलाप शमन न हो और आवश्यकता हो, तो एक घण्टे बाद पुनः अञ्जन करें।

निद्रा लानेके लिये—

१—पैरोंके तलपर काँसीकी कटोरीसे घीकी मालिश करें।
२—भांगको बकरीके दूधमें पीसकर लेप करें।
३—भुनी हुई भांगका चूर्ण शहदके साथ शामको खिलावें।
४—पीपलामूलका चूर्ण ३ से ६ माशेतक गुड़में मिलाकर शामको खिलावें।
५—घी या एरण्ड तैलको काँसीकी थालीमें काँसीकी कटोरीसे घोटकर अञ्जन करनेसे निद्रा आ जाती है।

इनके अतिरिक्त कुछ उपाय पहले ज्वरके प्रारम्भमें लक्षणोंकी चिकित्सामें लिखे हैं।

एलोपैथी मत अनुसार रक्तमें विषवृद्धि (टॉक्सिमिया Toxaemia) जनित प्रलाप, उन्माद और निद्रानाश आदि उपद्रव होनेपर निद्रा लानेके लिये निम्न ओषधियोंका उपयोग करते हैं:—

क्लोरल हाइड्रास	Chloral Hydras	५ से २० ग्रेन
पोटासियम ब्रोमाइड	Pottassium Bromide	१० से ३० ग्रेन
सोडियम ब्रोमाइड	Sodium Bromide	१० से ३० ग्रेन
एमोनियम ब्रोमाइड	Ammonium Bromide	१० से ३० ग्रेन
एस्पिरिन	Aspirin	५ से १५ ग्रेन

इनमेंसे एमोनियम ब्रोमाइड कफघ्न, स्वेदल, कुछ उष्ण और निद्रा उत्पादक है, तथा हृदयकी गतिको अधिक मन्द नहीं करता। शेष सब हृदयको हानि

दिन पूरे हो जानेपर हो, तो साध्य माना जाता है ✽ मुद्दती ज्वरके अन्तमें होने वाले कर्णशोथ वाले रोगी बच जाते हैं।

कर्णमूल चिकित्सा—पहले शोथ मिटानेके लिये विम्लापन क्रिया करें। यदि उतनेसे शोथ विलीन न हो, तो जलौकाद्वारा रक्तमोक्षण करें। फिर भी कदाचित् पाक होने लगे, तो पकानेके लिये पुल्टिस आदि क्रिया करें। अन्तमें प्रतीसारणीय क्षार या शस्त्र चिकित्साद्वारा पीप निकालकर मल्हम आदिकी पट्टी लगावें।

कर्णमूलशोथहर लेप—१. रास्ना, सोंठ, बिजौरेकी छाल, चित्रकमूल, दारुहल्दी और अरणीको समभाग मिला, जलके साथ पीस, लेप करनेसे कर्ण-मूल शोथ बैठ जाता है।

२. गेरू, सज्जीखार, सोंठ, बच और राईको काँजीमें पीस, गरमकर, बार-बार लेप करते रहनेसे शोथ शमन हो जाता है।

३. कुलथी, कायफल, सोंठ, काली जीरी, सबको समभाग मिला, अदरकके रस या थूहरके पत्तोंके रसमें पीस, गरम-कर निवाया लेप करें। सूख जानेपर उसको उतार नया लेप करें। इस रीतिसे बार-बार लेप करते रहनेसे जल्दी पाक होकर फूट जाता है।

४. हल्दी, इन्द्रायण, कूठ, सैंधानमक, देवदारु और हिंगोटकी मूलको आकके दूधमें पीस, निवायाकर, शोथ बैठानेके लिये लेप करें।

५. सोंठ, देवदारु, रास्ना और चित्रकमूलका लेप करनेसे शोथ शमन हो जाता है।

६. कर्ण शोथहर लेप (दूसरी विधि) लगानेसे शोथ शमन हो जाता है।

७. बच्छनाभको नींबूके रसमें घिसकर दिनमें ३-४ समय लेप करनेसे शोथ उतर जाता है।

८. अलसी २ तोले, सिंदूर ३ माशे, कपूर १ माशा और १ अण्डेकी सफेदी लें। पहले अलसीको कूट, जल मिलाकर उबालें, पक जानेपर नीचे उतार, सिंदूर और कपूर मिलावें फिर अण्डेकी सफेदी मिला, लेप तैयार करें। इस लेपको कपड़ेकी पट्टीपर थोड़ा-थोड़ा लगाकर शोथपर लगा दें। आवश्यकतापर ६-६ घण्टेपर बदल दें। २-३ समय लेप लगानेसे शोथ शमन हो जाता है।

९. पहले स्वेदन कर फिर जौंक लगवाकर दूषित रक्त निकाल डालें। फिर ऊपर लिखे हुए लेपका प्रयोग करनेसे सत्वर लाभ हो जाता है।

✽ ज्वरस्य पूर्वं ज्वरमध्यतो वा ज्वरान्ततो वा श्रुतिमूलशोथः।
क्रमादसाध्यः खलु कष्टसाध्यः सुखेन साध्यः मुनिभिः प्रदिष्टः॥

१०. कर्णमूलकी गाँठ बढ़ती और पकती होवे, तो अलसीके आटेमें थोड़ा दूध मिला, गरमकर, पुल्टिस बनाकर लगावें। इस रीतिसे दिनमें ८-१० समय पुल्टिस लगावें, या चौलाईकी जड़को दूधमें पीसकर लेप करते रहें। पकनेपर प्रतिसारणीय क्षार लगा या ऑपरेशनकर पीपको निकाल देवें। पश्चात् निम्बादि मल्हम, व्रणामृत मल्हम, जात्यादि घृत, या कोशातक्यादि तैलकी पट्टी लगाते रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें घाव साफ हो जाता है।

(११) कर्ण शोथ, कफ प्रकोप, स्वर भेद और हनुग्रह आदिके शमनार्थ कट्फलादि कषाय पिलाते रहनेसे भीतरसे संशोधन क्रिया होने लगती है।

जीर्ण सन्निपात चिकित्सा।

जब त्रिदोषज ज्वरमें चिकित्सा योग्य नहीं होती, या पथ्य पालन करनेमें भूल होती है, या आन्तरिक शक्ति अधिक निर्बल होती है, तब मुद्दत पूरी होने पर भी रोग दूर नहीं होता। तीव्र स्वरूप दूर होकर जीर्ण बन जाता है; और रोगीको १-२ मास तक दुःख देता रहता है। ऐसे समयपर चिकित्सा निम्नानुसार की जाती है।

दोषपचन और मलशुद्धि अर्थ—लक्ष्मीनारायण रस, त्रिवृतादि कषाय, गदमुरारि रस, आरग्वधादि क्काथ, इनमेंसे अनुकूल औषध देते रहनेसे जीर्ण सन्निपातमें दोषपचन होता है। ये ओषधियाँ सन्निपात जीर्ण होनेपर आँतोंमें आम और मल भरा हो, तब दी जाती हैं।

लक्ष्मीनारायण लीन मलको पचन करता है; आमाशय और अन्त्रमें मल शेष रहनेपर गदमुरारि दिया जाता है। आरग्वधादि क्काथ (प्रथम विधि) सेवनसे भी उदर शुद्धि होती है; त्रिवृतादि कषाय अधिक क्रूर कोष्ठवालोंको दिया जाता है। जब तक केवल लक्ष्मीनारायणसे कार्यसिद्धि हो सके, तब तक भेदन औषधका प्रयोग न करना अच्छा माना जायगा। गदमुरारि, आरग्वधादि क्काथ या त्रिवृतादि कषायका उपयोग करना पड़े तो कमसे कम मात्रामें और कम समय करना चाहिये।

यकृत्प्लीहाकी वृद्धिसह जीर्ण सन्निपातपर—(१) महाज्वरांकुश रस (दूसरी या तीसरी विधि) मेंसे एकको पीपल, जीरा और शहदके साथ प्रयोगमें लावें। या जयमङ्गल रस, लक्ष्मीविलास रस (अभ्रक युक्त), सुवर्णभूपति रस, इनमेंसे अनुकूल औषध देनेसे जीर्ण सन्निपात दूर हो जाता है। ज्वरकी अधिकतामें जयमङ्गल रस अधिक हितकर है। वातवहानाड़ियोंमें विकृति हो, तो सुवर्णभूपति रस दें। हृदयकी निर्बलता अधिक हो, तो लक्ष्मीविलास रस देवें।

सूचना—पीनेके लिये विना औटाया जल कदापि न दें; तथा दूषित कफ-दोष नष्ट होनेके पहले कुछ भी खानेको न दें।

कम्प और प्रलाप आदि वातप्रकोप होनेपर भी बृंहण-चिकित्सा (घृतपान) नहीं करना चाहिये।

दाह और प्यास शमनके लिये शीतल जल नहीं पिलाना चाहिये।

दोषपचन हो जानेपर धमासा, गोखरू और छोटी कटेलीके क्वाथमें सिद्ध किया हुआ यूष देना चाहिये।

पसीना आता हो तो उसे बहुत जल्दी बन्द करना चाहिये।

निद्रानाश और तन्द्रा हो तो मारक उपद्रव समझकर सबसे पहले उनको दूर करनेका उपाय करना चाहिये।

ज्वरके लक्षणोंकी विशेष चिकित्सा ज्वरचिकित्साके प्रारम्भमें लिखी है; इसलिये यहाँ पुनः नहीं लिखी।

सन्निपातकी एलोपैथी मतमें चिकित्सा।

मूत्र मार्गके प्रदाहसे ज्वर उपस्थित होनेपर कडुवे बादामके तैलके तेजाब (Mendelic acid) के क्षार (Ammonium Mandelate) का विशेष उपयोग होता है। यह क्षार १ से २ ड्राम दिनमें ३ बार भोजनके पश्चात् दिया जाता है। जब तक ४० औंस पेशाब न हो तब तक देते रहते हैं। इस उपचारसे अन्त्रकृमि (बेसिलस कोलाय) जनित वृक्कालिंद प्रदाहमें लाभ पहुँच जाता है।

कुछ वर्षोंके पहले सेन्द्रिय विषज, बाह्य कीटाणुके मलजनित और पूय जनित सन्निपात होनेपर नव्य रासायनिक औषध M & B 693 अथवा सल्फा-पाइरीडाइन (Sulphapyridine) प्रयोजित होती थीं। ये आशुफलप्रद मानी जाती थीं। किन्तु वर्तमानमें उनके दोषके कारण उनके उपयोगपर प्रतिबंध लगाया गया है।

वेदना अधिक हो और निद्रा न आती हो, तो बहुधा परलडीहाइड प्रयो-जित होती है।

क्षतपाक हुआ हो, तो उसे धोना, पूय निकालना, शुद्ध करना और योग्य उपचार करना चाहिये। पूय ज्वरके तीन प्रकार दर्शाये हैं। बल बढ़नेपर सब असाध्य हो जाते हैं। फिर भी प्रबल विष प्रकोप न हो, तो रोगीके बच जानेकी आशा रख सकेंगे।

अन्नरसवाहिनीके विद्रधि १ से ६ सप्ताहमें और धमनी विद्रधिजन्य पूय ज्वर कुछ सप्ताहमें मार देता है। शिरा विद्रधिजन्य पूय ज्वरवाले कुछ सप्ताहों तक जीवित रहते हैं। इस विकारमें विविध भागोंमें विद्रधियां होजानेपर

जीवनकी आशा छूट जाती है। वर्तमानमें इसके लिये पेन्सिलीनके अन्तः क्षेपणका अत्यधिक उपयोग हो रहा है।

(९) आगन्तुक ज्वर।

(एडवेएटीशियस फीवर-Adventitious Fever)

इस ज्वरकी उत्पत्ति अभिघात, अभिचार, अभिशाप और अभिषङ्ग, इन आगन्तुक कारणोंसे होती है। अतः इसको आगन्तुक ज्वर कहते हैं।* इस ज्वरमें अन्य रोगोंके सदृश पहले दोष प्रकोप नहीं होता; किन्तु अभिघात आदि हेतुसे केवल रोगोत्पत्ति होकर फिर कारणानुरूप दोष प्रकोप होते हैं। कारण भेदसे इस ज्वरके मुख्य ४ विभाग हैं।

(१) अभिघातज ज्वर (ट्रामेटिक फीवर-Traumatic Fever)-शस्त्र, पत्थर, मुक्का, लकड़ी आदिकी चोट या अग्निसे जलना, मशक आदिके दंश इत्यादिसे आने वाला ज्वर। अकस्मात् गिर जाना, मार्गगमन या अधिक परिश्रमसे ताप आ जाय, वह भी अभिघातज कहलाता है।

(२) अभिचारजज्वर (Incantational Fever)—दुश्मनोंके प्रेरित दुष्ट संकल्प (मारण, उच्चाटन आदि कर्म) से आनेवाला ज्वर।

(३) अभिशापज ज्वर (Imptecational Fever)—ब्राह्मण गुरु, वृद्ध, सिद्ध आदि या पीड़ितोंके शापसे होनेवाले ज्वरको अभिशापज ज्वर कहते हैं।

(४) अभिषंगज ज्वर (Infectious &Nervous Fever)—जहरी वृक्षोंकी वायुका स्पर्श, जहरी या विष मिश्रित ओषधियोंकी गन्ध, सविष कीटाणुओंका स्पर्श, काम, क्रोध, भय, शोक आदि हेतुओंसे या भूतोंके आवेशसे इस ज्वरकी उत्पत्ति हो जाती है। न्यूमोनिया, मलेरिया, टाईफाईड आदिके समान अभिषंगज ज्वरोंको भी कीटाणुजन्य माना जाता है।

आधुनिक विद्वान् भूतोंको नहीं मानते, वे तो कीटाणुओंके संस्पर्शसे उत्पन्न मानस रोग विशेष कहते हैं। किन्तु-मन्त्र आदि उपचारसे सत्वर शांति; और औषध सेवनसे कुछ भी लाभ न होना, ऐसा अनेक समय देखा गया है। यदि केवल मानसिक विकृति ही होती, तो औषधसे भी सर्वत्र लाभ हो जाता।

अन्य ज्वरोंमें पहले दोषप्रकोप होता है और बादमें ज्वर आता है; किन्तु इन आगन्तुक ज्वरोंमें पहले ज्वर फिर दोषप्रकोप होता है। यह दोनोंमें भेद है।

अभिषंगज ज्वर जिस-जिस हेतुसे होता है, उस-उस हेतुके अनुरूप कुपित

---

* अभिघाताऽभिचाराभ्यामभिशापाभिषङ्गतः।
आगन्तुर्जायते दोषैर्यथास्वं तं विभावयेत्॥

हुए वात आदि दोषोंके लक्षण उत्पन्न होते हैं। हेतुप्रत्यनीक चिकित्साके लिये इनके भेदोंका विवेचन किया जाता है।

विषजन्य ज्वर (Poisonous Fever) लक्षण— + मुँहका वर्ण काला या काला-पीला होजाना, अतिसार (स्थावर विषजन्य हो तो), अरुचि, प्यास, तोड़ने-समान पीड़ा, हृदयमें पीड़ा, सारी देहमें या आमाशयमें दाह, वमन और उदर शूल, हृदयावरोध, उन्माद या मूर्च्छा तथा बलक्षय आदिके लक्षण सामान्य रूपसे होते हैं। विशेष रूपसे लक्षण विष प्रभावके अनुसार उत्पन्न हो जाते हैं।

तीक्ष्ण औषध-गंधज ज्वर (हे फीवर—Hay Fever) ❀इस ज्वरमें मूर्च्छा, शिरदर्द, वमन, छींकें आना, बेचैनी और क्वचित् हिक्का आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

कामजनित ज्वर लक्षण—मानसिक अस्वस्थता, निःश्वास छोड़ना, प्रियजनका बारबार स्मरण करना, तन्द्रा, प्रमाद, आलस्य, अरुचि, बेचैनी, दाह, शरीर सूखना, निद्रानाश, विचार-शक्ति, लज्जा और धैर्यका त्याग, उदासीनता तथा स्त्री रोगिणी है तो नेत्र, स्तन और मुँहमें चपलता आदि लक्षण होते हैं।

भयजन्य ज्वर लक्षण—वातप्रकोप होकर प्रलाप, क्वचित् कम्प और उन्माद आदि लक्षण होजाते हैं। =

शोकजन्य ज्वरलक्षण—प्रलाप, नेत्रमें बारबार अश्रु आजाना, क्वचित् अतिसार और अधिक निस्तेजता आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

क्रोधजन्य ज्वर लक्षण—वात-पित्त प्रकोप, शिरदर्द, रक्तमें उष्णता होकर प्रलाप (असम्बद्ध भाषण), निद्रानाश और कम्प होते रहते हैं। हृदयका वेग बहुत बढ़ जाता है, क्वचित् मूर्च्छा आ जाती है, प्रायः पित्त ज्वरके अनेक लक्षण प्रतीत होते हैं।

देवबाधा या भूताभिषंगज ज्वर लक्षण—उद्वेग, हास्य, कम्प, रुदन, उन्माद, प्रलाप, निद्रानाश आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। ÷

अभिचारज और अभिशापज ज्वर लक्षण—मोह (जड़ता), मूर्च्छा,

+ श्यावास्यता विषकृते दाहोऽतीसार एव च।
भक्ताऽरुचिः पिपासा च तोदश्च सह मूर्च्छया॥

❀ ओषधि गन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुः क्षवः॥

= भयात्प्रलापः शोकाच्च, भवेत्कोपाच्च वेपथुः॥

÷ भूताऽभिषङ्गादुद्वेगो हास्यरोदनकम्पनम्॥

उन्माद, बकवाद, दाह और तृषा आदि लक्षण भयंकर रूपमें होते हैं ॐ अथवा जैसे कर्मका प्रयोग किया हो, उसके अनुरूप लक्षण होते हैं।

काम, शोक और भयसे आनेवाले ज्वरमें वातप्रकोप; क्रोधसे उत्पन्न ज्वरमें पित्तप्रकोप; तथा परिश्रम, क्षय और अभिघातज ज्वरमें वातप्रकोप होता है। ×

अभिघातजमें वातदोष रक्तका आश्रय करता है जिससे वातदोष और रक्त दूष्य, दोनों दूषित होते हैं। प्रायः आघात वाले भागमें दाह और शोथ होकर पीड़ा होती है। क्वचित् विष लगे हुए शस्त्रसे आघात हुआ हो, तो विसर्प, अपतानक आदि उपद्रव होकर मरण भी हो जाता है।

विष संसर्गसे ज्वर हो, तो उसमें प्रायः वात और पित्तप्रकोपके लक्षण होते हैं। भूताभिषङ्गज ज्वर (Fever of Evil Spirits) में तीनों दोष या दो दोष या एक दोष प्रभाव अनुसार कुपित होता है। अभिचारज और अभिशापजमें बहुधा वात, पित्त और कफ, तीनों दोष दूषित हो जाते हैं।

उपर्युक्त ४ प्रकारके आगन्तुक ज्वरके अतिरिक्त कीटाणुओंके विषसे उत्पन्न होने वाले आंत्रिक ज्वर (मोतीझरा), ग्रन्थिक ज्वर (प्लेग), वातश्लैष्मिक ज्वर (इन्फ्लुएञ्जा), संधिक ज्वर (आमवात), श्वसनक ज्वर (न्युमोनिया), क्रकच सन्निपात (सेरिब्रो स्पाइनल फीवर), बृहद् मसूरिका (शीतला), लघु मसूरिका (मोतिया), रोमान्तिका (खसरा), दण्डक ज्वर (डेंग्यु) और कर्णमूलिक ज्वर (पाषाणगर्दभ Mumps), इन सबको सिद्धान्त निदानकारने आगन्तुक ज्वर कहा है।

इनमें विष स्वभाव, आशय (प्रवेश स्थान) और प्रकृति, सबकी विचित्रतासे लक्षणोंमें भेद हो जाता है। आन्त्रिकसे क्रकच तक ६ ज्वरोंको घोर त्रिदोष-प्रकोपक माना है। मसूरिका आदि ज्वर स्थान, वायु और जलके दूषित हो जानेपर अपनी-अपनी ऋतुमें क्वचित् किसी-किसी स्थानपर हो जाते हैं; और कभी-कभी उग्र जानपदिक रूप धारण कर समग्र देशमें फैल जाते हैं; अतः इनको भी महामारी रोग कहा है। दण्डक और कर्णमूलिक ज्वरका विष दुर्बल, द्विदोषप्रकोपक और सुखसाध्य है। ये सब रोग कीटाणुओंके संसर्ग मात्रसे उत्पन्न होते हैं। अतः इनको संसर्गज और संक्रामक विशेषण दिये हैं।

इनके अतिरिक्त देशान्तरमें होने वाले शोणज्वर (Scarlet Fever), हारिद्र ज्वर (Yellow Fever) आदि आगन्तुक ज्वर हैं। किन्तु ये भारतमें बहुधा नहीं होते; अतः इनका विवेचन नहीं किया जायगा।

ॐ अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥

× कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं······ ॥

आगन्तुक ज्वर चिकित्सा ।

परिश्रम, मार्ग गमनसे थकावट और अभिघातज ज्वरमें मूल हेतुका उपचार करनेसे ज्वर शान्त हो जाता है। इसके अलावा हृदयपौष्टिक औषध और हलका पौष्टिक भोजन देना चाहिये ।

इस ज्वरमें उष्णता रहित क्रिया करें, कसैली, मधुर और स्निग्ध वस्तुओंकी योजना तथा दोषानुसार चिकित्सा करें । घृतपान, घृतकी मालिश, रक्त जम गया हो, तो रक्त निकलवाना और सेक-लेप आदि क्रियायें सहायक होती हैं ।

मार्ग-गमन करनेवालोंको तैलकी मालिश, दुग्धपान और पौष्टिक एवं हलका भोजन देना चाहिये; तथा निद्रा लानेका प्रयत्न करना चाहिये ।

भूत-प्रेत आदिके कोपमें और अभिचारज ज्वरमें यज्ञ, जप, देव-पूजा या शुद्ध मानस संकल्पद्वारा दोषको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये; या कोप करने वालेको प्रसन्न कर, आवेशका शमन कराना चाहिये ।

सूर्य-फूल या खरैंटीका मूल रविवारको सुबह पवित्रतासे लाकर कण्ठपर धारण करनेसे भूतावेशज ज्वरकी निवृत्ति होती है ।

विषसंसर्गसे उत्पन्न हुए ज्वरमें विषशामक उपचार अथवा पित्त शामक चिकित्सा करनी चाहिये ।

सर्वगन्ध (दालचीनी, तेजपात, इलायची, नागकेशर, कपूर, शीतल मिर्च, अगर, केशर और लौंग) को मिला, क्वाथ कर पिलानेसे विषप्रकोप शमन हो जाता है ।

इसका विशेष रूपसे विवेचन विष चिकित्सामें लिखा जायगा ।

क्रोधज ज्वरमें शीतल औषधियोंका क्वाथ पिलाना और शीतल लेप करना चाहिये ।

काम, भय, शोक आदि मानसिक विकारजनित उष्णता वृद्धि (Pyrexia of emotions) में वातशामक औषध और हलका पौष्टिक भोजन दें, तथा मधुर विनोदयुक्त वार्तालापमें मन लगवाकर मूल कारणको भुला देना चाहिये। बारबार दुःखके हेतुकी स्मृति आनेपर धैर्य देना तथा मनमें शान्ति और प्रसन्नता उत्पन्न करानेका प्रयत्न करना चाहिये । जब तक रोगीको मूल हेतुका स्मरण न हो, तब तक सान्त्वनाके लिये भी स्मरण नहीं दिलाना चाहिये ।

चोट लगना, रक्तस्राव, अस्थिभंग, संधिभ्रंश, संधिबंध शिथिल होना, जलना, दूषित वायु आदिसे बेहोश होना, विविध विषके स्पर्श, गन्ध, सेवन आदिसे विकृति होनेपर तत्काल प्रथमोपचार करना चाहिये ।

कामज्वर पर—

१—नेत्रबाला, कमल, सफेद चन्दन, खस, दालचीनी, धनिया और जटामांसीका क्वाथ पिलावें।

२—रात्रिको धनिया जलमें भिगो, सुबह हाथसे मसल जलको वस्त्रसे छान, मिश्री मिलाकर पिलावें।

३—कमलके पत्तोंपर या शीतल वायुमें सुलावें।

४—चन्दन, कपूर और नेत्रबाला मिलाकर मालिश करनेसे दाहसह काम ज्वर शान्त हो जाता है।

५—सुरूप, चतुर स्त्रीसे आलिंगन करावें।

६—निद्रालाने वाली औषधि देवें।

सूचना—मसालेदार, उष्णवीर्य और कामोत्तेजक भोजन कामज्वरके रोगीको नहीं देना चाहिये।

निराम वातज्वर, क्षय ज्वर, आगन्तुक ज्वर, जीर्ण ज्वर और लङ्घनसे उत्पन्न हुए ज्वरमें उपवास नहीं कराने चाहिये।

इन ज्वरोंमें (काम ज्वरसे अन्य प्रकारमें) अग्निको प्रदीप्त करके मांस रसयुक्त भात या अन्य पौष्टिक भोजन देना चाहिये।

ज्वरके चले जानेपर शिरका भारीपन, अरुचि, बेचैनी, मलावरोध आदि कोई लक्षण शेष रह जाय, तो उसको तुरन्त दूर करनेका प्रयत्न करें और पथ्यका आग्रह पूर्वक पालन करें।

औषध गंधज ज्वर पर—सुगन्धयुक्त शीतल तैल या मक्खनका नथुनों (Nostrils) में लेप करें या घी को २०-३० बार जलसे धोकर लेप करें। घीमें थोड़ा सुहागेका फूला मिला सकते हैं।

तीक्ष्ण गन्धसे कभी-कभी मस्तिष्कस्थ श्लैष्मिक कलाओंमें सौम्य प्रदाह होता है। फिर १०-२० दिनके पश्चात् नासिकामें रक्तस्राव होता है। क्षुधानाश उदरमें भारीपन आदिसे होता है। ऐसा हो, तो चन्द्रकलारस सेवन कराना चाहिये।

मस्तिष्कमें प्रदाह व नाकमें अधिक पीड़ा होनेपर ऐलोपैथीमें १० ग्रेन सेलिसिलिक एसिडको १ औंस वेसलीनमें मिलाकर तैयार किया हुआ मल्हम (Ointment Acid salicylic) नाक के भीतर लगाते हैं।

१०. आन्त्रिक ज्वर।

आन्त्रिकज्वर-सन्थरज्वर-मधुरा-मोतीझरा-पानीझरा-मुबारकी
(Typhoid or Enteric Fever)

विशेषत: दूषित वायुके हेतुसे होने वाला २१ दिनका मुद्दती बुखार। सब प्रकारके मुद्दती ज्वरोंकी गणना सन्निपातमें करनी चाहिये क्योंकि मुद्दती ज्वरमें वात, पित्त, और कफ तीनों दोष कुपित होते हैं।

निदान—अधिक मार्ग गमन; उपवाससे कृशता, सूर्यके तापमें भ्रमण, दुर्गन्धयुक्त स्थानमें निवास, मलावरोध इन सामान्य कारणोंसे और मलमूत्रके संसर्गयुक्त जलपान, खानेके पदार्थोंको मक्षिका आदिका संस्पर्श, इन विशेष कारणोंसे इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है। यह ज्वर विशेषत: कीटाणुओंका अन्त्रस्थानमें प्रवेश होनेपर होता है। फिर वे रस-रक्त आदि धातु और वात आदि दोषोंको अचिर कालमें प्रकुपित कर देते हैं। ये कीटाणु पहले छोटी आँतमें फैलने लगते हैं; फिर रोगका प्राबल्य होनेपर क्वचित् बड़ी आँतमें भी प्रवेश कर जाते हैं।

यदि रोग हो जानेपर कठोर आहारका सेवन किया जाय, तो अन्त्रमें क्षत होकर दस्तमें रक्त जाने लगता है। कदाचित् योग्य चिकित्साके अभावसे अन्त्र भेद (आंत्रमें छेद) हो जाय, तो रोग असाध्य हो जाता है।

पूर्वरूप—शिर:शूल, अरुचि, अङ्ग जकड़ना, मलावरोध, बेचैनी, चक्कर आना, शरीर भारी होना, मुखका स्वाद बिगड़ना और हड्फूटन आदि लक्षण होते हैं। क्वचित् ये स्पष्ट भासते हैं और कदाचित् प्रतीत नहीं होते।

रूप—ज्वर सह उपर्युक्त अस्पष्ट लक्षण एक सप्ताहमें स्पष्ट दीखने लगते हैं।
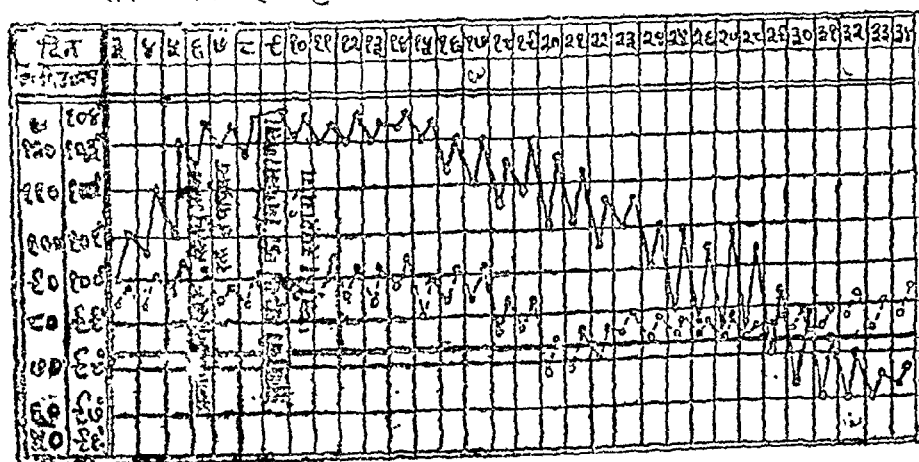
चित्र नं० १२ मोतीझरेमें, उत्ताप और नाड़ीगतिदर्शक रेखाचित्र।

यह ज्वर प्रारम्भके ५ दिन तक सोपानावलि न्यायानुसार (जीनामें सीढ़ी चढ़नेके समान) पीछेके दिनकी अपेक्षा अगले दिन लगभग १-१ डिग्री क्रमशः बढ़ता जाता है। फिर तीसरे सप्ताहमें उसी क्रमानुसार उतरता जाता है। बहुधा पहले सप्ताहमें कुछ प्लीहावृद्धि हो जाती है। ७ दिन होनेपर गुलाबी रंगकी पिडिकाएं कण्ठपर हो जाती हैं। *किन्तु शरीर श्याम हो, तो पिटिका स्पष्ट नहीं दीख सकतीं। प्रायः ५ दिन बाद बेसनके घोलके समान पीलेदस्त होने लगते हैं; और आफरा भी आने लगता है।

दूसरे सप्ताहमें ज्वर बढ़कर स्थिर हो जाता है। शामको घटने लगता है। फिर सुबह मूल स्थानपर आ जाता है। अति तन्द्रा, मुखशोष, बेहोशी, कास, प्रलाप, दुर्बलता, अफारा, जिह्वाकी त्वचा फट जाना, जिह्वाकी किनारी लाल, जिह्वापर मैल जमना और मानसिक संताप, ये सब लक्षण बढ़ जाते हैं। जितना ज्वरका वेग होता है उतनी धमनीमें चंचलता नहीं होती (नाड़ी अपेक्षाकृत मन्द रहती है। इनके अतिरिक्त सन्निपातके उपद्रव भी क्वचित् हो जाते हैं।

तृतीय सप्ताहमें दाने ज्यों-ज्यों नाभिके नीचे पहुँचते हैं त्योंही शरीरका उत्ताप कम होता जाता है। कभी-कभी बड़े वेगसे नाभिके नीचे तक दाने निकल जाते हैं उसके साथ ही क्वचित् ज्वरका वेग कम होकर पसीना छूटने लगता है। ऐसा होनेपर परिचारक और उपचारक वैद्यको बहुत सावधान रहना चाहिये। अन्यथा ज्वरके एक दम उतर जानेसे शीताङ्ग सन्निपात होकर रोगीके तुरन्त प्राण छूट जानेकी भीति रहती है।

तृतीय सप्ताहमें रोगीके हृदय, मस्तिष्क और फुफ्फुसकी पूरी रक्षा करनेके साथ साथ ज्वरका तापमान स्वाभाविक अवस्थासे कम नहीं होने देना चाहिये। दाने निकल जानेके बाद ज्वरकी अन्तिम अवस्था प्रारम्भ हो जाती है, ज्वर कम होने लगता है। और रोगीको धीरे-धीरे शान्त निद्रा भी आने लगती है मलपाक होकर धीरे धीरे पसीना भी निकलने लगता है, बेहोशी नहीं होती है, शरीरमें लघुता, उदर वायु अनुलोम होती है, जिससे कुछ आवाजके साथ अपान वायु गुदा मार्गसे बाहर निकलने लगती है। इन सब क्रियाओंके सुधरने-पर ज्वर मुक्तिके सब लक्षण दिखलाई देने लगते हैं।

सामान्यतः तृतीय सप्ताह या चतुर्थ सप्ताहमें ज्वर धीरे-धीरे कम होकर उतर जाता है। योग्य चिकित्सा होनेपर २२ वें दिन ज्वर चला जाता है। यदि १० दिन पश्चात् दारुण स्राव होने लगे तो रोग अति कष्ट साध्य हो जाता है। किसी-किसीको बधिरता, मूकता (गूँगापन) आदि उपद्रव हो जाते

* ग्रीवायां परिदृश्यन्ते स्फोटकाः सर्षपोपमाः॥ (मा० मि० प)

हैं। वे तुरन्त चिकित्सा करनेपर बहुधा शमन हो जाते हैं, क्वचित् शमन नहीं भी होते और वे सदाके लिये स्थायी हो जाते हैं।

घातक उपद्रव—इस ज्वरमें कभी-कभी अतिसार, मलावरोध, श्वसनक (निमोनिया), श्वास, रक्तपित्त, भयंकर प्रलाप, शीतांग-सन्निपात, वेगावरोध आदि उपद्रवोंमेंसे किसीकी प्राप्ति हो जाती है। यदि इनका शीघ्र प्रतिकार नहीं किया जाय, तो वे दुःखप्रद बन जाते हैं।

इस सन्निपातमें लघु अंत्रके अन्त भागमें विशेष विकृति होती है एवं यकृत् प्लीहा, पक्वाशय, ग्रहणी और सब पित्त स्थान दूषित हो जाते हैं।

वात और कफके स्थानोंमें विकृति कम होती है, या पीछे होती है। विशेषतः विकृति अंत्रमें होती है, इस हेतुसे सिद्धान्त निदानकार ने इस रोगको आंत्रिक ज्वर संज्ञा दी है। तन्द्रादि सन्निपातके अनेक लक्षण इस ज्वरमें प्रतीत होते हैं। इस ज्वरमें दोषपाचन और पित्तशामक औषधका उपचार प्रधानतासे किया जाता है।

एलोपैथिक निदान

आन्त्रिक ज्वरकी उत्पत्तिका कारण कीटाणु विशेष बॉसिलस टायफोसस (Bacillus Typhosus or Eberth ella typhi) हैं इस ज्वरमें मुख्यतः गुलाबी पिटिकाएं, प्लीहावृद्धि, उदरकी मृदुता, तथा अतिसार (या मलावरोध); ये लक्षण होते हैं। व्यक्ति भेदसे इस ज्वरके लक्षणोंकी गम्भीरतामें बहुत अन्तर हो जाता है। वे विशेष लक्षण फुफ्फुस और केन्द्रिक नाड़ी तन्त्रमें उपस्थित होते हैं। इसके कीटाणुओंका शोध डा० एबर्थने १८८१ ई० में किया था।

निदान—यह ज्वर कीटाणुओंद्वारा प्राप्त होता है। यह संसारके समस्त प्रदेशोंपर समान भावसे आक्रमण करता है। यह शरदृऋतु (Autumn) में विशेष प्रबल रहता है। पुरुष और स्त्रियाँ, दोनोंपर समान रूपसे आक्रमण करता है। १० से ३० वर्षकी आयु वाले अधिक पीड़ित होते हैं। क्वचित् बालकपर भी आक्रमण हो जाता है। ५० वर्षसे बड़ी आयुवाले अति क्वचित् पीड़ित होते हैं। रोग निरोधक शक्ति एक समयके आक्रमणमें समर्थ है। यह रोग अस्वस्थ और स्वस्थ हुए रोगियोंद्वारा फैलता रहता है। एवं विशेषतः जल, दूध, दही, मक्खन आदि भोजनके पदार्थोंद्वारा दूसरोंकी देहपर आक्रमण करता है। कभी दूषित धूल, मक्खिका, दूषित जलसे भी कीटाणुओंका आक्रमण होता है। इसके कीटाणु देहमें प्रवेश करनेपर ७ से २१ दिन (सामान्यतः १४ दिन) तक वंशवृद्धि और शक्ति संचय करते हैं। फिर लक्षण प्रकट होते हैं।

सम्प्राप्ति—इसका संक्रमण प्रायः अन्त्रमेंसे रक्तपर होता है। फिर ये कीटाणु

अन्त्र और वृक्कोंद्वारा मलमूत्रमें बाहर निकलते रहते हैं। ये कीटाणु पित्ताशय अन्त्रस्थ लसीकातन्तुओं तथा त्वचाकी पिटिकाओंसे प्रतीत होते हैं। ये अन्त्रगतलसीका ग्रन्थियों (पेयरकी ग्रन्थियाँ-Peyer's Patches) ‌* और एकांकी लसीका ग्रन्थियोंमें क्षत और शोथ उपस्थित करते हैं। अन्त्रका अन्तिम १८ इञ्च जितना भाग (शेषान्त्रक-Ileum) मुख्य रूपसे प्रभावित होता है। वहाँ पूयोत्पत्ति भी हो जाती है, प्लीहा बढ़ जाती है और मृदु हो जाती है, अन्त्रबन्धनीकी ग्रन्थियां बढ़ जाती हैं। अस्थिसे सम्बन्ध वाली ग्रन्थियाँ पाकमय अपक्रान्ति (Zenker's degeneration) को प्राप्त होती हैं। रोगी यथाक्रम सुधरता जाता है, तो फिर तीसरे सप्ताहमें अन्त्रके व्रण

---

* आमाशयसे आगे भोजन-रस जिसमें जाता है, उस भागको अन्त्र (इन्टेस्टाईन Intestine) कहते हैं। यह टेढ़ी-मेढ़ी बहुत लम्बी नली है। बड़े मनुष्यकी आँत लगभग २८ फुट लम्बी होती है। इस अन्त्रके २ विभाग हैं। क्षुद्र (लघु) और बृहद्। लघु अन्त्रको पच्यमान आशय और दोनोंको पक्वाशय संज्ञा भी दी है। इनमें क्षुद्र (छोटी) आंतकी लम्बाई २३ फुट है। इसका व्यास प्रारम्भमें लगभग १॥ इञ्च फिर १ इञ्च है। यह साँपके समान गेंडुली मारकर उदरमें पड़ी है।

इस लघु अन्त्रके (केवल समझानेके लिये) ३ भाग किये हैं। ग्रहणी, मध्यांत्र और शेषांत्र। इनमें लघु अन्त्र जहाँसे प्रारम्भ होती है, वह पहला भाग ग्रहणी (ड्यु ओडिनम् Deodenum) लगभग १२ अंगुल लम्बा है। यह ग्रहणी अग्न्याशयके शीर्ष भागको लपेट, बड़ी आंतके टेढ़े भागके पीछेकी ओर जाती है। पुनः चक्कर काट कर नाभिकी ओर मध्यांत्रके साथ मिल जाती है। मध्यान्त्र लगभग ७॥ फुट लम्बी है। यह नाभिके समीप रही है। फिर शेषान्त्रका प्रारम्भ होता है, वह अधिवस्ति प्रदेशमें रही है। उसके नीचेका सिरा बड़ी आंतके उण्डुक नामक प्रारम्भके भागके साथ (दक्षिण वंक्षणोत्तरिक प्रदेशमें) जुड़ा हुआ है।

बड़ी आंत लगभग ५ फुट लम्बी और २॥ इञ्च चौड़ी है। यह दाहिनी ओरसे यकृत् तक ऊपर चढ़, फिर प्लीहा तक जा, बाँईं ओरसे नीचे उतरती है।

इनमें छोटी आंतोंके भीतर कुछ (२०-३०) लसीकाग्रन्थि समूह हैं. इन ग्रन्थियोंका दाह-शोथ होकर व्रण हो जाता है। ये लसीकाग्रन्थियां आंतके अन्त भागमें कमरके ऊपर दाहिनी ओर रही हैं। अलावा अन्त्र पुच्छपर भी दाह-शोथ हो जाता है। दोनों आंतें जहाँ मिलती हैं, उस भागको उण्डुक (सीकम Coecum) कहते हैं, यह २॥ अंगुल चौड़ा है। दाहिनी ओर रहा है, उसके भीतर ४ अंगुल लम्बी एक पतली नली रहती है, वह पेंसिल जा सके उतनी चौड़ी है। इसकी लम्बाई १ अंगुलसे ८ अंगुल तक होती है। किसीको कम किसीको ज्यादा लम्बी होती है। इसे अन्त्र-पुच्छ और उपान्त्र (अपेण्डिक्स Appendix) कहते हैं। इसपर भी शोथ आ जाता है।

स्थानोंमें बीजांकुर तन्तु (Granulation tissues) आ जाते हैं। फिर धीरे-धीरे व्रण-रोपण हो जाता है।

स्पष्ट लक्षण—क्षीणता, आगेकी ओर शिरदर्द, पीठमें पीड़ा, मलावरोध, अरुचि, नासिकासे रक्तस्राव, बेचैनी, निद्रानाश, उत्ताप क्रमशः बढ़ते जाना, ये लक्षण भासते हैं। कितने ही रोगियोंमें अकस्मात् ज्वराक्रमण, वमन, वेपन और प्रलाप प्रतीत होते हैं। इस रोगकी गतिकी दृष्टिसे पूर्ण समय ४ सप्ताह है। इसके प्रत्येक सप्ताहके प्रधान लक्षण निम्नानुसार हैं।

प्रथम सप्ताह (आक्रमणावस्था या उन्नतावस्था Invasion stage or advance)-मुखमण्डल और नेत्र तेजस्वी, जिह्वा सफेद, मलयुक्त, किन्तु किनारा और अग्रभाग स्वच्छ, कनीनिका (Pupils) प्रसारित, उदरमें पीड़ा, सोपान क्रमसे शारीरिक उत्ताप बढना (अर्थात् आज सुबह ९८° है, तो कल सुबह ९९°, परसों १००° एवं आज शामको १००° डिग्री है, तो कल १०१°, परसों १०२°), प्रतिदिन सुबह ।। से १ डिग्री बढ़ना, शामको ज्वर अधिक रहना, सप्ताहके अन्तमें १०२° डिग्रीसे १०३° फारनहाइट होना। नाड़ी स्पंदन ९० से १००, बारम्बार तृतीय तरंगकी प्रधानता वाली डाईक्रोटिक नाड़ी (Dicrotic pulse) होना, उदर कुछ शोथमय, उदरमें वायु भर जाना, अंगुलियोंसे परीक्षा करनेपर उण्डुक प्रदेशपर गुड़ गुड़ ध्वनि होना, उदरकी प्रतिक्रियाका सामान्यतः अभाव, प्लीहावृद्धि स्पष्टप्रतीत होने योग्य (Palpable), गुलाबी पिटिकाएं ७ वें दिन गले और उदरपर देखनेमें आना, वे पिटिकाएं ३-४ दिनमें अदृश्य होना और नयी भासना क्वचित् किञ्चित् कास, रक्तमें श्वेताणु ह्रास (Leukopenia) ४००० से ५००० प्रति सेण्टीमीटर होना, मूत्र एल्ब्युमिन युक्त, सप्ताहके अन्तमें कभी आन्त्रिक ज्वरके कीटाणु प्रतीत होना, (विशेषतः द्वितीय सप्ताह तक नहीं), दस्त पतला, पीताभ, दूषित रचना युक्त, मलमें कीटाणु मिलना दूसरे और तीसरे सप्ताहमें विशेषतः मिलना आदि लक्षण होते हैं। इस समयके भीतर पेयरकी ग्रन्थियाँ शोथमय बन जाती हैं।

दूसरा सप्ताह (पूर्णावस्था Fastigium)-रोगी विशेष दुर्बल, शिरदर्दमें न्यूनता, नेत्र तेजोहीन, बधिरताकी वृद्धि, जिह्वा विशेष शुष्क बीचमें मललिप्त, अग्रभाग और किनारे शुद्ध, अब भी दुःखदायी निद्रानाश, क्वचित् प्रलाप, उत्ताप १०१°-१०३° डिग्री; नाड़ी स्पन्दन १०० से कुछ अधिक, कीटाणु सामान्यतः उपस्थित और अतिसारकी विशेषतर प्रवृत्ति रहना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं। इस सप्ताहमें पेयर ग्रन्थियोंके तन्तु नष्ट होते हैं।

तृतीय सप्ताह (अवनतावस्था Defervescence) रोगी अब भी

अधिक क्लान्त रहता है, प्रलापसह बेहोशी (Typhoid state)-आजाना, मांसपेशियोंमें संकोच; तन्द्रा और निद्रानाश, जिह्वाशुष्क और तेजस्वी, ओष्ठ मलिन आदि लक्षण होते हैं। यह सप्ताह भयप्रद है। इस सप्ताहमें रक्तस्राव अथवा क्षत होनेका भय है। इस सप्ताहके भीतर अन्त्रके मृत तन्तु अलग होते हैं। सामान्यतः सप्ताहके अन्तमें सुधार भासता है तथा ज्वरतापका पतन क्रमशः होता है। क्वचित् ज्वराप सत्वर शान्त होता है। उदरगुहा गैससे स्फीत रहती है, जिससे रोगी पुनः पुनः पीड़ित होता है। क्वचित् रोग भयंकर रूप धारण कर लेता है। फिर रक्तमें विषवृद्धि होकर ४-६ सप्ताह तक कष्ट पहुँचता है; कभी रक्तस्राव और उदर्य्याकलापर शोथ आकर मृत्यु हो जाती है। *

चतुर्थ सप्ताह—(सुधारावस्था Convalscence)—ज्वराप क्रमशः कम होकर प्रातःकालमें स्वाभाविक होना और शामको किंचित् बढ़ना, उदर गुहाकी प्रतिक्रिया पुनः भासना, प्लीहा स्पष्ट बड़ी हुई न भासना, सामान्यतः अवस्थामें सुधार होना आदि लक्षण भासते हैं। अन्त्रमेंसे मृत तन्तु निकलते हैं. उसका सुधार इस सप्ताहमें हो जाता है। पुनः प्रकोप क्वचित् भासता है और ज्वराप अनियमित बढ़ता है; किन्तु प्लीहा वृद्धि नहीं होती तथा ताजे चिह्न (Spots) प्रतीत नहीं होते।

स्वाभाविक ज्वराप लगभग १ सप्ताह रहनेके बाद पुनराक्रमण हो, तो वह पुनः जीनेके सोपानके समान बढ़ता है, नये चिह्न उत्पन्न होते हैं, प्लीहाकी वृद्धि होती है तथा अन्त्रके लक्षण प्रकाशित होते हैं। इस पुनराक्रमणका हेतु विशेषतः आवश्यकतासे अधिक आहार या अपथ्य माना जाता है। इस आक्रमणका क्रम पहलेकी अपेक्षा लघु होता है।

विविध प्रकार—

१. सौम्य (सशक्त फिरने वालेमें Mild form);

२. अपूर्ण (Abortive form) ज्वरतापकी न्यूनाधिकता;

---

* उदर्य्याकला (पेरीटोनियम Peritoneum) यह अत्यन्त पतली, कोमल और सफेद रंगकी थैली है। इस थैलीके २ विभाग हैं, ऊपरके भागको महाकोष और भीतरके भाग को लघुकोष कहते हैं। महाकोषकी बाह्यकला लगभग समस्त उदरगुहाकी दीवारोंको ढकती है और भीतरकी कला यकृत्, प्लीहा, आमाशय, ग्रहणी, बड़ी आँत, छोटी आँत, मूत्राशयका ऊपर भाग, स्त्री शरीरमें गर्भाशय और उसके समीपके छोटे छोटे अवयवोंको ढकती है। लघुकोष यकृत् और आमाशयके बीच, पीछे और नीचेकी ओर रहता है। इस थैलीमें नीचे लम्बा भाग है, उस कलाको वपा (ग्रेटरओमेन्टम् Greater omentum) संज्ञा दी है। यह छोटी आँत और बड़ी आँतके अनुप्रस्थ (यकृत् से प्लीहा तक आने वाले) भागको ढकती है। इस वपाद्वारा शोथ आगे-बढ़कर सर्वत्र फैल जाता है।

३. गम्भीर (Grave form) अ—रक्तस्राव युक्त। आ–फुफ्फुस दृढ़ीकरणसे आरम्भ होने वाले–फुफ्फुस प्रदाह सह; इ–वृक्क प्रदाहके तीव्र लक्षण युक्त; ई–मस्तिष्कावरण प्रदाहके आक्रमण युक्त।

४. अनिश्चित् या गुप्त (Ambulatory or latent form)–इस प्रकारमें ज्वर कभी आता है कभी नहीं या गुप्त रहता है।

५. उत्ताप रहित (Afebril form)—इस प्रकारमें ज्वर नहीं रहता। यदि चिकित्सा शास्त्रानुरूप हुई तो ज्वर शनैः शनैः कम होने लगता है; और अतिसारादि उपद्रव भी घटने लगते हैं।

दूसरे सप्ताहमें दाने छाती और पेटपर उतर आते हैं। जैसे-जैसे दाने नीचेकी ओर उतरते हैं; वैसे-वैसे ज्वरका वेग घटता जाता है; और उपद्रवका बल भी कम हो जाता है। यदि इन दोनोंका छातीके ऊपर निकलना लोप हो जाय; तो वह स्थिति भयप्रद मानी जाती है। ऐसी परिस्थितिमें दाने या (विष) को बाहर निकालनेके लिये उचित चिकित्सा जल्दी करनी चाहिये।

ज्वर तीन सप्ताह पूरे होनेपर कम आता है। फिर भी अन्त्र-व्रण और दुर्बलता शेष रह जाती है। अन्त्र-व्रण १-२ सप्ताह तक रह जाते हैं; और कीटाणु इससे भी अधिक दिनों तक रह जाते हैं। अतः ताप जानेपर भी दो सप्ताहके भीतर अपथ्य आहार-विहारका सेवन किया जाय तो पुनः ज्वर आ जाता है।

रोगकी प्रबलता दर्शक लक्षण और उपद्रव—

१. रक्त अशुद्ध, जैसे रंगका, अधिक पतला, रक्तमें रहे हुए श्वेत कीटाणु और रंजक पित्त (हिमोग्लोबिन Haemoglobin), दोनोंकी न्यूनता होती है और कृमि-विष बलवान् होनेसे श्वेत कीटाणुओंको नष्ट कर देते हैं। क्वचित् रक्त घनीभूत (थ्रोम्बोसिस Thrombosis) हो जाता है, जिससे सूक्ष्म शिराओंमें शल्यरूप होजाते हैं ❀ इस शल्यसे सामान्यतः चौथे सप्ताहमें दायें ऊरुस्थानकी शिरा पीड़ित होती है।

❀ रक्तके भीतर २ प्रकारके कण (कोष) हैं। रक्त-कण (Red cells) और श्वेत कण (White cells)। इन रक्त-कणोंका व्यास •००७ मिलिमिटर जितना है। ये कण अति मृदु हैं जिससे दब जानेपर भी पुनः अपनी मूल गोल बनकर वैसी स्थितिमें आ जाते हैं। इस हेतुसे सूक्ष्म-सूक्ष्म केश वाहिनियोंके भीतरसे भी निकल सकते हैं। इन कणोंके भीतर रञ्जक पित्त रहता है इस रञ्जकपित्तका प्राणवायुके साथ संयोग होता है; इस हेतुसे रक्त-कणों (कोषों) को प्राणवायु मिलता रहता है। किन्तु शिराओंमें जो रक्त वहन करता है, उसे प्राणवायु नहीं मिल सकता। इस कारणसे उसका रङ्ग जामुनके

२. मांसमें नित्यप्रति ५ से १५ तोलेका दर्द, कालापन और थोड़ी सूजन हो जाती है। कभी हृदय पेशीकी अपक्रान्ति, कभी हृदयावरणका प्रदाह, कभी हृदयावरणकी श्लैष्मिक कलाका प्रदाह कभी फुफ्फुसावरणमें जल भर जाना और कभी वात नाड़ी प्रदाह आदि हो जाते हैं।

३. नाड़ी क्षीण और ठोके शनैः-शनैः बढ़ते जाते हैं। थोड़े दिन बाद १२०-१३० तक हो जाते हैं।

४. यकृत और उदर्याकला प्रदाह हो जाता है, तब उदरके दाहिने और नीचेके भागमें स्पर्श सहन नहीं होता। मल पतला दुर्गन्धयुक्त और उदरमें गुड़गुड़ आवाज होती रहती है, उदर न्यूनाधिक स्फीत, कोमल और आकुंचित हो जाता है, रोगी सामान्यतः पैरोंको मोड़कर सोता है।

५. तृतीय सप्ताहमें फुफ्फुसदाह शोथ (न्यूमोनिया Pneumonia), क्वचित् प्रारम्भसे ही फुफ्फुसप्रदाहसह आन्त्रिक ज्वरका आक्रमण, श्वास नलिकामें शोथ, श्वासोच्छ्वास वेग पूर्वक चलना; तथा-शुष्क कास (ब्रोंकाइटिस-Bronchitis) हो जाते हैं। स्वरयन्त्रका प्रदाह अथवा स्वरयन्त्रके कोमलास्थिका पूयपाक हो जाता है।

६. क्षुधा नाश, तृषा अधिक, सफेद-पीली मैली जिह्वा, मैले दाँत, प्लीहायकृत् वृद्धि (क्वचित् उनमें विद्रधि) और अफारा।

७. मूत्र लाल-पीले रङ्गका दुर्गन्ध युक्त थोड़ा-थोड़ा बार-बार होता है। मूत्रमें यूरिया और फॉस्फेट अधिक प्रमाणमें तथा क्लोराइड कम प्रमाणमें हो जाता है।

८. दूसरे या तीसरे सप्ताहमें अन्त्र, नाक या अन्य श्लेष्मल त्वचामेंसे रक्त जाने लगता है।

रङ्गके समान मैला हो जाता है। इन रक्तकणोंकी संख्या पुरुष शरीरमें १ क्यूबिक मिलीमीटर (१,२५ इञ्च) में लगभग पचास लक्ष है, और स्त्री शरीरमें उतने ही स्थानमें लगभग पैंतालीस लक्ष होती है। इस हिसाबसे सारी देहमें रक्तकण कितने होते हैं. यह हिसाब कल्पनासे बाहर हो जाता है।

इनमें रंजक पित्तका परिमाण जब कम हो जाता है, तब देह निस्तेज हो जाती है। इस आन्त्रिक ज्वर और पाण्डुरोगमें यह रंजक पित्त ही कम हो जाता है।

श्वेतकणका वर्ण बिल्कुल श्वेत नहीं है, लगभग रङ्गके समान है। इनकी संख्या १ क्यूबिक मिलिमीटरमें लगभग सात हजार है; अर्थात् ये श्वेत कोष रक्तकोषकी अपेक्षा सातसौवां हिस्सा हैं। अनेक रोगोंमें इनकी संख्या बढ़ जाती है; किन्तु मोतीझरा और क्षयमें संख्या घट जाती है।

९. शरीरमें विशेष प्रकारकी वास, नाड़ीमें विलक्षणता और सारी देहपर गुलाबी स्फोट आदि लक्षण।

१०. मुखमण्डल उतरा हुआ चिन्तातुर, चक्कर आना, विचार-शक्ति कम होना, निद्रानाश, शिर दर्द, बलक्षय, क्वचित् कानोंसे कम सुनना, क्वचित् उदर्य्याकलामें शोथ, क्वचित् अन्त्र भेद (अन्त्र-भेद होनेपर रक्तस्राव निश्चित् ही होता है), मस्तिष्क और पृष्ठ भागकी वातवहा नाड़ियोंमें प्रदाह (न्यूराइटिस Neuritis), वृक्कप्रदाह (नेफ्राइटिस Nephritis) और हृदयके स्पन्दका अवरोध (Cardiac Failure) हो जाता है।

११. रात्रिको अधिक प्रलाप होता है।

१२. इस ज्वरके प्रारम्भमें प्राय: शामको उत्ताप क्रमश: थोड़ा-थोड़ा बढ़ता है। १०१° डिग्री उत्ताप हो जानेपर ४ दिन पश्चात् या दूसरे सप्ताहमें उत्तापका क्रम स्थिर हो जाता है, अर्थात् सुबह १०१° डिग्री और शामको १०४° डिग्री लगभग रहता है। (रोग प्रबल होनेपर उत्तापका ह्रास नहीं होता)। साथ साथ शुष्क कास आती रहती है। किसी-किसी रोगीको तीसरे सप्ताहमें शय्या व्रण (Bed sores) हो जाते हैं। इस ज्वरकी चिकित्सा यथाविधि न हो, तो २-३ मास पर्यन्त रोग बना रहता है।

अति क्वचित् होनेवाले उपद्रव—मध्यकर्ण प्रदाह या कर्णमूलिक ग्रन्थि प्रदाह, मस्तिष्कावरण प्रदाह, मस्तिष्कमें शल्योत्पत्ति (Thrombosis or embolus), सुषुम्णा काण्डकी मज्जाका प्रदाह (Myelitis), वृक्क प्रदाह, पृष्ठवंशके कशेरुकोंकी दृढ़ता और पीड़ा (Typhoid spine), अस्थिधरा कलाका प्रदाह, विद्रधि, तीक्ष्ण पित्ताशय प्रदाह, प्लीहाके स्रोतोंका अवरोध या अन्त्रबन्धनीका पूयपाक उपस्थित होते हैं। ऊरु स्थानमें शिरागत शल्य होनेपर ऊरु प्रदेश गत शिराप्रदाह (White leg) हो जाता है। शिराप्रदाह या पित्ताशयाश्मरी, ये आन्त्रिक ज्वरके उपसंहार दर्शक हैं।

पुनराक्रमण—लगभग १० प्रतिशत रोगियोंमें होता है महामारीमें पुन:-पुन: आक्रमण विविध प्रकारसे होता है।

बालकोंके आन्त्रिक ज्वरमें विशेष अन्तर—

१. रुग्ण यन्त्र-अन्त्र क्षत विशेष प्रबल नहीं होते, पाक नहीं होता।

२. मृत्यु-वयस्कोंकी अपेक्षा कम; ५ से १० प्रतिशत।

३. आक्रमण पुन: पुन: अकस्मात्, वमन यह साधारण लक्षण, बालकोंके आमाशय-अन्त्रकी वेदनाके सदृश स्थिति भासती है।

४. उत्ताप—बारंबार अति शीघ्र वृद्धि, आदर्शके समान कम उतरना, स्थिरता कम। सामान्यत: बड़े मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक उत्ताप बढ़ना।

५. नाड़ी स्पन्दन—अतिद्रुत, किन्तु बालकोंमें ज्वरात्मक रोगोंकी अपेक्षा कम। कभी युग्म स्पन्दन (Dicrotic pulse)।
६. टिड्डिकाएं—बारंबार सूक्ष्म और अल्प।
७. प्लीहा—सर्वदा लगभग स्पष्ट।
८. सामान्य लक्षण—सौम्य लक्षण, स्थिति सामान्यतः बेहोशी आना, प्रलाप होना, दाँत नाड़ी विकृतिसे लक्षण भासना, ये सब कभी आन्त्रिकावस्था (Typhoid state) के सदृश। मस्तिष्कावरणप्रदाह गुप्तरूपसे उत्पन्न होता है।
९. मिश्रित लक्षण और शेष उपद्रव—कभी मृदु, कभी रक्तस्राव और कभी भेदन, इस तरह कभी मध्यकर्ण प्रदाह, वात कम्प, यान्त्रिकारणोंके रहित बोलने या लिखनेकी शक्तिका अस्थायी नाश, ये विशेष उपद्रव हैं। कुछ सप्ताहोंमें गति शक्ति आ जाती है।

वृद्धावस्थाके पश्चात् आन्त्रिक ज्वर—क्वचित् आक्रमण, उत्ताप अधिक नहीं होता, क्रम अनियमित। न्यूमोनिया और हृदयावरोध सामान्य। मृत्यु संख्या अधिक।

सगर्भाको आन्त्रिक ज्वर—रोगनिरोधक शक्ति कार्य नहीं करती। ७० प्रतिशतोंको गर्भपात हो जाता है।

असाध्य लक्षण—अन्त्रमें छिद्र (Perforation) हो जाना, डामर (कोल-टार) के समान काले रंगका रक्त-मिश्रित मल उतरना, अन्त्रछिद्रमेंसे वायु उदर्याकलामें आना (फिर उदरमें वायुका भारीपन-आफरा भासना), कम्प होना, समस्त देह और दोनों नेत्र काले हो जाना, भयंकर शीत लगना, वृक्कस्थानपर शोथ, अकस्मात् आध्मान, मानस शक्तिका नाश, दोनों फुफ्फुसोंकी सब श्वासप्रणालिकाओंमें शोथ, श्वासोच्छ्वासकी गति तेज होना, उत्ताप १०६° डिग्रीसे अधिक हो जाना, नाड़ी स्पन्दन १२० से अधिक होना आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

अति स्थूल, अति निर्बल, शराबी, मधुमेही, सगर्भा, प्रसूता और दुग्धपान करने वाले शिशुओंको मधुरा होना, यह भयप्रद माना गया है।

मृत्यु परिमाण—कुछ वर्षों पहले इङ्गलैण्डके अस्पतालोंमें १५ प्रतिशतकी मृत्यु होती थी। ५-१० वर्षकी आयु वालोंकी मृत्यु कम होती है। पुरुषोंमें अकस्मात् हृदयावरोध होकर मृत्यु २ प्रतिशत होती है। विविध पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंकी मृत्यु उष्ण ऋतुमें अधिक होती है। सौम्य प्रकारमें रक्तस्राव या क्षत होनेपर मृत्यु होती है।

पार्थक्यसूचक रोगविनिर्णय—आन्त्रिक ज्वर प्रारम्भ होनेपर इन्फ्लु-

एञ्जा, अन्त्र प्रदाह ज्वर, न्युमोनिया, वृक्क प्रदाह या मस्तिष्कावरण प्रदाह मान लेनेकी भूल होती है। इस हेतुसे चलते फिरते रोगियोंका उत्ताप सर्वदा लेना चाहिये और उत्ताप बढ़नेपर विचारपूर्वक निर्णय करना चाहिये। सतत बना रहने वाला बुखार अनियमित होनेपर पेरा टाइफोइड (आन्त्रिक भेद), राज-यक्ष्मा, उदर्या कला प्रदाह, पिटिकामय क्षय, वृक्कालिंद प्रदाह (Pyelitis), प्लीहावृद्धि और वातनाड़ीशूल सह ज्वर (Undulant Fever), संक्रामक हृदयावरण प्रदाह अथवा लसीका वृद्धिसह घातक पाण्डु (Hodgkin's disease) होनेकी कल्पना होती है। प्रलापक ज्वर और गौण उपदंशज ज्वर भी रोग विनिर्णयमें भ्रांति पैदा कर देते हैं। किन्तु विचार करनेपर सबमें आन्त्रिक ज्वरके मुख्य लक्षणोंका अभाव होता है। रक्त और मलका कर्षण तथा विडालकी परीक्षा (Widal test) विश्वसनीय है; परन्तु ज्वर प्रारम्भ होते ही इनका नियमपूर्वक स्पष्ट चित्र उपस्थित नहीं होता।

सामान्यतः १. लक्षण (Symptoms) और चिह्न (Signs); २. कीटाणु परीक्षा; ३. रक्तजल परीक्षा (Serological examination), इन ३ साधनों-द्वारा निर्णय किया जाता है। गुलाबी पिटिकाके अतिरिक्त कोई भी लक्षण रोगनिर्णायक नहीं है। कुछ दिनके पश्चात् गुलाबी पिटिकाएं, प्लीहावृद्धि, उत्तापकी अपेक्षा नाड़ीकी मंदगति, उत्तापकी नियमित वृद्धि, शुष्ककास, शिरदर्द आदि सहायक होते हैं। रक्तमें कीटाणु कुछ दिनोंके पश्चात् उपस्थित होते हैं। मल-मूत्रमें भी कीटाणु प्रथम सप्ताहमें नहीं मिलते।

सिरम निर्णय (विडाल परीक्षा) भी ७-८ दिन पहले परिचायक नहीं होती। प्रारम्भमें कल्पनाके आधारसे ही चिकित्सा की जाती है। जब पेशाबमें कीटाणु जाने लगते हैं, तब एरलिक्सकी डियाजो प्रतिक्रिया (Ehrlich's diasoreaction) द्वारा निर्णय किया जाता है।

२१ दिनका ज्वर	१४ दिनका ज्वर (टाइफस)
१—पिटिकाएँ दूसरे सप्ताहमें निकलना।	पिटिकाएँ ४-५ वें दिन निकलना।
२—नाड़ीकी गति मंद रहती है।	नाड़ीकी गति तीव्र रहती है।
३—उदरमें पीड़ा, आफरा और दुर्गन्ध-युक्त, पीले, पतले दस्त।	उदरमें व्यथा न होना, केवल कोष्ठ-बद्धता।
४—ताप क्रमशः धीरे-धीरे बढ़ना।	प्रारम्भसे ही तीव्र रहना।
५—बहुधा प्रलाप और मस्तक शूल नहीं होते।	अति प्रलाप, तीव्र मस्तक शूल।
६—न्यूमोनिया, रक्तातिसार या अंत्र-भेद हो जानेसे मृत्यु।	बेहोशीमें वृद्धि या रक्त जम जानेसे मृत्यु होती है।

२१ दिनका ज्वर	संतत ज्वर-रिमीटेण्ट
१—नियमित समयपर ज्वर उतरना।	अनियमित समयपर ज्वर उतरना।
२—शीत नहीं लगती।	बहुधा शीत लगकर ज्वर चढ़ना।
३—दुर्गन्धयुक्त पीले पतले दस्त, आफरा और नाभिके पास दबानेपर पीड़ा।	मलावरोध, क्वचित् पतले दुर्गन्धरहित दस्त और कोई स्थानमें दर्द।
४—वमन या कामला नहीं होते।	पित्तकी खट्टी वमन और कामला।
५—नाड़ीका वेग उष्णतासे कम।	नाड़ी तेज चलती है।

मोतीझरा	इन्फ्ल्युएन्जा
१—ज्वर धीरे-धीरे बढ़ता है।	ज्वर बहुत जल्दी बढ़ता है।
२—सन्धि पीड़ा, शक्ति-क्षय और जुकाम नहीं होते।	सन्धि पीड़ा, भयंकर थकान और जुकाम अवश्य रहते हैं।

मोतीझरा	पूयज या विषज ज्वर
१—शनैः शनैः आक्रमण। ज्वरकी नियमित गति। शीतकम्पका अभाव। मंद प्रस्वेद।	अकस्मात् वेगपूर्वक आक्रमण। अनियमित समयपर ज्वरका आवागमन। शीत-कम्प और प्रस्वेद बारम्बार आना।
२—शूलका अभाव, जिह्वामललिप्त, किनारे लाल।	भयङ्कर शूल, जिह्वा चिकनी और मुलायम।
३—गुलाबी पिटिका, देहमेंसे विशेष प्रकारकी वास आना।	चिकनी और मुलायम पिटिका और वाससे पृथकता।
४—नाड़ी मंद, ज्वरकी, नियमित गति, शरीर बल शनैः शनैः कम होना।	नाड़ी तेज, ज्वरके अनियमित वृद्धि-ह्रास, देह बलका क्षय।

क्षयकीटाणु जन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह होनेपर प्रारम्भसे वमन होने लगती है, उत्ताप अनियमित रहता है, और दोनों कनीनिकायें असम हो जाती हैं। ये लक्षण आन्त्रिक ज्वरमें नहीं होते।

राजयक्ष्माके उत्तापकी वृद्धि मन्दगतिसे होती है। पिटिका प्रधान आशुकारी राजयक्ष्मामें उत्तापके वृद्धिह्रास अनियमित होते हैं एवं श्वासकृच्छ्रता और नीलाभ शिराएं निकलना आदि लक्षण होते हैं।

उदर-गुहाकी गहरी रसग्रन्थियोंके क्षयमें लक्षण आन्त्रिक ज्वरके सदृश भासते हैं। प्लीहाकी वृद्धि देरसे होती है, ज्वरके वृद्धि-ह्रास अनियमित रहते हैं।

आमाशय, अन्त्रके आमातिसारमें उदरमें वेदना होती है और अपचन रूप लक्षण भी मिलता है।

इस तरह विविध रोगोंके लक्षणोंकी विभिन्नताका विचार करनेपर रोग निर्णित हो जाता है ।

चिकित्सोपयोगी सूचना

बंगाल आदि प्रदेशमें विशेपत: ६६ प्रतिशत रोगी दूषित जलसे रोगाक्रान्त होते हैं; अत: जलको गरम करें फिर शीतलकर छानकर पिलाते रहें । अनेक बार दूध बेचनेवाले दूधमें दूषित जल मिला देते हैं, या दूषित जलसे वर्त्तनको धोते हैं । दूधमें कीटाणु मिलनेपर थोड़े ही समयमें विशेष परिमाणमें बढ़ जाते हैं । इस हेतुसे दूधको ३-४ उफाण आवे तब तक उबालना चाहिये । टट्टीमेंसे जो बाष्प निकलती है, उसमेंसे भी इस रोगके कीटाणु दूसरेको लग सकते हैं। अत: टट्टी घर भी स्वच्छ रखना चाहिये ।

रोगीको प्रकाश और शुद्ध वायुके आवागमन वाले मकानमें रखना चाहिये । शरीर, वस्त्र, मकान आदिको स्वच्छ रखना चाहिये । मल-मूत्र त्यागके पात्रोंमें कीटाणु नाशक द्रव डालकर बार-बार शुद्ध करते रहना चाहिये । डाक्टरी मत अनुसार गरम जलमें वस्त्रको डुबोकर रोगीके एक एक कर सब अवयवोंको रोज पोंछ लेना चाहिये जिससे स्वेद द्वार खुले होते हैं और ज्वरोष्माका ह्रास होता है ।

मकानके भीतर मक्खियोंका प्रवेश न होने देना चाहिये । रोगीको विशेष संताप न पहुँचे, उस तरह शान्तिपूर्वक लेटे रहने देवें । विशेष वार्त्तालाप न करें।

रोगीका बिछौना नरम रखें जिससे अनेक दिनों तक पड़े रहनेपर भी शय्याक्षत न हों, ऊपरकी चद्दरको रोज बदल देना चाहिये ।

इस रोगमें अन्त्रकी श्लैष्मिक कला प्रदाहयुक्त होती है । अत: आमाशयमें ही विशेषांशका पचन होजाय, ऐसे आहारकी योजना करनी चाहिये । इस प्रकारका सर्वोत्तम आहार दूध है ।

अनेक मनुष्य शराबका सेवन करते हैं । उनको भी प्रारम्भमें शराब न देनी चाहिये। निर्बलता आनेपर थोड़ी मात्रामें शराब देनेसे बलक्षय नहीं होता ।

दाँतोंको और मुँहको साफ रखनेके लिये बब्बूलकी छालको जलमें उबाल उसमें सोहागेका फूला और किञ्चित् सैंधानमक मिलाकर प्रात: सायं कुल्ले कराना चाहिये या नींबूके रसमें निवाया जल मिलाकर कुल्ले करावें ।

इस रोगमें किनाइन नहीं देना चाहिये । किनाइन देनेपर ज्वर विशेष प्रकुपित होता है एवं अतिसार होनेपर अतिसारको रोकनेके लिये अहिफेनादि स्तम्भक औषधियोंका प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

प्रलाप, निद्रानाश या रक्तस्राव हो, तो तुरन्त रोकनेका प्रयत्न करना चाहिये।

वमन या उबाक हो, तो दूधके साथ चूनेका जल १-१ औंस मिलाते रहें। ऐसे समयपर मोसम्बी या अनारका रस विशेष लाभ पहुँचाता है। नीलगिरी तैलकी ३-४ बूंदें शक्करके साथ खानेको दी जाती हैं।

जिह्वा शुष्क रहनेपर उसपर शहद या ग्लिसरीन लगावें।

आध्मान अधिक होनेपर उदरपर हींगका लेप करें या तार्पिन तैलकी मालिश करें। तार्पिनकी पिचकारी भी लगायी जाती है। अतिसार प्रबल होनेपर भी तार्पिनकी पिचकारी दे सकते हैं।

रोग दूर होनेपर भी कठिन भोजन १५ दिन तक नहीं देना चाहिये; एवं अन्न प्रारम्भ करनेपर अति कम मात्रामें धीरे धीरे बढ़ाना चाहिये।

यदि शिराप्रदाह आदि विशेष प्रकारका उपद्रव उपस्थित हो, तो तत्काल उसकी चिकित्सा शास्त्रीय पद्धतिसे करनी चाहिये।

शिराप्रदाह होनेपर आक्रान्त स्थानके कुछ ऊपर पट्टी बाँधनी चाहिये जिससे विष ऊपर न जाये एवं पीड़ित स्थानपर भी यथा नियम उपचार करना चाहिये।

अकस्मात् शक्तिपात हो, तो हेमगर्भपोटली रस, सूतशेखर, लक्ष्मीविलास या अन्य औषध देकर शक्तिका संरक्षण करना चाहिये। बेहोशी आती हो, तो हृदयावरोधका भय रहता है। तुरन्त हृदयपौष्टिक औषध-लक्ष्मीविलास (अभ्रक वाला) या अन्य देनी चाहिये।

रोगीको पूर्ण विश्रान्ति देनी चाहिये। प्रारम्भमें कोष्ठबद्धता हो, तो मृदु विरेचन देवें। परिचारकको स्वच्छताका विशेष लक्ष्य रखना चाहिये।

इस आन्त्रिक ज्वरमें भूलकर, या हठ पूर्वक ज्वरको दूर करनेवाली औषध नहीं देनी चाहिये। धातुमें लीन दोषोंको शनैः-शनैः पचन करके लक्षणोंको शमन करने वाली पित्तशामक औषधकी योजना करनी चाहिये।

यदि तीव्र प्रलाप या न्युमोनिया आदि उपद्रव उपस्थित हो जायें तो तत्काल उपद्रवनाशक चिकित्सा करनी चाहिये।

भोजनमें सुबह-शाम दूध और दोपहरको मोसम्बीका रस देना चाहिये। कितनेही चिकित्सक दूधके स्थानपर बाजरेका दलिया देनेका अति आग्रह करते हैं, किन्तु यह लाभदायक प्रतीत नहीं होता। कारण, इस ज्वरमें अधिकांशमें अन्त्रविकृति ही होती है। ऐसे समयपर अन्त्रसे कमसे-कम कार्य लेना चाहिये; और शान्ति पहुँचानी चाहिये। बाजरीका दलिया खिलानेपर पचन

करनेके लिये अन्त्रको अधिक श्रम करना पड़ता है; जिससे उदर अधिक दूषित और रोगी होता जाता है।

रोगारम्भमें २-४ दिन केवल जलपर रखें, फिर दूध और मोसम्बीका रस दिया जाय, तो उसके अधिकांश सत्वका आमाशयमेंसे ही शोषण हो जाता है। अन्त्रको दूध पचानेके लिये बाजरीके दलियेके समान त्रास नहीं पहुँचता। इसके अलावा दूध और मोसम्बीके रसपर रहने वालोंके मलकी अपेक्षा बाजरीके मलमें अधिक दुर्गन्ध होती है, तुलना करनेपर बाजरी खानेवाले रोगीको निर्बलता भी ज्यादा आ जाती है।

कभी दूध अधिक हो जानेपर अपक्व अंश दस्तमें निकलता है; ऐसा संदेह होनेपर मल परीक्षा करानी चाहिये, और फिर मात्रा कम करनी चाहिये।

किन्तु जिस रोगीको दूध या मोसम्बीका रस अनुकूल न हो; या जो रोगी न मानता हो, अन्न खानेके लिये चिल्लाता हो, उसे मूंगका यूष अथवा बाजरीका दलिया, धानकी लाहीमेंसे थोड़ा-थोड़ा देते रहना चाहिये।

यदि बाजरीका दलिया देना हो, तो बाजरीका आटा नित्यप्रति ताजा पिसवा लें, बासी होनेपर उसमें रही हुई स्निग्धता दूषित होजाती है और दलिया खानेमें भी कुछ बेस्वादु हो जाता है।

विरेचन, ज्वरहर तीव्र औषधि, अन्त्रगतिवर्द्धक कुचिला आदि औषध एवं भोजनमें अन्नका उपयोग, ये सब हानिकर हैं।

नव्यमतानुसार सूचना

रोगीको किसी उपद्रव या अन्य किसी कारणसे द्रव पदार्थ या औषध लेना अशक्य हो जाय तो उसे औषध मिश्रित दुग्धादि गुदामार्गसे चढाना सुविधा-जनक होता है, उसमें ५-१० प्रतिशत द्राक्षशर्करा मिलानेपर कुछ पोषण भी मिल जाता है।

अ. ५ तोले (१ पाइन्ट) जलमें २ औंस शर्करा मिलानेसे १० प्रतिशत द्रावण तैयार होता है। उससे (११३×२) २२६. उष्णांक (Calories) पोषण मिलता है। कभी हृदयकी निर्बलावस्थामें इसीके साथ नव्य चिकित्सक आधसे १ औंस ब्राण्डी उत्तेजक रूपसे मिला देते हैं। ऐसी बस्ति ४–४ घण्टेपर देनी चाहिए। पोषणके लिए इसका उत्ताप १००° फा. और उत्तेजनाके लिये १०५° से १२०° फा. रखना चाहिए।

बस्ति जल मलाशयमें संगृहीत होकर न रह जाय, इसलिये निम्नानुसार योजना करें।

अ. पहले बस्ति देकर मलाशयको रिक्त करें, फिर ३-४ बार जल डाल

देते हैं। दोपहरको मधुरान्तक वटी और प्रवाल पिष्टी देते हैं। इनमेंसे लक्ष्मी-नारायण रस रोग निरोधक शक्तिको प्रबल बनाता है; ज्वरविषका पचन करता है। मधुरान्तक वटी विषको बाहर निकालनेमें अच्छी सहायता पहुँचाती है। प्रवालपिष्टी ज्वर-विष-पाचनमें अति हितकर है। इस औषध योजनासे शत प्रतिशत मनुष्योंको लाभ हुआ है। कितनी ही बार ज्वर २१ दिनसे २-४ रोज पहले ही उतर गया है।

किसी-किसी रोगीको पथ्यमें भूल करनेसे शीत सहित ज्वर आजाता है; उसको कस्तूरी भैरव रस कुछ दिनोंतक देते हैं; और उलट कर दूसरी बार ज्वर जिनको आजाता है, उनको पहले ५-७ दिन तक सूतशेखर रस देकर फिर लक्ष्मीनारायण रस देते रहते हैं।

जिन रोगियोंकी अवस्था पथ्य या चिकित्साकी भूलसे भयप्रद हो गई थी, ऐसे भी अनेक रोगी इस योजनासे अच्छे हो गये हैं।

छोटे बालकोंको आन्त्रिक सन्निपात होनेपर लक्ष्मीनारायण रस, प्रवाल पिष्टी और मधुरान्तक वटी बालक और माता, दोनोंको देते हैं।

दाह-शमनके लिये मुस्तादि क्वाथ हितावह है एवं प्रवाल पिष्टी २-२ रत्ती और गिलोय सत्व ४ रत्ती शहदके साथ दिनमें ३ समय (लक्ष्मीनारायण रस और मधुरान्तक वटी सेवनके साथ) दिया है। इस रीतिसे सैकड़ों रोगियोंपर औषध प्रयोग किया है। प्रारम्भमें ३-४ दिनतक उपवास कराये हैं फिर केवल प्रातः-सायं दूध और दोपहरको मोसम्बीका रस दिया है। अन्त्र दूषित होने से अन्न देना हितावह नहीं माना।

आरम्भमें जो रोगी केवल जलपर रहते हैं, उन्हें कुछ दिनोंके बाद ताप बढनेपर भी निर्बलता नहीं आती, इतना ही नहीं, ताप चले जानेपर अशक्ति ज्यादा दिन नहीं रहती; थोड़े ही दिनोंमें शक्ति बढ़ जाती है।

दोषपचन होनेपर दोपहरको अनारका रस या मोसम्बीका रस तथा प्रातः-सायं गायके दूधमें तुलसी पत्र डाल, गरमकर फिर छान, थोड़ी मिश्री मिलाकर पिलाते हैं।

यदि दूध अनुकूल न रहता हो, तो उसे ताजा मट्ठा पिला सकते हैं; परन्तु अन्न नहीं देना चाहिये। अनाज खिलानेसे शक्तिका क्षय अधिक होता जाता है और ज्वर भी अधिक दिनोंतक रहता है।

रक्त चन्दन, खस, धनिया, पित्तपापड़ा, सोंठ और नागरमोथेका क्वाथ दिनमें २ समय पिलाते रहनेसे दोष पचन हो जाता है।

गिलोय, अजवायन, तुलसीके पान और काली मिर्चको मिला, जलमें भिगो, छान (हिम बना) कर देनेसे दोष पचन होकर पित्त प्रकोप शमन होजाता है।

ब्रह्मदण्डीकी मूलका रस या क्वाथ पिलानेसे अंतर्विष जल जाता है।

प्रलाप, स्वेद, शुष्क कास, अंत्र शोथ और व्रण शमनके लिये—मौक्तिक-पिष्टी या प्रवाल पिष्टी (गिलोयसत्त्वके साथ) रोगशामक औषधके साथ दिनमें ३ समय देते रहें।

वातवृद्धि और तीव्रप्रलाप हो जाय तो—महावात विध्वंसन रस भाँगरेके रस और तुलसीके रसके साथ दें। किसी समय प्रारम्भमें योग्य प्रबन्ध न होनेसे तीसरे सप्ताहमें ऐसा उपद्रव हो जाय, तो भी वातशामक औषध दी जाती है।

प्रलाप, अनिद्रा आदिमें दोषानुसार अन्य काष्ठादिक औषधियोंके साथ जटामांसी, ब्राह्मी, शंखाहुली; ये १॥-१॥ माशेसे ३-३ माशे तक मिला, क्काथ करके देते रहनेसे उत्तेजना शान्त हो जाती है।

यदि वातवृद्धिका वेग अधिक न हो, तो अष्टमूर्ति रसायनको प्रवाल पिष्टीके साथ दें। रोगीको पहले उपदंश हो गया हो, तो अष्टमूर्ति रसायन अति हितकर है।

शुष्क कास और फेफड़ोंकी निर्बलतामें—पित्त कफात्मक सन्निपातपर कहा हुआ पर्पटादि क्वाथ दें; अथवा प्रवालपिष्टी, सितोपलादि चूर्ण, घी और शहदके साथ दें; तथा कर्पूरादि वटीको मुँहमें रखवाकर रस चुँसाते रहें; दिनमें १०-१५ गोली तक या लवंगादि चूर्ण दिनमें ३ समय देते रहें।

फुफ्फुस शोथ हो तो—लक्ष्मीविलास रस, शृङ्ग भस्म, सितोपलादि चूर्ण और मुलहठीका चूर्ण, इन सबको मिलाकर दिनमें ३ समय शहदके साथ देते रहें।

नाक, मुँह या गुदासे रक्तस्राव हो तो—प्रवालपिष्टी या सुवर्णमाक्षिक भस्म २-२ रत्ती दिनमें २-३ समय गिलोय सत्व और हल्दीके चूर्णके साथ देते रहें; या चन्द्रकला रस दें; अथवा मौक्तिक पिष्टी और शंखभस्म वासावलेहमें मिलाकर दिनमें तीन समय देते रहें।

प्रारम्भमें मलावरोध हो तो—मुनक्का और सनाय-पत्तीको मिला झड़बेरीके सदृश गोली बनाकर शहदके साथ दें या ग्लिसरीनकी बत्ती गुदामें चढ़ाकर मलशुद्धि करालें पेटपर एरंड तैल मल दें। अधिक आवश्यकता हो, तो एरण्ड तैल ५-१० तोले १ सेर दूधमें मिलाकर बस्ति देवें।

सुखपूर्वक दाने निकलनेके लिये—(१) मौक्तिक पिष्टी १ रत्ती और शृङ्गभस्म २ रत्ती मिला, खूबकला और मुनक्काके क्वाथके साथ दिनमें ३ समय देते रहें।

(२) मधुरान्तक वटी (कस्तूरी युक्त अथवा सामान्य), इन दोमेंसे एक देवें। वटी प्रकरणमें लिखी हुई अति सामान्य औषध है, फिर भी अति लाभदायक है।

(३) ब्राह्मी वटी मधुरज्वरान्तक क्वाथके साथ दिनमें २ समय देते रहें।

(४) रोगीकी शक्ति अनुसार १ से २१ लौंग जलमें पीस, उबाल, छानकर

प्रातः-सायं पिलानेसे दाने सुखपूर्वक निकलते हैं; प्यास कम हो जाती है; दस्तमें दुर्गन्ध न्यून हो जाती है और अग्नि अधिक मन्द नहीं होती।

प्यास अधिक हो तो-(१) छिलका सह बड़ी इलायची और कमलगट्टे को भूनकर शहद मिलाकर चटावें।

(२) षडंग पानीय पिलाते रहें।

(३) पावसे आध तोला लौंग २॥-२॥ सेर जलमें मिला, प्रातः सायं उबाल कर, आवश्यकता अनुसार थोड़ा थोड़ा जल पिलाते रहें। फिर लौंग धीरे-धीरे कम करते जायें।

अफारा और अन्य वातविकार अधिक हो जाय तो-महायोगराज गूगल दिनमें २ समय देते रहें; तथा कदूष्ण जलकी बोतलसे पेटपर थोड़ा सेक करें।

अतिसार भयंकर परिमाणमें बढ़ जाय तो—१. सूतशेखर, सुवर्णमाक्षिक, प्रवाल पिष्टी, इन तीनोंको १-१ रत्ती मिलाकर १-१ माशे लघु गंगाधर चूर्णके साथ दिनमें ३ समय देते रहें।

२. रस पर्पटी या पंचामृत पर्पटी (दूसरी विधि) बहुत कम मात्रामें दिनमें ३ समय देते रहें।

अत्यन्त निर्बलता, प्लीह-यकृद्वृद्धि और रक्तक्षयपर-अभ्रक भस्म और लोह भस्म (त्रिफला १-१ माशा तथा शहद मिलाकर) दिनमें ३ समय रोग शामक औषधके साथ देते रहें।

निद्रा लानेके लिये—सूतशेखर १-१ रत्ती या प्रवालपिष्टी २-२ रत्ती दिनमें ३ समय सोंठ, आँवला और शहदके साथ देते रहें; अथवा मस्तिष्कपर शीतल लेप करें। ब्राह्मीका क्वाथ पिलानेपर भी शान्त निद्रा आ जाती है।

शिरदर्द और व्याकुलतापर-यदि ज्वर १०५ डिग्री हो जाय, तो मस्तिष्कके संरक्षणार्थ रबरकी थैली (Icea bag) में बर्फ भरकर शिरपर रखें।

ज्वर १०२-३ डिग्री हो और कष्ट प्रतीत होता हो, तो कोलन वॉटर (Eau-de cologne) में समभाग जल मिला, उसमें कपड़ेकी ४ तह भिगो, थोड़ा निचोड़कर कपालपर रखें। १०० डिग्री ताप हो जानेपर कोलन वॉटरकी पट्टी न लगावें।

हृदय रक्षणार्थ—(१) यदि हृदयमें शिथिलता आ जाय तो हृदयक्षीणता और हृदयक्रियाको सुधारकर शक्ति देनेके लिये जवाहर मोहरा या पूर्णचन्द्रोदय रस ½ रत्ती (मौक्तिकपिष्टीके साथ) देते रहें।

(२) सुवर्णभूपति रस, लक्ष्मीविलास रस (सुवर्ण युक्त) या सूतशेखर रस तुलसीके रस और मिश्रीके साथ देवें।

(३) द्राक्षासव २॥ से ५ तोले तक दिनमें २ समय पिलाते रहनेसे हृदय उत्तेजित होता है और शान्त निद्रा भी आती है।

वातावरण शुद्धिके लिये—माहेश्वर धूप (प्रथम विधि), अपराजित धूप, सहदेव्यादि धूप या लोहबान और गूगलकी धूप प्रातःसायं देते रहें।

एलोपैथिक चिकित्सा।

वर्तमानमें इस रोगकी विशेष औषध क्लोरो माई सिटीन अथवा ओरिया माइ सिन (Aureomy cin) या सिम थोमाइ सिटीन (Symthomy cetin) दी जाती है। आधुनिक इन औषधियोंका उपयोग बालकोंके लिए भी करते हैं। क्विनाइन ५-५ ग्रेन संभवतः हानि नहीं पहुँचाती। (यूरोपके शीत प्रधान देशोंके लिए कदाच हानि न करें; किन्तु भारतमें हानि पहुँचानेके अनेक उदाहरण मिले हैं)।

कब्ज हो तब प्रति दिन या एक दिन छोड़कर एनिमाद्वारा उदर शुद्धि करें एवं जरूरत हो तो मेगनेशिया कार्ब मुँहसे भी देवें।

अतिसार होनेपर अफीमका अर्क मिश्रित पिचकारी देवें।

एलोपैथिक मत अनुसार मांस रस खानेको देते हैं। किन्तु अतिसार होनेपर बन्द कर देते हैं। आयुर्वेदिक मत अनुसार मांस-रसका सेवन प्रारम्भमें कराना यह भी अति हानिकर है।

दालचीनीका तैल ३ से ५ बूंदोंकी १ मात्रामें दिनमें दो बार देते रहें।

आवश्यकतापर एण्टी-वी आई (Anti-vi) और एण्टी-ओ (anti-O) के सिरमका इन्जेक्शन मांसपेशियोंके भीतर करें।

रक्तस्राव होनेपर मोर्फियाका इन्जेक्शन करें या पैथेडीन (Pathadin) ५० से १०० M. g. दें।

रोग अति शिथिल हो गया हो, तो १० औंस रक्त अन्य स्वस्थ मनुष्यकी देहमेंसे निकाल रोगीकी शिरामें प्रवेश (Transfusion) करावें।

इस रोगमें प्रवाही औषध उपयोगी है। गोलियोंके रूपमें दवाको निगलवाना नहीं चाहिये। जो औषधि आमाशयसे ही रक्तमें शोषित हो जाय, वह विशेष लाभप्रद रहती है।

मूत्रकी विकृति दूर करनेके लिए हैग्जमीन्यूरोट्रापीन (Hexamineurotropine) तीसरे सप्ताहमें दिनमें ३ बार १०-१० ग्रेन दिया जाता है। हैग्जमीनको उबालकर शीतल किये हुए जल, लगभग पौन गिलासमें घोलकर देते रहना हितकर है। किन्तु मूत्रकी प्रतिक्रिया अम्ल हो, तो नहीं दें।

शिरदर्द हो, तो शिरपर शीतल जलकी पट्टी रखें।

निद्रानाश हो, तो गीले कपड़ेसे पोंछें और वार्बिटोन ५॥ ग्रेन देवें।

प्रलाप हो, तो मोर्फियाका इन्जेक्शन देवें। वलेरियनका अन्तः क्षेपण भी हितकर है।

फैलता है, इनकी अपेक्षा जलसे कम फैलता है। इस रोगके कीटाणुओंकी बेक्टेरियम पेराटाइफोसम (Bacterium Paratyphosum) कहते हैं। इसमें A. B. C. तीन प्रकार हैं। इनमेंसे A और B कीटाणुओंका संक्रमण आंत्रिक ज्वर (Typhoid) के संक्रमण समान है, किन्तु C को मनोयोग पूर्वक देखें तो विभेद हो जाता है। C का संक्रमण सेप्टीसीमिया (उद्भिज कीटाणु विषज सन्निपात) से मिलता है। उस रोगमें रक्तवारिकी परीक्षा करनेपर विभेद निश्चित होता है।

B प्रकार तो आन्त्रिक ज्वरके कीटाणुओंकी श्रेणीके समीप माना जायगा। किन्तु यह उष्ण कटिबन्ध प्रदेश (भारत आदि) में अनुष्ण कटिबन्धकी अपेक्षा
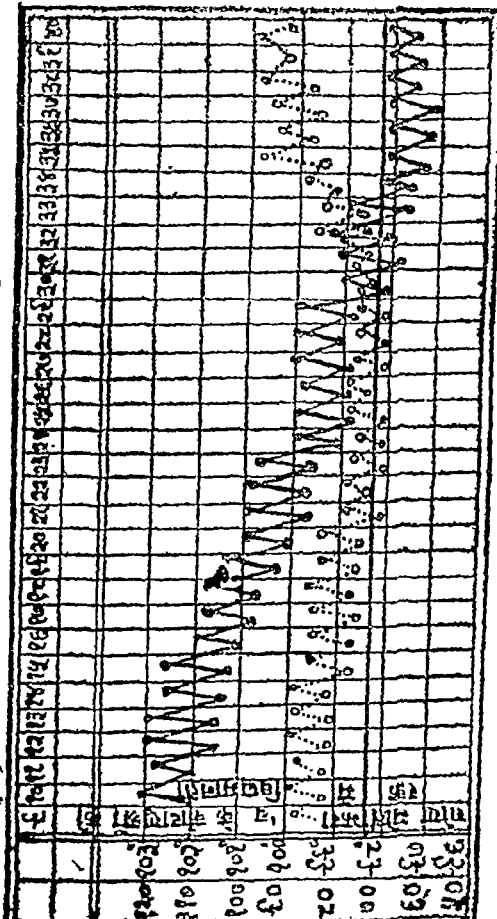
चित्र नं० १४

विषम मोतीझरा 'B' में उत्ताप और नाड़ी गति दर्शक चित्र।

कम प्रचलित है। A प्रकार यूरोप और अमेरिकामें दुर्लभ है किन्तु भारतमें असामान्य नहीं है। C प्रकार प्रधानत: बालकन और ब्रिटिश गुआनामें विरल है; यह उष्ण कटिबंध (भारत आदि) में प्रतीत होता है।

इन तीनोंका प्रारम्भ अकस्मात् शीत-कम्प सह होता है। किन्तु ये आन्त्रिक ज्वरकी अपेक्षा कम घातक और कम स्थिरता (Duration) वाले हैं एवं अन्त्रविकृति (क्षत) इतस्तत: होनेसे कम बाधक होते हैं। कितनेही रोगियोंमें बृहदन्त्रके भीतर क्षत होजाते हैं। फिर उसी हेतुसे मलमें आन्त्रिक ज्वरकी अपेक्षा विशेष कीटाणु मिल जाते हैं। शारीरिक उत्ताप अनियमित रूपसे घटता बढ़ता है।

क्वचित् इस रोगमें फुफ्फुस संस्थान आक्रमित होनेपर कास या न्युमोनियाके लक्षण भी साथमें प्रकट होते हैं तथा थूकके भीतर इस रोगके कीटाणु मिलते हैं।

C प्रकार—इसका प्रारम्भ प्राय: आन्त्रिक ज्वरके समान होता है; किन्तु इसकी प्रवृत्ति विसदृश होजाती है। इसे अतिसार, फुफ्फुस विकार और विविध पाकोत्पादक स्थितिमें पृथक् किया जाय, तो शेष लक्षण आन्त्रिक ज्वरसे मिलते हैं। इस ज्वरमें बड़ी आंत आंत्रिक ज्वरकी अपेक्षा विशेष प्रभावित हो जाती है। सच्ची पिटिकाएँ न होते हुए अन्त्रका प्रसेक (Catarrh) उपस्थित हो जाता है। इसके लक्षण आन्त्रिक ज्वरकी अपेक्षा मृदु और बारम्बार विसदृश प्रतीत होते हैं। अन्य रोगोंके सेन्द्रिय विषके मिश्रित लक्षण और कष्टप्रद परिणाम दुर्लभ है।

आन्त्रिक ज्वरसे प्रभेद वाले लक्षण:—

१. आक्रमण—बारम्बार अति त्वरित।
२. पिटिकाएं—कभी कभी अत्यधिक, बड़े चिह्न (या थोड़े प्रदेश) सह, बाह्य सीमा अनियमित, आन्त्रिक ज्वरसे विशेष गहरे रंगकी, कभी-कभी नीलाभ।
३. उत्ताप अति जल्दीसे बढ़ना, कुछ दिनोंमें १०४° से १०५° तक। क्रम अति अनियमित, उतरनेमें अति जल्दी। स्थिति लगभग २ सप्ताहकी।
४. बारम्बार अति मंद नाड़ी स्पन्दन।
५. प्लीहावृद्धि स्पष्ट।
६. शीत, कम्प और स्वेद अति सामान्य।
७. सेन्द्रिय विष विरल। १०४° से अधिक उत्ताप और अति फैली हुई पिटिकाओंमें भी बार-बार विष लक्षण प्रकट नहीं होते; और कुछ दिनोंमें सुधर जाते हैं।

८. अतिसार और प्रवाहिका, ये मंद अतिसार आक्रमण कालमें असामान्य नहीं। क्वचित् ही आक्रमण कालमें प्रवाहिका या आमविष (Food poisoning) के लक्षण उपस्थित होते हैं। यह केवल यदा कदा होनेवाले रोगियोंमें प्रतीत होता है। यह रोग ऐसे लक्षणोंका उद्भव नहीं करता; किन्तु अपचनजनित आमविषका सम्बन्ध होनेपर ऐसा होता है।

इस ज्वरका आन्त्रिक ज्वरमें अन्तर्भाव किया जाता है; तथापि इसमें उपरोक्त अति अपूर्वता अवस्थित है।

विषम आन्त्रिक ज्वर चिकित्सा।

चिकित्सा सम्बन्धमें सूचना आन्त्रिक ज्वरके प्रारम्भमें दी है उसपर लक्ष्य देवें। आयुर्वेदिक चिकित्सा जिस तरह आन्त्रिक ज्वरमें की जाती है, उसी तरह इस रोगकी करनी चाहिये। विशेष ठण्ड हो, तो कस्तूरी भैरव देवें, या लक्ष्मीनारायण, प्रवाल पिष्टी, मधुरान्तक वटी कस्तूरीयुक्त मिलाकर देते रहनेसे पूर्ण लाभ होजाता है। कितनेही चिकित्सक संजीवनीसे कार्य लेते हैं; वह भी हितकारक है।

अन्तःक्षेपण जनित आन्त्रिक ज्वर।

Enteric fever in inoculated Persons.

कितनेही मनुष्य आन्त्रिक ज्वरसे बचनेके लिये उसके विषसे इनोक्यूलेशन (अन्तर्भरण) कराते हैं। इनमेंसे १ प्रतिशतकी मृत्यु हो जाती है। ज्वर आनेपर उत्ताप, स्थिति, क्रम, लक्षण, ये सब क्रम होते हैं। यह ज्वर थोड़े दिनों तक रहता है। अन्त्रमें कम असर पहुँचाता है, नाड़ी मंद रहती है, जिह्वा मलमय और उदर साने हुये आटेके समान मुलायम रहता है।

चिकित्सा—आन्त्रिक ज्वरके समान की जाती है।

(११) प्रलापक ज्वर।

प्रलापक ज्वर—काला मधुरा—टाइफस फीवर।

Typhus Fever—Jail Fever—War Fever.

यह ज्वर सर्दीवाले गन्दे स्थानोंमें रहनेवाले निर्धन क्षुद्र मनुष्योंको होता है। इस प्रलापक ज्वरसमूहमें अनेक उपविभाग हैं। इनकी सम्प्राप्ति कीटाणु विष-विरस रिकेट्सिया (Virus Rickettsia) से होती है। यह समूह रुग्णविज्ञानात्मक परीक्षामें गम्भीरतायुक्त विदित हुआ है। यह जनपद व्यापी विज्ञान और रक्तवारि परीक्षा विज्ञानके परिणाममें विभिन्नता दर्शाता है। इस रोगसमूहमें जो स्थानिक (अजनपद व्यापी) प्रकार है, वह विलफेलिक्सकी

adic) है। कभी जनपद व्यापी नहीं बनता। अतः इन सबको कृत्रिम प्रलापक माना है।

अ. चिचड़ी जन्य (Tick-borne)—गौ आदिकी देहपर रहनेवाली चिचड़ियोंसे उत्पन्न प्रलापक ज्वरके निम्न ३ प्रकार हैं:—

A. पार्वतीय ज्वर (Rocky Mountain Fever)—यह प्रकार शिलामय पहाड़ोंपर होता है। तीक्ष्ण दांतवाले जीवोंके विषसे इसकी उत्पत्ति होती है।

B. बूटोनिज ज्वर (Fievre Boutonneuse)—यह प्रकार दक्षिण यूरोप और उत्तर अफ्रिकामें प्रतीत होता है।

C. दक्षिण अमेरिकन और अन्य प्रकार—इसका वाहन कुत्ता है। विष और विलफेलिक्सकी प्रतिक्रिया विविध स्थानोंमें भिन्न-भिन्न होती है।

आ. कीट जन्य (Mite borne)—यह अनेक प्रकारके छोटे कीड़ोंसे प्राप्त होता है। इसके वाहन बड़े और छोटे चूहे हैं। इस प्रकारमें जापानका नदी ज्वर और अफ्रिकाका स्क्रब (Scrub) ज्वर हैं। इसके कीटाणुओंको रिकेट्सिया ओरीएण्टलिज (R. Orientalis) कहते हैं।

इ. पिस्सूजन्य (Flea-borne)—इस प्रकारमें मृदु प्रलापक ज्वर-ब्रिलका रोग (Brills' disease), अफ्रिकामें उत्पन्न अर्बन ज्वर (Urban) हैं। इनके कीटाणुओंके वाहन चूहे हैं। कीटाणुओंको रिकेट्सिया प्रोवाझेकी (R. Prowazeke) कहते हैं। इन कीटाणुओंसे जनपदव्यापी रोग होता है; परन्तु जनपदव्यापी विष और अजनपद व्यापी विषका प्रभेद नहीं होता।

इस रोगका उत्पादक कीटाणु रिकेट्सिया वनस्पति कीटाणु बेक्टेरियाकी अपेक्षा बहुत छोटा है। इसका व्यास $\frac{1}{20000}$ इञ्चसे भी कम है। ये कीटाणु कितने ही कीटोंके महास्रोतके कोषाणुओंके भीतरसे मिले हैं। मेनसन ट्रापिकल डिजीजिस ग्रन्थमें इस रोगके १० प्रकार दर्शाये हैं। इनमें २ संसार व्यापी और १ कुमाऊं पहाड़पर होने वाला. ये ३ भारतमें होते हैं। अतः इन ३ का वर्णन यहाँ किया जायगा।

टीका जन्य रोग निरोधक कार्यप्रणाली-जनपद व्यापी रोगके वेक्सीनका उपयोग करनेपर कितने ही व्यक्तियोंकी मृत्यु हो गई है और परिणाम भयंकर आये हैं। अतः अभीतक इसका पूरा निर्णय नहीं हुआ है।

तात्त्विक प्रलापक ज्वर।

ट्रू टाइफस फीवर—True Typhus Fever.

उपनाम—Typhus Exanthematicus.

व्याख्या—यह आशुकारी महा संक्रामक रोग है, यह जूओंद्वारा फैलता है।

इसका आक्रमण अकस्मात् होता है। इसमें वातनाड़ी विकृति और विषप्रकोप जनित लक्षण, धब्बे, शारीरिक उत्ताप और लगभग १४ वें दिन आकस्मिकोपशम होना, ये मुख्य लक्षण होते हैं। मोतीझरा और इस प्रलापक ज्वरका भेद १९ वीं शताब्दी तक विदित नहीं हुआ था।

यह विशाल विस्तारमें फैलनेवाला जनपद व्यापी रोग है। यह रूस और बालकन प्रदेशोंमें विशेष उग्रता धारण करता है। आयर्लेंड भी इससे अधिक पीड़ित होता है। अमरीकामें मेक्सिको और पूर्व प्रदेश (ईस्टर्न स्टेट) में भी अपना पराक्रम दर्शाता है। यह मुख्यतः शीतोष्ण कटिबन्धमें फैलता है।

निदान—लड़ाई, दुष्काल, दरिद्रता और मलिनताके हेतुसे इसकी उत्पत्ति होती है। यह रोग अन्य प्रबल जनपद व्यापी रोगोंकी अपेक्षा भी अत्यधिक शीघ्रतासे फैलता है। परिचारकोंमें भी मृत्यु संख्या अधिक हो जाती है। जेलखाने, जहाज, सेना और शीलदार मकानोंमें यह अधिक फैलता है।

विकृत शारीरिक चिह्न—आशुकारी ज्वरकी विद्यमानतामें सामान्य परिवर्त्तन, मस्तिष्क और त्वचा आदिमें पिटिकाएं (Typhus nodules), सूक्ष्मतर रक्तप्रणालियोंकी दीवारोंमें कोथ तथा धमनियोंकी बाह्य दीवारसें लसीकाणु और रक्तवारि कोषाणुओंकी प्राप्ति होती है। मृत्युके बाद भी त्वचापर धब्बे प्रतीत होते हैं।

रक्त गाढ़े रंगका होता है और नहीं जमता यकृत् और वृक्कस्थान कुछ शोथमय भासते हैं। बहुधा प्लीहाके समान वृद्धि होती है। श्वास नलिका प्रसेक और फुफ्फुसमें रक्तसंग्रह भी विशेषतः उपस्थित होता है। पेयरकी ग्रन्थियाँ और अन्त्रवन्धनीकी ग्रन्थियाँ प्रभावित नहीं होतीं।

आक्रमण प्रकार—यह मनुष्योंके शिर या देहपर उत्पन्न जूओंद्वारा फैलता है। जल या वायुमें उत्पन्न कीटाणुओंद्वारा कभी नहीं।

कीटाणुविष लोमकूप और चर्मरन्ध्रमेंसे छनकर भीतर प्रवेशित हो सकता है। यह पहले जूओंकी देहके भीतर रक्तवारिमें विशेषतः रक्तचक्रिकाओं (Blood platelets) के भीतर ५-७ दिन तक वर्त्तमान रहता है। इसके पश्चात् भी संभवतः जूओंके शरीरमें ही इसका कुछ विकास-चक्र होता होगा। वह प्रलापक ज्वर रोगीका रक्त पीनेके पश्चात् ४थे से ७वें दिनके भीतर संक्रामक बनता है। इन जूओंके थूक या अन्त्रसे निकले हुए मलको नख या तीक्ष्ण पदार्थसे त्वचापर खुजा देनेसे इस रोगकी सम्प्राप्ति होती है; केवल जूओंके काटनेसे नहीं। उनके अण्डों (लीखों) द्वारा भी रोगविष संचार होता रहता है और द्वितीय जूओंका उत्पादन संक्रामक रोगको वहन करता है। इस जनपद व्यापी रोगका नियन्त्रण जूओंके विरुद्ध साक्षात् उपायकी योजनाद्वारा हो सकता है।

चयकाल—५ से २१ दिन। सामान्यत: १२ से १४ दिन। कभी ३ सप्ताह।

पूर्वरूप—१-२ दिन पहलेसे कुछ बेचैनी, हाड़फूटन, शिरदर्द, उबाक, चक्कर आना आदि लक्षण भासते हैं।

रोगावस्था—इस रोगकी ४ अवस्थायें हैं। १. आक्रमणावस्था-१ से ५ दिन तक; २. उत्तेजना और पिटिकावस्था ५वें से १०वें दिन तक; ३. शक्तिपाता-वस्था १०वें से १४वें दिन तक फिर ४. आकस्मिक उपशम।

१. आक्रमणावस्था (Stage of Invasion)—अकस्मात् आक्रमण, सामान्य वेपन सह शीत २४ घण्टे तक बार-बार लगना। पीठ और पैरमें, विशेषत: साँथलोंमें वेदना, शिरदर्द, उबाक, कभी वमन, निद्रानाश, प्रारम्भसे ही बलका ह्रास, प्रारम्भमें मुखमण्डलपर तेजी (Facies typhosa), शारीरिक उत्ताप आक्रमणकालसे ही अधिक रहना, फिर धीरे धीरे बढ़ना। ५वें दिन अत्यधिक हो जाना, नाड़ी द्रुत, जिह्वा काँटेदार, मलावरोध और श्वासनलिका प्रसेक आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

२. उत्तेजनावस्था और पिटिकावस्था (Stage of Nervous Excitement and Eruption)—इस अवस्थामें पिटिकायें निकल आती हैं, व्याकुलता बढ़ती है और प्रलाप उपस्थित होता है। पिटिकायें सामान्यत: ४थे या ५वें दिन निकलती है। प्रारम्भमें काँख और मणिबन्धपर फिर उदरपर पश्चात् छातीके अन्तभाग तक फैलती हैं। क्वचित् मुँह और कण्ठकी त्वचापर लाली फैल जाती है; उसे एलोपैथीमें मलबेरी रेश (Mulberry rash) कहते हैं। इसका उपक्रम बहुधा दो प्रकारसे होता है।

पहले प्रकारमें बाह्य त्वचाके नीचे चित्र विचित्र, प्रसारित, अनियमित और मलिन रङ्गकी; दूसरी क्षुद्र पिटिकाएं, जो कद और आकारमें अति अनियमित अनिश्चित बाह्य सीमायुक्त; किञ्चित् उन्नत, गुलाबी या श्याम रङ्गकी होती हैं। वे प्रथमावस्थामें दबानेपर अदृश्य होती हैं और उत्तरावस्थामें पिस्सू काटनेके समान कितनी ही रक्तमय भासती हैं। सामान्यत: संख्यामें अत्यधिक होती हैं। २-३ दिन तक प्रतीत होती हैं। बालकोंमें सामान्यत: रोमान्तिकाके सदृश भासती हैं। पिटिकाओंका उत्पन्न होना, यह श्वासनलिका प्रदाह और मस्तिष्ककी निश्चेष्टताका सूचक है। उस समयसे रोगी प्रलापकावस्थासे अभिभूत माना जाता है। फिर रोगीकी देहमेंसे एक प्रकारकी दुर्गन्ध आती है, जो आलमारीमें जूते रखनेपर उत्पन्न होनेके समान होती है या चूहेसे मिलती हुई होती है।

इस अवस्थामें प्रथम सप्ताहके अन्तमें शिरदर्दके स्थानपर मंद-मंद प्रलाप उपस्थित होता है, यह विशेषतर रात्रिको होता है। रोगी बारम्बार व्याकुलता,

चंचलता और अति उद्दण्डता दर्शाता है। अन्य रोगियोंमें तन्द्रा आती है। बलका ह्रास अधिक होता जाता है, जिह्वा शुष्क और फटी-सी भासती है। उत्ताप १०५° तक और नाड़ी द्रुत होती है। पेशाबकी उत्पत्ति बन्द हो जाती है या अति कम हो जाती है।

३. शक्तिपातावस्था (Stage of Nervous Prostration)—शक्ति १० से १४ दिन तक बहुत कम हो जाती है। चित्त न लगना, तन्द्रा, बेहोशी और मूर्च्छा, मांस पेशियोंमें कम्प और निद्रानाश सह अचेतना, ये लक्षण भासते हैं।

इस आन्त्रिक ज्वरावस्थाका आक्रमण प्रारम्भमें हो जाय, तो वह अरिष्ट माना जाता है।

इस अवस्थामें पिटिकाएं विशेष गहरे रंगकी होती हैं और वे पिस्सू काटनेकी पिटिकाओंके समान केन्द्रमें द्रवमय बनती हैं। पिटिकाका समय सामान्यतः ७ से १० दिन तक है। बारबार हृदयकी निर्बलता, नाड़ी तेज और मृदु, एवं जिह्वा शुष्क और आकुंचित होती है। ओष्ठ और दांतोंपर मैल संग्रहीत होता है तथा बधिरता आती है।

कितनेही रोगियोंकी कनीनिकाका छिद्र अति छोटा, सुईके छिद्र जितना तथा नेत्र अधखुले होते हैं। किसीमें कामुकता उत्पन्न होती है, किसीको गम्भीर हिक्का होती है।

गम्भीरावस्था—(१) निद्रानाश सह बेहोशी, नेत्र खुले रहना, कनीनिका प्रसारित और बुद्धिका बिल्कुल लोप हो जाना, ये अशुद्ध लक्षण भासते हैं। (२) फुफ्फुसोंमें रक्तसंग्रह। (३) सार्वाङ्गिक अत्यन्त क्लान्ति और हृदयावरोध।

चित्र नं० १५—प्रलापक ज्वरमें उत्तापदर्शक रेखा चित्र।

४. आकस्मिक उपशमावस्था (Crisis)—इस रोगमें विशेषतः १४ वें दिन उपशम होता है। रोगी निद्राधीन होजाता है, फिर जाग्रत होनेपर अत्यन्त

निर्बलता, किन्तु मनमें प्रसन्नता भासती है। उत्ताप कुछ घण्टोंमें गिर जाता है, लक्षण साफ हो जाते हैं, आरोग्यावस्था शीघ्र बढ़ती है। पुनः आक्रमण कभी नहीं होता। क्वचित् उपशम क्रमशः होता है।

सूचना—आकस्मिक उपशम होनेपर अति सम्हाल रखना चाहिये। अन्यथा हृदयावरोध होकर मृत्यु हो जाती है।

आयुर्वेदीय मतानुसार प्रलापक ज्वरके लक्षण—देहकांपना, चिल्लाना व बकना, तीव्रज्वर, शिरमें तीव्रवेदना, वायुदोषका तेजप्रभाव, व्यर्थ चिन्तन, बुद्धि व स्मृतिका ह्रास होना, अनर्गल व अत्यधिक बोलना ये लक्षण प्रलापक ज्वरमें होते हैं। अधिक अरिष्ट लक्षण होनेपर रोगी शीघ्र मृत्यु प्राप्त करता है। ÷

विशेष लक्षण

उत्ताप—१ से ५ वें दिन तक दृढ़तासह वृद्धि। प्रातःकाल कुछ उपशम। सबसे अधिक ५ वें दिन १०३° से १०६° तक। पिटिकायें निकलनेपर भी उपशम नहीं होता। १२ से १४ घण्टेमें अन्तिम दिन पतन। अरिष्ट प्रकारमें १०८° से १०९° तक वृद्धि।

फुफ्फुस—श्वासनलिकाप्रसेक प्रथमावस्थामें। फिर रक्तसंग्रह होना। फुफ्फुस-प्रकोपमें मृत्यु-संख्या अधिक।

हृदय—नाड़ी बारम्बार द्रुत और निर्बल। क्वचित् डाइक्रोटिक, आकुंचन ध्वनि सामान्य, कभी-कभी प्रसारण और पतन।

मूत्र—मूत्रमें शुभ्र ग्रथिन जाती है। कभी वृक्क-प्रदाह भी।

रक्त—लसीकाणु सामान्य १२००० से १५०००।

प्लीहा—कभी कुछ समयके लिये वृद्धि।

वॉसरमेन परीक्षा—आकस्मिक उपशमके पहले निश्चित।

रोगकी पृथक्ता—मृदुप्रकारमें रोगमुक्ति १० दिनमें, विशेषतः बालकोंमें। रक्त संक्रामक होता है। घातक प्रकारोंमें २ या ३ दिनमें अशुभ परिणाम।

उपद्रव और भावी क्षति—बार-बार कपोलप्रदाह (Parotitis) और कोथमय मुखपाक (Noma) ये श्वासप्रणालिकाप्रदाह; गम्भीरावस्थामें फुफ्फुस-कोथ, कभी वृक्कप्रदाह विद्रधि, कोथ, पक्षवध और क्वचित् कुछ कालके लिये उन्माद। यदि इस रोगकी प्राप्ति सगर्भाको होती है, तो गर्भपात होजाता है। इस रोगमें अनेकोंको शय्याव्रण भी हो जाते हैं।

मृत्यु—बहुधा १२ से २० प्रतिशत। किन्तु सेवा, चिकित्सा, आयु, जनपद व्यापकता और चारों ओरके फैलावसे इसमें विभिन्नता होजाती है। बालकोंमें

÷ कम्पप्रलापपरितापनशीर्षपीडाप्रौढप्रभावपवमानपरोऽन्यचिन्ता।
प्रज्ञाप्रणाशविकलप्रचुरप्रवादः क्षिप्रं प्रयाति पितृपालपदं प्रलापी॥ (च० सं०)

मृत्यु २ से ४ प्रतिशत। ४० वर्षसे बड़ी आयुवालोंमें मृत्यु ५० प्रतिशत। मृत्यु विशेषतः दूसरे सप्ताहमें सेन्द्रिय विष प्रकोपज त्रिदोष (Toxaemia) से। तीसरे सप्ताहमें मृत्यु फुफ्फुस विकृतिसे।

रोगविनिर्णय—जनपदव्यापी प्रकारका निर्णय सामान्य है। पिटिकायें निकलनेके पहले कुछ दिनों तक निश्चय करनेमें कठिनता रहती है। इस रोगके कितने ही लक्षण आन्त्रिक ज्वर, रोमान्तिका और पुनरावर्त्तक ज्वरमें मिलते हैं। अतः इनका प्रभेद करनेकी आवश्यकता है।

१. आन्त्रिक ज्वर—प्रलापकमें अकस्मात् आक्रमण, शीतकम्प, निर्बलता और मस्तिष्क विकृतिके लक्षण सह होता है। (अतिसार, उदरकी मृदुता और प्लीहावृद्धि नहीं होते) उदासीनता रहती है तथा पिटिकाओंमें प्रभेद रहता है। फिर भी रोग विनिर्णय अनेक बार कठिन हो जाता है।
२. रोमान्तिका—इसमेंसे प्रसेकज लक्षण होते हैं। कोपलिकके लक्षण भासते हैं। पिटिकाएं तेजस्वी होती हैं; किनारा अधिक स्पष्ट होता है और मुख-मण्डलपर चिह्न होते हैं। ये सब लक्षण इस ज्वरमें नहीं होते।
३. पुनरावर्त्तक ज्वर—रक्तपरीक्षासे निर्णित होजाता है।

चिकित्सोपयोगी सूचना।

यदि रोगीके मस्तिष्कपर या वस्त्रोंमें जूएं हैं, तो सबके पहले जूओंको नष्ट करना चाहिये। रोगीको स्वच्छ वस्त्र पहनाना चाहिये, उसे प्रकाश और वायुवाले मकानमें रखें।

जूएँ एवं उनके अण्डोंके लिये ससाफ्रास तैल (Sassafrass. oil) उत्तम है। बाल ढक सके उतना बड़ा लिण्टका टुकड़ा काटें। उसपर ढकनेके लिये मल मलका टुकड़ा और रूईकी तह तैयार करें। ससाफ्रास तैल या मिट्टीके तैलको ही बालोंपर रूईके फोहेसे घिसें। तैल अन्य स्थानपर त्वचाको न लगे, इसलिये चारों ओर वेसलीन लगावें फिर उसपर लिण्ट तथा रूई और मल-मलकी गद्दी रखें। तिकोनी बन्द ट्रैंग्युलर बेण्डेज बांधें। एक रात्रि तक रख, बालोंको पुनः सूक्ष्म कंघीसे सवारें और धोवें। इस तरह जूयें और लीखें नष्ट होने तक २-४ दिन तक रोज करें। सिर्का लगानेसे लीख नरम हो जाती है और छूट जाती है। मिट्टीका तैल अति सम्हालपूर्वक थोड़े समयके लिये लगावें। उससे जूयें और लीख दोनों मर जाते हैं। किन्तु त्वचाको हानि पहुँचती है। वर्तमानमें D.D.T. का उपयोग भी जूओंपर होता है।

आयुर्वेदमें जूओंके लिये निम्ब तैल लगाते हैं या तम्बाखू बालोंमें भर देते हैं। इससे भी जूएँ मर जाती हैं।

पूर्वरूप प्रतीत होनेपर यदि वमनकारक औषध और विरेचन देकर आमा-

शय और अन्त्रको शुद्ध कर लिया जाय, तो रोग विशेष उग्रता नहीं दर्शा सकता।

इस रोगमें प्रायः मलावरोध रहता है। अतः एरंड तैल या ग्लीसरीनकी पिचकारीद्वारा उदरशुद्धि कराते रहना चाहिये।

रोज सुबह दन्तमंजन लगाकर या कुल्ले कराकर दांत और मुँहको साफ कराते रहना चाहिये।

इस रोगमें उत्तापवृद्धि होकर मस्तिष्कको हानि पहुँचती है। अतः मस्तिष्क परसे बाल कटवाकर बर्फकी थैली या शीतल जलकी पट्टी रखवानेका प्रबंध करना चाहिये। एलोपैथीमें ज्वरकी वृद्धि होनेपर स्पंज या गीले वस्त्रसे सब अवयवोंको पोंछते हैं। कितने ही चिकित्सक मस्तिष्कपर मक्खन रखते हैं और कोई नाभिपर कांसीके बर्त्तनमें शीतल जल-धारा डालते हैं। सामान्यतः २-३ दिनपर सब अवयवोंको पोंछकर विषको निकाल दिया जाय, तो प्रस्वेद बाहर निकलनेमें सुविधा रहती है।

रोगीको सुबह शाम दूध देवें और दोपहरको मोसम्बीका रस पिलाते रहें। अन्न और मांस आदि पदार्थ नहीं देना चाहिये। (एलोपैथी मत अनुसार मांस-रस देनेमें बाधा नहीं है।) रोगीको जल गरम करके शीतल किया हुआ देवें। जल जितना पीना चाहे उतना पिलावें, जल पिलानेमें संकोच न करें।

यदि मूत्रावरोध हो गया हो, तो रबरके कैथीटरसे पेशाबको निकालते रहना चाहिये। अनिद्रारूप उपद्रव हो, तो अहिफेन प्रधान औषध विशेष उपयोगी है। केवल उदरको शुद्ध कर लेनेकी सम्हाल रखनी पड़ती है।

इस रोगमें तीव्र ज्वरशामक औषध नहीं दी जाती। ज्वर-विषका पाचन करने और शक्तिका संरक्षण करनेवाली औषध मुख्यतः दी जाती है। इस रोगमें प्रयोजन अनुसार रोगीको उत्तेजक या अवसादक औषध देनी चाहिये। हृदयकी शिथिलता होनेपर उत्तेजक और नाड़ी सबल वेगपूर्वक हो और ज्वर अधिक हो, तब शामक औषध देवें।

सामान्यतः प्रथम सप्ताहमें उत्तेजक औषध नहीं दी जाती। पहलेसे उत्तेजक औषधका प्रयोग करनेपर अपकार होनेका डर अधिक रहता है। फिर भी हृदय शिथिल हो, हृदयकी पहली ध्वनि क्षीण हो, नाड़ी क्षीण और द्रुतगामी हो, तो उत्तेजक औषध देनी चाहिये। किन्तु एक ही मात्रा देनेपर उत्तापवृद्धि होकर अस्थिरता बढ़ जाय तो उत्तेजक औषध बन्द करदें। यदि प्रथम मात्रासे क्लान्ति और प्रलापका शमन हो, हृदय और नाड़ीकी गति सबल बने, जिह्वा आर्द्र हो और रोगीको निद्रा आने लगे तथा जागनेपर स्फूर्तिका बोध हो, तो शराब या मद्यार्क सम्हालपूर्वक कम मात्रामें दे सकते हैं।

आयुर्वेदिक चिकित्सा अनुसार आन्त्रिक ज्वरके समान लक्ष्मीनारायण, प्रवाल पिष्टी, मत्युरान्तक वटी देते रहनेपर बहुधा आपत्ति नहीं आती। रोग विष

शनैः-शनैः पचन होकर ज्वर शमन होजाता है और अधिक निर्बलता भी नहीं आती।

शय्या व्रणके सुधारनेकी अपेक्षा उसे न होने देना अधिक सरल है। इसलिये दिनमें २ बार नितम्ब प्रदेश, गुल्फ, कन्धेके शिखर और दुःखनेवाले अन्य भागोंको साबुनजलसे नरमकर मालिश करें। अंगुलियां गोल फिरावें और उस भागमें सूखने तक मालिश करें, उसपर तैल स्पिरिटका मिश्रण लगावें। फिर झिंक बोरिक (जसद टंकणाम्ल) पाउडर छिड़कें। वह भाग लाल दीखनेपर वहां ४-४ घण्टेपर हलके हाथसे मालिश करावें।

शय्या व्रण (Bed sore) हो जाय, तो उसका उपचार तुरन्त करना चाहिये। बेहोशी, पक्षाघात, मूत्रका असंयम, कीटाणु प्रकोप, इन अवस्थाओंमें तथा अति कृश और शोथपीड़ित रोगियोंको शय्या व्रण जल्दी हो जाता है। अतः इन रोगियोंके लिये विशेष सम्हाल रखनी चाहिये।

शय्या व्रण होनेवाले भागोंपर दबाव कम करनेके लिये अनेक युक्तियां हैं। गरम जल अथवा वायुका बिछौना अथवा रबरके चक्र लेवें, दुःखनेवाले भागपर रुईकी गद्दी बाँधें, ओढ़नेके वस्त्रका भार न लगनेके लिये पालनेका उपयोग करें।

बिछौनेमें कूड़े कचरे और सिलवटोंको सर्वदा निकालते रहें। सिलाई किये हुये संधिवाले वस्त्र रोगीके नीचे न डालें।

रोगीको शौच जानेके समय टूटा मल पात्र न देवें और अधिक समय तक उसपर न बैठावें। मलपात्र देने और निकालनेमें खूब सम्हाल रखें।

यदि फुफ्फुसविकृति रूप उपद्रव हो जाये, तो फुफ्फुसपर अलसीकी पुल्टिस बांधें। इसका विशेष उपचार श्वासप्रणालिका-प्रदाह(ब्रॉंकोन्यूमोनिया) चिकित्सामें लिखे अनुसार करें।

रोग शमन होनेपर हृदयपौष्टिक औषध-लक्ष्मीविलास रस, नवजीवन रस, जवाहरमोहरा या अन्य दी जाती हैं।

एलोपैथीमें इस रोगकी कोई विशेष औषध नहीं है। स्वच्छता, ज्वर-विष पचनके लिये विविध औषधियां देनेकी और शरीर-पोषणके लिये सम्हाल रखनेकी सूचना करते हैं।

गलापक ज्वर चिकित्सा।

१. रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रहमें दी हुई औषधियां—लक्ष्मीनारायण, कस्तूरीभैरव, अश्वकंचुकी, ज्वरकेसरी और महाज्वरांकुश (दूसरी विधि), ये सब उपकारक हैं।

इनमेंसे लक्ष्मीनारायण रस १-१ रत्तीका उपयोग प्रवाल पिष्टी २-२ रत्ती

और मधुरान्तक वटी २-२ रत्तीके साथ दिनमें २ बार सुबह शाम किया जाय और दोपहरको प्रवालपिष्टी और मधुरान्तक वटी दी जाय तो विघ्न आये बिना ज्वरविष शनैः-शनैः पचन होकर रोग शमन होजाता है।

निद्रा न आती हो, उत्तेजक औषधकी भी आवश्यकता हो, तो लक्ष्मी-नारायणके स्थानपर कस्तूरीभैरव दिया जाता है। प्रलाप अधिक होनेपर प्रलापक सन्निपातमें लिखा हुआ तगरादि कषाय अनुपानरूपसे देना विशेष हितकारक है। उदरशुद्धि योग्य न होती हो, तो अश्वकंचुकी, ज्वरकेशरी या महाज्वरांकुश (दूसरी विधि), इनमेंसे एक औषध दी जाती है। इनमेंसे अश्वकंचुकी कुछ दिनों तक निर्भयतापूर्वक दे सकते हैं। अतः उसका प्रयोग करना विशेष अनुकूल रहेगा।

२. निद्रा लानेके लिये—कस्तूर्यादि वटी देवें तथा घी या एरण्ड तेलको काँसेकी थालीमें काँसीकी कटोरीसे घोटकर अञ्जन करें या सन्निपात चिकित्सामें लिखा हुआ निद्रा उत्पादक अञ्जन करें।

३. मलावरोधको दूर करनेके लिये—ज्वरकेसरी, त्रिवृदष्टक मोदक, पंचसकार या त्रिफलाका क्वाथ (निशोथके प्रक्षेपसह) देवें। अथवा ग्लीसरीन या एरण्ड तैलकी पिचकारीसे उदरशुद्धि करें।

४. बेहोशी अधिक होनेपर—श्वासकुठार रसका नस्य देवें।

चिचड़ी जन्य प्रलापक ज्वर।

Fievre B)u tonneuse-Tick bite fever-Eruptive fever.

व्याख्या—यह ज्वर भारत, आफ्रिका, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अमेरिकामें होता है। इसकी उत्पत्ति कुत्तेकी देहपर रही हुई चिचड़ी (Dog tick-Rhipicephalus sanguineus) के काटनेसे होती है। इसके कीटाणुओंको रिकेट्सिया कोनोरी (Rickettsia conori) कहते हैं। इसका निर्णय विल-फेलिक्सकी कसौटीद्वारा हो जाता है।

इस रोगके दो प्रकार हैं। १. सौम्य या क्षुद्र (Mild or abortive) और २. पूर्वलक्षणयुक्त। इनमेंसे भारतके भीतर कुमाऊँ प्रान्त, सीमा प्रदेश आदिमें सौम्य प्रकार प्रतीत होता है।

लक्षण—चिचड़ीके काटनेपर प्राथमिक क्षत और रस-प्रणालियोंका प्रदाह प्रतीत होते हैं। रोग पूर्णरूप धारण करले तो ८-१० दिन तक ज्वर, शिरदर्द, पाँचवें दिन पिटिका निकलना, कण्ठ अकड़ जाना, नेत्रकी श्लैष्मिक कला प्रदाह, (अभिष्यन्द) आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। कभी मस्तिष्क कला-प्रदाह भी हो जाता है।

पूर्व लक्षण उपस्थित होनेपर मस्तिष्कावरण प्रदाह, रोमान्तिका और

मधुरा होनेकी भ्रान्ति करता है। कुछ दिन होनेपर विलफेलिक्सकी परीक्षा-द्वारा इस रोगका निर्णय स्पष्ट हो जाता है।

इस रोगमें भारतीय, आफ्रिकन और अमेरिकन प्रकारोंकी उत्पत्ति और लक्षणोंमें कुछ-कुछ भेद हो जाता है।

चिकित्सा—तात्विक प्रलापकके समान उपचार करें। यह रोग सरलतासे शमन हो जाता है।

पिस्सूजन्य प्रलापक ज्वर।

Flea Typhus, Brill's disease Endemic Typhus.

व्याख्या—यह संभवतः तात्विक प्रलापकका सौम्य प्रकार है। किन्तु यह जूओंद्वारा उत्पन्न नहीं होता एवं न जनपदव्यापी रूप धारण करता है। यह विकीर्ण रूपसे प्रतीत होता है। इसकी शोध न्यूयार्कमें ब्रिल साहिबने की है। अतः इस रोगको ब्रिलका रोग कहते हैं। यह रोग पिस्सूओंसे प्राप्त होता है। अतः पिस्सूजन्य प्रलापक ज्वर कहलाता है। यह विश्वव्यापी है। मलायामें इसे उर्बन (Urban) संज्ञा दी है। इसका वाहन चूहे हैं। संरक्षक या उत्पादक चूहेकी देहपर रहे हुए पिस्सू (Xenopsylla astia and cheopis) हैं। इसके कीटाणुओंको रिकेट्सिया प्रोवाजेकी (Rickettsia Prowazeki) कहते हैं। यह रोग एक मनुष्यसे दूसरेको कदापि प्राप्त नहीं होता।

यद्यपि चूहे प्लेगकी उत्पत्तिमें कीटाणुओंका संक्रमण करानेमें हेतु हैं, किन्तु उस रोगमें चूहे मर जाते हैं और इस रोगमें चूहे नहीं मरते। इस रोगमें संक्रमण अस्थायी होता है और फिर पिस्सू भी दूर नहीं जा सकते। तात्विक प्रकार शीतकालमें फैलता है; किन्तु इसकी उत्पत्ति उष्ण ऋतुमें होती है।

लक्षण—तात्विक प्रलापकके समान, किन्तु सौम्य। इसकी संप्राप्ति विशेषतः परिपक्वावस्था और युवावस्थामें होती है। इसका आक्रमण अकस्मात् होता है। यह विकीर्णभावसे प्रतीत होता है। शारीरिक उत्ताप कुछ बढ़ता है। आकस्मिक उपशम १४ दिनमें होता है। इस रोगमें पिटिकाएं पहले धड़पर, हाथ-पैरकी सन्धिस्थानपर रही हुई पेशियोंपर होती है। कभी पिटिकाएं मुखमण्डल, हथैली और पैरके तलोंमें भी निकलती हैं। इस रोगमें मृत्यु संख्या ५ प्रतिशत होती है।

चिकित्सा—तात्विक प्रलापकमें लिखे अनुसार।

(१२) श्वसनक ज्वर।

श्वसनक ज्वर, रक्तष्ठीवी सन्निपात, कर्कटक सन्निपात, फुफ्फुस सन्निपात, न्यूमोनिया–Pneumonia।

इस ज्वरमें श्वासप्रकोप होकर लाखके रसके सदृश लाल-काले रङ्गका रक्त थूकके साथ निकलता है; इस हेतुसे इसे 'रक्तष्ठीवी सन्निपात' संज्ञा दी है। (क्वचित् रक्त नहीं भी निकलता)। श्वसन यन्त्रपर इस रोगका आक्रमण होता है, अतः इसे 'श्वसनक ज्वर' नाम मिला है। कितने ही आचार्योंने इस रोगमें फुफ्फुस दूषित हो जाता है, इसलिये इसे 'फुफ्फुस सन्निपात' कहा है। भाव-मिश्र आचार्यने इस रोगका नाम 'कर्कटक' रखा है।

इस ज्वरमें २ प्रकार हैं। फुफ्फुसखण्डप्रदाह और श्वासप्रणालिकाप्रदाह। इनमें फुफ्फुसखण्डप्रदाह विशेष घातक है। यदि इस रोगमें स्टेथस्कोपद्वारा फुफ्फुसोंकी परीक्षा की जाय, तो सूक्ष्म बुदबुदोंके समान ध्वनि सुननेमें आती है। नाड़ी तीव्र वेगवती चलती है। यदि फुफ्फुसोंपर उंगलियोंसे ताड़न-परीक्षा की जाय, तो पत्थरपर आघात होने सदृश घन आवाज आती है। ये सब लक्षण फुफ्फुसके वायुकोषोंका अवरोध होकर व्रण-शोथ होनेपर होते हैं।

श्वासोच्छ्वास क्रियाके मुख्य साधन दो फुफ्फुस-फेंफड़े (Lungsलंग्स) हैं। वक्षगह्वरमें हृदयके दोनों ओर एक एक रहता है। इसलिये इनको दाहिने फेंफड़े और बांये फेंफड़े कहते हैं। ये मृदु, कुछ तेजस्वी, दबानेपर स्पंज समान दबने वाले और वजनमें हलके होते हैं। इनमें स्पंजकी तरह अनेक छिद्र होते हैं। स्वस्थ मनुष्यके फुफ्फुसको जलपर रखें, तो वह तैरता है। फुफ्फुस संको-चन और प्रसरणशील हैं; अर्थात् इच्छा होनेपर मनुष्य उनको बढ़ा-घटा सकते हैं।

तुरन्तके जन्मे हुए बच्चेके फुफ्फुसोंका रङ्ग कुछ गुलाबी होता है। बड़ी आयुमें रङ्ग राख जैसा मैला हो जाता है तथा चारों ओर काले धब्बे (विशेषतः धूम्रपान करनेवालोंको) हो जाते हैं। वृद्धावस्थामें कालापन अधिक आ जाता है। स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंके फुफ्फुसोंमें कालापन अधिक होता है। पुरुषोंके दाहिने फुफ्फुसका वजन लगभग ५५ तोले और बांये फुफ्फुसका ५० तोले होता है। स्त्रियोंके फुफ्फुसका वजन ५ तोले कम होता है। सामान्यतः पुरुष-शरीरमें फुफ्फुसोंका वजन शरीरके वजनका ३७ वां भाग जितना और स्त्री शरीरमें ४३ वां भाग जितना होता है।

फुफ्फुसोंका आकार शंकुके समान होता है; अर्थात् ऊपरके भागकी अपेक्षा नीचेका भाग अधिक मोटा होता है। ऊपरके पतले भागको फुफ्फुस-शिखर (ऐपेक्स Apex) और नीचेके भागको फुफ्फुस तल (बेस Base) कहते हैं। इन फुफ्फुसोंमें कितनेही खड्डे हैं। इनमें ३ मुख्य हैं। दो वृन्तखात और एक हृदयखात। इनमेंसे प्रत्येक वृन्तखात प्रत्येक फुफ्फुसके भीतरकी ओर रहता है। फुफ्फुसमूल इस खड्डे द्वारा ही भीतर प्रवेश करता है। हृदयखात बांयें फुफ्फुसकी सीमापरका दाहिनेकी अपेक्षा अधिक गहरा है।

फुफ्फुसवृन्त (मूल Root)—अर्थात् फुफ्फुसोंमें जानेवाली श्वासनलिकाकी प्रशाखाएँ, रुधिरवाहिनियां, नाड़ियां, रसायनियां, आदिके समूहको कहते हैं, जिनके द्वारा फुफ्फुसका हृदय और श्वास नलिकाओंके साथ सम्बन्ध रहता है।

फुफ्फुसपिण्ड (लोब्स Lobes)-दक्षिण फुफ्फुसमें ३ और वाम फुफ्फुसमें २ पिण्ड हैं। सब पिण्डोंके भीतर एक-एक श्वासकाण्डिका (ब्रोंकिया Bronchia) जाती है। यह काण्डिका अनेक छोटी-छोटी शाखाओंमें विभक्त हो गई हैं। ये उपशाखाएँ आगे अति सूक्ष्म हो गई हैं। उनको श्वासप्रणालिका या सूक्ष्म श्वासवाहिनियां (Bronchioles) कहते हैं। इन श्वासवाहिनियोंके अन्तके मुख अंगूरके गुच्छे जैसी आकृतिवाले होकर वायुकोषसमूहों (लोब्युल्स Lobules) के भीतर गये हैं। प्रत्येक वायुकोष समूहोंमें ५-६ वायुकोष (एयर सेल्स Air cells) रहते हैं। कोई कोई समूह छोटा है, तो कोई बड़ा। सामान्य रीतिसे एक कोषसद्मका परिमाण लगभग एक अंगुलके सोलहवें हिस्सेके बरा-

बर होता है। सब वायु कोषोंकी पूरी समाई ३४३ घन इञ्च अर्थात् ७×७×७ इंच लम्बाई, चौड़ाई और गहराई है। इतनी वायु गहरी श्वास लेनेपर भीतर जा सकती है; और जब श्वास बाहर निकाल दिया जाता है, तब भी १०० घन इंच वायु भीतर रह जाती है।
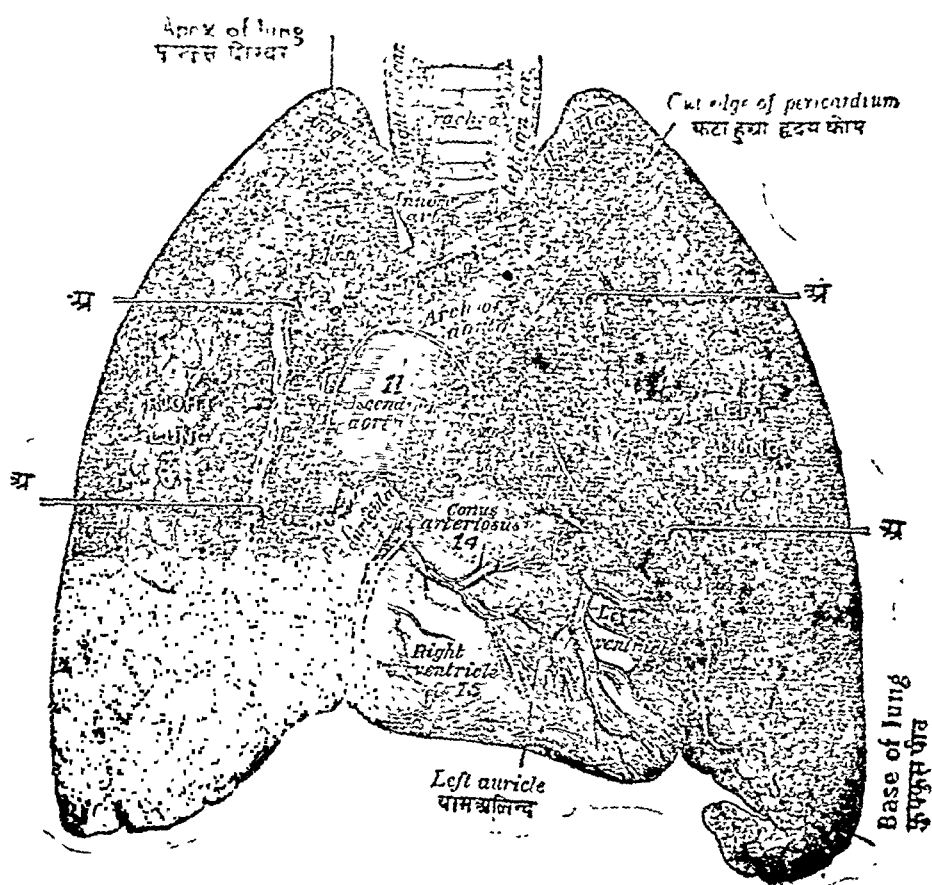
ये वायु-कोष अर्धगोलाकार हैं, इनपर स्नायु खूब लगे हुए हैं। फुफ्फुसाभिगा धमनीकी शाखायें हृदयके दाहिने भागमेंसे अशुद्ध रक्त इन वायुकोषोंके पास लाती हैं। फिर वायुकोषके भीतर आई हुई ताजी वायुमें रही हुई प्राण-वायु (Oxygen) से इस अशुद्ध रक्तकी शुद्धि होती है; तथा रक्तमें रही हुई दूषित वायु (कार्बोन डाइ ऑक्साइड गेस Carbon dioxide Gas) रेचन (निःश्वास) द्वारा बाहर निकल जाती है। इस तरह रक्त-शुद्धिकी क्रिया इन फुफ्फुसोंके भीतर अनवरत होती रहती है।

चित्र नं १७-एक वायुकोषसंघ (Lobule) में रहे हुए वायुकोष
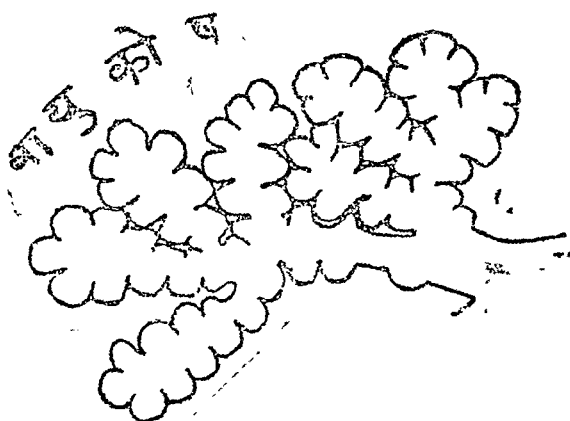
इन फुफ्फुसोंके एक ओरके कोई एक या अधिक पिण्ड या दोनों ओरके पिण्डोंमें दाह शोथ होकर न्युमोनिया हो जाता है। एक ओर को हो, तो एक पार्श्वगत (लोबर Lobar) और दोनों ओर को हो, तो द्विपार्श्वगत (डबल Double) न्युमोनिया कहलाता है एवं श्वासनलिकाएं और वायुकोषोंमें दाह, शोथ हो जाता है, तो वह ब्रोंको न्युमोनिया (Broncho Pneumonia) कहलाता है। यह रोग विशेषतः बच्चोंको होनेपर बोलचालकी भाषामें 'डब्बा रोग' कहलाता है।

फुफ्फुसावरण—(Pleura)—इस न्युमोनिया रोगमें फुफ्फुसोंको ढकने वाले फुफ्फुसावरणमें भी बहुधा विकृति हो जाती है।

दोनों फुफ्फुस फुफ्फुसावरण नामक थैलीके भीतर रहते हैं। इस थैलीमें दो स्तर हैं। एक स्तर फुफ्फुसोंपर चिपका रहता है और दूसरा समस्त वक्षके भीतर-

की ओर लगा हुआ है। दोनों स्तर मिलकर एक थैली बनी है। जैसे कोष (म्यान) के भीतर तलवार रहती है, वैसे ही इन थैलियोंके भीतर फुफ्फुस रहते हैं। श्वास लेनेपर दोनों फुफ्फुस फूलते हैं, तब फुफ्फुसावरणकी दोनों कलाएं परस्पर समीपमें आती हैं, और वायु बाहर निकालनेपर फुफ्फुसोंका संकोच होनेसे दोनों स्तर अलग होते हैं; दोनों स्तरोंके भीतर सामान्य संयोगोंमें थोड़ी पतली लसीका रहती है। यह बाह्य आघात या फुफ्फुसोंमें विकृति होने या अन्य कारणसे फुफ्फुसावरणके किसी एक भागमें शोथ होनेपर सूख जाती है। फिर पार्श्वशूल होने लगता है। दीर्घश्वास लेने या खांसी आनेपर उसमें पीड़ा होती है और सूक्ष्म ज्वर आ जाता है। न्युमोनिया और क्षयमें बहुधा यह शोथ हो जाता है। इस शोथको ड्राय प्ल्युरिसी (Dry Pleurisy) कहते हैं। फिर उसमें जल भर जाय, तो (Wet pleurisy), रक्त भर जाय तो हिमोथॉरेक्स (Hemothorax), पीप होनेपर एम्पायेमा (Empyema) और वायु भर जानेपर न्युमोथॉरेक्स (Pneumothorax) कहलाता है। इन सबका विवेचन चिकित्सातत्त्वप्रदीप द्वितीय खण्डके अन्तिम प्रकरणमें विस्तारपूर्वक किया है।

(१) संक्षेपमें कहें तो फुफ्फुस अत्यन्त सूक्ष्म वायु कोषोंके समूहसे बना हुआ ठीक स्पञ्जके समान शरीरका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है।

(२) गहरी परिखाओंद्वारा यह पृथक्-पृथक् खण्डोंमें विभक्त है।

(३) श्वासप्रणालियों एवं उनकी शाखा और उपशाखाओंसे विशुद्ध रक्त-शुद्धिका महत्त्वपूर्ण कार्य इसी अंगद्वारा सम्पन्न होता है। अतएव उपरोक्त महत्त्वपूर्ण रचना, क्रिया और परिणाम, ये सब श्वसनकज्वर (न्युमोनिया) के कारण, सम्प्राप्ति, लक्षण, भेद (प्रकार) और चिकित्सा आदिके निर्णयमें अत्यन्त सहायक होते हैं।

यह ज्वर विशेषत: दुर्बल, निर्धन और शोकातुर मनुष्योंको फुफ्फुसोंका वस्त्र आदिसे योग्य संरक्षण न होनेसे हो जाता है। बहुधा शिशिर और वसंत ऋतुमें शीत या वर्षाके आघातसे हो जाता है। क्वचित् यह ज्वर दुर्गन्धके सेवनसे या न्युमोनिया पीड़ित रोगीकी परिचर्या करनेके लिये अति संसर्गमें आनेसे अन्य ऋतुमें भी हो जाता है।

इस ज्वरमें वात, पित्त और कफ, तीनों दोष कुपित होते हैं। इनमें कफ प्रकोप अधिक होता है।

फुफ्फुसखण्डप्रदाह।

Lobar Pneumonia-Croupous pneumonia

इस श्वसनक ज्वरमें उत्ताप तीव्र और आशुकारी होता है। यह रोग छोटे बड़े सबको होता है, तथापि १० वर्षके भीतर और २० से ५० वर्ष तककी आयु

वालोंको विशेष होता है। यदि वृद्ध मनुष्योंको हो जाय, तो यह घातक हो जाता है। स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंको अधिक होता है।

निदान—वायुमें शीतलता होनेपर भी तेजवायुमें घूमना, धूपमें घूमनेके पश्चात् तुरन्त शीतल स्थानमें आकर शीतल जलपान करना, शीत कालमें पंखेसे वायु डालना, भोजन करके दोपहर या रात्रिको स्नान करना, अति मद्यपान अथवा कचित् हृदयपर आघात होनेसे इस रोगकी उत्पत्ति होती है। इनके अतिरिक्त दुर्गन्धवाले या धूलिमय वातावरणमें रहना, विषमज्वर, प्रतिश्याय, वृक्कशोथ आदि जीर्ण रोगोंसे दुर्बल होनेपर वायुका थोड़ा आघात लग जाना और अपथ्य आहार-विहार आदि कारणोंसे भी इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है।

पूर्वरूप—इस रोगकी उत्पत्तिके पूर्व फुफ्फुस जकड़ना, श्वास, कास, कचित् कम्प, कचित् फुफ्फुसावरणमें जल सञ्चय, क्षुधानाश, निर्बलता, बेचैनी, नाड़ीमें तेजी इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

रूप—यह ज्वर बहुधा शीत सहित आता है। प्रारम्भसे ही ज्वर तीव्र भासता है। अरुचि, तृषा, पार्श्वशूल, कास, धीरे-धीरे श्वास वृद्धि होते जाना, बारबार रक्तमिश्रित, चिपचिपा, दुर्गन्धयुक्त कफ निकलना, श्वासके वेगसे नाक और पसलीमें कंपन होते रहना, कपाल और सारे शरीरपर पसीना बारबार आते रहना, सरसों समान पिटिकाएं होना, दुर्बलता, मोह, प्रलाप, गलेमेंसे घर-घर आवाज निकलना, जिह्वा कठोर, शुष्क और मैली हो जाना, नाड़ी कोमल, स्थूल और चंचल होना, नाड़ीके रेखाचित्रको देखनेपर तृतीय तरंग छोड़कर चलने वाली छोटी तरङ्ग युक्त डाइक्रोटिक पल्स प्रतीत होना, ये सब लक्षण उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त शिरदर्द, निद्रानाश, पेशाबमें क्लोराइड क्षार कम होनेसे पेशाब थोड़ा और लाल रंगका हो जाना और बद्धकोष्ट आदि भी होते हैं। नाड़ीकी चाल १०१ से १३० तक हो जाती है। ज्वर १०३° से १०४° डिग्री तक हो जाता है; किन्तु वृद्धोंको कुछ कम रहता है।

स्वस्थावस्थामें श्वासोच्छ्वाससे नाड़ीके ठोके लगभग ४ गुने होते हैं। वे इस अवस्थामें त्रिगुण या द्विगुण ही होते हैं। यदि यह रोग शराबीको हुआ हो, तो उसे उन्माद सी हो जाता है। यदि प्रारंभसे प्रलाप होता रहता है, तो रक्तमें विषवृद्धि टोक्सीमिया (Toxaemia) के लक्षण निद्रानाश आदि भी हो जाते हैं। इस विषका प्रभाव विशेषतः वातसंस्थान, मस्तिष्क और हृदय पर होता है।

प्रारम्भमें कफ पतला रहता है; फिर फेंफड़े खरदरे होनेपर कफ चिपचिपे पीले रंगका हो जाता है। किसी-किसीको रक्त मिला हुआ कफ आता है। यदि रोगबल बढ़ जाता है, तो फुफ्फुसोंमें कोथ होकर अति दुर्गन्धयुक्त पीपसहित

किंचित् लाल पतला कफ आता है। पीप अधिक हो जानेपर रोग असाध्य हो जाता है।

आयुर्वेदीय मतानुसार रक्तष्ठीवीके लक्षण—तीव्र ज्वर, वमन, प्यास खूब लगना, मोह होना, वक्ष स्थल आदि अवयवोंमें शूल चलना, कभी पतले दस्त होना, हिचकी, उदरमें आफरा चक्कर या हाथ पैर पटकना, दाह, श्वासकी गति वढ जाना, वेहोशी तथा जीभमें गोल फुन्सियां होकर काली व लाल रंग की हो जाना, खून मिश्रित कफ थूंकना आदि लक्षण रक्तष्ठीवी ज्वरमें होते हैं। इस ज्वरको भयंकर प्राण घाती माना है। *

यह रोग बालकोंको होनेपर कर्णपाक; गर्भिणीको हो, तो गर्भपतन; तथा सम्यक् चिकित्सा न होनेपर या निर्वलता अधिक हो, तो फुफ्फुस कोथ, हृदन्तरत्वग्प्रदाह या हृदयावरणका प्रदाह और क्वचित् मस्तिष्क-प्रदाह आदि उपद्रव हो जाते हैं।

मलपाक नियमानुसार होता जाय, तो ७ वें, ८ वें या ९ वें दिन अकस्मात् खूब प्रस्वेद आकर रोगी ज्वरसे निर्मुक्त हो जाता है। स्वेद-वृद्धि होनेपर शरीर शीतल और क्वचित् नाड़ी-लोप हो जाती है। तत्काल सम्यक् चिकित्सा करने पर रोगी वच जाता है। यदि मलप्रकोप अधिक हो जाय तो रोगीकी मृत्यु हो जाती है।

इस रोगमें दूसरे या तीसरे दिन पीड़ा कम हो जाती है; खाँसी सुगमतासे आने लगती है; कफ पतला हो जाता है और क्वचित् चौथे या पाँचवें दिन ज्वर उतर जाता है। किन्तु यह मिथ्या उपशम है। (सच्चे उपशममें नाड़ी और श्वासोच्छ्वासका अन्तर नियमित हो जाता है)। इस हेतुसे ज्वर उतरकर पुनः चढ़ जाता है। सच्चे उपशममें पसीना इतना अधिक आता है, कि वस्त्र और बिस्तर भीग जाते हैं, या अतिसार होकर ज्वर दूर होता है। क्वचित् शनैः शनैः ज्वर उतरता है।

ज्वर चले जानेपर कभी-कभी फुफ्फुसावरणमें दाह, फुफ्फुस विद्रधि, या जीर्ण कास आदि रोग शेष रह जाते हैं, और फुफ्फुस वर्षो तक निर्वल रह जाता है। जिससे शीत या वर्षाका थोड़ा-सा आघात होनेपर पुनः इसी रोगका दर्शन हो जाता है।

साध्यासाध्यता—यदि रोगी सवल है, रोग एक पार्श्वमें है, ज्वर मंद है; चिकित्सा, पथ्यपालन और परिचर्या, तीनों सम्यक् प्रकारसे होते रहते हैं; तो

---

* रक्तष्ठीवी ज्वरवमितृषामोहशूलातिसारा हिक्काध्मानभ्रमणदवथुश्वाससंज्ञाप्रणाशाः।
श्यामा रक्ता भवति रसना मण्डलोत्थानरूपा रक्तष्ठीवी निगदित इह प्राणहन्ता प्रसिद्धः॥
(च. सं.)

रोगको सुखसाध्य माना है। अति प्रस्वेद, तीव्र ज्वर और रोगी वृद्ध या निर्बल है, फिर भी भली भाँति सम्हाल की जाती है, तो उस रोगीके बच जानेकी संभावना की जाती है।

अरिष्ट लक्षण—दोनों फुफ्फुसोंमें विकार हुआ हो या एक फुफ्फुसके सब खण्ड रोगाक्रान्त होगये हों, नासिकाके छिद्र श्वासके हेतुसे फूलते हों, नाड़ी अत्यन्त तेज हो जाती हो, हाथ-पैरोंमें थोड़ी-सी चेष्टासे कम्पन हो जाता हो, मन्द-मन्द प्रलाप, अत्यन्त प्रस्वेद, अति दुर्बलता आदि लक्षण दीखते हों, तो उन्हें अरिष्ट लक्षण माना है।

यदि श्वसनक सन्निपातके साथ भयंकर अतिसार और देह अस्थिपञ्जर सदृश और क्षीण हो जाय, तो वह रोगी यमपुरीमें जानेको तैयार हो जाता है।

प्राय: इस रोगमें बलक्षय, गात्रनीलिमा या हृदय गतिका अवरोध होकर मृत्यु होती है; कभी दोनों फुफ्फुसोंकी क्रिया बन्द हो जानेसे भी मरण हो जाता है।

शराबी, वृद्ध और निर्बलोंके लिये यह ज्वर कष्टसाध्य या असाध्य माना जाता है।

एलोपैथिक मतसे विशेष वर्णन।

व्याख्या—न्यूमोकॉकस कीटाणुओंद्वारा उत्पन्न विशेष प्रकारका आशुकारी रोग, जिसमें विषप्रकोप होकर एक या अधिक फुफ्फुसखण्डकी प्रदाहात्मक घनता और ज्वर प्रतीत हो तथा ज्वरान्त आकस्मिक उपशमद्वारा होता हो, वह फुफ्फुसखण्ड प्रदाह कहलाता है।

निदान—इस रोगकी सम्प्राप्ति बल्लमाकारके इधर-उधर युग्म रूपसे प्रतीत होने वाले कीटाणु-डिप्लोकोकस न्युमोनिया (Diplococcus Pneumonia-pneumococcus) द्वारा होती है। न्यूमोकोकसकी ३२ जातियों (वंश) का शोध हो चुका है। इनपर विशेष प्रयोग रोकफेलर इन्स्टीट्यूटमें हुआ है, उन्होंने इनके ४ विभाग किये हैं। पहले विभागमें ३० प्रतिशतपर आक्रमण, उसमेंसे मृत्यु २५ प्रतिशत; दूसरे विभागमें ३०% उसमेंसे मृत्यु ३०%, तीसरे विभागमें २०%, उसमेंसे मृत्यु ४५% तथा चौथे विभागमें २०% पर आक्रमण और उन आक्रमित व्यक्तियोंमेंसे मृत्यु १०% की होती है। तीसरा विभाग कुछ पृथकता दर्शाता है। चौथे विभागमें अनेक वंश हैं और ये कम विषाक्त हैं। इनके अतिरिक्त भी इसके ३-४ अलग विभाग किये हैं।

उक्त न्यूमोकोकसके अतिरिक्त इसके साथ कितने ही विभिन्न जातिके कीटाणु इन्फ्ल्यूएञ्जाके कीटाणु, स्ट्रेप्टो कोकस, स्टफिलोकोकस, कचित् कण्ठरोहिणीके कीटाणु और अन्य वनस्पति जन्य कीटाणु भी इस रोगमें पाये जाते हैं।

इनके अतिरिक्त एक प्रकारका कीटाणु, जिससे बेसिलस न्युमोनिया आफ फ्रिडलेण्डर (B. Pneumonia of Friedlander) कहते हैं, जो बृहदन्त्रमें रहता है, वह कभी इस सच्चे न्युमोनियाका कारण नहीं बनता। किन्तु वह सेन्द्रिय विपज त्रिदोषज ज्वर (Septicaemia) का कारण हो सकता है। इस रोगकी उत्पत्तिके प्रतिबन्धार्थ रोकफेलर इन्स्टीट्यूटने उक्त १-२ और ४ थे विभागका वेक्सीन तैयार किया है। जिसके परिणाममें रोगनिरोधक शक्ति उत्पन्न होनेका पाश्चात्य डाक्टरोंको विदित हुआ है।

इस रोगमें ५ से १०% की मृत्यु होती है। यह रोग बालक, युवा, पूर्ण वयस्क और वृद्ध सबको होता है। अनुपात दृष्टिसे २-३ पुरुषों और १ स्त्रीको रोग उत्पन्न होता है; उत्पत्ति काल विशेषतः शरद् ऋतु और शीतकाल तथा किसी स्थानमें वसन्त ऋतु है। शीत कटिबन्धकी अपेक्षा उष्ण कटिबन्धमें इसका आक्रमण कुछ कम होता है। पूर्ववर्त्ती आक्रमण लोबर न्युमोनियाके परवर्त्ती आक्रमणके अनुकूल स्थिति तैयार कर देता है। शराबी और शक्तिसे अधिक परिश्रम करनेवालोंमें यह अधिक निर्बलता ला देता है। इस रोगमें शराबका व्यसन अरिष्ट उत्पादकोंमें प्रबल कारण है।

कितनेही रोग इन्फ्लयूएञ्जा आदि भी ऐसे हैं, जिनके अनुगामीरूपसे न्युमोनियाकी संप्राप्ति हो जाती है। छातीपर बाह्य आघातसे भी क्वचित् यह हो सकता है।

संप्राप्ति—न्यूमोकोकस कीटाणुओंका प्रवेश संभवतः नासिका और स्वर-यन्त्रके मार्गसे होता है। सबसे पहले विषप्रकोप फैलता है, फिर फुफ्फुसोंमें स्थान प्राप्त करता है, जिसके परिणामस्वरूप फुफ्फुसोंमें परिवर्त्तन होकर आशु-कारी प्रदाहकी संप्राप्ति होती है। फिर विषप्रकोपके कारण रक्त दुष्ट होकर जम जाता है और लसीका भी गाढ़ी हो जाती है। फिर तन्तुओंके स्वभावद्वारा गुणानुसार रूपान्तर होता है। इसकी ३ अवस्थायें मानी गई हैं। १. रक्तसंग्रहा-वस्था; २. रक्तघनीभवन; ३. असित घनीभवन। इन तीनों अवस्थाओंके पश्चात् प्रकृति भावकी प्राप्ति होकर रोगी अच्छा होजाता है।

१. रक्तसंग्रहावस्था (Stage of Engorgement)—यह रोगकी प्रथमावस्था है। फुफ्फुस गहरा लाल, निश्चल और पहलेकी अपेक्षा अति दृढ़। खण्डके ऊपर सतह लाल आर्द्र, वायुका आवागमन पहलेकी अपेक्षा कम हो जाना, कैशिकाएं प्रसारित और रक्तपूर्ण, वायुकोषोंके भीतर कितनेही रक्ताणु, रचना कोष और रक्तवारि भर जाना तथा उसकी त्वचा शोथमय बन जाना आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

इस अवस्थाका प्रारंभ बेचैनी, कम्प या शीत-बोध होकर कास सह होता है। सामान्यतः प्रबल शीतबोध, बालकको प्रायः तीव्र आक्षेप तथा युवा

मनुष्यको वमन, शारीरिक उत्ताप १०३°-१०४° डिग्री तक बढ़ जाना, अग्नि-मान्द्य, प्यास, मललिप्त जिह्वा, शिरदर्द, हाथ-पैर टूटना, नाड़ी कठिन, नाड़ीगति १२०-१३० या उससे भी अधिक, श्वासोच्छ्वास ५०-६० या उससे अधिक, नाड़ी और श्वास संख्या, दोनोंमें मेल न रहना, बोलनेमें कष्ट होना, छातीपर दबाव-भासना, मंद-मंद वेदना होना, खांसी चलनेपर वेदना वृद्धि होना, बार-बार दुःखदायी, कर्कश कास चलना, प्रारम्भमें कफ न निकलना, फिर दो तीन घण्टे बाद चिपचिपा, झागदार, अर्धमलिन कफ निकलना, दूसरे दिन कफ लोहेके जंग जैसा बन जाना, मुखमण्डल विशेषतः पीड़ित, कपोलोंपर लाली और तेज़ी, नीचेका होठ नीलाभ, नासापुट श्वासोच्छ्वासके साथ आकुंचित और प्रसारित होना, निद्रानाश, क्वचित् प्रलाप, पेशाब बहुत कम परिमाणमें, गहरे लाल रंगका, प्रायः उसमें एल्ब्युमिन जाना और पेशाबमें क्लोराइड क्षार (नमक) का परिमाण कम हो जाना या लोप हो जाना आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

रोगग्रस्त पार्श्वके ऊपरकी दीवारमें संचलन कम हो जाता है। यदि फुफ्फु-सावरण प्रभावित हो गया हो, तो वेदना अधिक होती है। रोगी सामान्यतः चित लेटता है, एवं प्रभावित पार्श्वकी ओर करवट लेकर सो सकता है। यदि फुफ्फुसका दूसरा खण्ड भी आक्रान्त हो जाय, तो शारीरिक उत्ताप बढ़ जाता है।

प्रथमावस्थामें वक्षः प्रतिघात करनेपर रोगके कोई लक्षण नहीं भासते। फिर फुफ्फुस दृढ़ होनेपर आवाज मन्द (Dulness) हो जाती है। अंगुलीको प्रति-रोधका अनुभव होता है। इस अवस्थामें ध्वनियन्त्रसे सुननेपर आवाज केशमर्दन-वत् या आगन्तुक उपस्थित होती है। प्रत्येक श्वासके अन्तमें बुद्बुदा फटनेके समान आवाज आती है तथा नालीयनाद (Bronchial respiration) सुननेमें आता है।

जब अति रक्तसंग्रह होता है, तब रक्तरस निकलने लगता है, फिर घनता आजाती है। फुफ्फुसके परिमाण और वजन बढ़ जाते हैं, फुफ्फुसपर दबानेपर गड्ढा पड़ जाता है, उसमें वायु न रहनेसे द्रव-पूर्ण रहता है, फुफ्फुसको काटने पर लाल भासता है। थोड़ा दबानेपर उसमेंसे झागयुक्त रस निकलता है।

२. रक्तघनीभवनावस्था—(Stage of red Hepatization consolidation)—फुफ्फुस, बड़ा और भारी भासता है; सामान्यतः पहले फुफ्फुस स्पञ्जवत् होता है, फिर वह स्थिति नष्ट होकर निश्चल और वायु रहित होजाता है। उस समय सतहपर फुफ्फुसावरण प्रभावित होना, पीड़ित भागकी सतह लाल पिंगल (Red-brown), शुष्क और दानेदार हो जाना, तथा वह सहज

चूर्ण हो जाय वैसा बन जाना, केशमर्दनवत् आवाजका अभाव, जलमें डालनेपर डूब जाना और पीड़ित भागकी सतहके ललाईवाले मलकी परीक्षा करनेपर कितनेही डिप्लोकोकाई कीटाणु मिलना, ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं।

इस अवस्थामें वायु कोषोंके रिक्त स्थानके भीतर संगृहीत प्रथिन, रक्ताणु, श्वेताणु और त्वचा कोषसे बने हुए जाल भर जाते हैं। फुफ्फुसपर प्रतिघात करनेपर पत्थरपर ठेपन करने सदृश भासता है। स्टेथस्कोपसे सुननेपर वंशीनाद (Tubular) सुननेमें आता है। श्वासकृच्छ्रता, रात्रिको ज्वर वृद्धि, प्रातःकालमें कुछ कम होना, कफ लोहेके जंग जैसा निकलना आदि लक्षण विदित होते हैं।

सामान्यतः श्वासोच्छ्वास क्रियामें फुफ्फुसोंका संकोच-विकास निरन्तर होता रहता है, जो नेत्रोंमें प्रतीत होता है; किन्तु वह संकोच-विकास-क्रिया रुग्ण स्थानमें प्रतीत नहीं होती वह स्थान निश्चल-सा रहता है।

३. असित घनीभवनावस्था—(Stage of Gray Hepatization— इसमें फुफ्फुसका रङ्ग धूमर (Gray) हो जाता है, खण्डकी सतह आर्द्र और अस्पष्ट दानेदार होती है, वह अत्यन्त सरलतासे चूर्ण होने योग्य बन जाता है, जलमें डालनेपर डूब जाता है, केशमर्दनवत् आवाज नहीं आती।

वायुकोप लसीकाणुओंसे भर जाते हैं तथा इनके विनाशक प्रभाव (Phagocytic action) द्वारा प्रथिन और रक्ताणुओंको अपसारित किया जाता है। इस अवस्थामें पाक-क्रिया हो जानेपर उनमें पूय संगृहीत हो जाता है। इस अवस्थामें फुफ्फुस द्वितीयावस्थाकी अपेक्षा कोमल होता है। बालकोंकी अपेक्षा वृद्धोंके रक्तमें रक्तरंजक कण अधिक होनेसे उनका फुफ्फुस काला होता है। इस अवस्थामें मेदोपक्रान्ति होती है। स्टेथस्कोपसे सुननेपर वंशीनाद और वाक्ध्वनि वृद्धि (Bronchophony) आदि लक्षण भी विदित होते हैं।

अवस्थाकाल—प्रारम्भिक रक्तसंग्रहावस्था १ से ३ दिन तक, उत्सृजनावस्था (दूसरी और तीसरी) ३ से ७ दिन तक। मुक्तावस्था १ से ३ सप्ताह तक। रोग अति प्रबल होनेपर द्वितीयावस्था लगभग ४८ घण्टोंमें पूर्ण हो जाती है।

तीनों अवस्थाओंके मुख्यतः लक्षण :—

१. प्रथमावस्था—केशमर्दनवत् आवाज, ठेपनमें सामान्य मंद आवाज, कास, श्वासकृच्छ्रता और ज्वरकी शीघ्र वृद्धि आदि।

२. द्वितीयावस्था—ठेपनमें घन आवाज, श्वासोच्छ्वासमें वंशीनाद, कफ लोहेके जंगके समान, श्वासकृच्छ्रता, कास, ज्वर अत्यधिक, रात्रिको वृद्धि तथा प्रातःकालमें कुछ विराम।

३. तृतीयावस्था—यदि पूयसंग्रह न हो, तो भौतिक लक्षण द्वितीयावस्थाके समान, शीत-बोध, क्षीणता आदि। पूय होनेपर अत्यन्त ज्वर।

प्रकृति भावावस्था (Resolution)—ग्रथिन आदि जो मलरूपमें बनकर वायु कोषोंमें भर जाती है उसका परिपाक होता है। फिर विशेषांश कफ बनकर थूकके साथ निकल जाता है तथा कुछ रक्तमें शोषित हो जाता है, वह वृक्क द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है। जिससे प्रकृतिभावकी प्राप्ति होती है। यथार्थमें प्रकृतिभावकी प्राप्तिसे २४ घण्टे पहलेसे शरीर-क्रिया परिवर्त्तन (Physical change) के लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

नोट—क्ष-किरण-परीक्षासे विदित हुआ है कि, इस रोगमें प्रदाहजनित विकृतिको सतहपर जानेमें ३ दिन लगते हैं। महाप्राचीरा पेशी इसके पहले ही बढ़ना प्रारम्भ कर देती है।

फुफ्फुसाघात—विशेषतः दो फुफ्फुसोंकी अपेक्षा फुफ्फुसपर, इनमें भी बांयेंकी अपेक्षा दाहिनेपर विशेष आक्रमण होता है एवं फुफ्फुसपीठ शिखरकी अपेक्षा अधिक प्रभावित होती है। सामान्यतः फुफ्फुसपीठ ७५ प्रतिशत व्यथित होती है। यदि दोनों फुफ्फुसोंपर आक्रमण हो, तो दोनों फुफ्फुसपीठ आक्रमित होते हैं। दोनोंके प्रत्येक भाग अति क्वचित् पीड़ित होते हैं। केवल बीचका खण्ड भी क्वचित् ही आक्रमित होता है।

कभी अनेक खण्ड समकालीन प्रभावित प्रतीत होते हैं; अथवा थोड़े-थोड़े अन्तरपर अधिक बार आक्रमण होनेपर अनेक अवस्थाएँ एक ही समयमें विद्यमान हो सकती हैं। बड़ी आयुवालोंकी अपेक्षा बालकोंमें शिखरस्थान विशेष प्रभावित होता है। ५ वर्षके भीतरकी आयुवालोंपर आक्रमण ३० प्रतिशत प्रत्येक खण्डमें होता है। दाहिना फुफ्फुस ५५%, बाँयाँ २५% और दोनों २०%। १ खण्ड ४०%, दो खण्ड ४०%, दो खण्डसे अधिक २०% आक्रमित होते हैं।

फुफ्फुसघनीभूत होनेपर वजन ५० औंस लगभग हो जाता है, जब सामान्यावस्थामें २० औंस होता है। श्वासनलिकामें झाग भरा रहता है। कभी फुफ्फुस-प्रदाहसे गाढ़ा कफ बन जाता है। श्वासनलिकाकी ग्रन्थियाँ शोथमय हो जाती हैं। कभी अन्त समयमें पूयमय बनती हैं।

आक्रमण—इस रोगका चयकाल संभवतः कुछ घण्टोंसे कुछ दिनों तकका है, पूर्ण निश्चय नहीं हुआ। आक्रमण शीत कम्प सह होता है। शीतकालके भीतर शारीरिक उत्ताप बढ़नेका प्रारम्भ हो जाता है और गम्भीर आक्रमण होता है। आक्रमण कालमें पार्श्वमें पीड़ा, बारम्बार अति गम्भीर, कुछ शुष्क-कास और शीघ्र श्वसनक्रिया, ये लक्षण विद्यमान होते हैं। २४ से ४८ घण्टेके

भीतर प्रभेदात्मक लक्षण प्रतीत होते हैं। उस समय प्रकाशमय मुखमण्डल और तेजस्वी नेत्र, शीघ्र लघु श्वसन क्रिया, नासापुट प्रसारित होना, बार बार कास आकर पार्श्व पीड़ामें वृद्धि होना, त्वचा शुष्क और तीक्ष्ण बन जाना, उत्ताप १०४° तक सामान्य रूपसे बढ़ जाना आदि प्रतीत होते हैं।

रोगशमन—रोगकी नियमित गति होनेपर ५ से १० दिनके भीतर आकस्मिक उपशमद्वारा शमन होता है। फिर जल्दी आरोग्यकी संप्राप्ति होती है।

अधिक आघात हो और रोगी सबल हो, तो १०-१५ दिनके भीतर आरोग्यता प्राप्त हो जाती है। यदि पूयोत्पत्ति हो जाती है, तो मृत्यु हो जाती है या कितनेही सप्ताह तक कष्ट भोगना पड़ता है।

शारीरिक उत्ताप—प्रारम्भमें ज्वर तेजीसे बढ़ता है। विशेषतः १०२° से १०४° तक थोड़े ही घण्टोंमें पहुँच जाता है। गम्भीर हेतु बिना १०४° से अधिक नहीं बढ़ता। बालकोंमें शीतके अभावमें बार-बार आक्षेप आते हैं। शराबी, वृद्ध और निर्बलोंमें उत्ताप अधिक नहीं बढ़ता, एवं जल्दी भी नहीं बढ़ता। तथापि उनके लिये यह रोग विशेष भयप्रद है।

कितनेही घातक प्रकारोंमें उत्ताप १०४° से अधिक बढ़ जाता है या मृत्युके पहले अकस्मात् गिर जाता है। इस रोगका उपशम विशेषतः आकस्मिक उपशम कुछ घण्टोंमें होता है। शनैः शनैः उपशम ३६ घण्टेसे अधिक समयमें हो, तो अनुक्रमोपशम कहलाता है। सामान्यतः ५ वें से १० वें दिनके भीतर, विशेषतः ७ वें दिन अकस्मात् उपशम होता है। कचित् १२ वें दिनके बाद होता है। तीसरे दिनसे पहले कभी नहीं होता। ६ वें दिनसे पहले ९० प्रतिशत उपशम होता है। आकस्मिक शमनमें ६ से १२ घण्टे लगते हैं; किन्तु २४ घण्टे तक पूर्ण सम्हाल रखना चाहिये। अत्यधिक प्रस्वेद आकर उत्तापका पतन होता है फिर रोगीको निद्रा आ जाती है। जाग्रत होनेपर उत्ताप, श्वासकृच्छ्रता, व्यापक लक्षण और वेदनाका ह्रास हो जाता है।

कभी कृत्रिम शमन (Pseudo crisis) होता है। ऐसा होनेपर उत्ताप पुनः बढ़ जाता है। फिर २४ से ४८ घण्टेपर पुनः आकस्मिक उपशम हो जाता है।

बालकोंमें ३० प्रतिशत रोगियोंमें अनुक्रमोपशम प्रतीत होता है। कितनेहीमें प्रायः १२ वें दिनके बाद निश्चित प्रकार धारण कर लेता है और कुछ सप्ताह तक बना रहता है।

श्वासोच्छ्वास—सामान्यतः आक्रमणावस्थामें ३०, घनीभूतावस्था बढ़ने पर ४० से ५०; बालकोंमें पहले ५५ से ६०, फिर अरिष्टावस्थामें ७० से अधिक

आकस्मिक उपशम होनेपर इसका भी पतन होता है, तथापि नाड़ी और उत्तापकी अपेक्षा धीरे-धीरे। स्वाभाविक श्वसन होनेमें प्रायः कुछ दिन लग जाते हैं।

नाड़ी—नाड़ी पूर्ण और सीमा बद्ध, गति १०० से १२०। गति डाइक्रोटिक (धमनीके ह्रासयुक्त दबाव वाली नाड़ी) नहीं होती। बालकोंमें स्पन्दन १२० से १६० तक। सबल युवा व्यक्तिमें १०० के भीतर। निर्बल और वृद्धोंमें आक्रमण कालमें अधिक, विशेष घनीभवनके साथ नाड़ी लघु और दौड़ती हुई भासती है।

मूत्र—पेशाबमें क्लोराइडका अभाव हो जाता है। गम्भीरावस्थामें शुभ्र ग्रथिन उपस्थित होता है। आकस्मिक उपशम हो जानेपर पुनः क्लोराइड उपस्थित हो जाता है। तन्तुओंमेंसे रक्त रसका या लसीकाणुओंका शोषण होनेके हेतु आकस्मिक उपशम कालमें यूरिक एसिड बढ़ जाता है। कभी तीक्ष्ण वृक्कप्रदाह हो जाता है।

वातसंस्थान विकृति लक्षण—५० प्रतिशतमें शिरदर्द, किसीमें कभी गंभीर अनेकोंमें निद्रानाश, किसीमें दुःखप्रद व्याकुलता, कुछ अंशमें बुद्धिमांद्य, गम्भीरावस्था होनेपर प्रलाप और बेचैनी उपस्थित होते हैं।

विशेषतः विषप्रकोप होनेपर या शराबका व्यसन होनेपर प्रलाप हो जाता है, कभी उन्माद उपस्थित होता है, कभी बालकोंमें आक्रमणके पश्चात् मस्तिष्कावरण प्रदाह (Meningitis) का अनुगमन हो जाता है। बालकोंमें शीतकम्पके स्थानपर आक्षेप आते हैं।

उपद्रव—१. उरस्तोय (Pleurisy); और पूयभृत उरस्तोय (Empyema); २. हृदयावरण प्रदाह (Pericarditis); ३. हृदयकला प्रदाह (Endocarditis); ४. मस्तिष्कावरण प्रदाह (Meningitis); ५. किसीको कुछ अंशमें कास, (श्वासनलिकाप्रदाह—Bronchitis); इनके अतिरिक्त फुफ्फुस विद्रधि और कोथ भी हो जाते हैं।

कीटाणुविषज उपद्रव—इस रोगके पचनप्रद कीटाणुओंके विष प्रकोपज ज्वर (Septicaemia) विशेषतः बालकोंमें; अति क्वचित् मध्य कर्णप्रदाह (Otitis Media) बालकोंमें ३ प्रतिशत; संधिप्रदाह (Arthritis); विशेषतः बालकोंमें सामान्य कामला, अति क्वचित् उदरकला-प्रदाह तथा कभी वृक्कप्रदाहकी सम्प्राप्ति हो जाती है। एवं इनके अतिरिक्त भी विविध प्रकारके उपद्रव उपस्थित होजाते हैं।

फुफ्फुसप्रदाह प्रकार—शारीरिक स्थानकी दृष्टिसे इस रोगके निम्नानुसार विभाग एलोपैथीमें किये हैं:—

१. शिखरप्रदाह युक्त (Apical Pneumonia)—विशेषतः बालकोंमें। इसके साथ मस्तिष्क विकार जनित लक्षण उपस्थित होते हैं। इसमें विष-प्रकोप लक्षण बढ़नेपर बृहद् मस्तिष्कगत (Cerebral) विकार कहलाता है।

२. क्रमशः वृद्धिगत (Creeping) अर्थात् क्रमशः खण्डोंमें बढ़ने वाला।

३. उभय फुफ्फुसग्राही (Double)—दोनों फुफ्फुसोंपर आक्रमण। सामान्यतः फुफ्फुस पीठपर। इसके परिणाममें मृत्युसंख्या अधिक होती है।

४. खण्डीय (Lobar) प्रकारोंमें केन्द्रिक (Central Pneumonia)। इनके अतिरिक्त निम्न प्रकार भी प्रतीत होते हैं।

५. मद्यज (Alcoholic subjects)—इसमें प्रबल प्रलाप; उठना, भागना आदि लक्षणों सह होता है। मृत्यु संख्या अत्यधिक होती है।

६. उपद्रवरूप—इसकी संप्राप्ति चिरकारी रोग-मधुमेह, हृद्रोग, वृक्कप्रदाह या राजयक्ष्मामें होती है। इसमें लक्षण और शारीरिक विकृति मामूली होते हैं।

७. गौण या रूपान्तरित (Secondary or Inter-current)—कितने ही प्रकारके विशेष ज्वर-आन्त्रिक आदिमें प्राप्त, विविध लक्षण युक्त। शारीरिक लक्षण-सामान्य, प्रायः फुफ्फुस पीठ प्रभावित होती है। सूक्ष्म लक्षण खण्डीय फुफ्फुस प्रदाहके प्रकाशित होते हैं।

८. जनपद व्यापी (Epidemic)—इस प्रकारमें मृत्युसंख्या अत्यधिक है। इस प्रकारमें न्यूमोकोकस कीटाणुसे अतिरिक्त कारण होता है। इस प्रकारमें ग्रन्थि ज्वर (Plague) कीटाणु, इन्फ्ल्युएञ्जासे सम्बन्धवाले होकर इस रोगका कारण हो सकता है।

९. असामयिक या बालकीटाणुजनित (Abortive or Larval)—आशुकारी रक्तसंग्रह होकर आगे मृदु विकृति और कम स्थितियुक्त अथवा सामान्य लक्षणयुक्त।

१०. निर्बलताजनित या विषप्रकोपज (Asthenic or Toxic)—स्थानिक क्षति मामूली। विष-प्रकोपज त्रिदोषके लक्षण सुस्पष्ट—वातसंस्थानमें विकृति, कामला, आमाशय अन्त्रविकारके लक्षण आदि।

११. शस्त्रक्रियाके पश्चात् (Post oPerativa)—इसके हेतु अनेक हैं। लक्षण अस्पष्ट होते हैं। इस प्रकारमें फुफ्फुस वाष्पजनित शीतलता या लालास्रावसे क्रियारोध, रक्त संग्रह, फुफ्फुससंकोच और शल्योत्पत्ति, ये ४ हेतु होनेसे इसके ४ विभाग होते हैं।

इस तरह खण्डके भीतरके अंशमें रहनेवाला (Kaufman's p. अथवा Corrigan's p.) फुफ्फुसावरणके प्रदाह सह (Pleuritic), परिभ्रामक

(शराबियोंको होने वाला स्थान परिवर्त्तक Wandering), कृत्रिम फुफ्फुसा-वरणप्रदाहज (रसभृत्-Pseudo-pleuritic Pneumoia अथवा Desnos'-p.), चिरकारी (Riesman's P.), ऊनके विषजनित (Woolsorters' P.) आदि प्रकार भी प्रतीत होते हैं।

भावी परिणाम-परिणाम प्रदाहके विस्तारपर निर्भर। अनेक बार हृदयकी क्रियाके लोपसे परिणाम अशुभ। उभय फुफ्फुस आक्रान्त और कफ अत्य-धिक पतला या लोहिताभ होनेपर प्राय: विषम स्थितिकी संप्राप्ति, उदर्य्याकला प्रदाह, मस्तिष्कावरण प्रदाह या वृक्कविकृतिरूप उपद्रव उपस्थित होनेपर वह भी घातक हो जाता है।

रोगी परीक्षा विधि—स्पर्शन, ठेपन और श्रवण (ध्वनि वाहकद्वारा) हृदय और फुफ्फुसोंकी परीक्षा की जाती है।

१. स्पर्शन—फेफड़ोंके ऊपर स्पर्श करके परीक्षा करें कि फुफ्फुसमें रक्ताधिक्य तो नहीं है ? क्योंकि रक्ताधिक्यसे छाती कम फूलती है।

२. ठेपन—रोगीके फुफ्फुस स्थानपर हाथकी अंगुलीसे ठेपन करें। उसकी आवाजसे रोगका अनुमान हो सकता है। जब फेफड़ेमें रुधिरका जमाव होता है, तब आवाज थोड़ी ठस आती है। परन्तु रुग्ण स्थान जहाँ फेफड़ेमें दर्द हो रहा हो, उस स्थानकी आवाज व उससे ऊपर नीचेकी आवाज अधिक ठस होती है। फेफड़ा सुर्ख भूरा यकृत्के समान हो जाता है, तब भी ठस आवाज निकलती है। धीरे-धीरे रोग ठीक होने लगता है, आवाजमें भी सुधार हो जाता है।

३. श्रवण—फुफ्फुस प्रदाहमें जब रोग अत्यन्त ही वेग युक्त हो जाय, उस समय स्पर्शन और ठेपनकी बजाय श्रवण परीक्षाका महत्त्व अधिक माना गया है। इसके लिए ध्वनिवाहकयन्त्र (Stethoscope) का उपयोग किया जाता है।

स्टेथस्कोपको रोगीके वक्षस्थलपर लगा कर कानकेद्वारा फेफड़ोंके शब्दोंको सुनकर फेफड़ोंकी परीक्षा की जाती है। फेफड़ोंके कुछ हिस्सोंमें जब श्वास-उच्छ्वास क्रियाकी आवाज नहीं सुनाई देती और कागजकी रगड़के समान या अन्य प्रकारकी आवाजें आने लगती हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि यह फुफ्फुस भाग रोगाक्रान्त हो गया है। जब फेफड़े कफसे लिप्त रहते हैं, तब फेफड़ोंमेंसे सूं सूं ध्वनिके साथ कपोत कूजनवत् आवाज आती है। कफ सूखनेपर फुफ्फुसके ऊपरी भागमें लोहारकी धोंकनीके समान तीव्र आवाज आती है।

अत्यन्त प्रदाह होनेपर फूटे हुए काँसेके वर्त्तनको ठोकनेके सदृश आवाज निकलती है। जब फेफड़े विजातीय द्रव्योंसे भर जाते हैं तब फेफड़े ठोस हो जाते हैं, तथा श्वासोच्छ्वासकी गति मन्द सुनाई देती है। फेफड़ेपर सूजन आनेसे रोगी कष्टसे श्वास लेता है।

उपर्युक्त परीक्षाके अतिरिक्त रोगीको श्वास लेनेमें छाती और पसलियोंमें पीड़ा होने लगती है। जो उसकी मानसिक स्थिति परसे भी विदित होती है। एवं श्वासप्रश्वास क्रिया होते समय नथुने भी फैलने लगते हैं।

इसका विस्तृत वर्णन सिद्धपरीक्षा पद्धति छठवें अध्यायमें पृष्ठ ३६६ से ४०५ तक किया है।

फुफ्फुसखण्ड प्रदाहपर चिकित्सोपयोगी सूचना।

फुफ्फुसखण्डप्रदाहके शमनार्थ सन्निपातमें कहे अनुसार आम कफका पाचन करें। दोषको बाहर निकालनेके लिये स्वेदन, निष्ठीवन, अवलेह, लंघन आदि चिकित्सा करें, विषप्रकोपको कम करनेका यत्न करें। हृदयावरोध होने लगे, तो उसे रोकनेकी शीघ्र चिकित्सा करें।

सामान्यतः इस आशुकारी फुफ्फुस प्रदाहमें लक्षणोंपर लक्ष्य रख कर निम्न ३ उद्देश्यसे चिकित्सा करनी चाहिये:—

१. कीटाणु या विषनाशके प्रयत्न (दोषप्रत्यनीक)।
२. कष्टप्रद विषम लक्षणोंके दमनार्थ चिकित्सा (व्याधि प्रत्यनीक)।
३. रोगीके बलके संरक्षणार्थ और दुर्बलताको दूर करनेके लिये उपचार।

प्रथम उद्देश्यकी सिद्धिके लिये लङ्घन, लोहबान, तार्पिन तैल या नीलगिरी तैल आदि कीटाणु नाशक औषधियोंका श्वासद्वारा प्रयोग तथा मलावरोध हो, तो उदर शुद्धिकर प्रयोग तार्पिन तैल मिश्रित एनिमा, ग्लिसरीनकी पिचकारी या मृदु विरेचन।

सामान्यतः इस रोगमें विरेचन, वक्षपर उष्ण पुल्टिस प्रयोग, अधिक रक्तसंग्रह वालेको रक्तमोक्षण, स्वेदल और मूत्रल औषध, ये सब हितकारक हैं। फुफ्फुसमें तीव्र वेदना हो, तो पीड़ित स्थानपर ४-६ जौंक लगवाकर रक्त निकलवाना चाहिये।

इसमें विशेषतः प्रारम्भावस्थामें उत्तेजक औषध नहीं देनी चाहिये। तथापि रोगी निर्बल हो या शराबी हो, तो उत्तेजक औषध अवश्य देनी चाहिये। इस रोगमें फुफ्फुस पीड़ित होते हैं, इसलिये फुफ्फुसोंका कार्यभार बढ़ाना सर्वदा अवांछनीय है। अगर हृदयोत्तेजक औषध देकर हृदय-स्पंदन बढ़ाया जायगा, तो नियमानुसार फुफ्फुसोंमें अधिक रक्त पहुँचेगा और इस प्रकार

पीड़ित फुफ्फुसपर अनावश्यक कार्यभार बढ़ जायगा। इसलिये हृदय सबल हो, तो शराब आदि हृदयोत्तेजक औषध कभी नहीं देनी चाहिये।

रोगीको अन्धकारवाले या शीतल स्थानमें न रखें, एवं अधिक गरम स्थानमें भी नहीं रखना चाहिये। जहां तेज वायु न हो, ऐसे समशीतोष्ण प्रकाशयुक्त स्वच्छ स्थानमें रखना चाहिये।

कमरेमें धूआँ नहीं करना चाहिये। दीपक हो सके तब तक कड़वे या मीठे तैलका जलावें।

फुफ्फुसोंको शीत न लगजाय, इस बातका खयाल रखें। फुफ्फुसोंपर मन्द-मन्द सेक आधेसे एक घण्टे तक दिनमें दो बार करते रहें; किन्तु हृदयपर सेक नहीं करना चाहिये।

कपड़े गरम पहनावें, किन्तु भारी नहीं। पैरोंपर गर्म जलकी बोतलसे सेक करें, प्रतिदिन निवाये जलसे स्पञ्ज करना चाहिये। कुल्ले कराकर रोज मुँहको स्वच्छ कर लेना चाहिये।

थूकनेके पात्रमें कुछ मिट्टीका तैल या अन्य कीटाणु नाशक औषध डाल देवें। पात्रको ढक कर रखें। रोज कफको गड्ढेमें गाड़ देवें और पात्रको अच्छी तरह साफ करें।

यदि श्वास लेनेमें कठिनाई होती हो, तो चित लेटे हुए रोगीको छातीको ऊँची रखवानेका प्रबंध करना चाहिये।

इस रोगमें लंघन कराना अति हितकर है। रोगका वेग कम होनेपर, प्रातः सायं गाय या बकरीका दूध देवें। क्षुधा लगे और रोगीकी इच्छा हो, तो दोपहरको मोसम्मी, अंगूरादि फल देवें। जल गरम करके शीतल किया हुआ दें; किन्तु अन्न बिल्कुल नहीं देना चाहिये।

इस रोगमें खानपान न सम्हालनेसे अजीर्ण होकर अतिसार हो जाता है। ऐसा क्वचित् हो, तो पहले मृदु विरेचन देकर उदर शुद्धि कर लेना चाहिये। दूषित मलको रोकना नहीं चाहिये, एवं लङ्घनका आश्रय लेना चाहिये। फिर आवश्यकता हो, तो अन्य ग्राही औषध देनी चाहिये।

द्वितीयावस्थामें नाड़ीकी अवस्था, देहका रंग, मुखमण्डलकी कान्ति, नाखूनोंकी नीलाभता और श्वासकृच्छ्रता आदिके लिये विशेष लक्ष्य देना चाहिये। यदि हृदयकी क्षीणता, त्वचाकी विवर्णता, मन्याशिराके स्पन्दनद्वारा हृदयके दक्षिण खण्डका प्रसारण और रक्तसंग्रहावस्था प्रतीत हो, तो तुरन्त हृदय पौष्टिक औषध देनी चाहिये। रसमाणिक्य (हरताल), लक्ष्मीविलास अभ्रकवाला या संचेतनी वटी या हेमगर्भ पोटलीरसका प्रयोग २-२ घण्टेपर

२-३ बार करना चाहिये ।

हृदयकी शिथिलतासे स्पन्दन अधिक होते हों, तो कस्तूरीप्रधान औषध, कस्तूरी भैरव, संचेतनी या वातकुलान्तक रस देवें । इस अवस्थामें ओक्सिजन वाष्प देनेसे शीघ्र लाभ पहुँचता है ।

एलोपैथिक मतानुसार श्वासकृच्छ्रता, नीला अंग हो जाना, हृदयकी निर्बलता और प्रलापपर प्राणवायु (Oxygen) और कर्बन द्विप्राण्यक (Carbon dioxide) के मास्क (Mask) की योजना की जाती है । प्राणवायुसे श्वसनोपचारका वर्णन चिकित्सा सहायक प्रकरणमें किया गया है ।

अति वेदना होनेपर पुल्टिस गरम करके बाँधें या बर्फकी थैलीसे शीतलता पहुँचावें । या जलौका द्वारा रक्त खिंचवा लेवें ।

इस रोगमें हृदय निर्बल हो जाता है; अतः हृदय शिथिल होनेपर, हो सके तब तक, वच्छनाभ युक्त औषधका उपयोग न करें ।

रोगीको पूर्ण विश्रान्ति दें. शौच और लघुशंकाके लिये भी वहाँपर ही प्रबन्ध कराना चाहिये । (थोड़ेसे परिश्रमसे फुफ्फुसोंको अधिक हानि पहुँचती है ।)

प्रारम्भमें विरेचन या बस्ति देकर बद्धकोष्ठको दूर करें । फिर स्वेदल, मूत्रल और सौम्य कफघ्न औषध देते रहें ।

कफको निकालने वाली उत्तेजक (Expectorant) औषध विशेष लाभ नहीं पहुँचाती । अतः डाक्टरीमें विशेषतः इसका त्याग हुआ है । फिर भी शृंग + अभ्रक भस्म, वासावलेह आदि आयुर्वेदिक औषधियां कम मात्रामें निर्भयता पूर्वक दी जाती हैं ।

यदि तीव्र विषप्रकोप है और रोगीके देहमें अति रक्तदबाव हो गया हो, हृदयके दहिने खण्डका प्रसारण होता हो, तो १०-२० औंस रक्त शिरामोक्ष द्वारा निकाल देना चाहिये । ऐसा न करनेपर श्वासकृच्छ्रताकी वृद्धि होती है । निद्रा आनेसे भी विषवेग शमन होता है, अन्यथा विष-प्रभाव प्रबल होता जाता है । इसलिए निद्रालानेवाली सौम्य शामक औषधकी योजना अवश्य करनी चाहिये । आयुर्वेदमें वातकुलान्तक या निद्रोदय रस और एलोपैथीमें पेरलडीहाइड देते हैं ।

सूचना—निद्रोदयमें अफीम आती है । अफीमको विवादास्पद माना है । अतः सम्हालपूर्वक कम मात्रामें देनी चाहिए ।

विषप्रकोप हो और हृदयकी शिथिलता हो गई हो, तो हृदयोत्तेजक औषध–शृंगभस्म, अभ्रकभस्म, समीरपन्नग या शराब (ब्राण्डी या विस्की)

देवें। अन्यथा उत्तेजक औषध न देवें, एवं आवश्यकता हो, तो नमक जलकी वस्ति देवें।

रोगके प्रारम्भ होनेपर यदि हृदय सुदृढ़ है, तो अश्वकंचुकी रस, सूतराज रस, त्रिभुवनकीर्ति रस या संजीवनी वटी आदिमेंसे कोई औषध देकर दोष-पचन करा, रोग-बलको कम करना चाहिये। यदि मूत्रावरोध रहता है तो मूत्रल औषध देकर विषको दूर करना चाहिए।

इस रोगमें कास कष्टकर लक्षण है। यदि कफ विशेष निकलता रहता है तथा श्वास-नलिकामेंसे झाग भी निकलता है, तो ऐसी अवस्थामें अवसादक औषध देकर कासका दमन नहीं करना चाहिए। कारण, कफस्रावका अवरोध होनेपर मार्ग-मुक्त नहीं हो सकेगा।

अनेक बार कफ अत्यन्त लेसदार, शीघ्र न छूटने वाला बन जाता है, उसे दूर करना दुःसाध्य होता है। फिर वही उग्रता उत्पन्न करता है जिससे कास बार-बार चलती है या स्वरयन्त्रका प्रसेक होनेसे बार-बार चलती है। ऐसी काससे निद्रामें बाधा पहुँचती है, कष्ट होता है और क्षीणता आती है। अतः अति लेसदार कफ होनेपर उसे ढीला कर बाहर निकालने वाली औषध तुरन्त दे देनी चाहिए।

यदि कास स्वरयन्त्रके प्रसेकजनित हो, तो मुँहमें कर्पूरादि वटी या मुल-हठीका टुकड़ा रखवा कर रस चुसवाते रहना चाहिए, एवं प्रवालपिष्टी + सितोपलादि चूर्ण १-१ माशा घी और शहदके साथ दिनमें ४ बार देते रहना चाहिए।

द्वितीय अवस्थामें कफ सूख गया हो, तो उसे पतला करनेकी क्रिया करें और पसलीपर लेप लगावें। आवश्यकता अनुसार सेक भी करें। हृदयको सबल रखनेवाली, विषघ्नामक और ज्वरघ्न औषध देते रहें। किसी सबल उप-द्रवकी उत्पत्ति होनेपर सन्निपातमें लिखे अनुसार चिकित्सा करें।

तृतीयावस्थामें फुफ्फुस-गत रस आदिका पोषण या बहिष्कृत करनेकी क्रिया होने लगती है। उस समय कफ शुष्क हो गया हो, तो उसे तरल बना-कर बाहर निकालनेमें सहायक औषध देनी चाहिये। क्षारप्रधान औषध दे सकते हैं, एवं अडूसा, मुलहठी, बहेड़ा, भारङ्गी और मिश्रीका क्वाथ भी विशेष हितकर सिद्ध हुआ है।

रोग शमन होनेपर अडूसावाला क्वाथ अभ्रक और शृंगभस्मके साथ या कफकुठारके साथ ४-६ रोज तक देते रहनेसे दूषित कफ दूर होकर फुफ्फुस शुद्ध हो जाता है।

रोग शमन होकर जब तक रोगी सबल न हो जाय, तब तक शीतल वायुमें घूमना, मैथुन, व्यायाम, सूर्यके तापका सेवन और गुरु भोजनका त्याग करें। रोग-शमन होनेपर भी कुछ दिनों तक स्नान नहीं करना चाहिये। स्पंज करा देहको शुद्ध करें फिर वस्त्र नित्य बदलते रहें।

उपद्रवोंके उपचार

१. अकस्मात् ज्वरकी अति वृद्धि हो और नाड़ी द्रुत हो जाय, कास, श्वासोच्छ्वासमें कष्ट, बेचैनी, प्रलाप आदि बढ़ जायें तो फुफ्फुसके भीतर घनीभवनावस्थामें स्थान विस्तृत हो रहा है। हृदयावरणप्रदाह, फुफ्फुसावरणप्रदाह, या अन्य सबल उपद्रव उपस्थित हो रहा है। ऐसा होनेपर देहको गीले वस्त्रसे पोंछें, उत्तेजक औषध देवें और उपद्रवको शमन करनेकी चिकित्सा करें।

२. श्वासकृच्छ्रता अत्यधिक बढ़ जाना, देहका नीला हो जाना, कास, वेदना वृद्धि हो (ज्वर वृद्धि न हो), ये लक्षण भी घनीभवनकी व्यापकता दर्शाते हैं। इस अवस्थामें कस्तूरी + अफीम मिश्रित औषध कस्तूर्यादि वटी देवें, प्राणवायु (वाष्प) देवें, उपद्रव शामक चिकित्सा करें।

३. नाड़ी गति अति तेज हो जाय (किन्तु हृदय क्षीण हो), नाड़ी दो स्पन्दन युक्त (डाइक्रोटिक) चलती हो, श्वासकष्ट, शारीरिक उत्ताप-वृद्धि और शक्ति ह्रास हो, तो ये भी घनीभवनके विस्तारकी सूचना देते हैं। इस अवस्थामें तत्काल हेमगर्भ पोटली, त्रैलोक्य चिन्तामणि, संचेतनी या समीरपन्नगकी योजना करनी चाहिये, एवं प्राणवायु (वाष्प) देनी चाहिये।

४. अकस्मात् त्वचाका रंग मलिन हो जाय और शरीरमें शक्तिका ह्रास हो तो तत्काल उत्तेजक औषध देनी चाहिये। अन्यथा हृदयावरोध हो जायगा। इसपर हेमगर्भ पोटली और त्रैलोक्यचिन्तामणि अति उपयोगी औषध हैं। श्वास द्वारा प्राणवायु देना चाहिये और उष्ण सेक भी करना चाहिये।

५. प्रलाप होनेपर शारीरिक उत्ताप वृद्धि, नाड़ी द्रुतगति, किन्तु क्षीण तथा अचेतनावस्थाकी क्रमशः वृद्धि होना, ये पहले होता है। फिर उत्तापका ह्रास, हाथ-पैरोंमें शीतलता और शक्तिपात होकर हृदय बन्द हो जाता है। अतः उत्ताप ह्रास होता हो, तो उत्तेजक औषध-त्रैलोक्य चिन्तामणि, हेमगर्भ पोटली रस या ब्राण्डी (शराब) देना चाहिये। सेक करना चाहिये और प्राणवायु (वाष्प) भी देना चाहिये।

६. कभी वक्षप्रदेशमें वेदना बढ़ती है। साथ-साथ शारीरिक उत्ताप और नाड़ी स्पन्दन भी बढ़ जाते हैं। ये लक्षण हृदयावरण या फुफ्फुसावरणके प्रदाहकी सूचना करते हैं। उसपर स्थानिक चिकित्सा कपिंग ग्लास लगाना, बर्फकी

थैलीसे सेक करना आदि करें। कपिंग ग्लासका प्रयोग करें, एवं हृदयोत्तेजक औषध भी दें।

इस तरह जो उपद्रव उपस्थित हों उनके अनुरूप चिकित्सा करनी चाहिये।

एलोपैथीमें इस रोगकी मुख्य औषध पेनिसिलिन है। (पहले सल्फ पाइराइडिन M & B 693) थी, यह आदिसे अन्त तक देते हैं।

फुफ्फुसखण्डप्रदाहकी चिकित्सा

रसतन्त्रसारमें लिखी हुई औषधियाँ—रक्तष्ठीवी सन्निपातपर लिखा हुआ रोहिषादि कषाय, पित्त कफात्मक सन्निपातपर लिखा हुआ पर्पटादि कषाय, मल्ल भस्म (तीसरी विधि), समीर पन्नग (अडूसा, मुलहठी, बहेड़ा, भारंगी और मिश्रीके क्वाथके साथ), महा ज्वरांकुश (दूसरी विधि), लक्ष्मीनारायण, सूतराज रस (अदरकके रसके साथ), चन्द्रामृत रस, रससिन्दूर या समीरपन्नग, शृंगभस्म और अभ्रक भस्म, तीनोंका मिश्रण (दालचीनी और शहदके साथ), हरतालगोदन्ती भस्म, अचिन्त्यशक्ति रस, वातेभकेसरी, इन औषधियोंमेंसे प्रकृति और रोगबलका विचार कर योजना करनी चाहिये।

सूतराज रसमें अफीम अधिक है, वातेभकेसरीमें भी अफीम है। अतः इनका उपयोग सम्हालपूर्वक करना चाहिये। एवं मल्लप्रधान औषधका उपयोग वृक्क प्रदाह या अन्य वृक्क विकार न हो, तो करना चाहिये। अन्यथा मूत्रावरोध होकर विकार बढ़ जाता है।

हम प्रारम्भमें कोष्ठशुद्धि, आमपचन और ज्वर कम करानेके लिये अश्वकंचुकी रस देते हैं। फिर अचिन्त्यशक्ति रस और मल्लभस्म (तीसरी विधि) को बार-बार उपयोगमें लेते हैं। वह प्रस्वेद लाकर ज्वरके बलको घटाती है, विषको बाहर फेंकती है; और फुफ्फुसोंकी जकड़ाहट कम करती है। जिनको खाँसी अधिक हो, उनको चन्द्रामृत रस दिनमें २ या ३ समय देते रहते हैं; अथवा निर्बल हृदय और अति दूषित कफ वालेको इस मल्ल भस्मके साथ रससिन्दूर, शृंगभस्म और अभ्रक भस्म मिलाकर देनेसे रोगीकी शक्ति नहीं घटती; हृदय शिथिल नहीं होता और फुफ्फुसमें कफकी विकृति होनी रुक जाती है। अनुपानरूपसे दाल चीनीका चूर्ण और शहद मिला देनेसे कीटाणुओंका नाश होनेमें अच्छी सहायता मिल जाती है। मूत्रद्वारा विष बाहर निकालनेके लिये आवश्यकता अनुसार गोखरू और तृण पञ्चमूलका क्वाथ अनुपानरूपसे देते रहना चाहिये। अचिन्त्य शक्ति रस देनेपर बहुधा सहायक औषधिकी योजना नहीं करनी पड़ती। यह रस इसके नामके समान अचिन्त्यशक्ति युक्त है।

जिनका हृदय सबल है, मलावरोध नहीं है, कफप्रकोप और श्वासका वेग

अधिक है; उनको वातेभकेसरी रस (अफीम सहन हो उनको) मिश्रीके साथ देना हितकारक है। इस रससे कफशुद्धि होती है।

रोगी निर्बल होनेसे ज्वरका वेग कम रहता हो और कफ अधिक हो, तो दिनमें दो बार अचिन्त्यशक्ति रस दे सकते हैं या समीरपन्नग, अभ्रक और शृङ्गभस्म शहद और दालचीनीके साथ देते रहनेसे श्वास, कास और कफ दूर होकर शक्ति बढ़ती है।

यदि आन्त्रिक ज्वर सह फुफ्फुसप्रदाह हो, तो लक्ष्मीनारायण रस देते रहनेसे दोष पचन होकर ज्वर शान्त हो जाता है। साथमें रससिन्दूर, अभ्रक और शृङ्ग देते रहें। लक्ष्मीनारायण अति निर्भय औषध है। अपना कार्य धीरे-धीरे परन्तु स्थिर करता है।

सरसोंका तैल और लहसुनका रस, दोनोंको मिलाकर नस्य देनेसे कफ-प्रकोपके शमन होनेमें सहायता मिलती है और मोह दूर होती है। यदि कफकी अधिकता हो, तो श्वासकुठार रसका नस्य देना विशेष हितकर है। साथ ही साथ सन्निपात प्रकरणमें लिखा हुआ निष्ठीवन देनेसे मुँहसे कफ निकलकर जल्दी लाभ होता है।

फुफ्फुसपर किसी वातहर तैलकी मालिशकर, वस्त्रसे ढक, ऊपर वालुका, नमक या गरम जल से सेक करें, परन्तु यह ध्यान रहे कि फुफ्फुसकी त्वचा जल न जाय। अफारा, कोष्ठशूल और मल-मूत्रावरोधकी दशामें उदरपर भी सेक करना चाहिये। आठ-दस दिनके बाद जब प्रस्वेद आकर ज्वर उतरने लगे तब हृदयपौष्टिक पूर्ण चन्द्रोदय रस, रससिन्दूर या अन्य औषध अवश्य देनी चाहिये।

मलावरोध दूर करनेके लिये—त्रिवृदष्टक मोदक, ज्वरकेसरी वटी, अश्वकंचुकी रस, आरग्वधादि क्वाथ इनमेंसे अनुकूल हो वह देवें; अथवा एरण्डतैल की बस्ति या ग्लिसरीनकी बत्ती चढ़ाकर मल-शुद्धि करावें।

निद्रा लाने के लिये—आवश्यकता हो तब निद्रोदय रस, कस्तूर्यादि वटी या वातकुलान्तक रस, इनमेंसे एक औषध देते रहना चाहिये।

यदि प्रलाप हो, तो—शिरपरसे बाल निकलवा कर वहाँ शतधौत घृतका लौंदा रख दें। घृतके पिघलनेपर हटाकर पुनः दूसरा घृत रखें। पिघले हुए घृतको जलमें डाल दें। शीतलतासे जम जानेपर उपयोगमें लेवें। इस प्रकार कईबार करनेसे प्रलाप शान्त हो जाता है।

अलसी योग—१५ तोले अलसीको कूट, ४० तोले जलमें भिगो दें। फिर मसल, छान, चूल्हेपर चढ़ाकर पाक करें। गाढ़ा होनेपर नीचे उतार, बहेड़ा,

मुलहठी, पीपल, अड़ूसेके पत्ते, सोहागेका फूला और सफेद मिर्च, इन ६ औषधियोंके १।-१। तोलेका चूर्ण मिला लें। शीतल होनेपर डेढ पाव शहद मिलावें। इनमेंसे १-१ तोला दिनमें ४-६ समय देते रहनेसे कफ सरलतासे बाहर निकलता रहता है।

कफस्राव करानेके लिये—१. कफ सरलतासे बाहर नहीं आता हो, तो रोगीको अति कष्ट होता है; ऐसी अवस्थामें फुफ्फुस कोषोंको उत्तेजितकर कफ बाहर निकालनेके लिये कफोल्वण सन्निपातमें लिखा हुआ बृहत्यादि क्वाथ, समीर पन्नग रस, कफकुठार, वासादि क्वाथ, शृंग्यादि चूर्ण, निवाये जलके साथ या अष्टांगावलेह (शहद मिला कर), इनमेंसे आवश्यक औषध देनी चाहिये।

२. बिनौलेकी आधसेर मिंजीको चटनीके समान पीस २० तोले सरसोंके गर्म तैलमें मिला देवें। फिर कन्धेसे लेकर फुफ्फुसोंके दोनों ओर लेप कर रुई चिपका करके कपड़ा बांध देवें। ऊपर थोड़ा (बालुका स्वेद) सेक देवें, तो २४ घण्टेमें ही फुफ्फुस कोष और नलिकाओंमें रहा हुआ कफ पिघलकर बाहर निकलने लगता है। आवश्यकतापर हरताल भस्म १ रत्ती या अभ्रक + शृंगभस्म और दालचीनी चूर्ण ४ रत्ती मिला ३ माशे शक्करके साथ प्रातः काल खानेको देवें। यह उपाय निर्विघ्न और शीघ्र लाभदायक है। न्युमोनिया, इन्फ्ल्यूएन्जा, सन्निपात और श्वास आदि रोगोंमें जब कफ सरलतासे बाहर न आता हो, तब यह उत्तेजक उपाय अति हितकारक जाना गया है।

हृदयकी गति शिथिल हो जानेपर—संचेतनी वटी, कस्तूरी, पीपल और शहदके साथ, पूर्ण चन्द्रोदय रस, त्रैलोक्यचिन्तामणि और जयमंगल रस, इनमेंसे अनुकूल औषधकी योजना करें।

बेहोशी होनेपर—द्राक्षासव किसी औषधके साथ पिलाते रहें; शिरके सामनेके बाल निकलवाकर अदरकके रसकी पट्टी लगावें। पट्टी बार-बार १-१ घण्टेपर बदलते रहें। रोगीको चेतना आकर उसके नेत्र लाल प्रतीत हों, तब पट्टी लगाना बन्द कर देना चाहिये।

फुफ्फुस दाह और कफमें आते हुए रक्तके शमनार्थ—वासावलेह या वासा स्वरसके साथ-साथ मुक्ता, प्रवाल, अभ्रक और शृङ्गभस्मका मिश्रण देते रहें। ये औषधियाँ निरापद एवं हितकर हैं। श्वसनक ज्वरकी सब अवस्थाओंमें दे सकते हैं। इन औषधियोंका इस रोगकी अन्य औषधियोंके साथ विरोध नहीं है। ये रोग शमनमें अच्छी सहायता पहुँचाती हैं।

वमन और हिक्का हो, तो—खीरेके बीजको दूधमें पीसकर देवें या हिक्कान्तक रस शहदके साथ दें।

फेफड़ेपर मालिशके लिए—वातहर तेल, युकेलिप्टीस ऑइल या तारपीनके

तैलमें कपूर मिलाकर मालिश करें; अथवा शिरःशूलान्तक मल्हममें अफीम मिलाकर मालिश करें और फिर नमककी पोटलीसे दिनमें २ समय एक-एक घण्टे तक मन्द-मन्द सेक करें।

एलोपैथीमें फुफ्फुसपर आयोडेक्सकी मालिश कराते हैं और एन्टीफ्लोजिस्टिन (Antiphlogistine) या एन्टीफ्लेमीन (Antiflamin) की पट्टी लगवाते हैं। इनको गरम तथा पतली करनेके लिये डिब्बेको किसी भगोनेमें रख चारों ओर पानी भरकर उबालें; जिससे डिब्बेकी औषध जलकी उष्णतासे कुछ मिनटोंमें ही पतली होजाती है। फिर फलालेन या किसी ऊनी वस्त्रपर लेप लगाकर दोष वाले स्थानपर एक या दोनों पार्श्वपर चिपका दें। लेप शीतल हो गया हो, तो उसे निवाया करके चिपकावें। २४-२४ घण्टे बाद इस लेपको पुनः पुनः बदलते रहें या गरम जलकी बोतल रखकर पुनः गरम कर लें। इस लेपको छातीकी बीचकी हड्डी तक न लगावें, किन्तु उससे कुछ दूर रखें।

एक प्रकारकी ऊन (थर्मोजेनिक वूल Thermogenic wool) आती है, उसपर स्पिरिट छिड़ककर फुफ्फुसपर रखनेसे भी उष्णता उत्पन्न हो जाती है।

बाष्प देनेके लिये—(१) वेपर बेन्झोइनी (Vapour Benzoini दें; अर्थात् Tinct. Benzoin Co. १ ड्रामको २० औंस उबलते हुए जलमें मिला लें। फिर एक मिनटमें ६ से ८ वार नाक और मुँहसे बाष्प लेवें। यह क्रिया १० मिनट करें। इस बाष्पको लेनेके लिये जलकी एक देगची (Kettle) में भर लें; फिर उसके मुँहपर रबरकी नली लगा लें। इससे बाष्प लेनेमें सरलता होती है। यदि देगची अग्निपर ही रहे, तो बाष्प अच्छी मिलती है।

(२) निम्न वेपर युकेलिप्टीस (Vapour Eucalypti Co) दें।

नीलगिरीका तैल	Oil Eucalyptus	१० बूँदें
टिंचर बेन्झोइन कम्पाउण्ड	Tinct. Benzoin Co.	१५ बूँदें
थाइमोल	Thymol	३ ग्रेन
स्पिरिट क्लोरोफॉर्म	Spt. Chloroform	३० बूँदें
उबलता जल	Boiling Water	२० औंस

सबको मिलाकर ऊपरकी विधि अनुसार बाष्प दें।

फुफ्फुसकी शक्तिको बढ़ानेके लिये—रोग—शमनके बाद फेफड़ोंको शक्ति देनेके लिये अभ्रक भस्म, शृंग भस्म, सोहागेका फूला और रससिन्दूर, सितोपलादि चूर्णके साथ अथवा मुलहठी, बासा, बहेड़ा और मिश्रीके क्वाथके साथ, दिनमें दो बार १५-२० दिन तक देते रहना चाहिये।

पार्श्वशूल अधिक हो, तो—

चिकित्सातत्त्वप्रदीप द्वितीय खण्डमें उरस्तोयमें लिखे हुए उपचार करें

अथवा प्रथमावस्थामें निम्न प्रयोग करें। (१) महावातराज रस दिनमें दो बार देवें।

(२) अफीम और कपूर मिला तार्पिन तैलकी मालिश करें।

(३) कुचिला, बारहसिंगा, एलुआ, सोंठ, बच्छनाभ और रूमी मस्तंगी, इन सबका चूर्णकर, गो घृतमें मिला; निवाया कर पार्श्वपर लेप करनेसे तुरन्त शूल शमन होता है।

(४) गरम जल, नमक या बालुकासे सेक करें। ४-६ जलौका लगवाकर रक्त खिंचवा लेनेसे तुरन्त लाभ हो जाता है।

अन्य उपद्रव हो, तो—सन्निपातमें लिखे अनुसार उपचार करें।

एलोपैथीमें वर्तमानमें पेनिसिलीन और सल्फाड्रग्सका प्रयोग अधिक करते हैं।

कीटाणु न्यूमोकोकल इञ्जेक्शनमें (१) सल्फाडायाफीन अथवा सल्फा-मेथाफाइन (२) कीटाणु स्टेफाइलोकोकस होनेपर सल्फाथाया फोट तथा (३) स्ट्रेप्टोकोकसपर सल्फापाइराइ डाइन, आल कलाइन मिक्सचरसह तथा पेनि-सिलीन प्रयोग करते हैं।

फुफ्फुसप्रणालिका प्रदाह।

Broncho Pneumonia-Catarrhal Pneumonia-Lobular Pnenmouia-Capillary Bronchitis.

व्याख्या—वनस्पति कीटाणुओंके प्रकोपसे श्वास प्रणालिका (Bronchioles) में प्रदाह होकर वायुकोष (Alveoli) तक फैल जानेको फुफ्फुस प्रणालिकाप्रदाह कहते हैं। (इस रोगमें बच्चोंके उदरमें निःश्वास कालमें गड्ढा पड़ता है) इस विकारमें वायुकोष-समूहोंकी दीवारोंमेंसे त्वचाके टुकड़े टूट-कर वायुकोष समूह भर जाते हैं।

कितनेही आचार्योंकी मान्यता अनुसार कास या क्षय रोगमें तीक्ष्ण वायु श्वासोच्छ्वासमें चली जानेपर या शीतवायुमें घूमनेपर इस रोगकी संप्राप्ति हो जाती है। इस तरह माताके अपथ्य सेवनसे भी शिशुको इस रोगकी प्राप्ति हो जाती है।

इस रोगमें २ प्रकार हैं—१. मूलभूत, २. गौण या उपद्रवात्मक।

१. मूलभूत (Primary)—यह रोग विशेषतः स्तनपान करने वाले या २ से ४ वर्ष तकके बच्चोंको होता है। इसमें लक्षण न्युमोनियाके समान प्रकट होते हैं। इसे संस्कृतमें उत्फुल्लिका और लोकमें पसली चलना, डब्बा,

वद्लकी बीमारी, भूत बाधा, ससनी, पलरिया आदि अनेक नाम दिये हैं।

२ गौण (Secondary)—किसी रोग विशेष के साथ लक्षण रूपसे या उपद्रव रूपसे उपस्थित होता है। निम्न रोगोंमें विशेषत: इसकी संप्राप्ति हो जाती है :—

A. श्वासनलिका प्रदाह (Bronchitis)—कास रोगमें श्वासनलिकासे प्रदाह बढ़कर फिर श्वासप्रणालिकाओं तक पहुँच जाता है।

B. आशुकारी विशेष प्रकारके ज्वर (Acute specific fevers)—विशेषत: रोमान्तिका, काली खांसी, इन्फ्लूएन्ज़ा, उससे कम कण्ठरोहिणी (Diphtheria), शोणित ज्वर और आन्त्रिक ज्वरमें।

C. बालकोंके अस्थिमार्दव और अतिसारमें।

इन तीन प्रकारोंमें उपद्रवात्मक व्याधिकी सम्प्राप्ति होती है। शिशु और बालकोंकी इस प्रकारसे मृत्युसंख्या मूलभूत रोगकी अपेक्षा अधिक होती है।

D. निर्बलता अथवा वृद्धावस्थासे उत्पन्न चिरकारी प्रकार-विशेषत: वृक्कप्रदाह, हृदयपर आघात और धमनीकी दीवारकी कठोरता होनेपर।

E. राजयक्ष्माके कीटाणुकी श्वासवाहिनयोंमें प्राप्ति हो जानेसे।

उक्त प्रकारोंके अतिरिक्त कभी निम्न प्रकार भी उपस्थित हो जाता है।

अन्नाकर्षण या निगरण जनित (Aspiration or Deglutition Pneumonia)—किसी प्रकारके प्रवाहीका श्वासनलिकामें चले जानेपर अत्यधिक श्वासप्रणालिका प्रदाह उपस्थित होता है। यदि वह गंभीररूप धारण करता है, तो पूयपाक या कोथ हो जाता है। इसके हेतु निम्नानुसार हैं:—

१. स्वरयन्त्रकी अनुभूतिका नाश (Loss of the Laryngeal sensitiveness)—यह नाक और मुखके आसपास चेतना ह्रास (Anaesthesia) की शस्त्र चिकित्सामें, स्वर यन्त्र या अन्ननलिकाके कर्कस्फोटमें, श्वासनलिकामें छेद करने (Tracheotomy) पर, मूर्च्छा (Coma) अथवा वृक्कसंन्यास (Uraemia) या विविध वातसंस्थानके विकारोंमें या भोजनके कण या पेयका स्वर यन्त्रमेंसे होकर श्वास प्रणालिकाओंमें चले जानेपर होता है।

२. वस्तुका अतिक्रमण (Passage of Matter)—फुफ्फुसके किसी विभागमें पीड़ा होनेपर उसमेंसे रस आदिका नीरोगी श्वास प्रणालिकामें प्रवेश हो जाना। यह प्रकार श्वासनलिका प्रसारण (Bronchiectasis), थूकमें रक्त आना (Haemoptisis), रक्तपूयभृत उरस्तोय (Empyema) का फैलना, फुफ्फुस विद्रधिका फूटना आदिमें होता है।

इनके अतिरिक्त कुफ्फुस-प्रणालिका (Pulmonary vesels) मेंसे कचित् शल्य श्वासप्रणालिकामें प्रवेश हो जाता है।

सम्प्राप्ति काल—इस रोगकी संप्राप्ति विशेषतः निम्न आयुमें होती है:—

शिशु—मूलभूत रोगकी प्राप्ति २ वर्षके भीतर।

बालक—२ से ५ वर्ष तक। तीव्र विशेष-प्रकारके ज्वर, अस्थिमार्दव और अतिसारके साथ संप्राप्ति।

वृद्धावस्था—निर्बलता और जीर्ण रोगोंमें।

किसी भी आयुमें—अति कचित् आकर्षित न्युमोनिया। इन्फ्लुएञ्जाके लक्षण या उपद्रव रूपसे।

किसी समय—क्षय कीटाणुजन्य।

समय—विशेषतः शीतकाल और वसन्त ऋतु।

संप्राप्ति स्थान—इस रोगमें विशेषतः ६० प्रतिशतमें दोनों कुफ्फुस आक्रमित होते हैं। शेषमें १ कुफ्फुस।

श्वास प्रणालिकाओंके प्रदाहसे संप्राप्ति शास्त्र दृष्टिसे वे विकृतावस्थाको प्राप्त हो जाती हैं। फिर प्रदाह वायु कोषोंमें फैल जाता है। उनकी दीवारोंके छिल्टे निकल कर उनमें गिरते हैं और पुनः नये उत्पन्न होते हैं, जिससे वायु कोष भर जाता है एवं श्वासप्रणालिकाएँ और वायु कोष सब अन्तरत्वचाके टुकड़े और लसीका स्रावसे भर जाते हैं। परिणाममें वे वायुकोष फूल जाते हैं और अन्य कोष आकुंचित हो जाते हैं।

शारीरिक विकृति—इस रोगमें आशुकारी श्वासप्रणालिका प्रदाह (Acute Bronchiolitis), विक्षिप्त श्वासप्रणालिका प्रदाह (Disseminated Broncho pneumonia), कृत्रिम कुफ्फुस खण्डीय प्रदाह (Pseudo-Pneumonia), ऐसे ३ प्रकारकी विकृतियां प्रतीत होती हैं।

१. **आशुकारी श्वासप्रणालिकाप्रदाह**—इस प्रदाहमें अनेक प्रकारकी विभिन्नतायें भासती हैं। ये गम्भीरस्वरूप धारण कर लेनेपर २-३ दिनमें मृत्यु हो जाती है। वायुकोषोंकी पीड़ितावस्था (प्रथमावस्था) दृश्यमान घनीभवनकी उत्पत्ति करनेमें असमर्थ है। प्रारम्भिक अवस्थामें इन्द्रियगम्य लक्षण कास (श्वासनलिका प्रदाह) होता है। सूक्ष्म परीक्षाद्वारा विदित होनेवाला लक्षण वायुकोषोंका प्रभावित होना है। कुफ्फुस खण्डोंके ऊपर रक्तसंग्रह और शोथ भासता है, सुननेपर केशमर्दनवत् आवाज आती है, श्वासनलिकामें कफ होनेका बोध होता है। प्राथमिक अवस्थाके बाद सूक्ष्म-सूक्ष्म प्रदेशोंका आकुंचन हो जाना, घनीभवन, तन्तुओंमें वायु या गैसका नियमविरुद्ध संग्रह

(Emphysema) और फुफ्फुसके कितने ही प्रदेशका स्वाभाविक रहना; ये सब (कटी हुई सतहपर) विभिन्नतायें प्रतीत होती हैं।

२. विक्षिप्त श्वासप्रणालिका प्रदाह—यह सामान्य प्रकारका होता है। फुफ्फुस स्वाभाविक स्थितिकी अपेक्षा भरे हुए और अधिक भारी भासते हैं, किन्तु विशेषतः केशमर्दनवत् आवाज शान्त रहती है। उसके सतह और घनीभवन प्रदेशमें चिह्न निम्नानुसार भासते हैं:—

अ. फुफ्फुसखण्डकी सतह—इसकी ३ स्थितियां लक्ष्य देने योग्य हैं। १. आकुंचित बैंजनी प्रदेशका अवसाद; २. स्वाभाविक फुफ्फुस प्रदेश और ३. घनीभवनका काला प्रदेश बाहर निकला हुआ।

आ. कटी हुई सतह—व्यापक गहरी लाल। सामान्यतः मुलायम और दानेदार बनी हुई। प्रदेश फुफ्फुसावरणकी सतहके समान। आकुंचित प्रदेश विशेषतः श्वासनलिकामेंसे वायु पूर्ण बन सकता है।

इ. घनीभवन वाला प्रदेश—श्वासप्रणालिका समूह और उनसे सम्बन्धवाले वायुकोष, जो छोटे मटरके समान और अधिक कद के हैं, वे सब प्रभावित, ऊपरकी सतह कुछ बाहर निकली हुई, छोटी श्वासनलिकाएं, जो प्रदाह पीड़ित हुई हैं और कफयुक्त हैं, उनके चारों ओर धूसराभ लाल रंग भराना आदि चिह्न प्रतीत होते हैं; तथा प्रदाहकी प्रथमावस्थामें उसके समीपमें फुफ्फुस गहरे लाल रंगका मुलायम और वायुरहित होता है।

ई. वायुकोष—इनमें दीवारकी त्वचाके कोषाणुओंका नाश और नयी उत्पत्ति प्रतीत होती है। दीवारोंमें श्वेताणु भर जाते हैं।

३. कृत्रिम खण्डीय प्रकार—घनी भवन प्रदेश प्रसारित और संमिलनजनक भासता है और रक्तसंग्रहवाला मध्यवर्ती प्रदेश सामान्यतः समान देखावसे भेद वाला होता है। इन्द्रियगम्य लक्षण तो खण्डीय-प्रदाह रूप भासते हैं, किन्तु उपरोक्त लक्षण समूह भी साथमें होते हैं। श्वास लेनेमें प्रभावित प्रदेशमें सर्वत्र श्वेताणुओं सह विशेष अन्तर्भरण होता है।

कीटाणु—इस रोगके कोई विशेष कीटाणु नहीं हैं। मूलभूत रोगकी संप्राप्ति संभवतः खण्डीय फुफ्फुस प्रदाहके उत्पादक मुख्य न्युमोकोकससे होती है। गौणरोगमें अन्य कृमियोंके साथ न्युमोकोकस मिल जाते हैं।

मूलभूत रोगके लक्षण—आक्रमण अकस्मात् खण्डीय निमोनियाके समान; किन्तु अधिक नियमित। वमन, शीत या आक्षेपसह। फिर कास, गात्रनीलता और श्वासकृच्छ्रताकी तेजीसे वृद्धि। अबोध बालक कफ (थूक) को निगलता रहता है। मस्तिष्कगत लक्षण सामान्यतः मस्तिष्कावरण प्रदाह (Meningitis)

के समान प्रतीत होते हैं। शारीरिक उत्तापकी तेजीसे वृद्धि, १०२° से १०४° तक, क्वचित् इससे भी अधिक तक बढ़ जाता है। श्वास लेनेमें नासापुट प्रसारित होना, श्वास अगम्भीर, कष्टकर और द्रुत होना, उदर प्रदेशमें निःश्वासके साथ गड्ढा होना, निःश्वास ध्वनिसह और दीर्घ होना, नाड़ी द्रुत, स्पन्दन संख्या १००-११० या अधिक हो जाना, पहिले शुष्क कास, फिर कोष्ठबद्धता, पेशाब थोड़ा-थोड़ा और लाल रंगका और अधिक प्रस्वेद आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। ज्वरावतरण नियमानुसार क्रमसे (Lysis) होता है। यह निमोनियासे पृथक्ता है। इस रोगसे मृत्युसंख्या कम होती है।

गौण रोगके लक्षण—इसके कोई स्वतन्त्र स्थूल निश्चित लक्षण या भावना नहीं है; जिससे खण्डीय फुफ्फुसप्रदाहसे पृथक् कर सकें। इसमें आक्रमण कालमें आक्षेप, शुष्क कास और मुख्यरोगके कारण अनुरूप लक्षण उपस्थित होते हैं। पूर्वरूपमें कुछ आलस्य, उदासीनता होती है। फिर आक्रमण होनेपर उत्तापवृद्धि, कास, शीघ्र श्वसन, द्रुतनाड़ी और हृदयकी अस्वाभाविक ध्वनि आदि लक्षण होते हैं। नाड़ी तेज १२० या अधिक। श्वसन संख्या १ मिनटसे ५० या ६०। शारीरिक उत्ताप १०२° से १०५° तक। रोज सुबह रात्रिके भीतर उष्णता ३ डिग्री बढ़ती घटती है। कभी आकस्मिक उपशम नहीं होता। उत्तापवृद्धि यह अशुभ लक्षण है। कितनेही गम्भीर रोगियोंमें शारीरिक उत्ताप कम होता है, बार-बार मंद-मंद कास आती है। कास वृद्धि होना, यह शुभ चिह्न है।

इस रोगमें श्वासोच्छ्वास तेज होता है। बहुधा ६० से अधिक, झटका लगता हुआ (Jerky) होता है। निःश्वासके पश्चात् सामान्य विश्रान्ति प्रतीत होती है। उदरमें गड्ढा पड़ना, यह इसका मुख्य लक्षण है।

नाड़ी द्रुत, सामान्यतः छोटी किन्तु आक्रमण कालमें पूर्ण। कितने ही रोगियोंमें देहका रंग नीला हो जाता है। यह गम्भीर लक्षण है। प्रारम्भमें होठपर यह होता है। गम्भीरावस्थामें विवर्णता (Pallor) आ जाती है। इनके अतिरिक्त शुष्क या आर्द्र त्वचा, बालकोंका कफ निगल जाना, वृद्धोंको कुछ पतला कफ, तृषावृद्धि, क्षुधानाश, व्याकुलता आदि चिह्न होते हैं। परन्तु वे रोग निर्णायक नहीं माने जाते।

इस रोगसे बच्चोंके कण्ठसे घर-घर आवाज निकलती है, श्वास जल्दी-जल्दी चलता रहता है, अनेक बालकोंका पेट कब्ज होकर फूल जाता है, नाक सूखती है, या नाकसे पानी झरता है, मल-मूत्रावरोध हो जाता है, तथा उदरमें कफका जाला-सा बँध जाता है। इस रोगका आक्रमण अकस्मात् होता है। बालक खेलते-खेलते मुँहका रङ्ग बदल देता है, नेत्र फटने लगते हैं और बेहोश हो जाता है। तीव्र ज्वर हो, तो बेहोशी; मुँह लाल हो जाना, चौंक उठना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

यह रोग उपद्रवात्मक हो, तो प्रारम्भमें खाँसी होती है। किन्तु इस रोगका प्रारम्भ होनेपर ज्वर एक दम १०२°–१०३° डिग्री तक बढ़ जाता है; और कुछ दिनों (१०–१५ दिन) तक संततके समान रहता है। श्वास जल्दी-जल्दी चलने लगता है। नाड़ी अशक्त और कर्कश, त्रासदायक कास और कफ अति चिपचिपा (रक्त रहित) होता है। श्वास लेनेके समय पर्शुकान्तर (Intercostal space) अन्दरकी ओर घुसता हुआ भासता है; जिससे उदरमें गड्ढा पड़ता है।

रोगवृद्धि लक्षण—श्वासावरोध और विषप्रकोपकी वृद्धि, व्याकुलता, गात्र नीलिमा फिर रोग परिवर्त्तन, विषवृद्धि होनेपर कास दूर हो जाना, श्रवण यन्त्रसे परीक्षा करनेपर अस्वाभाविक ध्वनि (Rales) व्यापक होना, रसोत्सृजन होना, रोगीको चैन न पड़ना, निद्रानाश, हृदयका दक्षिण खण्ड प्रसारित होना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। फिर मृत्यु हो जाती है।

परिणाम—मूलभूत और गौण, दोनों प्रकारके परिणाम विशेषत: समान हैं। रोगशमन या मृत्यु। इनके अतिरिक्त क्वचित् तन्तुओंकी अपक्रान्ति (Fibrosis), जीर्ण चिरकारी रोग बन जाना (क्षय कीटाणुजनित रोगमें ऐसा होता है), पूयपाक या कोथ या आकर्षित फुफ्फुसखण्डप्रदाह (Aspiration Pneumonia) और अति क्वचित् अन्य रोगकी प्राप्ति आदि परिमाण आते हैं। मृत्यु अत्यधिक होती है, यह विशेषत: श्वासावरोध और विषप्रकोप, हृदयावरोध या शक्तिक्षय द्वारा मृत्यु होती है।

भेदात्मक रोग विनिर्णय।

	श्वासप्रणालिका प्रदाह	फुफ्फुसखण्ड प्रदाह
१.	सामान्यत: कास उपस्थित होनेके पश्चात् क्रमश: रोगाक्रमण।	अकस्मात् रोगाक्रमण।
२.	अनिर्दिष्ट गति और अनियमितता। कभी जल्दी शमन। कभी गम्भीररूप धारणकर दिनों तक स्थिति। क्वचित् कितने सप्ताह तक दुर्बलता आकर मुक्ति।	निर्दिष्ट क्रम अवलम्बन। सामान्यत: ५ से ८ दिनमें आकस्मिक उपशमद्वारा रोगशमन।
३.	सूक्ष्म श्वासप्रणालिकाओंसे रोगारम्भ। फिर वायुकोषोंका प्रभावित होना। समीपके वायुकोषोंका संकोच, श्वसनसे त्वचाके कोषाणु, कुछ रक्ताणु और	रोगारम्भ विशेषत: एक फुफ्फुस-खण्डमें सब रक्तप्रणालिकाएं प्रसारित और रक्तपूर्ण, वायुकोष सब रसपूर्ण, फिर वायुकोषोंमेंसे रसके शोषण-जनित परिवर्त्तन।

श्वासप्रणालिका प्रदाह	फुफ्फुसखण्ड प्रदाह
ग्रथिनके मिश्रणका ऊपर नीचे होना।	
४. अति कष्टदायक कास, कभी-कभी प्रबल वेग, कफ रक्त-रहित।	कास विशेष कष्टकर न होना। बालक आदिको कभी प्रारम्भमें कफ नहीं निकलता। कफ रक्तसह लोहके जंग सदृश रंगका।
५. ज्वर अनियमित, क्रमशः वृद्धि-ह्रास।	ज्वर अनियमित।

उक्त दोनों रोगोंका आक्रमण होनेपर तत्काल रोगनिर्णय नहीं हो सकता। फिर लक्षण स्पष्ट प्रकट होनेपर विदित होता है।

साध्यासाध्यता—गौण रोगमें ५ वर्षके भीतरके बालकोंकी मृत्यु ३० से ५० प्रतिशत। विशेष प्रबंध होनेपर १० से २०% मृत्यु। एक वर्षके भीतरकी आयु वालोंकी मृत्यु सबसे अधिक। उत्ताप १०५से अधिक और अनियमित, या अति कम हो जाना, ये अशुभ चिह्न हैं। १०२° से १०४° तक रहना, यह योग्य लक्षण है।

इस व्याधिमें ज्वर धीरे-धीरे उतरता है; किन्तु बीच-बीचमें कुछ बढ़ भी जाता है। रोगी बहुत अशक्त हो जाता है, और शनैः शनैः स्वस्थ होता है। यदि बलक्षय होता है, तो कासश्वास बढ़ता है और आकर्षित फुफ्फुसप्रदाह (एस्पिरेशन न्यूमोनिया) होकर या कचित् संज्ञाहीन होकर मृत्यु होती है। प्रकृतिभाव विलम्बसे होता है, तो रोगीको कफ धातुका क्षय होनेकी संभावना है।

चिकित्सोपयोगी सूचना।

रोगीको लिटाये रखें। बार-बार पार्श्व बदल देवें। आवश्यकता अनुसार बार-बार दूध देवें। हृदयकी शिथिलता प्रतीत हो, तो मद्य देना चाहिये।

फुफ्फुस और हृदयको शीत न लगनेके लिये गरम कपड़ा पहनना चाहिये। गरम बोतलसे सेक करना चाहिये। स्वच्छ वायुमें रोगीको रखना चाहिये, परन्तु वायुका तेज बहन नहीं होना चाहिये।

आवश्यकतापर उदर शोधनार्थ एरण्ड तैलका उपयोग भी हितावह है।

चिकित्साके मुख्य २ कार्य—

१. श्वासमार्गसे अवरोधक पदार्थको बाहर निकाल देनेका उपचार करना

(ऐसा करनेसे फुफ्फुस प्रसारित हो सकेगा, अन्यथा संकोचस्थानकी वृद्धि होगी)।

२. कोष्ठबद्धता, कास, श्वास, ज्वर आदिका दमन।

३. रोगीके बलका संरक्षण।

श्वासमार्गसे अवरोधक पदार्थ बाहर निकालनेके लिये वान्तिकर औषध और उदरशुद्धिके लिये विरेचन। ये दोनों गुण डब्बानाशक गुटिकामें (उसारेरेवनके हेतुसे) हैं; जिससे वह एक वमन और एक दस्त करा विष और मलको शीघ्र बाहर फेंक देती है। किन्तु सम्हालना चाहिये, कि वान्तिकर औषध बार-बार नहीं दी जाती। अन्यथा आमाशयमें उग्रता उपस्थित होती है।

यदि कफ गाढ़ा हो, तो शिथिल करनेके लिये लहसुनसत्व, या सोहागेका फूला, मुलहठीवाला योग या क्षार घटित औषध देनी चाहिये।

रोगी वृद्ध हो, कफ अधिक सताता हो और रोग अधिक दिनका जीर्ण हो गया हो, तो कफकुठार रस, गोमूत्रक्षार चूर्ण या अन्य क्षार प्रधान औषध या वनपलाण्डुका चूर्ण देना चाहिये। वृद्धोंको उत्तेजक औषध देनी चाहिये।

आवश्यकताके अनुसार फुफ्फुपपर पुल्टिस लगावें अथवा उत्तेजक मर्दनकी मालिश या सेक करें। श्वासमार्गसे तार्पिन या नीलगिरीकी बाष्प देवें। नीलगिरी, तार्पिन, कर्पूर तैल आदि मर्दन भी हितकारक हैं।

वमन और विरेचनप्रधान औषध देनेके पश्चात् ज्वराधिक्य हो, तो हरताल या वत्सनाभप्रधान औषध (मृत्युञ्जय रस, आनन्दभैरव रस, त्रिभुवनकीर्ति) देना चाहिये।

एलोपैथीमें इस रोगकी चिकित्सामें पेनिसिलीनका उपयोग अधिक होता है। सहायक रूपसे स्ट्रेप्टो माइसिन भी देते हैं। १०५ डिग्रीके ऊपर ज्वर हो जानेपर गीले वस्त्रसे देहको पोंछवाते हैं। प्रथमावस्थामें कमरेमें अग्निपर किटलीमें औषध मिश्रजल रख बाष्प प्रयोग किया जाता है।

गात्र नीलिमा हो या कष्ट अधिक प्रतीत हो, तो प्राणवायु श्वसनमें देनी चाहिये। यह निर्भय और उत्तम उपचार है।

बच्चेको आक्षेप उपस्थित होनेपर शुद्ध वायु, पौष्टिक औषध और आवश्यक दूध देना चाहिये। शीत लगता हो, तो शीतको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

श्वासप्रणालिका प्रदाह चिकित्सा।

१. रसतन्त्रसारमें लिखी हुई औषधियां—श्वासकुठार, कफकुठार, चन्द्रामृत या रससिन्दूर, अभ्रक और शृंगभस्म, इन तीनोंका मिश्रण (वासावलेहके

साथ), सितोपलादि चूर्ण, द्राक्षासव, लऊक सपिस्तां, इनमेंसे अनुकूल औषधकी योजना करें। न्युमोनिया प्रकाश रस० द्वितीय खण्डमें दिया है, उसका भी प्रयोग करनेपर फलप्रद उत्तम प्रतीत हुआ है।

इनमेंसे हम रससिन्दूर, अभ्रक और शृङ्गभस्मको विशेष उपयोगमें लेते हैं। कफ गाढ़ा हो, सरलतासे न निकलता हो, तब लऊक सपिस्तांका उपयोग करते हैं। जीर्णरोग होनेपर उत्तेजकता अधिक हो, तो प्रवाल पिष्टी और सितोपलादिको घी-शहदके साथ दिनमें ३-४ बार चटाते हैं। चन्द्रामृत रस भी उत्तेजना शमनार्थ देते हैं। कफको बाहर निकालनेके लिये कफ कुठारका प्रयोग अधिक करते हैं।

२. बालकोंके रोगपर—शृंग्यादि चूर्ण, माणिक्यरसादि वटी, डब्बानाशक गुटिका और बालजीवन वटी, इनमेंसे योजना करनी चाहिये।

उरफुलिका (बालकोंकी पसली चलना) पर डब्बानाशक गुटिका, बालार्क गुटिका और बालजीवन वटीका हमने उपयोग हजारों बार किया है। इन औषधियोंसे एक दस्त और एक वमन होकर रोग दूर हो जाता है। हम विष-प्रकोप और निर्बलता अधिक हो, तो बालजीवन वटी और प्रकोप अधिक न हो, तो डब्बानाशक गुटिका देते हैं। बालजीवन वटीका उपयोग करनेपर भी यदि आँतें निर्बल हो गई हों, उदरमें अफारा रहता हो; तो माणिक्यरसादि गुटिकाका उपयोग करते हैं। इस रोगमें विशेषतः बद्धकोष्ठ रहता है, अतः बद्धकोष्ठको पहले दूर करना चाहिये।

यदि माताके कुपथ्य सेवनसे या माताके रोगसे बालकको रोग हुआ हो; तो माताको भी साथ ही साथ औषध देना चाहिये; और भोजनमें माताको मसूरकी दालका यूष नितराया पिलावें।

डब्बानाशकगुटिका और बालजीवन वटी, दोनों प्रारम्भिक अवस्थामें उपकारक हैं। यकृत्पित्त सदोष हो, तो बालजीवन वटी विशेष लाभ दर्शाती है। इसका प्रयोग करनेके पश्चात् दोष शेष रह जानेपर माणिक्यरसादि वटीका प्रयोग करना चाहिये, एवं ज्वरकी अधिकता हो, तो वच्छनाभ प्रधान औषध देवें। इस प्रकार चिकित्सा करनेसे कई बच्चे बच जाते हैं।

३. कपीला १ तोला और भुनी हींग १॥ माशा, दोनोंको मिला, दहीके जलमें ६ घण्टे खरलकर, मिर्च समान छोटी-छोटी गोलियाँ बना लें। इनमेंसे १-१ गोली माताके दूध या नितारे जलसे दें। बच्चेकी आयु १ वर्षसे अधिक हो, तो २ गोली दें। आवश्यकतापर ४ घण्टे बाद पुनः दें। इस रीतिसे तीसरे समय भी दे सकते हैं। इस औषधसे डब्बा रोगकी शीघ्र निवृत्ति होजाती है।

४. गोमूत्र नितारकर पिलावें; या घोड़ेकी ताजी लीदमें थोड़ा जल मिला

छान, निवाया करके पिलावें; अथवा हृदयकी शिथिलता होनेपर कस्तूरी १ चावल भर निवाये नागरवेलके पानके रसमें मिलाकर पिलावें। इनमेंसे अनुकूल उपचार करनेसे पसली रोग दूर हो जाता है।

फुफ्फुसपर लेप—बारहसिंगेके सींगको गोमूत्रमें घिस, हींग मिला; निवायाकर लेप करनेसे फुफ्फुसावरणका दोष जल्दी दूर हो जाता है।

फुफ्फुसपर मालिश—(१) नारायण तैल, विषगर्भ तैल, वातशूलान्तक मलहम, वातहर तैल या तार्पिनके तैलमें कपूर मिलाकर मालिश करें।

(२) कुकरोंधे या प्याजके स्वरसमें हींगको पीस, निवायाकर दोनों कनपटियों और हाथ-पैरोंके सब नाखूनोंपर लगानेसे विष शमन हो जाता है। विशेष शिथिलता आनेपर यह उपचार किया जाता है।

उदरपर लेप—यदि बद्धकोष्ठ और उदर-व्यथा हो, तो एलुआ, रेवतचीनी और स्नान करनेका साबुन, तीनोंको जलमें मिला, निवायाकर लेप करें। फिर ऊपर नागर वेलका पान रख, कपड़ा लपेट दें। इससे कोष्ठशुद्धि होकर रोगका शमन हो जाता है।

विषम गति।

मूलभूत विषम फुफ्फुसप्रदाह
(Primary Atypical Pneumonia)

व्याख्या—यह रोग फुफ्फुसखण्डप्रदाह और फुफ्फुसप्रणालिका प्रदाहसे मिलता-जुलता है। इसमें फुफ्फुसका घनीभवन होता है, किन्तु उसका कारण कोई विदित वनस्पति कीटाणु, विष या रासायनिक परिवर्त्तन नहीं है एवं इसका क्रम भी भेदवाला है।

निदान—यह जनपदव्यापी और विच्छिन्नरूपसे प्रतीत होता है। दोनोंकी जाति समान है। यह युवा व्यक्तिपर विशेष आक्रमण करता है। फिर भी आयुका निर्णय नहीं। ऋतु या समय भी अनिर्णीत है। इसका इन्फ्लुएन्झासे कोई सम्बन्ध नहीं है। फुफ्फुसोंके भीतर कुछ अंशमें समान रूपान्तर होता है। तोता पक्षियोंके संक्रामक इन्फ्लुएन्झाके कीटाणु और प्राणिज कोटिके प्रलापक ज्वर आदिके कीटाणु रिकेटसियाके संक्रमणसे इसकी उत्पत्ति होती होगी। यह रोग विषप्रकोपज है, तथापि अभी तक कारण निर्णीत नहीं हुआ है।

संप्राप्ति—(गंभीर संप्राप्ति अति क्वचित्) फुफ्फुस प्रदेशमें संकोच और घनीभवन, तथा फुफ्फुस रचनाके भीतर सुस्पष्ट परिणामज क्षति और आनुषंगिक कास (श्वासनलिका प्रदाह) की सम्प्राप्ति होती है। वायुकोषोंकी दीवारोंकी रचनामें अन्तर्भरण (एक केन्द्रस्थान वाले कोषाणुओं सह) होता है। जिससे

वायुकोष विशेषतः एक केन्द्रस्थानवाले कोषाणुओंको बाहर निकालते हैं। श्वास प्रणालिकाएं पूयप्रधान कफसे भरजाती हैं। चयकाल—अनिश्चित। संभवतः २ से २१ दिन या अधिक।

लक्षण—आक्रमण समान रूपसे होता है ! इन्फ्लुएञ्जा (कुछ दिनोंमें कफ वृद्धि), उपजिह्विका वृद्धि और कुछ कफसह प्रतिश्याय, सर्वांशमें आभ्यन्तरिक मंद पीड़ा, मंद कफ, क्वचित् गंभीर रूपवाला, थूक कफमय, कभी उरःफलकके पिछले हिस्से (Retrosternum) में क्षत होकर वेदना, बेचैनी, उत्ताप १०० से १०३° तक, ७ से १० दिन तक ज्वर रहना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। रोग प्रबल बननेपर श्वासावरोध और गात्रनीलता होती है। रक्तमें एक केन्द्र-स्थानसे सम्बन्धवाले श्वेताणु सामान्य संख्यामें रहते हैं। या कमी होती है (Leukopenia) क्वचित् ही श्वासकृच्छ्रता होती है।

ठेपन परीक्षामें कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु स्टेथस्कोपसे ध्वनि सुननेपर कुछ अन्तर भासता है। नाड़ी स्पन्दन ज्वरके अनुपातसे कम होते हैं।

विकृति कभी थोड़े स्थानमें होती है, कभी अधिक व्यापक बनती है। लाक्षणिक (Typical) चिह्नकी प्रतीति नहीं होती। रंगरहित रक्ताणु (Shadows) सामान्य स्थितिमें या कदमें बढ़े हुए भासते हैं। इन रक्ताणुओंके विस्तारका सम्बन्ध कफकी गम्भीरता और ज्वरके साथ नहीं है। इनकी मोटाई फुफ्फुसखण्डीय प्रदाहकी अपेक्षा कम होती है। प्रणालिका और वायुकोषके द्वारके रंगरहित रक्ताणुओंकी सामान्यतः वृद्धि हो जाती है।

इसका क्रम सामान्य है; किन्तु जब तक फुफ्फुसका परिवर्त्तन होकर स्वच्छ नहीं हो जाता, तब तक क्रम अव्यवस्थित होता है और समय बढ़ता है। प्रायः किसी उपद्रवकी प्राप्ति नहीं होती।

चिकित्सा—इस रोगपर पेनिसिलीन और सल्फोनेमाइड वर्गकी औषधसे कुछ भी लाभ नहीं होता। बल्कि सल्फोनेमाइड हानि भी पहुँचा देती है। लक्षण अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। रोगीको कुछ दिनों तक शय्यापर लेटे रखना चाहिये।

मृत्युञ्जय रस, आनंदभैरवरस, नागगुटिका, बनप्साका क्वाथ और प्रतिश्यायहर क्वाथ, ये सब उपकारक औषधियां हैं। बनप्साका क्वाथ कर लेनेपर शेष बचे हुए फोकको थोड़े घीमें कुछ सेक कर कण्ठपर (श्वासनलिका) पर बांध देनेसे कण्ठ विकृति दूर होनेमें सहायता मिल जाती है। बाष्प नस्य भी उपकारक है। श्वासावरोध और गात्रनीलतामें प्राणवायुका श्वसन हितावह है।

(१३) ग्रन्थिक सन्निपात।

(जनपद विध्वंसक-प्लेग—Plague, Pest, Black Death)

इस ग्रन्थिक सन्निपातके सम्बन्धमें चिकित्सक समाजमें कई वर्षोंसे बहुत कुछ ऊहापोह हो चुका है। सुश्रुत निदान स्थानके १३ वें अध्यायके श्लोक १९-२० में लिखा है कि :—

> कक्षाभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारुणाः।
> अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसंनिभाः॥
> सप्ताहाद्वा द्वादशाहाद्वा पक्षाद्वा घ्नन्ति मानवम्।
> तामग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सन्निपाततः॥

इन दो श्लोकोंको लेकर कई आधुनिक आचार्योंने लिख दिया है कि सुश्रुतने इस (प्लेग) को अग्निरोहिणी संज्ञा दी है परन्तु उनका यह भ्रम है। अग्निरोहिणीकी गणना क्षुद्र रोगोंमें की गई है और प्लेग या ग्रन्थिक सन्निपात महा रोग है। अग्निरोहिणी समान प्रकृतिवाले एक या अनेक प्राणियोंको मार सकती है, परन्तु ग्रन्थिक सन्निपात या प्लेग असमान प्रकृतिवाले प्राणियों तकको मौतके घाट उतार कर देश-के-देश उजाड़ देता है। इससे स्पष्ट है कि, अग्निरोहिणी और प्लेगमें बड़ा भारी अन्तर है।

महर्षि आत्रेयने कहा है कि, प्राणियोंकी प्रकृति आदि भिन्न होनेके कारण एक ही समयमें एक ही रोग सबको नहीं हो सकता, अपितु समान प्रकृतिवालोंको ही हो सकता है। परन्तु देखा गया है कि, कभी-कभी ऐसा जनपद-विध्वंसक रोग फैलता है, जो एकदम एक ही समयमें असमान प्रकृतिवालों तकको मारता हुआ देश-के-देश उजाड़ देता है। अग्निवेशके पूछनेपर कि—

अपितु खलु जनपदोद्ध्वंसनमेकेनैव व्याधिना युगपदसमानप्रकृत्याहारदेहबलसात्म्यसत्त्ववयसां मनुष्याणां कस्माद् भवतीति॥ ४॥

अर्थात् प्रकृति, आहार, देहबल, सात्म्य, सत्त्व और वयके असमान रहते हुए भी एक ही व्याधि एकदम उत्पन्न होकर थोड़े ही समयमें देशका नाश कर देती है। इसका कारण क्या है ? इसके उत्तरमें भगवान् आत्रेयने कहा है कि प्रकृति, आहार, देहबल आदि भाव मनुष्योंके भिन्न-भिन्न होनेपर भी वायु, जल, देश और काल, ये चार भाव सबके समान रहते हैं। इन चारोंमें विपरीतता आजाने या विकृति हो जानेपर जनपदविध्वंसक रोग उत्पन्न होकर वह असमान प्रकृतिवालों तकको मारकर देश-के-देश उजाड़ सकता है। ऐसे भयंकर रोगका मूल कारण क्या है ? इसके उत्तरमें स्पष्ट कहा है कि—

सर्वेषामग्निवेश ! वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः; तन्मूलं वासत्कर्म पूर्वकृतं; तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव। तद्यथा यदा देशनगरनिगमजनपदप्रधानाः धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां वर्तयन्ति····ओषधयः स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिं, तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पृश्याभ्यवहार्यदोषात्॥ च० वि० अ० ३॥

हे अग्निवेश! वायु, जल, देश और काल, इन चारों भावोंके एकदम बिगड़ जानेका मूल कारण अधर्म है। अधर्मका मूल कारण है प्राणियोंके पूर्व-कृत असत्कर्म या अदृष्ट। पूर्वकृत बुरे कर्म और अधर्मका मूल प्रज्ञापराध है; जैसे कि-देश, नगर, निगम और जनपदोंके अधिकारी राजा धर्मकी अवहेलना कर प्रजामें अधर्म फैलाते हैं। इससे अधर्म ही अधर्मका साम्राज्य होकर धर्म छिप जाता है, तब उस देशको देवता भी त्याग देते हैं, वैकारिक वायु बहने लगती है। फिर जल, देश, कालमें बिगाड़ आकर औषधियाँ भी बिगड़ जाती हैं। ऐसी अवस्थामें उनके पारस्परिक स्पर्श तथा भोजन दोपको लेकर देश-के-देश नष्ट हो जाते हैं।

इसी बातको कहते हुए भगवान् धन्वन्तरिने भी कहा है कि उस अवस्थामें मनुष्योंको चाहिए कि वे अपने स्थानको छोड़कर अन्यत्र चले जावें, तथा शान्ति कर्म, प्रायश्चित्त, मङ्गल आदि कर्म करें।

तेषां पुनर्व्यापदोऽदृष्टकारिताः। शीतोष्णवातवर्षाणि खलु विपरीतानि ओषधीर्व्यापादयन्त्यापश्च ॥ १७ ॥ तासामुपयोगाद्विविधरोगप्रादुर्भावो मरको वा भवेदिति ॥ १८ ॥

कदाचिदव्यापन्नेष्वपि ऋतुषु कृत्याभिशापरक्षःक्रोधाधर्मैरुपध्वस्यन्ते जनपदाः। विषौषधिपुष्पगन्धेन वा वायुनोपनीतेनाक्रम्यते यो देशः.........
॥ २० ॥ तत्र स्थानपरित्यागशान्तिकर्मप्रायश्चित्तमङ्गलजपहोमोपहारेज्याञ्जलिनमस्कारतपोनियमदयादानदीक्षाभ्युपगमदेवताब्राह्मणगुरुपरैर्भवितव्यमेवं साधु भवति ॥ २१ ॥ (सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान अ० ६)

सारांश यह है कि आधुनिक प्लेग रोग अग्निरोहणी नहीं है, किन्तु यह जनपदोद्ध्वंसकारी रोग है। चूहोंके पटापट मरनेके कारण कोई इसे मूषक-विषरोग ही मानते हैं, परन्तु यह मानना भी ठीक नहीं है। चूहे आदि जन्तुओंके मरनेका सम्बन्ध भी वायु, जल, देश और काल इन चार भावोंके एकदम बिगड़नेसे ही है। ग्रन्थ-विस्तार भयसे हम अधिक न लिखकर प्रस्तुत विषय पर आते हैं।

यह रोग समशीतोष्ण कटिबन्धमें अधिक फैलता है। १८९६ ई० में यह हॉंगकॉंगसे भारत तक एवं इजिप्ट और जापानमें फैला था। ३ वर्षके पश्चात् फिलिपाइन और उत्तर अमरिकामें पहुँचा था। इस रोगने सर्वत्र भयंकर हानि पहुँचाई थी।

यह रोग विशेष प्रकारका संक्रामक है, इसकी उत्पत्ति बुंदबुदे सदृश पोकल रेणु रूप कीटाणु पेस्टयुरेला पेस्टिस (Pasteurella Pestis) द्वारा होती है। इसका शोध डाक्टर कीटासेटो और येर्सिनने १८९४ ई० में किया है। इस

रोगको फैलानेवाले मूषक-पिस्सू (चूहेके शरीरपर रहने वाले पिस्सू) हैं। यह रोग पहले विशेषत: चूहोंमें फैलता है। फिर कुछ दिनोंके बाद मनुष्योंपर आक्रमण करता है। इस रोगके निम्न ६ प्रकार हैं :—

१. ग्रन्थिक सन्निपात—ब्युबोनिक (Bubonic)
२. सेन्द्रिय विषप्रकोपज प्लेग—सेप्टीसीमिक (Septicemic)
३. फुफ्फुसप्रदाहक प्लेग—न्युमोनिक (Pneumonic)
४. गम्भीर अकस्मात् बढनेवाली—फुलमिनेण्ट (Fulminant)
५. अपूर्ण अनुन्नत—एबोर्टिव (Abortive)
६. विचलित—एम्ब्यूलेण्ट (Ambulant)

यह रोग स्थान विकृत भेद, रूप भेद और धातु भेदसे निम्नानुसार पृथक् विशेषणयुक्त कहलाता है।

(१) अन्त्र प्रदाहज (Intestinal)
(२) मस्तिष्क प्रदाहज (Cerebral)
(३) त्वचा-तालु विकारज (Cellulocutaneous)
(४) रसमय स्फोट या मृदुस्फोट सह (Vesicular or Varioloid)
(५) स्वर यन्त्र या जलग्रन्थि विकार रूप (Anginal or Tonsillar)
(६) अनुन्नत या विचलित (Abortive or Ambulatory) इसे सौम्य ग्रन्थिज्वर (Pestis minor) भी कहते हैं।

इन सबमें विशेषत: ब्युबोनिक प्लेग महामारी रूपमें फैलकर देशके देश उजाड़ देता है। अत: इसीको हमने जनपदध्वंसक नाम प्राचीन आचार्योंके मतसे दिया है। न्युमोनिक इससे कम फैलता है; और सेप्टीसीमिक विशेष जनपद व्यापि रूप धारण नहीं करता। अन्त्रप्रदाहज और मस्तिष्क प्रदाहज कचित् उपस्थित होते हैं।

पहले प्रकारमें बहुधा जाँघ, काँख या कण्ठ आदि स्थानोंमें ग्रन्थि होकर अति भयानक ज्वर आ जाता है। इसी हेतुसे इस रोगको ग्रन्थिक ज्वर नाम दिया है। कचित् विना गाँठ भी हो जाता है।

इस रोगमें लसीका ग्रन्थियों या फुफ्फुसोंका कीटाणुजन्य प्रदाह होता है। रक्त मिला कफ निकलना, श्वास और कास, ये ३ प्रधान चिह्न प्रतीत होते हैं। प्रबल प्रकोप हो, तो अकस्मात् शीत कम्प सह आक्रमण होता है, एवं अनियमित तीव्र ज्वर, उबाक, वमन, हृदयकी निर्बलता आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। इन लक्षणोंसे यह भयंकर रोग रोगियोंका प्राण उसी दिन या २-३ दिनमें हरण कर लेता है। अत: यूरोपमें इसे Black death उपनाम दिया है। कभी वात, पित्त, कफ इन तीनों धातुओंको दूषितकर सन्निपातिक लक्षणोंद्वारा गाँठकी

उत्पत्ति किये बिना ही मार डालता है।

निदान—सामान्य निदान रूपसे यह रोग मलिनता, एक दूसरेको छूने, साथमें भोजन करने तथा अनेक पुरुषोंके एक साथ रहनेसे होता है। विशेष निदान रूपसे यह रोग कीटाणुके रक्तमें प्रवेश होनेपर होता है। परीक्षा करनेपर इस रोगके कीटाणु रक्तमें स्पष्ट रूपसे देखनेमें आते हैं। ये कीटाणु हाथ-पैर आदिसे स्पर्श या श्वासद्वारा एवं किसी रोगीके वस्त्रादिके उपयोग करनेसे दूसरेकी देहमें प्रवेश कर जाते हैं।

प्रारम्भमें यह रोग विशेषतः चूहोंद्वारा ही फैलता है। बीमार चूहोंके शरीरपर पिस्सू रहते हैं, वे मनुष्योंको काटते हैं, जिससे इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है। ये रोगग्रस्त पिस्सू मनुष्योंके वस्त्रमें लगकर एकसे दूसरे स्थानपर चले जाते हैं। इस तरह ग्रन्थिक सन्निपातके लिये पिस्सू (Flea) वाहन हैं।

यह रोग पहले चूहेको होता है और फिर बीमार चूहोंके विषसे मनुष्योंको लगता है। फिर वह विष प्रकोपज प्लेगका रूप धारण करता है।

कितने ही पिस्सू (Xenopsylla cheopis) प्लेगसे मृत्युप्राप्त चूहेके शरीरपर रहते हैं, वे मनुष्योंको काटते हैं, फिर मानव देहमें कीटाणुओंका प्रवेश होता है। जो चूहे मनुष्यके मांस, मनुष्यके मल और संक्रामक आहारके भक्षक हैं, उनकी देहपर रहने वाले पिस्सू चूहेसे मनुष्योंमें कीटाणु ले जाते हैं। इससे उत्पन्न होने वाला रोग ग्रन्थिज्वर—ब्युबोनिक प्लेग बनता है।

मनुष्योंसे विष मनुष्यको मिलना, ऐसा तो अति क्वचित् बनता है। कितने ही पिस्सू (Pulex irritans) जो मनुष्य, कुत्ते और बिल्ली आदिके कपड़े और देहमें रहते हैं, वे कभी-कभी एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यमें विष पहुँचा देते हैं। पीनेका जल, इस जलकी स्पष्ट संप्राप्ति नहीं करा सकता।

जनपद व्यापी प्रकार सर्वदा अन्य पशुओं तथा वृक्ष और जमीनमें रहने वाले टाली आदि जीवद्वारा चूहोंमें फैलता है। फिर वह मनुष्योंको प्राप्त होता है।

उष्ण कटिबंध प्रदेशमें मूपक-पिस्सू-जैनोप्सिला चियोपिस (Xenopsylla Cheopis), एस्टिया (Astia) और ब्रेसिलिएन्सिस (Brasiliensis), ये ३ प्रकारके मिलते हैं, जो मनुष्यको काटते हैं। इनमेंसे चियोपिस विशेष काटता है, एस्टिया कम काटता है। ये पिस्सू ८०० डिग्रीसे अधिक उष्ण वायु होनेपर विष नहीं फैला सकते। अधिक उष्णता पिस्सूके लिये प्रतिकूल है। समशीतोष्ण प्रदेशमें मूपक-पिस्सू (Ceratophyllus fasciatus) रहते हैं। किन्तु वे मनुष्यों को बहुत कम काटते हैं। काटनेपर रोगोत्पत्ति करा सकते हैं।

न्युमोनिक प्लेगका प्रसार मनुष्यों द्वारा ही होता है। बीमार मनुष्योंके

थूकमें उसके कीटाणु बड़ी संख्यामें प्रतीत होते हैं। यह रोग मनुष्योंके श्वासोच्छ्वास और थूकद्वारा दूसरोंको प्राप्त होता है। श्वास लेनेके साथ कीटाणुओंका प्रवेश श्वासनलिकामें हो जाता है। फिर शनैः शनैः अपनी सत्ता जमा कर रोगोत्पत्ति कराता है। यह रोग अति जल्दी फैलता है। इस रोगके कीटाणुओंका जीवन देहसे बाहर अति कम है। इनको रहनेके लिए मूषक-पिस्सू आदि कीटोंकी आवश्यकता नहीं है। यह रोग जब जनपदव्यापीरूप धारण करता है तब जल्दी विध्वंस करता है।

देशव्यापी संक्रमणके न होने या गाँठ होनेसे पहले इस रोगका निर्णय करना कठिन होता है। गाँठ और उपद्रव स्पष्ट हो जानेपर निदान सरलतासे हो जाता है। रोगके चारों ओर फैलनेसे और प्रारम्भिक चिह्नपरसे भी निदान कर लिया जाता है।

न्युमोनिक प्लेगमें अणुवीक्षयन्त्रद्वारा कीटाणुओंके प्रत्यक्ष होनेपर निर्णय हो सकता है। कीटाणुओंके शोध बिना केवल कल्पना हो सकती है। गाँठवाला प्लेग बहुधा गन्दे स्थानमें रहने वालोंको ही अधिक होता है और स्वच्छ वायुमें रहने वालोंको कम होता है। किन्तु न्युमोनिक प्लेगका आक्रमण सबपर समान होता है, वह निर्धन-धनिक, स्त्री-पुरुष और बाल-वृद्ध सबमें समान रूपसे फैलता है।

संप्राप्ति—ब्यूबोनिक प्लेग (गांठ वाले) में पंक्ति बद्ध लसीका ग्रन्थियोंकी आशुकारी वृद्धि हो जाती है, एवं सामान्यतः कांखकी ग्रन्थि (Axillary), या वंक्षणीय (Inguinal) ग्रन्थि बढ़कर बड़ी गांठ बन जाती है। उसे मूलभूत ग्रन्थि (Primary bubo) संज्ञा दी है। फिर विषप्रकोप होकर उत्तर कालमें और ग्रन्थि जो कम विस्तार वाली हो जायँ उनको गौण ग्रन्थि (Secondary buboes) कहते हैं। इन ग्रन्थियोंका प्रदाह होता है और इनके चारों ओर शोथ हो जाता है। किनारेपर रक्तस्राव होने लगता है। पूर्वावस्थामें वनस्पति कीटाणुओंके समूह बनते हैं और उत्तरावस्थामें कोषाणुओंका विनाश होता है। एवं कीटाणुओंका बारबार ह्रास या अभाव हो जाता है। इस रोगमें हृदय, यकृत्, प्लीहा और वृक्क स्थान दूषित हो जाते हैं। विषप्रकोप अधिक होनेपर इनमें अपक्रान्ति जनित परिवर्त्तन भी हो जाता है। विशेषतः हृदय पेशीकी वसा प्रधान अपक्रान्ति होती है और हृदयके दक्षिण खण्डका प्रसारण हो जाता है।

गांठमें पूय पाक भी अनेक वार हो जाता है; किन्तु दूसरे सप्ताहके प्रारम्भ तक नहीं और फिर शीघ्र गम्भीर रूप धारण नहीं करता।

यकृत् और वृक्कोंमें रक्तसंग्रह होता है, श्याम शोथ प्रतीत होता है और वसा

उनमें बढ़ जाती हैं, एवं तन्तुप्रधान शल्य भी हो जाता है। प्लीहा सामान्यावस्थाकी अपेक्षा दो तीन गुनी बड़ी हो जाती है। उसमें रक्तसंगृहीत होता है और बारबार रक्तस्राव होता रहता है।

रक्तस्राव और केन्द्रिक ध्वंस अन्य अवयवोंमें होना, यह साधारण है एवं श्याम शोथ भी अवयवोंपर हो जाता है।

न्युमोनिक प्रकारमें रचना परिवर्त्तन युक्त फुफ्फुसप्रणालिका प्रदाह और रक्तघनीभवन तथा श्वासनलिकाकी ग्रन्थियोंकी वृद्धि, ये विकृतियां उपस्थित होती हैं।

सेन्द्रीय विषप्रकोपज प्लेगमें विशेषत: विषप्रकोपज सन्निपातके लक्षण और रक्तस्राव प्रतीत होते हैं, प्लीहा सामान्य बढ़ जाती है, त्वचापर रक्तपिटिकाएँ होकर उनमेंसे या विस्तृत भागमेंसे रक्तस्राव होता है, गांठके चारों ओरकी त्वचाका रङ्ग बदल जाता है।

इस विषप्रकोपज प्रकारमें लसीका ग्रन्थियां विषको नहीं रोक सकती। विष बलात्कारसे सर्वत्र फैल जाता है। इस हेतुसे लसीकाग्रन्थियोंका शोथ नहीं होता। यदि किसी ग्रन्थिका शोथ हो जाय तो वहां पूयोत्पत्ति हो जाती है।×

× लसीका वहन करनेवाली सूक्ष्म नलियां सारे शरीरमें फैली हुई हैं। केवल नख, बाल, बाह्य त्वचा और तरुण अस्थियोंके भीतर प्रतीत नहीं होती। जो लसीका रस निकलता है, वह अणुवीक्षण यन्त्रसे देखनेपर रुईके तन्तु सदृश मालूम पड़ता है। इस रसके दो प्रकार हैं, एक शुद्ध और दूसरा मिश्र।

शुद्ध रस—रुधिरका पतला स्वच्छ जलरूप अंश, जो केश-वाहिनियोंकी दीवारोंमेंसे टपक कर बाहर निकलता है; वह शुद्ध है। वही सब धातुओंका पोषण करता है।

मिश्र रस—दुग्ध आदि भोजन कर लेनेपर उसका साररूप द्रवभाव अन्त्रकी दीवारोंमेंसे पयस्विनी रसानियोंद्वारा जो शोषण होकर रसप्रपा (लसीकाके आधार रूप थैली- सिस्टर्ना कायली—Cisterna chyli) में प्रवेश करता है, वह मिश्र रस कहलाता है। यह रसप्रपा पहली और दूसरी कटिकशेरुकाकी आगेकी ओर रहती है।

इन रसायनियोंका कार्य लसीका-वहन करनेके अतिरिक्त देहको मर्दन करने वाले तैल आदि पदार्थोंका शोषण करना भी है। काँटोंके लगनेपर तुरन्त उसका विष इस रसायनीद्वारा समीपकी लसीका-ग्रन्थिमें आकर्षित होजाता है, और उससे उस भागमें शोथ आ जाता है।

किसी भी प्रकारका विष रक्तमें प्रवेश करनेका प्रयत्न करता है, तब उसका प्रतिबन्ध और नाश करनेके लिये प्रारम्भमें लसीकामें रहने वाले श्वेत कणोंके साथ विषका युद्ध होता है। इसकी युद्ध-भूमि लसीका ग्रन्थियां बनती हैं। इस स्थितिमें शारीरिक उष्णता

इस व्याधिमें रक्त-प्रवेशित (आगन्तुक) विष या कीटाणु और भीतरके यन्त्रोंकी विकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सेन्द्रिय विषको नष्ट करनेके लिये शारीरिक उष्णता (ज्वर) की वृद्धि हो जाती है।

चय काल—२ से १२ दिन। विशेषतः ३-४ दिन।

रोग काल—पूर्ण स्वास्थ्यकी प्राप्ति होनेमें लगभग १ मास लगता है।

पूर्वरूप—पीठमें दर्द, सन्धिस्थानोंमें दर्द, मानसिक शिथिलता आदि प्रतीत होते हैं। फिर शीत—कम्पसह प्रबल आक्रमण होता है।

मूत्रमें ग्रथिन (Albumin) आता है। रक्तमें श्वेताणुओंका परिमाण सामान्य अनुपातमें रहता है। ग्रन्थिकी वृद्धि वेगपूर्वक होती है। सामान्यतः मुर्गीके अण्डे जितनी बढ़ती है। कभी इससे भी अधिक बड़ी होजाती है। उसमें गम्भीर वेदना होती है। मलपाक होनेपर बहुधा द्वितीय सप्ताहमें पूयपाक होता है। इस रोगसे प्रायः ३ रे या ५ वें दिन मृत्यु होजाती है।

लक्षण—ग्रन्थिक ज्वरमें प्रारम्भसे ही बहुधा तीव्र ज्वर होता है। कचित् मन्द ज्वर, कम्प आदि लक्षण भी होते हैं। गांठ कहीं-कहीं पहले ही दिन देखनेमें आ जाती है; कभी दूसरे या तीसरे दिन भी निकलती है; कभी-कभी एकसे अधिक गांठें भी निकलती हैं।

हाथ-पैरका अति टूटना, अति शिथिलता, तृषा, प्रलाप, उन्माद (बकवाद करना या पागलकी तरह दौड़ना), मूर्च्छा, चक्कर आना, निद्रानाश, वमन, शिरदर्द, नेत्र लाल होना, बलक्षय, चिन्तातुर चेहरा, अतिसार या मलावरोध, व्याकुलता, मोह, संज्ञानाश, सन्निपातके समान उपद्रव होना, जिह्वा काली और कठोर होजाना, क्वचित् ओष्ठ नीले होजाना, नाड़ी अति शिथिल अर्थात् कोमल स्पर्शा और अति चञ्चला हो जाना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। गांठ निकलनेके स्थानपर शोथ कभी पहले तो कभी पीछे होता है। गांठमें सुई चुभानेके समान पीड़ा और स्पर्श करनेपर तीव्र वेदना होती है।

ग्रन्थिक ज्वर (ब्यूबोनिक) का आक्रमण अकस्मात् होता है। आक्रमण कालमें शीत लगना, शिरदर्द, पीठमें वेदना, व्याकुलता, तेजनाड़ी, तेज श्वसन और शारीरिक उत्ताप अत्यधिक रहना आदि लक्षण प्रायः उपस्थित होते हैं। पूर्ण लक्षण कुछ घण्टोंमें ही प्रकट हो जाते हैं। शीघ्र शक्तिह्रास हो जाता है; और १ या २ दिनमें प्रलापावस्थाकी प्राप्ति हो जाती है। गांठ आक्रमण कालमें

बढ़कर ताप आ जाता है। रसायनियां और ग्रन्थियां सूजकर मोटी और कठोर हो जाती हैं। यदि रसायनियों और ग्रन्थियोंकी हार हो जाती है, तो वे शिथिल होकर पकने लगती हैं। फिर उनका पूयपाक होने लगता है।

या १-२ दिनमें निकल आती है। सांथलमें या कांखमें गांठ प्रतीत होती है। बालकोंमें कण्ठ या ग्रीवा ग्रन्थियां भी बड़ी हो सकती हैं। शोथ आगे जैसा या इससे अधिक और अति मुलायम होता है। शोथ प्रशस्त बनता है। गांठ निकलनेपर ज्वरका ह्रास हो जाता है। गौण ग्रन्थियाँ देरसे निकलती हैं। प्लीहा सामान्यत: स्पष्ट भासती है (स्वस्थावस्थामें प्लीहाकी प्रतीति नहीं होती)।

गांठ सांथलपर ७०%, कांखमें २०% और कण्ठ आदि स्थानोंमें १०% होती है।

लक्षण सामान्यत: बढ़ते जाते हैं। शक्तिह्रासके साथ हृदयकी निर्बलता, जिह्वा पिंगल और फटी-सी हो जाना, सामान्य वमन और प्रलाप, ये लक्षण उपस्थित होते हैं।

सामान्यत: मृत्युसंख्या लगभग ७० प्रतिशत। सुधरनेवाले रोगियोंमें ग्रन्थि निकलनेपर लक्षणोंमें सुधार होना। दूसरे सप्ताहमें पूयपाक और मुक्तावस्थाकी प्राप्ति होती है। अरिष्टमें सुधार ५ दिन बाद होता है।

कितनेही जनपदव्यापी रोगियोंमें त्वचापर रक्तमय पिटिका होना और रक्तस्राव होना, ये सामान्य लक्षण होते हैं। गम्भीर रूप धारण करनेपर श्लैष्मिक त्वचामेंसे रक्तस्राव होता है।

बालकोंमें आक्रमण कालमें आक्षेप होकर गुप्तभावसे गम्भीर रूप धारण कर लेता है।

रक्तकी परीक्षा करनेपर अनेक केन्द्रस्थान युक्त श्वेताणुओंकी प्रतीति होती है। मृत्युके पहले ये बड़ी संख्यामें प्रतीत होते हैं।

शारीरिक उत्ताप आक्रमण कालमें १०३-१०४° होता है। परवर्त्ती क्रम अनेक प्रकारका होता है। ३-४ दिनके पश्चात् यदि उत्तापका ह्रास होता है, तो १-२ दिनमें पुन: त्वरित बढ़ जाता है। इस रोगमें भयंकर गम्भीर हृदयावरोध होना सामान्य है। विलम्बित प्रवृत्ति होती है, तो गांठ पक जाती है।

न्युमोनिक प्लेग—इसका आक्रमण शिरदर्द, व्याकुलता, चक्कर आना, हाथ-पैर टूटना, दाह आदि सह अकस्मात् होता है। वेपन, शीत लगना, दर्द होना, कफवृद्धि, ज्वर, शक्तिह्रास होना, तेज नाड़ी, तेज श्वसन, गात्रनीलता, थूक जल जैसा पतला और रक्तयुक्त, दोनों फुफ्फुसोंमें धब्बेसह दृढ़ीकरण, छातीमें वेदना और खिचाव, संधिस्थानोंमें दर्द, मानसिक जड़ता, श्वासकृच्छ्रता, प्लीहावृद्धि, १ से ४ दिनमें रोगका गम्भीररूप बन जाना और थूकमें कीटाणु बड़ी संख्यामें प्रतीत होना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। इस विकारमें फुफ्फुसोंका कोथ हो जाता है। प्राय: इस रोगमें ४ दिनके भीतर हृदयावरोध होकर मृत्यु होती है।

सेन्द्रिय विषप्रकोपज प्लेग—सब प्रकारके प्लेग-विष प्रकोपावस्थाको प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु यह विशेष प्रकार ग्रन्थि अथवा स्थानिक चिह्न रहित उपस्थित होता है। यह अति तीव्र गतिसे घातकरूप धारण कर लेता है।

कभी विषका प्रवेश पहलेसे ही रक्तमें हो जाता है। तब लसीकाग्रन्थियाँ नहीं सूजतीं। ऐसे प्रकारमें कभी काले-काले धब्बे सारे शरीरमें हो जाते हैं। जब विषप्रकोप अधिक होता है, तब लक्षण गम्भीर बन जाते हैं। विशेषत: प्लीहावृद्धि होती है; लसीकाग्रन्थियोंकी वृद्धि कम परिमाणमें होती है। मस्तिष्कके आगेके हिस्सेमें वेदना, ज्वर और वमन आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। मलके साथ रक्त जाता है। इस रोगका निर्णय रक्तपरीक्षासे होता है। यह प्रकार जनपदव्यापी नहीं बनता।

अन्त्र विकारज प्रकार—१८९६ ई० में हाँग काँगमें उपस्थित हुआ था। इस प्रकारमें अन्त्र-क्रिया अनियमित हो जाती है, वमन-विरेचन उपस्थित होते हैं, मलमें दुर्गन्ध आती है, मलके साथ यकृत्-पित्त निकलता है और बार बार रक्त मिश्रित हो जाता है। गाँठ नहीं निकलती। रोगके अन्त्रगत लक्षण उपस्थित होते हैं।

मस्तिष्क-विकृति-जनित प्रकारमें मस्तिष्क प्रकोपयुक्त विषम ज्वर सदृश लक्षण प्रतीत होते हैं। ग्रन्थि प्राय: मस्तिष्कके भीतर हो जाती है। इस प्रकारमें प्रलाप, आक्षेप और बेहोशीका प्रकोप प्रबल होता है। फिर लम्बा समय लेता है।

तन्तु और चर्मविकारज प्रकारमें क्षतके चारों ओर तन्तु मर जाते हैं फिर प्रमेह पिटिका (Carbuncle) सदृश भास होता है। चारों ओर किनारे कठिन और बीचमें रक्तप्रदेश प्रतीत होता है। वह कभी सूक्ष्म स्फोटद्वारा अच्छा होता है।

रक्तमय स्फोटयुक्त प्रकार होनेपर शीतला या विस्फोटकके दाने सदृश रसमय और पूयमय प्रकार प्रतीत होते हैं। तथापि शीतलासे इसका भेद सरलतापूर्वक हो जाता है।

स्वरयन्त्र या ग्रन्थिविकारयुक्त प्रकारमें गिल्टी कण्ठ भागमें होती है। कभी मुँह या दांतोंद्वारा विष फैलकर यह प्रकार उपस्थित हो जाता है।

अनुन्नत व विचलित प्रकार अति सामान्य है। इस प्रकारमें गांठ बनती है, पूयपाक होता है अथवा विशेष गम्भीर लक्षण और ज्वर प्रकोप न होते हुए विष शोषित हो जाता है। लसीकाग्रन्थिमें वेदनाप्रधान सामान्य शोथ होता है। शिरदर्द भी उत्पन्न होता है। फिर रोग सरलतासे निवृत्त हो जाता है।

ब्युबोनिक प्लेगके कीटाणु पहले गांठ उत्पन्न करते हैं। फिर लगभग

३ दिनके पश्चात् रक्तमें चले जाते हैं; तब विषप्रकोपज लक्षण ३ दिन बाद विशेषरूपसे उपस्थित होते हैं। उस समय दो प्रकारके रोगोंके लक्षण मिश्रित प्रतीत होते हैं।

जनपदव्यापी रोगके प्रारम्भ अथवा अन्तमें कितनेही रोगी मन्दप्रकोपयुक्त होते हैं, एवं इस रोगका इनोक्युलेशन जिनने लिया हो, उनमेंसे कोई ही रोग-पीड़ित हो जाता है। उसके लक्षण मन्द होते हैं। ऐसे रोगियोंकी मृत्यु बहुधा हृदयावरोधसे होती है।

रोग विनिर्णय—जनपदव्यापीरूप धारण करनेपर निदान सरल है। अन्य समयपर कठिन है। जब रक्तमें कीटाणु फैल जाते हैं, तब रक्त-परीक्षाद्वारा निर्णय सरलतासे हो सकता है। किन्तु उस समय रोग प्रायः कष्टसाध्य या असाध्य रूप धारण कर लेता है।

इस रोगमें उत्ताप कभी १०६ डिग्री तक बढ़ जाता है और नाड़ीकी गति अति तीव्र होती है। अति बेचैनी, दाह, प्रलाप, नेत्रोंमें लाली, मूत्रमें लाली आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। इस रोगसे पीड़ित रोगी १ दिनमें ही या ५-७ दिनमें मृत्यु-मुखमें चला जाता है।

उपद्रव—आशुकारी ग्रन्थिक सन्निपात होनेपर घातक परिणाम सह सेन्द्रिय विषप्रकोपज सन्निपात अथवा निमोनिया भी उपस्थित होता है। अथवा ज्वर निवृत्त हो जानेपर स्थानिक गाँठ चिरकारी रूप धारण कर लेती है और सुधारनेमें अनेक सप्ताह ले लेती है। फुफ्फुसप्रणालिकाप्रदाह, तन्तु सङ्कर विद्रधि, तन्तु प्रदाह, नासाग्रन्थि प्रदाह या कर्णग्रन्थि प्रदाह आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

साध्यासाध्यता—ग्रन्थिक सन्निपातमें मृत्यु-परिमाण भारतवासियोंका ७५ से ८०% यूरोप वासियोंका २५ से ३०% रहता है काँखमें होनेवाली गांठ उदरमें होनेवाली गाँठकी अपेक्षा कम सुधरती है।

फुफ्फुस विकारज और सेन्द्रिय विष प्रकोपज रोगको घातक ही माना है। इनसे सौभाग्यशाली कोई ही बचता है।

रोगीके बालक या वृद्ध होनेपर गांठोंके बैठ जाने तथा जल्दी या देरीसे पाक होनेसे रोग साध्य हो सकता है; अर्थात् प्रयत्न करनेपर रोगी बच जाता है।

यदि गिल्टियाँ उत्पन्न होकर थोड़े ही समयमें बैठ जाती हैं या पक जाती हैं, ज्वर मन्द हो जाता है, भोजनमें रुचि उत्पन्न होती है, पहले मलावरोध होकर फिर बँधा हुआ दस्त आने लगता है; कान्ति बढ़ती है और रोगी १० दिन तक जीवित रह जाता है, तो रोग साध्य होता है। और ज्वर तीव्र हो, निर्बलता बढ़ती जाय, गिल्टियाँ न पकें, बेहोशी, मूत्र बन्द, रक्तस्राव आदि लक्षण हों, तो असाध्य बन जाता है।

बहुत जल्दी श्रवण आदि इन्द्रियोंकी शक्तिका लोप हो जाना, पहले या दूसरे दिन ही संज्ञा लोप हो जाना और अतिसार हो जाना, ये उपद्रव हो जायँ, तो रोगी नहीं बच सकता।

जो रोगी सिन्दूरके समान लाल या उज्ज्वल रक्तयुक्त कफ थूकता है; और जो फुफ्फुस दूषित होनेसे श्वास पीड़ित होता है, उसके रोगको सब प्रकारसे असाध्य ही कहना चाहिये।

श्वसनक ज्वरमें काला रक्तयुक्त थूक आता है, वह ग्रन्थिक ज्वरका ही एक भेद है। इसका रोगी बहुधा बच जाता है। जिस रोगीकी गाँठ बाहर स्पष्टरूपसे नहीं दीखती, उसे यमराजके घरका अतिथि ही होना पड़ता है। (बाहर गाँठ न दीखनेपर शव परीक्षाके समय भीतर गाँठकी सूजन देखनेमें आजाती है)।

ग्रन्थिक ज्वर चिकित्सा।

इस ग्रन्थिक ज्वरमें निश्चित रूपसे लाभ पहुँचा सके ऐसी कोई सिद्ध औषध नहीं है। गाँठपर लेप, सेक (उष्ण या शीतल बर्फका सेक) और ज्वरघ्न विष-शामक औषध देते रहनेसे अनेक रोगी बच जाते हैं। चिकित्साका आरम्भ जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी करना चाहिये। एलोपैथिक मत अनुसार Haffkine's prophylactic Vaccine देनेपर ६ से १२ मास तक रोग-निरोधक शक्ति बनी रहती है।

रोगके प्रारम्भमें ही एरण्ड तैलकी बस्तिसे कोष्ठशुद्धि कर लेनी चाहिये। स्थान, वस्त्र आदिकी सफाईपर लक्ष्य देना चाहिये। महामारीके दिनोंमें बाहरसे घर आनेपर तैल मालिश करके स्नान करें; और वस्त्रोंको गरम जलसे धोवें तो बहुत अच्छा है।

जिस मकानमें चूहे मरते हों, उस मकान या कमरेमें तुरन्त धूप देकर सफाई करा लेनी चाहिये। चूहेपर केरोसीन तैल डाल, दूर ले जाकर उसे जलवा दें या जमीनमें गड़वा देवें। हो सके तब तक चूहोंवाले मकानमें नहीं रहना चाहिये।

रोगीको केवल पंचकोल क्वाथके उबाले हुए जलपर रखें। दोष-पचन होनेपर मोसम्मी, मीठा नीबू या संतरेका रस या दूध थोड़े-थोड़े परिमाणमें देते रहें।

गांठपर लगानेके लिये—(१) मल्लादि लेप, ग्रन्थिभेदन लेप या प्रतिसारणीय क्षार। इनमें मल्लादि लेपसे ग्रन्थिभेदन लेप उग्र है; और ग्रन्थिभेदनसे प्रतिसारणीय क्षार अधिक तीव्र है। प्रकृतिका विचार करके इन लेपोंका उपयोग करें।

(२) प्रारम्भिक अवस्थामें अफीमको शराबमें मिलाकर ३-३ घण्टेपर लेप

करते रहें या हल्दी, चूना और अण्डेकी सफेदीको जलमें मिलाकर लेप करें।

(३) सोमल, लहसुन और अफीम, तीनोंको समभाग मिला, लहसुनके रसमें या शराबमें पीसकर गाँठोंपर लेप करें। फिर ५ मिनट बाद १ घण्टे तक सेक करते रहें, फिर १-२ घण्टे बाद पुनः लेप और सेक करें। इस तरह १ दिनमें ५-६ समय सेक करनेसे गाँठ पक कर फूट जायगी, या रक्तका शोषन होकर रक्त फैल जायगा।

(४) बर्फको पोटलीमें बाँध कर गाँठपर रखें। पिघलनेपर बर्फ बदलते रहें। इस रीतिसे १२ घण्टे शीतलता पहुँचानेसे अनेकोंकी गाँठ बैठ जाती है। गाँठ होनेपर तुरन्त यह प्रयोग करना चाहिये।

(५) प्याजको कूट, हल्दी मिला, तैलमें पकाकर दो पोटली करें। फिर एक पोटली गरम कर सेक करें। पोटली शीतल होनेपर बदल दें। इस रीतिसे १२ घण्टे तक सेक करनेसे गांठ बैठ जाती है। २-३ घण्टेपर प्याजको बदलते रहना चाहिये।

(६) गिल्टीपर जौंक लगाकर रक्त निकलवा डालें। फिर रेती या नमककी पोटलीसे सेक करें। अथवा तैलमें पकाई हुई प्याजकी लुगदीसे सेक करनेसे विष शमन हो जाता है।

(७) भिलावोंका तैल पाताल यन्त्रसे निकालकर आधसे एक इंचका चतुष्कोण चिह्न + लगानेसे गांठ फूट जाती है।

(८) गन्धाबिरोजा और सिन्दूर ३-३ तोले, मोम १ तोला, दालचिकना ६ माशे और तिलीका तैल ६ तोले लें। यथाविधि मल्हम बनाकर पट्टी लगानेसे गांठ बैठ जाती है।

(९) ग्रन्थि (प्लेग) हर लेप—जलधनिया (पंजाबी-लटुकारी बूंटी) की ताजी पत्तीको बिना जल मिलाये पीस, १-१ तोलेकी २ टिकिया बना लेवें। फिर ग्रन्थि ज्वरके रोगीके हाथकी कलाईके बीचमें दोनों ओर १-१ टिकिया रख, कपड़ेसे पट्टी बाँध देवें। ३ घण्टे पश्चात् पट्टी खोल डालें। जिन स्थानोंपर छाले हो गये हों, उनपर घी या मक्खन लगा देवें। छालोंको स्वयमेव फूटने दें। इस क्रियासे प्लेगका विष शमन हो जाता है; और रोगीको शर्तिया आराम हो जाता है। ऐसा रसायनसार ग्रन्थकारका अनुभव है।

(१०) भल्लातक योग—गोबरीके निर्धूम अंगारेपर सुईसे टोंचकर एक वजनदार भिलावा रखें। टोंचनेकी जगहपर तुरन्त ही तैल दीखने लगेगा। सुईके अग्रभागसे उस तैलकी गांठके चारों ओर बारीक रेखाकार वर्तुल खींच दें। वर्तुलके भीतर गांडरर सुईसे उस तैलकी दो आड़ी और दो खड़ी रेखा खींचकर वर्तुलके बाहर भीगे हुए कलीके चूनेकी रेखा कर दें। गांठका पता

लगते ही इस क्रियाके करनेसे दूसरे ही दिन ज्वर, पीड़ा आदि कम होते हैं; गांठ बैठ जाती है और रोगी निश्चय ही बच जाता है। गाँठके बैठते समय मिलावेके कारण उसपर खाज आती है। खाज आनेपर उसपर तिल्ली या नारियलका तैल लगा देना चाहिये। एक ही बार इस क्रियाके करनेसे रोगी बच जाता है। यह हमारे श्रद्धेय मित्र स्व० पं० श्री गोवर्धनजी शर्मा छांगाणी प्राणांचार्यका कई बार किया हुआ अनुभूत प्रयोग है।

(११) असगंधकी जड़को जलमें घिस कर लेप करनेसे प्लेगकी गांठ फूट जाती है।

ताजी जड़को घिस सूजन या लाल जगह हों, वहाँ तक लेप करना चाहिये। लेप सूखनेपर भीतरसे त्वचा खिंचने लगती है और थोड़े ही समयमें शोथ (या गांठ) बिखर जाती है। या गांठ ऊपर निकलती रहती है; और रोगी शुद्धिपर आने लगता है। इससे थोड़े ही समयमें गांठ फूट जाती है। इस समय चारों ओर मूलका लेप और मुखभागपर गेहूँके आटेकी पुल्टिस बांधनेसे घाव भर जाता है।

इस असगंधको लेटिनमें विथेनिया सोम्निफेरा (Withania Somnifera) कहते हैं, यह पौधा गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब आदि स्थानोंमें प्रतीत होता है। इस पौधेमें मादक, मूत्रल और शोथघ्न गुण रहे हैं।

वातावरण शुद्धिके लिये—जन्तुघ्न धूप या अपराजित धूप अथवा गूगलकी प्रातः सायं धूप देते रहें।

रोगशामक औषधियाँ—कालकूट रस, द्वात्रिंशदाख्य क्वाथ, अश्वकंचुकी रस (खाने और लगानेके लिये), महामृत्युञ्जय रस, संजीवनी वटी (सुदर्शन चूर्णके क्वाथके साथ), शृङ्गभस्म और मल्लभस्म नं० २ (शहदके साथ), इनमेंसे रोग-बल और प्रकृतिका विचार कर औषध दिनमें २ से ३ समय देते रहनेसे विष-शमनमें सहायता मिल जाती है।

कालकूटरस हृदय शिथिल हो और शारीरिक उष्णता १०२° से अधिक न हो, तो देना चाहिये। अश्वकंचुकी और संजीवनी सौम्य और उत्तम औषध है। सब अवस्थाओंमें निर्भयतापूर्वक दे सकते हैं। अनुपानरूपसे द्वात्रिंशदाख्य क्वाथ देनेसे शीघ्र लाभ पहुँचता है।

मल्लप्रधान औषध—महामृत्युञ्जय, अचिन्त्यशक्ति रस, मल्लभस्म, मल्लसिन्दूर आदि वृक्क निर्दोष हों, मूत्रावरोध न होता हो, तो अति हितकारक है। एवं रक्तस्राव न हो तब दी जाती है।

अधिक रक्तस्राव होता हो, तो चन्द्रकला रस, अभ्रकंचुकीके साथ मिला देना चाहिये। अतिसार हो, तो अश्वकंचुकीके स्थानपर संजीवनीका उपयोग

करना विशेष हितकर माना जायगा। संजीवनीमें भिलावां आता है, वह कीटाणुओंको मारनेमें अच्छी सहायता पहुँचाता है।

बेहोशी आ जाय तो—हेमगर्भ पोटली रस या संचेतनी गुटिका देवें।

उन्माद, निद्रानाश और प्रलाप शमनके लिये—वातकुलान्तक रस, कस्तूर्यादि गुटिका अन्य औषध देते हुए भी दे सकते हैं। या १-१ तोले ब्राह्मीका क्वाथ दिनमें २ समय पिलावें।

एलोपैथीमें इस रोगको दूर करनेके लिए एण्टि प्लेग सीरमका शिरामें अन्तःक्षेपण करते हैं। पूरी मात्रामें सल्फोनेमाइड देते हैं। केओलीनकी पुल्टिस बांधते हैं। या बेलाडोना ग्लिसरीनकी पट्टी लगाते हैं तथा लक्षण और उपद्रवके अनुरूप और उपचार करते रहते हैं।

मस्तिष्ककलाप्रदाह (Meningitis) के शमनार्थ स्ट्रेप्टोमाइसिनका अन्तःक्षेपण ग्रन्थि और मांसपेशीमें किया जाता है। कर्णमूल ग्रन्थि होनेपर केओलीनकी पुल्टिस लगाते हैं।

(१४) वातश्लैष्मिक ज्वर।

वातश्लैष्मिक ज्वर- श्लेष्मक ज्वर-इन्फ्लुएञ्जा।

(Influenza-La Grippe)

यह ज्वर तीव्र आशुकारी, संक्रामक, महामारी रोग है। इस रोगकी उत्पत्ति विषके आक्रमणसे होती है। इस रोगमें प्रायः श्लेष्मज उपद्रवोंकी उत्पत्ति अधिक होती है। इस हेतुसे सिद्धान्तनिदानकारने इस रोगको श्लेष्मक ज्वर संज्ञा दी है। किन्तु श्लेष्मके साथ वात धातु भी विकृत हो जाती है। इस हेतुसे अन्य ग्रन्थकारोंने वातश्लैष्मिक ज्वर नाम दिया है। यह रोग समग्र भूमण्डलपर संवत् १९७५-७६ (१९१८ ई०) में महामारी रूपसे फैला था। इससे करोड़ों मनुष्य मर गये थे। इस तरह पहले भी ३ बार इस रोगका आक्रमण हुआ था, ऐसा इतिहासपरसे जाना जाता है। यह रोग बालक और वृद्धोंकी अपेक्षा युवकोंपर अधिक आक्रमण करता है। इस रोगसे श्वास-यन्त्र, अन्नपचन संस्थान, मस्तिष्क और नाड़ी-यन्त्र आदि दूषित होते हैं; और अतिशय शक्तिपात हो जाता है।

निदान—जब अधर्मवृद्धि होकर वायुमण्डल दूषित होता है; तब अकस्मात् इस रोगके कीटाणुओंकी उत्पत्ति हो जाती है। इन कीटाणुओंका प्रवेश श्वास मार्गसे, मुँहसे (भोजनके अन्न-पान आदि पदार्थोंद्वारा) एवं दूषित वस्त्रोंके संसर्गसे हो जाता है।

यह रोग शरद्, शिशिर और वसन्त ऋतुमें फैलता है। बहुधा १० से ४० वर्षकी आयुवालोंको अधिक होता है। इस रोगके कीटाणुओंको हीमोफाय-

लस वेक्टीरिया (Haemophilus Bacteria) तथा आकृति सरल होनेसे वेसिलस इन्फ्लुएञ्जा (Bacillus Influenza) कहते हैं ❀। इन कीटाणुओंकी शोध ई० सन् १८६२ में प्रो० फायफर (Pfeiffer) ने की थी। 'मेडीशिन' ग्रन्थकार न्यूसोएटने इन कीटाणुओंको सच्चा कारण नहीं माना। ये कीटाणु नासास्रावमें देखनेमें आते हैं। ये स्वाभाविक प्रवृत्तिसे रहित (Non motile) होते हैं।

इस रोगके प्रारम्भमें जुकाम होता है। इस हेतुसे प्रतिश्यायके सुवर्ण सदृश कीटाणु स्टाफिलोकोकस आरियस (Staphylococcus aureus) रोगवृद्धिमें सहायक होते हैं।

इस रोगका चय-काल १ दिन या अधिकसे अधिक ३ दिन है। रोग जानेके पश्चात् भी शक्ति न आवे तब तक थोड़ी-सी भूल होनेसे यह रोग पुनः आक्रमण करता है। इस हेतुसे पथ्यकी सम्हाल रखना चाहिये।

सम्प्राप्ति—विशेषतः इन कीटाणुओंका प्रवेश श्वासमार्गसे होनेसे श्वास-नलिका और दोनों फुफ्फुस विकृत हो जाते हैं। फुफ्फुस कुछ स्लेट जैसा नीला (Slate-blue) हो जाता है। रक्तस्राव होता है और पीड़ितभागको काटकर जलमें डालनेपर प्रायः डूब जाता है। दाह-शोथ होकर श्वासनलिकाएँ कफसे भर जाती हैं, तब न्युमोनियाके सदृश रक्तष्ठीवन आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। कभी अन्नमार्गसे प्रवेश होनेपर आमाशय और पक्वाशयमें विकृति होती है

❀ कृमिके मुख्य २ विभाग हैं। १-वेक्टीरिया (Bacteria) २-प्रोटोझोआ (Protozoa)। वेक्टीरियाको वनस्पति वर्गमें और प्रोटोझोआको प्राणिकोटिमें माना है।

वेक्टीरियामें आकृति भेदसे मुख्य ३ विभाग हैं। १—सरलाकृति (वेसिलस Bacillus)। २—अण्डाकृति (अण्डेके समान गोल-कोकस (Cocuss)। ३—कर्षिणी आकृति अर्थात् घुमावदार स्क्रू सदृश (स्पिरिला Spirilla)।

इनमें वेसिलसकी अनेक जातियां और स्पिरिलाकी २ जातियां हैं। कोकसकी आकृति भेदसे ५ जातियां हैं। (१) युग्मक-डिप्लोकोकस Diplococcus; (२) जंजीर सदृश-चिटक कर रहने वाले स्ट्रेप्टोकोकस Streptococcus; (३) चतुष्क अर्थात् ४-४ साथमें रहने वाले '×' आकृति सदृश-टेट्राजिनस Tetragenous; (४) अष्टक सारसिना Sarcinae; (५) समुदाय बनकर रहने वाले स्टेफिलोकोकस Staphylococcus।

फिर इस कोकस जातिमें दूसरे ढङ्गसे बड़ी जातिके मक्रोकोकस और सूक्ष्म जातिके माइक्रोकसके अनेक भेद किये हैं।

प्रोटोझोआमें मुख्य ४ प्रकार हैं। १- आर्कोडिना; २ मस्टिगोफोरा; ३. इन्फ्यूगोरिया; ४, स्पोरोझोआ। मलेरियाके कीटाणु इसके चौथे वर्गमें हैं।

और इससे वमन या अतिसार और कभी इन दोनोंकी प्रवृत्ति हो जाती है। यदि कीटाणुओंका प्रवेश मस्तिष्कमें हो जाता है, तो वहाँपर भी दाह-शोथ आदि विकृति हो जाती है। इस रोगमें प्लीहावृद्धि नहीं होती। कभी-कभी उदरदण्डिका और अन्य मांसपेशियोंके आवरणमेंसे रक्तस्राव होने लगता है। कभी श्वासनलिकामें पूयमय कफ भर जाता है। श्वासनलिकाकी ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं। आमाशय, शेषान्त्रक, उण्डूक आदि बृहदन्त्रकी श्लैष्मिक त्वचामेंसे रक्त चूने लगता है। वृक्क कुछ बड़े और रक्तसंग्रहयुक्त भासते हैं। ये सब चिह्न शवको चीरनेपर विदित होते हैं।

इस रोगमें विकृति विशेषतः कफवातोल्बण सन्निपातके समान ही होती है। कभी शनैः-शनैः तो कभी तीव्र बलसे ये कीटाणु धातुओंको दूषित बना देते हैं। रक्तमें श्वेत जीवाणुओंकी संख्या कम हो जाती है। लसीकाणुओंका निपात बढ़ जाता है। हृदयके दाहिने खण्ड विस्तृत हो जाते हैं; और हृत्स्नायुमें दाह होता है। जब अधिवृक्कों (वृक्कोंके ऊपरके सिरेपर रहने वाली त्रिकोणाकार ग्रन्थियों Suprarenal glands) पर काला शोथ आ जाता है, तब अत्यन्त शक्तिपात होता है।

रूप—रोगका आगमन अकस्मात् होता है। अच्छी तरह कार्य करते हुए मनुष्यको थोड़े ही समयमें सारे शरीरमें नाना प्रकारकी वेदनायें होकर ज्वर आ जाता है। नाकमेंसे जल समान श्लैष्मस्राव, कण्ठ पकड़ा जाना, मुँहमें दाह, श्वेत मैली और फूली हुई जिह्वा और उसके किनारे लाल, नेत्रमें लाली, शिरःशूल, कचित् शीत लगना और कम्प होना, हाथ-पैर टूटना, कमर, पीठ और उरःस्थलमें तीव्र वेदना, खाँसी, ज्वर, बेचैनी, ४-५ दिनोंमें ही शरीर निर्बल हो जाना और सारे शरीरकी मांसपेशियोंकी शक्ति नष्ट हो जाना (इनमें हृदय पेशीकी शक्ति हरण हो जानेके हेतुसे कभी-कभी हृदयकी क्रिया बन्द होकर मृत्यु भी हो जाती है), ये सब लक्षण सौम्य विकारमें प्रतीत होते हैं। ज्वर बहुधा ५-७ दिन तक १०३ से १०४ डिग्री तक रहता है, फिर अकस्मात् चला जाता है।

इस रोगका कोई प्रारम्भिक खास लक्षण नहीं भासता; जिसपरसे रोगविनिर्णय हो सके। महामारी प्रकोप, अर्थात् देशव्यापी आक्रमण होता है, तब निदान सरलतासे हो जाता है। अन्य समयमें सामान्य वातश्लैष्मिक ज्वरके लक्षणोंसे भेद प्रतीत नहीं होता। शक्तिपात होनेपर इन्फ्ल्युएञ्जा विदित होता है।

'साइनोप्सिज ऑफ मेडीशन' ग्रन्थकारने इस रोगके निम्नानुसार ५ प्रकार दर्शाये हैं :—१. तीव्र ज्वर प्रधान; २. घातक लक्षण युक्त; ३. श्वाससंस्थानकी

विकृति प्रधान; ४. पचनेन्द्रिय संस्थानकी विकृतिप्रधान, और ५. वातसंस्थान विकृतिप्रधान।

१. तीव्र ज्वर प्रधान (General febrile type)—यह प्रकार ही अधिक प्रतीत होता है। इसका आक्रमण अकस्मात् होता है। अति गम्भीर चक्कर आना, मुखमण्डल तेज रहित, नेत्रकी श्लैष्मिक त्वचाका प्रदाह(अभिष्यंद), गम्भीर शिरदर्द, नेत्रगोलकके पीछे विशेष तोर पीड़ा हो जाना, पीठ और अस्थियोंमें वेदना, जिह्वा काँटेदार, श्वास-क्रियाकी विकृति, स्वर यन्त्र और श्वासनलिका शुष्क, वेदनायुक्त और प्रसेकसह, बार-बार कफ-प्रकोप, शीघ्र शक्तिपात, पहले त्वचापर ठण्डीके काँटे आना (Gooseflesh), फिर त्वचा प्रस्वेद पूर्ण हो जाना, ज्वर ३ से ५ दिन तक रहना, ज्वर परिवर्त्तनशील होनेसे कभी-कभी न रहना, नाड़ी मन्द होना, मलावरोध, कचित् प्लीहावृद्धि और श्रवणयन्त्रसे परीक्षा करनेपर फुफ्फुसपीठपर आगन्तुक ध्वनि (Rales) सुनना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। पुनराक्रमण कभी-कभी हो जाता है। तीक्ष्ण आक्रमण होनेपर १ सप्ताह तक रह जाता है।

२. घातक लक्षणप्रधान (Malignant type)–यह विशेषतः जनपदव्यापी प्रकारमें होता है। आक्रमणके प्रारम्भसे ही सेन्द्रिय विषप्रकोप (Toxaemia) जनित सान्निपातिक लक्षण, अति और गम्भीर गात्रनीलता, ज्वरका रूपान्तर होते रहना, अन्य लक्षण सामान्य रहना, हृदयावरोध शीघ्र होना आदि लक्षण प्रकट होते हैं। इस प्रकारमें थोड़े ही दिनोंमें मृत्यु हो जाती है।

३. श्वासयन्त्रविकृति लक्षणप्रधान (Respiratory type)–इस प्रकारमें आक्रमण स्वरयन्त्रसे प्रारम्भ होकर बृहद् श्वासनलिका, श्वासप्रणालिका प्रदाह और फुफ्फुसावरण तक पहुँच जाता है। इस प्रकारमें श्वासप्रणालिका प्रदाह (Broncho-Pneumonia) के लक्षण प्रकट होते हैं। थूक झागदार; गुलाबी रंगका अति विशेष परिमाणमें अथवा गाढ़ा और गोंद सदृश लेसदार होता है। अनेक बार कुछ समयमें फुफ्फुसावरण पूयमय हो जाता है। गम्भीर न्युमोनियाके आक्रमणके हेतुसे मृत्यु संख्या बढ़ जाती है।

४. पचनेन्द्रियसंस्थान विकृति लक्षण प्रधान (Gastro intestinal type)—यह प्रकार सामान्य है। यह प्रकार विशेष नहीं फैलता। इसका आक्रमण अरुचि (Anorexia), उदरपीड़ा, दुराग्रही मलावरोध (अतिसार अति कम समय), प्रतिश्याय और बलात्कारसे भोजन करनेपर वान्ति आदि लक्षणोंसह होता है। बहुधा श्वाससंस्थानके लक्षणोंका अभाव होता है। कभी-कभी कामला हो जाता है। कामलाके अभावमें मलका रंग मिट्टीके समान हो जाता है।

५. वातसंस्थान विकृति लक्षण प्रधान (Nervous type)—इस प्रकारमें वेदनाके विविध प्रकार प्रतीत होते हैं। विशेषतः गम्भीर, शिरदर्द, निद्रानाश, प्रलाप और सामान्य शक्तिह्रास आदि लक्षण विदित होते हैं।

स्वल्प विकृति होनेपर रोग शीघ्र शमन हो जाता है; परन्तु निर्बलता दीर्घकाल तक रह जाती है। आक्रमण प्रबल होनेपर रोग अति दुःखदायी माना जाता है।

उपद्रव—इस रोगमें अत्यधिक पीड़ितोंको कुछ समय तक भौतिक शक्तिका ह्रास और कभी मस्तिष्क शक्तिका पतन भी होजाता है।

रोगोपशमन होनेपर उत्पन्न लक्षण (Symptoms)—वेदना, थकावट, शक्तिह्रास आदिका योग्य उपचार न किया हो, उपेक्षा की हो, तो विष-दोष कुछ सप्ताहोंके भीतर वृद्धिंगत होता है। फिर केन्द्रीकरण शक्तिका ह्रास, उत्तेजना-वृद्धि, बात-बातमें क्रोध आ जाना, निद्रानाश या निद्रा टूट जाना, श्वासावरोध होना और वातसंस्थानमें विकृति आदि लक्षणोंकी प्रतीति होती है।

वातनाड़ी संस्थानमें विकृति होनेपर निद्रानाश बहुधा हो जाता है। किसी-किसीको सुगन्ध और स्वादशक्तिका ह्रास होता है। क्रोध क्षण-क्षणमें उपस्थित होता है। वातनाड़ीशूल या वातनाड़ीप्रदाह, ओजक्षय (Neurasthenia) या उन्माद (Melancholia), ये लक्षण स्थायी होजाते हैं। कभी-कभी कितनेही नाड़ियोंका प्रदाह (Polyneuritis) और किसी-किसी प्रकारके पक्ष-वधकी प्राप्ति भी होजाती है।

रक्ताभिसरण संस्थानमें विकृति होजानेपर चक्कर आना, हृत्स्पंदन विवर्द्धन, हृदय गतिमें वृद्धि (Tachycardia) और हृदयकी क्षीणता दृढ़ हो जाते हैं। कभी-कभी आशुकारी हृदय प्रसारण और अकस्मात् मृत्यु आजाती है। कचित् हृदयकी श्लैष्मिक त्वचाका प्रदाह या हृदयावरणप्रदाह भी हो जाता है।

कभी स्थानिक विद्रधि होजाती है। कभी मध्यकर्णमें या नासिकामें विद्रधि या व्रणकी प्राप्ति होजाती है। अति कचित् शल्य बनना (Thrombosis) या वृक्कप्रदाहकी उत्पत्ति होजाती है।

साध्यासाध्य विचार—उपद्रव रहित रोग साध्य होता है। सौम्य प्रकारमें बिना औषध रोगी स्वस्थ हो जाता है। वृद्ध रोगी फुफ्फुसदाह होनेसे प्रायः मर जाते हैं; तथा इन्फ्ल्युएञ्जाके रोगीका कोई भी जीर्ण रोग पुनः तीव्र बन जाता है।

वात-श्लैष्मिक ज्वर चिकित्सा।

इस महामारीके प्रकोपके दिनोंमें तुलसीके पत्तोंका क्वाथ पीते रहना, नीलगिरी तैल सूँघते रहना और नमक मिले हुए निवाये जलसे कुल्ले करते रहना चाहिये।

रोगीको सम शीतोष्ण स्वच्छ प्रकाश वाले कमरेमें रखना चाहिये। शरीरको कपड़ेसे ढका और केवल मुँह खुला रखें। शिरपर भी कपड़ा बांध दें।

कमरेमें प्रातःसायं कीटाणुओंको नष्ट करनेके लिये लोबान आदिका धूप देते रहें। स्थान और वस्त्र बिल्कुल साफ रखें। जब तक रोगोपशमन होकर फुफ्फुस संस्थानमें आगन्तुक ध्वनिका दमन न हो जाय, तब तक रोगीको विश्रान्ति लेनी चाहिये।

रोगीको लङ्घन कराकर फिर दूधपर रखें। अन्न नहीं देना चाहिये। रोगीको स्नान न करावें। पीनेके लिये गरम किया हुआ जल दें।

बद्धकोष्ठ हो, तो प्रारम्भमें ही एरण्ड तैलकी बस्ति देकर कोष्ठ-शुद्धि कर लेनी चाहिये।

ज्वर उतारनेके लिये तीव्र औषध न दें। कदाच देना हो, तो अति कम मात्रामें दें। दोषपचन हो जानेपर ज्वर स्वयमेव शान्त होजाता है। यदि रोगके आरम्भसे ही त्रिभुवनकीर्ति रस, शृङ्ग, अभ्रक और गुडूच्यादि क्वाथका उपयोग किया जाय, तो रोग बढ़ नहीं सकता। यदि रोग बढ़ गया है, तो सूतराज रस, कालकूट रस, अचिन्त्यशक्ति रस या संचेतनी वटीमेंसे किसीको लक्षण अनुसार दें।

ज्वर उतरनेपर भोजन हल्का दें। मूंगकी दाल, रोटी, बथुवे, पालक आदिका शाक और लहसुन मिली हुई पोदीनेकी चटनी देवें या सप्तमुष्टिक यूष दें।

ज्वर शमनके लिये—शृंग भस्म और अभ्रक भस्म १-१ रत्ती तथा त्रिभुवनकीर्ति रस आध रत्ती, तीनोंको मिला, निम्न गुडूच्यादि क्वाथके साथ या तुलसीके रस और शहदके साथ दें। मलावरोध रहता हो, तो प्रारम्भमें एक या दो दिन त्रिभुवनकीर्तिके स्थानपर ज्वरकेसरी वटी मिलावें।

गुडूच्यादि क्वाथ—गिलोय, तुलसीपत्र, बेलपत्र, लौंग, कालीमिर्च, पीपल और सोंठ, इन ७ औषधियोंको मिला, २-२ तोलेका क्वाथ कर उसके साथ उपर्युक्त औषध दें।

आमाशय और अन्त्रमें विकृति होनेपर—मृत्युञ्जय रस या लक्ष्मीनारायण रस गुडूच्यादि क्वाथसे दें।

ज्वरकी अति तीव्रतामें—सूतराजरस, त्रिभुवनकीर्ति या पञ्चवक्त्र रस दें।

तीव्र अतिसार हो तो—सूतराजरस या कनकसुन्दर रस दें। मात्रा बहुत थोड़ी दिनमें ४ समय दें।

शुष्क कास अधिक हो तो—कर्पूरादि वटी या कासमर्दन वटी एक-एक गोली करके दिनमें १० गोली तक चूसनेको दें, और प्रवालपिष्टी १ रत्ती, अभ्रक

भस्म ½ रत्ती, अडूसेके पत्ते, मुलहठी और बहेड़ा २-२ रत्ती तथा सुहागेका फूला १ रत्ती मिला, शहदके साथ दें। इस तरह दिनमें ३ समय दें।

शिरःशूल अधिक हो, तो—सोंठको जलमें घिस या लोंगोंको पीस निवाया कर, कपालपर लेप करें।

नाककी श्लैष्मिक कलाका शोथ हो, तो—षड्बिन्दु तैलकी नस्य दें।

निद्रानाश, प्रलाप आदि उपद्रव हों, तो—वातकुलान्तक रस या कस्तूर्यादि वटी (मलावरोध न हो तो) शामको दें या ब्राह्मीका क्वाथ कर दिनमें ३ समय देवें।

उष्णताह्रास (ज्वरनाश), बेहोशी या जड़ता हो, तो—कालकूट रस या संचेतनी वटी देवें।

हृदयावरोध अधिक हो, तो—पूर्णचन्द्रोदय रस, रससिंदूर या त्रैलोक्य-चिन्तामणि रस दें। अथवा रससिंदूर और सुवर्ण भस्म आध-आध रत्ती मिला, १ माशे सितोपलादि चूर्णके साथ दिनमें २ से ३ समय दें या जवाहर मोहरा १ रत्ती खमीरे गावजबां अम्बरीके साथ मिलाकर देवें।

पक्षाघात या अन्य तीव्र वातप्रकोप हो, तो—महावातविध्वंसन १ रत्ती, अभ्रकभस्म आध रत्ती और पीपल ६४ प्रहरी २ रत्ती मिलाकर शहदके साथ दिनमें ३ समय दें या बृहद् वातचिन्तामणि रस देवें।

हाथ-पर और फुफ्फुसपर तार्पिन तैलकी मालिश करें।

अन्य उपद्रव हो जाय तो—सन्निपातमें लिखे अनुसार चिकित्सा करें।

वायु शुद्धिके लिये—माहेश्वर धूप (प्रथम विधि), अपराजित धूप या सहदेव्यादि धूप अथवा लोहबान धूप प्रातःसायं करते रहें।

एलोपैथीमें इस रोगपर किसी भी सिद्ध औषधका आविष्कार यद्यपि नहीं हुआ। यदि फुफ्फुस विकृतिके प्रधान लक्षण हैं, तो उसपर पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन या सल्फोनेमाइड वर्गकी योजना होती है। शेष चिकित्सा, लक्षण अनुरोधसे करते हैं।

जुकाममें क्विनाइनका अर्क, शिरदर्दपर फिनासिटीन, तीव्र दर्दपर एस्पिरिन, मलावरोधपर उदरशुद्धिकर औषध और निद्रानाशपर पेरलडीहाइड आदिकी योजना करते हैं।

कफ शुष्क हो गया हो तो लोहबान अर्कको उबलते हुए जलमें मिलाकर उसकी वाष्प यथा विधि १० मिनट तक सुँघाते हैं।

सूचना—परिचारक और परिचारिकाओंको बार-बार नीलगिरी तेल सूंघते रहना चाहिये और रोगीके मल, मूत्र और थूकको तुरन्त राखसे दबाते रहना चाहिये।

(१५) संधिक ज्वर।

(आमवातिक ज्वर–संधिक ज्वर–Rheumatic Fever.)

परिचय—यह एक तीव्र ज्वर है। जिसमें संधियोंके अन्दर अत्यधिक पीड़ा होती है। एवं यह रोग हृदयसे अत्यधिक सम्बन्धित होता है। उपर्युक्त चिकित्साके अभावमें यह काफी समय तक रोगीको कष्ट पहुँचाता है। हृदयको रोगी बना देता है और पुन:पुन: आक्रमणकी प्रवृत्ति वाला होता है। मुख्यत: बाल्यावस्थामें व्याधि होनेपर संधियोंके साथ ही साथ सम्पूर्ण सौत्रिक तन्तु श्लेष्मधरा कला और मांसतन्तु भी पीड़ित होते हैं। इस रोगमें सन्धियाँ, हृदयान्तर कला और हृदयावरण, ये सब विकृतिके मुख्य स्थान हैं। इसमें शरीरकी अनेक सन्धियाँ एक ही साथ पीड़ित होती हैं। आज एक पीड़ित है, वह कल अच्छी हो जाती है एवं दूसरी सन्धिमें पीड़ा उत्पन्न हो जाती है।

माधव-निदान कथित निदान—दूध, मछली आदि विरुद्ध आहार और अजीर्ण होनेपर व्यायाम, मैथुन, जलमें तैरना आदि विरुद्ध विहार करने वाले, मन्दाग्नि वाले, परिश्रम न करने वाले, स्निग्ध भोजन करके व्यायाम करने वाले एवं अति मैथुन सेवन करने वाले, इन सबको वायुसे प्रेरित हुआ आम (पचन न होनेसे शेष रहा हुआ आहार रस) श्लेष्म स्थान (आमाशय, उर: स्थान, शिर और कण्ठसन्धि) में प्राप्त होता है। फिर यह आम पित्त स्थानमें न जानेके हेतुसे वायुद्वारा अति दूपित होकर धमनियोंके मार्गसे गति करता है। पुन:वात, पित्त और कफ, तीनोंसे अति दूषित होकर रसवाहिनियोंके मार्गका अवरोध करता है; तब इस नाना वर्ण वाले, अति पिच्छिल आमसे अग्निमन्दता और हृदयकी गुरुता (हृदयपर बोझा रखनेके समान भास होना) आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। व्याधियोंके आश्रयरूप यह अति कुपित हुए दारुण आम और वायु, दोनों त्रिक सन्धि (दोनों श्रोणिफलकोंके मध्यमें रहने वाले कमरके भागकी सन्धि) में संचित होकर गात्रोंको जकड़ लेता है, तब यह रोग आमवात कहलाता है।

सिद्धान्त निदानोक्त निदान और सम्प्राप्ति—हेमन्त और शिशिरऋतुमें (इस रीतिसे वसन्त और वर्षा ऋतुमें भी शीतल हवा लगनेपर) बाल्य या युवावस्थामें शीत वर्षाका नि:शंक सेवन करते रहनेसे जीवनीय शक्ति निर्बल बन जाती है। फिर कीटाणुजन्य विष कण्ठमार्गका आश्रय कर या गलग्रन्थि (Tonsils) द्वारा धातुओंमें फैलकर वातपित्तोल्वण सन्निपातको उत्पन्न कर देता है।

इस व्याधिमें सन्धि स्थानोंके चारों ओर भयङ्कर शोथ तथा सन्धियोंके भीतर शोथके हेतुसे श्लेष्मकी वृद्धि होकर भयंकर दाह होता है। कफ परिमाण

से अधिक होनेसे उसका पचन नहीं होता ।

इस व्याधिमें बहुधा हृदयावरणमें दाह, शोथ होकर लसीकाका संचय हो जाता है। इस हेतुसे हृदयमें वेदना होती है। हृदय स्वस्थानसे च्युत हो जाता है, अथवा हृदयकी मांसपेशी, हृदय-खण्ड, हृदय-स्नायु या हृदय कपाट इनमेंसे किसीमें दाहशोथजनित विकार (संकोच, संहनन, अंकुर निकलना आदि) हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त फुफ्फुसावरणमें क्वचित् शोथ, वह भी बहुधा आमाशयके समीप रहने वाले बांयें खण्डमें होता है। कभी दाह-शोथ फैलनेसे फुफ्फुसोंपर भी आक्रमण हो जाता है।

माधव निदानोक्त लक्षण—अंग टूटना, अरुचि, तृषा, आलस्य, शरीर भारी होना, ज्वर, अपचन, अंगोंकी शून्यता इत्यादि सामान्य लक्षण प्रतीत होते हैं। जब आमवात अधिक प्रकुपित होता है; तब हाथ, पैर, शिर, गुल्फ, त्रिकस्थान, जानु (घुटने) और ऊरुके सन्धि-स्थानोंमें अति पीड़ा तथा शोथ उत्पन्न कर देता है। यह आम जहाँ-जहाँ गमन करता है; वहां-वहांपर बिच्छू काटनेके समान पीड़ा करता है ।

इस रोगसे अग्निमांद्य, मुँहमें जल आना, बेचैनी, शरीरमें भारीपन, उत्साह-नाश, विरसता, दाह, बार-बार थोड़ा-थोड़ा पेशाब होना, उदरमें कठिनता, शूल, निद्रानाश, तृषा, वमन, भ्रम, मूर्च्छा, हृदय जकड़ना, मलावरोध, जड़ता, आंतोंका बोलना, उदरके ऊपर-नीचेके भागका निरोध होना और वातव्याधिमें कहे हुए अन्य लक्षणोंकी प्रतीति होती है।

सिद्धान्त निदान कथित लक्षण—प्रारम्भमें साधारण ज्वर, फिर २-३ या ४ दिनमें सन्धि शोथकी वृद्धि होना, अति प्रस्वेद, तीव्र वेदना, पेशाब बहुत कम उतरना, प्रायः विकारके आरम्भसे हृदयमें व्यथा, सन्निपातके कुछ न कुछ गम्भीर लक्षण (श्वास, कास, प्रलाप, निद्रानाश आदि और क्वचित् अति घोर ज्वर १०६-१०७ डिग्री तक) प्रतीत होते हैं। यदि इसकी शीतल जल सेक आदि चिकित्सा नहीं की जाती है, तो मृत्यु हो जाती है ।

युवावस्था (३० वर्षकी वय तक) में सन्धि-स्थानोंमें अधिक वेदना तथा बालकों (२ वर्ष तककी आयु वालों) को हृदययन्त्रकी अधिक विकृति निश्चित होती है। यह व्याधि स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंको अधिक होती है। स्त्रियोंमें भी विशेषतः २० वर्षके भीतरकी आयुवालीका परिमाण अधिक होता है। यह रोग क्वचित् वृद्धोंको भी हो जाता है और चिरकाल तक बना रहता है।

यह रोग क्वचित् वंश परम्परागत भी होता है। एक समय रोग हो जाने-

पर वर्षाकी शीतल वायु लगने या मधुर पदार्थ खानेपर बार-बार दुःख देता रहता है।

सम्यक् चिकित्सा करनेसे और इस व्याधिको उत्पन्न करनेवाले विषका परिमाण रोगीके बलकी अपेक्षा थोड़ा होनेसे अर्थात् विषके दुर्बल होनेसे २-३ सप्ताह निकल जानेपर रोगी बच जाता है। किन्तु अधिकांश रोगी हृद् रोगसे पीड़ित रह जाते हैं। किसी-किसीको यह रोग पुनः हो जाता है, और वह एक दो मासमें पथ्य पालन करनेसे शनैः शनैः शमन होता है।

रोग चला जानेपर भी बहुधा सबको मास या वर्षके पश्चात् हृद्रोगके कारण, निर्बलता आजानेसे थोड़ा परिश्रम-करनेपर श्वास या शोथ आदि लक्षण होते हैं; और किसी-न-किसी समय अकस्मात् हृदयावरोध होकर मृत्यु हो जाती है।

इस रोगमें पित्तका अनुबन्ध हो, तो दाह और लाली, वातसे शूल और कफसे जड़ता, भारीपन और खुजली होती है।

साध्यासाध्यता—एक दोषज साध्य, द्विदोषज याप्य (अतिकष्टसे साध्य होनेवाला) और सारे शरीरमें शोथ युक्त त्रिदोषज अत्यधिक कष्टसाध्य या असाध्य माना गया है।

एलोपैथी मतानुसार विचार

यह रोग समशीतोष्ण जलवायुमें विशेष फैलता है। विलायतमें विशेषतः अक्टोबर और नवम्बरमें तथा कुछ कम अंशमें फेब्रुआरी और मार्चमें उत्पन्न होता है। १९ वें शतकमें इस रोगने गम्भीर रूप धारण किया था। इस रोगमें संधिस्थानोंमें शिथिलता, खट्टा प्रस्वेद और अत्यधिक शारीरिक उत्ताप, ये मुख्य लक्षण होते हैं। इस रोगका आक्रमण विशेषतः १५ से ३५ वर्षकी आयु वालों पर होता है। २ वर्षसे कम आयुवाले बच्चोंपर नहीं होता; कभी २ से ५ वर्षकी आयु वाले बालकोंपर होता है। स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंपर आक्रमण अधिक होता है। कभी-कभी १० से १५ वर्षकी आयुवाले लड़के और लड़कियाँ भी पीड़ित हो जाते हैं। यह रोग वंशागत भी मिलता है। अनेक बच्चे इससे पीड़ित प्रतीत होते हैं।

निदान—यह रोग कीटाणु जनित है। किन्तु इस रोगके कीटाणु अभी-तक नहीं मिले। इस रोगमें सहायक हेतु—शहरोंके भीतर गंदी नालियोंके पास रहना, शीलदार मकानोंमें रहना, तथा कण्ठ और नासिकाकी ग्रन्थियोंकी वृद्धि हैं। कितनेही विशेषज्ञोंकी मान्यतानुसार कीटाणु जब रक्तमें खूब बढ़ जाते हैं। फिर विरुद्ध आहार-विहारसे अपाचित अन्नरस रक्ताभिसरण द्वारा संधि-स्थानोंमें पहुँचता है, तब रक्तमें दुग्धाम्ल (Lactic acid) बढ़कर आम-वातकी संप्राप्ति कराता है।

सम्प्राप्ति—हृदयके अलिंदनिलय सेतुकी ग्रन्थियां (Aschoff's nodes) व्यथित होती हैं, हृदयपेशीमें प्रकृति-निर्देशक विकृति स्पष्ट भासती है। छोटी-छोटी पिटिकाएं उपस्थित होती हैं, नूतन स्नायु रज्जुओंकी उत्पत्ति होती है, अन्तराच्छादन त्वचाके कोषाणु एक या अधिक केन्द्रस्थान युक्त बन जाते हैं; लसीकाणु (Lymphocytes) और रक्तवारि कोषाणु संख्यामें बढ़ जाते हैं। केन्द्रस्थानमें तन्तु बहुधा कोथोत्पादक उपस्थित होते हैं। कुछ वर्षोंके पश्चात् भी इसका आशुकारी आक्रमण हो सकता है। किन्तु वृद्ध रोगियोंके लिये स्नायु तन्तु पुनः स्थापित हो जाते हैं। हृदयकपाटकी श्लैष्मिक कलाका प्रदाह होजाता है। संधि-स्थानोंमें किञ्चित् अन्तर होता है तथा श्लेष्मधरा कला (Synovial membrane) में रक्तसंग्रह होता है।

पूर्वरूप (Preliminary Symptoms)—नियमित रूपसे प्रतीत नहीं होते, किन्तु ये असामान्य नहीं। कण्ठक्षत या गलग्रन्थियोंका प्रदाह, ये बारम्बार उत्पन्न होकर कुछ दिनोंमें दूर होते हैं; स्वस्थावस्थाकी प्राप्तिमें दो सप्ताह लग जाता है। कुछ दिनोंतक मंद-मंद बेचैनीके साथ अनियमित रूपसे संधियोंमें पीड़ा होना, ये रोगसूचक लक्षण उपस्थित होते हैं।

लक्षणारम्भ—अकस्मात् आक्रमण, शीतसह होता है। किन्तु वेपनका अभाव। पूर्ण स्वरूपकी प्राप्तिमें २४ घण्टे लग जाते हैं।

रोगनिर्देशक लक्षण—संधियोंमें पीड़ा और शोथ, मुखमण्डलपर तेजी, अति प्रस्वेद, कभी अधिक प्रस्वेद न आना, त्वचामात्र गीली भासना, उत्ताप १०१° से १०३°, नाड़ी मृदु और द्रुत, १०० से १२० स्पन्दनयुक्त, उत्तापके सामान्य लक्षण, व्याकुलता, शिर दर्द, अरुचि आदिका सद्भाव, वेदनाके हेतुसे निद्रा न आना, आदि प्रतीत होते हैं।

अनेक संधिस्थान पीड़ित होते हैं। इनमें भी विशेषतः बड़े संधिस्थान अधिक प्रभावित हो जाते हैं। आक्रमण गम्भीर होनेपर समकालीन अनेक संधिस्थान पीड़ित हो जाते हैं। घुटने, टखने, कोहनी, मणिबन्ध और कन्धा, इनपर प्रायः आक्रमण होजाता है। पृष्ठकशेरुका, उरःफलक, अक्षकास्थि, जबाड़े और अंगुलियोंकी संधियाँ आदि भी कभी-कभी शोथमय बन जाती हैं। इस रोगमें प्रदाह एक संधिमेंसे निकल कर दूसरी संधिपर चला जाता है। जैसे जानुसंधि स्वस्थ होनेपर गुल्फसंधि शोथग्रस्त हो जाना आदि। परिवर्त्तन होनेमें २४ घण्टे लगते हैं। ३-४ दिनके भीतर अनेक सन्धियां पीड़ित हो जाती हैं।

संधिस्थान शोथमय, लाल, हाथ लगानेपर उष्ण और मृदु बन जाते हैं। इनको चलानेमें अति पीड़ा होती है। संधिस्थानके चारों ओरके तन्तुओंके प्रदाहमें प्रधान स्थानोंके भीतर अन्तर हो जाता है। संधिस्थानोंकी श्लेष्मधरा

कला, बारम्बार प्रदाह पीड़ित हुई स्पष्ट भासती है। तन्तुओंमें रक्तवारि भर जाता है, किन्तु गम्भीर रोगियोंकी त्वचाको दबानेपर शोथ और आघातके चिह्न प्रतीत नहीं होते। संधियोंमें अधिक द्रव्यसंग्रह कचित् ही होता है। सन्धि स्थानोंका द्रव गाढ़ा होता है। लसीकाणु अनेक केन्द्रस्थान युक्त बन जाते हैं; तथापि कभी पूयोत्पत्ति नहीं होती। तीक्ष्ण लक्षणका शमन होनेपर सन्धिस्थान सामान्यत: स्वाभाविक भासते हैं।

शारीरिक उत्ताप १०१° से १०४° तक शीघ्र बढ़ जाता है। कभी इससे भी अधिक (१०६° तक) उत्ताप अनियमित होता है। पतन नियमित रूपसे होता है। डाक्टरी चिकित्सा सोडा सेलिसिलेटसे की जाती है। उसका प्रवेश होनेके हेतुसे सामान्यत: प्रारम्भमें शारीरिक उत्ताप अत्यधिक बढ़ जाता है। यह चिकित्सा ५ दिन तक करनेके पश्चात् उत्तापाधिक्य होनेका हेतु हृदावरण-प्रदाह, हृदयान्तर श्लैष्मिक कलाप्रदाह अथवा रोगविनिर्णयकी भूल मानना चाहिये।

हृदयपरीक्षा करनेपर आकुंचन ध्वनि बारम्बार शिखरपर भासती है। चिकित्सा करनेपर हृदयपेशीका ध्वनिविकार तिरोहित हो जाता है, किन्तु हृदयान्तर श्लैष्मिक कलाकी विकृति उत्तरकालमें बढ़कर स्थायी बन जाती है। नाड़ीगत आक्रमण कालमें १०० से १२० मृदु और किंचित् अनियमित होती है। उत्तापके ह्रासके साथ यह भी कम होती है। सेलिसिलेट चिकित्सा करनेपर नाड़ी-गति ४०-५० तक कम हो जाती है किन्तु उसे महत्त्व नहीं देना चाहिये। पेशाब ज्वरावस्थाके समान पीला-लाल थोड़ा और गाढ़ा होजाता है। कुछ काल तक पड़ा रहनेपर तलेमें क्षार जमता है। कभी उसमें शुभ्र प्रथिन (Albumin) उपस्थित होता है। रक्तपरीक्षा करनेपर अनेक केन्द्रस्थानयुक्त लसीकाणु मिलते हैं। और पाण्डुता शीघ्र बढती है।

यदि उपद्रव न हों, तो बिना चिकित्सा १० दिनके भीतर तीव्र लक्षण सब दूर होते हैं। सेलिसिलेटकी चिकित्सामें ४-५ दिन लगते हैं।

अतीव्र उत्ताप प्रकार—आशुकारीके समान ही लक्षण भासते हैं, किन्तु तीव्रता कम रहती है, स्थितिकाल लम्बा होता है। हार्दिक क्षति सामान्य होती है।

पुनराक्रमण—१५ प्रतिशतपर पुनः आक्रमण होता है।

उपद्रव—१. हृदय विकृति; २. अत्यधिक ज्वर; ३. फुफ्फुस विकार; ४. वातनाड़ी विकार; ५. त्वचा विकार; ६. संधिक ग्रन्थियाँ, ये मुख्य हैं।

१. हृदयक्षति (Cardiac Lesions)—हृदयके अवयवोंमें संधिप्रदाह (Arthritis) के समान परिवर्त्तन होता है।

अ. हृदान्तरत्वक्प्रदाह—विशेषत: हृदान्तरत्वक् प्रदाह ५० प्रतिशतको

होजाता है। इस आक्रमणमें बालक कचित् ही बचता है। सामान्यतः कपाटकी विकृति होती है। १-वाम कपाट मात्र; २-वाम कपाट और धमनी कपाटिका; ३-धमनी कपाटिका मात्र। वाम कपाट आक्रमित होनेपर वह धीरे-धीरे छोटा होता जाता है। इससे रक्तगमनमें प्रतिबन्ध होता है। फिर इसी हेतुसे पहले आक्रमणकी तीक्ष्णावस्थाके अन्त तक वह सहन नहीं कर सकता।

सम्प्राप्तिदर्शक परिवर्त्तन सामान्य हृदयान्तर त्वक्प्रदाह है। कभी इस रोगके भीतर पिटिकामय संक्रामक प्रकार भी उपस्थित हो जाता है। प्रथम आक्रमणमें हृदान्तर त्वग्प्रदाहके लक्षण मन्द होते हैं किन्तु सम्प्राप्ति दर्शकरूपान्तर संधिक ज्वरका आक्रमण शांत होनेपर भी रह जाते हैं।

इस तीक्ष्ण आक्रमणमें मृत्यु-संख्या कम होती है।

आ. हृदयावरणप्रदाह—यह खास बच्चोंको होजाता है। यह विशेष लक्षण है। आतुरालयके भीतर यह अति साधारण है। मृत्यु पहले आक्रमण में ४० प्रतिशत और द्वितीय आक्रमणमें १० प्रतिशत होती है।

आक्रमण-कालमें किसी भी समय यह उपस्थित हो जाता है। साथमें हृदान्तरत्वग्प्रदाह कभी होता है, कभी नहीं। २० प्रतिशत रोगियोंमें द्रवसंग्रह प्रतीत होता है; किन्तु पूयमय नहीं। संधिप्रदाह सामान्यतः गम्भीर होता है।

इ. हृदयपेशी प्रदाह—हृदयका प्रसारण होनेपर यह सम्भवित है। इसका पृथक् लक्षण नहीं होता।

२. उत्तापाधिक्य—कचित् उत्ताप बहुत बढ़ जाता है। १२ वर्षसे कम आयु वालोंमें नहीं। सामान्यतः प्रथमाक्रमणके द्वितीय सप्ताहमें यह उपस्थित होता है। कभी १०८° तक बढ़ जाता है। सामान्यतः प्रलाप और हृदयावरण-प्रदाह उपस्थित होते हैं। नाड़ी मंद, बेहोशी और मृत्यु भी हो जाती है।

३. फुफ्फुस विकार—यह कचित् होता है। हृदयावरणप्रदाह होनेपर फुफ्फुसावरण प्रदाह भी कभी हो जाता है। यह सामान्यतः शुष्क; किन्तु द्रव निःसरण होता है। सच्चा न्युमोनिया नहीं होता, फिर भी नैमित्तिक आकुंचन और रक्त संग्रह होता है।

४. बालनाड़ी उपद्रव-नृत्यवात (Choria)—कुछ अंशमें कभी होजाता है। यह संधिक ज्वरके साथ विशेषतः बालकोंको होता है। उत्तापवृद्धि हुई हो, तो प्रलाप और हृदयावरण प्रदाह भी हो जाते हैं। ऐसे लक्षणवालोंमें मृत्यु परिमाण अत्यधिक होता है।

५. त्वचा विकृति—तीक्ष्ण आक्रमणमें त्वचा गीली होती है। सेलिसिलेटके उपयोगके पहले अम्ल प्रस्वेदसे देह भीग जाती है। यह रोग निदर्शक लक्षण है। बालकोंमें रक्तत्वचा (Erythema), बच्चोंमें कभी-कभी त्रिदोष रक्तपित्त (Purpura), रक्तत्वचामेंसे अनेक बार मृदु रक्त-ग्रन्थियाँ (Erythema-nodosum) हो जाना, ये प्रतीत होते हैं।

६. सन्धिक ग्रन्थियाँ—ये गम्भीर आक्रमणमें उपस्थित होती हैं। ये स्नायु रज्जु और अस्थिके आवरणपर त्वचा नीचे होती हैं। सर्पफेण सदृश कर्पूरपट (Olecranon), स्नायु (Tendons), पेशी आवरण (Fascial) विशेषत: कोहनी और मणिबन्धके चारों ओरका, अंसफलक और कशेरुकाएँ, इन सबपर आक्रमण होजाता है।

रोग विनिर्णय—सामान्यत: सरल है। हृदावरणप्रदाह या हृदन्तर त्वग्प्रदाह न होनेपर तथा शारीरिक उत्ताप सेलिसिलेटकी चिकित्सा फलदायी होनेपर ५ दिनके भीतर शमन होता है। कभी आशुकारी संधिप्रदाह (Osteoarthritis) से भेद करनेकी आवश्यकता रहती है। वह सन्धिप्रदाह छोटी सन्धियोंमें होता है तथा चिरकारी प्रकारमें रूपान्तरित होता है।

पूयज्वर, विषज्ञ ज्वर आदिमें गौण सन्धिप्रदाह होता है। किन्तु वह गलनात्मक (Septic) होता है। इसी तरह सुजाकमें होता है। कभी शोणित ज्वर और पेचिशमें भी होता है। किन्तु मुख्य रोगके लक्षण प्रकट होनेसे सहज प्रभेद हो जाता है।

वातरक्तमें भी संधिप्रदाहके लक्षण मिलते हैं। किन्तु रोगीकी आयु पूर्वरूप, छोटी संधियोंपर आक्रमण, विशेषत: पैरकी अंगुली और अंगुष्ठ प्रभावित होना, आदि लक्षणोंसे पृथक् हो जाता है।

अस्थिमज्जाप्रदाह, सुषुम्नाकाण्डमें मज्जाप्रदाह, बाल रक्तपित्त, वंशागत फिरङ्ग और स्टिलके रोगोंमें भी इस सन्धिक ज्वरके लक्षण मिलते हैं; किन्तु इनके प्रभेदक लक्षण निम्नानुसार हैं :—

१. तीक्ष्ण अस्थिमज्जाप्रदाह (Acute Osteomyelitis)—इस रोगमें रचनात्मक लक्षण अति गम्भीर होते हैं; और संधियोंमें दर्द नहीं होता।

२. तीक्ष्ण सुषुम्नाकाण्ड मज्जाप्रदाह (Acute Poliomyelitis)—इसमें अत्यधिक चेतना (Hyperaesthesia) लक्षण भी होता है।

३. बाल रक्तपित्त (Infantile Scurvy)—यह विकार केवल दो वर्षके बालकोंको होता है।

४. वंशागत फिरङ्ग (Congenital Syphilis)—दो वर्षकी आयुवालेको

तरुणास्थिप्रदाह (Syphilitic Epiphysitis) होता है। किन्तु संधियोंमें विकृति नहीं होती। युवावस्थामें अंगुली, बाह्य कर्ण आदि उपाङ्गोंकी श्लैष्मिक कलाका प्रदाह (Symmetrical Synovitis) होता है; किन्तु उसमें वेदना नहीं होती।

५. स्टिलका रोग (Still's disease)—यह क्वचित् होता है। यह चिरकारी रोग है। इसमें कितनी ही संधियोंमें प्रदाह होता है, किन्तु साथमें प्लीहा और लसीका ग्रन्थियोंकी वृद्धि होजाती है; तथा हृदय प्रभावित नहीं होता।

मृत्यु—तीक्ष्णाक्रमणमें मृत्युसंख्या अतिकम, २-३ प्रतिशतसे अधिक नहीं, वह भी हृदय विकारसे होती है। उत्तापाधिक्यसे भी मृत्यु होती है; किन्तु अति क्वचित्।

चिकित्सोपयोगी सूचना।

इस आमवातिक ज्वरमें लङ्घन, स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, बस्ति तथा कड़वी, दीपन और चरपरी औषधियाँ लाभदायक हैं। इस रोगपर बालुका, चूल्हेकी मिट्टी या सैंधानमककी पोटली बनाकर उससे सन्धि-स्थानोंपर रूक्ष सेक करें। एवं स्नेहरहित उपनाह स्वेद (वातनाशक औषधियोंके क्वाथसे स्वेद) देवें। अथवा केवल जलबाष्पसे ही स्वेदन करें।

पीनेके लिये पञ्चकोलको ६४ या १२८ गुने जलमें मिला सिद्ध करके देवें; या गरम कर ठण्डा किया हुआ जल देवें। शुष्क भोजन, मूलीका यूप, पञ्च-कोलका यूष या सोंठका चूर्ण मिलाकर काँजी पिलावें।

किन्तु शोष, मूर्च्छा, भ्रम, मद, कण्डू, क्षय, कुष्ठ, रक्तपित्त, सुजाक, फिरङ्ग, पांडु, अति कृश, परिश्रमसे थका हुआ, क्षतक्षीण, मन्द ज्वर रोगी, इन व्याधि वालोंको काँजी नहीं देनी चाहिये।

रोगीको पूर्ण विश्रान्ति दें और नरम बिछौनेपर लिटावें।

इस रोगमें हृदयपौष्टिक, वातघ्न, बद्धकोष्ठनाशक और मूत्रल गुणयुक्त औषध अधिक हितावह है। कारण, इस रोगमें बहुधा हृदयविकृति और रक्तमें विषप्रकोप हो जाते हैं।

एरण्डतैलकी बस्ति देकर कोष्ठशुद्धि करना हितावह है। पहिननेको गरम वस्त्र देवें। नव्य चिकित्साशास्त्रके मतानुसार शारीरिक उत्ताप अधिक हो, तब तक भोजनमें केवल दूध देना हितकारक है।

मूत्रकी अम्लता दूरकर क्षारीय बनानेका प्रयत्न करें। एलोपैथीमें इसी हेतुसे सेलिसिलेट चिकित्सा हितकर मानी है। इसे जितनी अधिक मात्रामें दे

सकें उतना ही अच्छा है; किन्तु विपलक्षण (कानोंमें घूं घूं, शिरमें चक्कर, लम्बे श्वास, प्रलाप और वमन आदि) उपस्थित होनेपर इसे बन्दकर एस्प्रिनका उपयोग करें।

आयुर्वेदिक दृष्टिसे यवक्षार, केलेका क्षार, सोरा या शिलाजीतको गोखरू और तृण पञ्चमूल कषायके साथ देना लाभदायक है। इससे रक्तगत विष दूर होता है और मूत्रक्षारीय होता है।

इस रोगमें बाह्य उपचारार्थ विण्टरग्रीन तैल या वातशूलान्तक बामकी मालिश शीघ्र लाभ पहुँचाती है। आयुर्वेदीय औषधमें बृहद् सैंधवाद्य तैल, लघु प्रसारणी तैल अथवा दशमूलाद्य तैलकी बस्तिका उपयोग होता है।

सूचना—इस रोगमें १ मास तक आराम कराना चाहिये। यदि हृदयकी विकृति अधिक हुई हो, तो ३ मास तक परिश्रम नहीं कराना चाहिये।

संधिक ज्वर चिकित्सा।

बृहत्सैंधवाद्य तैल—सैंधानमक, हरड़, रास्ना, सोया, अजवायन, सज्जीखार, कालीमिर्च, कूठ, सोंठ, काला नमक, बिड़नमक, बच, अजमोद, प्रसारणी, पुष्करमूल, मुलहठी, पीपल, इन १७ औषधियोंको २-२ तोले लेकर कल्क करें। फिर कल्क, एरंड तैल ६४ तोले, सोया ६४ तोले, काँजी १२८ तोले तथा दहीका तोड़ १२८ तोले मिला, मृदु अग्निसे पचनकर तैल सिद्ध करें। यह तैल आमवातको दूर करनेमें अति हितकर है। इस तैलका पान, अभ्यङ्ग और बस्ति कर्ममें उपयोग करनेसे आमवातका शमन होता है; और अग्निबलकी वृद्धि होती है। वंक्षणस्थान, कमर, घुटने और जंघाके सन्धि स्थानोंमें वातशूल, हृदयशूल, पसलियोंका शूल, कफवृद्धि, बाह्यायाम, अर्दित, आनाह, अंत्रवृद्धि और अन्य वात सम्बन्धी रोगोंको यह नष्ट करता है।

तीव्र रोगमें आम पाचनार्थ—

१. एरंड तैल सोंठके क्वाथके साथ देवें।

२. शठ्यादि क्वाथ—कचूर, सोंठ, हरड़, बच, देवदारु, अतीस और गिलोयका क्वाथ पिलानेसे आमका शीघ्र पचन होता है। यह वात और कफकी अधिकतापर भी हितावह है।

३. कचूर और सोंठका कल्क पुनर्नवाके क्वाथके साथ ७ दिन पिलावें। यह अधिक शोथवालेके लिये हितावह है।

४. वैश्वानर चूर्ण या अजमोदादि चूर्ण देते रहनेसे शनैः-शनैः आम पचन होकर रोग निवृत्त हो जाता है।

मूत्रशुद्धिके लिये—अन्य औषधियोंके सेवनके साथ ४-४ रत्ती शिलाजीत

देते रहनेसे मूत्रद्वारा विष निकलता जाता है।

कोष्ठशुद्धिके लिये—बृहत्सैंधवादि तैलकी बस्ति दें। ×या नाराच घृत, नारायण चूर्ण, पंचसमचूर्ण, ज्वरकेसरी वटी, त्रिवृदष्टक मोदक, इनमेंसे अनुकूल औषध देवें। इनमेंसे बृहत्सैंधवाद्य तैल और त्रिवृदष्टक मोदकका अधिक व्यवहार होता है।

आमवातारि वटिका—शुद्ध पारद, शुद्धगन्धक, लोह भस्म, अभ्रक भस्म, तुत्थ भस्म, सोहागाका फूला और सैंधानमक, इन ७ औषधियोंको १-१ तोला लें। शुद्धगूगल १४ तोले, निशोथका चूर्ण ३॥ तोले और चित्रकमूलकी छालका चूर्ण ३॥ तोले लें। सबको यथाविधि मिला, गोघृतके साथ खरलकर ४-४ रत्तीकी गोलियाँ बनावें। इनमेंसे १-१ गोली ॥ तोले त्रिफलाके क्वाथके साथ प्रातःकाल सेवन कराते रहें।

इस वटीके सेवनसे आमका पचन होता है; और मलभेद होकर आमवात दूर होता है। इसके अतिरिक्त गुल्म, शूल, उदर रोग, यकृद् रोग, प्लीहोदर, अष्ठीला, कामला, पाण्डु, अरुचि, हलीमक, अम्लपित्त, शोथ, श्लीपद, अर्बुद, ग्रन्थि रोग, शिरःशूल, वातरोग, गृध्रसी, गलगण्ड, गण्डमाला, कृमि, कुष्ठ, भगंदर, विद्रधि, अन्त्रवृद्धि, अर्श और अन्य गुदाके रोगोंको भी यह वटी दूर करती है।

सूचना—इस वटीमें तुत्थभस्म होनेसे इसके सेवन कालमें दूध और मूंगको त्याग देना चाहिये। रोगीको मूलीके यूष, पञ्चकोल यूष या कांजीपर रखना चाहिये।

तीव्र रोगमें ज्वर शमनार्थ—

(१) मृत्युञ्जय रस (बेलपत्रके स्वरस और शहदके साथ), समीरपन्नग (नागरवेलके पानके रसके साथ), मल्ल भस्म (तीसरी विधि) (नागरवेलके पानके रसके साथ), इनमेंसे अनुकूल औषध देवें। इनमें मृत्युञ्जय रस सौम्य है; समीरपन्नग उग्र है; और मल्ल भस्म सामान्य किन्तु प्रस्वेद लानेमें हितावह है। यदि हृदयमें शिथिलता हो, तो समीरपन्नग ही देना चाहिये। दृक्‌ विकृति हो तो मल्लप्रधान औषध न देवें।

(२) दशमूलादि क्वाथ—दशमूल, गिलोय, एरण्डकी जड़, रास्ना, सोंठ और देवदारु, इनका क्वाथ कर, एरण्ड तैल मिलाकर पिलानेसे तीव्र प्रकोप सह अति बढ़ा हुआ आमवात नष्ट होता है।

× रात्रिको सोनेके समय १। तोले (½ औंस) तैल पिचकारीद्वारा गुदनलिकामें प्रवेश करनेसे उसमेंसे अधिकांश रक्तमें शोषित होकर विष जलानेमें सहायता पहुँचाता है।

(३) एरण्ड तैलको दशमूल क्वाथ या सोंठके क्वाथके साथ पिलानेसे उदर, वस्ति और कटिमें शूल तथा मलावरोध सह आमवात थोड़े दिनोंमें दूर हो जाता है।

(४) महा रास्नादि क्वाथ या लघु रास्नादि क्वाथको एरण्ड तैलके साथ देवें।

(५) सोंठके चूर्णमें थोड़ा सैंधानमक मिला, काँजी, मट्ठा, या जलके साथ दिनमें २ समय देते रहनेसे आमवात और कफवात नष्ट होजाते हैं।

(६) पञ्चकोलका चूर्ण निवाये जलके साथ देनेसे अग्निमांद्य, शूल, गुल्म, आमदोष, कफ और अरुचिका नाश होता है।

(७) सौंफ, वायविडंग, सैंधानमक और कालीमिर्च इनको समभाग मिला, चूर्ण कर, निवाये जलके साथ दिनमें २-३ वार सेवन करानेसे अग्नि प्रदीप्त होकर आमवात दूर होते हैं।

(८) असगन्ध और सौंफका चूर्ण ६-६ माशे दिनमें २ समय निवाये जलके साथ देनेसे आमवात दूर होता है।

(९) भिलावा, तिल और हरड़का चूर्ण गुड़ मिलाकर सेवन करानेसे आमवात और कटिशूल दूर होते हैं।

(१०) त्रिफला और सोंठका चूर्ण काँजी, मट्ठा, दूध, जल या मांसरसके साथ दिनमें २ समय देते रहनेसे आमवात, शोथ और सन्धिस्थानोंकी पीड़ा दूर होती है।

(११) रसोनादि कषाय—लहसुन, सोंठ और निर्गुण्डीका क्वाथकर पिलानेसे तीव्र वेदना सह आमवात दूर होता है।

(१२) तीक्ष्ण प्रकोपपर लेप—सोया, बच, सोंठ, गोखरू, वरनाकी छाल, पुनर्नवा मूल, देवदारु, कचूर, गोरखमुण्डी, प्रसारणी, अरनी छाल, मैनफल, इन सबको सिरकेसे बनाई हुई काँजीके साथ पीस, निवाया कर लेप करें। फिर ऊपर रुई लपेट देनेसे तीव्र वेदनाका शमन होता है।

(१३) कलमीशोरेको ८ गुने जलमें भिगो दें। फिर उसमें कपड़ा भिगोकर वेदनायुक्त सन्धिस्थानपर बांधनेसे वेदना दूर होती है।

(१४) कालाजीरा, पीपल और सोंठको अदरकके रसमें पीस, निवाया कर दर्द वाले भागपर लेप करनेसे भयङ्कर पीड़ा दूर होती है।

(१५) धतूरेके पत्तोंको ८ गुने जलमें उबालें। फिर कपड़ा निचोड़ कर सन्धिस्थानपर रखें। उष्णता कम होनेपर उसे हटाकर दूसरा कपड़ा रखें। इस तरह आध घण्टे सेक करें। फिर रुई या ऊन बाँध देनेसे वेदनाका शमन हो जाता है।

(१६) मालिशके लिए—वातशूलान्तक मलहम (बाम) या विण्टरग्रीन तैलकी मालिश करें। इससे विकार जल जाता है और तीव्र वेदना थोड़े समयमें शान्त हो जाती है। सुबह-शाम पहले वालुकाको तपाकर सेक करें। फिर १ घण्टे बाद बाम या तैलकी मालिश करना विशेष लाभदायक है।

(१७) धतूरेके बीजोंको कूट, ४ गुने तैलमें भून लें; फिर मालिश करनेसे शोथ और तीक्ष्ण वेदनाका शमन होता है।

(१८) तीव्र रोगपर—महा वातविध्वंसन (एरंड तैलके साथ), आमवात प्रमथिनी वटी (निर्गुण्डी स्वरस या निशोथके क्वाथके साथ) या स्वर्णभूपति रस (एरण्ड तैल, निशोथ या हरड़के क्वाथके साथ) देनेसे रोगका दमन होता है।

(१९) सिंहनाद गूगल—हरड़, बहेड़ा और आँवला २४-२४ तोले, शुद्ध गन्धक ८ तोले, शुद्ध गूगल २४ तोले तथा एरण्ड तैल १६ तोले लेवें। पहिले त्रिफलाको कूटकर ४ गुने जलमें मिला क्वाथ करें। चौथा हिस्सा जल रहनेपर कढ़ाहीमें छान लेवें। उसमें गूगल मिला मंदाग्निपर पाक (शोधन) करें। पश्चात् उसमें ८ तोले त्रिफला चूर्ण और गंधक ८ तोले मिलावें। उसके साथ थोड़ा-थोड़ा एरण्ड तैल मिलाकर कूटते जायें। १६ तोले तैल पचन होनेपर २-२ रत्तीकी गोलियाँ बना लेवें। इनमेंसे २ से ४ गोली सोंठके क्वाथ या भिगाये जलके साथ दिनमें दो बार प्रातः सायं देते रहनेसे वात, पित्त और कफाधिक रोग, खञ्ज रोग, पांडु रोग, श्वास, कास, कुष्ठ, वातरक्त, गुल्म, शूल, उदररोग और असाध्य आमवातका नाश होता है। वृद्धावस्था और सफेद बाल भी दूर होते हैं। इस औषधके सेवन कालमें घी, तैल, मांसरस सह पुराने शालि और साठी चांवलका भोजन पथ्य है। यह गूगल अग्निको प्रदीप्त करता है।

यह गूगल विशेषतः आमवातकी जीर्णावस्था और मन्दावस्थामें व्यवहृत होता है। आन्तरमें दाह, कोष्ठबद्धता और कण्डू आदि उपद्रव होनेपर इस सिंहनाद गूगलका सेवन लाभदायक है।

(२०) रसोनपिंड—छिल्का साफ किया हुआ लहसन ४०० तोले, तिल १६ तोले; हींग, सोंठ, मिर्च, पीपल, जवाखार, सज्जीखार, पाँचों प्रकारके नमक, सोंफ, हल्दी, कूठ, पीपलामूल, चित्रकमूल, अजमोद, अजवायन, धनिया, इन १६ औषधियोंको ४-४ तोले लेवें। इन सबका चूर्णकर लहसनके कल्कके साथ मिला लें; पश्चात् उसमें कांजी और तिल तैल ३२-३२ तोले मिला, एक अमृत-बानमें भर १६ दिन तक रहने दें। इसमें से ६ माशेसे १ तोला दिनमें २ समय शराब या भिगाये जलके साथ देवें। इस रसोनपिण्डके सेवनसे आमवात, वातरक्त, सर्वाङ्गवात, एकांगवात, अपस्मार, अग्निमांद्य, कास, श्वास, विष-विकार, उन्माद, पक्षाघात और शूलरोग, ये शमन होते हैं। यह आमवातके

लीन विषको नष्ट करनेके लिये अति हितकर है।

(२१) तीव्र प्रकोप शमन होनेपर—४ तोलें गेहूँके आटेको १ तोला घी लगा घीकुँवारके रससे चूंद कर, एक वाटी बनावें। फिर अच्छी रीतिसे सेककर घीमें डाल दें। १०-१५ मिनट रखकर निकाल लें। इस वाटीका सेवन भोजनके साथ नित्य प्रति २ समय कराते रहनेसे मलावरोध, रक्तमें रहा हुआ विष, ज्वर (१०१-१०२ डिग्री तक) और आमवात थोड़े दिनोंमें दूर हो जाते हैं।

जीर्ण रोगपर औषधियाँ—(१) बृहत् योगराज गूगल (एरंड तैलके साथ), कासीस भस्म (शहद-पीपलके साथ), हिंगुल-रसायन, वृद्धदार्वादि चूर्ण, अजमोदादि चूर्ण, मल्लसिंदूर (पहले लिखे हुए शुण्ठ्यादि क्वाथके साथ), सुवर्ण-भूपति रस (पञ्चकोल या दशमूलके क्वाथके साथ), वातहर गुटिका, समीर-गजकेसरी (नागरवेलके पानके रसके साथ), मल्लभस्म क्षारप्रधान (नागरवेलके पानके साथ), लक्ष्मीविलास रस (नागरवेलके पानके रस और शहदके साथ), सिंहनाद गूगल (रास्नादि क्वाथके साथ), इनमेंसे अनुकूल औषध देते रहनेसे रक्तमें रहा हुआ विष और जीर्ण आमवातका शमन हो जाता है।

समीरगजकेसरी उत्तम प्रयोग है; किन्तु उसके भीतर अफीम आती है; अतः मात्रा कम देनी चाहिये। एवं मलावरोध न हो यह सम्हालना चाहिये। हृदयके रक्षणमें यह हितावह है।

(२) अलम्बुषादि चूर्ण—गोरखमुण्डी, गोखरू, गिलोय, वृद्धदारु, पीपल, निशोथ, नागरमोथा, वरनाकी छाल, पुनर्नवाकी जड़, हरड़, बहेड़ा, आँवला और सोंठ, इन १३ औषधियोंका वारीक चूर्ण कर, दहीके तोड़, काँजी, मट्ठा, दूध या मांसरसके साथ सेवन करानेसे आमवात और सन्धिगत शोथ दूर होते हैं। इनके अलावा प्लीहा, गुल्म, उदर रोग, आनाह (उदरके ऊपर और नीचे आम या मलसे अवरोध) और अर्श, इन रोगोंको भी दूर करता है एवं अग्निको प्रदीप्त, तेज और बलकी वृद्धि तथा संधिगत और मज्जागत वातरोगका नाश करता है।

हृदयके रक्षणार्थ—इस रोगमें बहुधा हृदययन्त्रमें विकृति हो जाती है। अतः लक्ष्यपूर्वक उसका संरक्षण करना चाहिये। अफीम हृदयसंरक्षक उत्तम औषध है। पूरी मात्रामें मिला सकते हैं। रससिंदूर, अभ्रक भस्म और लोहभस्म (शहद-पीपलके साथ) दें, या लक्ष्मीविलास रस दिनमें २ या ३ बार शहद-पीपलके साथ देते रहें, अथवा सूतशेखर रस आधी रत्ती दूधके साथ घिस कर मिश्री मिले ४-५ तोले ठण्डे दूधमें मिलाकर पिलानेसे हृदयको बल मिलता है।

एलोपैथिक चिकित्सा।

ऐलोपैथीमें इस रोगपर सोडियम सेलीसिलेट (Sodium Salicylate)

मुख्य औषध है। इसका उपयोग विशेषत: सोडाबाई कार्बके साथ होता है। निम्न मिश्रण शीघ्र लाभ पहुँचाता है—

सोडा सेलीसिलेट	Sodii Salicyl.	२० ग्रेन
सोडा बाई कार्ब	Sodii bicarb.	१० ग्रेन
शर्बत संतरा	Syr. Aurantii.	२० बूंदें
एक्वा क्लोरो फार्म	Aq. Chloroform, ad.	१ औंस

इस तरह मिश्रण बना लेवें। २-२ घण्टेपर ६ मात्रा देवें। फिर ४-४ घण्टे पर शारीरिक उत्ताप कम होने तक देते रहें। आगे दिनमें ३ बार ३ सप्ताह तक देते रहें।

यदि उत्तापमें कमी न हो तो एस्पिरिन या सेलीसिन (Salicin) का प्रयोग किया जाता है। यह उपचार विशेषत: बालकोंके लिये किया जाता है।

स्थानिक उपचाररूपसे अधिक पीड़ावाले स्थानपर विण्टरग्रीन तेलकी मालिश और सोडा बाई कार्बका सेक किया जाता है। गम्भीर वेदना होनेपर नेपेन्थ (Nepenthe) या डोवर्स पाउडर भी देते हैं।

गलग्रन्थि हो जानेपर उसे निकाल देते हैं।

हृदावरणप्रदाह, हृदन्तरत्वग्प्रदाह, बालकम्प, पाण्डु आदि उपद्रव उपस्थित होनेपर उपद्रव शामक चिकित्सा की जाती है।

(१६) क्रकच सन्निपात ज्वर।

(क्रकच सन्निपात-मन्याज्वर-गरदनतोड़ बुखार-आक्षेपक ज्वर।)

('Cerebrospinal fever' Cerebrospinal Meningitis, Spotted *fever-(In infants) Posterior Basal Meningitis*)

यह बड़ा भारी संक्रामक तथा भयङ्कर रोग है। इस रोगमें घोर ज्वर, बेशुद्धि और बारम्बार अङ्गोंका आक्षेप होकर तुरन्त संकोच होनेसे कतिपय ग्रन्थकारोंने इसे आक्षेपक ज्वर संज्ञा दी है। नेत्रभुग्न और भौंहें टेढ़ी देखकर कई इसे भुग्ननेत्र सन्निपात भी कह देते हैं; परन्तु यह इनकी कल्पना मात्र है। इस रोगमें मुख्य विकृति × मस्तिष्कावरण और सुषुम्नाके आवरणमें पूयोत्पादक

× समस्त मस्तुलुङ्गके ऊपर और सुषुम्नाके ऊपर ३ वृत्ति लगी है। उनमें अन्तर्वृत्ति मस्तिष्कके अवयव और सुषुम्नासे चिपकी हुई है। उसके ऊपर मध्यमा वृत्ति है, इन दोनोंके बीच लसीका-द्रव (Subarach noid Fluid) भरा है। जिसके साथ ब्रह्मवारि (Cerebro spinal Fluid) भी विद्यमान हैं। इन आवरणों और द्रवमें विकृति होकर अधिक फैलती है।

प्रदाह, अत्यन्त मलक्षय तथा पीड़ा सहित मांसपेशियोंका संकोच तथा मस्तिष्ककी श्लेष्म कलामें शोथ हो जाता है। इस रोगमें गरदन एक दम अकड़ जाती है और इसीसे रोगीका निश्चित मरण होते देखा गया है।

आयुर्वेदके प्राचीन ग्रन्थोंमें इस रोगका स्पष्ट वर्णन मिलता है। महर्षियोंने इसे अधिक वात, हीन पित्त और मध्य कफके कारण होनेवाला क्रकच सन्निपात माना है; और यह बात साफ तौरसे लिख दी है कि—"इस रोगका यह विशेष लक्षण है कि रोगीकी मृत्यु गरदनके जकड़ जानेसे होती है।" देखिये सन्निपातोंके वर्णन में—

"प्रलापाय ससंमोहाः कम्पमूर्च्छारतिभ्रमाः ।
मन्यास्तम्भेन मृत्युः स्यात्तत्राप्येतद्विशेषतः ।
भिषग्भिः सन्निपातोऽयं क्रकचः संप्रकीर्तितः ॥"

अर्थात् जिस रोगमें प्रलाप, श्रम, बेहोशी, कम्प, मूर्च्छा, व्याकुलता और भ्रम हो तथा जिसमें गरदनके जकड़ जानेसे ही मृत्यु होती हो, इस विशेषता वाले रोगको वैद्योंने क्रकच नामक सन्निपात बताया है। यह क्रकच सन्निपात या गरदनतोड़ बुखार भी क्वचित् जनपदविध्वंसकारी संक्रामक रोग बन जाता है। इससे देशके देश उजाड़ हो जाते हैं।

निदान—धूवाँ, धूलि, आदि गंदगी जिस स्थानमें हों, ऐसे स्थानमें अनेक मनुष्योंके एक साथ रहनेके हेतुसे विशेषतः निर्धन मनुष्यों (क्वचित् धनिकों) को कीटाणुजन्य यह रोग हो जाता है। निर्बल और दूषित धातुवाले छोटे बालक और युवा पुरुषोंको यह अधिक होता है।

संप्राप्ति—इस रोगके कीटाणु नाक और कण्ठ मार्गसे प्रवेशकर सुषुम्ना और मस्तिष्कके भीतर आवरणोंमें पहुँचकर वहां अपना अड्डा जमाते हैं। उन स्थानोंपर प्रदाह उत्पन्न करते हैं। इससे मस्तिष्क आवरण मोटा हो जाता है; तथा पूय और गाढ़ी लसीका भर जानेसे मस्तिष्क विवर बड़े हो जाते हैं। फिर सुषुम्ना और मस्तिष्क कोषाणुओंपर दबाव पड़नेसे चेष्टावह तन्तुओंमें उत्तेजना आकर आक्षेप आदि रूप प्रकट होते हैं।

पूर्वरूप—पहले अग्निमांद्य, बद्ध कोष्ठ और बेचैनी रहकर भयंकर शिरदर्द, गरदनमें अति पीड़ा, फिर पीठमें पीड़ा, चक्कर, घबराहट, कानके नीचे शोथ और कमरमें पीड़ा आदि चिह्न कुछ समय (कभी-कभी एक या दो दिन) रहते हैं। फिर अकस्मात् शीत सहित ज्वर आकर इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है।

लक्षण—तीव्र शिरदर्द, वमन, क्वचित् शीत और कम्प होना, कण्ठ जकड़ना, फिर शिर पीछेकी ओर खिंच जाना, ज्वर नित्य बढ़ते जाना, हाथपैर आदि किसी-न-किसी शाखाका संकोच हो जाना, सब अङ्गोंका संकोच होनेसे

देहका बाह्यायाम या अन्तरायामके सदृश आगे या पीछे की ओर मुड़ जाना, दृष्टि टेढ़ी हो जाना; तन्द्रा, प्रलाप, मोह, थोड़े-थोड़े समय पर आक्षेप (झटके) आते रहना, जैसे चोट लगनेपर रक्त जम जाता है, उस तरह सारे शरीरमें रक्त जम जाना, ३-४ दिनमें क्रमशः सब इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट हो जाना और रोगकी दारुण अवस्थामें उसी दिन इन्द्रिय शक्तिका-नाश हो जाना, ये सब लक्षण इस रोगमें प्रतीत होते हैं।

साध्यासाध्यता—यह रोग छोटे बालक और वृद्धोंके लिए अति घातक है। ८०-६० प्रतिशत महामारी कालमें मृत्यु होती है। दारुण रोग होनेपर कभी १ दिनमें कभी ३ दिनमें और कभी-कभी ४ से ७ दिन तक दुःख भोगकर मृत्यु हो जाती है। वैद्य, परिचारक, अच्छी औषध और आज्ञापालन करने वाला रोगी, इन सबकी सानुकूलता होनेपर कोई भाग्यशाली ही बच पाता है।

निदान आदि।

व्यवस्था—यह आशुकारी संक्रामक रोग है। विकीर्ण रूपसे और जनपद व्यापी रूपसे उपस्थित होता है। इस रोगकी संप्राप्ति मेनिङ्गोकोकस (Meningococcus) कीटाणु जनित होती है। इस रोगमें सम्प्राप्तिदर्शक मस्तिष्कावरण और सुषुम्नाका पूयात्मक प्रदाह होता है। सामान्य संयोगोंमें इसका आक्रमण अधिकसे अधिक ५ वर्ष तककी आयु वाले बालकोंपर होता है। युवक और परिपक्व आयु वालोंपर आक्रमण बहुत कम होता है। यह विशेषतः जनवरीसे जून तक (शीतकाल और वसन्त ऋतुमें) उपस्थित होता है। जब शीत और कफकी प्रबलता और दृढ़ताके हेतुसे अवरोध होता है, तब इस रोगका बल बढ़ता है।

इस रोगके कीटाणुओंका आक्रमण पहले नासागुहाके पश्चिम भागपर होता है। इसकी दूसरी अवस्था मेनिङ्गोकोकल जनित सन्निपात (Meningococcal Septicaemia) है। इसके पश्चात् मस्तिष्कावरणमें स्थिति रूप तृतीयावस्था है।

कीटाणु—इस रोगके कीटाणुओंका शोध डॉ० वीच सेल्वौनने १८८७ ई० में किया है। ये कीटाणु देहसे बाहर तुरन्त मर जाते हैं। इस रोगके कीटाणुओंको गोनोकोकस, माईकोकस, केटर्हेलिस (ग्लूकोज और माल्टोजमें रहे हुए मेनिङ्गोकोकसकी जाति) तथा डिप्लोकोकस म्युकोससे भिन्न करना चाहिये।

ये कीटाणु विशेषतः युग्मभावसे रहते हैं। ये ब्रह्मवारि (Cerebrospinal Fluid) और पूयमें रहते हैं, किन्तु सब यन्त्र और कोषाणुओंके भीतर नहीं।

इनकी आकृति गोल या चिपटी होती है। ये कीटाणु ग्रामके रङ्गोंसे रञ्जित नहीं होते। गोनोकोकस सदृश भासते हैं।

इन कीटाणुओंमें ४ प्रकार हैं और सभीसे समान लक्षण उपस्थित होते हैं। इनको २ विभागोंमें विभाजित किया है। किन्तु पेनिसिलीन और सल्फोनेमाइडका उपयोग इन सबपर होता है। अतः इन प्रकार या विभागोंकी अब आवश्यकता नहीं रही। ये कीटाणु संक्रमण होनेके पश्चात् चौथे दिन रक्तमें उपस्थित होते हैं।

सम्प्राप्ति—विशेषतः मस्तिष्कगत अन्तरा और मध्यमावृत्ति (Piaarachnoid) में विकार होनेपर विशेषतः मस्तिष्क पीठके पास पूयात्मक प्रदाह होता है। अति तीक्ष्ण प्रकोपमें सान्निपातिक स्थितिमें उत्पन्न होनेवाला रक्तसंग्रह मात्र उपस्थित होता है।

मस्तिष्क अन्तरा और मध्यमावृत्ति पीड़ित होनेपर पूयात्मक द्रव उनके नीचेके स्थानमें, विशेषतः पीठमें संगृहीत होता है। मस्तिष्क वल्क (Cortex) प्रायः रसपूर्ण होता है, इससे दबाव बढ़ जाता है, मस्तिष्क द्रव्य मृदु और गुलाबी बन जाता है, रक्तस्राव होता है। प्राणगुहा (Brain4th ventricle) पूयमय रससे स्फीत होती है। प्रणालियां, प्रवाहमार्ग (Channels) और मस्तिष्कप्रदाह (Encephalitis) के रुग्णकेन्द्र, सबमें अणुवीक्षण यन्त्रसे देखनेपर अन्तर्भरण प्रतीत होता है।

सुषुम्णा काण्ड सर्वदा पीड़ित होता है। इनमें भी विशेषतः पिछली सतह, पीठ और कटिपार्श्विक प्रदेशमें व्यथा अधिक पहुँचती है। पूय सर्वत्र चारों ओर तथा कभी वातनाड़ी मूलमें भी भर जाता है।

जीर्णावस्थाके रोगियोंमें आवरण मोटा बन जाता है और उसमें हुए रसस्रावमेंसे कितना ही विद्यमान रहता है। कई शीर्षण्या नाड़ी (Cranial nerves) सामान्यतः पीड़ित होजाती हैं। प्राणगुहा बहुधा स्वच्छ और गाढ़े ब्रह्मवारि (द्रव) से स्फीत हो जाती है। फिर चतुर्थ (प्राण) गुहाका मुख (Magendie's foramen) बन्द हो जाता है। अनेक बार मेनिङ्गोकोकस जनित मस्तिष्क प्रदाह भी विकीर्णरूपसे हो जाता है। इनके अतिरिक्त अन्य अवयवोंमें भी सामान्यतः कुछ परिवर्तन हो जाता है। प्लीहा कभी-कभी बढ़ जाती है।

चयकाल—१ से ४ या ५ दिन।

लक्षण—सामान्य प्रकार होनेपर अकस्मात् आक्रमण २४ घण्टेमें ही होता है। विकार बढ़नेपर स्थिति खराब होती है। स्थानिक आवरण प्रदाहके हेतुसे त्रिदोष प्रकोपके लक्षण प्रकट होते हैं।

गम्भीर प्रकार होनेपर अकस्मात् बलपूर्वक आक्रमण, उन्माद, वेगकी अति तुरन्त वृद्धि होना, कुछ घण्टोंमें बेहोशी आजाना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

चिरकारी प्रकार होनेपर सान्निपातिक मंद लक्षण भासते हैं।

सामान्य प्रकार—शिरदर्द, वान्ति, उत्तापवृद्धि, शीतकम्प और बालकोंमें आक्षेप सह अकस्मात् आक्रमण होता है। कभी-कभी आक्रमणके पश्चात् अचिर स्थायी वृद्धि होजाती है, कण्ठ जकड़ता है, मस्तिष्कका प्रत्याकर्षण और सार्वाङ्गिक उग्रता वृद्धि होती है, मुखमण्डल म्लान, नीलाभ और वेदना व्यञ्जक भासता है, क्षुधामान्द्य और कोष्ठबद्धता उपस्थित होते हैं।

नाड़ीसंस्थानकी सार्वाङ्गिक उग्रतायुक्त स्थिति होती है, तथा शीर्षण्या नाड़ीके भीतर दबावकी वृद्धि होती है। लक्षण सामान्यत: १ से ५ दिन तक बढ़ते जाते हैं, एवं योग्य चिकित्साके अभावमें १ से ३ सप्ताह तक अत्यधिक बढ़े हुए भासते हैं। प्लीहा स्पष्ट भासने लगती है।

धनुर्ग्रह नाड़ीविकृति लक्षण—मस्तिष्कका पीछेकी ओर अत्यधिक खिंच जाना, शिशुओंमें बहिरायाम (शिर और पैर पीछेकी ओर खिंच जाना (Opitshotonos), तनावके हेतुसे कर्निङ्गका चिह्न प्रतीत नहीं होता। ब्रुडजिंस्कीके कण्ठचिह्न और पादचिह्न प्रतीत होते हैं; तथा जानुक्षेप उपस्थित नहीं होता।

रोगीको चित लिटाकर घुटनेसे पैरोंको उदरपर मुड़वा, फिर पैरको उठानेका प्रयत्न करे, तो नहीं हो सकेगा। संकोचक पेशियोंका आकुंचन होता है। इस चिह्नको कर्निङ्गचिह्न (Kerning's sign) कहते हैं।

रोगीको चित लिटाकर मस्तिष्कको हाथसे पकड़ ग्रीवासे आगेकी ओर मोड़नेपर टखने, घुटने और ऊरु भाग मुड़ने लगते हैं। इस चिह्नको ब्रुडजिंस्की ग्रीवा चिह्न (Brudzinski's neck sign) कहते हैं। यह महत्वका चिह्न है।

रोगीको चित लिटाकर दोनों पैरोंको सीधे रखवावें। फिर एक पैरको मोड़नेपर दूसरा पैर भी मुड़ने लगता है। इस चिह्नको ब्रुडजिंस्कीका पाद चिह्न कहते हैं।

रोगीको पलंगके किनारे बैठा पैरोंको शिथिलतापूर्वक नीचे लटकावें। फिर जान्वस्थि (Patella) के स्नायुरज्जुपर हथेलीसे ताड़न करनेसे सामान्यत: पैर बलपूर्वक आगे चला जाता है, उसे जानुक्षेपकी प्रतिफलित क्रिया (Knee jerk reflex) कहते हैं। यह क्रिया प्रतीत नहीं होती।

इनके अतिरिक्त मुखमण्डलकी पेशियोंको पकड़कर खींचनेपर कम्पसह आक्षेप या तनावसह आक्षेप (Tonic spasm) या पक्षवध प्रतीत होता है। सामान्यत: कम्पन होता है।

चि० प्र० नं० २६

स्वतन्त्र नाड़ी मण्डल (Sympathetic nerves) के पीड़ित होनेसे कनीनिका (Pupils) सामान्यतः प्रसारित होती हैं; किन्तु गम्भीर आक्रमण होनेपर आकुंचित हो जाती हैं। सामान्यतः विषमता और जड़ता उपस्थित होती है। तारामण्डलका कम्पन (Hippus) कभी-कभी होता है। २० प्रतिशत रोगियोंमें एक या दोनों नेत्रोंकी च्युति (Strabismus). १० प्रतिशतमें चाक्षुषी नाड़ीप्रदाह, प्रकाशका सहन न होना, अभिष्यंद, ऊपरके पलकका कुछ पक्षवध (Ptosis) तथा कभी-कभी नेत्रगोलकका चारों ओर फिरना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

संज्ञावह नाड़ियोंकी विकृतिसे बारम्बार अति गम्भीर शिरदर्द होना, विशेषतः पिछली ओर, सुषुम्णा और हाथ-पैरोंमें दर्द फैलना, संवेदना वृद्धिसह कमरमें गम्भीर वेदना होना तथा व्यापक संवेदना वृद्धि होना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

मानसिक लक्षण रूपसे बेचैनी, उन्माद, प्रलाप और उत्तरावस्थामें बेहोशी या मूर्च्छा उपस्थित होते हैं।

इनके अतिरिक्त मस्तिष्क विकृति होनेपर आक्रमण कालमें वमन होना, फिर वह चालू रहना, शारीरिक उत्ताप अनियमित बढ़ना-घटना, सामान्यतः १०३° रहना, बढ़नेपर १०५° या अधिक हो जाना, नाड़ी और उत्तापका संबंध कुछ कम रहना, अनियमित नाड़ी, फुफ्फुसका उपद्रव होनेपर छिन्न श्वास, आक्रमण कालमें रक्तमय पिटिकाएं पहले या दूसरे दिन तक रहना, फिर कभी गम्भीरावस्थामें पूयमय हो जाना, मधुराके सदृश लाल पिटिकाएं होना, २५ से ५० प्रतिशतमें ४-५ दिन बाद ओष्ठपर फुन्सियाँ होना, एकाधिक केन्द्र-स्थान युक्त श्वेताणु २५००० से ५०००० प्रति मिलीमीटर हो जाना तथा गम्भीरावस्थामें उनका अभाव होना एवं कृशता अति शीघ्र आना, ये लक्षण प्रकट होते हैं।

गम्भीरावस्थाके लक्षण—अकस्मात् बलपूर्वक आक्रमण, शिरदर्द, वमन, शक्तिपात, सामान्यतः रक्तस्रावमय पिटिकाएँ, शारीरिक उत्ताप अधिक या कभी कम तथा शीघ्र मूर्च्छा आना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। ब्रह्मवारि बिल्कुल स्वच्छ रहता है, उसमें कोकाई कीटाणु नहीं मिलते। अधिवृक्क विकृतिके हेतुसे सुषुम्नामें रक्तस्राव होता है। मस्तिष्कावरणके लक्षण मन्द होते हैं या नहीं होते। उदरगुहाके लक्षण विकीर्ण रूपसे मिलते हैं एवं मस्तिष्क-प्रदाह या गम्भीर मस्तिष्कावरण प्रदाह उपस्थित होता है।

चिरकारी मेनिङ्गोकोकाई जनित सन्निपात (Septicaemia)—सामान्यतः अकस्मात् आक्रमण, शिरदर्द, वेपन, मांसपेशियों और संधिस्थानोंमें वेदना, कुछ दिनोंमें पिटिकायें निकलना, क्वचित् पिटिका न निकलना, ये

पिटिकाएं अनेक प्रकारकी होना तथा शारीरिक उत्ताप बारम्बार अधिक रहना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

इस प्रकारकी चिकित्सा न की जाय तो गम्भीर व्याकुलता हुए विना सप्ताहों और महीनों तक रोग दृढ़ बना रहता है। इन्फ्लुएन्ज़ा, मधुरा, संधिक ज्वर, त्वचाकी लाली, ग्रन्थियाँ निकलना या परिखाज्वर उत्पन्न करता है। एवं उसकी चिकित्सा सल्फापाइराइडिनसे न की जाय तो मस्तिष्कावरण प्रदाह बढ़ जाता है। सौम्य और क्षुद्र प्रकारमें लक्षण सौम्य होते हैं और थोड़े ही दिनोंमें शान्त हो जाते हैं। किन्तु चिरकारी प्रकार अनेक मासों तक बना रहता है। इस चिरकारी प्रकारमें प्राणगुहाएँ पूय, गाढ़ा द्रव या स्वच्छ द्रवसे स्फीत हो जाती हैं। फिर प्राणगुहाओंका आवरण बन्द हो जाता है या शिरः संपुट द्रवपूर्ण होजाते हैं। वातनाड़ी संस्थानमें जटिलता, कृशता, नाड़ी और श्वसनमें कष्ट होना आदि प्रतीत होते हैं। ऐसा होनेपर स्वास्थ्यकी प्राप्ति असंभव मानी जाती है।

मस्तिष्क पीठके पश्चिम आवरणका प्रदाह—शिशुओंमें मस्तिष्कावरण-प्रदाह, १ वर्षके भीतरकी आयुवालोंके लिये अत्यन्त सामान्य प्रकार है। इसका आक्रमण अकस्मात् होता है या यह गुप्तभावसे वृद्धिंगत होता है। इसमें लक्षण-मस्तिष्कका प्रत्याकर्षण, बाह्यायाम, कभी पिटिका जैसे धब्बे, चाक्षुषी नाड़ीके प्रदाहके न होनेपर भी दृष्टिनाश, बारम्बार रोग चिरकारी (जीर्ण) बन जाना, सौम्य या सामान्य प्रकारमें भावी क्षति सामान्यतः बधिरता और फिर अति ऊंचे स्वरसे सुनना (Deaf mutism), अंधता, मस्तिष्कमें विकृति, मस्तिष्कके अन्तर्भागकी व्यापक जकड़ाहट, तथा जीर्णावस्थामें मेगेण्डीका द्वार (Magendi's foramen) के बन्द हो जानेपर कटिवेध (Quincke's Puncture) करनेपर भीतरसे द्रव न मिलना आदि चिह्न मिलते हैं।

इस रोगके विशेष निर्णयार्थ तीसरी और चौथी कटि कशेरुकाके बीचमें सूचिका डाल पूय निकालकर परीक्षा की जाती है। उसे लम्बर पंक्चर और क्विङ्क्स पंक्चर कहते हैं।

जब आशुकारी प्रकारमें इस तरह प्राणगुहा द्वार बन्द हो जाता है, तब अनेक रोगियोंमें विविध प्रकारकी भावी क्षति उपस्थित होना संभवित है।

उपद्रव और भावी परिणाम—यदि पिनिसलीन या सल्फोनेमाइडसे चिकित्सा न की जाय तो कभी कभी मस्तिष्कमें पक्षवध, अर्धाङ्गवध, पादपक्ष-वध, आदिकी प्राप्ति हो जाती है। जीर्ण प्रकारमें मस्तिष्क प्रदाह, शिरदर्द, वान्ति, मस्तिष्क जड़ता और कनीनिका प्रसारण आदि उपस्थित होते हैं।

कानोंमें कभी अचिरस्थायी तथा कभी चिरस्थायी बधिरता सम्भवतः अन्तःकर्ण और कर्णनाड़ी विकृतिसे ऐसा होता होगा। कभी मध्य कर्णप्रदाह

भी हो जाता है ।

संधिप्रदाह अथवा संधिस्थानकी श्लैष्मिककलाका प्रदाह, यह उपद्रव ५ से १० प्रतिशत रोगियोंमें हो जाता है बहुधा पूर्ववर्ती रक्तस्रावात्मक धब्बे होते हैं। कभी पूयपाक और परिणाम अच्छा होता है ।

अति क्वचित् हृदयावरणप्रदाह, फुफ्फुसप्रदाह या अधिवृषणिका प्रदाह होता है । इनका पुनराक्रमण सामान्य है । किन्तु सच्चा आक्रमण क्वचित् ही होता है ।

ब्रह्मवारिस्थिति—परिमाण वृद्धि और भीतरसे अस्वाभाविक दबाववृद्धि, द्रव कर्दममय या पूयमय, प्रथिन (Protein) वृद्धि, अनेक केन्द्रस्थान मय श्वेताणु उपस्थित होना, प्रथमावस्थामें लसीकाणुओंका संग्रह, मेनिङ्गोकोकाई कोषाणुओंके बाहर और उनकी रचनाके भीतर होना, किन्तु कर्दममय द्रवमें अभाव, पिष्टशर्करा (Dextrose) का अभाव (कदाच श्वेताणु प्रभाव या मेनिङ्गोकोकाईके हेतुसे परिवर्त्तित हो जाती होगी), ये सब प्रतीत होते हैं। प्रारम्भमें २४ घण्टे तक ब्रह्मवारि स्वच्छ रहता है । फिर प्राणगुहाद्वार बन्द हो जानेसे कम हो जाता है ।

—ब्रह्मवारि पूर्ण गुहाएं—
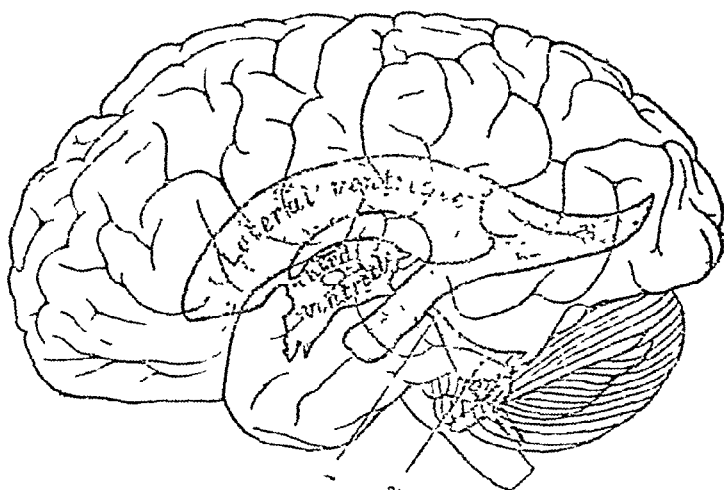
Lateral ventricle — त्रिपथगुहा
3rd. Lateral ventricle — ब्रह्मगुहा
1. Aquaeduct of Sylvius — ब्रह्मद्वार सुरङ्ग
2. 4th Ventricle — प्राणगुहा

उक्त सब गुहाओंमें ब्रह्मवारि रहता है एवं वह वारि सुषुम्णाशीर्ष और काण्डमें भी जाता रहता है ।

रोगविनिर्णय--अकस्मात् आक्रमण, शिरदर्द, वान्ति, उत्तापवृद्धि, ग्रीवाका जकड़ना और प्रलाप तथा मस्तिष्कके प्रत्याकर्षणमें वृद्धि आदि लक्षणोंसे रोग स्पष्ट होजाता है। विशेष निर्णय कटिवेधद्वारा होता है। किन्तु पहले २४ घण्टोंके भीतर कभी-कभी रोग निर्णायक लक्षणका अभाव होता है।

क्रम और भावी परिणाम--पेनिसिलीन और सल्फोनेमाइड्सकी चिकित्सासे शीघ्र सुधार होने लगता है। उत्ताप कुछ दिनोंमें स्वाभाविक हो जाता है। अनुकूल स्थिति वालोंमें १० प्रतिशतसे अधिक मृत्यु नहीं होती।

मुख्यत: २ वर्षके भीतर आयुवाले और गम्भीर प्रकोपमें मृत्युसंख्या लगभग २० प्रतिशत होती है। मुक्तावस्थामें प्राय: शिरदर्द, चक्कर आना आदि वातनाड़ी विकृतिके लक्षण होते हैं। स्वास्थ्य प्राप्तिमें ३ मास लगते हैं। अन्तिम परिणाम अच्छा माना जाता है। जीर्णावस्था और गम्भीर उपद्रव क्वचित्। शैशवावस्था और गम्भीरावस्थामें शीघ्र मूर्च्छा आती है। रक्तस्रावात्मक धब्बे हों, तो रोगकी गम्भीरता मानी जाती है। सल्फोनेमाइडके अतिरिक्त उपचार करनेपर मृत्युसंख्या ३० प्रतिशत आती है।

पार्थक्य सूचक रोगविनिर्णय—टाइफॉइड, टाइफस, क्षयकीटाणु जन्य मस्तिष्क आवरणप्रदाह तथा बालकोंके आक्षेप (अस्थिवक्रता, पचनेन्द्रिय संस्थानमें विकृति आदि जनित) से इसे अलग करना चाहिये।

मधुरामें ज्वर धीरे-धीरे और निश्चित क्रमसे बढ़ता है। शिरदर्द मन्द होता है, मांसपेशियोंकी दृढ़ता, वमन, शीघ्र प्रलाप और मूर्च्छा आदि लक्षण नहीं होते।

प्रलापक ज्वरमें शारीरिक उत्ताप इससे अधिक एवं रोग स्थायित्व भी इससे अधिक होता है, मांसपेशियोंकी दृढ़ता, संकोच, स्पर्शसे वेदना, मन और त्रिविध इन्द्रियोंकी विकृति आदि नहीं होते।

क्षयकीटाणु जन्य मस्तिष्कावरण प्रदाहमें पिटिकायें नहीं निकलतीं। रोग अति मंद गतिसे बढ़ता है; तथा पूर्ववर्ती लक्षणोंमें भेद रहता है।

बालकोंके आक्षेपयुक्त रोगोंमें मस्तिष्क, कण्ठ आदिकी विकृति और बेचैनी इस रोग जितनी नहीं होती। अकस्मात् आक्रमण और उस समयके लक्षण भेदसे भी रोगका भेद हो जाता है।

चिकित्सोपयोगी सूचना।

रोगीको खुली वायुमें रखें।

इस रोगमें वस्त्र, स्थान आदिकी स्वच्छतापर पूर्ण लक्ष्य देना चाहिये। राईका प्लास्टर दर्दवाले भागपर लगावें या निर्गुण्डीके पत्तोंका स्वेद दें। गरदन और शिरपर सिंगी लगवाकर लसीका या पूय जल्दी निकालें।

रोगीको लंघन करावें। केवल गरम कर शीतल किये हुए जलपर रखें। मलशुद्धिके लिये थोड़ी मुनक्का दें।

मलावरोध हो, तो प्रारम्भमें ही उसके दूर करनेका प्रयत्न करें। यदि मूत्रावरोध हो तो रबरकी नलीसे मूत्र निकालते रहें।

इस रोगमें लहसुनके सत्वका इञ्जेक्शन लाभदायक है, ऐसा आयुर्वेदके विशेषज्ञोंका अनुभव है।

क्रकच सन्निपात चिकित्सा।

पूर्वरूपमें गरदन अकड़ जानेपर—वृहद् योगराज गूगल १ माशा खिलाकर ४ तोले एरंड तैल और थोड़ा दूध मिलाकर पिला दें। फिर ऊपर ४० तोले तक निवाया दूध पिलावें। उदरशुद्धि होनेपर दिनमें तीन बार महा योगराज गूगल २-२ रत्ती निवाये जलसे देते रहें अथवा सूतराज या मृत्युञ्जयरस दशमूल क्वाथके साथ देवें।

ज्वरमें कोष्ठशुद्धिके लिये—अभ्रकंचुकी रस दें; या एरण्ड तैलकी वस्ति दें।

तीव्र आक्षेप हो, तो—अचिन्त्यशक्ति रस या कृमिमुद्गर और महा वातविध्वंसन रस दिनमें ३ समय अष्टादशांग क्वाथके साथ देते रहें। जीर्णावस्था होनेपर वृहद् वातचिन्तामणि दें।

कमर, गरदन और सिरदर्दपर—मस्तिष्कमें ब्रह्मवारिका दबाव अत्यधिक होने या पूयोत्पत्ति हो जानेपर सुषुम्णाकाण्डमेंसे सिरिञ्जद्वारा द्रव निकालते हैं, इस तरह दूषित लसीका, रक्त या पूय निकाल लेनेके पश्चात् निवाये महा विषगर्भ तैल या तार्पिन तैलकी मालिश करें और फिर मस्तिष्कसे अन्य भागपर निवाये जलसे सेक करें।

एलोपैथिक चिकित्सा।

इस रोगकी चिकित्सा एलोपैथीमें कुछ वर्षोंसे रासायनिक औषध पेनिसिलीन और सल्फेनोमाइड वर्गकी औषधसे की जाती है। इससे परिणाम संतोषप्रद आता है, ऐसा नव्य चिकित्सक समूह मानता है। विशेषतः सल्फाथियाजोल (Sulfathiazole) दिया जाता है। उसे M & B. 760 भी कहते हैं। आक्रमणावस्थामें पहले अधिक मात्रामें देते हैं। फिर मात्रा कम करते हैं। बालकोंको मात्रा कम देते हैं। अर्थात् २ वर्षकी आयु वालेको १ दिनमें २ ग्राम और ५ वर्ष तक ४-५ ग्राम। २-३ दिन बाद मात्रा घटाते जाते हैं।

इस चिकित्सामें रोग लक्षण नहीं बढ़ते। फिर भी किसी रोगीको अति निद्रानाश और प्रलाप हो तो पेरलडीहाइड रात्रिको देते हैं अथवा मार्फियाका अन्तःक्षेपण करते हैं।

(१७) दण्डक ज्वर ।

(सप्ताह ज्वर—हड्डीतोड़ बुखार ।)

(Dengue fever, Dandy fever, Break bone fever)

यह ज्वर तीव्र, आशुकारी, वातश्लेष्मप्रधान और संक्रामक है। विशेषतः बालक और वृद्धोंको होता है। यह व्याधि वातावरण दूषित होनेपर उष्ण कटिबन्ध प्रदेशमें अधिक फैलती है।

यह ज्वर दण्ड मारनेके समान अस्थिसन्धियोंमें भयंकर पीड़ा होकर अकस्मात् आजाता है। इस ज्वरमें विसर्पके सदृश त्वचा लाल हो जाती है और ऊपर उठे हुए लाल रंगके चकत्ते (Rash) हो जाते हैं। ये स्फोटक तीसरे या चौथे रोज़ उत्पन्न होते हैं, और स्वतः ही शीघ्र लीन होजाते हैं। क्वचित् २-३ दिन तक रहकर मुर्झा जाते हैं। मुर्झानेपर उस स्थानसे भूसी-सी निकलती है।

क्वचित् किसीकी देह श्याम हो जाती है। यह ज्वर १-२ दिन रहकर शमन हो जाता है और फिर ३-४ दिन बाद आजाता है। रक्तके चकत्ते भी क्वचित् हो जाते हैं। कण्ठमें वेदना, संधिशूल और शिरःशूलादि उपद्रव तो ज्वरके साथ रहते ही हैं। प्रतिश्याय और कास भी होजाती है। बहुधा यह ज्वर ८ वें दिन चला जाता है। फिर भी कई दिनों या मास तक हड्डियोंमें पीड़ा बनी रहती है, जिससे मनुष्य सम्यक् प्रकारसे नहीं चल सकता।
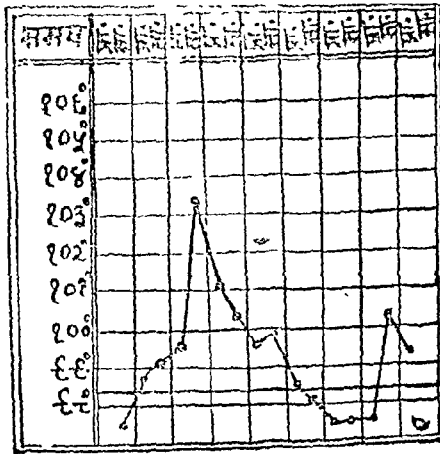
चित्र नं० १८
दण्डक ज्वर (Dengue) में उत्ताप दर्शक रेखाचित्र

रूप—पहले एक सन्धिमें पीड़ा होती है, फिर एकके पीछे एक अथवा अकस्मात् सब सन्धियोंमें भयंकर पीड़ा होकर ज्वर प्रारम्भ हो जाता है। पहले अङ्गमर्द और ग्लानि कुछ समय तक रहती है, फिर शीत लगकर ज्वर आ जाता है। कनपटी और कमरमें अति वेदना, सन्धि स्थान और स्नायुओंमें भयंकर पीड़ा, नेत्र और मुँह लाल होजाना, मलावरोध और क्वचित् फुफ्फुसोंमें शोथ इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। इस ज्वरमें १०२ से ४ डिग्री तक उष्णता बढ़ जाती है। फिर भी नाड़ीकी गति न्यून रहती है। ज्वर उतरनेके समय प्रस्वेद और अतिसार हो जाता है। क्वचित् नाकमेंसे रक्त आजाता है तथा ज्वर उतर जानेपर रोगी अतिशय अशक्त

हो जाता है।

एलोपैथिक निदान।

व्याख्या—यह रोग संक्रामक, जनपद व्यापी और ६-७ दिनका मुद्दती ज्वर है। इस रोगमें पीठ और हाथ-पैरोंमें गम्भीर वेदना होती है। इसकी प्राप्ति उष्ण और सम शीतोष्ण कटिबन्धमें होती है। इसका प्रकोप भारतमें क्वचित् ही होता है। ई० १८२४ में रंगूनमें तथा १८७१ ई० से १८७५ ई० तक भारतमें यह फैला था।

इस रोगके उत्पादक कीटाणु संभवतः अणुवीक्षणातीत (Ultramicroscopic) हैं। इन कीटाणुओंसे निकला हुआ विष (Virus) रक्तमें मिलता है।

रोगीका रक्त ज्वर आनेके ३ दिन पहले संक्रामित होता है। इन ३ दिनों तक पूर्वरूपके लक्षण बेचैनी, संधियोंमें पीड़ा, हाथ-पैर टूटना आदि भासते हैं। इन कीटाणुओंका पोषक मच्छर (Aedes aegypti) है। यह मनुष्यद्वारा मनुष्यको नहीं मिलता। एक आक्रमणसे मनुष्य अपना रक्षण कर सकता है।

चयकाल—संभवतः ५ से ९ दिन।

प्रथमाक्रमणके लक्षण—अकस्मात् आक्रमण, शीत, गम्भीर शिरदर्द और नेत्रगोलकोंमें वेदना, मांसपेशियों और संधिस्थानोंमें वेदना, शारीरिक उत्ताप, १०३° से १०६°। बहुधा पहले दिन अत्यधिक ज्वर; नाड़ी द्रुत, सामान्यतः ज्वरीय लक्षण—मुखवेदना-दर्शक और बहुधा स्फीत, श्लैष्मिक कला रक्तसंग्रह युक्त, मुखक्षत, त्वचापर लाल धब्बे (यह रोग विनिर्णायक लक्षण), उबाक और गम्भीर वमन आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। शारीरिक उत्ताप आदर्शानुरूप होनेपर पूत्र वंश मुड़ जाता है।

उपशम समय—दूसरेसे पाँचवें दिनके भीतर। विशेषतः तीसरे दिन उत्तापका पतन होता है। उस समय अतिसार अथवा प्रस्वेद आता है। संधिपीड़ा और शिरदर्दका विराम होता है। नासारक्तस्राव बहुधा उपस्थित होता है। रक्तसंग्रह दूर होता है। रोगोपशम आकस्मिक या कम शीघ्रतासे होता है। इसकी स्थिति २-३ दिनकी है।

उत्तराक्रमण (अन्तिम ज्वर और धब्बे)—ज्वर और वेदना पुनः उपस्थित होते हैं। पाँचवें दिन बहुधा १००° उत्ताप होता है। वह २४ घण्टेमें और बढ़ता है। सामान्यतः प्रथमाक्रमणकी अपेक्षा मृदु लक्षण होते हैं। स्थितिकाल २४ से ३६ घण्टे होता है। धब्बे कभी-कभी नहीं होते। धब्बे पहले हथेली और हाथके पीछे, फिर ग्रीवा, सांथल और पैरोंपर निकलते हैं। सामान्यतः ये रक्ताभ होते हैं। दबानेपर विलीन होते हैं। अन्तमें सब सम्मिलित हो जाते हैं।

रोमान्तिका और शोणित ज्वरके सदृश होनेपर भी जनपद व्यापी स्वरूपमें भेदवाला है। बार-बार कई दिनों तक दृढ़ हो जाते हैं। नाड़ी ज्वरकी अपेक्षा सदैव मन्द होती है। रक्तमें श्वेताणुओंका ह्रास होता है।

सब मिलकर समय—सामान्यत: ७ से ८ दिन।

वेदनाका स्वभाव—अति गम्भीर। घुटनेमें अत्यधिक अविचलित वेदना, पीठमेंसे अधिक। वेदनाका कारण अनिश्चित। संधियोंमें स्फीति नहीं होती; उनको स्पर्श कर सकते हैं एवं इधर-उधर बिना कष्ट चला सकते हैं, किन्तु रोगीद्वारा हलन चलन करनेपर वेदना होती है।

मुक्तावस्थामें लक्षण—मस्तिष्क और मानसिक निर्बलता आती है। तथा बारम्बार बीच-बीचमें एकाधिक संधिस्थानोंमें वेदना कुछ सप्ताह तक उपस्थित होती है।

उपद्रव—क्वचित्। ग्रैवेयग्रन्थियाँ बड़ी हो जाती हैं। कभी रक्तस्राव, वृषणप्रदाह या स्फोटक होते हैं।

रोग विनिर्णय—जनपदव्यापी होनेसे निर्णय सरल है। कभी इन्फ्लुएन्ज़ा, विषम ज्वर, पीत ज्वर और संधिक ज्वरका संदेह हो जाता है। इन्फ्लुएन्ज़ामें ज़ुकाम होता है और शीतकालमें होता है। विषम ज्वर जनपद-व्यापी नहीं है और क्विनाईनसे दूर होता है। पीत ज्वरमें कामला और रक्तस्राव होते हैं। संधिक ज्वर जनपद व्यापी नहीं है और सेलिसिलेटसे शान्त होता है। (सेलिसिलेटके प्रयोगसे इस रोगमें वेदना-शान्ति अवश्य होती है। इस तरह इनका सरलतासे भेद हो जाता है।

चिकित्सोपयोगी सूचना।

रोगोत्पादक मच्छरोंको दूर करनेके लिये मकानको साफ रखें। जन्तुघ्न प्रवाही दीवारोंपर छिड़कते रहें। प्रात: सायं धूप करते रहें। दिनमें सूर्यका प्रकाश मकानमें आनेके लिये खिड़कियां खुली रखें। आवश्यकता अनुसार मसहरीका उपयोग करें।

रोगीको शुद्ध वायु वाले स्थानमें रखना चाहिये। किन्तु सीधी वायु न लगे, इस बातकी सम्हाल रखनी चाहिये। रोगीको लिटाये रखें। जबतक धब्बे दूर न हों तब तक विश्रान्ति लेना हितकारक है।

वेदना स्थानोंमें नमक मिले गरम जलसे सेक करें। फिर गरम कपड़ा बाँध देवें। आफरा हो, तो ऊपर भी सेक करें। अफीमवाली औषध देनेसे वेदना शमन होती है; किन्तु मलावरोधको पहले दूर करना चाहिये।

वेदनाको शमन और लक्षणोंकी प्रबलताको ह्रास करनेके लिये चिकित्सा

जल्दी करनी चाहिये एवं रोगीके बलका संरक्षण और दुर्बलताको दूर करनेके लिये भी योग्य लक्ष्य देना चाहिये।

आक्रमणावस्थामें लवण-प्रधान औषध—पञ्चसकार या अन्य निशोथ युक्त अथवा मेगनेशिया सल्फासका विरेचन देकर कोष्ठशुद्धि करा लेनी चाहिये।

ज्वर तीव्र हो तब तक रोगीको प्रातःसायं दूध देवें। दोपहरको मोसम्बी का रस, अंगूर, सन्तरा, सेब या अनार देवें।

शिरदर्द शमनार्थ मस्तिष्कपर शीतल जलकी पट्टी रखें। राई मिले हुए जलसे पैरोंके तलोंको धोवें।

दण्डक ज्वर चिकित्सा।

ज्वर शमनार्थ—(१) लक्ष्मीनारायण रस २-२ रत्ती, दशमूल क्वाथके साथ अथवा तुलसी, ब्राह्मी, गिलोय, नीमकी अन्तर छाल, कड़वे परवल, नागरमोथा और धमासा, इन ७ औषधियोंके क्वाथके साथ दिनमें २ समय दें।

(२) अथवा पञ्चवक्त्र रस या अचिन्त्यशक्ति रस, बेलपत्रका स्वरस और शहदके साथ दिनमें २ समय देते रहें।

(३) वात-कफज्वरमें लिखी हुई औषधियाँ—रत्नगिरी रस, संजीवनी, जया-जयन्ती वटी, सुदर्शन चूर्ण आदि इस रोगपर लाभदायक हैं।

एलोपैथिक चिकित्सा।

इस रोगकी चिकित्सा लक्षणोंके अनुसार की जाती है। क्विनाइनका उपयोग करनेपर कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता।

वेदना शमनार्थ कितने ही चिकित्सक एस्पीरिनका प्रयोग करते हैं। इस तरह रोग शमनार्थ सोडियम सेलिसिलास (Sodii Salicylas) १५ ग्रेन और सोडा बाई कार्ब ३० ग्रेन मिलाकर देते हैं। यह औषध ६-६ घण्टेपर देते रहें।

मेनशन्स ट्रोपिकल डिसीझग्रन्थकारके मत अनुसार वत्सनाभ प्रधान, स्वेदल गुणयुक्त तथा लवणमिश्रित औषध हितकर माना है। आयुर्वेदमें भी वही चिकित्सा प्रधान रूपसे की जाती है।

(१८) कर्णमूलिक ज्वर।

(हप्पू, कनपेडे-पाषाणगर्दभ—मम्प्स-पेरोटाइटिस)
(Mumps or Parotitis)

माधव निदानोक्त लक्षण—वात और श्लेष्म-प्रकोपसे हनु (ठोड़ी) के सन्धि-स्थानोंपर कानके मूलके पास स्थिर (कठिन) या मन्द पीड़ावाला, स्निग्ध

शोथ होता है, उसे पाषाणवत् कठिन होनेसे प्राचीन आचार्यों ने पाषाण-गर्दभ कहा है।

सिद्धान्त निदानोक्त लक्षण—पहले एक कानके मूलके पास शोथ होकर, फिर एक-दो रोजमें दूसरे कानपर शोथ हो जाता है। पश्चात् सामान्य ज्वर आजाता है। पीड़ा, शोथ और ज्वर ५-६ दिनोंमें दूर हो जाते हैं। ७-८ दिनके बाद अनेकोंको बहुधा वृषणपर दाहशोथ हो जाता है। स्त्रियोंके गर्भाशयके दोनों ओर रहनेवाले दोनों बीजकोषों (Ovaries) पर या कभी-कभी स्तनोंपर भी शोथ होजाता है, और वह लगभग १० दिनमें दूर होता है।

यह ज्वर तीव्र, संक्रामक, कीटाणुजन्य और फैलने वाला है। यह ज्वर विशेषत: बालकोंको और कभी युवाओंको भी होजाता है। बहुधा यह रोग शीतकालमें ही होता है। इस रोगमें लाला ग्रन्थियों* पर, इनमें भी विशेषत: कर्णमूलिका ग्रन्थियोंपर दाह-शोथ होता है। गलेकी गाँठोंपर पत्थर जैसे कड़ा शोथ हो जानेसे चबाने और निगलनेमें त्रास होता है। श्वासोच्छ्वासमें दुर्गन्ध आती है, जिह्वा सफेद हो जाती है।

एलोपैथिक निदान आदि।

व्याख्या—यह आशुकारी विशेष प्रकारका संक्रामक रोग है। इस रोगमें गलेमें स्थित गांठें, विशेषत: कर्णमूलिका ग्रन्थियाँ सूज जाती हैं। यह कभी कभी जनपद-व्यापी भी हो जाता है। अनेक शहरोंमें यह स्थान व्यापी बन जाता है।

इस रोगकी संप्राप्ति विशेषत: ५ से १५ वर्षकी आयुवालोंको होती है। १८ से २५ वर्ष वालेको कम तथा शिशुओंको क्वचित् ही होता है। परिपक्व आयु-वालेको अति क्वचित् होता है। यह विशेषत: युवा पुरुषोंको होता है। इसकी उत्पत्ति शीतकाल और वसन्त ऋतुमें होती है।

सूचना—यह संक्रामक-फैलने वाला (छूतका) रोग होनेसे रोगीको ग्रन्थिकी वृद्धि होनेसे ३ सप्ताह तक अलग रखें। शोथ आनेके पश्चात् कमसे कम १

* लाला ग्रन्थियाँ—मुखके भीतर दोनों ओर ३-३ मिलकर ६ लाला ग्रन्थियाँ हैं। एलोपैथिकमें इनको सेलाइवरी ग्लेण्ड्स (Salivary Glands) कहते हैं। दो कर्ण-मूलिका, दो हनु अधरिया, दो जिह्वा अधरिया, ये ६ ग्रन्थियाँ हैं। इनमेंसे लाला झरती है, जो भोजनको चबाने और भिगोनेमें सहायक होती है।

इन ६ ग्रन्थियोंमेंसे कर्णमूलिका (पेरोटिड ग्लेण्ड्स Parotid Glands) बड़ी हैं। एक-एकका वजन २ से ३ तोले तक होता है। इसका देखाव रुईके गोले सदृश है। इन ग्रन्थियोंमें शोथ आ जाता है; किन्तु इनमें बहुधा पीप नहीं होती।

सप्ताह तक तो पृथक् रखना ही चाहिये।

संस्पर्शके लिये निषेधकाल (Quarantine Period of contacts)-२६ दिन। ७ दिनके पश्चात् संस्पर्शजनित आक्रमण नहीं होता। अतः विद्यार्थियोंको १ सप्ताह बाद शालामें प्रवेश करावें।

चयकाल—१२ से २५ दिन, क्वचित् १ मास। सामान्यतः १८ से २२दिन।

निदान—इसकी उत्पत्ति करानेवाले विषका अभी तक पता नहीं चला। संभवतः वृषणप्रदाह, अग्न्याशयप्रदाह आदिमें विकृति होनेपर यह आक्रमण कितनीही ग्रन्थियोंपर होता है। इनमें भी कर्णमूलिकाके लिये विशेष निपात होता है।

संप्राप्ति—मुख्यतः ग्रन्थियोंके संयोजक तन्तुओंका प्रदाह होता है; किन्तु ग्रन्थि-रचना या उनके तन्तु कार्यकारी उपादानपर मृदु असर होता है। वृषणके स्नायुरज्जुकी अपक्रान्ति तथा अग्न्याशयमें रक्तसंग्रह हो जाता है।

पूर्वरूप—एक या दो दिन पहलेसे मंद-मंद व्याकुलता होती है। कभी यह भी प्रतीत नहीं होता।

लक्षण—कर्णमूलिका ग्रन्थियोंका शोथ, मुलायमपना, सामान्यतः जबड़ेके कोने और कानके पीछे शोथ, कर्णखण्डकी स्फीति, फिर जबड़ेके ऊपर और ग्रीवा परसे निम्न और उरःकर्णमूलिका पेशीके नीचे तक फैलता है। कोमलता, त्वचाकी लाली, तथा मुँह खोलनेमें वेदना होती है। शोथ और तनाव व्यक्तिभेदसे न्यूनाधिक होते हैं। जब गलेपर गम्भीर शोथ हो जाता है और गलेकी लसीका ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं, तब कर्णमूलिका प्रणाली (Stensen's duct) द्वारकी ओर नेत्राङ्कुरोंके प्रदाहकी प्राप्ति होती है एवं गालकी ओर शोथ आनेके पश्चात् सामान्यतया १ से ५ दिनके भीतर दूसरी ओर शोथ आ जाता है। मौखिक नाड़ी कदापि प्रभावित नहीं होती।

हन्वधरीया ग्रन्थि (Sub maxillary glands) सामान्यतः बढ़ जाती है। कभी-कभी कर्णमूलिका ग्रन्थियोंकी वृद्धि नहीं होती। जिह्वाधरीया ग्रन्थियों (Sublingual glands) पर आक्रमण प्रायः कम होता है।

शारीरिक उत्ताप लगभग १०१°, कभी बिल्कुल भी नहीं होता। प्रारम्भमें रक्तके भीतर श्वेताणुओंका ह्रास, फिर थोड़े ही दिनोंमें स्वाभाविक स्थिति। बालकोंमें लसीकाणुओं और एकाधिक केन्द्रस्थान युक्त बृहद् लसीकाणुओंकी संख्या बढ़ जाती है। लसीका ग्रन्थियाँ क्वचित् ही बढ़ती हैं।

स्थिति समय—ग्रन्थियोंकी वृद्धि ३-४ दिनमें होती है; और शमनमें ७ से १० दिन लगते हैं। पुनराक्रमण क्वचित् होता है।

उपद्रव—क्वचित् वृषणप्रदाह, मस्तिष्कप्रदाह, अग्न्याशयप्रदाह, बधिरता, ग्रन्थियोंका पूयपाक और स्तन ग्रन्थियोंका प्रदाह, ये हो जाते हैं। वृषणप्रदाह हो जाता है, तो वह कभी-कभी गम्भीर होता है। २० से ४० प्रतिशतको वृषण प्रदाह होता है। यह पूरी युवावस्थावालोंको विशेषतः आक्रमणके लगभग ८ वें दिन ज्वर और व्याकुलता सह होता है। शोथ एक या दोनों वृषणोंपर आता है। कभी-कभी मूत्रप्रसेक नलिकाकी क्रिया बन्द हो जाती है। विरलावस्थामें अण्ड क्षीण हो जाते हैं। स्थितिकाल ३ से ५ दिन तक फिर शुष्कता। जनपद-व्यापी रोगियोंमें कर्णमूलिका ग्रन्थिप्रदाह हुए बिना वृषणप्रदाह हो जाता है। स्त्रियोंमें बीजाशयप्रदाह होता है। निम्न उदरगुहामें वेदना, दबानेपर पीड़ा होना, तथा ज्वर भी साथमें होता है। भगनासा-शोथ तथा स्तनशोथ भी स्त्रियोंमें कदाचित् होते हैं।

मस्तिष्कप्रदाह या मस्तिष्क मज्जाप्रदाह कभी हो जाता है। उसके साथ ज्वर, शिरदर्द, वान्ति और विविध नाड़ीविकृति लक्षण उपस्थित होते हैं। मृत्यु परिमाण कम। अति क्वचित् स्थायी पक्षवध। अति विरल अग्न्याशयप्रदाह भी देखनेमें आता है और क्वचित् अर्दित भी। अग्न्याशयप्रदाह आशुकारी कभी हो जाता है। ज्वर, हृदयाधरिक प्रदेशमें वेदना, उदरमें पीड़ा आदि लक्षण होते हैं। कभी यह गम्भीर होता है। मधुमेह उपस्थित होता है।

कभी कर्णमूलिका ग्रन्थियोंकी चिरकारी वृद्धि हो जाती है। कभी स्थायी बधिरता और कभी मध्य कर्णप्रदाह होता है। क्वचित् अन्त भागकी ग्रन्थियोंको पूयभावकी प्राप्ति होती है। इस तरह किसीको स्तनप्रदाह हो जाता है।

भावी क्षति—कभी सीमान्त नाड़ियोंका प्रदाह, पक्षवध, खास इन्द्रियोंपर असर या वृक्कप्रदाह हो जाता है। कभी शीर्षण्या नाड़ियोंमेंसे २, ७, ८ और ३ रीका प्रदाह होता है।

रोगविनिर्णय—सरल है। कण्ठरोहिणीमें कण्ठ आदि भागकी विकृति होती है किन्तु वह मिश्रित नहीं होता। मुँहमें शुष्कता रहती हो, तो स्थिति गम्भीर माननी चाहिये। व्रणपाक प्रदाह (Septic) होनेका डर रहता है।

चिकित्सोपयोगी सूचना।

यह रोग स्वयमेव उपशमित हो जाता है। यदि रोगी ज्वरावस्थामें १० दिन तक आरामसे रहे तो वृषणशोथका डर कम रहता है। इस रोगकी चिकित्सा लाक्षणिक की जाती है। साथमें निःसरण-क्रियापर लक्ष्य देना चाहिये। कुल्ले कराकर मुंहको स्वच्छ रखना चाहिये।

शोथ और वेदना वाले भागपर स्वेदन दें और दोषघ्न या दशांग लेप लगावें। किसी-किसीको बर्फके सेकसे शान्ति आ जाती है। मलावरोध हो तो

सौम्य विरेचन देकर उदरशुद्धि करा लेनी चाहिये। यदि ग्रन्थिपाक होने लगे तो पकानेके लिये पहले पुल्टिस बांधें। पुल्टिस ही पूयका आकर्षण कर लेती है। फिर जन्तुघ्न द्रावणसे धोते रहें और मलहम लगाते रहें। ऐसी अवस्थामें डाक्टरीमें क्विनाइनका सेवन कराना हितकर माना गया है।

वृषण-प्रदाह उपस्थित हो, तो उसपर पारदका मलहम लगावें एवं रक्त-शोधक और उदर शुद्धिकर औषध देते रहें।

ज्वरावस्थामें भोजन रूपसे केवल पेय पदार्थ देवें। दूध, मोसम्मीका रस, संतरेका रस, अंगूरोंका रस, ये सब उपयोगी हैं।

ज्वर न रहनेपर भोजन मृदु, सरलतासे पच सके वैसा थूली, खिचड़ी, दाल भात, शाकभाजी आदि देवें।

तीव्र प्रकोप और अति तनाव होनेपर जलौका लगाकर दूषित रक्त निकाल देवें।

वृषण-प्रदाह होनेपर अति आराम लेना चाहिये। उसे गरम वस्त्रसे लपेट लेवें। मस्तिष्क प्रदाहके चिह्न उपस्थित हों; तो शिरपर बर्फकी थैली रखनी चाहिये।

कर्णमूलिक ज्वर चिकित्सा

दोष शमनार्थ—(१) स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण (ज्वर न हो, तो दें) अथवा ज्वरकेसरी वटी देनेसे कोष्ठशुद्धि होती है।

(२) संजीवनी वटी, करंजादि वटी या गोदन्ती भस्म दिनमें २ या ३ समय देते रहनेसे ज्वर निवृत्त होता है।

(३) पहले खसखसके डोड़ेको जलमें उबालकर शोथपर अच्छी तरह स्वेदन दें। (सेक कालमें शीतल वायु न लगने देवें।)

लगाने के लिये—(१) दोषघ्न लेप, दशांगलेप या बीजपूरजटादि लेप निवाया कर लगावें।

(२) देवदारु, मैनसिल और कूठको जलमें घिस, निवाया कर लेप करें या दूधमें नमक मिला, गरम कर मोटा लेप करें।

डाक्टरीमें दर्दवाले भागपर ग्लिसराइन बेलाडोना (Glycerine Belladona) की पट्टी लगाते हैं।

(१९) मसूरिका ज्वर।

(बड़ी माता—वसंत-शीतला-माता-चेचक-स्मॉलपॉक्स-वेरियोला-Small pox-Variola)

यद्यपि प्राचीन शास्त्रमें विस्फोटक और मसूरिका रोगका पृथक्-पृथक् वर्णन

मिलता है, तथापि दोनोंमें ज्वर, रक्तविकार और पिटिकाएं आदि अनेक लक्षण समान ही होते हैं। त्रिदोपज विस्फोटक और त्रिदोषज मसूरिका, इन दोनोंके दाने बीचमें नीचे और प्रान्त भागमें ऊंचे रहते हैं; अन्य प्रलाप आदि उपद्रव भी लगभग समान होते हैं। इन दोनों रोगोंको असाध्य माना है। इनके अतिरिक्त दोनों रोगोंकी शास्त्रीय चिकित्सा जो मिलती है वह भी एक-सी होनेसे एवं विस्फोटक रोग अलग प्रतीत न होनेसे अनुमान होता है कि विस्फोटक भी मसूरिकाका ही एक भेद है। एवं क्वचित् पर्यायवाची शब्दोंके रूपमें इनका व्यवहार देखा गया है।

इस रोगका वर्णन सुश्रुत संहितामें क्षुद्र रोगोंमें और चरक-संहितामें श्वयथु चिकित्साके अन्तर्गत किया गया है। यह रोग १५०० वर्ष पहले वर्त्तमान समयके समान भयप्रद नहीं था। यह रोग क्षुद्र रूपसें क्वचित् प्रतीत होता था, ऐसा इतिहाससे जाना जाता है। यह रोग पृथ्वी, जल और वायुके दूषित होने पर होता है और यह दूसरे संक्रामक जनपद व्यापी रोगोंके समान देशमें सर्वत्र फैल जाता है। श्वासोच्छ्वास और वस्त्र आदिके स्पर्शसे दूसरोंको होता है,अतः इसे कीटाणुजन्य माना है। इस रोगके कीटाणु अभी तक नहीं मिले; अतः इन कीटाणुओंको अणुवीक्षण यन्त्रसे न दीखनेवाला माना है। यह रोग विशेषतः वसन्त और ग्रीष्म ऋतुमें होता है।

मसूरिका रोग किसी भी अवस्थामें, किन्तु विशेषतः बाल्यावस्थामें स्त्री-पुरुप, सबको हो जाता है। बहुधा यह जीवनमें एक बार होता है। *मसूरिका रोग होनेके पश्चात् इसका विप या कीटाणु रोगीके घरमें अनेक दिनों तक रह जाता है और वह दूसरोंपर आक्रमण करता है। इस रोगमें पहले पिटिकाएं लाल वर्णकी होती हैं और फिर तरलमय होकर पक जाती हैं। अन्तमें १५ से २० दिनके भीतर उनपर खुरण्ट आकर शनैः-शनैः नष्ट हो जाती हैं।

मसूरिका निदान—चरपरे, खट्टे, नमकीन या क्षार वालेपदार्थोंका अधिक सेवन, विरुद्ध पदार्थों (दूध-दही, दूध-खटाई, दूध-मछली आदि) का सेवन, भोजनपर भोजन, वात आदि धातुओंको प्रकुपित करने वाले निष्पाव, शिम्बी (सेम), मटर, आलू आदि शाकोंका अधिक उपयोग, दुष्ट जल या दुष्ट वायुका सेवन, शनि आदि क्रूर ग्रहोंका दृष्टिदोप होनेपर देशव्यापी वातावरण दूषित हो

---

* जोधपुर और जैसलमेर राज्यके ऐसे मनुष्य देखे हैं, जिनको टीका नहीं लगाया गया और शीतला भी नहीं निकली है। कुछ ऐसे मनुष्य भी देखे हैं, जिनको टीका लगाया है, उनको ४०–५० और ६० वर्षकी आयु हो जानेपर भी शीतला निकली, अनेकोंको भी नहीं निकली। इसपरसे जीवनमें एक समय शीतला निकलना ही चाहिए, यह नियम दृढ़ नहीं है, ऐसा कहना पड़ता है।

जाना इत्यादि कारणोंसे वात आदि दोष प्रकुपित होकर दूषित हुए रक्तके साथ मिलकर इस रोगकी उत्पत्ति करा देते हैं। इस रोगमें मसूरकी आकृतिके सदृश पिटिकाएँ होनेसे इस रोगको मसूरिका कहा है।

पूर्वरूप—अकस्मात् छींकें आना, ज्वर, खुजली चलना, अंग टूटना, व्याकुलता, अरुचि, भ्रम, त्वचापर शोथ, त्वचाका रंग बदल जाना और नेत्रोंमें लाली इत्यादि चिह्न बहुधा देखनेमें आते हैं।

प्रकार—शास्त्रकारोंने लक्षण भेदसे इस रोगके वातज, पित्तज, रक्तज, कफज और सान्निपातिक ऐसे ५ भेद किये हैं।

वातज मसूरिका लक्षण—काले लाल, रूक्ष, तीव्र वेदनावाले, कठिन और बहुत दिनोंमें पकनेवाले दाने होना, संधि, अस्थि और पर्वोंमें तोड़नेके समान पीड़ा, शुष्क कास, कम्प, व्याकुलता, ग्लानि, तालु, ओष्ठ और जिह्वाका शोष, तृषा, अरुचि ये चिह्न वातज मसूरिकामें प्रतीत होते हैं।

पित्तज मसूरिका लक्षण—लाल-पीले या सफेद रंगके दाह और तीव्र वेदनावाले तथा थोड़े ही दिनोंमें पक जानेवाले स्फोट, पतला मल, अंग टूटना, दाह, तृषा, अरुचि, मुखपाक, नेत्रोंमें लाली अथवा नेत्राभिष्यन्द, तीव्रज्वर, ये सब लक्षण पित्तप्रकोप सह शीतलामें होते हैं।

रक्तज मसूरिका लक्षण—पित्तज विकारमें कहे हुए लक्षण रक्तज मसूरिकामें अत्यधिक बढ़े हुए होते हैं।

कफज मसूरिका लक्षण—बार-बार मुँहमें कफ आते रहना, देह गीला, चिकना रहना, शिरमें दर्द, देहमें भारीपन, वमन, अरुचि, निद्रा, तन्द्रा, आलस्य आदि सहित श्वेत-स्निग्ध और बड़े दाने; दानोंमें खुजली चलना, मन्द वेदना होना और उसका पाक बहुत दिनोंमें होना, ये चिह्न कफज मसूरिकामें देखनेमें आते हैं।

सान्निपातिक मसूरिका लक्षण—नीले, चपटे, विस्तारवाले, बीचमें नीचे, अति पीड़ा वाले, बहुत दिनोंमें पकने वाले, दुर्गन्धयुक्त स्राववाले और अधिक संख्यक स्फोट, यह सान्निपातिक मसूरिकाकी आकृति है।

चर्म पिड़िकाके लक्षण—यह मसूरिकाका एक भेद है। इसमें गला पकड़ना; तन्द्रा, अरुचि, अङ्ग जकड़ना, प्रलाप और व्याकुलता आदि लक्षण होते हैं। इस प्रकारको कष्टसाध्य कहा है।

इन दोष-भेदोंके अतिरिक्त रस-रक्त आदि दूष्य, भेदसे इन स्फोटोंमें निम्नानुसार भेद प्रतीत होता है।

रसगत मसूरिका लक्षण—त्वचामें स्थित या रसगत मसूरिका थोड़े दोष-

वाली जलके बुद्बुदे समान रहती है। फूट जानेपर उसमेंसे जलका स्राव होता है।

रक्तगत मसूरिका लक्षण—रुधिरमें प्राप्त मसूरिका लाल रंगकी, जल्दी पकनेवाली और पतली त्वचा वाली होती है, फूटनेपर रक्त निकलता है। रक्त दुष्ट अधिक न हुआ हो, तो साध्य मानी है।

मांसगत मसूरिका लक्षण—यह मसूरिका कठिन, स्निग्ध; चिरपाकी और मोटी त्वचायुक्त होती है। गात्रशूल, तृषा, खुजली, ज्वर और व्याकुलता आदि लक्षण होते हैं। यह कष्टसाध्य है।

मेदोगत मसूरिका लक्षण—गोल, मृदु, कुछ ऊंचाईवाली, स्थूल, स्निग्ध और वेदनावाली मेदोगत मसूरिका होती है। ज्वरका वेग अत्यन्त तीव्र रहना, मोह, व्याकुलता और अति संताप आदि लक्षण होते हैं। यह अति कष्टसाध्य प्रकार है। इससे कोई भाग्यशाली ही बचता है।

अस्थि और मज्जागत मसूरिका लक्षण—इस प्रकारकी मसूरिका क्षुद्र, देहके समान वर्ण वाली, रूक्ष, चपटी और कुछ ऊँची होती है। अति मोह, अति वेदना, अति व्याकुलता, ये लक्षण होते हैं। जैसे घुण लकड़ीको छेदता है; उस तरह यह मर्म स्थानोंको छेदती रहती है। यह हड्डियोंका वेध होनेपर रोगीको मार डालती है।

शुक्रगत मसूरिका लक्षण—यह मसूरिका पकनेके सदृश प्रतीत होती है, किन्तु पकती नहीं है। स्निग्ध, कोमल और अति वेदनायुक्त रहती है। चिप-चिपा रहना, व्याकुलता, अति संमोह, दाह और उन्माद ये चिह्न देखनेमें आते हैं। इसे असाध्य माना है।

साध्यासाध्यता—त्वग्गत, रक्तगत, पित्तज, श्लेष्मज और श्लेष्मपित्तज ये सुखसाध्य हैं। विना चिकित्सा ये शमन होती हैं।

वातज, वात-पित्तज तथा श्लेष्म-वातज कष्टसाध्य हैं। इसलिये इनकी सम्हालपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये।

सान्निपातिक मसूरिका जिसका रङ्ग प्रवाल, जामुन, लोहा या अलसीके समान हो, वह असाध्य है। दोष-भेदसे इस प्रकारके वर्ण होते हैं।

उपद्रव—कास, हिक्का, प्रमेह, अति घोर ज्वर, प्रलाप, व्याकुलता, मूर्च्छा, तृषा, दाह, अति भ्रम, मुँह, नाक और आँखोंसे रक्तस्राव, कण्ठमेंसे घुर-घुर शब्द निकलना, वेदनापूर्वक श्वासोच्छ्वास होना ये सब उपद्रव असाध्य मसूरिकामें होते हैं।

जो मसूरिकाका रोगी नाकसे अति श्वास ले अर्थात् शीघ्रतासे श्वासोच्छ्वास चलें, अति तृषा और वातप्रकोपसे युक्त हो, वह प्राणको त्याग देता है।

मसूरिकाके अन्तमें हाथकी कुहनी, पोंचे, कन्धे अथवा पैरोंके घुटने आदिपर दारुण शोथके आनेसे रोग असाध्य हो जाता है।

सिद्धान्त निदानोक्त निदानादि।

परिचय—जिस रोगमें मसूरके समान पिड़िकाएँ घन होती हैं; सारे शरीरमें फैल जाती हैं, जिनका पाक होता है और थोड़े ही दिनोंमें शमन हो जाती है, जिस व्याधिमें नाना प्रकारके उपद्रवोंसह दारुण ज्वर रहता है, उसे वड़ी मसूरिका और शीतला कहते हैं।

निदान सम्प्राप्ति—वायु, जल या पृथ्वीके दोषसे (संक्रमण समयमें तो बहुधा वायुद्वारा) या अन्य रोगियोंके पिड़िका आदिके संस्पर्शसे इस रोगका विष वस्त्र या मुंह (कण्ठ) द्वारा भीतर प्रवेश करके वात, पित्त और कफ, इन तीनों दोषोंको प्रकुपित करता है। फिर वह घोर ज्वर और सारी देहमें पिड़िकाएँ उत्पन्न कर पिड़िकाद्वारा विषको बाहर फैंकता है। जब विषका क्षय हो जाता है, तब पिड़िकाएँ पककर नष्ट हो जाती हैं। दोषप्रकोपकी न्यूनाधिकता और विषके बलाबलके अनुसार पिड़िकाएँ दूर, समीप या अति समीप (गाढ़ी) एवं रक्तपूर्ण निकलती हैं।

मसूरिकामें पूर्वाचार्योंने विविधता दर्शायी है। इसके मुख्यतः ३ प्रकार हैं। १—बृहत् मसूरिका; २—लघु मसूरिका; ३—रोमान्तिका। पृथ्वी, जल और वायु आदि तत्त्वोंकी विकृति, रोगियोंका स्पर्श, दुष्ट निष्पाव आदि अपथ्य आहारका सेवन, क्रूरग्रहोंकी दृष्टि आदिसे इसकी उत्पत्ति होती है। यह विशेषतः वसन्त या ग्रीष्म ऋतुमें उपस्थित होती है।

पूर्वरूप—ज्वर, कण्डु, हाथ-पैर टूटना, अरुचि, भ्रम, त्वचापर शोथ, कुछ विवर्णता और नेत्रकी लाली आदि प्रायः उपस्थित होते हैं।

रूप—इस रोगमें शीत, कम्प और शिरःशूल सह ज्वर प्रारम्भ होकर बढ़ता है। कमर और पीठमें अति वेदना होती है। मोह, प्रलाप, निद्रानाश, मलावरोध, वमन, छोटे बालकोंमें कम्प और अन्य इन्द्रिय-नाश आदि उपद्रव हो जाते हैं एवं इस अवस्थामें कभी मृत्यु भी होजाती है।

बहुधा तीसरे दिन ज्वर कम होजाता है और कठोर पिड़िकाएँ त्वचाके नीचे स्पष्ट देखनेमें आ जाती हैं। मस्तिष्क, ललाट और मणिबन्धपर उत्पन्न होकर मुँहपर (गलेतक) और देहपर (कभी आमाशय आदिपर भी) क्रमशः
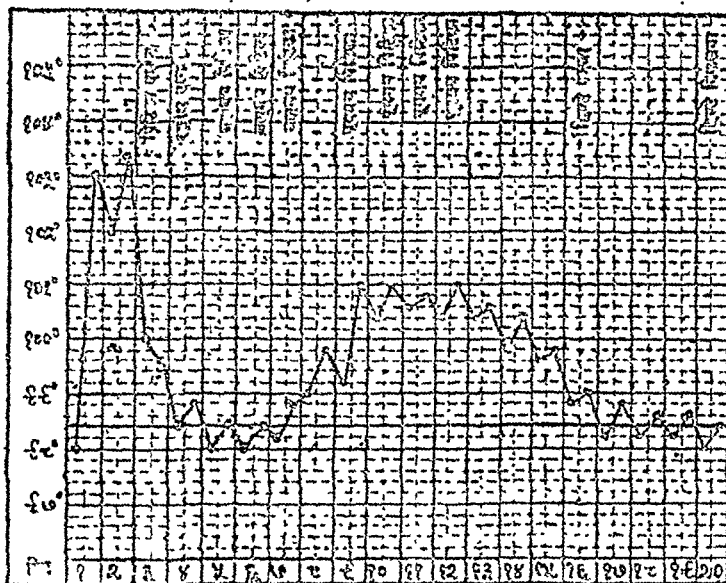
चित्र नं० १९, मसूरिकामें उत्तापदर्शक रेखाचित्र।

उत्पन्न हो जाती हैं और अन्तमें पैरोंपर उतरती हैं। छठे दिन पिड़िकाएँ जलसे भरजाती हैं। आठवें दिन पूय हो जाता है और फिर बिष कम होनेपर ज्वर और अन्य लक्षण शनैः-शनैः कम होजाते हैं। प्रायः १२ वें दिन पिटिकाएँ सूख जाती हैं।

एक पक्ष होनेपर पिटिकाएँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं और ३ सप्ताह होनेपर रोगी स्वस्थ होजाता है। यदि प्रकोप अति गम्भीर हुआ हो तो आजीवन त्वचापर दाग रह जाते हैं।

इस रोगमें सन्निपातमें कहे अनुसार विविध कफप्रकोप आदि उपद्रव उपस्थित होते हैं। फुफ्फुस स्थानपर आक्रमण होनेपर कफप्रकोप होता है। फिर श्वसनक ज्वर सदृश लक्षण उपस्थित होते हैं।

असाध्य प्रकार—यदि घोर विषका आक्रमण हुआ हो, तो दारुण दोष-प्रकोप होकर गम्भीर पिड़िकाएँ उपस्थित होती हैं। ये अति सान्द्र होती हैं और घोर ज्वर रहता है। यह रोगी बहुधा ८ दिन होनेपर चला जाता है।

कभी पिड़िकाएँ कृष्णाभ उपस्थित होती हैं। यह दूसरा प्रकार भी असाध्य है। कभी मुँह, गुदा या मूत्रमार्गसे रक्तस्राव होता है; तथा पिड़िकाएँ जल या पूयसे पूर्ण होती हैं, यह तीसरा असाध्य प्रकार है। कभी-कभी इनका सङ्कर भी दृष्टिगोचर होता है।
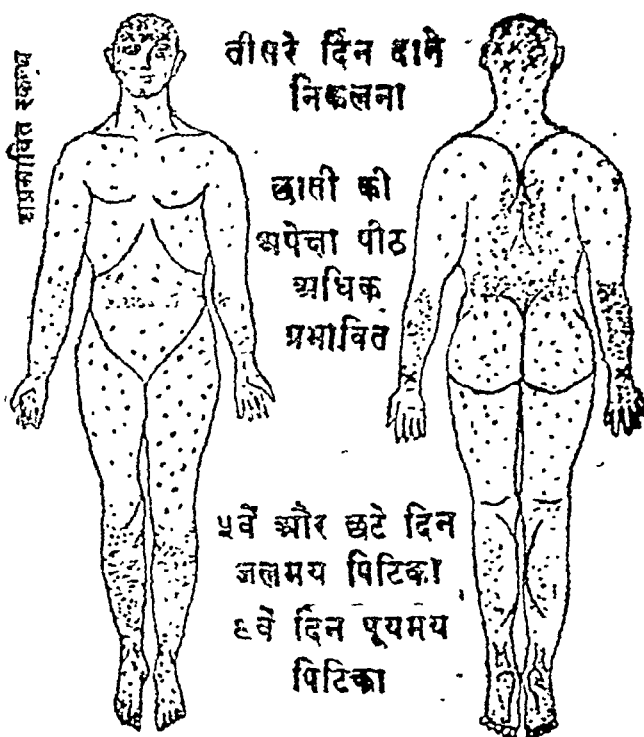
चित्र नं० २०, मसूरिकामें पिटिका।

इस रोगमें मलावरोध प्रायः बना रहता है; जिह्वा बहुत शुष्क और मैली होजाती है। नाड़ी तीव्र और स्थूल चलती है। दूसरे-तीसरे दिन ज्वर १०३° से १०४ डिग्री तक होजाता है। वह पिड़िकाएँ निकलनेपर (१००° तक) कम हो जाता है। ये पिड़िकाएँ प्रान्त भागमें ऊँची और बीचमें नीची रहती हैं। पुनः सातवें दिनसे पूय बननेपर ताप १०४ डिग्री तक या इससे भी अधिक हो जाता है। फिर पीप सूखने लगता है, तब ताप शनैः-शनैः कम होकर १५-१६ दिनमें शमन हो जाता है। इस रोगसे बहुधा ३० प्रतिशत रोगियोंकी मृत्यु हो जाती है। इनमें भी बालकोंकी हानि अधिक होती है।

मुँहपर मसूरिका अल्प संख्यामें हों, तो रोग बहुधा साध्य होता है; और मुँहपर जब पिड़िकाएँ घन (गाढ़ी) हो जाती हैं तब रोग घातक माना जाता है। मसूरिका और रोमान्तिका होनेसे पहले ज्वरकालमें पिटिका निकलनेसे पहले हथेली सूंघनेसे एक प्रकारकी (भाड़में चना भुनने की-सी) गन्ध आती है, इसपरसे इस रोगकी उत्पत्तिका कुछ अनुमान हो सकता है।

एलोपैथिक निदान।

व्याख्या—शीतला आशुकारी संक्रामक रोग है। इसमें शारीरिक उत्ताप-

वृद्धि और रोगनिर्णायक पिड़िकाएँ उपस्थित होती हैं जिनको घन उत्सेधावस्था (Papule), द्रवोत्पन्नावस्था (Vesicle), पूर्णद्रवावस्था (Pustule), और कठिनावरणावस्था (Crust), इन ४ अवस्थाओंकी प्राप्ति होती है। फिर ऊपरसे त्वचा निकलकर क्षत चिह्न होजाता है।

यह रोग कभी-कभी स्थानव्यापी और देशव्यापीरूप धारण कर लेता है। कभी सौम्य और कभी गम्भीर बन जाता है। जनपदव्यापी प्रकारमें रोगविषके निम्न दो प्रकारोंका आरोप किया जाता है:—

१. गम्भीर (Severe)—यह परम्परागत प्राप्त प्रकार है। इसकी मूलोत्पत्ति पूर्व प्रदेशोंमें हुई है।

२. सौम्य (Mild)—इसकी उत्पत्ति यूनाइटेड स्टेट आफ अमेरिका और वेस्ट इण्डिज आदि पश्चिम प्रदेशोंमें हुई है।

फिर इन दोनोंका मिश्रण होकर अन्तमें पहले या दूसरे प्रकारका जनपदव्यापी रोग फैल जाता है। इनमें जो गम्भीर प्रकार है वही मसूरिका (Small-pox) रूप धारण करता है।

इस रोगका प्रायः एक आक्रमण सबपर जीवनमें हो जाता है; और दूसरी बार आक्रमण क्वचित् होता है। इसकी संप्राप्ति किसी भी आयुमें होती है। बड़े बालकोंमें मृत्युसंख्या अत्यधिक होती है। यह रोग स्त्री और पुरुष सबपर समभावसे आक्रमण करता है। उष्ण ऋतुकी अपेक्षा शीतकालमें अधिक उपस्थित होता है। ऋतुओंका इससे खास बन्धन नहीं है।

निदान—इस रोगका विष सम्भवतः नासिका या मुखकी श्लैष्मिककलाद्वारा अथवा श्वसन मार्गद्वारा देहमें प्रवेश करता है। इसकी प्राप्ति मसूरिका रोगी से, रोगीके उपयोगमें आये हुए वस्त्र और आहार आदि से, ज्वर संप्राप्त और गुप्त मसूरिका विषयुक्त व्यक्तिद्वारा, मक्खियोंद्वारा और टीकोंद्वारा प्राप्त होता है। इसकी सम्प्राप्ति स्वस्थ व्यक्तियोंद्वारा नहीं होती।

जो मनुष्य इस रोगसे पीड़ित हुए हैं, वे निःसन्देह इस रोगको फैलानेमें साधनभूत हैं। पिड़िकाओंका आरम्भ हो तबसे लेकर त्वचा पूर्णरूपसे स्वच्छ न हो जाय, तब तक विष बाहर निकलता रहता है। सबसे अधिक विषोत्पत्ति पिड़िका-द्रव पूर्ण बननेपर होती है एवं शुष्क क्षत संरक्षक त्वचा संक्रामकताका मुख्य साधन है।

द्रवपूर्ण पिड़िकाएँ जो हथेली, पैरोंके तलवे या नाखूनोंपर हों, वे विदीर्ण नहीं होतीं, उन्हें काटकर दूर करना चाहिये। अन्यथा संक्रामक शक्ति शेष रह जाती है। मृत देह संक्रामक है। टीका निकालनेके पश्चात् उत्पन्न सौम्य मसू-

पिकामेंसे जो विप बाहर निकलता है वह भी संक्रामक बन जाता है।

निषेध काल—१६ दिन। शीतलाके लिये कॉरनटाइन १६ दिनकी निश्चित हुई है। किन्तु कितने ही रोगी २० दिन तक संक्रामक स्थितिमें रहते हैं।

संप्राप्ति—त्वचा, जिह्वा, तालु और स्वरयन्त्रपर पिड़िकाएं होना, आमाशय प्रसारित होना, श्वासनलिका प्रसारित होना, किन्तु स्फोट उत्पन्न होना, प्लीहावृद्धि और लसीका ग्रन्थियोंकी वृद्धि आदि उपस्थित होते हैं। रक्तस्रावात्मक प्रकारमें सब तन्तुओं और इन्द्रियोंमें रक्तस्रावकी प्राप्ति होती है।

मसूरिका प्रकार—१. सामान्य अपरिवर्त्तनशील प्रकार; २. रक्तस्रावात्मक प्रकार; ३. टीकाहत सौम्य प्रकार।

१. सामान्य अपरिवर्त्तनशील शीतला (Variola Vera)—इसमें पृथक् (Discrete) और मिलनशील (Confluent) ये दो प्रकार हैं।

२. रक्तस्रावात्मक शीतला (Haemorrhagic)—इसमें (१) श्याम शीतला या रक्तपित्तज (Black small-pox, Purpura variolosa); और (२) रक्तस्रावात्मक पिटिकायुक्त (Haemorrhagic pustular small-pox) ये दो विभाग हैं।

३. टीकाहत सौम्य प्रकार (Varioloid)—यह सौम्य प्रकार टीका निकाले हुए व्यक्तियोंमें प्रतीत होता है। इसकी अवस्थाओंका रूपान्तर जल्दी ही हो जाता है।

सामान्य अपरिवर्त्तनशील शीतला।

चयकाल—६ से १५ दिन। सामान्यतः १२ दिन (यह अच्छी तरह अपरिवर्त्तनीय)। सम्भवतः अन्तिम सीमा ५ से २१ दिन या अधिक। पूर्व लक्षणोंकी प्रतीति कुछ भी नहीं होती।

सम्प्राप्तिदर्शक अवस्थाएँ—१. आक्रमणावस्था; २. प्रारम्भिक पिटिकावस्था; ३. स्पष्ट रोगनिर्णायक पिटिकावस्था और ४. शुष्कावस्था।

१. आक्रमणावस्था (Stage of Invasion)—यह यथार्थमें मसूरिकाका पूर्वरूप है। सामान्यतः अकस्मात् आक्रमण। परिपक्व आयुवालोंको वेपन और शीत तथा बच्चोंमें आक्षेपसह। रोगदर्शक प्रारम्भिक लक्षण आगेकी ओर शिरदर्द (कभी शिरदर्दका अभाव), वमन, कौड़ीस्थानमें वेदना, पीठमें दर्द, बार-बार अन्यत्र वेदना होना, ये सब लक्षण लक्ष्य देने योग्य होते हैं।

ज्वर पहले दिन १०३° तक, नाड़ी द्रुत, मलावरोध, जिह्वा मलसे लिप्त, श्वसन पीड़ाकर, कण्ठ बहुधा क्षतयुक्त, व्याकुलता, उन्माद और बारम्बार प्रलाप,

गम्भीर शक्तिक्षय होजाना, त्वचा सामान्यतः शुष्क किन्तु पसीना निकलना और श्वासोच्छ्वास द्रुत होना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

सौम्य आक्रमणद्वारा प्रारम्भिक गम्भीर लक्षण उपस्थित हो सकते हैं; किन्तु गम्भीर आक्रमणद्वारा कदापि प्रारम्भिक सौम्य लक्षण नहीं होते।

२. प्रारम्भिक पिड़िकावस्था—पिड़िकाएँ सामान्यतः दूसरे दिन निकलती हैं। जनपद व्यापी प्रकारमें लगभग १५ प्रतिशत रोगियोंमें बारम्बार पिड़िका प्रकार अति पृथक्-पृथक् होजाता है। पिड़िकाएँ (१) शोणित ज्वरके समान रक्ताभ; (२) रोमान्तिकाके सदृश (ये विशेषतः मुख आदि बार-बार धोनेके स्थानोंमें); (३) लघु द्रवमय पिटिका (ये विशेषतः मुख आदि स्थानोंमें, अति कदाचित् शीतपित्तके धब्बेके समान और त्रिदोषज (Purpura) युक्त। इन तीनोंमेंसे लघु द्रवमय पिड़िकाएँ और व्यापक धब्बे सामान्यतः गम्भीर और रक्तस्रावी लक्षणोंद्वारा फिर उपस्थित होते हैं।

३. रोगनिर्णायक पिड़िकावस्था—इसमें २ उप विभाग हैं—१-पृथक्; २-सम्मिलित।

पृथक् पिड़िका प्रकार (Discrete form)।

इस प्रकारमें पिड़िकाएं अलग-अलग रहती हैं।

पिड़िकाओंका आक्रमण—तीसरे दिन होता है। पहले कपाल और हाथके मणिबन्धके पीछे प्रतीत होती हैं। उसी समय मुँहके भीतर और कण्ठके ऊपरके भागमें भी प्रतीत होती हैं। पिड़िकाएं मुख, ग्रीवा और अन्त भागोंमें फैलती हैं। अन्तमें निम्न अन्त भाग, पैरोंके तलवे और हथेलियोंमें होती हैं। ३ दिनके भीतर वे वृद्धिको प्राप्त होती हैं।

पिड़िकाओंका स्वभाव—पहले चिह्न होना, उत्सेध होना, द्रवोत्पन्न होना, द्रवपूर्ण होना और फिर कठिनावरणावस्था, ये सब क्रमशः उपस्थित होते हैं। प्रारम्भिक अवस्थामें चिह्न उत्पन्न होनेपर तेजस्वी, लाल दाग १।१० इञ्च व्यासके और दबानेपर अदृश्य होने वाले होते हैं। कुछ घण्टोंमें उभार होता है। बीमार होनेके ५ वें या ६ ठे दिन द्रवोत्पत्ति होती है। पिड़िकाएं स्पष्ट शिखरसह और बीचमें अवनत (या नाभि सदृश दबी हुई) १/५ इञ्च व्यासकी होती हैं। ८ वें दिन द्रव पूर्ण भर जाता है। स्थान शोथमय अस्वच्छ बनता है। आकार गुंजके समान भासता है। बीचमें नाभि-सा देखाव दूर हो जाता है। उसके चारों ओर गाढ़े रंगका चक्र बन जाता है। त्वचा अति सूज जाती है। यह परिपक्वावस्था मुखपर आरंभ होकर फैलती है। दाग गोलाकार होते हैं।

पिड़िकाओंका विभाजन—मुखमण्डल, मस्तिष्कके केश नीचेकी त्वचा,

अन्तभागका सीमाप्रदेश और पीठका ऊर्ध्व प्रदेश, इन स्थानोंमें दाग अत्यधिक संख्यामें होते हैं। उदर प्रदेश, छाती, अन्तभागका मध्यप्रदेश और पीठका निम्न प्रदेश इनपर दाग कम होते हैं। ये दाग हजारों होते हैं। विशेष पीड़ित भाग सामान्यतः खुला होता है। बगल और संधियोंको मोड़ने वाली पेशियोंकी सतहपर कम होती हैं।

लक्षण—धब्बे या पिड़िकाके आक्रमणके समय उत्ताप और लक्षण शमन होते हैं। परिपक्वावस्थाके साथ ८ वें दिन व्यापक लक्षण पुनः उपस्थित होते हैं। फिर गौण उत्ताप उपस्थित होता है। अति कण्डू और सूजी हुई त्वचामें अति पीड़ा होती है। मुखमण्डल खास वेदनादर्शक भासता है। नेत्रच्छद शोथमय और बन्द, मुख शुष्क और कण्ठसे निगलनेमें वेदना, तृषावृद्धि, प्रलाप मंद या अभाव, किन्तु गम्भीर अवस्था वाले रोगियोंमें तीक्ष्ण और घातक प्रलाप, गन्ध बहुधा रोगदर्शक, किन्तु बहुत समय चले जानेपर उपस्थित होना, ये सब लक्षण भासते हैं।

शुष्कावस्था (Stage of desiccation) लगभग १०वें दिन पिड़िकाएं फूटने और पूयस्राव होना प्रारम्भ होता है। फिर अति शीघ्र शुष्क होती हैं। पहले मुँहपर आरम्भ होता है। उत्ताप क्रमशः कम होता है और शुष्कावस्थाका प्रारम्भ होता है। १४ दिनके पश्चात् मुखमण्डलपर कठिन आवरण पृथक् होने लगता है। तीसरे और चौथे सप्ताह तक त्वचा निकलना चालू रहता है।

उत्ताप—पहले दिन १०३° से १०४°। वास्तविक पिड़िकाएं निकलनेपर कम होता है। पुनः परिपक्वावस्था होनेमें बढ़ता है और १० से १४ वें दिनके भीतर प्रशमन होनेका आरम्भ होता है।

प्लीहा और यकृत् स्पष्ट प्रतीत नहीं होते। मलावरोध रहता है।

अरिष्ट—गम्भीर लक्षणवाले रोगीको ८ दिनके पश्चात् मधुराकी अवस्था बढ़ती है और बलह्रास होने लगता है। फिर हृदयगति बन्द होती है। मृत्यु सामान्यतः १२ वें से १४ वें दिनके भीतर होती है।

सम्मिलित पिड़िकाप्रकार (Confluent form)।

इस प्रकारमें पिड़िकाएँ एक दूसरेसे मिल जाती हैं। प्रारम्भिक लक्षण सामान्यतः अति गम्भीर होते हैं। कितनेही रोगियोंमें कम मिली हुई रहती हैं। उसे अर्द्ध मिलित (Semi-confluent) कहते हैं।

पिड़िकाक्रमण—चौथे दिन या इसके पहले। पहले आरम्भ होनेपर पिड़िकाएँ बहुधा अति मिलनशील होती हैं। इन पिड़िकाओंकी अवस्था पृथक् पिड़िकाप्रकारके समान ही होती है। अधिक सौम्य प्रकारमें द्रवोत्पन्न होने-

वाली पिड़िकाएँ जल्दी पृथक् होती हैं। फिर मात्र पूर्ण द्रवावस्थाकी प्राप्ति होने-पर ही मिल जाती हैं। अधिक गम्भीर रोगियोंमें द्रवपूर्ण पिड़िकाएँ अति निकट होती हैं। त्वचा विशेषत: शोथमय और रक्तसंग्रह युक्त होती है। पिड़िकाके आक्रमणके साथ उत्ताप और लक्षणोंका क्षमन होता है; किन्तु पृथक् पिड़िका-वाले प्रकारके समान पूर्णत: नहीं।

८ वें दिन पिड़िकाएँ द्रवपूर्ण बनती हैं और संमिलन होता है। बृहद् उत्तान पिड़िकाएँ पूयमय स्फोटकका रूप धारण करती हैं। द्रवपूर्ण पिड़िकाएँ मुख, स्वरयन्त्र और ग्रसनिकामें भी होती हैं। गलेकी रसग्रन्थियाँ बहुत सूज जाती हैं, अति दुर्गन्ध आती है, व्यापक लक्षण पुन: लक्ष्य देने योग्य परिमाणमें उप-स्थित होते हैं, स्थिति दयाजनक भासती है। शारीरिक उत्ताप अधिक, नाड़ी द्रुत, अधिक तृषा और बार-बार प्रलाप, ये लक्षण भासते हैं।

पिड़िका-विभाजन—मुखमण्डल, हथेली और पैरोंके तलवेपर अत्यधिक सम्मिलित पिड़िकाएँ तथा हाथ-पैरपर छिन्न-भिन्न तथा धड़पर सर्वदा पृथक्-पृथक् पिड़िकाएँ होती हैं, नेत्र बन्द होते हैं, त्वचा स्पष्ट शोथमय होती है। मुखपर अधिक संख्यामें पिड़िकायें होनेपर जीवनके लिये भय उत्पन्न करती हैं।

शुष्कावस्था—द्रवपूर्ण पिड़िकाएँ फूटती हैं और पूय निकल जाता है; या बिना फूटे शुष्क हो जाती हैं। शुष्क छिलके तीसरे या चौथे सप्ताहमें बनते हैं। छिलका अति संलग्नशील होता है और उसे उपचारकी आवश्यकता रहती है। हथेली, पैरोंके तलवे और नाखूनोंमें जो पिड़िकाएँ बिना फूटी हुई शेष रहती हैं उनको काटकर दूर करना चाहिये।

साध्यासाध्यता—लक्षण सौम्य होनेपर १२ वें से १४ वें दिनके भीतर स्वास्थ्यकी प्राप्ति आरम्भ हो जाती है। शुष्कावस्था उपस्थित होती है और लक्षणोंका शमन होता है।

गम्भीर लक्षणोंकी सम्प्राप्ति होनेपर प्रलाप, बलह्रास और हृदयावरोध होकर १० वें से १४ वें दिनके भीतर मृत्यु होती है। रक्तस्राव होनेपर भी मृत्यु हो जाती है। एवं फुफ्फुसप्रदाह होनेपर मुक्तावस्थाके भीतर मरण होता है।

रक्तस्रावात्मक मसूरिका

(Haemorrhagic Small-pox)

इसमें दो प्रकार हैं। १. काली मसूरिका या त्रिदोषज रक्तस्रावी शीतला; २. रक्तस्रावी पिड़िकामय मसूरिका।

काली मसूरिका
(Black small-pox or Purpura variolosa.)

यह प्रकार जनपदव्यापी होनेपर बार-बार विविधता दर्शाता है। बड़ी आयु-वाले स्वस्थ मनुष्यपर इसका आक्रमण अत्यन्त सामान्य है। क्वचित् बच्चे और टीका लगाये हुये मनुष्य भी आक्रान्त होते हैं।

लक्षण—प्रारम्भिक लक्षण अन्य प्रकारोंके समान किन्तु सर्वदा गम्भीर होते हैं। पिड़िकाएँ दूसरे, तीसरे या चौथे दिन दीखती हैं। आक्रमणके साथ रक्तसंग्रहमय पिड़िकाएं उपस्थित होती हैं। बारम्बार उदरकी दीवारके पिछले निम्न भागमें प्रारम्भ होती हैं और जल्दी फैलती हैं। बाह्य त्वचा और अन्तस्त्वचाके विस्तृत भागमेंसे रक्तस्राव होता है, फिर सर्वत्र फैल जाता है। सामान्यत: श्लैष्मिक कलामेंसे रक्तस्राव होता है, तथा मूत्रमें रक्तस्राव (Haematuria), वमनमें रक्त (Haematemesis) और थूंकमें रक्त निकलना (Haemoptysis), ये सब प्रकार उपस्थित होते हैं।

स्थिति भयजनक होती है, चेहरा सूज जाता है, अभिष्यंद होकर नेत्रके रंगका परिवर्त्तन, बैंजनी रंगकी समान त्वचा होना, रक्तमय थूंक बनना और निःश्वास दुर्गन्धमय निकलना आदि लक्षण भासते हैं। अत्यन्त बलह्रास होकर शक्तिपात हो जाता है। अन्त तक बुद्धि समभाववाली साफ रहती है।

मृत्यु—३ से ५ वें दिनके भीतर या कभी छठे दिन। इस प्रकारमें कभी आरोग्य नहीं मिलता। दो समूह चिह्नित होते हैं।

१. प्रारम्भिक पिड़िकाएं सामान्यत: सूक्ष्म द्रवमय, पश्चात् त्रिदोषज रक्त-पित्त समान धब्बे; २ आक्रमणावस्थामें ही त्रिदोषज रक्तपित्त सदृश धब्बे। गुण-धर्म-दृष्टिसे पूर्ण द्रवयुक्त पिड़िकाएं उपस्थित नहीं होतीं और विक्षिप्त भावसे प्राप्त विकारमें रोगविनिर्णय होना कठिन होता है।

रक्तस्रावी पिड़िकामय मसूरिका
(Haemorrhagic Pustular Small-pox)

इसका प्रारम्भ गम्भीर अपरिवर्त्तनीय मसूरिकाके समान होता है। रक्त-स्रावका प्रारम्भ द्रवोत्पन्नावस्था या द्रवकी पूर्णावस्थामें होता है। रक्तस्राव पहले दागके चारों ओर उपस्थित चक्रमेंसे होता है फिर वह जल्दी फैल जाता है। रक्तस्राव सामान्यत: श्लैष्मिक कलामेंसे होता है। पृथक् पृथक् पिड़िकावाले प्रकारमें यदि रोगी अति जल्दी शय्यामेंसे खड़ा हो जाय, तो पैरोंपर दागोंके भीतर रक्तस्राव होता है।

इन सब प्रकारोंमें रक्तके भीतर अनेक केन्द्रवाले श्वेताणु उपस्थित होते हैं।

टीकाहत सौम्य प्रकार (Varioloid)

रक्तरसके भीतर कृत्रिम रोग-निरोधक क्षमता उत्पन्न करनेके प्रयोजनसे लगाये गये टीकेके फलस्वरूप इस रोगकी उत्पत्ति होती है। इसका आक्रमण हल्का और शीघ्र परिवर्त्तनशील होता है। अतः इसे निष्फल (Abortive) माना है। इसका आक्रमण अकस्मात् बलपूर्वक होता है। प्रारम्भिक लक्षण अन्य प्रकारोंके समान गम्भीर होता है। (शारीरिक उत्ताप, अति शिरदर्द, और पृष्ठवंशमें तीव्र वेदना आदि उपस्थित होते हैं)। त्वचापर अस्थायी लाली (धब्बे), घन उत्सेधके समान तीसरे या चौथे रोज उपस्थित होते हैं। धब्बे निकलनेके साथ शारीरिक उत्ताप और लक्षण शमन हो जाते हैं। दूसरी बार ज्वर नहीं आता। द्रवोत्पन्नावस्था और द्रवपूर्णावस्थाका समय कम होता है। वृद्धिके अवरोधमेंसे विभिन्न प्रकार उपस्थित होते हैं।

शीतलाके दाग क्वचित् ही रह जाते हैं। टीका लगानेके ५ वर्षके भीतर मसूरिकाकी प्राप्ति होनेपर गम्भीर स्वभाववाली शीतला क्वचित् ही होती है; किन्तु कभी-कभी यह अशुभ परिणाम ला देती है।

वक्तव्य—ये रोगी रोग फैलानेकी क्षमता वाले हैं और संक्रामित करके अति अनिष्टकर परिणाम ला देते हैं। अतः पूर्ण सम्हाल रखना चाहिये।

कितनेही टीका लगाये हुए व्यक्तियोंको केवल आरम्भिक ज्वरकी प्राप्ति मात्र होती है; धब्बे पिड़का नहीं होते। वे भी अज्ञातभावसे विषको फैलाते हैं।

मसूरिका जन्य उपद्रव—

१. फुफ्फुस-प्रदाह—यह सब प्रकारके अशुभ रोगियोंमें उपस्थित होता है।

२. प्रलाप और मूर्च्छा—बालकोंमें सामान्यतः आक्षेपयुक्त।

३. स्वरयन्त्र प्रदाह—स्वरयन्त्र द्वारपर शोथ आजाय तो फिर श्वसन-क्रियामें कष्ट होता है या तरुणास्थिका कोथ होता है।

४. मूत्रमें शुभ्र प्रथिन (अल्ब्यूमिन)—यह कभी होता है; वृक्कप्रदाह क्वचित् ही होता है।

५. अभिष्यन्द-यह सामान्य है; किन्तु सम्हाल रखनेसे परिहार हो सकता है।

६. शुक्लमण्डल (Cornea) का प्रदाह (फूला हो जाना)—यह कभी सम्मिलित प्रकारमें होता है।

७. विषमय रक्तज त्रिदोष (Septicaemia)—यह द्रवकी पूर्णावस्थामें या आगे उपस्थित होता है।

८. मस्तिष्क मज्जाप्रदाह—यह अति क्वचित् होता है।

भावीक्षति—

१. व्रणचिह्न-संमिलित पिड़िकाओंके निकलनेपर चेहरेपर दाग रह जाते हैं।

२. स्फोटक और विद्रधि—अति क्वचित् और दुःखदायी होते हैं। व्रणके क्षतमेंसे कभी-कभी कोपाणुओंके तन्तुओंका प्रदाह और विसर्पकी प्राप्ति हो जाती है।

३. अस्थिमज्जाप्रदाह—अस्थिकी उत्पत्तिमें न्यूनता रह जानेपर होता है। यह पूयोत्पादक नहीं।

इनके अतिरिक्त रोगशमनान्ते ज्वर, मानस विकृति, सीमान्त नाड़ियोंका प्रदाह आदि होते हैं। कभी-कभी दूसरी बार पिड़िकाएँ उपस्थित होती हैं, ये किसी स्थानमेंसे त्वचाका पर्त निकल जानेपर होती हैं।

साध्यासाध्यता—

१. टीका लगाये हुए मनुष्योंमें मृत्युसंख्या अति कम प्रतिकूल परिस्थितिमें रहे हुए बहुत कम मनुष्योंकी मृत्यु होती है। सफलतापूर्वक पुनः टीका लगानेपर मृत्युसंख्याका अभाव होता है।

२. टीका न लगाये हुए मनुष्योंमें, विशेषतः बालकोंकी मृत्यु अत्यधिक होती है। बालकोंके पश्चात् २५ से ३५ वर्षकी आयुवालोंमें अधिक हानि पहुँचती हैं।

३. शय्यागत रोगियोंमेंसे रक्तस्रावी प्रकारमें सबके अनिष्टकी प्राप्ति होनेका अनुभव हुआ है। संमिलित प्रकारमें ५० प्रतिशतकी मृत्यु। पृथक् प्रकारमें मृत्यु परिमाण ५%।

४. विशेष लक्षण—कितनेकोंमें मुँहपर विशेष दाग रह जाते हैं। प्रलाप, अधिक उत्ताप, स्वरयन्त्र-प्रदाह और फुफ्फुस-विकृति, विशेषतः बालकोंमें, ये सब अशुभ लक्षण हैं।

५. जनपदव्यापी प्रकोपकी उग्रता, यह अत्यधिक रूपान्तर कराती है।

रोगविनिर्णय—पिड़िकायें उपस्थित होनेके पहले रोगनिर्णय नहीं हो सकता। कभी-कभी सौम्य प्रकार और मोतिया (लघु मसूरिका) के निर्णयमें अति कठिनता उपस्थित होती है।

अतः दोनोंके पार्थक्य-दर्शक लक्षण यहाँ देते हैं।

मसूरिका	मोतिया
१. बलह्रास।	बल ह्रास नहीं होता।
२. पिड़िकाएँ केन्द्रसे दूरगति करने	पिड़िकाएँ केन्द्रकी ओर बढ़ने

वाली (ये मुख और ग्रीवापर प्रथमावस्थामें प्रतीत होती हैं)	वाली।
३. पिड़िकाएं गहरी, किन्तु अण्डाकार नहीं होतीं।	पिड़िकाएं उत्तान और अण्डाकार।
४. पिड़िकाएं पहले दाग, उभार, ईषत् रक्तवर्ण सूक्ष्म गुटिका, फिर द्रवोत्पत्ति तथा पूय वटीमें परिवर्त्तन।	क्षुद्र रक्ताभ दाग होकर कुछ घंटोंमें रसपूर्ण अण्डाकार पिड़िका हो जाना। इसमें रस पतला होता है।
५. विशेषत: ज्वराक्रमणके तीसरे दिन गुटिका निकलना। गुटिका निकलनेपर ज्वरका ह्रास होता है।	विशेषत: पहले ज्वर नहीं आता। क्वचित् ही ज्वर पहले आता है। गुटिका निकलनेपर भी ज्वरका ह्रास नहीं होता।
६. पिड़िकाओंकी उत्पत्ति और स्थितिमें दीर्घ समय लगता है।	कितनी ही पिड़िकाओंका रस भरना और सूखना अति जल्दी (केवल दिनमें) हो जाता है।

मसूरिकाकी प्राथमिक लाली या धब्बे, शोणित ज्वर, रोमान्तिका और जर्मन रोमान्तिका (Rubella) में समान होते हैं; किन्तु अन्य लक्षणोंमें भेद होता है।

इनके अतिरिक्त एक सौम्य प्रकार, ब्राझिल (दक्षिण अमेरिका) और आफ्रिकामें प्रतीत होता है। वह लगभग २५ वर्षसे ग्रेटब्रिटेनमें भी उपस्थित हुआ है, उसे गौण मसूरिका (Variola minor-Varioloid Varicella-Para-variola-Alastrim-Amaas) कहते हैं। यह जनपदव्यापीरूप धारण करता है। मृत्युसंख्या तुच्छ मानी जाती है। यह प्रकार अभी तक भारतमें प्रतीत नहीं होता। अत: इसका वर्णन नहीं किया गया है।

कभी-कभी जन्मजात (Congenital) मसूरिका भी उपस्थित होती है। यह विकार माताको सगर्भावस्थामें शीतला होनेपर गर्भस्थ सन्तानको प्राप्त हो जाता है।

शीतला प्रतिबन्धक उपाय।

यह रोग अत्यन्त संक्रामक और स्पर्शाक्रामक है। अत: रोगीको एकान्तमें रखना चाहिये। रोगीके कमरेमें अधिक सामान न होना चाहिये। कमरा शुद्ध वायु और प्रकाशवाला होना चाहिये। मक्खियोंको कमरेमें न आने देवें। रोगीकी परिचर्या करनेके लिये ऐसी परिचारिका या परिचारकको रखना

चाहिये कि, जिसे पहले शीतला निकल चुकी हो और शरीरसे स्वस्थ हो। पालकीमें विशेष वस्त्र बिछाकर यदि रोगीको शहर या ग्रामसे बाहर एकान्तमें ले जाया जाय तो विशेष अच्छा माना जायगा। किसी व्यक्तिको रोगीसे मिलने नहीं देना चाहिये। अन्यथा अज्ञानपूर्वक रोग दूसरेको लग जाता है।

इस रोगमें रोगीकी देहपरसे निकली हुई वायुद्वारा पिड़िकाओंपरसे विष फैलता रहता है। वहाँ कपड़े या अन्य सामान पड़ा हो, उसमें प्रवेशित विष वर्षों तक जीवित अवस्थामें रह जाता है। अतः रोगका शमन होनेपर कपड़े, सामान और कमरेको अच्छी तरह विषमुक्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस उद्देश्यसे कमरेमें प्रतिदिन प्रातः-सायं धूप करना चाहिये या लोबान, गूगल आदि जलाना चाहिये। नीलगिरी तैलकी बाष्प चारों ओर फैलानेसे भी विष नष्ट हो जाता है।

जब तक रोगी स्वस्थ न हो जाय, पिड़िकाओंके छिल्के बिल्कुल न निकल जायँ, तब तक रोगीको बाहर न निकलने देवें।

कमरेमें रोज सूर्यका ताप कुछ समय तक आता रहे तो वायु शुद्ध होती रहती है। किन्तु रोगीको धूप न लगने देवें।

कमरेके द्वारपर ताजे नीमकी टहनियाँ रोज बांधते रहें। तथा खिड़कीपर लाल कपड़ा लटकाकर रोगीके शरीरपर प्रकाश आने देवें।

रोगीके पास यथार्थमें परिचारिकाके अतिरिक्त किसीको न जाने देवें। फिर उपदंश रोगी, कुष्ठपीड़ित, रक्तविकारके रोगी, रजस्वला और मलिन व्यक्तिको जानेसे अवश्य रोक देना चाहिये।

परिचारिकाको पवित्रताका पूर्ण लक्ष्य रखना चाहिये एवं बाहर अन्य मनुष्योंके पास नहीं जाना चाहिये। रोगीके वस्त्रोंको रोज बदल देवें।

नव्य मत अनुसार दाने सूखनेपर जब तक खुरण्ट नहीं उतर जाते तब तक रोज जन्तुघ्न धावन (कार्बोलिक लोशन या अन्य) से देहको पोंछते रहना चाहिये।

रोगीके मलमूत्र, मुख और नासिकासे निकलनेवाले श्लेष्म एवं मुख धोनेका जल आदिके पात्रोंको अलग रखें। इन मलमूत्र आदिपर चूना या राख तुरन्त डाल दें और फिर जमीनमें दबा दें एवं बर्तनोंमें भी अग्नि डालकर शुद्ध कर लेवें।

रोग शमन हो जानेपर कमरेको जन्तुघ्न द्रवसे धो देना चाहिये या चूना छिड़कवाना चाहिये। बिल्कुल कमरा खाली कर, वहां गन्धकका धूआँ देकर कुछ घण्टों तक कमरा बन्द कर दिया जाय, तो विशेष अच्छा माना जायगा।

रोगीकी मृत्यु हो जाय, तो शवको उग्र जन्तुघ्न द्रवसे धोकर जन्तुघ्न द्रव-

पूर्ण वस्त्र लपेट देना चाहिये। फिर अन्त्येष्टि क्रियाके लिये ले जाना चाहिये।

आयुर्वेदिक चिकित्सक वर्गके मत अनुसार प्रसवके पश्चात् नाल छेदनके समय बच्चेकी नालमें १-२ चावल कस्तूरी रखदी जाय तो उसे बहुधा चेचक नहीं निकलती।

चेचकके प्रकोप कालमें बड़े रुद्राक्षको जलमें घिसकर एक सप्ताह पर्यन्त रोज सुबह पीते रहनेसे चेचकका भय दूर होता है; अथवा रुद्राक्ष और काली-मिर्चका चूर्ण १-१ माशा ७ दिन तक बासी जलके साथ प्रातः कालको देते रहने या बनकेलेके ७-८ बीजोंका चूर्ण दूधके साथ देते रहनेसे मसूरिका रोग नहीं होता।

रोगोपशामक चिकित्सोपयोगी सूचना।

रोगीको ज्वरावस्थामें दूध और फलोंके रसपर रखना हितकारक है, अन्न नहीं देना चाहिये। ज्वर कम होजानेपर दूध-भात या दूध दलिया देवें। नमक खिलानेसे कण्डूकी वृद्धि होती है एवं मिर्च भी कण्डूवृद्धिमें सहायता पहुँचाती है।

रोगका शमन होनेपर भी १ मास तक पथ्यपालन करना चाहिये। तैल, मिर्च, खटाई, तमाखू, धूम्रपान, बासी पदार्थ और रक्तको दूषित करनेवाले पदार्थोंका त्याग कराना चाहिये।

मसूरिकाके दाने करवट बदलनेपर या खुजानेपर टूट न जायँ, इस बातका ध्यान रखना चाहिये अन्यथा विष प्रकुपित होता है। वहाँपर बड़ादाना बनता है और फिर रोगके शमन होजानेपर भी दाग रह जाता है। छोटे बालक खुजाकर दाने न तोड़ दें, इस बातका लक्ष्य परिचारिकाको रखना चाहिये।

रोगीको दूध आदि देनेके पहले कुल्ले करा लेवें और फिर भी जन्तुघ्न धावन (बोरिक धावन या त्रिफला कषाय या पञ्चवल्कल क्वाथ) से अच्छी तरह कुल्ले कराने चाहिये।

इस रोगके क्रमका प्रतिबंध कर सके, ऐसी एक भी औषध नहीं है। मसूरिका निकलनेके पहले सौम्यपाचन औषध देकर ज्वरका पचन कराया जाय तो मसूरिकाका विष विशेष प्रकुपित नहीं होता। मलावरोध हो, तो उदर-शुद्धिकर स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण आदि औषध देना हितकर है। बालकोंके लिये ग्लिसरीनकी वर्ति चढ़ानेसे उदरशुद्धि हो जाती है।

कितने ही डाक्टर या वैद्य रोग-निर्णय होनेके पहले विषम ज्वर मानकर किनाइन या ज्वरको शीघ्र शमन करनेवाली अन्य औषध दे देते हैं वे भूल करते हैं। ऐसी औषधसे विष अधिक प्रकुपित होता है।

एलोपैथिक मतानुसार ज्वर अधिक हो और शिरदर्द होता हो, तो मस्तिष्क-पर बर्फ या शीतल जलकी थैली रखवाते हैं।

यदि वान्ति होती हो, तो वान्तिको दूर करनेवाली औषध गुडूच्यादि क्वाथ, दुरालभादि क्वाथ या पटोलादि क्वाथ या अन्य देते रहना चाहिये।

बालकोंको प्रलाप और आक्षेप उपस्थित हों तो कस्तूरी प्रधान औषध या लक्ष्मीनारायण रस देना चाहिये। एलोपैथीमें ऐसी अवस्था होनेपर रोगीको उष्ण जलसे स्नान कराते हैं।

तृषा अधिक हो, तो सन्तरा या मोसम्मीका रस देवें या नींबूका रस जलमें मिलाकर देवें।

एलोपैथीमें पिड़िकाओंके ऊपर झिंक ऑक्साइड (जसद पुष्प) या बोरिक एसिड लगाते हैं। जब पूयोत्पत्ति हो जाय तब वस्त्रोंको पूय लग जानेपर बार-बार बदलनेकी योजना करनी चाहिये एवं व्रणोंको जतुघ्न धावनसे धोते रहना चाहिये।

पिड़िकाओंमें खुजली चलनेपर चर्मरोगनाशक तेल लगाना चाहिये, या जैतूनका तेल और चूनेके जलको मिला मलहम बनाकर लगाना चाहिये।

पूयोत्पत्ति होनेपर विशेषतः ज्वर उपस्थित होता है, रोगीको निगलनेमें भी कष्ट पहुँचता है। ऐसे समयपर हृदयपौष्टिक और ज्वर निवारक औषध-लक्ष्मीनारायण + प्रवाल + मधुरान्तक वटी देना अति हितकारक है। अनुपान-रूपसे वातज, पित्तज या कफज मसूरिकामें लिखे क्वाथमेंसे कोई भी एक देना चाहिये।

कभी-कभी मुख, नासिका, पश्चात् नासारन्ध्र और कण्ठ-नलीके भीतर विषप्रकोपजनित शोथ उपस्थित होता है। फिर श्वसन क्रिया और जलपान आदिमें कष्ट पहुँचता है। ऐसे समयमें संक्रामक औषध, त्रिफला कषाय या निम्बपत्र कषाय या बोरिक एसिडके धावनके कुल्ले कराने चाहिये एवं नासिकामें चर्मरोगनाशक तेलकी नस्य करानी चाहिये।

गम्भीर आक्रमण होनेपर अक्षिपुट अतिशय शोथमय बन जाते हैं, नेत्र नहीं खुल सकते। निमीलित पलकके कोनेमेंसे पूय-स्राव होता है, कुछ पूय नासा-मार्गमें जाता है। इस अवस्थामें नेत्रको शुद्ध रखनेका प्रयत्न करना चाहिये। निवाये बोरिक धावनद्वारा या निम्बपत्रके उबाले हुए जलसे बार-बार नेत्रोंको धोते रहना चाहिए एवं इसी धावनसे सेक करना चाहिए या उसके फोहे ऊपर रखना चाहिए।

नेत्रको सम्हालपूर्वक खोलें। यदि गोलकमें पाक हुआ होगा और किञ्चित् भी उसपर दबाव आवेगा, तो तत्काल गोलक फूट जायगा। यदि अधिक शोथ आनेके पहलेसे रोज नेत्रोंको खोलकर साफ करते रहें और थोड़े-थोड़े समय तक मन्द प्रकाशमें खुले रहने देवें, तो नेत्रमें व्रण या पूय होनेका डर कम रहता है।

रोगीको मन्द प्रकाशमें रखना चाहिये। तेज प्रकाश नेत्रोंको हानि पहुँचाता है एवं परिपक्वावस्थामें कष्ट पहुँचाता है। इस रोगमें हृदयावरोध होकर अनेक बालक चले जाते हैं। अतः नाड़ी शिथिल होनेके कुछ लक्षण उपस्थित हों तबसे हृदयपौष्टिक उत्तेजक औषध देते रहना चाहिये। इसका विशेष विचार नेत्ररोगके नेत्र श्लेष्मावरण चिकित्सा प्रकरणमें किया गया है।

कुष्ठ रोगपर कही हुई लेपनादि क्रिया और कफ-पित्त प्रधान विसर्पपर जो चिकित्सा कही है; वह इस रोगमें भी लाभदायक है। कुष्ठ रोगमें कहे हुए पंचतिक्तक घृतका उपयोग खाने, पीने और मालिशके लिये किया जाता है।

इस व्याधिमें गरम करके शीतल किया हुआ जलपान और औषधियोंका शीतल क्वाथ (हिम) देना चाहिये। जल गरम करनेके समय खैर और विजय-सारकी छाल मिला लेना विशेष हितकर है।

मसूरिका चिकित्सा।

विषको बाहर निकालने और ज्वर विषका पचन करानेके लिये—नागरादि पाचन या अन्य पाचक औषध प्रारम्भमें देनी चाहिये। अथवा लक्ष्मी नारायण + प्रवालपिष्टी और मधुरान्तक वटी देते रहें।

शीतलाका पाक शीघ्र होनेके लिये—(१) पिड़िकाओंके पाक कालमें गिलोय, मुलहठी, मुनक्का, ईखकी जड़ और अनारदानेको पीस, गुड़ (३ माशे) मिलाकर दें अथवा सबका क्वाथ कर, फिर गुड़ मिला कर देनेसे वातप्रकोप नहीं होता और सरलतासे दाने पक जाते हैं।

(२) बेरका चूर्ण घी मिलाकर देनेसे भी वातज, पित्तज और कफज शीत-लाका शीघ्र पाक हो जाता है।

(३) सब प्रकारकी मसूरिकाओंमें परवल, नीम और अडूसा, तीनोंके पानीको मिला, क्वाथकर उसमें वच, कूड़ेकी छाल, मुलहठी और मैनफलका कल्क मिलाकर वमन करानेके लिये पिलाना हितकर है।

(४) करेलेके पत्तोंके ४ तोले रसमें ३ माशे हल्दी मिलाकर पिलानेसे वमन विरेचन होकर देह शुद्ध होती है और रोमान्तिका, विस्फोटक और मसूरिकाका विष दूर होता है।

(५) वनकेलेके ७ बीजोंका चूर्णकर शहद या दूधके साथ देनेसे शीतला नहीं निकलती। यदि माता निकलनेपर भी खिलाया जाय, तो भी अधिक त्रास नहीं होता।

(६) छोटे बालकको शीतला निकलनेपर गधीका दूध पिलाना हितकर

माना गया है।

(७) रुद्राक्ष और काली मिर्चका चूर्ण बासी जलके साथ देनेसे मसूरिका रोग नष्ट हो जाता है।

मसूरिका शामक धूप—(१) बच, घी, बाँस, नील, जौ, अडूसा, वनकपासके बिनौले, ब्राह्मी, तुलसी, अपामार्गके पान और लाख, इन ११ औषधियोंको मिला लें, फिर निर्धूम गोबरीकी अग्निपर डाल, धूंआ देनेसे रोमान्तिका और मसूरिका आदि रोग शमन हो जाते हैं।

(२) राल, हींग और लहसुनकी धूप देते रहनेसे पिटिकाके कृमि मर जाते हैं।

(३) सरल, देवदारु, अगर और गूगलकी धूप देते रहनेसे मसूरिका शान्त हो जाती है।

यदि शीतला मुँहपर अधिक निकले, तो मुँहपर बकरी या गौके कच्चे दूधमें भिगोया कपड़ा रखनेसे नेत्रको हानि नहीं पहुँचती और मसूरिकाके दाग भी नहीं रहते। मुखको फिर धोते रहनेका भी लक्ष्य रखना चाहिये।

मसूरिका निकलनेके पहले दोष पचनार्थ—रत्नगिरी रसको धनियाँ और मिश्रीके हिमके साथ दो दिन तक दिनमें २ समय देते रहनेसे विष शीघ्र बाहर निकलता है और त्रास कम होता है। साथ-साथ प्रवालपिष्टी २-२ रत्ती दिनमें ३ समय शहदके साथ दें। फिर शेष दिनोंमें लक्ष्मीनारायण रस देते रहना चाहिये। मधुरान्तक वटी और प्रवालपिष्टी मिला, देते रहना हितकर है।

वातज मसूरिका चिकित्सा।

(१) **दशमूलादि क्वाथ**—दशमूल, रास्ना, दारुहल्दी, खस, धमासा, गिलोय, धनिया और नागरमोथा, इन १७ औषधियोंका क्वाथ कर, दिनमें २ समय पिलाते रहनेसे वातज मसूरिका शीघ्र पक और ढलकर शमन होजाती है।

(२) **गुडूच्यादि क्वाथ**—गिलोय, मुलहठी, रास्ना, लघु पंचमूल, रक्त-चन्दन, गम्भारीके फल, खरैंटीकी जड़ और कत्था, इन १२ औषधियोंको मिला, क्वाथकर पाक-कालमें पिलानेसे दाने बिना कष्ट शीघ्र पक जाते हैं।

(३) दानोंका पाक होजानेके पश्चात् वातप्रकोप बहुधा हो जाता है अतः पाक होनेपर, पटोलादि क्वाथ देते रहना चाहिये।

(४) यदि वातप्रकोप होजाय, तो सूतशेखर रस (वात-पित्त प्रकोप हो, तो) या महावातविध्वंसन रस (केवल वातात्मक हो, तो) पटोलादि क्वाथके साथ देते रहें।

पित्तज मसूरिका चिकित्सा।

(१) **द्राक्षादि क्वाथ**—मुनक्का, गम्भारी, खजूर, परवलके पत्ते, नीमके

पत्ते, अडूसेके पत्ते, खील, आँवला, धमासा, इन ६ औषधियोंका क्वाथकर मिश्री मिलाकर दिनमें ३ समय पिलाते रहनेसे पित्तज मसूरिकाको वेदना शमन हो जाती है।

(२) निम्बादि क्वाथ—नीमकी अन्तरछाल, पित्तपापड़ा, पाठा, परवलके पत्ते, कुटकी, अडूसा, धमासा, आँवले, खस, सफेद चन्दन, लाल चन्दन, इन ११ औषधियोंका क्वाथकर, मिश्री मिलाकर पिलानेसे पित्तप्रधान मसूरिका, ज्वर, विसर्प और मसूरिकाजन्य उपद्रव दूर होते हैं।

कफज मसूरिका चिकित्सा।

(१) दुरालभादि क्वाथ—धमासा, पित्तपापड़ा, चिरायता और कुटकीका क्वाथ कर पिलानेसे कफज और पित्तज मसूरिका शमन होती है।

(२) वासादि क्वाथ—अडूसा, नागरमोथा, चिरायता, त्रिफला, इन्द्रजौ, धमासा, कड़वे परवलके पत्ते और नीमकी अन्तरछाल, इन १० औषधियोंका क्वाथकर दिनमें २ समय पिलाते रहनेसे कफज मसूरिका नष्ट होती है।

विशिष्ट-लक्षण-चिकित्सा।

दाहशमनार्थ—(१) वासीजलमें शहद मिलाकर पिलानेसे मसूरिकाका विष नष्ट हो जाता है फिर जलन भी शान्त होजाती है।

(२) प्रवालपिष्टी २-२ रत्ती, दिनमें ३ समय गुलकन्द या गिलोयसत्व और शहदके साथ देनेसे दाह, विष और तीव्र ज्वरमें शांति रहती है।

(३) सिरस, गूलर, पीपल, लिहसोड़े, बड़ और कूड़ा, इन वृक्षोंकी छालको कूट कपड़-छान चूर्ण कर कल्क करें। फिर घी मिलाकर लेप करनेसे व्रण, फफोले और दाह नष्ट होते हैं।

(४) निशादि लेप—हल्दी, दारुहल्दी, खस, सिरसकी छाल, नागरमोथा, लोध, सफेद चंदन, नागकेशर इन ८ औषधियोंको जलमें पीसकर लेप करनेसे विस्फोटक, विसर्प, कुष्ठ, दुर्गन्ध, स्वेद और रोमांतिका ये सब दूर होते हैं।

बिजौरेकी केशरको काँजीमें पीसकर लेप करनेसे मसूरिकाका पचन शीघ्र होता है; और दाह कम होजाता है।

शूल, अफारा, कम्प आदि उपद्रव हों, तो—जंगली प्राणियोंका मांसरस सैंधानमक मिलाकर पिलावें।

अरुचि हो, तो—(१) अदरकका कवल धारण करें या अनारदानोंका रस मिला हुआ यूप पिलावें।

(२) छोटी पीपल और हरड़का चूर्ण १ माशा दिनमें २-३ बार शहदके साथ चटानेसे कण्ठ शुद्ध होता है।

(३) अष्टांगावलेहिका चटावें।

मुख या कण्ठमें फाले हो जायें, तो—चमेलीके पत्ते, मजीठ, दारुहल्दी, चिकनी सुपारी, शमी (खेजड़े) की छाल या जड़, आँवला और मुलहठी इन ७ औषधियोंका क्वाथ कर शहद मिला लें फिर उससे कुल्ले करावें। इस क्वाथको जातिपत्रादि क्वाथ कहते हैं।

नेत्ररक्षाके लिये लेप और आश्च्योतनार्थ—(१) उबाल, छानकर स्वच्छ-किया हुआ एरंड तैल एक-एक बूंद नेत्रमें डालते रहें।

(२) मधुकादि लेप (दूसरी विधि) नेत्रमें डालें और बाहर लेप भी करें।

नेत्रमें शुक्र होजाने पर—गधेकी दाढ़ शहदमें घिस, कपूर मिला, प्रातः सायं अंजन करते रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें फूला कट जाता है।

फूटी हुई मसूरिका पर—(१) बड़, पीपल, गूलर, पिलखन और पारस पीपल, इन ५ वृक्षोंकी छालका चूर्ण बुरकावें।

(२) उपलोंकी राखको कपड़छानकर बुरकाते रहें।

फूटे हुए दानोंको धोनेके लिये—(१) पंचवल्कल क्वाथ या नीमके पत्तोंके क्वाथका उपयोग करें।

(२) त्रिफला और गूगलके क्वाथसे धोनेपर फूटी हुई मसूरिकाकी जलन शान्त हो जाती है। साथमें खदिराष्टक क्वाथ पिलानेसे लाभ होता है।

कोहनी, पोंचे या कन्धेपर व्रण-शोथ होनेपर—दशांग-लेप, व्रण शोधक लेप या अन्य व्रणशोथनाशक लेप करें, अथवा जौंकें लगवाकर दोषको निकाल डालें और फिर लेप-सेक आदि उपचार करें।

मसूरिका भीतर समा जाय, तो—अर्थात् क्वचित् मसूरिकाके दाने बाहर आकर फिर भीतर बैठ जाते हैं, ऐसा हो, तो उनको निकालनेके लिये सुवर्ण-माक्षिक भस्म ४-४ रत्ती दिनमें ३ समय शहदके साथ दें, ऊपर कचनारकी छालका क्वाथ पिलावें या कस्तूरी आध-आध रत्ती और जावित्री २-२ रत्ती दिनमें दो बार नागरवेलके पानमें देवें।

हृदयकी निर्बलता आजानेपर—हेमगर्भपोटली रस देवें या रससिन्दूर १ रत्ती और प्रवाल पिष्टी २ रत्ती शहद-पीपलके साथ दिनमें २ समय दें या द्राक्षासव २॥ से ५ तोले दिनमें २ समय पिलाते रहें।

अतिसार हो जाय, तो—रसपर्पटी या सर्वाङ्गसुन्दर रस या बालअतिसार हर चूर्ण थोड़ी-थोड़ी मात्रामें दिनमें ३ बार देते रहें या जायफल जलमें घिस कर दें।

कास प्रकोप हो, तो—खदिरादि वटी या कर्पूरादि वटी दिनमें १०-१५ गोली तक चूंसनेको देते रहें।

उदर शूल हो, तो—पेटपर एरंड तैल लगा, गरम जलसे सेक करें।

आफरा हो, तो—दारुषट्क (देवदारु, बच, पुष्करमूल, सोया, हींग और सैंधानमक) के लेपको काँजीमें पीस, गरमकर उदरपर लेप करें। आफरा रहे तक तक बार-बार लेप लगाते रहें।

वृक्कशोथ हो, तो—शिलाजीत ४-४ रत्ती अथवा रालका चूर्ण ४ रत्ती और मिश्री १ माशा मिला, सौंफके अर्कके साथ दिनमें २ समय देते रहें; तथा रोग-शमनके पश्चात् चन्द्रप्रभा वटी या देवदार्वाद्यरिष्ट कुछ दिनों तक देते रहें।

पैरोंमें दाह होता हो, तो—चावलोंके धोवनसे शीतल सेक देना चाहिये।

दाने सूखने लगते हैं तब कण्डू शमनार्थ—(१) एरण्ड तैल या निम्बकी निम्बौलीका तैल लगाते रहनेसे खुजली नहीं आती।

(२) चर्मरोग नाशक तैल या बालरक्षक तैल लगाते रहें।

दाग दूर करनेके लिये—शरीरशुद्धि प्रकरणमें मुखलेप वर्णनमें वर्णशुद्धिकर लेप लिखे हैं, उनमेंसे किसी एकका ५-१० दिनतक उपयोग करें।

इस रोगका प्रारम्भ होनेके पहले अथवा ज्वर आ जानेके पश्चात् प्रवाल-पिष्टी और रत्नगिरी रसका सेवन कराना लाभदायक है। रत्नगिरी रस अनेक ज्वरोंपर निर्भयतापूर्वक विष बाहर निकालनेके लिये दिया जाता है। मसूरिका निकलकर रोगनिर्णय हो जानेपर लक्ष्मीनारायण रस + मधुरान्तक वटी और प्रवालपिष्टी योग्य मात्रामें निम्बादि क्वाथके साथ देते रहें; मसूरिकाके पाक हो जानेके पश्चात् भी वही औषध शहदके साथ दें तथा पटोलादि क्वाथ पिलाते रहें। इससे मसूरिका रोग बिना उपद्रव अच्छा हो जाता है।

यदि किसी रोगीके लिये चिकित्सा योग्य रीतिसे न हुई हो, या विषकी अधिकतासे कोई उपद्रव हो जाय तो उपद्रवको दूर करनेकी चिकित्सा शीघ्र करनी चाहिये। उपद्रवोंकी भिन्न-भिन्न चिकित्सा ऊपर दी है।

निर्बल शरीरवालेको मसूरिका खूब अधिक परिमाणमें निकली हो, रक्तकी न्यूनता, विषप्रकोपकी अधिकता, हृदयकी निर्बलता या वृक्कदाह आदि दोष हो जायें, तो निम्न लिखित इन्दुकला वटी देते रहना चाहिये :—

इन्दुकला वटी—शुद्ध शिलाजीत, लोहभस्म और सुवर्णभस्म, तीनोंको समभाग मिला, वनतुलसीके स्वरसमें ३ दिन खरलकर, १-१ रत्तीकी गोलियाँ बना छायामें सुखा लेवें। इनमेंसे एक-एक गोली दिनमें २ समय निम्बादि क्वाथ या पटोलादि क्वाथके साथ देते रहनेसे मसूरिका, विस्फोटक, ज्वर, रक्तविकार और व्रणरोग दूर हो जाते हैं।

एलोपैथी चिकित्सा।

वेदना अधिक हो या प्रलाप अथवा निद्रानाश हो तो अफीमका उपयोग करें।

वमन होती हो तो १-१ तोला बर्फका जल पिलाते रहें या बर्फका टुकड़ा

मुँहमें रखवाकर चुंसाते रहें।

बड़े बालोंके भीतर पिड़िकायें होवें तो बालोंको कटवा देवें।

पिड़िकाओंकी प्रथमावस्थामें उनको कार्बोलिक धावन २% प्रतिशतका घोल लगाकर तर रखें (कण्डू उपस्थित हो तब भी यहीं उपचार हितकर है)।

खुरण्ट निकलने लगें तब उन्हें सूखने नहीं देना चाहिये। मुँहपर वेसलीन और अलसीकी पुल्टिसकी पतली तह लगाया हुआ कपड़ा रखें और उसे बार-बार बदलते रहें। देहपर रहे हुए खुरण्टोंको लगानेके लिये वेसलीन या ग्लिसरीनका उपयोग करते हैं। न फूटी हुई पिड़िकाएं, विशेषत: नाखून आदिके खुरण्टोंको काटकर फिर कीटाणुओंसे सुरक्षित रखें; उसपर तैल और लिनिमेण्ट (मर्दन) आदिसे उपचार करना व्यर्थ है। संभवत: खुरण्टका पूयपाक हो जावे तो विलम्ब होता है।

शीतलापर सल्फोनेमाइड्सका उपयोग हितकारक माना गया है। इससे विषप्रकोप कम होता है।

इस रोगमें उष्ण जलका स्नान अत्यन्त हितकारक है। इसे पूयोद्गम होनेपर, सम्मिलित पिड़िका होनेपर, विषप्रकोपज सन्निपात होनेपर और खुरण्टको शीघ्र पृथक् करानेके लिये प्रयोजित करना चाहिये। किञ्चित् पोटास परमेंगनेट मिलाना हितकर है। इसका मृदु (१.१००००) धावन भी विषको नष्ट करता है।

नेत्रोंकी आग्रहपूर्वक सम्हाल रखनी चाहिये।

रक्तस्रावी प्रकारका उपचार नहीं हो सकता।

हृदयकी क्षीणता होनेपर उत्तेजक औषधका सचार्क देना चाहिये। जिह्वाका अति शोथ होनेपर शस्त्र-चिकित्सा करानी चाहिये। स्वरयन्त्रका प्रदाह होनेपर श्वासनलिकामें छिद्र करानेकी आवश्यकता रहती है।

परिपक्वावस्थामें तीव्र प्रकाश हानि पहुँचाता है; अत: प्रकाशको मन्द कर देना चाहिये।

स्फोटक होनेपर ऊपरसे खोल कुछ समय तक गरम जलमें सतत डुबो रखें।

स्वरयन्त्र प्रदाहपर लोहबान अर्कको जलमें मिला, उबाल उसकी वाष्प कण्ठके भीतर दी जाती है।

लगानेके लिये निम्न औषध भी व्यवहृत होती है:—

(१)	एसिड कार्बोलिक	Acid Carbolic	२ ड्राम
	ऑइल युकेलिप्टस्	Oil Eucalyptus	४ ड्राम
	टिंचर ओपियाई	Tinct. Opii	१ औंस
	तिलका तैल	Sweet oil	२ औंस
	वेसलीन	Vaseline	१ औंस

इन सबको मिला, कपड़े या मुलायम कूँची (Swab) द्वारा सुबह-शाम सारे शरीरपर लगाते रहनेसे पीड़ा शमन होती है और खाज नहीं आती। अथवा

(२) चूनेका जल❀	Liqr. Calcis	४ ड्राम
जेतूनका तैल	Oil Olive	४ ड्राम
नीलगिरी तैल	Oil Eucalyptus	१५ बूँद

इन सबको मिला, मल्हम जैसे बनाकर मसूरिकाके फोड़ेपर लगावें।

पथ्यापथ्य।

पथ्य—प्रारंभमें लंघन, वमन और विरेचन (ज्वर आनेके पहले) करावें। आवश्यकता हो तो शिरावेध करावें। तेज ज्वर हो तब तक दूधपर ही रक्खें।

ज्वर मन्द होनेपर या छोटे दुग्धपान करने वाले बच्चोंको शीतला निकलने पर उसकी माताके लिये पुराने शाली और साँठी चावल, चना, मूँग, मसूर, जौ, पक्षियोंका मांस, परवल, करेला, ककोड़ी, कच्चे केले, सहिंजनेकी फली, बिजौरे नींबू, अंगूर, मीठे अनार, ईख, घी, मिश्री, गुड़, गरम करके शीतल किया हुआ जल, पवित्र पौष्टिक और लघु भोजन आदि देना चाहिये।

मसूरिका पक जानेपर—मूंगका यूष, जंगली पशुओंका मांसरस, घी, सम्हालूके पत्ते और राल, इनकी धूप देते रहें। उपलोंकी राख और गूगलको पीस-मिला बुरकते रहें।

मसूरिकाकी फुन्सियां सूख जानेपर—नीमके सूखे पत्ते और कच्ची हल्दीको पीसकर लेप करें। पश्चात् व्रण रोगमें कहे अनुसार चिकित्सा करें।

वातप्रकोपवालोंको खीलका चूर्ण शक्करका जल मिला, संतर्पण + बनाकर पिलावें या लघु पञ्चमूलके क्वाथमें यूष तैयार करके पिलावें; अथवा पक्षियोंके मांसरसके साथ भोजन करावें।

अपथ्य—मिर्च आदि गरम पदार्थ, उष्ण भोजन, खटाई, परिश्रम, तैल, नमक, भारी भोजन, तेज वायु, सूर्यके तापका सेवन, स्नान, मैथुन, स्वेदन, क्रोध, दुष्ट जल, दुष्ट वायुका सेवन, विरुद्ध भोजन, सेम, आलू, मल-मूत्र आदि वेगोंका धारण, ये सब अपथ्य हैं।

गौ मसूरिका।

(टीका लगाना-काउ पोक्स वेक्सिनिया-वेक्सिनेशन)

(Cow-pox-Vaccination-Vaccinia)

व्याख्या—यह गौका पिड़िका-उत्पादक आशुकारी संक्रामक रोग है।

❀ चूनेका जल तैयार करनेके लिये १ ग्रेन कली चूनाको २ औंस जलमें मिलावें।

+ मुनक्का, अनार दाने, खजूर और शक्कर, इन सबको जलमें घोल लें और खीलोंके सत्तूमें शहद मिलावें। फिर इन दोनोंको मिला लेनेसे संतर्पण तैयार हो जाता है।

इसके विषको मनुष्य देहमें टीका लगाकर प्रविष्ट करानेपर उस स्थानमें रसपूर्ण फफोला होता है। फिर सार्वाङ्गिक विकार उपस्थित होता है। इसमें मसूरिका रोगकी वशवर्त्तिताका ह्रास होता है।

कृतक मसूरिका (चेचकका टीका)—प्राचीन कालमें मसूरिका (शीतला) रोगके निवारणार्थ मनुष्यकी बृहद् मसूरिकाकी शुष्क त्वचाको ले, विधिपूर्वक स्वस्थ मनुष्यकी त्वचा या नासापुटपर घिस, रक्तमें प्रवेश करा, मसूरिकाके समान कितनीही पिड़िकाएं उत्पन्न कराते थे। किन्तु इससे कभी-कभी मृत्यु हो जाती थी। यह रीति लगभग १००-१२५ वर्षोंसे बन्द होगई है।

गौमसूरिका—कृतक मसूरिकाकी तरह गौके स्तनोंपर मसूरिका उत्पन्न करा, उसके रसद्वारा रोग प्रतिषेधार्थ बाहुपर चेचकका टीका (वेक्सीनिया (Vaccinia) निकाला जाता है। इससे ५-६ दिन बाद उस स्थानपर पिड़िकाएं हो जाती हैं और १५ दिनमें शमन हो जाती हैं। इस विधिमें २-३ दिन तक ज्वर बना रहता है किन्तु इसमें मृत्यु बहुधा नहीं होती। इसका वर्णन आगे विस्तारसे किया जायगा।

इन दोनों प्रकारोंमें पहला प्रतिषेध जीवनपर्यन्त रहता है, और दूसरा (गौ-मसूरिका वाला) २-३ वर्षोंमें निष्फल होजाता है।

यह टीका लगानेकी सूचना इङ्गलेण्डमें १७१७ ई० में लेडी मेरी वर्टली माण्टेग्यूने की थी। फिर इसका प्रथम प्रयोग १७७४ में एक किसान जेस्टीने उसकी स्त्रीपर किया। उसपरसे डाक्टर जेनरको १७८० ई० के लगभग शीतलासे रक्षण होनेका विचार उत्पन्न हुआ। फिर १७९६ ई० में मनुष्यपर प्रयोग किया गया। परिणाममें शीतला विरोधी रोगनिरोधक शक्ति प्राप्त होनेका अनुभव हुआ, और १७९८ ई० में उसकी विधि प्रकाशित की गई। फिर इसका प्रचार शनैः शनैः संसारमें सर्वत्र होगया।

ई० सन् १८८० से भारतवर्षके लिये शीतलाका टीका निकालना सरकारने कानूनन अनिवार्य कर दिया। किन्तु यह हितकर है, या हानिकर? यह विवादास्पद है। सुननेमें आता है कि यूरोपमें जर्मनी आदि देशोंमें टीका निकालने या न निकालनेमें राज्यकी ओरसे किसी भी प्रकारका बंधन नहीं है।

शीतलासे रक्षण करनेके लिये टीकेद्वारा विष रक्तमें मिलाया जाता है। वही पहले दुश्मनका कार्य करता है। उसको बाहर निकालनेके लिये जीवनीय शक्तिको (देहके अंग प्रत्यंगोंको सुदृढ़ बनानेका कार्य छोड़) युद्ध करना पड़ता है जिससे ज्वर आ जाता है, और बढ़ती हुई शक्तिके मार्गमें प्रतिबंध हो जाता है। जिस तरह लड़ाई होनेपर जीतनेवाले पक्षकी सेना कुछ-न-कुछ अंशमें मरती ही है, उस तरह भीतरकी शक्ति भी एक समय कम हो ही जाती

है। फिर बल प्राप्तिके लिये प्रयत्न करती है। किन्तु जैसे बीज बोनेके पश्चात् अंकुर निकलनेपर विघ्न डाल दिया जाय, तो बड़ा वृक्ष होनेपर उसका विकास कुछ कम ही होता है, वैसे बाल्यावस्थामें शीतलाका टीका रूप विघ्न आ जानेसे पूर्ण विकासमें न्यूनता ही रहती है।

टीका निकालनेपर शीतला रोगका गम्भीर आक्रमण नहीं होता, यह बात कुछ अंशमें सत्य है; तथापि टीका लगवा कर अपनी रक्षा की जाय, इसकी अपेक्षा जीवनीय शक्तिको बलवान् बनाकर रक्षा करना ही श्रेष्ठ और हितकर माना जायगा। टीका निकलवाकर सब जनता और भावी वंशजोंको निर्बल बना देनेकी अपेक्षा टीका न निकालनेसे चाहे शीतला रोगसे कुछ अधिक मृत्यु हो जाय, तो वह हानि कम मानी जायगी।

विलायतमें सन् १६३१ दिसम्बरमें हिसाब लगानेपर इस रोगसे टीका न निकाले हुये ऐसे ५ वर्षसे कम आयुके १०५ बालकोंकी और शीतलाके टीके निकाले हुए २६२ बालकोंकी मृत्यु हुई है।

सन् १९२८ में जर्मनीमें विशेषज्ञोंकी कमेटीकी रिपोर्टके अनुसार शीतलाके टीके निकालनेका कायदा बन्द किया है। इसी तरह डच सरकारने भी १६२८ में इस प्रथाका त्याग कर दिया; तथा उसी साल कार्डिफमें मिली हुई ब्रिटिश मेडिकल एसोसिएशनकी सभामें प्रोफेसर टर्नबुल और मेकिनटोसने इस विषयपर निबंध पढ़कर नया प्रकाश डाला है। इसी परसे इङ्गलैंडकी सरकारने भी ४ चिह्नोंके बदले एक चिह्न करनेका जाहिर किया और प्रारम्भिक पाठ-शालाओंमें पढ़नेवाले विद्यार्थियोंमेंसे जिनको संक्रामक रोग न हुआ हो, उनको शीतलाके टीके निकालनेके नियमसे मुक्त किया है।

चार चिह्नके बदले एक चिह्न करानेपर भी मस्तिष्क और ज्ञानतंतुओंपर अति खराब असर हुआ, और बालकोंकी मृत्युसंख्या भी अधिक आई। ऐसा निर्णय करके लिस्टर इन्स्टीट्यूटके डाइरेक्टर डॉ० लेडिङ्गहामने १६३२ के जुलाई मासमें ब्राइटनमें हुई रॉयल सेनीटरी इन्स्टीट्यूटकी कॉंग्रेसमें स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया कि स्कूलोंमें पढ़नेवाले बालक अथवा बड़ी आयुवाले विद्यार्थी कदाच शीतलाके सामान्य आक्रमणका भोग हो जायेंगे, तो भी मैं उनको शीत-लाके टीके निकालनेका आग्रह नहीं करूँगा।

यद्यपि धन्वन्तरि संहितामें लिखा है कि:—

धेनुस्तन्यमसूरिका नराणां च मसूरिका।
तज्जलं बाहुमूलांश्च शस्त्रांस्तेन गृहीतवान्॥
बाहुमूले च शस्त्राणि रक्तोत्पत्तिकराणि च।
तज्जलं रक्तमिलितं स्फोटकज्वर संभवम्॥

इस वचनसे गौ-मसूरिका और कृतक मसूरिकाके टीकोंकी प्राचीनता विदित होती है; तथापि हमारे मित्र भिषक्केसरी पं० श्री गोवर्धनजी शर्मा छांगाणी प्राणाचार्य उपर्युक्त श्लोकोंको प्राचीन नहीं मानते। अपितु प्रक्षिप्त तथा पीछेसे गढ़े हुये मानते हैं। कदाचित् उस प्रथाको प्राचीन मानलें, तो भी मानव समाजके लिये अधिक हितकर न होनेसे या हानिकर होनेसे उसका परित्याग हुआ है।

टीका निकालनेकी विधि—पहले त्वचाको जल और साबुन लगावें। फिर जलसे अच्छी तरह धो देवें। उस स्थानपर निर्जन्तुक विदारण यन्त्र (Lancet) से ¼ इञ्च जितने स्थानको ऊपर ऊपरसे खुरच दें। रक्त आने देवें। उसपर विदारण यन्त्रसे मृदुतापूर्वक लसीका रगड़ देवें। फिर १५ मिनिट तक सूखने देवें। पश्चात् लिण्टसे ढक देवें।

अथवा त्वचाके नीचे अन्तःक्षेपण करें। वहाँपर दो दिनमें कुछ उभार उत्पन्न होता है। फिर १० से १४ दिनमें अन्तर्भरण होकर लाली आ जाती है। वह सफल होनेका चिह्न है। वहाँसे खुरण्ट (Scar) नहीं निकलता। यह प्रकार सबके लिए प्रयोजित नहीं होता। कारण, उत्तर कालमें यह सामान्य टीकेकी अपेक्षा निर्बल हो जाता है।

प्राथमिक टीका २ से ६ मासकी आयुमें निकालना चाहिये। दूसरी बार ५ से ७ वर्षकी आयुमें और तीसरी बार १४ से १८ वर्षकी आयुमें निकालना चाहिये। ऐसी स्वास्थ्य समितिकी ओरसे रोलेस्टन कमिटिकी सिफारिश है।

सामान्य टीकाके लक्षण—स्थानिक लक्षण-तीसरे दिन रक्ताभ मण्डल विशिष्ट बनता है, छठे दिन रसोत्पत्ति और बीचमें गड्ढा होना; रक्तचक्रमें वृद्धि होना, आठवें दिन रसपूर्ण और बृहत् होना, बीचमें गड्ढा रहना, दसवें दिन पूय-पूर्ण होना, त्वचा सूज जाना और वेदना होना, १२ वें दिन पूयमय पिड़िकाके सूखनेका प्रारम्भ होना-रक्तसंग्रहका ह्रास होना; २१ दिन होनेपर खुरण्ट होकर निकल जाना और दाग रह जाना आदि लक्षण होते हैं।

शारीरिक लक्षण-विविध प्रकारके सुखका अभाव और व्याकुलता भासना, शारीरिक उत्तापवृद्धि सामान्य, ३ से ८ दिन तक धब्बे भासना, कक्षाधरा लसीका ग्रन्थियोंकी वृद्धि, श्वेताणु मर्यादित रहना आदि उपस्थित होते हैं।

सदोष टीकेके लक्षण—

१. स्थानिक द्रवमय पिटिका प्रतीत होना और चारों ओर प्राथमिक चक्र होना।
२. दूसरे सप्ताहमें अस्थायी धब्बे, लाल चकत्ते या शीतपित्त जैसे उभार, कभी त्रिदोषज रक्तपित्त (Purpura) उपस्थित होना।

३. प्रदाह और गहरा स्फोटक-स्वच्छता न रखनेपर और गौण संक्रमणसे (किसी सदोष रोगीके टीकेमेंसे लसीका लेकर टीका निकालनेपर) अथवा क्षतमेंसे टीका लगानेपर होता है।

४. व्यापक पिड़िकाएं अति क्वचित् निकलती हैं। ऐसे प्रकोपका प्रारम्भ सामान्यतः ८ से १० दिनके भीतर होता है। पिड़िकाकी रचना कुछ सप्ताहों तक चालू रहती है। बालकोंके लिये यह कभी अशुभकर हो जाता है।

५. किसीके हाथपरसे लसीका लेकर टीका निकालनेमें उपदंशज विष कभी चला जाता है। किन्तु गौ-लसीकामें ऐसा कभी नहीं होता।

६. कभी आक्षेप (Tetanus) रोगका विष मिल जाता है।

दूसरी बार टीका निकालनेपर लक्षण—कितनेही व्यक्तियोंके लिये पहलेके समान लक्षण; विशेषतः मध्यवर्ती अधिक अवकाशयुक्त। अन्य व्यक्तियोंमें, कम छोटा और कम गम्भीर। सब प्रकारोंमें प्रतिक्रिया नहीं होती।

इस प्रकार टीका निकालनेपर शीतला रोग निकलनेपर लक्षण अति सौम्य होते हैं। उपर्युक्त प्रकारसे पूर्ण टीकाकी क्रिया होनेपर शीतलासे मृत्यु नहीं होती।

टीका निकालनेपर संभवतः १० से १५ वर्ष तक संरक्षण होता है।

सूचना—क्वचित् किसी कारणवश टीका निकालनेपर रसपिड़िका न हुई तो जनपदव्यापी मसूरिका होनेपर टीका पुनः निकलवा लेना चाहिये।

यदि टीका निकालनेपर बालकको अति व्याकुलता हो तो मृदु विरेचन देवें और टीकेके स्थानपर पुल्टिस बांधें।

कोई उपद्रव उपस्थित हो तो उसकी योग्य चिकित्सा करनी चाहिये।

(२०) लघु मसूरिका।

(लघु मसूरिका-छोटी माता-मोतिया)

(Chicken-pox—Varicella)

परिचय—यह रोग मसूरिकाके सदृश संक्रामक और पिड़िकायुक्त है। इसमें पिड़िकाएं बहुत थोड़ी और दूर-दूर जल्दी निकल आती हैं, ज्वर अधिक नहीं रहता, शक्तिका ह्रास नहीं होता। यह रोग बहुधा बालकोंको होता है। क्वचित् वायुमण्डल दूषित होनेपर यह जनपदव्यापी बन जाता है। यह रोग एक बार होजानेपर दूसरी बार नहीं होता।

निदान—वायु, जल तथा पृथ्वीके दोषसे अथवा रोगी के संस्पर्शसे, इस रोगके कीटाणु या विष लगकर यह रोग हो जाता है। सामान्य दोषप्रकोप होकर शीघ्र ही इस रोगकी शुद्धि हो जाती है।

बृहद् मसूरिका (शीतला) के समान इस रोगकी पिड़िकाएँ अन्तर और बहिर्त्वचा दोनोंमें नहीं होतीं; बाह्य त्वचामें ही रहती हैं और वे स्वल्प दोष-वाली, जलके बुद्बुदेके समान होती हैं और जल्दी सूखकर रोग शमन हो जाता है।

रूप—इस व्याधिमें तीव्र ज्वर न होकर बहुधा वह ९९ से १०० डिग्री तक ही रहता है (क्वचित् बड़े मनुष्यको यह रोग हो जाता है तो ज्वर तीव्र अर्थात् १०२ डिग्री तक हो जाता है)। लक्षण सामान्य होनेके कारण जल्दी दूर हो जाते हैं। बहुधा पहले ही दिन या क्वचित् दूसरे दिन पिड़िकाएँ निकल जाती हैं और वे छोटे मोतीके समान बहुत थोड़ी समूह रूपमें होती हैं। पहले गलेपर फिर छातीपर निकलती हैं और अन्यत्र भी फैल जाती हैं। लगातार ३ दिन तक पिड़िकाएँ निकलती रहती हैं; और वे कुछ घण्टोंमें ही तरलमय बन जाती हैं। कुछ पिड़िकाओंपर खुरण्ट आने लगते हैं तो कुछ नई निकल कर तरल हो जाती हैं।

शीतलामें प्रान्त भागमें ऊँची और बीचमें नीची पिड़िकाएँ होती हैं। वैसी इसमें नहीं होती, किन्तु ऊँचाई समान रहती है और इनमेंसे जलस्राव होता है। बहुधा ये ५-६ दिनमें सूख जाती हैं और सब लक्षण दूर होकर ८ वें दिन आरोग्यकी प्राप्ति हो जाती है। शीतलामें पिड़िका निकलनेपर ज्वर कम हो जाता है, किन्तु इसमें ऐसा नहीं होता। इसकी पिड़िकाओंमें खुजली बहुत चलती है।

कभी-कभी विषका बाहुल्य तथा रोगीकी दुर्बलताके कारण पिड़िकाओंमें कोथ हो जाता है। उसमें रक्त या पीप भर जाता है और उससे घोर ज्वर भी आ जाता है। इससे रोग कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है।

एलोपैथिक निदान आदि।

व्याख्या—यह विष-जनित आशुकारी संक्रामक रोग है। इसमें रसमय पिड़िकाएँ निकलती हैं और ज्वर आता है। यह क्वचित् ही गम्भीर रूप धारण करता है। यह विकीर्ण, ग्रामव्यापी और देशव्यापी बन जाता है। सामान्यतः १० वर्षके भीतरकी आयुवालोंको होता है। शिशु भी आक्रमित होते हैं। यदि बाल्यावस्थामें न हुआ हो, तो परिपक्व आयुवालेको भी होनेकी संभावना है। जब यह जनपदव्यापी बनता है, तब शीतलाका रोगी कोई प्रतीत नहीं होता।

चयकाल—११ से १९ दिन (सामान्यतः १४ से १६ दिन)। सीमा २४ दिनकी। इसके लिये निषेधकाल (कॉरनटाइन) ३ सप्ताहका माना गया है।

निदान—पिड़िकाके रसके भीतर पसकेन विष (Paschen's elementary bodies) मिलता है। वह मसूरिकामें भी प्रतीत होता है। इस रोगकी

प्राप्ति विशेषत: संस्पर्शजनित होती है। प्रत्यक्ष प्रकारमें स्पर्शवाले पदार्थ, रोगीके समीपमें वायुद्वारा तथा इसके गुप्त रोगी जिन्हें बाहर पिड़िकाएँ प्रतीत नहीं होती हैं, उनसे भी प्राप्ति हो जाती है।

सम्प्राप्ति—संयोजक कोषाणुओं (prickle cells) के मध्यपत्तमें पिड़िकाकी रचनाका प्रारम्भ होता है। केन्द्रस्थान (Nuclei) विभाजित होते हैं। उनका जीवन रस (Cytoplasm) शोथमय बनता है; रिक्तस्थान बढ़ता है, अपक्रान्तिकी प्राप्ति होती है, तथा तरल बनता है। लसीका टपकती है।
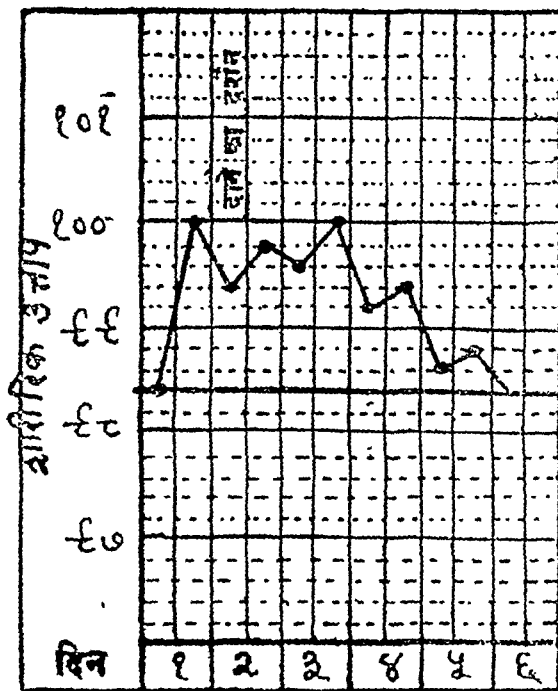
चित्र नं० २१—लघु मसूरिका (Ckicken Pox) में उत्ताप।

संक्रामक स्थिति—जब तक खुरण्ट अलग नहीं हो जाते, सुधार नहीं होता, तब तक लगभग १ मास तक विष निकलता है। किन्तु विशेष संक्रामक स्थिति प्रथमावस्थामें होती है।

लक्षण—इस रोगकी गति सामान्यत: अति मृदु है। बालकोंको आक्रमणावस्थामें सामान्यत: किञ्चित् दुराग्रह और अरुचि, बड़ोंमें उत्तापवृद्धि, कुछ शीत लगना, वमन, पीठमें सामान्यत: मंद दर्द किन्तु कचित् गम्भीर शीतलाके समान। कभी-कभी प्रारम्भिक धब्बेके स्थानपर व्यापक त्वचाकी लाली भी

प्राप्त हो जाती है। प्रारम्भमें जब तक पिड़िकाएं उपस्थित नहीं होतीं, तब तक रोगका निर्णय नहीं होता।

पिड़िकाएं—पहले या दूसरे दिन निकलती हैं। उनके साथ ज्वर बिल्कुल प्रतीत नहीं होता; किन्तु लक्षण सर्वांशमें मंद हो जाते हैं। पहले
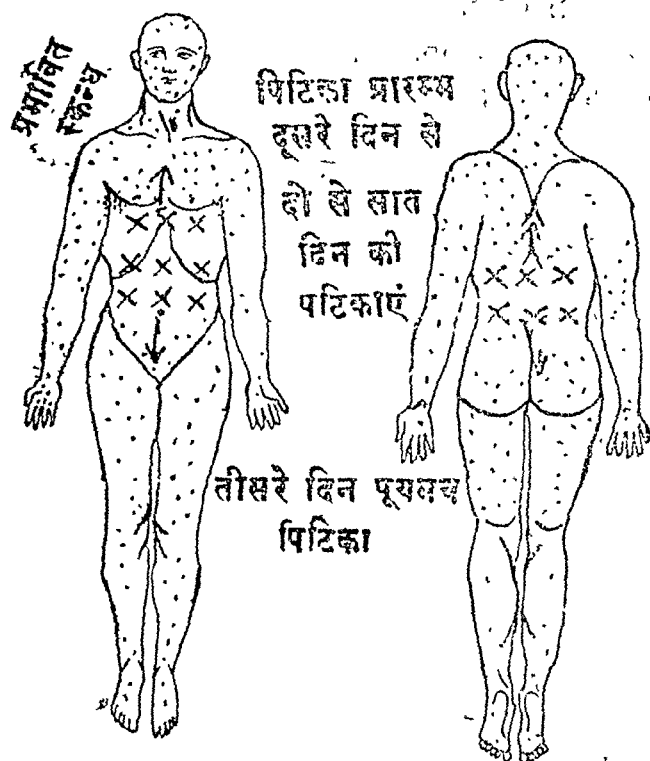
चित्र नं ११—लघु मसूरिकामें पिटिकाएं

पिड़िकाएँ धड़, पीठ या छातीपर निकलती हैं, क्वचित् कपाल और हाथ-पैरपर। कुछ पिड़िकाएँ उस समय मुखमें होती हैं। उत्तर कालका क्रम अपरिवर्त्तनीय नहीं होता।

पिड़िका-विभाजन सामान्यतः स्वभावके अनुसार होता है। धड़ और मस्तिष्ककी बालखे नीचेकी त्वचा, ये विशेष प्रभावित होते हैं। कुछ स्फोट हथेली और पैरोंके तलवेपर होते हैं, कभी नहीं भी होते। तालुपर भी हो जाते हैं। कभी-कभी ओष्ठ और मूत्र-प्रसेक-नलिकापर भी होते हैं। मस्तिष्ककी त्वचा, हाथ और पैरोंपर पिड़िकाएँ छोटी और गोलीके समान होती हैं।

पहले पिड़िकाएं गुलाबी रङ्गकी होती हैं, फिर कुछ घण्टोंमें जलपूरित और दियासलाईके सिरे जितनी बड़ी हो जाती हैं। उनमें स्वच्छ रक्तरस रहता है।

बीचमें अवनत नहीं होतीं। ये पिड़िकाएं मसूरिकाकी अपेक्षा उत्तान और सर्वदा पृथक्-पृथक् होती हैं। उनके चारों ओर कुछ लाल चक्र होता है। उदरकी दीवारके निम्न पश्चाद् भाग और त्वचाके पत्त पर अण्डाकार निकलती हैं। पूर्ण द्रवावस्थाकी प्राप्ति ४८ घण्टोंमें हो जाती है। फिर सिलवट पड़ने लगती है और खुरण्ट होने लगते हैं। इस रोगमें पिड़िकाएं कितनीही सूखती हैं, कितनी ही भरती हैं और कई उत्पन्न होती रहती हैं।

शेष रसपूर्ण पिड़िकाएं जो बिना फूटी हुई हों, वे ५ दिनसे लेकर १४ दिन या कभी २१ दिनके भीतर शमन हो जाती हैं। जो फूट जाती हैं, वे जल्दी सूख जाती हैं और १ से ३ सप्ताहके भीतर खुरण्ट गिर जाता है। जो रसपूर्ण पिड़िकाएं फूटती हैं और प्रदाह करती हैं, उनका पूयपाक होता है फिर वे भी १-२ सप्ताहमें दूर हो जाती हैं, किन्तु त्वचा दागमय रह जाती है। ऐसा बच्चोंके मुखपर अति सामान्यतः हो जाता है।

शारीरिक लक्षण—पिड़िकास्थानमें परिपाक कालमें और पूयोत्पन्न होनेपर सर्वत्र वेदना, कण्डू अत्यधिक होनेसे निद्रानाश तथा उत्ताप ९९° से १०१°, कभी-कभी १०३° किन्तु क्वचित् ३-४ दिनसे अधिक समय तक रहता है। उत्ताप पाक कालमें बढ़ता है और शीघ्र गिर जाता है। दूसरे सप्ताहमें खुरण्टोंके नीचे पूयोत्पत्ति होनेपर ज्वर बढ़ जाता है। शारीरिक लक्षण कभी गम्भीर होते हैं और ज्वर भी अधिक होता है। बड़ी आयुवाले रोगियोंमें पिड़िका और शारीरिक लक्षण, दोनों गम्भीर हो जाते हैं।

उपद्रव—कभी उपद्रवरूपसे मस्तिष्क और सुषुम्णाका प्रदाह हो जाता है। फिर उत्तापवृद्धि, शिरदर्द, वमन और विविध वातनाड़ी विकृति, ये लक्षण उपस्थित होते हैं। मृत्यु परिमाण अति कम होता है।

कभी स्फोटक और कोथ हो जाता है। फिर लक्षण गम्भीर बन जाते हैं। इस तरह कभी वृक्कप्रदाह, स्वरयन्त्र-प्रदाह, फुफ्फुस-प्रदाह आदि उपस्थित होते हैं।

क्वचित् बड़े विस्तारवाला फाला होता है। उसमें कण्डू गम्भीर आती है। और व्यापक लक्षण उत्पन्न होते हैं। रोगी उसे फोड़ देता है तो वहाँपर दाग रह जाता है।

अति क्वचित् रक्तस्रावी पिड़िकाएं होती हैं। वे अच्छी हो जाती हैं।

रोगविनिर्णय—सामान्यतः सरल है। मसूरिका और इसकी पृथक्ता मसूरिकामें दर्शायी है।

साध्यासाध्यता—यदि गम्भीर उपद्रव उपस्थित न हों तो सामान्यतः स्वास्थ्यकी प्राप्ति हो जाती है। मस्तिष्क सुषुम्णा-प्रदाहके रोगमें भी सामान्यतः आरोग्य मिल जाता है।

लघु मसूरिका चिकित्सोपयोगी सूचना।

इस रोगमें सौम्य रोगियोंको बहुधा औषध देनेकी आवश्यकता नहीं रहती। बालक निर्बल होनेपर या अन्य अपथ्य होनेपर जब त्रास बढ गया हो, तब चिकित्सा शीतलाके अनुरूप करनी चाहिये।

जब तक शारीरिक उत्ताप स्वाभाविक न हो जाय, तब तक रोगीको बिछौनेपर रखना चाहिये।

फोड़ेको रोगी फोड़ न डाले, यह सम्हालना चाहिये। डाक्टरीमें पिड़िकाओंको उष्ण बोरिक धावनसे धोते हैं। फिर डस्टिंग पाउडर या जसद पुष्प या सोहागा छिड़कते हैं। कितनेही चिकित्सक पोटास परमेंगनेटके हल्के धावनसे भी धोते हैं।

फोड़े फूटनेपर जसदका मलहम लगाते हैं।

मस्तिष्कके बाल बड़े हों तो काट देना चाहिये।

सामान्यतः प्रवालपिष्टी और निम्बादि क्वाथ देना लाभदायक है। पथ्यका पालन बृहद् मसूरिकामें लिखे अनुसार कराना चाहिये।

(२१) रोमान्तिका।

(रोमान्तिका–खसरा–बोदरीमाता–मीझल्स)
(Measles-Morbilli)

परिचय—रोमान्तिका एक आशुकारी संक्रामक ज्वर है। इस रोगमें रोमोंके मूलमेंसे ताम्रके रंगके सदृश रंगवाली कफपित्त प्रधान सूक्ष्म पिड़िकाएँ निकलती हैं, इनके पहले ज्वर, कास, अरुचि आदि लक्षण होते हैं। पिड़िकाएँ रोमान्तमेंसे निकलती हैं, अतः इसे रोमान्तिका कहते हैं। कभी कभी वातावरणमें विकृति होनेपर यह रोग देशमें फैल जाता है। सामान्य रीतिसे यह व्याधि नाकमेंसे निकलनेवाले दूषित स्राव, श्वासोच्छ्वास और रोगीके वस्त्रों-द्वारा दूसरोंको लग जाती है। इस रोगका चयकाल ८ से १२ दिन तकका है। यह रोग शीतकालमें अधिक होता है और कभी वसन्त तथा ग्रीष्ममें भी हो जाता है।

निदान—मसूरिकाके समान ही इसका निदान है, किन्तु इसका विष मसूरिका विषसे पृथक् है। विशेषतः यह रोग बालकोंको होता है और कभी
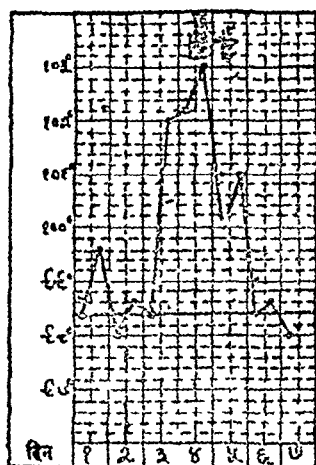
चित्र नं० २३ रोमन्तिकामें उत्तापदर्शक रेखाचित्र
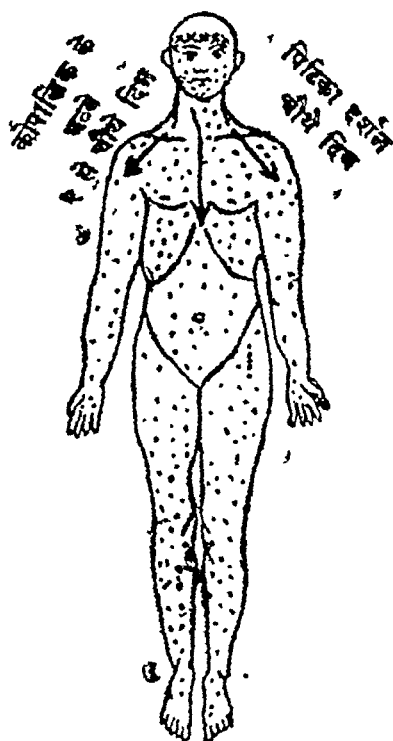
जवानोंको भी। इस रोगमें कफपित्तप्रकोप तथा श्वासनलिका और फुफ्फुसोंमें विकार (दाह-शोथ) हो जाता है, और फिर इस रोगका विष त्वचामेंसे निकल कर विलय हो जाता है।

रूप—प्रारम्भमें प्रतिश्याय, छींकें आना, नाक और कण्ठकी श्लैष्मिक कलामें दाह, १०३ डिग्री तक ज्वर, नेत्रोंमें लाली, नेत्रस्राव, तन्द्रा, अरुचि, ग्लानि, सिरमें भारीपन, कास, क्वचित् अतिसार होकर नीले-पीले पतले दस्त लगना, निश्चित् लिङ्ग रूप मसूढ़ोंके सामने मुखके भीतर बारीक, लाल और कुछ उभरी हुई फुन्सियोंकी प्रतीति होना, फिर तीसरे या चौथे रोज घन फुन्सियोंका मस्तक पर या कानोंके पास निकलना, तत्पश्चात् दूसरे दिन सारे देहमें निकलना, इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

चित्र नं० २४
रोमान्तिकामें पिटिका।

प्रारम्भमें कानके पीछे ठोड़ी और ऊपरके होठपर मच्छरके काटनेके समान धब्बे प्रतीत होते हैं। दो तीन दिनमें सब पिड़िकाएँ निकल जाती हैं और ज्वर कम हो जाता है। तत्पश्चात् पिड़िकाओं-परकी पतली त्वचा निकल जाती है; और वहाँ धब्बे पड़ जाते हैं। त्वचा ऊपरसे नहीं निकल जाती, तब तक रोगी रोग फैलानेका साधन बना रहता है। इसलिये रोगमुक्तिसे १५ दिन तक अन्य बच्चोंको इस रोगीसे दूर ही रखना चाहिये।

इस रोगमें प्रारम्भके २-३ दिनमें ज्वर कम अर्थात् १०१ डिग्री तक रहता है, किन्तु पिड़िका निकलनेके पश्चात् चौथे दिन पुनः १०३ से १०४ तक बढ़ने लगता है; तथा सातवें या आठवें दिन पिड़िका-शमनके साथ-साथ ज्वरभी कम होता

जाता है, और १५ से १८ दिनके भीतर रोगी स्वस्थ हो जाता है।

कभी रोग-विष श्वासनलिका या फुफ्फुसपर आक्रमण करता है, तब प्रबल कास, श्वास आदि विकार उपस्थित होकर ज्वर बढ़ जाता है। ऐसी अवस्थामें हब्शा रोगके लक्षण-मोह, तन्द्रा, हृदयावरोध आदि उत्पन्न होकर मृत्यु हो जाती है।

इस तरह गम्भीर रक्तपित्त-प्रकोप उत्पन्न हो जाय, तो रक्तनिष्ठीवन या रक्तातिसार हो जानेपर रोगीका जीवित रहना दुर्लभ हो जाता है।

एलोपैथिक निदान आदि।

व्याख्या—रोमान्तिका आशुकारी संक्रामक रोग है। इसकी सम्प्राप्ति प्रतिश्याय, त्वचापर धब्बे और श्वसनसंस्थानके ऊपरके हिस्सेके प्रदाहजन्य विषसे होती है। यह कभी-कभी जनपदव्यापीरूप भी धारण कर लेता है।

इसकी उत्पत्ति समशीतोष्ण कटिबन्धमें होती है, तथापि कटिबन्धका पूरा बन्धन नहीं है। यह विशेषत: दिसम्बरसे जून तक उत्पन्न होता है। यह विश्व-व्यापी है। यह किसी भी आयुवालेपर हमला कर देता है। इसका दूसरा आक्रमण अति क्वचित् होता है। सामान्यत: रोगविनिर्णयमें भूल होती है।

निदान—इसके विशेष प्रकारके विषका अभीतक पता नहीं चला। नासा, मुख, श्वसन-मार्गके स्राव-जनित विष रक्त और त्वचामें प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष सम्बन्धद्वारा विष दिया जाता होगा। कदाच ज्वर पीड़ित किन्तु रोमान्तिका स्पष्ट न हुई हो ऐसे व्यक्ति और वस्त्र आदि द्वारा भी प्राप्ति हो जाती होगी; किन्तु वह भी थोड़े समय और थोड़ी दूरीमेंसे होती है। कभी दूध या जलसे संप्राप्ति नहीं होती।

चयकाल—९ से १७ दिन (पूर्वरूपके आक्रमण तक)। अत्यन्त सामान्य १० दिन अथवा पिड़िका निकलने तक १४ दिन। सीमा १७ से २१ दिन।

पूर्वरूप—विशेषत: ४ दिन तक। सामान्यत: ३ से ६ दिन।

आक्रमणावस्था—सामान्यत: अकस्मात् बलपूर्वक आक्रमण करता है। किन्तु यह रोग गुप्त विश्वासघाती है। पतले जल सदृश स्रावमय प्रतिश्याय, नेत्रकी श्लैष्मिक कला और पलकोंकी लाली, अश्रुओंका स्राव, प्रकाश सहन न होना, ज्वर सामान्यत: १०२ डिग्री तक, आवाज भारी हो जाना और जिह्वा मलमय हो जाना, तृषावृद्धि, व्याकुलता, उत्तेजना आदि उपस्थित होते हैं। उबाक, वमन, शिरदर्द और कभी-कभी नासामेंसे रक्तस्राव आदि लक्षण भी हो जाते हैं। गम्भीर प्रकार होनेपर आक्षेप भी आते हैं। दूसरे या तीसरे दिन चेहरा स्फीत, प्रतिश्याय, कास, अभिष्यंदकी वृद्धि आदि लक्षणोंद्वारा रो-

प्रकट हो जाता है। इस समय ९० प्रतिशतसे अधिक रोगियोंमें कोपलिकाके चिह्न (Koplik's spots) भी प्रकट होते हैं।

मुँहके भीतर गालोंकी श्लैष्मिक कलापर (और ओष्ठके भीतर भी) नीलाभ श्वेत किरणाकार चिह्न होते हैं, जो प्राय: लाल चक्रसे घिरे हुए होते हैं, जो विशेषत: द्वितीय पश्चिम चर्वणक दाँत (Molar tooth or milk molars) के सामने भासते हैं। जो पिनके शिर जितने कदके होते हैं। वे अनेक आकारके होते हैं। पिटिकाएँ बाहर निकलनेपर वे शीघ्र अदृश्य हो जाते हैं। यह इस रोगका सबल चिह्न है। उसे कोपलिक चिह्न कहते हैं।

ज्वर सामान्यत: कम हो जाता है; अन्य लक्षणोंका भी विश्राम होता है; जिससे रोग भ्रममें डाल देता है। मुँह और कण्ठकी श्लैष्मिक कलामें रक्त-संग्रह और शुष्कता आजाती है। स्वरयन्त्र-प्रदाह सामान्य है। जवड़ेके पीछे ग्रन्थियाँ बहुधा बड़ी हो जाती हैं।

पिटिकाएँ सामान्यत: पहले या दूसरे दिन उपस्थित होती हैं। सामान्यत: धड़पर निकलती हैं।

पिटिकावस्था—चौथे दिन तक लक्षण बढ़ते हैं। जब पिटिकाएँ निकलती हैं, तब प्रारम्भमें कपालके दोनों पार्श्वोंमें, बालके किनारोंपर और कानके पीछे निकलती हैं। कुछ घण्टोंमें मुख, धड़ और फिर हाथ-पैरोंपर फैल जाती हैं। अधिकसे अधिक १ से ३ दिन लगते हैं। पिटिकाएँ प्रारम्भमें छोटी पिङ्गलाभ होती हैं। दबानेपर अदृश्य हो जाती हैं। फिर आदर्शस्वरूप पिटिकायें कुछ घण्टोंके बाद निकलती हैं। अनियमित, काली, अर्द्धचन्द्राकार, लाली, मैली लाल आदि प्रकार होते हैं। दबानेपर पूर्ण रूपसे अदृश्य नहीं होतीं। शीत लगनेपर म्लान होती हैं और उष्णतासे विशेष चिह्नित होती हैं।

पिटिकाएँ निकलनेपर भी प्रसेकात्मक लक्षण दूर नहीं होते। किन्तु ५ वें या छठे दिन तक बने रहते हैं। कास बढ़ती है। स्वरयन्त्र प्रदाह सामान्य, कभी-कभी अतिसार, पिटिकाके निकलनेपर ज्वर १०४° तक बढ़ जाना, नाड़ी और श्वसन द्रुत, शुष्क कफ, व्याकुलता, निद्रानाश और प्रलाप आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

इस अवस्थाकी स्थिति ३-४ दिन तक है। कभी ६ दिन। शमन होनेका आरम्भ २४ घण्टोंमें हो जाता है। हाथपैरोंकी अपेक्षा मुँहपर असर पहले होता है। अन्तमें हाथ, मणिबंध और पैरोंके तलवोंपर अदृश्य होते हैं। पिङ्गलाभ चिह्न विलम्बसे दूर होते हैं। सूक्ष्म भूसीवत् खुरण्ट १० दिन तक निकलते रहते हैं।

शारीरिक उत्ताप—पहले दिन १०२°, दूसरे दिन १००° से १०१°, पिटि-

कायें निकलनेपर १०४° से १०५°, पिटिकाके शमनके साथ उत्तापका शीघ्र ह्रास होना, आक्रमणके पश्चात् लगभग ७ वें दिन स्वाभाविक होना। फुफ्फुस विकृति आदि उपद्रव होनेपर विलम्ब होता है।

मुक्तावस्था—उपद्रवोंका अभाव होनेपर शीघ्र। सामान्यत: आक्रमणके पश्चात् १० दिनमें कोई लक्षण नहीं रहते, कास अधिक समय तक रहती है।

विविध प्रकार—ये सब क्वचित् ही होते हैं।

१. **मृदु प्रकार**—प्रसेकावस्थाके लक्षण नहीं होते। पांचवें दिन मुक्तावस्था मिल जाती है।

२. **पिटिका रहित** (Morbilli sine Morbillis)—अन्य लक्षण होते हैं; किन्तु पिटिका नहीं निकलती। सौम्य प्रकार हो तो धब्बे अति चिरस्थायी होते हैं। गम्भीर प्रकार हो, तो सामान्यत: कृश रोगियोंके लिये मधुरा ज्वरकी अवस्था उपस्थित होती है फिर शक्तिह्रास होकर मृत्यु हो जाती है। पिटिकाका अभाव मृत्युका कारण होता है।

३. **रक्तस्रावी या कृष्ण** (Heamorrhegic or black)—यह अन्तमें कभी उपस्थित होता है। रोग जनपदव्यापी होनेपर यह प्रकार कभी-कभी प्रतीत होता है। विस्तृत भागकी श्लैष्मिक कलामेंसे रक्तस्राव होता है, विषप्रकोप (Toxaemia) के लक्षण होते हैं। मृत्यु दूसरेसे छठे दिनके भीतर होती है।

उपद्रव—

१. **श्वासनलिका प्रदाह और फुफ्फुस प्रणालिका प्रदाह** (Bronchitis and Broncho Pneumonia)—इनमें कास यथार्थत: दृढ़ रहती है। सामान्यत: वह पिटिका कालमें पहले ही स्पष्ट होती है। फुफ्फुस प्रणालिका प्रदाहकी प्राप्ति होना, यह गम्भीर उपद्रव है। इसी हेतुसे अनेक रोगियोंकी मृत्यु हो जाती है। इनके अतिरिक्त मृदु स्वरयन्त्र प्रदाह; कभी गम्भीर स्वरयन्त्र द्वार प्रदाह, कृत्रिम कलामय स्वरयन्त्र प्रदाह या तरुणास्थिके आवरणका प्रदाह होता है। क्वचित् फुफ्फुसखण्ड प्रदाह भी हो जाता है।

२. **आमाशय प्रदाह और कोथमय मुखपाक** (Stomatitis and Noma)–मुखकी श्लैष्मिक कला कुछ अंशमें प्रभावित हो जाती है। फिर गम्भीर व्रण होते हैं। गम्भीर व्रण होना अशुभकर है।

३. **मध्यकर्ण प्रदाह**—यह कभी हो जाता है। फिर गोस्तन प्रवर्धन (Mastoid) पर स्फोटक, मस्तिष्कावरण प्रदाह, आदि उपस्थित होते हैं।

४. **अतिसार**—पिटिकावस्थामें सामान्यत: हो जाता है।

५. मस्तिष्क प्रदाह—क्वचित् हो। इसका आक्रमण रोगोत्पत्तिके कुछ दिनोंके बाद अकस्मात् होता है। ज्वर, शिरदर्द, तन्द्रा या उत्तेजना, कभी-कभी वमन, संचेतना-वृद्धि, पक्षवध आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। ब्रह्मवारिमें दबाव बढ़ता है। कोषाणु बढ़ जाते हैं। मृत्यु संख्या १० प्रतिशत। पूर्ण स्वस्थ होनेवाले २५ प्रतिशत, अवशिष्ट लक्षण वाले ६५ प्रतिशत। उपचार अवसादक करना चाहिये।

इनके अतिरिक्त वृक्क प्रदाह, हृदयकी श्लैष्मिक कला प्रदाह आदि कभी उत्पन्न हो जाते हैं।

भावी क्षति—कभी राजयक्ष्मा (इस प्रकारमें मृत्युसंख्या अधिक), चिरकारी कास, बारबार उपस्थित होने वाली कास, गलग्रन्थियोंकी वृद्धि, नासाग्रन्थिकी वृद्धि और कभी-कभी पूयात्मक पिटिकाएं।

साध्यासाध्यता—फुफ्फुस-प्रणालिका-प्रदाह होनेपर विशेषतः मृत्यु। कोथमय मुखप्रदाह दृढ़ होनेपर अरिष्टरूप, किन्तु वह क्वचित् होता है। कण्ठरोहिणी होनेपर मृत्यु, कभी-कभी अतिसार होकर मृत्यु।

मुक्तावस्थाकी प्राप्ति होनेमें अति सम्हाल रखना चाहिये।

मृत्यु बालक और वृद्धोंमें तथा गरीबी स्थितिमें अधिक होती है। जनपदव्यापी प्रकारमें भी अत्यधिक। सामान्यतः मृत्यु ३ प्रतिशत।

रोगनिवारक सीरम—इस रोगके विषकी सीरम (Serum) बालकोंको लाभ पहुँचाती है। किन्तु फिर कामला हो जाता है।

इस तरह स्वाभाविक उत्ताप होनेपर ६ से ९ दिनके भीतर अन्य मनुष्यका रक्त चढ़ाया जाता है। वह भी रोगसे बालकोंकी रक्षा करता है।

उपर्युक्त रोमान्तिकाके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार है; जिसे जर्मन रोमान्तिका (German Measles Rubella-Rotheln Rubella) कहते हैं। उसके लक्षण इससे मिलते-जुलते हैं। यह रोग रोमान्तिका और शोणित ज्वरके बीच का है। वह जर्मन रोमान्तिका और शोणित ज्वर अभी तक भारतमें नहीं होता। अतः यहाँपर विवेचन नहीं किया।

चिकित्सोपयोगी सूचना।

यह रोग अति संक्रामक है। अतः जिनको पहले रोमान्तिका न निकली हो, उनको रोगीके पास न जाने देवें। रोगीको लगभग एक सप्ताह तक शय्यागत रखना चाहिये। फिर और १-२ सप्ताह तक मकानसे बाहर न जाने देवें। जब तक संक्रामकता अशेष न हो तब तक अन्योंके साथ मिलने नहीं देना

चाहिये एलोपैथिक मत अनुसार रोगीको ६३° डिग्री उत्ताप वाले कमरेमें रखना चाहिये। अशुद्ध वायु निकल जानेके लिये वेन्टीलेशनकी योजना करें।

रोगीको शीत न लग जाय इसलिये आग्रहपूर्वक रक्षण करें। छातीपर गरम कपड़ा बांधें। कास होनेपर लोहबानके अर्ककी बाष्प (उबलती हुई केटली द्वारा) कमरेमें फैलावें। जब तक पिटिका शमन न हो, तब तक स्नान नहीं करना चाहिये।

वस्त्रोंको रोज बदल देवें और जन्तुघ्न धावनमें डुबोकर फिर धो लेवें।

ज्वर शमनार्थ लक्ष्मीनारायण अथवा त्रिभुवनकीर्तिरस देना चाहिये।

अतिसार होनेपर पहले एरण्ड तेलसे उदर शुद्धि करें। भोजनमें बकरीका दूध देवें तो अतिसार जल्दी शमन हो जाता है। कर्पूर रस आवश्यकतापर देवें।

एरण्ड तेलकी बस्ति देवें या स्वादिष्ट विरेचन देकर कोष्ठशुद्धि करें। बालकोंको ग्लिसरिनकी वर्त्ति चढ़ाकर उदरको साफ करें।

कण्डू होनेपर गंधकका घी या चर्मरोग नाशक तेल अथवा कार्बोलिक तेल लगावें। भूसी जब निकलती हो तब तेलकी मालिश करा सकते हैं।

पिड़िका परिपक्व न होती हो तो गरम पेय देवें और गरम जलसे स्नान करावें। सामान्यतः १० दिन होनेपर रोगीको निवाये जलसे स्नान करानेसे पिड़िकापर से भूसी निकलकर संक्रामकता दूर होनेमें सहायता मिल जाती है।

इस रोगमें चिकित्सा लक्षण-अनुरोधसे की जाती है।

प्रकाश असह्य होनेसे खिड़कियों आदिपर पर्दा रखें। मुखपाक न होनेके लिये कुल्ले कराकर मुँह साफ रखावें। मुखपाक होनेपर उसपर सोहागेको बीजाबोलके अर्कमें मिलाकर लगाते रहें।

शुष्क कास हो तो मुँहमें कर्पूरादि वटी रखकर रस चुंसाते रहें, तथा प्रवालपिष्टी, सितोपलादि चूर्ण, अमृतासत्व मिलाकर दिनमें ३ समय (ज्वर न हो तो घी और शहदके साथ) देते रहें।

नेत्रप्रदाह होनेपर त्रिफला फाण्ट या निवाये दूध अथवा बोरिक धावनसे नेत्रोंको धोते रहें। नेत्रके पलक चिपक जाते हों तो पलकधारापर जसद भस्म या काजल घी में मिलाकर लगावें।

फुफ्फुस प्रणालिका प्रदाह होनेपर लक्ष्मीविलास अभ्रकयुक्त या शृंगभस्म, अभ्रकभस्म अथवा अन्य उत्तेजक औषध देनी चाहिये। एवं बाहर पुल्टिस बांधना, उष्ण जलसे सेक करना आदि उपचार करने चाहिये। पुल्टिससे शीत न पहुँचे यह सम्हालें।

स्वरयन्त्र प्रदाह होनेपर स्वरकी नलीद्वारा नासिकासे स्वरयन्त्रको बाष्प देवें। श्वासनलिकापर सेक करें। यदि अति प्रदाह हो गया हो, तो श्वास-नलिकामें कृत्रिम छिद्र (Trachotomy) करावें।

प्रलाप उपस्थित हो तो शीतल जल-वाले कपड़ेसे देह पोंछें। हृदयकी शिथिलता हो तो मद्यार्क या हेमगर्भपोटली अथवा जवाहर मोहरा देवें।

रोग दूर होनेपर पौष्टिक औषधरूपसे लक्ष्मीविलास (अभ्रकवाला), संशमनी वटी, लोहभस्म या अन्य औषध देनी चाहिये।

इस रोगके चले जानेपर आनेवाले शीतकालमें आग्रहपूर्वक सम्हाल रखनी चाहिये।

रोमान्तिका चिकित्सा।

विष बाहर निकालनेके लिये—त्रिभुवनकीर्ति रस मुनक्काके क्वाथ या खदिराष्टक क्वाथके साथ देना हितकर है। प्रवालपिष्टी भी विष-शमनके लिये प्रारम्भसे अन्ततक साथ देते रहें; तथा रोगशमनके बाद भी २-३ सप्ताह तक देते रहना उपकारक है अथवा लक्ष्मीनारायण और मधुरान्तक वटी दिनमें ३-३ समय देते रहनेसे विष बाहर आ जाता है।

कानमेंसे पीप आने लगे तो—बहुत जल्दी लक्ष्य देकर उसे दूर करनेका उपाय करें। पहले क्षार तैल डालते रहें। फिर भीतर लाल मांस प्रतीत होनेपर बिल्वादि तैल डालते रहें।

प्यास अधिक लगती हो, तो—मुनक्का और धनियेका भिगोया जल देते रहें।

फुफ्फुस प्रदाह आदि उपद्रव हों तो—उनकी चिकित्सा शीघ्र करें। श्वसनक ज्वरमें विशेष चिकित्सा लिखी है।

पथ्यापथ्य—इसका मसूरिकामें लिखे अनुसार करें।

(२२) अंशुघात ज्वर।

अंशुघात ज्वर-प्रभापात-लू लगना-सनस्ट्रोक-हीटस्ट्रोक-थर्मिक फीवर-सीरायसिस-Sun-Stroke-Heat-Stroke Thermic-Fever-Siriasis.)

प्रचण्ड ताप या एञ्जिन आदिकी तीव्र उष्णताका अकस्मान् आघात पहुँचनेको अंशुघात कहते हैं। यह रोग ४० वर्षसे अधिक आयुवाले, अधिक मेदवाले, अधिक छायेमें रहनेवाले, नाजुक प्रकृतिकी स्त्री और निर्बल पुरुषोंको अधिक होता है। क्वचित् बलवान् पुरुष भी इस रोगसे ग्रसित हो जाते हैं। यूरोप जैसे शीतल स्थानके रहने वालोंको जब ग्रीष्मकालमें उष्ण देशमें जाना

पड़ता है; तब उनको लू लग जानेका अधिक डर रहता है।

यह रोग विशेषत: ग्रीष्मकालमें उष्ण कटिबन्ध प्रदेशमें ही होता है। सूर्यके तापकी उष्णता छायावाले स्थानमें ११०° डिग्रीसे अधिक होने, वायुके स्तब्ध हो जाने (Stagnation of air) और श्वासोच्छ्वासमें उष्ण वायु आती रहनेसे अति व्याकुलता होकर धूप या छायामें अधिक परिश्रम करने वालेको लू लग जाती है।

निदान—दोपहरके अति परिश्रमसे थकावट आनेपर बिना विश्राम लिये शीतल जलपान करना, पुन: शरीरश्रम करने लगना; अति उष्ण या वायुरहित स्थानमें रहना, टीनके मकानोंमें शक्तिसे अधिक समय तक काम करना, तप्त जमीनपर नंगे पैरोंसे और बिना छातेसे चलना। इन सब कारणोंसे इस रोगकी उत्पत्ति होती है। अशक्तता, मद्यपानका व्यसन, थकान, अधिक तंग कपड़े पहनना, मलेरिया आदि ज्वर, कोष्ठबद्धता या अतिसार, इनमेंसे किसी भी सहायक हेतुके मिलनेपर लू सहज लग जाती है। बाहरकी प्रखर उष्णताके तीव्र आघातसे जब सुषुम्णाशीर्ष (मेड्युला ऑब्लोंगेटा Medulla Oblongata) में रहनेवाले शारीरिक उष्णताके नियमन करनेवाले केन्द्रमें विकृति होती है, तब इस ज्वरकी उत्पत्ति हो जाती है।

बाह्य उष्णताका आघात कण्ठ, फुफ्फुस और पीठपर अधिक होता है या पृथ्वीमेंसे उत्पन्न गैस अथवा मोटर प्रवासमें मोटर एञ्जिनका गैस श्वास मार्गसे भीतर प्रवेश कर जाता है, तब श्वासयंत्रमें विकृति होकर श्वासावरोधक प्रकार उत्पन्न हो जाता है।

उष्णतामें अधिक परिश्रम, मार्ग गमन, मोटर या रेलवे ट्रेनमें प्रवास करके उष्णता शमन होनेके पहले बर्फ मिला शीतल जल पान या बिजलीके पंखेकी वायुका सेवन करनेसे भी उष्णताका अवरोध हो जाता है और प्रस्वेद द्वारा विष बाहर नहीं निकल सकता। फिर वही रात्रिके समय फुफ्फुस कोषोंको जकड़ लेता है और उससे यकायक श्वास लेनेमें अति कष्ट होने लगता है। यह सौम्य चिरकारी प्रकार बनता है।

अधिक काल तक मध्याह्नके समय तीव्र तापमें परिश्रम करते रहनेपर जब प्रस्वेदद्वारा विष पूर्णांशमें बाहर नहीं निकल सकता, भीतर ही बढ़ता जाता है, तब उस विषका संचय पर्याप्त हो जानेपर मस्तिष्क और अन्य इन्द्रियोंमें तीव्र रक्ताधिक्य होकर अकस्मात् मनुष्य मूर्च्छित होकर गिर जाता है।

प्रस्वेद अत्यधिक निकलता हो, किन्तु उसमें सोडियम क्लोराइड क्षार कम हो, या प्रस्वेद ग्रन्थियोंका पक्षवध होनेसे प्रस्वेदका निकलना बन्द हो गया हो,

अथवा सेन्द्रिय विषका रक्तमें शोषण होगया हो, तो इन अवस्थाओंमें बाह्य उष्णता बढ़नेपर भीतरकी उष्णता-नियामक शक्ति अपना कार्य नहीं कर सकती; जिससे सहज लू लग जाती है।

विविध प्रकार—

१. अतिशय क्लान्ति—Heat exhaustion.
२. ज्वरातिशय—Heat Hyperpyrexia.
३. श्वासावरोध— Asphyxial type.
४. सूर्यके सामान्य तापका आघात—Sun traumatism.
५. पचनेन्द्रिय संस्थानगत विकृति—Gastro intestinal symtoms.
६, गर्मीका आघात—Stoker's cramp.

१. अंशुघातज अतिशय क्लान्ति—मुँह और नेत्रोंका लाल हो जाना, व्याकुलता, नाड़ीकी गतिमें विषमता, चक्कर आना, कुछ बेहोशी, प्रस्वेदसे त्वचा शीतल हो जाना, कनीनिका प्रसारित होना, नाड़ी तेज चलना, श्वासोच्छ्वास अगम्भीर या कष्टपूर्वक चलना, उबाक, वमन, शिरःशूल, अतिसार, दाह, हाथ पैर खिंचना, कण्ठशोथ, अति प्यास, मूत्रमें दाह और कष्ट होना, आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। क्वचित् मूर्च्छा आकर मृत्यु भी हो जाती है।

२. अंशुघातज ज्वरातिशय—पूर्वोक्त क्लान्तिके लक्षणोंके पश्चात् शीत-कम्पसह ज्वर बढ़ने लगता है और अति क्लान्ति, शिरदर्द, अति तृषा, चक्कर आना, वान्ति आदि लक्षण बढ़ जाते हैं; दृष्टिमें विकृति होती है। हृदयाधरिक प्रदेशमें पीड़ा होती है।

रक्त पतला हो जाता है। विशेषतः इन्द्रियां रक्तसंग्रह-मय बन जाती हैं। हृदयका दक्षिण प्रदेश प्रसारित होता है। केन्द्रीय नाड़ी संस्थानके कोषाणु यकृत् और वृक्क अपक्रान्तिको प्राप्त होते हैं। विनाश स्थिति शीघ्र होती है।

इस प्रकारमें किसी-किसीको भ्रम, निद्रानाश, प्रलाप, मोह, हाथ-पैर पटकना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। प्रलाप और बेहोशी बढ़ते जाते हैं। किसीको क्षणिक मूर्च्छा और किसीको गहरी मूर्च्छाकी प्राप्ति होती है।

३. अंशुघात श्वासावरोध—कितने ही पीड़ितोंको प्रलाप आदि लक्षण उपस्थित नहीं होते और श्वासावरोध होने लगता है। फिर वे शीघ्र बेहोश हो जाते हैं।

इस प्रकारमें ज्वर १०७° से ११०° डिग्री तक और कभी ११२° डिग्री तक बढ़ जाता है। मुखमण्डल तेजस्वी, त्वचा उष्ण, नाड़ी पूर्ण और द्रुत, फिर मंद,

श्वासोच्छ्वास गम्भीर, कनीनिका प्रसारित और फिर आकुंचित, मांसपेशियां शिथिल, बांयटे कम आना, जानुक्षेप (Knee jerk क्रकच सन्निपातमें दर्शाये हुए) का अभाव और कभी आक्षेप आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

सूर्यके तापके अतिरिक्त कभी सामान्य उष्णता और गेस, दोनोंके आघातसे श्वासावरोधक प्रकार उपस्थित होता है। उसमें शिरदर्द, वमन, अतिसार, तृषा, व्याकुलता आदि लक्षणोंके अतिरिक्त श्वासावरोध, श्वास कष्टपूर्वक चलना, १०१°, १०२° तक उत्ताप वृद्धि, बेहोशी आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। इसका शीघ्र योग्य उपचार करनेपर भी कुछ काल तक निर्बलता बनी रहती है।

द्वितीय और तृतीय प्रकारका परिणाम—

१. रोगमुक्ति। सामान्यतः शिरदर्द गम्भीर रहता है। प्रायः संधियोंमें कुछ सप्ताहों तक विकृति या शिथिलता रहती है। कुछ दिनों तक ज्वर १०२° तक रहता है। कुछ सप्ताहों तक फिरसे आक्रमणका संभव रहता है।

२. कभी परिश्रम करते-करते गम्भीर मूर्च्छा आजाती है। हृदयक्रिया और श्वासोच्छ्वास कष्टपूर्वक चल करके बन्द हो जाते हैं। २४–३६ घण्टेमें मृत्यु हो जाती है। यदि शीघ्र उपचार करके रोगीको बचा लिया जाय, तो भी पक्षाघात या मस्तिष्कगत विकृति शेष रह जाती है।

३. तीव्र आक्रमण होनेपर एकाध घण्टेमें ही श्वासावरोध (Asphyxia) होकर मृत्यु हो जाती है।

भावी क्षति—

१. उत्ताप सहन करनेकी शक्तिका ह्रास।

२ स्मरण शक्ति और विचार शक्तिमें न्यूनता, संभवतः चिरकारी मस्तिष्कावरण प्रदाहकी प्राप्ति।

पार्थक्यदर्शक रोगविनिर्णय—घातक मलेरिया, मस्तिष्कसे रक्तस्राव और गर्दनतोड़ बुखारके लक्षणोंसे इसे पृथक् करनेकी शीघ्र आवश्यकता रहती है।

१. घातक मलेरियासे रक्त परीक्षा करनेपर और शीघ्र अति व्याकुलता होनेके हेतुसे भेद हो जाता है।

२. मस्तिष्कस्थ रक्तस्रावमें पक्षवध होता है; जो इसमें नहीं होता।

३. गर्दनतोड़ बुखारका निर्णय कटिकशेरुकामें छिद्र करनेपर स्पष्ट होजाता है।

साध्यासाध्यता—यह रोग शराबी, बड़ी आयु वाले, मेद पीड़ित और कृश व्यक्तियोंके लिए अशुभ है। कितने ही प्रकारोंमें मृत्युसंख्या ३०–४० प्रतिशत होती है। फल विशेषतः शीघ्र शीतल उपचारके ऊपर अवलम्बित है।

४. सूर्यके सामान्य तापका आघात (Sun traumatism)—शिरदर्द, द्रुतनाड़ी, शुष्क और उष्ण त्वचा, प्रकाश और आवाजकी असहिष्णुता, क्वचित् वमन, अतिसार और कुछ उत्तापवृद्धि आदि अचिरस्थायी लक्षण उपस्थित होते हैं। किन्तु भावी क्षति ज्वराधिक्यके समान मानी जाती है।

५. पचनेन्द्रिय संस्थानगत विकृति—कभी सूर्यके तापमें अधिक भ्रमण करनेपर वमन, कभी विसूचिका, गम्भीर शक्तिपात; मांसपेशियोंमें बांयटे आना, जल सदृश पतले दस्त होना आदि पचनसंस्थानकी विकृतिके गम्भीर लक्षण उपस्थित होते हैं।

६. गर्मीका आघात (Stoker's Cramp)—जिनको प्रस्वेद अत्यधिक आता रहता है, उनकी देहमेंसे क्लोराइड क्षार कम हो जाता है। फिर गर्मीका आघात लग जानेपर मांसपेशियोंमें आक्षेप आता है। मांसपेशियाँ निर्बल और मृदु बन जाती हैं। शेष लक्षण सूर्यके सामान्य तापके आघातके अनुरूप होते हैं।

अंशुघात चिकित्सोपयोगी सूचना।

लू लगनेसे अति व्याकुलता और अति उष्णता बढ़ जानेपर तुरन्त रोगीको शीतल वायु वाले स्थानमें ले जाकर लिटा देना चाहिये, कण्ठपरसे कपड़े शीघ्र हटा दें, तङ्ग कपड़े हों तो निकाल दें या सब वस्त्रोंको खोलकर खस या ताड़के पंखेको शीतल जलसे भिगोकर धीरे-धीरे वायु डालना प्रारम्भ करना चाहिये। रोगीके सिरपर बर्फ या शीतल जलसे भिगोया हुआ कपड़ा फिराना चाहिये।

डॉक्टरी विधानके अनुसार शिरके चारों ओर त्वचापर बर्फ घिसना चाहिये, तथा गुदामें थर्मामीटर लगाकर देखना चाहिये। जब १०४° उत्ताप हो तब बर्फसे शीतलता देना बन्द कर देना चाहिये। इसके अतिरिक्त आवश्यकता हो तब शीतल जलकी वस्ति भी दे सकते हैं।

डॉक्टरी मत अनुसार यदि मलेरियाका सन्देह हो तो क्विनाइन डायहाइड्रोक्लोरिकका अन्तःक्षेपण करना चाहिये।

आक्षेप उपस्थित होते हों या गात्रनीलता हो जाय, तो शिरावेध करना चाहिये।

श्वासोच्छ्वास बन्द होता हो, तो रोगीके हाथोंको लम्बे, ऊँचे, सामने और नीचे करना आदि रीतिसे चलाकर श्वासोच्छ्वास चालू रखना चाहिये या अन्य रीतिसे कृत्रिम श्वसनका प्रबन्ध करना चाहिये।

कभी उष्णता घट जाती है और स्पन्दन अति मन्द होकर हृदयावरोध होने लगता है। ऐसा हो तो ज्वरनाशक औषधियाँ और उपचार बन्द करें और

उससे विपरीत उष्ण बोतलोंसे सेक करना, मूर्च्छान्तक नस्य (चूना नौसादर मिश्रण) सुंघाना और हृदयोत्तेजक औषध देना आदि उपचार कराने चाहिये।

देहमें क्लोराइड क्षार कम होगया हो, तो सोडा क्लोराइडका सेवन कराना चाहिये।

पर्याप्त जल पिलाना चाहिये (कुछ नमक मिला हुआ)। आयुर्वेदीय विधानके अनुसार फालसा, सन्तरा या मौसम्बीका रस अथवा चन्दन और मिश्री या खस और मिश्री मिश्रित जल अथवा गुलाब, केवड़ा आदिका शर्बत मिला हुआ जल थोड़ा थोड़ा बार-बार पिलाते रहना अत्यन्त लाभदायक होता है। किन्तु एक ही समयमें ज्यादा जल न पिलावें।

पैरोंके तलवोंपर काँसोकी कटोरीसे घीकी मालिश करें। जब पैरोंके तले काले हो जाये, तब कपड़ेसे पोंछकर निवाये जलसे धो डालें।

अंशुघात चिकित्सा

उत्तापवृद्धि होनेपर—केसूला (पलासके पुष्पों) को जलसे पीस काँसीके वर्त्तनमें शीतल जलके साथ मिला लें, और फिर रोगीको लिटा इस जलवाली थाली (या कटोरी) को रोगीकी सारी देहपर मस्तकसे पैर तक धीरे-धीरे फिरावें। इस तरह काँसीके पात्र ४-६ बार फिरानेसे भीतर प्रविष्ट हुई उष्णता बहुत जल्दी शमन होकर बेहोशी दूर होती है; ज्वर शमन होता है; तथा रोगीको शान्ति और प्रसन्नता प्रतीत होती है। इस तरह मेथीके सूखे पत्तोंके चूर्णको घीका मोण लगाकर शरीरपर मालिश करनेसे भी लाभ हो जाता है।

मूर्च्छा आगई हो तो—कण्ठ और फुफ्फुसपर नीलगिरी तैल या तार्पिन तैल लगा लेवें और फिर गरम जलमें डुबोये हुए फलालैनके टुकड़ेसे थोड़ा सेक कर उस टुकड़ेको कण्ठपर लपेट दें, तथा ऊपर दूसरा वस्त्र बांध दें। इससे रोगीको थोड़ी देरमें चेतना आ जाती है।

मुचकुन्दके फूल और एरण्डमूलको कांजीमें पीस, शिरपर लेप करनेसे भी तुरन्त व्याकुलता दूर होती है।

अधिक पसीनेके कारण देह अधिक शीतल हो गई हो, तो ब्राह्मीवटी या रससिन्दूर और प्रवालपिष्टी अथवा लक्ष्मीविलास और प्रवालपिष्टी शहदके साथ देवें।

शरीर अति उष्ण हो गया हो, तो रोगीको निवात स्थानमें कुनकुने जलके भीतर १५-२० मिनट बैठावें। इसकी विधि शरीर-शुद्धि प्रकरणमें पहले लिखी गई है।

इमलीका पानक—किसी पत्थर या मिट्टीके पात्रमें इमलीकी पक्की फलियोंके गूदेको १६ गुने जलमें मिला आध घण्टा रहने दें। फिर खूब मसल ४ गुनी मिश्री मिला अग्निपर चढ़ा एक उबाल दें। पश्चात् उतारकर तुरन्त छान लें। शीतल होनेपर बोतलमें भर लें। इनमेंसे २॥-२॥ तोले, ३-४ समय, २-२ घण्टेपर पिलानेसे व्याकुलता शमन हो जाती है।

आमझोरा—कच्चे आमको अग्निमें पकाकर रात्रिको शीतल स्थानमें रख दें। सुबह छिलका दूरकर जलमें मसल, रस निकाल, भुना जीरा और थोड़ा सैंधानमक या थोड़ी मिश्री मिलाकर पिला देवें।

बहुफली और वन तुलसी (नगद बावची) के बीजोंको जलमें भिगो दें। बीज गलकर लुआब बन जानेपर शक्कर मिलाकर पिलावें।

ज्वर शमनार्थ—(१) रससिन्दूर आध रत्ती, मौक्तिक पिष्टी आध रत्ती (या प्रवाल पिष्टी १ रत्ती), गिलोय-सत्व ४ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण २ माशे सबको मिलाकर शर्बतके साथ २-२ घण्टेपर ३-४ समय देवें।

(२) कामदुधा रस शर्वतके साथ २-२ घण्टेपर देते रहें।

(३) शीतप्रधान ज्वर २ दिनसे अधिक रह जाय, तो लक्ष्मीनारायण रस या मधुरान्तक वटी दिनमें दो बार देते रहें अथवा थोड़ी मात्रामें मृत्युञ्जय रस या विश्वतापहरण जीरे और मिश्रीके साथ देवें।

(४) उष्णता अधिक रहती हो तो सूतशेखर रस दिनमें दो समय भाँगरेके रस या ब्राह्मीके क्वाथके साथ देनेसे भयङ्कर बढ़ा हुआ ज्वर, प्रलाप, शिरदर्द, वान्ति और बेचैनी शीघ्र शमन हो जाते हैं।

श्वासावरोध होता हो, तो—(१) फुफ्फुसोंपर नीलगिरी तैलकी मालिश करें; फिर गरम जलमें डुबोकर निचोड़े हुए या बाष्पपर गर्म किये हुए फलालेनके टुकड़ेसे थोड़ा सेक करें या मालिश करके ऊनी वस्त्र लपेट दें, तथा श्वासकुठार रस १-१ रत्ती नागरवेलके पानमें दिनमें तीन बार देवें।

(२) रससिन्दूर, अभ्रक भस्म और मौक्तिकपिष्टीको मिलाकर शहदके साथ दिनमें ३ बार देवें।

तेज लू चलनेपर सूर्यके तापसे आघात पहुँच जाता है, इसके अतिरिक्त निर्बलोंको और गद्दी तकियेपर बैठे रहनेवालोंको सूर्यके सामान्य तापमें भ्रमण करने या बैठे रहनेपर भी हानि पहुँच जाती है। ऐसे रोगी सिंध, पञ्जाब, यू० पी०, बरार आदिके शहरोंमें अनेक मिलते हैं।

सूर्यके सामान्य तापमें २-३ घण्टे फिरनेपर अनेकोंको मस्तिष्कमें दर्द हो जाता है। फिर आमचूर, नीबू, दही आदिकी खटाई खाते हैं। इससे (जिनको

ये वस्तु प्रतिकूल हो उनको) २-४ घण्टेमें जुकाम सह ज्वर आ जाता है।

इस तरह आघात होनेपर अनेक स्थानोंमें बनप्शा मिश्रित क्वाथ या केवल बनप्शा क्वाथ पिलाते हैं और छाननेके पश्चात् बनप्शाका फोक रहा हो उसे थोड़ेसे घीके साथ मन्दाग्निपर थोड़ा चलाकर रात्रिको सोनेके समय कण्ठस्थ बृहद् श्वासनलिकापर बँधवा देते हैं। इस तरह २-३ रोज करनेपर प्रतिश्याय और ज्वर दूर हो जाते हैं। किन्तु कतिपय अनभिज्ञ डाक्टर, इन्फ्लूएन्जा और मलेरिया कहकर क्विनाइनका अन्तःक्षेपण कर देते हैं। परिणाममें शिरदर्द और ज्वर बढ जाते हैं, तथा प्रबल कास, पेशाब बूँद-बूँद गिरना, व्याकुलता, बेहोशी आदि उपद्रव उपस्थित होते हैं। यह ज्वर ५-१० दिन तक बना रहता है। उसे दूर करनेके लिये सूतशेखर + प्रवाल पिष्टी + मधुरान्तक वटीका मिश्रण अति हितकारक है। यदि कफ बढ़ गया हो, तो सूतशेखरके स्थानपर लक्ष्मीनारायण मिलाना चाहिये एवं शृंगभस्म भी देते रहना चाहिये।

कफ पीला हो गया हो और शीघ्र बाहर निकालना हो तो कटेलीकी जड़, एरण्डमूल, नागरमोथा, तीनों २-२ तोले और सोंठ ६ माशे मिलाकर जौकुट चूर्ण करें। फिर उसमेंसे ६ माशेसे १ तोलेका क्वाथकर सुबह-शाम पिलाते रहें। क्वाथ देनेसे किसी-किसीको उबाकके समान बेचैनी आती है। अतः क्वाथ पिलाकर दूध, चाय आदि १ घण्टे तक नहीं देना चाहिये।

इस अवस्थामें भोजन बन्द कर देना चाहिये। प्रातः-सायं दूध और दोपहरको मोसम्बीका रस देते रहनेसे सरलतापूर्वक विष जलकर सर्व उपद्रवोंसह ज्वर दूर हो जाता है।

सूचना—इस अंशुघातके रोगी दिनों या महीनों तक कृश रहते हैं। इसलिये लघु पौष्टिक और पथ्य आहारका सेवन कराते रहना चाहिये। रोग-शमन हो जानेपर भी शरीरमें बल न आ जाय; तब तक अपथ्य आहार-विहारसे बचते रहना चाहिये।

वस्त्र ढीले और हलके पहनें; तेजस्वी रङ्ग वाले नहीं। सूर्यके तापसे मस्तिष्क, पीठ, सुषुम्णादण्ड और कण्ठका रक्षण करें। नेत्रमें विकृति हुई हो तो शीघ्र उपचार करना चाहिये। काले, पिङ्गल या पीले चश्में पहनें, किन्तु नीले रङ्गके नहीं।

साफे या टोपीमें प्याज रखकर प्रातः-सायं बाहर फिरनेपर आघात यकायक नहीं होता। परमात्माने प्याजको 'लू' से संरक्षण करनेकी दिव्य शक्ति प्रदान की है।

सूर्यके ताप और अग्निका सेवन, मद्यपान, चाय आदि उत्तेजक पेय, तमाखू,

सिगरेट, इन सबका १ वर्ष तक त्याग करना चाहिये।

पथ्य—ब्रह्मचर्य, शीतल जलपान, शर्बत, ठण्डाई, दूध, फालसा, संतरा मोसम्बी, अंगूर या शीघ्र पचनेवाले साबूदाना, दलिया, खिचड़ी, मूंगकी पकौड़ी, पतले फुलके आदि भोजन, परवल, लौकी, चन्दलोई, पालक, प्याज आदिका शाक, आम या इमलीका पना, सिरका मिश्रित चटनी और नीबू आदि खटाई।

अपथ्य—शराब, सिगरेट, चाय, अग्नि-सेवन, धूपमें घूमना, मिर्च आदि गरम पदार्थोंका सेवन, गुड़, तेल, टीनके नीचे रहना, रात्रिका जागरण और शुष्क भोजन आदि।

(२३) विषम ज्वर

(विषम ज्वर-हुम्मा खिलतिया-मलेरिया Malaria)

यह काफी प्राचीन कालसे सुप्रसिद्ध रोग है। आयुर्वेदके प्राचीनतम ग्रन्थों और वेदोंमें भी इसका वर्णन मिलता है।

यह ज्वर अनियमित समयपर आता रहता है। इस ज्वरमें कभी ठण्डी और कभी गरमी लगती है और यह अधिक समय तक बना रहता है, या अनिश्चित समयपर बार-बार उलट-उलट कर आता है। कभी थोड़े जोरसे आता है तो कभी अधिक बलपूर्वक हमला करता है; कभी जल्दी उतर जाता है तो कभी देरसे उतरता है। इस तरह कोई नियम न रहनेसे शास्त्रकारोंने विषम ज्वर कहा है।

यह ज्वर विशेषत: भारतके समस्त उष्ण कटिबन्ध प्रदेशोंमें होता है। उष्णता, अन्धकारवाले मकान, आर्द्र स्थान, गन्दी नालियाँ, वन और झाड़ी आदि इस विषम ज्वरके सहायक साधन हैं। यह ज्वर शरद्, वर्षा और वसन्त ऋतुमें अधिक फैलता है। कचित् ग्रीष्म ऋतुमें भी आ जाता है। स्त्री, पुरुष, बालक, युवा और वृद्ध सभीपर यह आक्रमण करता है।

इस ज्वरमें बद्धकोष्ठ, तृषा, नेत्र जलन, कमरमें पीड़ा, किसी-किसीको ठण्ड लगकर और किसी-किसीको बिना ठण्डसे ज्वर आ जाना इत्यादि सामान्य लक्षण प्रतीत होते हैं। जिसको शीत नहीं लगती उसको सिरमें दर्द और पसीना अधिक होता है।

इस ज्वरके दो भेद हैं—निज और आगन्तुक। मिथ्या आहार-विहार आदि कारणोंसे वात आदि दोष प्रकुपित होकर आने वालेको निज विषम ज्वर और बाह्य हेतुजन्यको आगन्तुक विषम ज्वर कहा है। शास्त्राचार्योंने इस रोगका कारण आगन्तुक भी माना है। ऐसा "आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे"

चरक संहिता (चि० अ० ३।२८९) और सुश्रुत-संहिता (उत्तर तं० अ० ३९), इन दोनोंके वचनोंसे जाना जाता है।

वर्तमानमें इन दो प्रकारोंमेंसे आगन्तुक विषम ज्वर ही चारों ओर अधिकांशमें देखनेमें आता है। यह प्रारम्भसे ही विषम रहता है।

विषम ज्वरके प्रकार—शास्त्रकारोंने इस ज्वरके मुख्य ५ विभाग किये हैं। सन्तत, सतत, एकाहिक (अन्येद्यु), तृतीयक और चातुर्थिक। इनके अतिरिक्त उपद्रवके अनुसार कालज्वर (सतत ज्वरका भेद प्लीहावृद्धि युक्त), राजयक्ष्मा, क्षतक्षीण आदिकोंको होने वाला ज्वर, प्रलेपक, वात बलासक, श्लैपदिक (श्लीपदके हेतुसे पूर्णिमा अमावस्या आदि समयपर आनेवाला) ज्वर और औपद्रविक (अन्य रोगोंमें उपद्रवरूप) ज्वर, ये सब भेद दिखाये हैं। ये प्रलेपक आदि सब भेद विषम ज्वरके जीर्णरूप धारण करनेपर होते हैं। इन सब प्रकारोंके ज्वरोंमें तीनों दोष दूषित होते हैं और ये सब चिरानुबन्धी होनेसे अनेक बार दुश्चिकित्स्य भी हो जाते हैं।

प्राचीन आचार्योंने सन्तत ज्वरका रसाश्रय, सततका रस और रक्ताश्रय, अन्येद्युका मांसाश्रय, तृतीयकका मेद और चातुर्थिक ज्वरका आश्रय अस्थिमज्जा माना है। किन्तु नव्य सिद्धान्तानुसार सबके कीटाणु रक्तमें ही रहते हैं।

अ. सन्तत ज्वर।

(हुम्मा दायमी—मलेरियल रिमीटेण्ट फीवर)
(Malarial Remittent Fever)

यह ज्वर १० या १२ दिनोंतक सतत बना रहता है; बीचमें नहीं उतरता। इस ज्वरमें वात, पित्त और कफ, तीनों दोष कुपित होते हैं; किन्तु इनमें बहुधा पित्त अधिक दूषित होता है। यह ज्वर पित्तोल्वणता हो तो १० दिनमें, कफोल्वणता हो तो १२ दिनमें और वातोल्वणता हो तो ७ दिनमें उतरता है या रोगीको मार डालता है।

इस ज्वरमें सन्निपात ज्वरके समान दारुण लक्षण-मोह, प्रलाप आदि न्यूनाधिक मात्रामें रहते हैं। विषका बल कम हो तो समयपर रोग शमन हो जाता है; अन्यथा रोगीको मार डालता है।

इस ज्वरका विष वात आदि दोष, रक्त आदि धातु और मल-मूत्र, इन सबमें प्रवेश कर जाता है। सूक्ष्म होनेसे सबमें लीन होकर रहता है। इसी हेतुसे भगवान् आत्रेयने इसे अव्यक्त लक्षण वाला कहा है। बारहवें दिन परित्याग कर फिर तेरहवें दिनसे आरम्भ होकर दीर्घ काल तक जीर्ण रूपसे रहता है। इसका

उपशम होना दुर्लभ होता है।

यह ज्वर ग्रीष्म और वर्षा ऋतुमें अधिक होता है। इस ज्वरमें उत्ताप अनियमित समयपर थोड़ी देरके लिये कम हो जाता है; किन्तु बिल्कुल उपशम नहीं होता।

रूप—इस ज्वरमें प्रलाप, तृषा, निद्रानाश, शिरमें दर्द, बेचैनी, जिह्वापर सफेद या पीला मैल जम जाना, क्षुधानाश, तन्द्रा, खट्टी वमन, नेत्र लाल, उदरके हृदयाधरिक प्रदेश (कौड़ी स्थान Epigastric) में पीड़ा, मलावरोध या अतिसार और क्वचित् कामला, ये लक्षण होते हैं।

ज्वर आनेके समय किञ्चित् ठंड और रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यह ज्वर घटकर १०१ डिग्री और बढ़कर १०४ डिग्री तक हो जाता है। कभी-कभी १०७ डिग्रीसे भी अधिक हो जाता है। यह ज्वर सम्यक् चिकित्सा न होनेसे महीनों तक नहीं छोड़ता। इस तरह इसका अन्त मन्द वेगसह जीर्ण ज्वरमें या मृत्युमें भी आ जाता है।

आ. सतत ज्वर।

(रोज दो बार आने वाला ताप—डबल क्वॉटिडियन फीवर—Double Quotidian Fever)

इस ज्वरमें तीनों दोष दूषित होते हैं। इनमें भी प्रायः पित्त अधिक दूषित होता है। यह ज्वर रात-दिनमें दो बार आता है, कभी बिल्कुल उतर जाता है तो कभी कुछ अंशमें शेष रह जाता है। दिन-रातमें संतापवृद्धि दो समय होती है।

इस ज्वरका विष बहुधा रक्तधातुमें रहता है। इस रक्तरूप दूष्यके दूषित होनेसे या आमाशयस्थ रस दूषित होनेसे एक दिनमें दो बार ज्वर आ जाता है।

यदि वातप्रकोप होता है तो रोगीका मुँह निस्तेज, श्याम, शरीर कृश और मलावरोध बना रहता है। पित्तप्रकोपमें मुख और नेत्र लाल या पीले, नाखून पीले, पतले दस्त, अधिक प्यास, स्वेद, बेचैनी और निद्रानाश आदि लक्षण होते हैं। कफप्रकोपमें छाती (फुफ्फुस) में भारीपन, शीत लगना, आममिश्रित सफेद दस्त और अरुचि आदि लक्षण होते हैं।

इ. एकाहिक ज्वर।

(अन्येद्युष्क-कॉटिडियन फीवर—Quotidian Fever)

यह ज्वर एक दिन अर्थात् २४ घण्टेमें एक समय आने वाला तथा दूसरे दिन कुछ न्यूनाधिक समयपर आने वाला है। इस ज्वरको सुश्रुत-संहितामें

मांसाश्रित तथा चरकसंहितामें रक्ताश्रित और मांसाश्रित कहा है। इसमें पित्त या पित्त-कफ दोष अधिक दूषित होता है।

लक्षण—यह ज्वर बहुधा अगस्त सितम्बर (शरद् ऋतु) में विशेष फैलता है। इसका प्रारम्भ प्रायः पीठमेंसे ठण्डी लगकर होता है। शीत, क्षुधानाश, फीका मुँह, प्यास, उबाक, शिरदर्द, प्रलाप, बार-बार थोड़ा-थोड़ा पेशाब मन्द नाड़ी, हाथ-पैर टूटना, तन्द्रा, बहुधा मलावरोध, ये लक्षण इस ज्वरमें प्रतीत होते हैं।

६. तृतीयक ज्वर।

(तृतीयक ज्वर—एकान्तरा आने वाला बुखार—हुम्मागिब खालिस दायरा—टर्शियन फीवर—Tertion Fever)

यह ज्वर एक दिन छोड़ तीसरे-तीसरे दिन आता रहता है। इस हेतुसे इसे तृतीयक ज्वर कहते हैं।

इस ज्वरके ३ विभाग हैं। किसीमें वात-कफकी प्रधानता, किसीमें वात-पित्तकी और किसीमें पित्त-कफकी प्रधानता रहती है। वात कफ प्रकुपित होनेसे पहले पीठमें दर्द होता है, वात पित्त दोषमें पहले शिरदर्द होने लगता है और कफ पित्तोल्वणमें त्रिक्स्थान (कमरके ऊपर और नीचेके सन्धिस्थान) में पीड़ा होती है। तृतीयक ज्वरका दूष्य मेदोधातु है। यह ज्वर शीतकालमें अधिक होता है और इस ज्वरमें प्रायः प्लीहावृद्धि भी होजाती है।

तीन विभाग करनेमें मुख्य तात्पर्य यह है कि, शिरोग्रह होनेपर शिरोविरेचन आदि क्रिया, पीठमें पीड़ा होनेपर कफविलयार्थ स्वेद आदि प्रयोग तथा त्रिक्स्थानके ग्रहण होनेपर विरेचन आदिसे दोषका हरण करना चाहिये।

सिद्धान्त निदानकारने इस ज्वरके मृदु और दारुण, ऐसे दो भेद किये हैं। इनमें मृदुको स्वल्प लिङ्गवाला होनेसे सुखसाध्य और दारुण प्रकार, जिसमें मूर्च्छा, प्रलाप आदि दारुण लक्षण प्रतीत होते हैं; उसे कष्टसाध्य माना है।

मृदु ज्वर—मृदु प्रकारका ज्वर अति तेज होता है; ज्वर १०५ डिग्री तक आ जाता है, कभी १०६ से १०७ डिग्री तक बढ़ जाता है। शीत लगना ज्वरावस्था और घर्मावस्था, ये तीनों अवस्थाएँ १० से १२ घण्टेमें पूर्ण होकर ज्वर उतर जाता है। इस ज्वरकी चिकित्सा जल्दी न होनेसे रोग जीर्ण हो जाता है, तो क्षुधानाश, बद्ध कोष्ठता, पाण्डुता, दुर्बलता, प्लीहावृद्धि, मुँह काला-सा हो जाना, मुँहपर काले धब्बे हो जाना और ज्वर अनियमित आना इत्यादि लक्षण हो जाते हैं।

दारुण ज्वर—यह ज्वर भी तीसरे दिन ही आता है। इस रोगकी उत्पत्ति

रोगनिरोधक शक्ति कम हो जानेपर ही होती है। यह ज्वर बहुधा अति तेज नहीं होता; कचित् अति बढ़ जाता है। किन्तु १०३ से १०४ डिग्री तक रहता है और इसकी द्वितीयावस्था २४ से ३६ घण्टे तक रहती है। कभी कभी दूसरी पारी आने तक भी ज्वर-विषका सूक्ष्मांश शरीरमें शेष रह जाता है। इसमें वमन, शिरःशूल, कटिशूल, अतिसार, पेचिश, बेहोशी, प्रलाप, कभी मुँह या गुदासे रक्त जाना और कचित् कामला, ये सब रूप देखनेमें आते हैं। कभी शीतका प्रारम्भ नहीं होता; और ज्वर बढ़ने लग जाता है, कभी स्वेदावस्था अस्पष्ट रह जाती है। कभी-कभी यह दारुण प्रकार सन्तत ज्वरके समान उग्र मारकरूप धारण कर लेता है, फिर नाना प्रकारके ज्वरातिशय आदि उपद्रव उत्पन्न करता है।

७. चातुर्थिक ज्वर।

(चातुर्थिक ज्वर—दो दिन बाद अर्थात् चौथे रोज आने वाला बुखार-
-हुम्मा राबेआ—कार्टन फीवर-Quartan Fever—

यह चातुर्थिक दारुण विषम ज्वर है। यह सब धातुओंका शोषण करता है तथा बल, वर्ण और अग्निका नाश करता है। इस रोगमें तीनों दोष कुपित होते हैं। इसका विष अस्थि और मज्जा दूष्यमें रहता है। पित्तप्रकोपके साथ जब कफप्रकोप होता है, तब अति शीतसह ज्वर आता है और फिर तीव्र दाहकी भी उत्पत्ति कराता है।

इन विषम ज्वरोंको अथर्ववेदके निम्न मंत्रमें 'तक्मन्' संज्ञा दी है:-

नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि।
ये अन्येद्युरुभयेद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने॥
(१।२६।४)

इस ज्वरके कफाधिक्य और वाताधिक्य, ऐसे दो प्रकार हैं। कफ प्रधान ज्वरका आरम्भ दोनों जङ्घाओंकी पीड़ासेऔर वातप्रधानका प्रारम्भ शिरदर्दसे होता है।

यह ज्वर चौथे-चौथे दिन आता रहता है। बहुधा दो दिन बीचमें नहीं आता, किन्तु कभी-कभी दो दिन तक ज्वर बना रहता है और पहले-पीछे थोड़े-थोड़े समयके लिये शेष भी रह जाता है। ऐसे चातुर्थिक ज्वरको 'चातुर्थिक-विपर्यय' कहते हैं। इस प्रकारके ज्वरमें शक्तिक्षय अधिकाधिक होती जाती है।

सन्तत ज्वरको छोड़ शेष सब प्रकारके एकाहिक, तृतीयक और चातुर्थिक विषम ज्वरोंमें शीतावस्था, ज्वरावस्था और प्रस्वेदावस्था, ये तीनों अवस्थायें सतत ज्वरमें लिखे अनुसार होती हैं। इस ज्वरमें १०४ डिग्री तक ज्वर बढ़ जाता है। फिर दूसरी पारीमें वही १०५ डिग्री तक हो जाता है और अधिक

समय तक रहता है। इसके आगे यह ज्वर अनियमित बन जाता है। कभी जल्दी तो कभी देरीसे आने लगता है। कभी ४-६ पारी आनेके बाद बिना चिकित्सा चला जाता है, परन्तु इससे बहुत-सा रुधिर सूख जाता है; प्लीहा बढ़ जाती है और फिर पुनःपुनः वह आक्रमण करता रहता है। इसीलिये रोग जानेके पश्चात् पथ्यपालनसह प्लीहावृद्धि नष्ट होने तक या कुछ दिनों तक औषध सेवन करते रहना चाहिये।

विषम ज्वरके सब प्रकारोंपर चिकित्सामें लगभग समानता मानी गई है। सबमें सम्हाल भी समान ही रखनी पड़ती है। अतः सब विभागोंके आयुर्वेदीय निदान, लक्षण आदि क्रमशः दिये गये हैं। फिर डाक्टरी निदान आदि दिये हैं। तत्पश्चात् चिकित्सा दी जायगी।

एलोपैथिक निदान आदि।

व्याख्या—विशेष प्रकारके प्राणी कीटाणु, जिन्हें प्लेस्मोडियम (plasmodium) कहते हैं, जो मच्छरोंके दंशद्वारा आक्रमण करते हैं, उनके विषद्वारा ज्वर अपने ठीक समयपर प्राप्त होता है, जो ज्वर क्विनाइनसे शमन होता है, उसे विषम ज्वर (Malarial fever) कहते हैं। कभी-कभी यह घातक स्वरूप धारण कर लेता है तथा चिरकारी पाण्डु और प्लीहावृद्धिकी प्राप्ति कराता है। उष्ण कटिबन्धमें कितने ही स्थान ऐसे हैं, जहाँ मलेरिया स्थानव्यापी और देशव्यापी रूपसे सर्वत्र फैल जाता है।

ये मच्छर सामान्यतः १-२ माइल तक उड़ते रहते हैं; किन्तु कभी वायु उनको १०-१० माइल तक घसीट कर ले जाती है।

मच्छरोंमें अनेक जातियां भी हैं। इनमेंसे एनोफिलिससे विषम ज्वरकी उत्पत्ति होती है। इस एनोफिलिसकी दो उपजातियां भारतमें हैं।

१. एनोफिलिस क्युलिफेसीज (Anopheles Culifaces); और २. एनोफिलिस मेक्युलेटस (A. maculatus) इनमें मेक्युलेटसके पैरोंमें प्रत्यक्ष अनेक सन्धियां हैं। क्युलिफेसिजकी सन्धियां प्रतीत नहीं होतीं। इन दो जातियोंका वर्णन मेन्शन ट्रोपिकल डिजिजमें मिलता है। इन मच्छरोंका बल दिनकी अपेक्षा रात्रिमें बहुत बढ़ जाता है।

इन मच्छरोंमें नर और मादा दो प्रकार हैं। इनमेंसे नर वनस्पतियोंका रस चूसकर जीवन निर्वाह करता है; किन्तु मादा रक्त पीनेकी अधिक प्यासी होती है। यह विषम ज्वरके रोगीको काटती है, तब रक्तके साथ इन कीटाणुओंका भी शोषण कर लेती है। फिर इन कीटाणुओंकी संतान उसके उदरमें बढ़ती

रहती है। पश्चात् जिस-जिस मनुष्यको वह काटती है, उस-उस मनुष्यके रुधिरमें अपने मुखकी लालाके साथ कीटाणु डालती रहती है। प्रारम्भमें मच्छर मादाके उदरमें इनकी अभिवृद्धि होती है। फिर मानव देहमें आनेपर वहाँ असंख्य हो जाते हैं।

जैसे जमीनमें बीज बोनेपर कुछ दिनोंके पश्चात् अंकुर निकलते हैं वैसे कीटाणु वात आदि धातु या रस रक्त आदि दूष्योंमें आश्रित होकर कुछ दिन तक रह जाते हैं। फिर प्रवृद्ध होनेपर फैल जाते हैं, तब उनको निकालनेके लिये सारे शरीरमें उष्णता उत्पन्न हो जाती है।

इन कीटाणुओंकी वृद्धि १-२ या ३ दिनमें करोड़ोंके हिसाबसे हो जाती है, यह रक्तपरीक्षाद्वारा निश्चित हो चुका है। इनकी वृद्धि होती है, तब एकाहिक आदि ज्वर आते हैं। इनके विषका अधिकांश जल जानेपर ज्वर उतर जाता है। उस समय शेष कीटाणु जो बच जाते हैं, वे रक्तमें लीन हो जाते हैं।

कीटाणु प्रकार—मनुष्योंको विषम ज्वर प्राप्ति करानेवाले कीटाणुओंके निम्नानुसार ४ प्रकार हैं :—

१. सौम्य तृतीयक विनायक टर्शियन—प्लाज्मोडियम विवेक्स।
२. अण्डज तृतीयक—ओवल टर्शियन प्ला० ओवल।
३. चातुर्थिक-कार्टन—प्ला० मलेरिया।
४. गम्भीर तृतीयक—मेलिग्नेण्ट टर्शियन-सब टर्शिन-प्ला० फेल्स पेरम।

उपर्युक्त सब प्रकारके कीटाणुओंकी जीवनीका अभ्यास करनेपर विदित होता है कि इन सबका साधारण क्रम एक-सा है।

कीटाणुओंका जीवन-चक्र—उन कीटाणुओंकी प्राप्ति मानव देह रक्तमें होनेपर उनके जीवनचक्रके २ प्रकार होते हैं।

१. रक्ताणुके अन्तर्गत (Intra corpuscular); २. रक्ताणुओंसे बाहर (Extra corpuscular) इनमें जो रक्ताणुओंके अन्तर्गत होते हैं; वे लिङ्ग भेद रहित और बाहर रहते हैं। वे नरमादा भेद युक्त होते हैं।

रक्ताणुओंमें बढ़ने वाले कीटाणु—इनके ४ प्रकार हैं।

१. हिमाटो झून—Haematozoon,
२. ट्राफोझोइट्स—Trophozoites.
३. सिझोण्ट्स—Schizonts.
४. मेरोझोइट्स—Merozoites.

रक्ताणुओंसे बाहर बढ़ने वाले कीटाणु—इसका केवल १ ही वर्ग है। इसके कीटाणुओंको गेमेटोसाइट्स (Gametocytes) कहते हैं। इनमें नर मादा भेद है। नर छोटा और मादा बड़ी होती है।

विषम ज्वरके कीटाणुओंका भेददर्शक कोष्टक।

ज्वर प्रकार	सौम्य तृतीयक (Benign tertian)	चातुर्थिक (Quartan)	गम्भीर तृतीयक (Subtertion)	अण्डज तृतीयक (Oval tertian)
प्लास्मोडियमका भेद	विवेक्स	मलेरिया	फेससीपेरम	ओवल
लिंग रहित (रक्ताणुके अन्तर्गत) उत्पत्ति-चक्र-काल	४८ घण्टे	७२ घण्टे	२४ से ४८ घण्टे	४८ घण्टे
गति	अमीबावत् क्रियाशील	प्रथमावस्थामें मन्दगति युक्त	अमीबावत् क्रियाशील	अमीबा.से भिन्न प्रकार
हिमोफ्नोइन	सुन्दर पीताभ-पिंगल	भद्दा और गहरा पिंगल	अन्य भेदोंसे वर्ण अधिक कृष्ण, भद्दे कणों के समूहमें उपस्थित।	कृष्णाभ पिंगल
ट्रोफोफ्नोइट्स	विभिन्नाकृतिकी मोहर मुद्रा, वर्द्धनशील प्रकार की अनियमित आकृति, रिक्तस्थान युक्त जीवन रस।	प्रथम प्रकारके समान मोहर मुद्रा, वर्द्धनशील प्रकार, कोषयुक्त मुड़ा हुआ, कणयुक्त तथा जीवनरसका रिक्तस्थान शीघ्र अदृश्य होने योग्य।	मोहर मुद्रा छोटी, प्रायः दो स्पष्ट कण युक्त, और कभी रक्ताणुओंके किनारेसे संलग्न।	मुद्रिका द्वितीय प्रकार की कीटाणुओंसे अविभेद्य।
युवा सिफ्नोण्ट्रा	रक्ताणुओंसे बड़ा	रक्ताणुओंसे कुछ छोटा	रक्ताणुओंसे अति छोटा	रक्ताणुओंसे छोटा

मेरोमोइट्स की संतति संख्या	१४ से २४, औसत १८ से २०	६ से १२ और औसत ८ से ६	८ से २४, कभी-कभी इससे भी अधिक।	८ से १२
गेमेटोसाइट्सकी आकृति	गोल या कुछ अंडाकृति, रक्ताणुओंसे बड़ी।	गोल या कुछ अंडाकृति रक्ताणुओंके नाप की।	अर्द्ध चंद्राकार या लगूचा के आकारकी	रक्ताणुओंके समान अंडाकृति
रक्ताणुओंमें परिवर्त्तन	विकृत वृद्धि और पीत-वर्णोत्पत्ति, सेफ़्लर के धब्बों सह।	वृद्धिका अभाव, कुछ संकुचित, सेफलरके धब्बे रहित, कभी जैमनके धब्बे युक्त।	साधारण अपरिवर्तित, चरमावस्थामें पीतवर्ण कभी-कभी मड़े धब्बे सह।	अंडाकृति और अनि-यमित
परिधि प्रान्त और गुहागत रक्तमें कीटाणु-ओंकी आनुपातिक संख्या—	उत्पत्ति चक्रकी विभि-न्नावस्थाके अनुसार शरीर के सब भागोंमें असंख्य कीटाणु।	प्रथम प्रकारवत्।	कीटाणु वृद्धि विशे-षतः अन्तर अवयवोंमें परिधि प्रान्तमें अपरिपक्व कीटाणु बहुत कम।	प्रथम प्रकारवत्।
पुनरावर्तन-प्रबलता	प्राथमिक संक्रमणसे ३॥ वर्ष तक पुनरावर्तन	संक्रमण स्थायी पुन-रावर्तन १० से २१ या अधिक वर्षों तक।	दोनों प्रकारसे न्यून स्थायी, प्रथमावस्थामें संक्रमण तीव्र। प्रथम संक्रमणके ६ मास बाद क्वचित् ही पुनरावर्तन। पुनरावर्तनका पूर्णकाल १॥ वर्ष।	नियमानुसार संक्र-मण कम स्थायी। १॥ वर्ष तक स्थायी।

उक्त कीटाणुओंका जीवन-क्रम भिन्न-भिन्न विषम ज्वरोंमें निम्नानुसार रहता है :—

१. सौम्य तृतीयक (Benign Tertian—Plasmodium vivax)—इन का जीवन-चक्र मानव देहमें ४८ घण्टोंका है। इस ज्वरके भीतर ऊपर जो ट्रोफोझोइट (Trophozoite) प्रकार कहा है, उस जातिके कीटाणु सुन्दर, तेजस्वी, पिङ्गल रङ्गके और मुद्रिका आकारके भासते हैं। ये सब नियमित बढ़ते हैं। इनके प्रकोपसे रक्ताणु गुलाबी रंगके निस्तेज और आकारमें बड़े हो जाते हैं एवं रक्ताणुओंकी अरकान्ति होती है। सिझोण्ट (Schizont) गुलाबकी पंखड़ियाँ फैली हों, ऐसे आकारके गुलाबी रंगके १५-२० के समूहमें नियमित होते हैं। गेमेटोसाइट (Gametocyte) बड़े गहरे रङ्गके और गोल या अण्डाकार होते हैं। रक्ताणुओंकी अपेक्षा बड़े होते हैं।

२. अण्डज तृतीयक (Ovale Tertian-P. ovale)—इसका जीवन-चक्र ४८ घण्टेका लगभग प्लो० मलेरिया के अनुरूप है। केवल गेमेटोसाइट्स अण्डाकार है, इतना अन्तर है।

३. चातुर्थिक (Quartan P. Malarial)—इसका जीवन चक्र ७२ घण्टोंका है। ट्रोफोझोइट गहरे पिङ्गल रंगके और बिनाइन टर्शियनके समान हैं (केवल गतिमें ये मन्द हैं)। रक्ताणु आकार और दिखावमें अपरिवर्तित। सिझोण्ट ६-१२ के समूहमें नियमित होते हैं। गेमेटोसाइट्स बिनायन टर्शियनके समान, किन्तु रक्ताणुओंकी अपेक्षा छोटे।

४. गम्भीर तृतीयक Malignant Tertian-Subtertian-P. Falciparum)—इनमें मुख्य २ उपविभाग हैं। इनमें एक प्रकारवाले प्लीहा आदि यन्त्रोंमें घुस जाते हैं। इनमें चन्द्राकार (Crescents) और मुद्रिकाकार (Ring); ये दो जातियां हैं। दूसरे प्रकारमें गेमेटोसाइट्स हैं वे चन्द्राकार हैं। वे ७ से १० दिनके पश्चात् केवल रक्तमें प्रतीत होते हैं। इनका वर्ण तेजस्वी है। इनमें नर मोटे और मादाकी अपेक्षा तेजस्वी होते हैं।

इनका जीवन-चक्र अनिश्चित है। संभवतः ४८ घण्टोंका। इनमें ट्रोफोझोइट मुख्यतः मुद्रिकाकार हैं। पूर्ण वृद्धि होनेपर रक्ताणुओंकी अपेक्षा छोटे होते हैं। रंग कुछ गहरा। रक्ताणु आकुंचित और गहरे रंगके होते हैं। सिझोण्ट प्लीहामें रहते हैं, वे ६-२० के समूहमें रहते हैं। वे छोटे आकारमें अनियमित तथा व्यवस्थित रहते हैं।

मच्छरकी देहमें कीटाणुओंका जीवन चक्र—मच्छर मादा काटती है तब सामान्यतः मानवरक्तमेंसे लिङ्ग रहित गेमेटोसाइट्स मच्छर मादाके आमाशयमें प्रवेश करते हैं। फिर वहाँपर विकास होकर गेमेटोसाइट्सकी विविध अवस्थाएँ होती हैं। नर-मादा कीटाणु बन जाते हैं।

चक्रकाल—गम्भीर तृतीयक जातिकी अवधि १२ दिनकी और अन्य जातियोंकी ७ से १० दिनकी है। मच्छरोंके भीतर मध्यवर्त्ती कालमें संक्रामकता नहीं रहती।

परिणाम—इसमें जो गम्भीर प्रकार (मेलिग्नेण्ट) है, उसके हेतुसे मृत्यु हो जाती है। उससे चिरकारी निर्बलता और कभी प्लीहाका फटना आदि उपद्रव होते हैं। सामान्यतः आशुकारी मलेरिया घातक नहीं है।

घातक प्रकार (लगभग सर्वदा प्ला० फेल्सीपेरम द्वारा प्राप्त)—प्लीहा सामान्यतः बढ़ जाना और अति मृदु हो जाना; रक्तरंजक द्रव्य प्लीहा, यकृत्, मस्तिष्क और अस्थिमज्जामें प्राप्त होता है। कैशिकाओंमें कीटाणु और रंजक द्रव्य प्रतीत होता है तथा पूर्णांशमें उसका रोध होता है।

जीर्ण विषम ज्वरजनित शक्तिक्षय (Cachexia)—गम्भीर पाण्डु, प्लीहा-वृद्धि (५ से १० पौण्ड), यकृत्की सामान्यतः वृद्धि, रञ्जक द्रव्य प्लीहा, यकृत्, वृक्क और अन्त्रमें विशेष परिमाणमें मिलना; उनका देखाव स्लेट जैसा हो जाना, तथा वृक्कप्रदाह और यकृत्की विशीर्णताकी प्राप्ति होना, ये लक्षण उपस्थित होते हैं।

सम्प्राप्ति—उपर्युक्त कीटाणुओंके रक्तकणोंको खाते रहनेसे रक्तकी न्यूनता और निर्बलता बढ़ती जाती है। साथ ही साथ श्वेत जीवाणु भी कुछ अंशमें कम हो जाते हैं और प्लीहाकी वृद्धि होती जाती है। कारण यह है कि मृत रक्तकणोंकी विकृतिसे देहके अन्य यन्त्रोंको सुरक्षित रखनेके लिये इनका शोषण करनेका कार्य प्लीहा करती है। मृत रक्तकण अत्यधिक हो जानेसे प्लीहाको बड़ी होकर अपना कार्य पूरा करना पड़ता है। किन्तु मृत रक्तकणोंके साथ कीटाणुओंका भी प्लीहामें प्रवेश हो जाता है। इससे प्लीहाके भीतर भी युद्ध होने लगता है। इस तरह प्लीहामें विष या कीटाणुओंके साथ यदि अधिक दिनों तक लड़ाई होती रहती है, तो विषप्रकोपके बढ़ जानेसे प्लीहामें सौत्रिक तन्तु उत्पन्न हो जाते हैं; और उनके कारण प्लीहा दृढ़ और बड़ी प्रतीत होती है। दूसरी ओर यकृत्में कीटाणुओंका प्रवेश होता है और उसमें भी सौत्रिक तन्तु हो जाते हैं एवं देहका वर्ण भी पाण्डु हो जाता है। कारण यह है कि रक्ताणुओंको तोड़कर कीटाणु बाहर निकलते रहते हैं, जिससे प्रति बार असंख्य रक्तकणोंका नाश होता रहता है। इस तरह अस्थिगत मज्जा, मस्तिष्क, मस्तिष्क

उक्त कीटाणुओंका जीवन-क्रम भिन्न-भिन्न विषम ज्वरोंमें निम्नानुसार रहता है :—

१. सौम्य तृतीयक (Benign Tertian—Plasmodium vivax)—इन का जीवन-चक्र मानव देहमें ४८ घण्टोंका है। इस ज्वरके भीतर ऊपर जो ट्रोफोझोइट (Trophozoite) प्रकार कहा है, उस जातिके कीटाणु सुन्दर, तेजस्वी, पिङ्गल रङ्गके और मुद्रिका आकारके भासते हैं। ये सब नियमित बढ़ते हैं। इनके प्रकोपसे रक्ताणु गुलाबी रंगके निस्तेज और आकारमें बड़े हो जाते हैं एवं रक्ताणुओंकी अरकान्ति होती है। सिझोण्ट (Schizont) गुलाबकी पंखड़ियाँ फैली हों, ऐसे आकारके गुलाबी रंगके १५-२० के समूहमें नियमित होते हैं। गेमेटोसाइट (Gametocyte) बड़े गहरे रङ्गके और गोल या अण्डाकार होते हैं। रक्ताणुओंकी अपेक्षा बड़े होते हैं।

२. अण्डज तृतीयक (Ovale Tertian-P. ovale)—इसका जीवन-चक्र ४८ घण्टेका लगभग प्ले० मलेरिया के अनुरूप है। केवल गेमेटोसाइट्स अण्डाकार है, इतना अन्तर है।

३. चातुर्थिक (Quartan P. Malarial)—इसका जीवन चक्र ७२ घण्टोंका है। ट्रोफोझोइट गहरे पिङ्गल रंगके और बिनाइन टर्शियनके समान हैं (केवल गतिमें ये मन्द हैं)। रक्ताणु आकार और दिखावमें अपरिवर्तित। सिझोण्ट ६-१२ के समूहमें नियमित होते हैं। गेमेटोसाइट्स बिनायन टर्शियनके समान, किन्तु रक्ताणुओंकी अपेक्षा छोटे।

४. गम्भीर तृतीयक Malignant Tertian-Subtertian-P. Falciparum)—इनमें मुख्य २ उपविभाग हैं। इनमें एक प्रकारवाले प्लीहा आदि यन्त्रोंमें घुस जाते हैं। इनमें चन्द्राकार (Crescents) और मुद्रिकाकार (Ring); ये दो जातियां हैं। दूसरे प्रकारमें गेमेटोसाइट्स हैं वे चन्द्राकार हैं। वे ७ से १० दिनके पश्चात् केवल रक्तमें प्रतीत होते हैं। इनका वर्ण तेजस्वी है। इनमें नर मोटे और मादाकी अपेक्षा तेजस्वी होते हैं।

इनका जीवन-चक्र अनिश्चित है। संभवतः ४८ घण्टोंका। इनमें ट्रोफोझोइट मुख्यतः मुद्रिकाकार हैं। पूर्ण वृद्धि होनेपर रक्ताणुओंकी अपेक्षा छोटे होते हैं। रंग कुछ गहरा। रक्ताणु आकुंचित और गहरे रंगके होते हैं। सिझोण्ट प्लीहामें रहते हैं, वे ६-२० के समूहमें रहते हैं। वे छोटे आकारमें अनियमित तथा अव्यवस्थित रहते हैं।

मच्छरकी देहमें कीटाणुओंका जीवन चक्र—मच्छर मादा काटती है तब सामान्यतः मानवरक्तमेंसे लिङ्ग रहित गेमेटोसाइट्स मच्छर मादाके आमाशयमें प्रवेश करते हैं। फिर वहाँपर विकास होकर गेमेटोसाइट्सकी विविध अवस्थाएँ होती हैं। नर-मादा कीटाणु बन जाते हैं।

चक्रकाल—गम्भीर तृतीयक जातिकी अवधि १२ दिनकी और अन्य जातियोंकी ७ से १० दिनकी है। मच्छरोंके भीतर मध्यवर्त्ती कालमें संक्रामकता नहीं रहती।

परिणाम—इसमें जो गम्भीर प्रकार (मेलिग्नेण्ट) है, उसके हेतुसे मृत्यु हो जाती है। उससे चिरकारी निर्बलता और कभी प्लीहाका फटना आदि उपद्रव होते हैं। सामान्यतः आशुकारी मलेरिया घातक नहीं है।

घातक प्रकार (लगभग सर्वदा प्ला० फेल्सीपेरम द्वारा प्राप्त)—प्लीहा सामान्यतः बढ़ जाना और अति मृदु हो जाना; रक्तरंजक द्रव्य प्लीहा, यकृत्, मस्तिष्क और अस्थिमज्जामें प्राप्त होता है। कैशिकाओंमें कीटाणु और रंजक द्रव्य प्रतीत होता है तथा पूर्णांशसे उसका रोध होता है।

जीर्ण विषम ज्वरजनित शक्तिक्षय (Cachexia)—गम्भीर पाण्डु, प्लीहा-वृद्धि (५ से १० पौण्ड), यकृत्‌की सामान्यतः वृद्धि, रञ्जक द्रव्य प्लीहा, यकृत्, वृक्क और अन्त्रमें विशेष परिमाणमें मिलना; उनका देखाव स्लेट जैसा हो जाना, तथा वृक्कदाह और यकृत्‌की विशीर्णताकी प्राप्ति होना, ये लक्षण उपस्थित होते हैं।

सम्प्राप्ति—उपर्युक्त कीटाणुओंके रक्तकणोंको खाते रहनेसे रक्तकी न्यूनता और निर्बलता बढ़ती जाती है। साथ ही साथ श्वेत जीवाणु भी कुछ अंशमें कम हो जाते हैं और प्लीहाकी वृद्धि होती जाती है। कारण यह है कि मृत रक्तकणोंकी विकृतिसे देहके अन्य यन्त्रोंको सुरक्षित रखनेके लिये इनका शोषण करनेका कार्य प्लीहा करती है। मृत रक्तकण अत्यधिक हो जानेसे प्लीहाको बड़ी होकर अपना कार्य पूरा करना पड़ता है। किन्तु मृत रक्तकणोंके साथ कीटाणुओंका भी प्लीहामें प्रवेश हो जाता है। इससे प्लीहाके भीतर भी युद्ध होने लगता है। इस तरह प्लीहामें विष या कीटाणुओंके साथ यदि अधिक दिनों तक लड़ाई होती रहती है, तो विषप्रकोपके बढ़ जानेसे प्लीहामें सौत्रिक तन्तु उत्पन्न हो जाते हैं; और उनके कारण प्लीहा दृढ़ और बड़ी प्रतीत होती है। दूसरी ओर यकृत्‌में कीटाणुओंका प्रवेश होता है और उसमें भी सौत्रिक तन्तु हो जाते हैं एवं देहका वर्ण भी पाण्डु हो जाता है। कारण यह है कि रक्ताणुओंको तोड़कर कीटाणु बाहर निकलते रहते हैं, जिससे प्रति बार असंख्य रक्तकणोंका नाश होता रहता है। इस तरह अस्थिगत मज्जा, मस्तिष्क, मस्तिष्क

आन्तरत्र और वृक्कस्थान, इन स्थानोंमें रक्ताधिक्यसह प्रदाह हो जाता है। इन सब स्थानोंकी रक्त-वाहिनियोंमें असंख्य कीटाणुओंकी आबादी हो जाती है। रक्तकणोंकी अधिक मृत्यु होती रहनेसे मूत्रमें यूरियाकी मात्रा बढ़ जाती है और मूत्र कुछ गाढ़ा भी हो जाता है।

रक्तविकृति—आशुकारी अवस्थामें रक्तके भीतर कीटाणुओंकी सम्प्राप्ति, रक्ताणुओंका ह्रास, रक्तवर्ण द्रव्यकी न्यूनता, श्वेताणु और लसीकाणुओंकी कमी, एक केन्द्र युक्त बड़े श्वेताणुओंकी वृद्धि तथा रञ्जक द्रव्यमें परिवर्तन आदि चिह्न प्रतीत होते हैं।

विषमज्वरजनित शक्तिक्षय होनेपर गौण पाण्डु, रक्ताणुओंका ह्रास (१ मिलीमीटरमें २० लक्ष हो जाना), रक्तरञ्जक द्रव्यका ह्रास और श्वेताणु न्यूनता आदि चिह्न उत्पन्न होते हैं।

विषम ज्वर प्रकार—

१. सौम्य तृतीयक ज्वर—Benign and ovale tertion fever.
२. चातुर्थिक ज्वर—Quartan fever.
३. गम्भीर तृतीयक ज्वर—Malignant tertion fever.
 A. नियमित विराम युक्त—Regulat intermittent.
 B. अनियमित और अविरामयुक्त—Irregular and remittent.
 C. घातक प्रकार—Pernicious.
 I. बेहोशी और मस्तिष्क विकृतिसह–Comatose and Cerebral type.
 II. उत्ताप ह्रास युक्त—Algid type-
 III. यकृत् विकारमय अविराम—Bilious remittent.
४. शक्ति क्षय सह जीर्ण विषम ज्वर—Malarial Cachexia.

सौम्य तृतीयक ज्वर

(Benign and Ovale Tertian fever)

ये दोनों प्रकार सौम्य ज्वरके हैं। इनमें शीत-वेपनावस्था, उष्णावस्था और स्वेदावस्था, ये तीनों अवस्थायें नियमित उपस्थित होती हैं।

चयकाल—अनिश्चित। प्रयोग परसे अनुमानित ६ से २५ दिन। सामान्यतः ११ दिन। विनाइनकी अपेक्षा भी ओवलमें विशेष सौम्य लक्षण उपस्थित होते हैं।

विभिन्न अवस्थाएं—पूर्वरूप या प्रारम्भावस्था, शीतावस्था, उष्णावस्था, स्वेदावस्था, ये ४ अवस्थायें भासती हैं।

१. पूर्वावस्था (Premonitory stage)–कुछ घण्टों तक बेचैनी रहती है।

२. शीतावस्था (Cold stage)—अकस्मात् आक्रमण, क्लान्ति, शिरदर्द, प्राय: उबाक और जम्भाई, वेपन और शीतका जल्दी बढ़ना, (इस शीतावस्थामें त्वचा निस्तेज बलहीन हो जाती है और भीतर उत्तापवृद्धिका आरम्भ हो जाता है) फिर उत्ताप अधिकसे अधिक १०४° से १०६° तक शीघ्र बढ़ना, त्वचा शीतल और नीली हो जाना, नाड़ीद्रुत और निर्बल, शिरदर्द कभी गम्भीर हो जाना तथा कभी वमन होना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। इस अवस्थाकी स्थिति १५ मिनिटसे १ या २ घण्टे तक होती है।

३. उष्णावस्था (Hot stage)—इसका प्रारम्भ मुखमण्डलकी तेजी सह होता है। शीत दूर होकर देह उष्ण हो जाती है, मुख, हाथ और त्वचा रक्तसंग्रह युक्त हो जाते हैं, रोगी उष्णता और शिर दर्द एवं दाह अनुभव करता है। अति तृषा, उबाक आदिका शमन भीतर उत्ताप गिरनेका प्रारम्भ हो जाना, नाड़ी पूर्ण तथा श्वसन तेजीसे होना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं। यह अवस्था आधसे ४ या ६ घण्टेतक रहती है।

४. स्वेदावस्था (Sweating stage)—पहले घर्म मुखमण्डलपर आता है, फिर देहमें सर्वत्र आने लगता है। ज्वरके उपरामका भास होता है और प्राय: निद्रा आने लगती है।
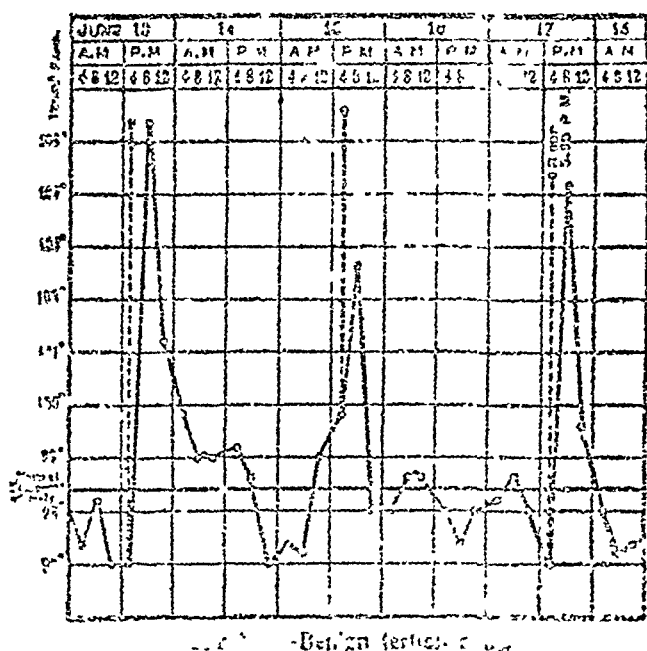
चित्र नं. २५—सौम्य तृतीयक ज्वरमें उत्ताप-दर्शक चित्र।

इस ज्वरावस्थामें प्लीहा प्रायः बढ़ जाती है। इस तरह ओष्ठपर पिटिका हो जाना, शुष्क कास (श्वास-नलिका-प्रदाह), ये सामान्य उपद्रव भी उपस्थित होते हैं। अनेक बार शीतावस्थाकी प्रबलता बहुत कम या मामूली होती है और उष्णावस्था अति स्पष्ट होती है। कभी-कभी लक्षण गम्भीर बन जाते हैं। सब अवस्था मिलकर १०-१२ घण्टे लग जाते हैं।

बिनाइनकी अपेक्षा ओवल अधिक सौम्य है; किन्तु इस ओवलका आक्रमण विशेषतः अकस्मात् होता है। क्रम समय थोड़ा होता है और लक्षण मंद होते हैं। रक्ताणुओंका नाश करके अधिक पाण्डुता लाना अथवा शारीरिक विकृति करना, ऐसा कुछ भी कष्ट नहीं पहुँचाता। इस प्रकारमें संधि, कटि और उपान्त्र प्रदेशमें कुछ वेदना होती है। जब इस प्रकारके साथ गम्भीर तृतीयकके कीटाणु मिल जाते हैं; तब प्लीहावृद्धि आदि उपद्रव उपस्थित होते हैं।

मध्यवर्त्ति काल (Interval)—दो आक्रमणोंके मध्यवर्ती समयमें कोई लक्षण नहीं भासता। केवल एक बिनाइन प्रकारका चक्र ४८ घण्टेका होता है। पुनः लक्षणोंका प्रारम्भ विशेषतः ठीक ४८ घण्टे होनेपर होता है। यह आक्रमण अत्यन्त सामान्यतः मध्याह्नसे मध्य रात्रिके भीतर होता है।

संतत ज्वर प्रकार—एकाहिक (Quotidian) ज्वरोंमें निम्नानुसार विविध प्रकार होते हैं:—

१. द्विगुण तृतीयक (Double benign tertion.)
२. त्रिगुण चातुर्थिक (Triple Quartan infection.)
३. गम्भीर तृतीयक (Malignant tertion.)
४. अन्य किसी समयपर रक्तके भीतर सूक्ष्मावस्थामें रहे हुए कीटाणुओं द्वारा एक गुणा आक्रमण।

इनके अतिरिक्त अनेक प्रकारके कीटाणुओंके आक्रमणसे मिश्रित प्रकार
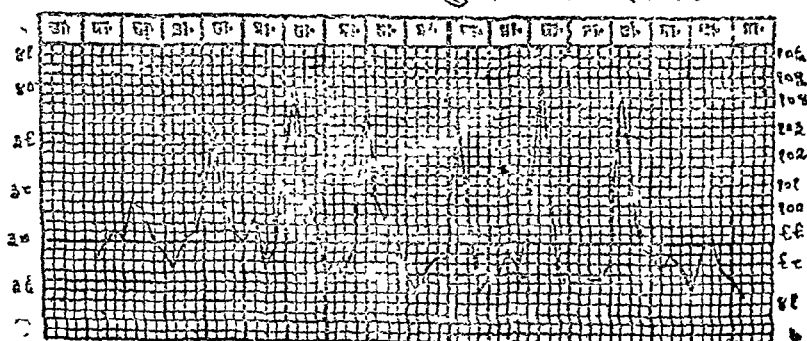
चित्र नं० २६—एकाहिक ज्वरमें उत्ताप।

भी बन जाता है। द्विगुण तृतीयक और त्रिगुण चातुर्थिकका तात्पर्य है कि तृतीयक ज्वर ४८ घण्टोंमें दो बार और चातुर्थिक ज्वर ७२ घण्टोंमें ३ बार आवे अर्थात् प्रतिदिन आता रहे। इसका स्पष्ट बोध आगे पंक्ति चित्रोंपरसे सहज ही हो सकेगा।

चातुर्थिक ज्वर (Quartan fever)।

व्याख्या—इस चातुर्थिक ज्वरकी संप्राप्ति प्लाज्मोडियम मलेरिया नामक कीटाणुओं द्वारा होती है। लक्षणात्मक अवस्था सौम्य तृतीयक ज्वरके समान होती है। इसका चक्र ७२ घण्टेका है। इसकी पुनराक्रमणकी गति-विधिमें अन्तर होता है। जीर्ण ज्वरात्मक निर्बलता लक्षित नहीं होती।

चयकाल—११ से १८ दिन। सामान्यत: १४ दिन।

लक्षण और अवस्था—प्राय: सौम्य तृतीयकके समान होते हैं। यह ज्वर कितने ही रोगियोंमें १०५°-१०६° तक बढ़ जाता है, बालकोंमें ज्वर अधिक और शीघ्र बढ़ता है और कम भी शीघ्र होता है। निर्बलोंमें ज्वर कम रहता है।
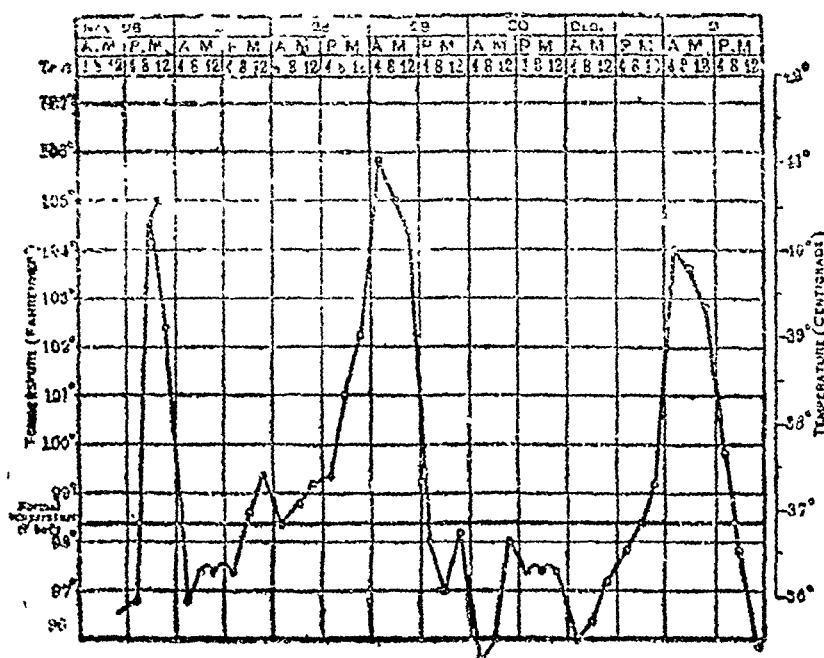
चित्र नं० २७—चातुर्थिक ज्वरमें उत्ताप।

कभी-कभी यह ज्वर दुराग्रही बनकर दृढ़ होजाता है। फिर वर्षों तक कितने ही रोगियोंको कष्ट पहुँचाता है। सौम्य तृतीयक और गम्भीर तृतीयकके कीटाणु किनाइनके अधीन हो जाते हैं। किन्तु इसके कीटाणु कभी-कभी किनाइनको नहीं मानते। यह इनकी विचित्रता है।

गम्भीर तृतीयक ज्वर ।

(Malignant Tertian or Subtertion fever)

इस ज्वरकी सम्प्राप्ति सम शीतोष्ण कटिबन्धमें विशेषत: ग्रीष्म और शरद ऋतुमें तथा उष्ण कटिबन्धमें सब ऋतुओंमें होती है।

चयकाल—२ से १४ दिन । विशेषत: ६ दिन ।

जीवन चक्र—२४ या ४८ घण्टे नियमित विरामसह । संभवत: इसके अनेक प्रकार होते हैं । इनमें प्राय: दो जातियां इस क्रमके लिये उपयुक्त हैं ।

इस ज्वरके स्वभाव, लक्षण और क्रम, अनियमित तथा विविध प्रकारके हैं । ज्वर-जनित शक्तिक्षय सामान्यत: लक्ष्य देने योग्य होता है । इसके वर्णनके लिये ३ प्रकार किये जाते हैं । १. नियमित सविराम; २. अनियमित संतत; और ३. घातक ।

१. नियमित सविराम (Regular Intermittent)—इसकी अवस्था और लक्षण सौम्य तृतीयक और चातुर्थिकके सदृश होते हैं । इसका आक्रमण १६ से ३६ घण्टेके भीतर होता है । कीटाणुओंके जीवन-चक्रकी लम्बाईमें विविधता रहती है । सब अवस्थाओंके मिल-कर लगभग ४८ घण्टे हो जाते हैं । बीचमें कुछ घण्टे ही रिक्त होते हैं । शीतावस्था प्राय: बहुत कम होती है । शीतका असर कमरपर होता है । उष्णावस्था लम्बी होती है । उत्ताप अति धीरे-धीरे बढ़ता-घटता है ।
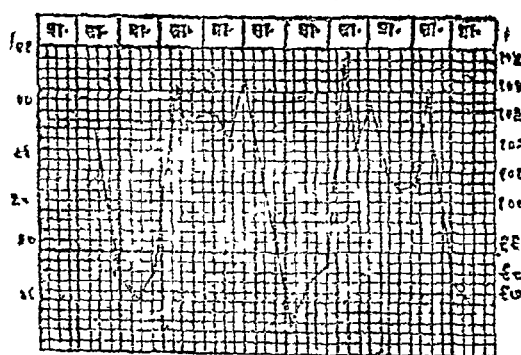
चित्र नं० २८—दारुण तृतीयक ज्वरमें मिथ्या उपशमसह उत्तापदर्शक रेखाचित्र ।

२. अनियमित संतत (Irregular and remittent)—इस प्रकारमें ज्वर दीर्घकाल पर्यन्त बना रहता है । इस प्रकारमें ज्वरके उपशम और लक्षणोंका आविर्भाव सब अनियमित हैं । सम्भवत: यह मर्यादा-कालसे अधिक समय तक रहता है ।

स्पष्ट लक्षण—प्रकार भेदसे लक्षण विविध प्रकारके होते हैं । निर्बलता, मललिप्त जिह्वा, उत्ताप १०१° से १०३°, नाड़ी पूर्ण, प्लीहा बढ़ी हुई, लगभग मधुराके सदृश लक्षण किन्तु अतिसार क्वचित् ही होता । सामान्यत: लक्षणोंका

मंद आविर्भाव अकस्मात् होता है। स्पष्ट वेदना नहीं होती। उत्तापवृद्धि अनियमित होती है।

क्रम और उन्नति--यह ज्वर कुछ अपवादोंके अतिरिक्त किनाइनसे काबूमें आजाता है। यदि योग्य चिकित्सा न की जाय तो १. सौम्य प्रकार १-२ सप्ताह तक बना रहता है, २. कभी मधुराके समान बन जाता है। उसे डाक्टरीमें आन्त्रिक संतत ज्वर (Typhoid remittent fever) कहते हैं; अथवा ३. पाण्डुता और निर्बलताकी वृद्धि करके गम्भीर रूप धारण कर लेता है। फिर घातक प्रकारकी उन्नति होती है।

३. घातक प्रकार (Pernicious form)—यह प्रकार पूर्ववर्ती मंद विषम ज्वरके प्रदर्शनके साथ अति तेजीसे बढ़ता है। सब अवस्थाओंमें कीटाणु प्रायः विशाल संख्यामें वर्त्तमान रहते हैं। यह प्रकार उष्ण कटिबंधमें अधिक होता है; तथा विशेष शीतल जिलोंमें क्वचित् ही होता है। इसमें मृत्यु संख्या ज्यादा रहती है।

कीटाणु विविध स्थानोंमें अवस्थित होकर विविध प्रकार उत्पन्न करते हैं। क्वचित् सौम्य तृतीयक (Benign) और चातुर्थिक ज्वरके कीटाणु भी इस प्रकारके रूपको धारण कर लेते हैं।

इन गम्भीर कीटाणुओंसे उपर्युक्त प्रकारोंके अतिरिक्त कभी-कभी और ३ प्रकार भी दृष्टिगोचर होते हैं। १. मूर्च्छायुक्त; २. उष्णताह्रास प्रकार; ३. पैत्तिक प्रकार।

१. **मूर्च्छायुक्त** (Comatose form Cerebral malaria)–यह घातक प्रकारमें अत्यन्त सामान्य है। मृत्युसंख्या अत्यधिक। मस्तिष्ककी रक्तप्रणालियोंमें बहुसंख्य कीटाणु होते हैं। इनमें निम्नानुसार उप प्रकार भासते हैं:—

अ- ज्वरावस्था–इसमें बेहोशी बढ़कर मूर्च्छा आजाती है। सामान्यतः यह शान्त प्रकार है। उत्तापकी विविधता भासती है। प्राय: बढ़ता है, किन्तु फिर स्वाभाविक हो जाता है। तीक्ष्ण प्रलाप उपस्थित होनेपर मूर्च्छा आ जाती है। अचेतनावस्था १२ से २४ घण्टे रह कर स्वस्थावस्था आजाती है। कभी अशुभ परिणाम आजाता है तथा कभी-कभी दूसरी बार क्लेशप्रद मूर्च्छा आकर स्वस्थावस्थाकी प्राप्ति होती है।

आ–अत्यधिक ज्वरावस्था–(कभी १०७° से अधिक) उत्ताप बढ़ता ही जाता है। फिर उन्माद होकर मूर्च्छा आजाती है। उससे मृत्यु हो जाती है। वारंवार लक्षण अंशुघात ज्वर सदृश होते हैं।

इ–अकस्मात् मूर्च्छा-संन्यास या अपस्मारके समान मूर्च्छा। उत्तापमें विविधता

होती है। सामान्यतः १०१° से १०३°। सामान्यतः पूर्ववर्ती मलेरियाके लक्षण भासते हैं। कभी मृत्यु १-२ दिनमें हो जाती है।

२. उष्णताह्रास प्रकार (Algid form)—इस प्रकारमें २ उपविभाग हैं। शक्तिक्षय; आ-विसूचिका प्रकार।

अ- शक्तिक्षय (Adynamic Type)—इस प्रकारमें मुख्य लक्षण बलह्रासमें वृद्धि और निर्बलता भासती है, नाड़ी मन्द रहती है। शारीरिक उत्ताप स्वाभाविककी अपेक्षा प्रायः कम ही रहता है; या कुछ बढ़ता है। श्वसन द्रुत होता है। वमन सामान्यतः होना; शीत लगते रहना, पेशाबका अभाव हो जाना आदि रोग-प्रदर्शक लक्षण उपस्थित होते हैं। इसमें अनेक बार मृत्यु हो जाती है। अन्त तक बुद्धिज्ञान अवस्थित रहता है।

आ-विसूचिका (Choleraic Type)—इस प्रकारमें वमन और अतिसार वर्त्तमान होते हैं। अन्त्रस्थ आम और प्रणालियोंके भीतर इस रोगके कीटाणु बहु संख्य रहते हैं।

३. पैत्तिक संतत प्रकार (Bilious remittent fever)—पूर्ववर्त्ती लक्षण कामला, यकृत्पित्तमय वान्ति, हृदयाधरिक प्रदेशमें वेदना, हिक्का तथा वमन और दस्तमें रक्त जाना आदि भासते हैं। चिकित्सा न करनेपर परिणाम अशुभ आता है।

उपद्रव और भावी क्षति—वात-नाड़ियोंके अन्तभागका प्रदाह; अर्धाङ्ग पक्षाघात (यह मूर्च्छायुक्त प्रकार और सामान्य लक्षणोंकी उग्रता होनेपर); सामान्य अचिर स्थायी दृष्टिनाश (मूर्च्छा प्रकारमें); अति क्वचित् मांसपेशियोंका तीव्र कम्पन तथा अति क्वचित् किसी-किसी स्थानपर प्रणालियोंकी दीवारें दृढ़ हो जाना।

कभी-कभी सगर्भावस्थामें प्लाज्मोडियम फेल्सिपेरम कीटाणुओंद्वारा विषम ज्वरकी सम्प्राप्ति होती है, तब घातक लक्षण उपस्थित होते हैं। अधिक मास हो गया हो तो मस्तिष्क विकृतिदर्शक लक्षण अकस्मात् प्रकट होते हैं। उस समय सगर्भाको आक्षेप (Eclampsia) सदृश लक्षण भासते हैं।

कभी-कभी विषमज्वर गुप्त रूपसे सगर्भापर आक्रमण करता है। इसकी सम्प्राप्ति आक्षेप वृक्क प्रदाह आदिके हेतुसे विषसंग्रह होनेपर होती है। विष-संग्रह होनेपर रक्तदबावकी वृद्धि होती है, ये सबसे महद् लक्षण हैं।

इसी तरह कभी-कभी शिशुओंपर विषमज्वरका आक्रमण होता है। इनमें गम्भीर तृतीयकके कीटाणु होनेपर बड़े मनुष्योंकी अपेक्षा रोग-लक्षण अधिक गम्भीर होते हैं। सौम्य तृतीयकके कीटाणु होनेपर भी अनेक बार भयसूचक

चिह्न प्रकट होते हैं। किन्तु यह निश्चयपूर्वक अधिक घातक नहीं होता; सरलतापूर्वक प्रशमित होता है।

एकाहिक ज्वर।
(Quotidian fever)

इस प्रकारके ज्वरकी संप्राप्ति सौम्य तृतीयक ज्वरके द्विगुण कीटाणु, गम्भीर तृतीयक ज्वरके द्विगुण कीटाणु या चातुर्थिक ज्वरके त्रिगुण कीटाणुओं से होती है। कभी मिश्रित प्रकारके संक्रमणसे भी ऐसा होता है।

जीर्ण विषम ज्वर।
(Malarial Cachexia)

विषम ज्वर अधिक दिनोंतक रहनेपर जीर्णावस्थाको प्राप्त होता है। इसके मुख्य दो लक्षण हैं—पाण्डुता और प्लीहावृद्धि। इनके अतिरिक्त त्वचाका धूसराभ नीला होना, कभी-कभी उत्ताप बढ जाना तथा रक्तके भीतर कुछ-कुछ कीटाणु मिलना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। दीर्घकाल पर्यन्त चिकित्सा करनेसे रोग काबूमें आता है।

उपर्युक्त लक्षणोंके अतिरिक्त क्षुधानाश, मुँह बेस्वादु रहना, अपचन होना, व्याकुलता, चक्षु निस्तेज, मुखमण्डल उदासीन, कितनेही रोगियोंकी जिह्वा और तालुपर काले दाग हो जाना, निद्रानाश, हाथपैर टूटना, कमरमें दर्द होना, मलावरोध रहना, पेशाब थोड़ा और पीला होना, उदरमें भारीपन, थोड़े परिश्रमसे श्वास भर जाना, शीतोष्ण सहन करनेकी शक्तिह्रास आदि गौण लक्षण प्रतीत होते हैं। किन्तु ये सब लक्षण रोग-निर्णायक नहीं माने जाते।

आशुकारी अवस्थामें प्लीहा शोथमय और मुलायम होती है तथा जीर्णावस्थामें बढ़ी हुई और अति कठोर होती है।

कितनेही रोगी, जिन्होंने क्विनाइनका सेवन अधिक किया हो या अन्य शराब, धूम्रपान आदिका व्यसन अधिक हो; उनको प्रायः रक्तस्राव होता है। नाक, मुँह, गुदा आदिसे यह स्राव होता है।

कितनेही रोगी अपचन और मलावरोधके वशवर्त्ती प्रतीत होते हैं। उनकी चिकित्सा करनेमें इस बातपर विशेष लक्ष्य देना चाहिये।

साध्यासाध्यता—तृतीयक और चातुर्थिक ज्वरमें बहुत कम मृत्यु होती हैं। उपद्रव उपस्थित होने या जीर्णावस्थाकी प्राप्ति होनेपर कृशता अधिक आती है, फिर अशुभ परिणाम आता है।

गम्भीर तृतीयकमें जो घातक प्रकार है, उसमें मृत्युसंख्या अधिक रहती है।

पुनराक्रमण—बारबार आक्रमण होता रहता है। सौम्य (Benign) तृतीयक और चातुर्थिक ज्वरमें ५० प्रतिशत पुनः आक्रमण हो जाता है। गम्भीर प्रकारमें सामान्यतः कम आक्रमण होता है। पुनराक्रमण शीत लगने, अस्वस्थ होने, शस्त्रक्रिया करने आदिसे हो जाता है।

गुप्त आक्रमण—यह प्रकार लक्षणोंके प्रकट हुए विना होता है। इसमें देहके भीतर गुप्त विष संग्रह होता है। जब कुछ दृढ़ कीटाणु शेष रह जाते हैं तब उनका सामान्य जीवनचक्र बनकर फिर अकस्मात् ऐसा होजाता है। नरमादा कीटाणु प्लीहामें अवस्थित होते हैं। अकस्मात् बीजोत्पत्ति असंभव है।

पुनराक्रमणकी अधीनताकी अवधि—सौम्य (Benign) तृतीयककी सामान्यतः १ वर्ष या ४ वर्ष तक। अण्डज (Ovale) तृतीयककी कम अवधि। चातुर्थिकका विष अविरत बलवान् ६ वर्ष या इससे भी अधिक समय तक आक्रमण कर सकता है। गम्भीर तृतीयकका डर १॥ वर्ष तक। विषम ज्वर स्वभावसे मर्यादायुक्त संक्रामक है।

उपद्रव—चातुर्थिक ज्वरमें वृक्कप्रदाह एवं उसके साथ मधुरा, फुफ्फुस-प्रदाह, प्रवाहिका आदिकी संप्राप्ति हो सकती है।

पार्थक्यदर्शक रोग विनिर्णय—काला आजार आदि ज्वर, मधुरा, क्षयमें प्रलेपक ज्वर (Hectic fever), अंशुघातमें गम्भीर प्रकार और पीत ज्वर, आदिसे पृथक् करना चाहिये। रक्तपरीक्षा इसके लिये सर्वोत्तम साधन है। गम्भीर प्रकारमें रक्तके भीतर चन्द्राकार कीटाणुओंकी उपस्थिति तथा मुद्रिका-कारकी अति वृद्धि हो जाती है; वे ही रोगकी प्राप्ति कराते हैं।

जीर्णावस्थामें प्लीहावृद्धि और पाण्डु उपस्थित होते हैं। उनका भी अन्य रोगोंसे प्रभेद करना चाहिये।

विषम ज्वर चिकित्सोपयोगी सूचना

विषम ज्वर चिकित्सामें २ प्रकार हैं। १. प्रतिबंधक (रोगोत्पत्ति-रोधक) उपचार; २. रोगोपशमनकारक चिकित्सा।

१—प्रतिबन्धक उपाय (Prophylactic treatment)—डाक्टरी मत अनुसार इस ज्वरकी सम्प्राप्ति मच्छरोंके काटनेपर होती है। अतः मच्छरोंको नष्ट करनेके लिये निम्नानुसार उपाय करने चाहिये:—

(अ) जलमय भूमिसे अधिक ऊंचाईवाले स्थानमें जहाँ स्वच्छ मकान हो, उसमें रहना चाहिये। मकानको स्वच्छ रखें, प्रकाश वाले मकानमें रहें; सीलवाले स्थानोंमें न रहें। मशहरी (मच्छर दानी) लगा कर सोवें। मोरी, टट्टी आदि स्थानोंको स्वच्छ रखें। मलिन जल या वर्षाका जल किसी स्थानमें

संचित न हो यह सम्हालें। भोजन बनाने, पीने, बर्तन मांजने, कपड़े धोने आदिके लिये जलको सम्हालपूर्वक सुरक्षित रखें।

(आ) लोबान, गूगल या रालका धूप रोज ठीक सन्ध्या समय करते रहनेसे मच्छर भाग जाते हैं।

(इ) तमाखू या गन्धकका धुँआ करनेसे मच्छर चले जाते हैं, परन्तु गन्धकके धुँएसे खराब होनेवाला सामान कमरेमेंसे बाहर निकाल लेना चाहिए, तथा धुँआ करनेपर खिड़की और दरवाजे बन्द करके मनुष्योंको भी बाहर निकल जाना चाहिये।

(ई) निम्न मच्छरनाशक मिश्रण तैयारकर मच्छरोंके स्थानोंपर छिड़क देनेसे सब मच्छर मर जाते हैं:—

पेट्रोल	Petrol	१ गैलन
कार्बोलिक एसिड	Carbolic Acid	८ औंस
नेफथेलिन	Nephthalene balls	८ औंस
फोर्मेल्डी हाइड	Formaldhyde	४ औंस
ऑइल सिट्रोनेला	Oil Citronella	४ औंस

इन सबको मिलाकर फ्लिटकी तरह छिड़कें।

(उ) अच्छे केरोसीन तैल १ गैलनमें कार्बन टेट्रा क्लोराइड (Carbon Tetrachloride) २ औंस मिलाकर मच्छरोंके स्थानोंपर छिड़कते रहनेसे मच्छर नष्ट हो जाते हैं।

(ऊ) विषम ज्वरके प्रकोप-कालमें अपथ्य सेवनसे आग्रहपूर्वक बचना चाहिये। रोज तैलमर्दन करके स्नान करना चाहिए। भोजनपर भोजन (अध्यशन), अपचनमें भोजन, बासी अन्न, सड़ा हुआ फल या शाक आदि हानिकर पदार्थोंका त्याग करना चाहिये।

२ रोगशामक चिकित्सा (Curative)—रोगीको लिटाये रखना चाहिये, कोष्ठबद्धता हो तो उसे प्रारम्भमें ही दूर कर देना चाहिए।

नव्य मतानुसार रोगीको प्रारम्भमें लङ्घन कराकर केवल दूधपर रखें। दोपहरको मोसम्बीका रस अंगूर या अनार दे सकते हैं। अमरूद विषम ज्वरके कीटाणुओंका दुश्मन है। केवल अमरूद खिलानेसे चातुर्थिक ज्वर भी अनेक बार बिना औषधसे शमन हो जानेके उदाहरण मिले हैं। ज्वरावस्थामें यदि रोगीको भोजन कराया जाता है तो प्लीहावृद्धि अधिक होती है और ज्वर भी शीतसह प्रबल आक्रमण करता है।

जल गरम करके शीतल होनेपर आवश्यकतानुसार देते रहें। जल पिलानेमें संकोच नहीं करना चाहिये।

कमरेमें प्रातः सायं धूप करें। मच्छर विशेषतः सन्ध्या कालमें ही आते हैं। अतः सूर्यास्तके बाद ठीक सन्ध्या होनेपर धूप नियमित करते रहें।

कोई उपद्रव उत्पन्न हो जाय तो उपद्रवानुसार चिकित्सा करें। उपद्रवोंके लिए विशेष चिकित्सा त्रिदोषज ज्वर चिकित्सामें लिखे अनुसार करें।

शीतरहित संतत ज्वरपर—प्रारम्भमें विषको जलाने और दोषको पचन करानेके लिये रत्नगिरी रस धनिया-मिश्रीके हिमके साथ देना विशेष लाभदायक है। इसके बाद लक्ष्मीनारायण रस, मधुरान्तक वटी और प्रवालपिष्टी देते रहनेसे ज्वर जल्दी शमन हो जाता है। इन तीनों औषधियोंको नियमपूर्वक प्रातःसायं देते रहें। दोपहरको मधुरान्तक वटी और प्रवालपिष्टी दें। किन्तु लक्ष्मीनारायण रस न दें।

प्रारम्भसे ही इन तीनों औषधियोंका प्रयोग किया जाना अत्यन्त हितकर है। इन औषधियोंके प्रयोग कालमें लंघन किया जाय तो कदापि नया उपद्रव नहीं हो सकता; अधिक शक्तिपात नहीं होता और विष जलकर ज्वर निःसन्देह थोड़े ही दिनोंमें दूर हो जाता है।

अनेक समय इस ज्वरमें अतिसार होकर मन्थरज्वरके समान रूप प्रतीत होते हैं। उस समय अतिसारको जल्दी बन्द करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिए। मन्थर ज्वरके समान इसकी चिकित्सा करें। अति शक्तिपात होनेपर सूतशेखर रसका सेवन करावें।

शीतप्रधान ज्वर—रोगीको शीतका आरम्भ हो तब सुलाकर कम्बल आदि वस्त्र उढ़ा देवें, रोगीसे थोड़ी दूरपर निर्धूम कण्डोंकी जलती हुई अँगीठी रखें या पलँगके नीचे गरम राखका बर्तन रखें तथा पैरोंपर गरम ईंटसे सेक करें, या गरम जलकी बोतलोंको पैरोंपर फिरावें।

अधिक प्रस्वेद लानेवाली औषध देनी हो, तो धनिया-मिश्रीके क्वाथ या इनके हिमके साथ अथवा चिरायता, कुटकी, धमासा और पित्त-पापड़ा, इन ४ औषधियोंके हिम या क्वाथके साथ रत्नगिरी रस देना चाहिये। पित्तज्वरान्तक वटी देनेसे भी प्रस्वेद आकर ज्वर उतर जाता है।

आमाशयमें दूषित भोजन या विकृत पित्त-कफ हो, तो ६ माशे राई और ६ माशे नमकको आध सेर निवाये जलमें मिलाकर पिला देवें। अथवा मैनफल और छोटी पीपलको निवाये जलके साथ दें। इससे ५-७ मिनटमें दूषित पित्त या भोजन वमन होकर निकल जाता है। इतनेसे वमन न हो, तो राई, नमक या मैनफलवाला जल अधिक पिलावें।

ठंड दूर होनेपर भयङ्कर उष्णता बढ़े, तो मस्तिष्कके रक्षणके लिये कलमी-शोरा, नौसादर और नमक १-१ तोलेको आध सेर जलमें मिला, उसमें कपड़ेकी चार तहवाली पट्टी भिगो, साधारण निचोड़कर कपालपर रखें। थोड़े-थोड़े समयपर पट्टीको बदलते रहें। प्रस्वेद लानेके लिये बफारा, चाय अथवा अन्य औषध दें। पसीना आकर कपड़े भींग जानेपर शरीरको पोंछकर कपड़े बदल दें। कपड़े बदलते समय तेज वायु न लग जाय, इस बातकी संभाल रखें। ज्वर शमन हो जानेपर भी ज्वर उत्पादक सेन्द्रिय विष (कीटाणुओं) को नष्ट करनेके लिये कुछ दिनों तक औषध देते रहना चाहिये।

पालीका ज्वर जिस दिन आने वाला हो, उस दिन समय बीत जाय, तब तक रोगीको कुछ भी खानेको नहीं देना चाहिये अन्यथा ज्वर अधिक बलसे आवेगा। यदि आवश्यकता ही हो, तो निर्बल प्रकृतिवालों और बच्चोंको थोड़ा दूध पिलावें।

विषम ज्वरमें अधिक परिमाणमें तेल, गुड़, घृत और तेज खटाई हानि पहुँचाते हैं, अतः ज्वर जानेके बाद भी कुछ समय तक घृत, गुड़, खटाईके अधिक सेवनसे बचाना चाहिये।

अनेक समय क्विनाइन लेते-लेते ज्वर अधिकाधिक प्रकुपित होता जाता है। ऐसे समयपर किरातादि अर्क विष शमनार्थ देवें; तथा विश्वतापहरण, शीतभञ्जी या अचिन्त्यशक्ति रस देवें। ज्वर निवृत्त होकर मंद-मंद उष्णता उत्पन्न होती रहती है, या निर्बलता रह जाती है, तो सुवर्णमालिनी वसन्त या लघुमालिनी वसन्त देवें। इन वसन्तमालिनियोंमें विषघ्न, हृद्य, यकृत्प्लीहाको शक्ति प्रदान करना, जीर्ण ज्वरको शमन करना और मस्तिष्कको बल देना इत्यादि गुण हैं। क्विनाइनका विष और सेन्द्रिय विष, दोनोंको ये दूर करती हैं।

क्विनाइन सेवनसे किसीको बधिरता आगई हो और ज्वर चला गया हो, तो बधिरताको दूर करनेके लिये कामदुधा, सुवर्णमाक्षिक भस्म सेवन कराना चाहिये।

दाहप्रधान आशुकारी ज्वर व रक्तपित्तके रोगी, पित्तप्रकोपके रोगी, अम्ल-पित्तके रोगी और अन्य जिनसे क्विनाइन सहन न होता हो, उनको क्विना-इन देनेपर हृदयस्पन्दनोंकी वृद्धि, निद्रानाश, वृक्क कार्यमें प्रतिबन्ध, रक्त-दबावृद्धि आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। ऐसे रोगियोंको विश्वतापहरण, शीतभञ्जी, अचिन्त्यशक्ति रस; कल्पनाथ वटी, सप्तपर्ण वटी आदि औषध देनी चाहिये।

सतत ज्वर—यह ज्वर रस धातुमें दोष रहनेके कारण भोजनके पश्चात्

शीत सहित आता है, अतः वमन और लङ्घन कराना अत्यन्त हितावह है।

भगवान् धन्वन्तरिने कहा है, कि सन्ततादि विषम ज्वरोंकी चिकित्सामें रोगीकी देह, वमन, विरेचन या वस्तिद्वारा शोधन कर लेना हितावह है। रोगी क्षीण हो, तो वमन, विरेचन न करावें। केवल दूधकी निरूह वस्ति देकर शोधन करें।

भगवान् आत्रेय कहते हैं कि विषम ज्वरमें वातप्रकोप अधिक हो, तो सिद्ध घृत (षट्पलादि घृत) का पान, अनुवासन वस्ति तथा स्निग्ध और उष्ण गुण वाले पदार्थोंका सेवन करा कर वात ज्वरका शमन करना चाहिये। पित्तप्रकोप शमनार्थ सिद्ध घृतमिश्रित निवाया दूध पिलाकर मलशुद्धि कराना चाहिये और शीतल, कड़वी औषध देकर ज्वरको दूर करना चाहिये एवं कफकी प्रधानतामें वमन, पाचन औषध, लङ्घन, रूक्ष चिकित्सा और चरपरी औषधियोंके क्वाथ आदि देवें।

एकाहिक तृतीयक और चातुर्थिक—इन सब प्रकारोंपर उपचार सतत ज्वरकी चिकित्साके अनुसार करें। यदि पहले ज्वरकी कितनीही पारी होगई हों तो प्रथम वमन-विरेचन आदिसे शोधन करके चिकित्सा प्रारम्भ करें। किन्तु क्षीण देहवालेको वमन-विरेचन न देवें। केवल दूध या जलकी निरूह वस्ति द्वारा कोष्ठ-शुद्धि कर लेवें।

पारीका जीर्ण ज्वर—यदि ज्वर पारीके दिन आ जाता है, तो उस दिन ज्वरको रोकने वाली औषध देवें। फिर पथ्यपालन सह सुवर्ण वसन्त, संशमनी वटी, प्लीहान्तक वटी (लोहयुक्त) जीर्ण ज्वरान्तक वटी आदि जीर्ण लीन विषकी नाशक औषध देते रहें।

डाक्टरी मत अनुसार किनाइन देनेपर कीटाणु शीघ्र नष्ट होकर ज्वर रुक जाता है।

यह विषम ज्वर भारतवर्षमें अज्ञ समाजको विशेष त्रास पहुँचा रहा है। कितनेही रोगी इस ज्वरसे आक्रान्त होते हैं। योग्य चिकित्सा नहीं कराते। कितनेही व्यक्ति औषध ही नहीं लेते। उनको दीर्घकाल तक यह सताता रहता है। इनके अतिरिक्त कई लोग किनाइन या किसी पेटेण्ट औषधका सेवन कर लेते हैं और मान लेते हैं कि हमने योग्य उपचार कर लिया। उनको पुनः-पुनः ज्वर आता रहता है। फिर शनैः-शनैः रोग-निरोधक शक्ति और शारीरिक व्यवस्था शिथिल होती है। पश्चात् आगे यही ज्वर नूतन उपद्रवोंसह उपस्थित होता है अथवा अन्य रोग आक्रमण कर देता है। इस तरह आजीवन दुःख भोगते रहते हैं। अतः बुद्धिमानोंको चाहिये कि, इसे सामान्य न मानें। यह तीनों दोषों और रस, रक्त आदि सब धातुओंको दूषित करनेवाला घोर शत्रु है।

आक्रमण होनेपर तत्काल योग्य चिकित्सकका आश्रय लेवें; पथ्य पालन करें; लीन विषको जलानेका उपचार करें और पूर्ण बल और स्वास्थ्यकी प्राप्तिके लिये योग्य उपायोंकी योजना करें।

शीत लग कर ज्वर आनेपर सब ज्वरोंको मलेरिया मान कर किनाइन न ले लेवें या शरद् ऋतु होनेपर मलेरिया न मान लेवें। क्वचित् मोतीझरा, शीतला, रोमान्तिका, आदि प्रकार होनेपर किनाइन हानि पहुँचा देता है।

उपदंश, पूयजन्य ज्वर, इन्फ्लुएन्ज़ा, गर्दनतोड़ बुखार, राजयक्ष्मा आदि होनेपर भी मलेरिया मानकर केवल किनाइनसे चिकित्सा करते रहेंगे, तो भी रोग बढ़ जायगा। फिर विविध उपद्रवोंकी उत्पत्ति हो जायगी। अतः ज्वरका निर्णय करके चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये।

वमन, अतिसार, शिरदर्द, रक्तस्राव, कास, निद्रानाश, प्रलाप आदि लक्षणोंके प्रति लक्ष्य रख करके चिकित्सा करनी चाहिये। जो अधिक तीव्र कष्टप्रद लक्षण हों, उन्हें शीघ्र दूर करनेका उपचार करना चाहिये।

निद्रानाश अथवा वमन-अतिसार (विसूचिका जैसी स्थिति), ये लक्षण उपस्थित हों तो अफीम प्रधान औषध, कस्तूर्यादि वटी, महावातराज या अन्य देना चाहिये।

वमन होती हो, तो नीबूके रसको थोड़े-थोड़े जलमें या शर्बतमय जलमें मिलाकर पिला देवें। एवं गुडूच्यादि क्वाथ बार-बार पिलाते रहें। सूतशेखर + प्रवाल + गिलोयसत्व भी हितकारक है। थोड़ी मात्रामें बार-बार देना चाहिये।

रक्तस्राव होता हो तो उष्ण औषध किनाइन आदि नहीं देनी चाहिये। सूतशेखर + प्रवालपिष्टी + गिलोय सत्व अति हितकारक हैं। अनुपान रूपसे उशीरादि क्वाथ, मधुरज्वरान्तक क्वाथ या अमृताष्टक क्वाथ देना चाहिये।

प्रलाप, कम्प, निद्रानाश, कपड़े फेंकना आदि लक्षण उपस्थित हों, नेत्रमें अधिक लाली न हो, तो हिंगुकर्पूर वटी उत्तम औषध है। प्रसूताको भी यह दी जाती है। इसका पाठ रसतन्त्रसार दूसरे खंडमें है। अथवा कस्तूरी-प्रधान औषध भी दी जाती है।

शक्तिक्षय हो, नाड़ी शिथिल हो, तब उत्तेजक औषध-अभ्रक भस्म, रस-सिन्दूर, लक्ष्मीविलास आदि देवें। डाक्टरीमें सर्वार्क देते हैं। वृद्धों और बालकोंके लिये विशेष लक्ष्य देना चाहिये।

ज्वरकी अति वृद्धि होनेपर डाक्टरी मत अनुसार शीतल स्नान, बर्फके जलकी बस्ति, शिरपर बर्फ रखना आदि उपचार किया जाता है।

एलोपैथीमें इस रोगकी प्रधान औषध किननाइन है। किन्तु बढ़ते ज्वरमें किननाइनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। अन्यथा रोगीको कष्ट अधिक पहुँचता

है। ज्वर कम होने या न होनेपर देना चाहिये। उतरते ज्वरमें और स्थिर ज्वरमें क्विनाइन देना विशेष आपत्तिकर नहीं है।

सौम्य मलेरिया हो तो क्विनाइनके स्थानपर सिंकोना फेब्रिफ्युज (जिस पौधेके मूल और शाखा आदिमेंसे क्विनाइन निकलता है वह) देना चाहिये। आयुर्वेदिक मत अनुसार उसे उचित औषध माना जायगा। क्विनाइनको तो विष ही कहेंगे। क्विनाइनसे रोग-निरोधक शक्ति निर्बल होती है। असंख्य रक्ताणुओंका नाश होता है। मस्तिष्क, यकृत्, नेत्रेन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय आदिको हानि पहुँचती है। अतः जब तक बिना क्विनाइन ज्वर दूर हो सके तब तक इससे दूर रहना ही अच्छा माना जायगा।

क्विनाइनका विषाक्त असर—एलोपैथिक ग्रन्थोंके प्रणेता सर हेनरी ले० टाइडी ने निम्नानुसार दर्शाया है :—

१. क्विनाइनसे–पहले उबाक (चक्कर आना, बेचैनी और कर्णगुञ्ज-अव्यक्त ध्वनि) होती है। फिर वमन, बधिरता (कभी-कभी स्थायी बधिरता), हृत्स्पन्दन वृद्धि, त्वचापर पिटिकाएँ निकलना, स्वभावमें भेद हो जाना, पेशाबके साथ रक्त जाना और दृष्टिमान्द्य आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

कुछ वर्षोंमें नव्य चिकित्साशास्त्रियोंने एटेब्रिन, फिर प्लाज्मोक्विन, तत्पश्चात् पेल्युड्रीन, मेपाक्रीन; इस तरह कई ओषधियोंका विषम ज्वरकी सफल ओषधि रूपसे प्रचार किया था। कुछ समयके बाद इन सबमें दोष दर्शाकर त्याज्य दर्शायी थी।

वर्तमानमें केमोक्विन (Chemoquine) को सफल निर्दोष औषध मान कर उसका प्रयोग बड़े मनुष्यको ३ टेबलोइड हो रहा है। किन्तु वह भी निर्दोष नहीं है। अनेकोंको वमन आदि कराकर कष्ट पहुँचाती है। इसमें क्या हानि है? यह कुछ समय जानेपर चिकित्सक समाजके दृष्टि-समक्ष आ जायगी।

तीव्र औषधियां शीघ्र लाभ पहुँचाती हैं, ऐसा जनता मान रही है; किन्तु यह भ्रमपूर्ण है। इसके परिणाममें रोग-निरोधक शक्तिका क्षय होता है और भीतर विषकी वृद्धि होती है। इनके विपरीत रस-रक्तादि धातुयें और विभिन्न संस्थानोंमें अवस्थित मलका शोधन करते हुए प्रकृतिके अनुकूल रोग-निरोधक शक्तिकी वर्द्धक, सौम्य औषधि दी जावेगी, उतना ही शरीर भविष्यमें स्वस्थ और सबल रह सकेगा।

वर्त्तमानमें क्विनाइनका अन्तःक्षेपण करनेका रिवाज भी अधिक बढ़ गया है। अन्तःक्षेपण मस्तिष्कविकृति; शक्तिक्षय और उष्णताका अति ह्रास होनेपर शीघ्र लाभ पहुँचाता है। तथापि अन्य सामान्यावस्थामें अन्तःक्षेपणकी अपेक्षा

मुँहसे देना विशेष निर्भय माना जाता है। अन्तःक्षेपण करनेपर पूर्णांशमें स्वच्छता रखनी चाहिये; अन्यथा स्फोटक और आक्षेप उपस्थित होते हैं एवं प्रमादवश शिरा या मांसमें अन्तःक्षेपण करनेपर कुछ अंश अन्य स्थानमें चला जाय तो अति कष्ट उत्पन्न कराता है।

एलोपैथीके मत अनुसार शरद्ऋतुमें रोगनिरोधक (Suppressiveor Prophylactic) चिकित्सा रूपसे एकाध मास तक प्रतिदिन ५-१० ग्रेन किनाइन लेते रहना चाहिये। किन्तु वह भारतीयोंके लिये हितकर नहीं माना जायगा। क्विनाइन-विष भीतर उत्पन्न होता है और रोगनिरोधक शक्ति निर्बल होती है।

उबाक, खट्टी वमन, छातीमें जलन आदि पित्तप्रकोपके लक्षण होनेपर किनाइन देनेपर लाभ नहीं पहुँचता, प्रत्युत हानि होती है।

घातक प्रकार और मस्तिष्क विकृति प्रकारमें एलोपैथी मतके अनुसार सामान्यतः शिरामें एक या दो इन्जेक्शन शीघ्र दे देना चाहिये; तथा उसी समय एड्रिनलीन १० बूँदों (१-१०००) का भी अन्तःक्षेपण कराना चाहिये। इससे अकस्मात् रक्त दबाव गिर जाता है।

सगर्भाको किनाइन कम मात्रामें (ट्रोपिकल डिजीजकारके मत अनुसार ३-३ ग्रेन ८-८ घण्टेपर दिनमें ३ बार) दिया जाता है। मात्रा बढ़नेपर गर्भपातका भय रहता है। अथवा एटेब्रिन देना चाहिये। मलेरिया वटी (नं० २) बिलकुल निर्भय औषध है।

सूतिकाको क्विनाइन ५-५ ग्रेन या कम मात्रामें दे सकते हैं। २ मात्रायें देनेपर फिर परिणाम देखना चाहिये। फिर आवश्यकता न रहे, तो क्विनाइन न देवें।

विषम ज्वरके पश्चात् पाण्डुताको दूर करनेके लिये आयुर्वेदमें जिस तरह सुवर्ण वसन्तको प्रधानता दी जाती है, उस तरह एलोपैथीमें मल्ललोह मिश्रण दिया जाता है। किन्तु शिरदर्द, पेशाबमें पीलापन, जिह्वा मलावृत, अरुचि और हाथ-पैर टूटना आदि लक्षण हों तब तक ज्वरहर औषध देनी चाहिये और गुरु भोजन नहीं देना चाहिये। गुरु भोजन देनेसे बल नहीं बढ़ता; इसके विपरीत ज्वरवृद्धि हो जाती है।

यकृत् और प्लीहा स्थानमें वेदना होनेपर राईका लेप, राई मिश्रित पुल्टिसप्रयोग करना चाहिये।

यकृत् प्लीहा वृद्धिपर कितनेही चिकित्सक कच्चे पपीतेका दूध, किञ्चित् अफीम और शक्कर मिला गोलियाँ बनाकर प्रातः-सायं सेवन कराते हैं। इससे २०-२५ दिनोंमें यकृत्-प्लीहावृद्धि दूर होती है।

ज्वरके शमन होनेके पश्चात् विष शेष रहा हो तब तक गुड़, खटाई, सूर्यके तापका सेवन या अन्य अपथ्य ग्रहण करनेपर पुनः ज्वर आने लगता है।

इसलिये विषम ज्वर दूर होनेपर भी २-३ मास तक पथ्यका आग्रहपूर्वक पालन करना चाहिये और ५-१० दिन तक कम मात्रामें ज्वर-निवारक औषध लेनी चाहिये।

संतत ज्वर चिकित्सा।

दोष पचनके लिये—रत्नगिरी रस, निम्बादि चूर्ण, अमृतचूर्ण या महासुदर्शन चूर्ण ३-४ दिन तक देते रहना चाहिये। इनके अतिरिक्त ज्वरावस्थामें विषको जलानेके लिये प्रवालपिष्टी २-२ रत्ती, २-२ घण्टेपर देते रहना अति हितकारक है।

कोष्ठबद्धता हो, तो—प्रारम्भमें आरग्वधादि क्वाथ या अभ्रकंचुकी रस अथवा ज्वरकेसरी वटी देकर कोष्ठ-शुद्धि करावें। किन्तु विरेचक औषध बार-बार न दें। इनमें आरग्वधादि क्वाथ अति सौम्य और उत्तम औषध है।

रोगशामक औषधियाँ—विश्वतापहरण रस, शीतभंजी रस, लक्ष्मीनारायण रस, नारायण ज्वराङ्कुश, महाज्वराङ्कुश, अचिन्त्यशक्ति रस, मलेरिया वटी, विषम ज्वरान्तक वटी, इनमेंसे अनुकूल हो वह देते रहें। इनमें लक्ष्मीनारायण रस अधिक सौम्य है। यदि शीत अधिक है, तो शीतभञ्जी रस देना विशेष हितकर है। मल प्रधान शीतभंजी रस (दूसरी विधि) अचिन्त्य शक्ति रस या नारायण ज्वरांकुश देना हो, तो कम मात्रामें देवें। पित्तकी अधिकता रहती हो, उनको विश्वतापहरण विशेष अनुकूल रहता है।

वमन अधिक हो तो—प्रवालपिष्टी, कामदुघा रस, सूतशेखर रस, वान्तिहृद् रस, एलादि चूर्ण, एलादि वटी, अमृताष्टक क्वाथ, कण्टकार्यादि क्वाथ, इनमें से अनुकूल औषध रोगशामक औषधके साथ देते रहें। हम बार-बार सूतशेखर, प्रवालपिष्टी और गिलोय सत्त्व मिलाकर देते हैं तथा नींबूका रस शक्कर के साथ देते हैं।

दुर्गन्धयुक्त अतिसार हो तो—सर्वाङ्ग सुन्दर रस, सूतशेखर रस या कनकसुन्दर रस देवें तथा लंघन कराना चाहिए। फिर संतरा, मोसम्बी, सेब या अनार देना चाहिए।

वृक्कस्थानपर शोथ हो तो—रोगशामक औषधके साथ (आध घण्टे पश्चात्) शिलाजीत २-२ रत्ती दिनमें २ समय देते रहें या सौंफका अर्क देते रहें। इससे प्यास, दाह और मूत्रावरोध दूर होते हैं। अथवा वसन्त कुसुमाकर रस या मूत्रकृच्छ्रान्तक रस दिनमें २ बार देते रहें।

प्रलाप शमनके लिये—प्रलापहर लेप लगावें; तथा कस्तूर्यादि वटी या वातकुलान्तक रस अथवा हिंगुकर्पूर वटी दिनमें २-३ वार देवें। तगरादि कषाय अथवा ब्राह्मीका क्वाथ दिनमें २ या ३ समय पिलानेसे भी प्रलाप शीघ्र दूर

होता है और शान्त निद्रा आ जाती है।

जीर्णरोग हो तो—गदमुरारि रस (अमृतारिष्टके साथ), जयमंगल रस, अष्टमूर्ति रसायन, लक्ष्मीनारायण रस, इनमेंसे प्रकृति और रोगबलका विचार करके देवें। यदि पहले उपदंश हो गया हो, तो अष्टमूर्ति रसायन देना विशेष हितकर है। मलावरोध रहता हो तो गदमुरारि देवें। विषको शनैः शनैः जलाकर लाभ पहुँचानेकेलिए जयमंगल अत्युत्तम औषध है। अचिन्त्यशक्ति रस मल्लप्रधान है। अतः सम्हालपूर्वक देना चाहिए।

जीर्णरोगमें शक्तिके रक्षणार्थ—वसन्तकुसुमाकर रस, मृगाङ्क रस, हेमगर्भपोटली रस (अतिसार हो, तो), लक्ष्मीविलास रस या पूर्ण चन्द्रोदय रस (द्राक्षारिष्टके साथ), इनमेंसे कोई भी औषध हृदयकी निर्बलता हो गई हो, तो देते रहें। अथवा ब्राह्मीवटी, मौक्तिक पिष्टी और गिलोय सत्वको शहदके साथ मिलाकर दिनमें २ समय देते रहनेसे हृदय शिथिल नहीं होता, और मस्तिष्कशक्तिका संरक्षण होता है।

सतत ज्वर चिकित्सा।

(१) दोषपाचन और शोधनार्थ—त्रिफला २ तोलेका क्वाथकर ६ माशे गुड़ मिलाकर प्रातःकाल पिला देवें।

(२) गिलोय, नीमकी अन्तरछाल और आँवलेका क्वाथकर शहद मिलाकर दिनमें २ समय पिलावें।

(३) इन्द्रजो, परवलके पत्ते और कुटकीका क्वाथकर पिलानेसे मलशुद्धि होकर ताप दूर हो जाता है।

(४) वर्धमान पिप्पली प्रयोग—गौके दूधमें ४ गुना जल और पीपल पीस मिला, दूध शेष रहे तब तक उबाल कर पिलावें। रोज १-१ या ३-३ पीपलें और उसके साथ थोड़ा दूध भी बढ़ाते जावें। इस तरह ७ या १० दिन तक बढ़ावें। फिर क्रमशः पीपल घटाते जावें। इस प्रयोगसे जीर्ण विषम ज्वर शमन हो जाता है।

(५) लहसनको तिलके तैलमें मिला, चटनी बनाकर खिलावें।

(६) कलौंजीको अग्निमें भून, गुड़ मिलाकर दिनमें २ बार खिलावें।

(७) भाँगको गुड़में मिलाकर खिलानेसे ज्वर रुक जाता है।

(८) तुलसी या द्रोणपुष्पीके स्वरसमें कालीमिर्च मिलाकर पिलावें।

(९) कल्पनाथ वटी—कल्पनाथ (कालमेघ) चूर्ण ५ तोले, कालीमिर्च २॥ तोले और शुद्ध वच्छनाभ ३ माशे, इन तीनोंको मिला कल्पनाथके रस या क्वाथसे ३ घण्टे खरल कर १-१ रत्तीकी गोलियाँ बनालें। मात्रा- २ से ४

गोली दिनमें ३ समय निवाये जलसे देते रहनेसे विषम ज्वर दूर हो जाते हैं।

(१०) छोटी हरड़, काली मुनका और जीरेका क्वाथ अथवा द्रोणपुष्पी या तुलसीके रसमें कालीमिर्चका चूर्ण मिलाकर पिलानेसे दोष पचन होकर ज्वर दूर हो जाता है।

(११) इन्द्रजौ, परवलके पत्ते और कुटकीका काथ बनाकर पिलावें।

(१२) निर्गुण्डीके हरे पत्तेको मसल वस्त्रमें बाँधकर बार-बार सूँघते रहने और इसके रसकी ४-५ बूँदें नाकमें डाल देनेसे भी शीत ज्वर दूर हो जाता है।

(१३) २ रत्ती फिटकरीका फूला मिश्रीके साथ देनेसे शीत ज्वर दूर होजाता है।

(१४) अमृताष्टक काथ, नागरादि क्वाथ (तीसरी विधि), देवदार्वादि काथ (दूसरी विधि), महासुदर्शन चूर्ण, लघु सुदर्शन चूर्ण, अमृत चूर्ण, निम्बादि चूर्ण, करंजादि वटी, विषमज्वरान्तक वटी, ज्वरारि वटी, लक्ष्मीनारायण रस, मलेरिया वटी, भूतभैरव चूर्ण, हरतालगोदन्ती भस्म, शम्बूक भस्म, महाज्वरांकुश, मृत्युञ्जय रस इनमेंसे अनुकूल औषध देनेसे दोष-पचन होकर ज्वर उतर जाता है। ये सब औषधियाँ हितकारी हैं। इन सबको अनेक बार हमने प्रयोगमें ली हैं और ले रहे हैं।

(१५) बद्धकोष्ठ हो तो—अश्वकंचुकी रस या ज्वरकेसरी वटी अथवा महाज्वरांकुश (दूसरी विधि) दिनमें दो या एक बार देते रहें।

(१६) कफप्रधान ज्वर हो, तो—विश्वतापहरण रस, शीतभंजी रस, मलेरिया वटी, नारायण ज्वरांकुश, मल्लादि वटी, अचिन्त्यशक्ति रस, ज्वरमुरारि अर्क, भूतभैरव चूर्ण, हरताल भस्म, त्रिभुवनकीर्ति रस (तुलसीके रस और शहदके साथ), इनमेंसे अनुकूल औषध देनेसे ज्वर शीघ्र दूर हो जाता है।

इस ज्वरके प्रारम्भमें मलशुद्धि कर लेनी चाहिये, पश्चात् अमृत चूर्ण देनेसे ज्वर शीघ्र दूर हो जाता है। कफ आदि उपद्रव भेदसे या प्रकृति भेदसे लाभ न होनेपर कफाधिक रोगमें हम मल्ल-युक्त औषध देते हैं। परन्तु जो सोमलवाली औषध सहन नहीं कर सकते उनको विश्वतापहरण रस या शीतभंजी रस देते हैं। नाजुक प्रकृति और पित्तप्रधान प्रकोपवालोंको विशेषतः लक्ष्मीनारायण रस या सुदर्शन चूर्ण ही देते रहते हैं।

एलोपैथीमें क्विनाइन विषम ज्वरके लिये उत्तम औषध मानी गई है। क्विनाइनमें क्विनाइन सल्फास, क्विनाइन बाई सल्फ, क्विनाइन हाइड्रोक्लोराइड, क्विनाइन बाई हाईड्रोराइड, क्विनाइन हाईड्रो ब्रोमाइड और यूक्विनाइन (स्वादरहित क्विनाइन) आदि अनेक प्रकार हैं। कितनेही समय जल्दी कार्य लेनेके लिये जब हमें भी क्विनाइन वाली औषध देनी पड़ती है, तब ज्वर-

मुरारि अर्कका उपयोग करते हैं या केपसुलमें क्विनाइन भर कर निगलवा देते हैं। किन्तु किसीसे क्विनाइन सहन नहीं होती है और क्विनाइन देनेकी आवश्यकता भी है, तब हम दूध पिलाकर मलेरिया वटी नं. २ देते हैं। किनाइन देकर दूध पिलानेकी अपेक्षा दूध पिलानेके पश्चात् किनाइन देनेमें व्याकुलता नहीं होती; और हानि भी कम होती है।

सप्तपर्णघन वटीका पाठ रसतन्त्रसार द्वितीय खण्डमें दिया है। वह सौम्य और उत्तम औषध है। विषम ज्वरपर लाभ पहुँचाती है। बालक, स्त्रियों आदिको निर्भयतापूर्वक दे सकते हैं।

जीर्णज्वर हो गया हो, तो—सुवर्णमालिनी वसन्त, लघुमालिनी वसन्त, जयमंगल रस, गदमुरारि रस, अमृतारिष्ट, चन्दनादि लोह, इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन करावें। ज्वर अधिक रहता हो तो जयमंगल रस देवें। प्लीहा-वृद्धि हो तो सुवर्णमालिनी या लघुमालिनी देवें। यदि मूत्रदोष हो, या पित्त प्रधानता हो तो चन्दनादि लोहका सेवन करावें। जीर्णज्वरके लिये अधिक विचार आगे जीर्णज्वर चिकित्सामें किया जायगा।

ज्वरनाशक अञ्जन—लहशुनादि अञ्जन या प्रचेतानाम गुटिकाका अञ्जन करानेसे ज्वरका वेग शिथिल हो जाता है।

एकाहिक ज्वर चिकित्सा।

इस रोगमें सतत ज्वरमें लिखी हुई औषधियांही दी जाती हैं, क्योंकि सब प्रकारके विषम ज्वरोंका कारण एक-सा होनेसे औषधियां भी बहुधा समान ही हैं।

(१) त्रिफला, मुनक्का, नागरमोथा और कूड़ेकी छालका क्वाथ कर पिलानेसे अन्येद्युष्क ज्वर शमन हो जाता है।

(२) काकजंघा, खरैंटी, काली तुलसी, ब्रह्मदण्डी, लज्जालु, पृश्निपर्णी, अपामार्ग, सहदेवी, भाँग और भांगरा, इनमेंसे किसी एककी जड़को निमन्त्रित कर पुष्य नक्षत्रमें उखाड़, लाल डोरेसे लपेट कर हाथ या गलेमें बाँध देनेसे एकाहिक ज्वर चला जाता है।

(३) अरनीकी जड़को शिरपर बाँधनेसे (या पीसकर शिरपर) लेप करनेसे विषम ज्वर नष्ट हो जाते हैं।

(४) ज्वर आनेसे पहले अपामार्गकी मूलको कुमारीके काते हुए सूतसे शिखा पर बांध देनेसे या अपामार्गकी मूलका टुकड़ा पानके साथ खिला देनेसे ज्वर नहीं चढ़ता।

(५) अगस्त्यके पत्तोंका रस सुंघानेसे एकाहिक और चातुर्थिक आदि ज्वर रुक जाते हैं।

(६) उल्लूके दाहिनी ओरके परको सफेद सूतमें बाँधकर कानपर बाँध देनेसे एकाहिक ज्वर शमन हो जाता है।

(७) तुलसी पत्र और अदरककी चाय बनाकर पिलानेसे एकाहिक ज्वर रुक जाता है।

(८) आकके ४ फूलोंकी गुड़में गोली बनाकर खिला देनेसे रोज आने वाला विषम ज्वर दूर हो जाता है।

(९) गोकर्णी या ब्रह्मदण्डीके रसकी ४-४ बूंदें नाकमें डालनेसे विषम-ज्वरका विष नष्ट हो जाता है।

(१०) नौसादरका चूर्ण २ से ३ रत्ती मिश्री या गुड़में मिलाकर दिनमें २ समय खिलानेसे विषम ज्वरकी निवृत्ति होती है।

(११) सफेद कनेर या आककी मूलको शनिवारकी शामको निमन्त्रण देवें। फिर रविवारको सूर्योदयसे पहले किसीसे न बोलकर मूल निकाल लावें। पश्चात् कुमारी द्वारा काते हुए काले सूतसे बांध, धूप देकर कानपर बाँधनेसे विषम ज्वर दूर हो जाते हैं। स्त्रियोंको बाँधना हो तो बांये कानपर बांधें।

(१२) सूर्योदयसे पहले स्नान कर कुश और पीपलका पत्र हाथमें लेकर निम्न मन्त्रसे तिलोदक देने (तर्पण करने) से एकाहिक ज्वर चला जाता है :-

गङ्गाया उत्तरे कूले अपुत्रस्तापसो मृतः।
तस्मै तिलोदके दत्ते मुञ्चत्येकाहिको ज्वरः॥

(१३) अनुचर और मातृगण सह उमापति सदाशिव भगवान्का पूजन करनेसे तुरन्त विषम ज्वर चला जाता है।

(१४) विष्णु सहस्र नामद्वारा सर्व व्यापक चराचरपति विष्णु भगवान्की स्तुति करनेसे विषम ज्वर दूर हो जाता है।

(१५) शुद्ध जलसे स्नान कर, पवित्र वस्त्र पहन, भगवान् सदाशिवका ध्यान कर, श्रद्धा सह पीपल (अश्वत्थ) के पत्ते पर निम्न मन्त्र लिख, रोगीके दाहिने हाथपर बाँधनेसे एकाहिक और तृतीयक ज्वर चला जाता है।

वानरस्य मुखं दिव्यमादित्योदयसन्निभम्।
ज्वरमेकान्तरं घोरं दर्शनादेव नश्यति॥१॥
अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च।
वाराणस्यां च यद्वृत्तं तत्र स्मर शिवं चरम्॥२॥

(१६) मन्दिरमें शामको जाकर देवके पास ज्वर नष्ट करनेकी प्रार्थना करें। सुबह थोड़ा अनाज (२-४ मुट्ठी) देवके पास रखकर प्रार्थना करें कि ज्वरको यहाँ रख लें। सुबह मन्दिरमें जानेके समय देव-प्रार्थनासे पहले रास्तेमें किसीसे वार्त्तालाप न करें तो ज्वरकी पाली टल जाती है।

भयंकर उष्णता बढ़ जाय, तो—शिरपर या उदरपर बर्फकी थैली रखें।

प्यास शमनके लिये—बर्फके टुकड़े चूसें अथवा आलूबुखारा या मुनक्का मुँहमें रखें।

प्लीहा-यकृत्‌में सौत्रिक तन्तु होने और शोथ आनेपर—राई और अलसीकी पुल्टिस बाँधें और उसे दिनमें ४-६ समय बदलें। या अस्थिदोषहर सेक (प्रथम विधि) से सेकें।

जीर्ण ज्वर हो, तो—अष्टमूर्ति रसायन, अमृतारिष्ट, चन्दनादि लोह, सुवर्णमालिनी वसन्त, लघुमालिनी वसन्त, षट्पल घृत, पञ्चगव्य घृत, कल्याण घृत, इनमेंसे किसी भी अनुकूल औषधका सेवन करावें।

यदि ज्वर पारीके दिन आता रहता है तो उस दिन उसे रोकनेवाली औषध दें। शेष समयपर सुवर्णमालिनी वसन्त आदि औषधियोंमेंसे कोई एक औषध देते रहें।

तृतीयक ज्वर-चिकित्सा।

इस ज्वरमें औषध सतत और सन्तत ज्वरमें लिखी हुई दी जाती है। अधिक पारी हो गई हो तो पहले वमन-विरेचन आदिसे शरीर-शोधन करके चिकित्सा करना विशेष हितकारक है। किन्तु क्षीण देहवालेको वमन विरेचन न दें। केवल दूधकी निरूह बस्ति द्वारा कोष्ठ-शुद्धि करें।

जिसका ज्वर कषाय आदि औषध, वमन, विरेचन, लङ्घन, स्वेदन और लघु भोजनसे शमन न हुआ हो, और शरीर शुष्क होता रहता हो, तो उसकी चिकित्सा सिद्ध घृत आदिसे करनी चाहिये। किन्तु १० दिन बीत जानेपर भी दूषित कफका शमन न हुआ हो और लङ्घनका लाभ प्रतीत न होता हो, तो उसे घृत पान न करावें। उसके लिये शमन चिकित्सा ही करनी चाहिये।

(१) वमन सहित ज्वरपर—मैनफल, छोटी पीपल (या इन्द्रजौ) और मुलहठीका महीन चूर्ण कर निवाये जलके साथ देनेसे वान्ति होकर वमन और ज्वर, दोनों शमन हो जाते हैं।

(२) यदि मलावरोध हो, तो—अमलतासका गूदा दूधके साथ, या निशोथ मुनक्काके रसके साथ, अथवा त्रायमाण दूधके साथ देनेसे कोष्ठशुद्धि होकर ज्वर शमन हो जाता है।

(३) अति तृषा और दाह सह ज्वर हो, तो-सोंठ, गिलोय, नागरमोथा, रक्तचन्दन और खसका क्वाथ कर, शहद-मिश्री मिलाकर दिनमें २ समय पिलानेसे तृषा और दाह सह तृतीयक ज्वर शमन हो जाता है।

(४) रविवारको अपमार्गकी जड़ उखाड़, ७ लाल तार मिलाकर किये हुये डोरेसे कमरपर बाँध देनेसे तृतीयक ज्वर चला जाता है। परन्तु यह प्रयोग सगर्भा स्त्रीके लिये न करें।

(५) ज्वर आनेके १ घंटा पहले कनिष्ठिकांगुलिके समान अपामार्गको जड़का टुकड़ा पानके बीड़ेमें खिलानेसे तृतीयक और चातुर्थिक ज्वर निवृत्त हो जाते हैं।

(६) जिस दिन पारी हो उस दिन सुबह सूर्योदयसे पहले बिना किसीसे बोले १ माशा गुड़में २॥ पत्ती तुलसीकी रखकर गोली बनावें और उसके साथ गुड़की ४-४ रत्तीकी दो गोलियां भी बनावें। ये तीनों गोलियां रोगीके हाथमें देवें। केवल गुड़वाली दो गोलियोंको एक-एक पूर्व पश्चिमकी ओर फैंकनेका इशारा करें। (रोगी या चिकित्सक मुँहसे न बोलें); फिर तुलसीकी पत्तीवाली गोलीको खा लेनेसे तृतीयक ज्वर रुक जाता है। इस तरह तुलसी पत्रके अभावमें नीमके २॥ पत्तोंका भी उपयोग किया जाता है।

(७) कुटकीके चूर्णको १२ घण्टे आकके दूधमें खरल कर १-१ रत्तीकी गोलियाँ बना लेवें। इनमेंसे १ से २ गोली तक ज्वर आनेसे ४ घण्टे और दो घण्टे पहले देनेसे ज्वर रुक जाता है।

(८) फिटकरीका फूला ३ से ६ रत्ती तक, मिश्रीके साथ मिलाकर ज्वर आनेसे २ घण्टे पहले खिला देवें, ऊपर जल न पिलावें। प्यास लगे तो दूध पिलावें और भोजन न देवें, तो ज्वर निवृत्त हो जाता है। पालीके अन्य दिनोंमें २-२ रत्ती फूला दिनमें ३ समय मिश्रीके साथ २-४ दिन देते रहनेसे भीतर रहा हुआ ज्वर-विष जल जाता है। ठण्ड लगकर आनेवाले ज्वरके लिये यह हितकर औषध है।

चातुर्थिक ज्वरचिकित्सा

इस रोगमें औषध सतत ज्वरमें लिखी हैं वे ही सब दी जाती हैं। निम्न लिखित प्रयोग इसमें हितकारी हैं। जैसे कि—

(१) अडूसा, आँवला, शालपर्णी, देवदारु, छोटी हरड़ और सोंठका क्वाथकर मिश्री और शहद मिलाकर देनेसे चातुर्थिक ज्वर नष्ट होता है।

(२) कत्था-चूना लगाये हुये नागर वेलके पानमें लहसनकी कली खिलानेसे चातुर्थिक ज्वर शमन हो जाता है।

(३) ज्वर आनेसे ४ घण्टे पहले २-४ अमरूद खिला देनेसे ज्वर रुक जाता है; किन्तु पारीके दिन रोगीको भोजन नहीं कराना चाहिये।

(४) पुराने घीमें हींग मिलाकर सुँघानेसे चातुर्थिक ज्वर नष्ट हो जाता है। सुँघानेके लिये घी गरम कर दाहिनी हथेलीमें रखें, फिर बाँयें नथनेको दबाकर सूँघें। इस तरह घी बाँयीं हथेलीमें रखकर दाहिने नासापुटमें सूँघें।

(५) रविवारको अपामार्गकी जड़ लावें और फिर आवश्यकतापर ज्वर आनेसे ६ घण्टे या ४ घण्टे पहले ६-६ माशे टुकड़ेका तुरन्त चूर्णकर गुड़ मिला कर रोगीको खिलानेसे चौथिया बुखार रुक जाता है।

(६) कड़वे-अतीसका १-१ माशा चूर्ण गुड़ मिलाकर ज्वर आनेसे १२ घण्टे पहलेसे ३-३ घण्टेपर ३ या ४ बार दे देनेसे पारीके बुखार रुक जाते हैं। बुखार आनेपर भी अतीसका सेवन जन्तु मारने और पसीना लाकर ज्वरको उतारनेमें सहायक होता है।

(७) पित्त ज्वरान्तक वटी (नि० गुटिका संग्रह पृ० ८४) ३ बार २-२ घण्टे पर ज्वर आनेसे पहले देवें; और दिनोंमें ३ समय (सुबह, दोपहर, शाम) जलके साथ देना चाहिये।

(८) तृतीयक ज्वर-चिकित्सामें लिखी विधिसे फिटकरीका फूला ३ से ६ रत्ती मिश्रीके साथ खिला देनेसे चातुर्थिक ज्वर शमन हो जाता है।

(९) विषम ज्वरहर अञ्जन—सैंधा नमक, छोटी पीपलके दाने और मैनसिल तीनोंको तिलोंके तैल या एरण्ड तैलमें पीसकर अञ्जन करनेसे विषम ज्वर नष्ट हो जाता है।

(१०) गूगल और उल्लूकी पूंछ या पंखको काले कपड़ेमें बाँधकर धूप देनेसे चातुर्थिक ज्वर चला जाता है।

(११) अपराजित धूप—गूगल, नीमके पत्ते, वच, कूठ, हरड़, सरसों, जौ, घी, इन सबको मिलाकर धूप देनेसे विषम ज्वर दूर होते हैं।

(१२) कम्पके समय धूप—बिल्लेकी विष्ठाका धूप देनेसे कम्प शमन हो जाता है।

(१३) अगस्त (हथिया) के पत्तोंके स्वरसको २-४ बूँदें सुँघानेसे उग्र चातुर्थिक ज्वरका शमन हो जाता है।

(१४) धतूरेका पत्ता १ इञ्च जितना काट, नागरवेलके पानमें रखकर ज्वर आनेसे ४ घण्टे पहले खिलावें और फिर २ घण्टे बाद दूसरी बार देवें, या कुछ नशा आ जाय उतनी भाँग शहदमें मिलाकर ४ घण्टे पहले खिलानेसे चातुर्थिक ज्वर नष्ट हो जाता है।

(१५) सफेद चम्पेकी कली डण्ठलसह नागरवेलके पानमें रख, ज्वर आनेके ६ घण्टे पहलेसे २-२ घण्टेपर ३ समय खिला देनेसे चातुर्थिक ज्वर नष्ट हो जाता है।

(१६) सहदेवी, अरनी, सत्यानाशी या निर्गुण्डीको शनिवारके शामको निमन्त्रण देकर दूसरे दिन सुबह उखाड़कर जड़ लावें। सहदेवी या अरनीकी जड़ हो तो शिरपर, सत्यानाशीकी जड़ हो तो गलेपर और निर्गुण्डीकी जड़ हो तो कमरपर बाँधनेसे चातुर्थिक ज्वर दूर हो जाता है।

सूचना—जड़ लानेके पहले किसीसे न बोलें; सूर्योदयसे पहले लावें; कुमारी

कन्याके काते हुए सूतसे बाँधें तथा बाँधनेके पहले धूप देवें।

(१७) मकड़ीका एक सफेद जाला भली भाँति साफ कपड़ेसे ३-४ बार पोंछ (मकड़ीके अण्डे न आ जायँ, इस तरह सम्हाल) गुड़में लपेट गोली बना कर निगलवा देनेसे चातुर्थिक ज्वर रुक जाता है।

(१८) शिरमें दर्द हो, तो लाल कनेरके फूल; आँवला, धनियाँ, वच और कूठके चूर्णको जलके साथ पीस निवाया कर मस्तकपर लेप करें।

(१९) खरैंटी, पीपल, भांगरा या कृष्ण सारिवाकी मूलको पुष्य नक्षत्रमें लाकर हाथपर बाँध देनेसे चातुर्थिक ज्वर दूर होता है।

(२०) नौसादर २ से ३ रत्ती और सफेद मिर्च २ रत्ती मिला, खरलकर ज्वर आनेसे ३ घण्टे पहले नागरवेलके पानके साथ देवें और फिर उसके १॥ घण्टे बाद दूसरी बार देनेसे चातुर्थिक ज्वरकी निवृत्ति हो जाती है।

(२१) सफेद पुनर्नवाकी मूल १ से २ माशेको दूधमें घिसकर पिलाने या नागरवेलके पानके साथ खिलानेसे जीर्ण चातुर्थिक ज्वरका शमन होता है।

(२२) घी कुंवारके २ तोले रसमें आधी रत्ती अफीम, ४ रत्ती हल्दी और ३ से ६ माशे मिश्री मिलाकर ज्वर आनेके ३ घण्टे पहले पिला देनेसे जीर्ण चातुर्थिक ज्वरका वेग शान्त हो जाता है। आवश्यकतानुसार २-३ पाली तक यह प्रयोग करते रहना चाहिये।

(२३) इन्द्रायणकी वेलको शनिवारके रोज निमन्त्रण देकर रविवारको सुबह किसीसे न बोलते हुए सूर्योदयसे पहले मूल लावें। फिर कुमारी कन्याके हाथसे काते हुए सूतसे रोगीके हाथपर बाँध देवें, तो चातुर्थिक ज्वर चला जाता है।

दाह शमनार्थ—(१) शतधौत घृतकी मालिश करें।

(२) नीमके पत्तोंको जलमें पीस, थोड़ा मंथन कर, झाग उठावें और फिर सारे शरीरपर उन झागोंका लेप करनेसे तृषा, दाह और मोह शमन होते हैं, इसी तरह बेरके पत्तोंके झागोंसे भी दाह शमन हो जाता है।

(३) बेर और आँवलेके पत्तोंको काँजी या मट्ठेमें पीस कर लेप करनेसे दाह शान्त हो जाता है।

(४) पलाशके कोमल पत्तेको काँजीमें पीसकर लेप करनेसे दाह, तृषा और मूर्च्छाकी निवृत्ति होती है।

तृषा शमनार्थ—बहुत जल पीनेपर भी प्यास शमन न होती हो, तो नीमके पत्तोंको कूटकर जल मिला, छान, शहद डालकर पेट भर पिला देनेसे वमन होकर आमाशयमेंसे दूषित रससह जल वापिस निकल आता है और तृषा भी शान्त हो जाती है।

यदि नीमका जल थोड़ा-सा पीनेपर ही वमन हो जाय, तो अधिक नहीं पिलाना चाहिये।

एलोपैथिक चिकित्सा।

नूतन-विषम ज्वरोंपर विशेषत: निम्नानुसार औषध दी जाती है :—

(१) क्विनाइन सलफास — Quinine Sulph. — ५ ग्रेन
एसिड सल्फ्युरिक डिल्युट — Acid Sulph. Dil. — ५ बूँद
लाइकर आर्सेनिक — Liqr. Arsenicalia — २ बूँद
जल — Aqua ad — १ औंस

इन सबको मिलाकर पिला दें। इस तरह दिनमें ३ समय देनेसे मलेरिया ज्वर शमन हो जाता है।

(२) मारक (Pernicious) विषम ज्वरके लिये—
टिञ्चर फेरी परक्लोराइड — Tinct. Ferri Perchl. — १० बूँद
क्विनाइन सल्फास — Quinine Sulph. — ५ ग्रेन
लाइकर आर्सेनिक — Liqr. Arsenicalis — २ बूँद
,, स्ट्रिकनिया हाइड्रो. — Liqr. Strychnia Hydrochl. — ३ बूँद
जल — Aqua ad — १ औंस

इन सबको मिलाकर पिला दें। इस तरह दिनमें ३ वार देवें।

(३) जीर्ण विषम ज्वरपर—
क्विनाइन बाई सल्फास — Quinine Bisulph. — १२८ ग्रेन
स्ट्रिक्नीन सल्फास — Strychnine Sulph. — २ ग्रेन
एसिड आर्सेनिक — Acid Arsenicalis — २ ग्रेन
फेरी साइट्रास — Ferri Citras — १२८ ग्रेन
एक्सट्रेक्ट जेन्शन — Extract Gention — Q. S.

आवश्यकतानुसार एक्सट्रेक्ट जेन्शन मिला ६४ गोलियाँ बना लें। इनमेंसे दिनमें ३ समय १-१ गोली, दूध पिलाकर देनेसे जीर्ण विषम ज्वर दूर हो जाता है।

(४) प्लीहावृद्धि सह जीर्णज्वर हो, तो—
क्विनाइन सल्फास — Quinine Sulph. — ३ ग्रेन
फेरी सल्फास — Ferri Sulph. — २ ग्रेन
एसिड सल्फ्युरिक डिल्युट — Acid Sulph. Dil. — ५ बूँद
मेगनेशिया सल्फास — Mag. Sulph. — १ ड्राम
एका मेन्था पीप — Aqua Mentha Pip ad — १ औंस

इन सबको यथाविधि मिलाकर पिला दें। इस तरह दिनमें ३ बार दें।

(५) पाण्डुसह जीर्ण विषमज्वर (Malarial Cachexia) पर—

क्विनाइन सल्फास	Quinine Sulph.	४ ग्रेन
एसिड नाइट्रो हाइड्रोक्लोराइड डिल	Acid Nitro Hydrochl. Dil	५ बूँद
एमोनिया क्लोराइड	Ammon. Chloride	१० ग्रेन
लाइकर आर्सेनिक	Liqr. Arsenicalis	२ बूँद
ग्लिसरीन	Glycerine	१ ड्राम
जल	Aqua	ad १ औंस

इन सबको मिलाकर पिला दें। इस तरह दिनमें ३ समय दें।

(६) रसतन्त्रसारमें लिखा हुआ ज्वरमुरारि अर्क विषम ज्वरोंपर निर्भय और श्रेष्ठ औषध है। लाखों रोगियोंने इससे लाभ उठाया है।

रक्तविनाशक विषम ज्वर।

(Black water fever-Malarial Haemoglobinuriae-Haemoglobinuric fever)

व्याख्या—यह ज्वर आशुकारी है। इसकी उत्पत्ति विषम ज्वरके संक्रमण द्वारा होती है। इसमें ज्वराधिक्य, मांजिष्ठमेह (Haemoglobinuria), यकृत्पित्त प्रधान वमन और कामला, शीतकम्प तथा पेशाबका दमन या ह्रास, ये महत्वके लक्षण भासते हैं। इस रोगका मुख्य कारण रक्तके रक्ताणुओंका अत्यधिक परिमाणमें शीघ्र नाश है। सब प्रकारके मलेरिया-प्रधान मांजिष्ठ मेह संभवत: समान कोटिके हैं, जिनमें गम्भीरता विविध प्रकारकी होती है। इनमें जब विकृति अन्तिम सीमा तक पहुँच जाती है, तब वह रक्त-विनाशक ज्वर बनता है।

इस रोगसे भारतीयोंकी अपेक्षा यूरोपियन विशेष आक्रान्त होते हैं। भारत आदि प्रदेशोंसे वापस जानेके ६ मास तक उनको इस रोगके आक्रमणका भय रहता है।

विद्वानोंका अनुमान है कि, जो यूरोपियन विषमज्वर फैले हुए देशमें कम से कम ६ मास या सामान्यत: २-३ वर्ष रहते हैं और जिन्हें गम्भीर मलेरियाकी सम्प्राप्ति होती है; फिर योग्य चिकित्सा न होनेसे बार-बार आक्रमण होता रहता है, उन्हें यह रोग होता है। किन्तु उक्त कारणकी अपेक्षा भौगोलिक विभाजनको विशेष महत्व दे सकेंगे। इसका वास्तविक कारण अविदित है।

भौगोलिक विभाजन दृष्टिसे यह रोग भारतमें आसाम, ब्रह्मदेश, दार्जिलिंग, टिहरी, विहार, मेरठ और अमृतसर आदि स्थानोंमें प्रतीत होता है। भारतके बाहर एशिया खण्डमें पेलेस्टाइन, मलाया, चीन, हिन्दी चीन आदिमें है। इनके अतिरिक्त यूरोप, आफ्रीका आदिमें भी यह प्रतीत होता है।

आक्रमणके पहले परीक्षा की जाती है, तो कीटाणु सर्वदा वर्त्तमान होते हैं। किन्तु आक्रमण कालके भीतर अनेक बार परीक्षा करनेपर कीटाणु नहीं मिलते। क्वचित् प्राथमिक २० घण्टोंके बाद अत्यल्प परिमाणमें मिलते हैं, जो रक्ताणुओंके भीतर घुसे हुए होते हैं, और जिनके हेतुसे रक्ताणुओंका विनाश होता है।

क्विनाइनके अनुचित नियमनद्वारा आक्रमण प्रायः विविध प्रकारोंमें गति करने लगता है, फिर आक्रमणका योग्यरूपसे दमन नहीं होता। कितनेही प्रामाणिक रोगियोंको याद्दी मिलती है कि, जिन्होंने क्विनाइनका सेवन पहले नहीं किया उनको एटेब्रिनके सेवनके पश्चात् उपस्थित होता है।

विषम ज्वर न होनेपर भी क्विनाइनका सेवन किया जाय, तो वह कदाचित् मांजिष्ठ मेहका कारण हो सकता है; किन्तु वह रक्तविनाशक विषम ज्वरके लक्षणों सह उपस्थित नहीं हो सकेगा।

संप्राप्ति—वर्णद्रव्य विनाशक विष (Haemolysin) द्वारा रक्ताणुओंका विनाश होता है। फिर रक्ताभिसरण क्रियाद्वारा ध्वंसित रक्ताणु चारों ओर फैलते हैं और पेशाबद्वारा बाहर निकलते हैं। वृक्कान्तर कुण्डलिकाका मार्ग रक्तप्रथिनाम्ल (Haematinic acid) के स्फटिक और कोषाणुओंके मलसे बन्द हो जाता है।

प्लीहा बढ़ी हुई और मृदु हो जाती है, उसमें प्रबल कोषाणुध्वंस (Phagocytosis) प्रतीत होता है। यकृत् बढ़ा हुआ और मृदु भासता है, उसकी बारम्बार अपक्रान्ति होती है। वृक्कान्तर कुण्डलिकाएं मल और निक्षेपसे भर जानेसे वृक्ककी रक्तपूर्ण वृद्धि होती है। उत्तानस्तरिका (Epithelium) कुछ परिवर्त्तित होती है। मस्तिष्क और अस्थिमज्जा रञ्जित होती हैं और हृदयका कुछ मेदमय रूपान्तर होता है।

इस रोगमें रक्तके भीतर रक्ताणु १० लक्ष तक घट जाते हैं। रक्तरंजक द्रव्य २० प्रतिशत रहता है।

पूर्वरूप—प्रायः मलेरियाका मंद आक्रमण, जिसका उपचार क्विनाइनद्वारा किया गया है, उसमें तथा अन्य कइयोंमें सामान्य बेचैनी, पचन-क्रियामें विकृति, प्लीहामें वेदना और रक्तरञ्जक द्रव्य पेशाबमें चढ़ जाना आदि लक्षण अति स्पष्ट प्रतीत होते हैं। जब तक वेपन और मूत्रमें रक्तवर्ण न आ जाय; तब तक

कुछ भी नहीं भासते।

लक्षण—आक्रमण कालमें रोगनिदर्शक लक्षण सामान्यत: अकस्मात् उपस्थित होते हैं। ५० प्रतिशतमें वेपन सह आक्रमण होता है। फिर कुछ घंटे तक बार-बार वेपन होता है। वेपनके पश्चात् पेशाब करनेकी इच्छा बनी रहती है। पेशाब गहरा बन जाता है। यह स्थिति कुछ घंटोंसे १ दिन या कभी २ दिन तक रहती है। उत्ताप १०३° से १०५° तक अनियमित रहता है। १००° या कम भी होता है। वमनेच्छा रहती है, हृदयाधरिक प्रदेशमें वेदना होती है और पित्तकी वमन होती है। आक्रमणके २४ घण्टोंमें कामला प्रचण्डवेगपूर्वक होता है। इनके अतिरिक्त व्याकुलता, कमरमें वेदना, अति तृषा, घबराहट, यकृत्प्लीहाकी वृद्धि और मृदुता आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

पेशाब स्वच्छ होनेपर उत्तापका ह्रास होता है; प्रस्वेद आता है; और फिर लक्षण दूर होते हैं। रोग गम्भीररूप धारण करता है तो व्याकुलता, वेपन और उत्तापकी वृद्धि होती है, पेशाब स्वल्प होता है, रक्तमें यूरिया बढ़ जाता है।

मृत्युके कारण—(१) अति घबराटहसे उत्पन्न हृदयावरोध; (२) पेशाब बन्द हो जाना; (३) अत्यधिक उत्तापजनित मूर्च्छा या प्रलाप। इनमेंसे किसी भी कारणसे मृत्यु हो सकती है।

उपद्रव और भावी क्षति—पेशाबमें निकलने वाले रक्तरञ्जक द्रव्य दूर होनेके पश्चात् कभी-कभी कितनेही सप्ताहों तक उत्तापवृद्धि रहती है। इसका अन्त ज्वर बढ़नेपर आता है। इसका फिर आक्रमण मंद होता है। पुनराक्रमणका हेतु बहुधा क्विनाइन होता है।

साध्यासाध्यता—इस रोगके सौम्य आक्रमणवाले स्वस्थ हो जाते हैं। शेष सबके लिये अति घातक है।

रक्तविनाशक ज्वर चिकित्सा

बिछौनेमें पूर्ण आराम करें। कब्ज हो, तो एनिमा देकर उदरशुद्धि कर लेनी चाहिये। रोगीको मोसम्बी या सन्तरोंके रसपर रखें। अनार, अंगूर दे सकेंगे किन्तु खट्टे फल नहीं। हलका समक्षाराम्ल जल मुँहसे, बस्तिद्वारा और वमन हो, तो अन्त:सेचनद्वारा अत्यधिक परिमाणमें देना चाहिये। द्राक्षशर्करा (ग्लूकोज) और हृदयोत्तेजक औषध देनी चाहिये।

इस रोगपर आयुर्वेदिक औषध चन्दनादि लोह, सूतशेखर, जयमंगल रस, आरोग्यवर्द्धिनी, सुदर्शन चूर्णका फाण्ट और पुनर्नवादि क्वाथ हितकारक माना जायगा। हृदय शिथिल होने लगे तो हेमगर्भपोटली, जवाहरमोहरा या लक्ष्मीविलास (अभ्रक वाला) देना चाहिये।

मलावरोध हो, तो आरग्वधादि क्वाथ देकर उदरशुद्धि करनी चाहिये। फिर सूतशेखर + प्रवालपिष्टी + गिलोय सत्त्व दिनमें ३ बार आमके मुरब्बाके साथ देते रहें। साथमें विषको पेशाबद्वारा शीघ्र बाहर निकालनेके लिये चन्द्रकला और शिलाजीत, त्रिकण्टकादि क्षार या पुनर्नवादि क्वाथ अथवा काली अनन्त-मूलके फाण्टके साथ देते रहें। इनके अतिरिक्त आवश्यकता रहे तो यवक्षार या शीतल पर्पटी १ या २ दिन तक ४-४ घण्टोंपर देते रहनेसे वृक्कनिरोध दूर होता है और पेशाब समक्षाराम्ल बन जाता है।

सूचना—१. यदि मूत्रावरोध हो, बस्तिमें भारीपन हो या कटिप्रदेशमें दर्द हो, तो कटिप्रदेशपर सेक करें। फिर मूत्रल औषध न देवें।

२. आक्रमण कालमें मलेरियाको दूर करनेवाली औषध किनाइन आदि न देवें एवं आराम होनेपर मलेरिया वाले स्थानको त्याग देना चाहिये।

३ यदि यह रोग शहरव्यापी हो और किसीको पेशाबमें रक्तरञ्जक द्रव्य जाने लगे तो तुरन्त चन्द्रकला और प्रवालपिष्टीका सेवन करना चाहिये।

काल ज्वर।

(काला आजार-आसामज्वर-डमडम ज्वर-Kala Azar-Assam fever-Dumdum fever, Black fever, Leishmaniasis)

यह काल ज्वर सतत ज्वर ही है; किन्तु सामान्य सतत ज्वरकी अपेक्षा यह अधिक प्रबल, अति दुःखदायी, दीर्घस्थायी और संक्रामक होनेसे इसका विवेचन पृथक् किया है। इस रोगमें अनियमित उत्तापवृद्धि, यकृत्प्लीहावृद्धि, रक्तस्राव (Haemorrhage), रक्तकी न्यूनता और दुर्बलता विशेष रूपसे देखनेमें आती हैं। इस ज्वरका विष धातुओंमें लीन रहनेसे बीच-बीचमें छूट-छूटकर बार-बार ज्वर आता रहता है। इसलिये इसे दुश्चिकित्स्य माना है। इस रोगमें देहका वर्ण काला हो जाता है। इसलिये काला आजार कहते हैं।

यह ज्वर प्रायः आसाम, बंगाल, उड़ीसा और बिहारमें अधिकांशमें प्रतीत होता है। कभी-कभी मद्रास और मध्यप्रान्तमें हो जाता है, तथा इस देशके अतिरिक्त; चीन, अफ्रीका आदि देशोंमें भी होता है। यह रोग उष्ण कटिबन्ध प्रदेशका होनेसे यूरोपवासियोंको नहीं होता। यह रोग समुद्रकी सतहसे ४००० फीटसे अधिक ऊँचाईपर कभी नहीं होता। यह रोग स्त्री पुरुष, सबको होता है। २-५ वर्षके बच्चोंको भी हो जाता है।

यह रोग विशेषतः खटमलद्वारा एकसे दूसरेके शरीरमें प्रवेश करता है, अतः यह कीटाणुजन्य है। इस रोगके कीटाणुओंकी शोध लीश्मन (Leishman) साहबने की है। इसके कीटाणुओंको लिश्मनिया-डोनोवनी (Leishmania Donovani) कहते हैं। वे अण्डाकार होते हैं, ये विषमज्वरके

कीटाणु सदृश पिस्सू (Sandfly) के शरीरमें अपना जीवनचक्र बनाते हैं। किन्तु उनका क्रम अभी तक पूर्णांशमें विदित नहीं है। यह रोग कभी-कभी कुत्तोंको भी हो जाता है।

सम्प्राप्ति—इस रोगके भीतर अस्थियोंमें रहनेवाली मज्जा, प्लीहा, यकृत्, लसीका ग्रन्थियां, फुफ्फुसों, आंतों एवं अण्डकोष आदि सब भागोंमें कीटाणुओंका प्रवेश हो जाता है। यकृत्-प्लीहामें कीटाणुओंका प्रवेश अधिकांशमें होनेसे बढ़ जाते हैं, उनमें सौत्रिक तन्तुओं (Fibrous tissue) की उत्पत्ति हो जाती है। कभी-कभी बड़ी आंतोंमें व्रण तक हो जाते हैं। रक्तमें ये कीटाणु कम रहते हैं एवं केन्द्रिक वातनाड़ियोंमें वे कभी नहीं रहते।

चयकाल—संभवतः ३ से ६ मास या १ वर्ष तक।

लक्षण—इस रोगका आक्रमण अकस्मात् अत्यधिक ज्वरसह होता है। उत्तापकी अनियमितता (दिन और रात बढ़ते रहना), कितनेही सप्ताहों तक उत्ताप रहना तथा और लक्षण भी बढ़ना, प्लीहा बहुत बढ़ जाना, यकृत् सीमा स्पष्ट हो उतनी वृद्धि होना, उदर समुन्नत होना, कृशता और निर्बलता आना, स्वेदकी अधिकता, त्वचा मलिन श्याम हो जाना, पाण्डुता, श्वेताणु और रक्ताणु कम हो जाना, अस्थिमज्जाके विकृत होनेसे रक्ताणु और श्वेताणुओंमें विविध परिवर्त्तन होना, अतिसार, अन्त्रमें क्षत होना, बेचैनीका अभाव और क्षुधा अच्छी लगना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। इस रोगमें त्वचापर काले धब्बे हो जाते हैं, ये धब्बे फिर बढ़ते हैं। किसी-किसीको नाक और मसूढ़ेमेंसे रक्तस्राव होता है।

इस रोगके उपशम हो जानेपर भी थोड़े दिनोंमें पुनराक्रमण होता है। उपशम और पुनः आक्रमण, इस तरह लम्बे समय तक यह कष्ट पहुँचाता रहता है। कितनेही रोगियोंको लम्बी अस्थियोंमें शूल चलता है।

३-४ आक्रमण हो जानेपर देह निर्बल होती है और रोग भी चिरकारी बन जाता है।

यदि योग्य चिकित्सा शीघ्र न हो तो जलोदर, सर्वाङ्ग शोथ, श्लैष्मिक कलामेंसे रक्तस्रावमय अतिसार और अन्तमें अतिशय क्लान्ति आकर मृत्यु होती है।

इस रोगकी स्थिति १ से २ वर्षकी मानी गई है।

रोगविनिर्णय—इस रोगका निर्णय १ सी. सी. रक्तद्रव (Serum) में १ बूँद फोर्मलिन डालकर किया जाता है। इसको मिलाकर चलानेपर पहले कीचड़ सा बनता है। फिर कुछ मिनटोंमें गाढ़ा भाग नीचे बैठ जाता है। इसके अतिरिक्त वर्त्तमानमें प्लीहामें पंक्चर करके इस रोगका निर्णय किया जाता है।
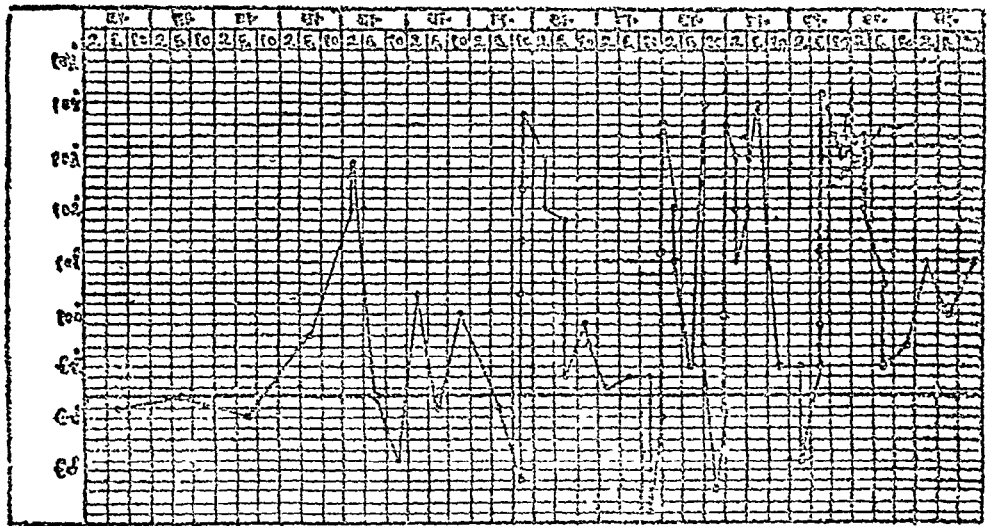
चित्र नं० २६ कालज्वरमें द्विगुण आकस्मिक उपशमसह उत्ताप।

साध्यासाध्यता—इस रोगकी आशुकारी अवस्थामें ८० प्रतिशत मृत्यु हो जाती है। चिरकारी अवस्थामें मृत्युसंख्या कम होती है।

चिकित्सोपयोगी सूचना।

स्थानको स्वच्छ रखें, पिस्सुओंको दूर करें, नारियलका तेल सब जगह छिड़कें, जलको गरमकर शीतल करके पीवें। प्रारम्भमें पथ्यापथ्य विषम ज्वरके समान पालन करें।

गुड़-शक्करका सेवन हो सके उतना कम करें। गुड़, शक्करका सत्व मिलनेपर कीटाणु सबल बन जाते हैं। नव्य मतमें इस रोगकी चिकित्सा सुरमाघटित लवण (Antimony Tartrated) द्वारा होती है। क्विनाइन इस ज्वरपर बिल्कुल अलफल है।

कालाआजार चिकित्सा।

तीव्रावस्थामें दोषपाचनार्थ—पहले रत्नगिरी रस दें। यदि मलावरोध हो, तो ज्वरकेसरी या अश्वकंचुकी अथवा आरग्वधादि क्वाथ देकर उदरशुद्धि करें। यह ज्वर सतत ज्वरका ही भेद है। अतः सतत ज्वरनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। अधिक ज्वर रहे तब तक मस्तिष्क आदिके संरक्षण और विषके नाशके लिये ४-४ घण्टेपर दिनमें ४-५ बार २-२ रत्ती प्रवालपिष्टी सुदर्शन अर्कके साथ देते रहना चाहिये। ज्वर शमनके लिये दिनमें २ बार दुर्जलजेता रस और सूतशेखर देवें। यदि रक्तस्राव या अतिसार हो, तो वे भी दूर हो जाते हैं।

जीर्णावस्थामें ज्वर न हो उस समय लोहयुक्त प्लीहान्तक वटीका सेवन कराना चाहिये। अथवा लोह भस्म १ रत्ती, अभ्रक भस्म ½ रत्ती, नाग भस्म ½ रत्ती, तीनों मिलाकर त्रिफलारिष्टके साथ १ मास तक दिनमें २ बार देना चाहिये।

नव्य मत अनुसार सुरमाघटित लवणका अन्तःक्षेपण कराया जाता है। किन्तु उबाक और वमन उपस्थित हों, तो यह उपचार बन्द करना पड़ता है। इस तरह पेशाबमें शुभ्र प्रथिन आने लगे तो भी उपचारका त्याग करना होता है। यदि सुरमाका सेवन आयुर्वेदिक विधिसे कराया जाय तो वह हितकारक होता है। शुद्ध सुरमा २ रत्ती, अपामार्ग क्षार २ रत्ती, दोनोंको मिला घी या शहदसे देवें। ऊपर सरफोंकाका क्वाथ पिलावें। इस तरह दिनमें दो बार १-२ मास तक देते रहें तो कीटाणु नष्ट हो जायेंगे, प्लीहा-यकृत् नीरोगी होंगे, ज्वर दूर होगा तथा देहबल शनैः-शनैः बढ़ता जायगा।

(२४) जीर्ण ज्वर।

(Chronic Malaria and Malarial Cachexia)

जब ज्वर २१ दिन तक रहकर मन्दवेगी एवं सूक्ष्म हो जाता है; निस्तेजता, प्लीहावृद्धि और अग्निमान्द्य उपस्थित होते हैं, तब वह जीर्ण ज्वर कहलाता है।

विषम ज्वर अधिक दिनों तक रह जानेपर निस्तेजता, शक्तिक्षय, मंद-मंद ज्वर रहना, कभी-कभी अनियमित समयपर १०२ डिग्री तक बढ़ जाना, प्लीहा-वृद्धि, पाण्डु, अरुचि, क्षुधानाश, मलावरोध, रक्तस्राव, ये सब लक्षण प्रतीत होते हैं। प्लीहाके भीतर विष या कीटाणु रहते हैं। इससे आहार-विहारमें थोड़ी-सी भूल होनेपर पुनः-पुनः आक्रमण होता रहता है।

जीर्ण ज्वरमें अन्य उपद्रव हो जाते हैं, तब उनको भिन्न-भिन्न अवस्थाके अनुसार वातबलासक, प्रलेपक, रात्रिज्वर, नारसिंह ज्वर, ऐसी भिन्न-भिन्न संज्ञायें दी हैं। उन सबकी चिकित्सा उपद्रव अनुसार पृथक्-पृथक् होती हैं, अतः इन सबका विवेचन आगे पृथक्-पृथक् किया जायगा।

विषम ज्वरके अतिरिक्त वात आदि दोषप्रकोपसे उत्पन्न अन्य ज्वर भी सम्यक् चिकित्सा न होनेसे या अपथ्य सेवनसे रक्त आदि धातुओंमें लीन होकर जब जीर्ण हो जाते हैं, तब उन सब प्रकारके ज्वरोंमें वात आदि तीनों दोष निर्बल बन जाते हैं। फिर उन सबके लक्षण जीर्ण विषम ज्वरके सदृश प्रतीत होते हैं।

इस रोगका डाक्टरी निदान आदिका वर्णन विषमज्वरके साथ पहले किया गया है।

जीर्ण ज्वर-चिकित्सा।

जीर्ण ज्वरवाले रोगीको लङ्घन नहीं कराना चाहिये। अन्यथा निर्बलता बढ़ती है। यदि कुपथ्य सेवनसे दोष-प्रकोप होकर ज्वर बढ़ जाय, तो उस दिन केवल दूधपर रखें; अन्न न दें; और दुर्जलजेता रस या संजीवनी वटी अथवा सतत ज्वर प्रकरणमें लिखे अनुसार पाचन औषध देवें। फिर दूसरे दिनसे रोगशामक चिकित्सा करें। तेज खटाई, ज्यादा चावल, गुड़ या शक्कर, शीतल जलसे स्नान, असमयपर भोजन, भोजनपर भोजन, मैथुन, रात्रिको जागरण, मलमूत्र आदिके वेगका अवरोध, इन सब बातोंका त्याग करें।

ज्वर १२ दिनसे अधिक रह जानेपर यदि कफ दोष क्षीण हो गया हो, तो रोगीको भोजनमें घी देना चाहिये।

दोष पाचनके लिये—आरग्वधादि क्वाथ, त्रिवृतादि कषाय, महा सुदर्शन चूर्ण, लघु सुदर्शन चूर्ण या गदमुरारि रस, इनमेंसे अनुकूल औषध देनेसे जीर्ण ज्वरोंमें दोष-पचन होकर ज्वर दूर हो जाता है। उदरमें मलसंग्रह अधिक हो, तो आरग्वधादि क्वाथ या त्रिवृतादि कषाय देना चाहिये। रक्तमें रहे हुए और अन्य धातुओंमें लीन हुए जीर्ण विषको जलानेमें सुदर्शन चूर्ण अति हितकर है। प्रवालपिष्टी २-२ रत्ती साथमें मिला देनेपर लाभ अधिक पहुँचता है।

दाहयुक्त ज्वरमें पाचन—प्रवालपिष्टी (गिलोय सत्वके साथ) या चन्दनादि लोह दिनमें ३ समय देवें।

रात्रिको सूक्ष्मांशमें ज्वर रहता हो, तो-बृहत् सितोपलादि चूर्ण, सितोपलादि चूर्ण या प्रवालपिष्टी (गिलोय सत्वके साथ) दिनमें २ समय देते रहें।

जीर्ण ज्वरशामक औषधियाँ—(१) सुवर्णमालिनी वसन्त, लघुमालती-वसन्त, मलेरिया वटी (दूसरी विधि), जयमङ्गल रस, प्लीहान्तक वटी (लोह-युक्त) संशमनी वटी, प्लीहान्तक चूर्ण, चन्दनादि लोह (पित्त प्रकृतिवालोंको), षट्पल घृत, अमृतारिष्ट और देवदार्वाद्य क्वाथ (दूसरी विधि), ये सब औषधियाँ हितावह हैं। इनमेंसे विशेष अनुकूल औषधिकी योजना करनी चाहिये। इनके अतिरिक्त प्लीहान्तक अर्क (क्विनाइन प्रधान) भी अच्छा कार्य करता है।

सुवर्णमालिनी वसन्त—यकृत्प्लीहावृद्धि, मस्तिष्कनिर्बलता, मंदाग्नि और जीर्ण ज्वरको दूर करती है; तथा क्षयके कीटाणु उत्पन्न हो गये हों, तो उनको नष्ट करती है। यदि बार-बार ज्वर बढ़ता हो, क्षयकी भी शंका हो, तो जयमंगल रस हितकारक है। यदि प्लीहावृद्धि अधिक रूपसे हो गई हो, तो प्लीहान्तक वटी लाभदायक है। मूत्रमें विकृति होनेसे मस्तिष्कमें उष्णता रहती हो, तो चन्दनादि लोह बहुत जल्दी लाभ पहुँचाता है। इसी तरह धातुओंमें

लीन दोषको जलानेमें षट्पल घृत और अमृतारिष्ट भी सहायक होते हैं।

(२) वर्द्धमान पिप्पली—छोटी पीपलको गो-दुग्ध और जलमें मिला उबाल कर दुग्धावशेष रखकर सेवन करें। सेवनार्थ ३ से प्रारम्भ कर ३-३ या १-१ पीपल बढ़ाते जावें। फिर १० दिन बाद ३-३ या १-१ पीपल कम करते जावें। इस प्रकार वर्द्धमान पीपलके सेवनसे जीर्ण ज्वर, कास, श्वास, पाण्डुता, निर्बलता, अग्निमांद्य और कफवृद्धि आदि दोष दूर होते हैं। जल दूधसे ४ गुना मिला दूध शेष रहे तब तक उबालें। फिर शीतल होनेपर पिलावें। यदि इस प्रयोगसे शुष्क कास उपस्थित हो, तो तत्काल इस प्रयोगको बन्द कर देना चाहिये।

(३) पुनर्नवादि क्षीर—लाल पुनर्नवा, सोंठ, श्वेत पुनर्नवा, दूध और जल मिलाकर दुग्धावशेष क्वाथ कर पिलानेसे जीर्ण ज्वर दूर होता है। औषध २ तोले, दूध १६ तोले और जल ६४ तोले मिलाकर क्वाथ करनेका रिवाज है। उपर्युक्त विधिसे शालपर्णी आदि लघु पञ्चमूलका दुग्धावशेष क्वाथ देनेसे भी जीर्ण ज्वर, कास, श्वास, शिरःशूल और पार्श्वशूल दूर होते हैं।

(४) गिलोयके स्वरस या क्वाथमें पीपलका चूर्ण और शहद मिलाकर २१ दिन तक पिलानेसे जीर्ण ज्वर, कफ, प्लीहावृद्धि, कास और अरुचि दूर होते हैं।

(५) छोटी कटेलीकी जड़, सोंठ और गिलोयके क्वाथमें पीपलका चूर्ण ४ रत्ती मिलाकर पिलानेसे जीर्ण ज्वर, मन्दाग्नि, जुकाम, अरुचि, कास, श्वास, शूल, अर्दित वायु, पीनस, ये दोष दूर होते हैं। यह क्वाथ विशेषतः जीर्ण वात-कफ ज्वरका नाशक है तथा जीर्ण प्रतिश्यायको भी दूर करता है।

(६) मलावरोध बना रहता हो, तो—प्लीहान्तक अर्क, प्लीहान्तक वटी (वात और कफात्मक व्याधि वालोंको), करंजादि वटी (प्रथम विधि), प्लीहान्तक चार चूर्ण, इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन करावें।

(७) मालिशके लिये—लाक्षादि तैल, चंदनबलालाक्षादि तैल और चन्दनादि तैलमेंसे किसी एकका मालिश कराते रहनेसे दोष दूर होता है और शारीरिक शक्तिका रक्षण होता है।

सूचना—यदि प्रस्वेदद्वारा विषको बाहर निकालना हो, तो मालिश नहीं करनी चाहिये। ज्वर अति मन्द रहता हो, पेशाबद्वारा विष बाहर निकलता रहता हो, तब शक्तिके संरक्षणार्थ मालिश कराई जाती है।

(८) दशमूलषट्पल घृत—जवाखार और पञ्चकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चीता, सोंठ), इन ६ द्रव्यों को समभाग मिलाकर २० तोले कल्क करें। दशमूल ४ सेर लेकर ८ गुना जल मिलाकर क्वाथ करें। चतुर्थांश जल शेष रहने पर उतार कर छान लें। फिर उक्त कल्क, क्वाथ, २ सेर दूध और २ सेर घी मिला यथाविधि घृत-पाक करें। इस घृतमेंसे १-१ तोला दिनमें दो बार देते

रहनेसे जीर्ण ज्वर, प्लीहावृद्धि, पाण्डु, कास, अग्निमांद्य, वातज, पित्तज और कफज व्याधियोंका शमन हो जाता है।

(६) सफेद जीरा १ भाग, काला जीरा २ भाग और छुवारा बीजरहित ४ भाग लेवें। सबको मिलाकर कूट लेवें। ४-४ माशे दिनमें २ समय सेवन करते रहनेसे अरुचि और दाहयुक्त जीर्णज्वर निवृत्त हो जाता है। इस प्रयोगका सेवन कमसे कम १४ दिन तक करना चाहिये। भोजनमें दूध, भात, फुलका और थोड़ा घी लेवें।

(१०) वेलकी मूल या छालका दुग्धावशेष क्वाथकर दिनमें दो समय पिलाते रहनेसे दुःसाध्य जीर्णज्वर २१ दिनमें शमन हो जाता है।

(११) तुलसीके २ तोले रसमें ३ माशे मिश्री मिलाकर सेवन करते रहनेसे १ सप्ताहमें जीर्णज्वर नष्ट हो जाता है।

(१२) उतरणके पत्तोंके १ तोले रसमें ६ माशे शहद मिलाकर १४ दिन तक दिनमें २ समय सेवन करनेसे जीर्णज्वर, अग्निमांद्य और रक्तार्शकी निवृत्ति हो जाती है।

सामान्य प्लीहावृद्धि होनेपर हम सुवर्ण मालिनी वसंत या लघु वसंत देते हैं। अधिक प्लीहावृद्धिमें प्लीहान्तक वटी या अर्कका उपयोग करते हैं। मूत्रमें दोष हो और दाह अधिक होता है तब चन्दनादि लोह देते रहते हैं। लक्षण या उपद्रव भेदके अनुसार विभिन्न औषधका उपयोग करना पड़ता है।

त्वचा शुष्क हो जानेपर दशमूलषट्पलघृत या षट्पलघृत पिलावें और लाक्षादि तैलकी मालिश कराते रहनेसे रोग दूर होता है।

(२५) वातबलासक ज्वर।

(नेफ्रायटिक फीवर-Nephritic Fever)

इस व्याधिका वर्णन सुश्रुत-संहिताकारने शोथ रोगमें किया है। व्याधि तीव्र होनेपर ज्वर भी रहता है, इस हेतुसे माधव निदानकारने ज्वर प्रकरणमें इसका संक्षिप्त वर्णन किया है। इसका विवेचन सिद्धान्तनिदानकारने निम्नानुसार किया है:—

पाश्चात्य शास्त्रमें इस रोगको नेफ्रायटिक फीवर कहा है। इस रोगकी शोध ई० स० १८२५ में ब्राईट साहबने की है, अतः उनके नामपरसे इसे ब्राईट्स डिसीझ (Bright's Disease) भी कहते हैं।

निदान—यह वात-कफोल्बण त्रिदोषज जीर्णज्वर है। यह रोग अनूप देशोंमें चावल खानेवालोंको अधिक होता है। इस रोगकी उत्पत्ति वृक्क-विकृति होनेसे होती है। यह रोग बालकोंको होनेपर कष्टसाध्य होता है।

रूप—नित्य मन्द ज्वर रहना, शरीर शुष्क एवं निस्तेज हो जाना, सारी

देहमें शोथ आ जाना, पहले मुँह और हाथोंपर या पैरोंपर शोथ दिखना, फिर धीरे-धीरे मध्यकायमें बढ़ना, अंग जकड़ जाना, दुर्बलता और कफप्रकोप होनेसे मुँहमें चिकनापन, शीतल अङ्ग, कास और श्वास आदि लक्षण होते हैं। इसमें वमनका होना त्रासदायक लक्षण माना जाता है। रोग बढ़नेपर फुफ्फुसके मूलपर शोथ आ जाता है, हृदयमें वेदना होती है; और दिन प्रतिदिन बलहानि होती जाती है। फिर अन्तमें हृदयावसाद होनेपर मृत्यु हो जाती है।

एलोपैथिक विवेचन

यह रोग वृक्क (मूत्रपिण्डों) की विकृति होनेसे होता है। इस रोगके मुख्य दो प्रकार हैं। एक आशुकारी और दूसरा चिरकारी।

१. आशुकारी वृक्कप्रदाह—एक्युट नेफ्रायटिस, ब्राईट्स डिसीस (Acute Nephritis, Bright's Disease).

२. चिरकारी वृक्कप्रदाह—क्रॉनिक नेफ्रायटिस, ब्राईट्स डीजीज, (Chronic Nephritis; Bright's, Disease).

इन दोनोंके विविध उप विभाग हैं।

आशुकारी वृक्क प्रदाह—इसमें सर्वाङ्ग शोथ, मूत्रकृच्छ्र या मूत्रविकृति और मन्द ज्वर सह वृक्कोंका तीव्र और आशुकारी दाहशोथ प्रतीत होता है।

स्त्री-पुरुष, सबको मूत्र उत्पन्न करने वाले दो मूत्रपिण्ड (वृक-गुर्दे-किडनीज-Kidneys) होते हैं। उदरगुहाके कटिप्रान्तमें आंतोंकी गेंडुलीके पीछे मेरुदण्डकी दाहिनी और बाईं तरफ एक-एक मूत्रपिण्ड रहता है। इन मूत्रपिण्डोंकी आकृति कुछ अर्द्ध गोलाकार है। ऊपरका सिरा ११ वीं और १२ वीं पर्शुकाके बिल्कुल समीप है। दाहिनी ओर यकृत् होनेसे दाहिनी ओरका गुर्दा बांयीं ओरके गुर्देकी अपेक्षा कुछ नीचा रहता है। इसी हेतुसे दाहिना गुर्दा ११ वीं पर्शुकासे कुछ दूर रह जाता है। इन वृक्कोंकी लम्बाई ४ इञ्च, चौड़ाई २॥ इञ्च और मोटाई १ इञ्च है। इनका रंग बैंगनी है।

इन मूत्र-पिण्डोंमें असंख्य छोटे छोटे मूत्रवह-स्रोत हैं। एक अंगुल जितने भागमें लगभग मूत्रवह स्रोतोंके ६० अग्रभाग रहते हैं। इन अग्रभागोंको मूत्रोत्सिका संज्ञा दी गई है; मूत्रोत्सिकाकी आकृति कटोरी जैसी है। प्रत्येक मूत्रोत्सिकामें धमनीकी अत्यन्त सूक्ष्म शाखाओंका एक-एक गुच्छ प्रवेश करता है। इन स्थानोंपर रुधिरसे बच रहने वाला हानिकर तत्त्व (मूत्र) पृथक् होता है। यह कार्य इन मूत्रोत्सिकाओंमें लगी हुई सूक्ष्म कलाओंद्वारा होता है। इन स्थानोंमें मूत्र उत्पन्न होकर मूत्र स्रोतसोंद्वारा मूत्रप्रणालिका-गविनियों (युरेटर्स Ureters) में होकर मूत्राशयमें जाता है। फिर आगे मूत्रप्रसेकमें होकर बाहर निकल जाता है।

हेतु—शरीर गर्म होनेपर शीतोपचार करना, तीव्र सांसर्गिक इन्फ्लुएञ्जा, मोतीझरा, रोमांतिका या उपदंश ज्वर अथवा त्रिषमज्वर आदि रोग, वृक्क स्थानपर शीत लग जाना, पारद या सोमल आदि विषभक्षण, पित्तप्रकोपक औषधियोंका सेवन, शराब और तमाखू (धूम्रपान) का व्यसन, उदरमें दाहक व्रण, सगर्भावस्था, खटाई, मिर्च और नमक अत्यधिक खाना इत्यादि कारणोंसे वृक्क विकृत होता है, तब इस आशुकारी रोगकी प्राप्ति होती है।

संप्राप्ति—अपथ्य आहार, कृमि या अन्य रोगोंसे विषकी उत्पत्ति होकर जब वह रक्तमें प्रवेश करता है तब इस विषसे वृक्कोंके रक्तवाही गुच्छ और मूत्रोत्सिकाएँ विकृत होती हैं। इस विषमें भी अनेक प्रकार हैं। कितनेही विष रक्तवाहिनियोंके गुच्छोंको और कई विष मूत्रोत्सिकाओंको दूषित करते हैं। तीव्र और एक साथ परिणाम होनेपर आशुकारी और शनैः शनैः सौम्य आघात पहुँचनेपर चिरकारी दाह-शोथ होता है। इनमें रक्तवाहिनियोंके गुच्छोंपर आक्रमण होनेसे वे टूटते हैं और उनसे मूत्रमें रक्त जाने लगता है। फिर मूत्रमें शुभ्र प्रथिन (एल्ब्युमिन) जाता है; और वृक्कोंके बाह्य भागपर शोथ आ जाता है। रक्त और लसीका निकल कर स्रोतोंमें जमकर उनकी नली सदृश आकृति हो जाती है, उसे त्रेप (Tube casts) संज्ञा दी है। ये त्रेप मूत्रके साथ निकल जाते हैं। क्वचित् अनेक नलियोंकी कला नष्ट होकर त्रेप रुक भी जाते हैं, तब मूत्रक्षय होने लगता है और रक्तमें विष रह जाता है। इससे शरीरपर शोथ आ जाता है।

पूर्वरूप—प्रारम्भमें शीतकी कमकमाटी आना, पीठमें पीड़ा, वमन, शिरः शूल, व्याकुलता, अतिसार, मूत्रमें रक्त जाना और ज्वर, ये पूर्वरूप, प्रतीत होते हैं।

रूप—कटिप्रदेशमें पीड़ा होकर प्रारम्भ होता है और क्वचित् अकस्मात् भी हो जाता है। कभी पूर्वरूप होकर फिर सर्वांग शोथ आता है। प्रारम्भमें नेत्र, गाल और गुल्फपर शोथ आकर सारे शरीरपर फैल जाता है, नाड़ी वेग पूर्वक चलती है, रक्त-वेग और रक्तभार बढ़ जाता है, मूत्र थोड़ा-थोड़ा होता है, क्वचित् मूत्रक्षय भी हो जाता है। मूत्रमें रक्त, युरेट्स और एल्ब्युमिन होते हैं; तथा क्लोराइड और यूरिया कम हो जाते हैं, मूत्र गाढ़ा हो जाता है। स्वर-यन्त्र या फुफ्फुसोंपर शोथ होनेसे श्वास, कास, पाण्डुता, मलावरोध, शुष्क त्वचा, कण्डु, रूक्ष जिह्वा, नेत्र-विकृति, तृषा और हृत्कोपकी वृद्धि इत्यादि रूप प्रतीत होते हैं। प्रारम्भके ८-१० दिनों तक ज्वर १०० डिग्री तक रहता है, किन्तु कभी कभी वही १०१ से १०२ डिग्री या इससे भी अधिक हो जाता है।

सम्यक् चिकित्सा न होनेके कारण यदि तुरन्त आराम नहीं होता है, तो मूत्रसंन्यास (रक्तमें मूत्र-विषवृद्धि) होकर मृत्यु हो जाती है, अथवा चिरकारी

वृक्कप्रदाह हो जाता है। बहुधा चिरकारी रोगमें ज्वर नहीं रहता। इस रोगका विस्तारसे विवेचन मूत्ररोगोंके साथ किया जायगा।

वातबलासक ज्वर चिकित्सा—इस रोगमें ज्वर उतारनेके लिये औषध गौण रूपसे दी जाती है। वृक्कस्थानको सुधारनेकी चिकित्सा प्रधान रूपसे की जाती है। रोगोत्पादक कारणके अनुरूप इसमें चिकित्साका प्रारम्भ जल्दी होना चाहिये।

रोगीको पूर्ण विश्रान्ति देवें। बार-बार करवट बदलावें एवं चित भी लिटाते रहें।

रोगीका कमरा किञ्चित् उष्ण, स्वच्छ और प्रकाशवाला होना चाहिये (शीतल स्थानमें रोगीको न रखें)।

कमरपर फलालेन या ऊनी वस्त्र बांध दें ताकि वृक्कस्थान उष्ण बना रहे। रोग शमन होनेके पश्चात् भी कई दिनों तक वृक्कस्थानोंको शीत न लगने देवें।

इस रोगमें तीव्र मूत्रल औषध नहीं देनी चाहिये। हृदयपौष्टिक और मूत्र-जनन गुणयुक्त औषधियोंकी योजना करनी चाहिये।

सौम्य विरेचन और स्वेदनद्वारा मूत्रके विशेष अंशको बाहर निकाल देवें ताकि वृक्कोंको शान्ति मिलती रहे।

मूत्रमें रक्तके जानेकी आशंका हो, तो वृक्कपर सींगी लगवा कर दोषको निकाल डालना चाहिये। रक्तमें प्रवेशित विषको जलानेके लिये शिलाजतु या अन्य विषघ्न और रक्तप्रसादन औषधिकी योजना करनी चाहिये।

भोजनमें दूध, मोसम्बीका रस या साबूदाना देते रहें। दूधमेंसे निकाला हुआ मक्खन दिया जाता है; किन्तु दहीमेंसे निकाला हुआ मक्खन या घी अधिक मात्रामें नहीं देना चाहिये। थोड़ा-थोड़ा सिद्ध घृत देते रहें।

तीव्र रोगमें अन्न नहीं देना चाहिए; तथा रोगीको नमकीन पदार्थ और खट्टे फलोंका रस भी नहीं देना चाहिए।

ज्वरशामक औषधकी आवश्यकता हो तो—जयमंगल रस या चन्दनादि लोह दिनमें दो बार मुख्य रोगशामक औषधके साथ देते रहें।

रोगशामक औषधियाँ—(१) आरोग्यवर्द्धनी, चन्द्रप्रभा वटी, पुनर्नवा मंडूर, अमृतारिष्ट, ताप्यादि लोह, दशमूल क्वाथ, इनमेंसे अनुकूल औषध देवें।

(२) शिलाजीत ३-३ रत्ती दिनमें दो बार आरग्वधादि क्वाथ (दूसरी विधि) के साथ देनेसे ज्वर, कफप्रकोप, शोथ और मलावरोध दूर हो जाते हैं।

(३) त्रिकण्टकादि क्षीर—गोखरू, खरैंटी, छोटी कटेली, गुड़ और सोंठ मिलाकर २ तोले लें। फिर उसके साथ १६ तोले दूध और ६४ तोले जल मिला कर दुग्धावशेष क्वाथ करके पिलावें। इस तरह दिनमें दो बार पिलाते रहने और साथमें चन्द्रप्रभा वटी देते रहनेसे शोथ बहुत जल्दी कम हो जाता है।

(४) जीर्ण ज्वरमें लिखा हुआ वृश्चीराद्य क्षीर भी हितकारक है।

(५) पुनर्नवादि चूर्ण (दूसरी विधि) देवें।

(६) **पुनर्नवादि क्वाथ**—पुनर्नवा, सारिवा, गोखरू, धमासा, बेर, बबूलकी छाल, मोलसरीकी छाल, मजीठ और कुटकी, इन औषधियोंको समभाग मिला कर ४ तोलेका क्वाथ करें। फिर दो हिस्से करके दिनमें २ बार पिलाते रहें; तथा साथमें शिलाजीत, चन्द्रप्रभा वटी या कलमी सोरा थोड़ा-थोड़ा मिलाते रहें।

(७) वमन होती हो, तो—एलादि वटी या एलादि चूर्ण दें।

(८) वृक्कस्थानपर दोषघ्न लेप अथवा हींगको जलमें पीस निवाया कर लेप करनेसे वेदनासह शोथ शीघ्र शमन होता है।

इस रोगमें अधिक अतिसार न हो, तो आरोग्यवर्द्धनी (पुनर्नवादि क्वाथके साथ) उत्तम औषध है। आरोग्यवर्द्धनीसे शनैः-शनैः ज्वर, शोथ, बद्धकोष्ठ, मूत्रावरोध, हृदयकी विकृति, ये विकार दूर हो जाते हैं।

यदि अतिसार है, तो पुनर्नवा मंडूर देनेसे ज्वर, शोथ और मूत्रदोष दूर होते हैं और अन्तड़ी भी निर्दोष बनती है। पूय बना हो और वातप्रकोप अधिक हो, तो वंग भस्म और ताप्यादि लोह हितकर रहता है। इन औषधियोंसे हमने अनेक रोगियोंको लाभ पहुँचाया है। पीनेके लिये दूध दिया जाय, तो त्रिकण्टकादि क्षीर बनाकर देते रहें। इस रोगकी विशेष चिकित्सा, वृक्क रोग और मूत्राघातमें लिखी जायगी।

(२६) प्रलेपक ज्वर।

(हेक्टिक फीवर—Hectic Fever)

जिस जीर्ण विषम ज्वरमें मन्द-मन्द ज्वर बना रहे, शरीर प्रस्वेदसे चिकना और भारी रहे, थोड़ा शीत भी लगता रहे; वह प्रलेपक ज्वर कहलाता है।

इस ज्वरको कफपित्तोल्वण माना है। इसमें प्रातःकाल ज्वर बहुत कम होता है या धातुमें लीन रहता है; किन्तु फिर दोपहर होनेके पश्चात् धीरे-धीरे बढ़ता जाता है और बार-बार चिकना स्वेद भी आता रहता है। रात्रिको तो प्रायः इतना स्वेद आ जाता है कि रोगीको प्रस्वेदसे स्नान हो जाता है। यह ज्वर राजयक्ष्मा, विद्रधि और विसर्प रोगमें होता है। भिन्न-भिन्न रोगोंमें शीत, दाह आदि लक्षण न्यूनाधिक होते हैं। इस ज्वरको राजयक्ष्मा रोगीके लिये प्राणनाशक और विद्रधिवालेके लिये शस्त्रचिकित्सासे साध्य माना है।

इस रोगमें तीसरे प्रहरके समय रोगीको कुछ समय तक शरीरमें स्फूर्ति और मनमें प्रसन्नताका भास होता है। बांयें गालपर तेजी दिखती है, जिसको

हेक्टिक फ्लश (Hectic Flush) कहते हैं। इस रोगमें सायंकालको ज्वर बढ़ जाता है और फिर कम होने लगता है। चिकना पसीना अत्यधिक आकर ज्वर मध्य रात्रिमें उतर जाता है, प्रातःकाल प्रायः नहीं रहता या बहुत कम रहता है।

प्रलेपक ज्वर-चिकित्सा।

इस रोगमें पथ्यपालनके लिए रात-दिन लक्ष्य देना चाहिए। स्वच्छ स्थानमें रहना और शरीर, वस्त्र आदि स्वच्छ रखने चाहिए।

जल उबाल, शीतल करके पिलाना चाहिये; तथा भोजन लघु, पौष्टिक देना चाहिये।

क्षयजन्य ज्वर हो, तो शाकाहारियोंको सिद्ध घृत एवं मांसाहारियोंके लिए बकरेके मांसका यूष देना चाहिए अथवा बकरी या गौके दुग्धको सिद्ध करके पिलाते रहें। क्षय रोगकी चिकित्सा; चिकित्सातत्व प्रदीप (द्वितीय खण्ड) में विस्तारसे दी है।

इस रोगमें औषध सुवर्ण मिश्रित देनेसे क्षयके कीटाणुओंका नाश होता रहता है। क्षय-जन्य ज्वरमें सुवर्णकी मात्रा १/१६ रत्तीसे अधिक नहीं होनी चाहिए।

पीपको सुखानेके लिए—वङ्ग भस्म, शृंगभस्म और हरताल भस्म हितकर हैं। अतः रोगशामक मुख्य औषधके साथ मिला लेवें।

दाह और रक्तस्रावके नाशके लिए—आवश्यकतापर मौक्तिक या प्रवाल-पिष्टी मुख्य औषधके साथ मिला लें।

अतिसार हो, तो—सुवर्ण पर्पटी या पंचामृत पर्पटी देनी चाहिए।

रोगशामक औषधियाँ—सितोपलादि अवलेह, जयमंगल रस, सुवर्ण-मालिनी वसन्त, लक्ष्मीविलास रस, महामृगांक रस, हेमगर्भ पोटली रस (दूसरी विधि) (शुष्क कासका त्रास अधिक हो, तो) और बृहद् वंगेश्वर रस (मूत्र और शुक्र विकृति अधिक हो तो)। क्षय प्रधान ज्वरमें इनमेंसे अनुकूल औषधकी योजना करनी चाहिए।

अनुपान रूपसे सितोपलादि चूर्ण या ६४ प्रहरी पीपल और शहद मिलावें। निर्बलता अधिक हो, तो २-२ तोले अमृतारिष्ट या २॥ से ५ तोले द्राक्षासव दिनमें दो बार देते रहें।

विद्रधिके पूयको नष्ट करनेके लिए—वङ्गभस्म अन्य औषधके साथ मिला लें; या १-१ रत्ती दिनमें दो बार शहदके साथ देते रहें; अथवा शृङ्गभस्म अथवा हरताल भस्म देवें।

विशेष चिकित्सा इस ज्वरके मूल रोग क्षय, विद्रधि और विसर्पके साथ यथास्थान लिखी जायगी।

(२७) श्लैपदिक ज्वर।

(फायलेरियल फीवर—Filarial Fever)

पैर, हाथ, वृषण आदि स्थानोंमेंसे किसी भी स्थानमें वेदना होकर दाह-शोथ (श्लीपद) हो जाता है और फिर पूर्णिमा या अमावस्याको कम्प और शीत सह ज्वर आ जाता है। क्वचित् एकादशीको भी आ जाता है। यह कफप्रधान विषम ज्वर है। अनूप देशमें यह रोग अधिकांशमें होता है।

इस रोगके कीटाणुओंको डॉक्टरीमें फायलेरिया बॅन्क्रोफ्टी (Filaria Bancrofti) कहते हैं। ये मच्छरोंके पेटमें जाते हैं और फिर मच्छरोंद्वारा मनुष्योंमें प्रवेश करते हैं। पश्चात् इनकी वृद्धि होकर रक्तवाहिनियाँ और रसायनियाँ खूब भर जाती हैं। तब श्लीपद (हाथीपगा) रोग हो जाता है, तथा बार-बार ज्वर भी आता रहता है।

इस रोगका निदान, हेतु, चिकित्सा आदि सविस्तर श्लीपद रोगके प्रकरणमें लिखे जायँगे।

(२८) रात्रिज्वर।

अनेक स्त्रियों और निर्बल पुरुषोंको ज्वर या अन्य रोगसे शरीरके अधिक क्षीण हो जानेपर थोड़ेसे परिश्रमसे थकावट आ जाती है और फिर रात्रिके समय बहुधा मन्द ज्वर आ जाता है। अग्निमांद्य, अरुचि, मलावरोध, मूत्रमें पीलापन, आलस्य, निस्तेजता, बेचैनी और हाथ-पैर टूटना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

चिकित्सा—रात्रि-ज्वरमें तीनों दोष क्षीण (इनमें भी पित्त अधिक क्षीण) हो जाते हैं। अतः अधिक परिश्रम, अग्नि या सूर्यके तापका अधिक सेवन, अपथ्य भोजन, मानसिक चिन्ता, इन सबका त्याग करना चाहिए। स्थान, वस्त्र, भोजन आदिकी स्वच्छता रखनी चाहिये। इस ज्वरमें सिद्ध घृत और सिद्ध दुग्धपान विशेष लाभदायक हैं। ब्रह्मचर्यका आग्रहपूर्वक पालन करना चाहिए तथा मानसिक परिश्रम (अध्ययन आदि) को छोड़ देना चाहिए।

रात्रिज्वर शामक उपाय—संशमनी वटी और सितोपलादि अवलेह १-१ माशा दिनमें तीन बार दूधके साथ देते रहें; या वर्द्धमान पिप्पली, सुवर्णमालिनी वसन्त, लघुमालिनी वसन्त, सुदर्शन चूर्ण, चन्दनादि लोह इनमेंसे अधिक अनुकूल औषध देते रहें या जीर्ण विषम ज्वरमें लिखे अनुसार चिकित्सा करें।

(२९) अर्धनारीश्वर ज्वर ।

इस ज्वरमें आधा शरीर शीतल और आधा गरम रहता है, इसलिये इसे 'अर्ध नारीश्वर' और 'नारसिंह' संज्ञा दी है। इस ज्वरको विषम ज्वरका ही भेद माना है।

अन्नरसके विदग्ध हो जानेसे पित्त और कफ दुष्ट हो जाते हैं। इसीलिये कफसे आधा शरीर शीतल तथा पित्तसे आधा शरीर उष्ण हो जाता है। विदग्ध पित्त आमाशय आदि भागमें और दूषित कफ अन्य भागमें संगृहीत होनेपर शरीरका मध्य भाग उष्ण और रोगीके हाथ-पैर शीतल रहते हैं। दुष्ट कफकी वृद्धि होकर श्वासवाहिनियों और फुफ्फुस आदि स्थानोंमें श्लेष्म भर जानेसे पित्त शेष भागोंमें रहता है, तब मध्यकायमें शीतलता और हाथ-पैरोंमें उष्णता प्रतीत होती है। प्रकुपित वात और कफके त्वचामें रहनेसे शीत लग कर ज्वर आ जाता है और फिर शीत और कम्प दूर होनेपर पित्त-प्रकोपसे अन्तर्दाह होने लगता है। कभी-कभी पहले पित्तप्रकोपसे त्वचामें दाह होकर फिर अन्तरमें शीत लगने लगता है; तथा इसके साथ वमन, तन्द्रा, व्याकुलता आदि अन्य लक्षण भी होते हैं।

इन दो प्रकारोंमें दाहपूर्वक ज्वरको अत्यन्त दुःखप्रद और शीतपूर्वक ज्वरको कष्टसाध्य माना है।

जब विषम ज्वरके अधिक दिनों तक शरीरमें रहनेसे देह कृश हो जाती है, तीनों दोष निर्बल हो जाते हैं, विषम ज्वरके कीटाणु (विष) सब धातुओंमें फैल जाते हैं, तब बार-बार नाना प्रकारकी अवस्थाएँ प्रतीत होती हैं। श्वास यन्त्रपर अधिक आक्रमण हो जानेसे कफका प्रकोप होता है और कहीं पूय हो जाता है, तब ज्वर अत्यधिक बढ़ जाता है। शीत लग कर ज्वर आता है और प्रस्वेद होकर दूर होता है। फिर मध्यभाग शीतल-सा रहता है एवं अम्ल विपाक-वाले चावल, खटाई आदि पदार्थ खानेसे पित्त विदग्ध होता है, अथवा चावल या खटाईके साथ मधुर पदार्थ खानेपर अम्ल विपाक हो जाता है तब मध्य-कायमें दाह होता है। बादमें कीटाणुओंका प्रकोप होनेपर या बाहरकी वायु हाथ पैरोंपर लगनेपर हाथ-पैर शीतल हो जाते हैं। सारांश यह है कि भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके अनुरूप लक्षण भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं।

अर्धनारीश्वर ज्वर-चिकित्सा ।

इसकी चिकित्सा जीर्ण विषम ज्वरमें लिखे अनुसार की जाती है। इस रोगमें औषधकी मात्रा बहुत कम देनी चाहिये। अन्यथा विपरीत परिणाम होकर हानि पहुँचनेका भय है।

देहके किसी स्थानमें पूयोत्पत्ति हुई हो तो उसका शीघ्र निवारण करना

चाहिये। मुख्य उपचारके साथ शिलाजतु और पुनर्नवा क्वाथ देते रहना चाहिये। अस्त्रचिकित्सा साध्य रोगपर शस्त्रवैद्यका अवलम्बन लेना चाहिये।

रोगीको आराम देना चाहिये। स्थान आदिकी स्वच्छताका लक्ष्य रखें, और भोजन लघु पौष्टिक देते रहें।

हृदयकी निर्बलता हो, तो मूल रोगकी औषधके अतिरिक्त लक्ष्मीविलास, द्राक्षासव या अन्य हृदयपौष्टिक औषध भी देते रहें।

(३०) परिवर्तित ज्वर।

(रीकरण्ट फीवर ऑर रीलेप्सिग फीवर)

(Recurrent Fever-Relapsing Fever)

यह ज्वर आशुकारी संक्रामक और जानपदिक (देशमें चारों ओर फैलने वाला) है। यह अकस्मात् चढ़कर प्रायः ६ठे या ७ वें दिन एकदम उतर जाता है; किन्तु एक सप्ताहके बाद पुनः पुनः आता रहता है। इसलिए इसे परिवर्तित या पुनरावर्त्तक कहते हैं। यह ज्वर बहुधा दुष्कालके समय गरीबोंमें फैलता है। इस हेतुसे इसे दुष्काल ज्वर (Famine Fever) और सप्तरात्र स्थायी ज्वर (Seven day Fever) भी कहते हैं। इसी तरह खाई बनाकर रहनेपर सैन्यमें भी फैल जाता है, इस हेतुसे डाक्टरीमें ट्रेञ्च फीवर (Trench Fever) संज्ञा दी है। इसके कीटाणुओंमें स्थान भेदसे कुछ भेद रहता है. जिससे लक्षणोंमें भी भेद हो जाता है।

निदान—दरिद्रता, मलीनता, एक स्थानमें ज्यादा मनुष्योंका रहना, इन हेतुओंसे कीटाणुओंका आक्रमण होता है। इस रोगके कीटाणुओंको स्पाइरोकेट ओबरमायरी (Spirochaeta obermeieri) संज्ञा दी है। ये कीटाणु पेचके समान घुमावदार होते हैं और इनका प्रवेश जूँके दंशद्वारा (किन्तु इस काटे हुए स्थानको नाखून आदिसे खुरचनेपर) होता है। इस रोगकी उत्पत्ति बहुधा शीतकालमें होती है।

सम्प्राप्ति—सामान्य ज्वरके सदृश ही इसकी सम्प्राप्ति होती है। प्लीहा खूब मोटी हो जाती है; उसमें ओबरमायरके कीटाणु भरे रहते हैं। ज्वरावस्थामें कीटाणु रक्तमें भी आ जाते हैं। यकृत् भी कुछ अंशमें बढ़ जाता है।

चयकाल—२ से १० दिन, सामान्यतः ५ से ७ दिन।

लक्षण—शीत लग कर ताप अकस्मात् १०४ डिग्री तक बढ़ जाता है। नाड़ी ११० से १८० तक और श्वासोच्छ्वासकी तेज गति, शिरमें दर्द, कमरमें दर्द, अति तृषा, उबाक, पित्तकी वमन, क्वचित् रक्त सहित वमन, कम्प, मुँह लाल हो जाना, जिह्वा शुष्क और सफेद मैलवाली, गलेमें रहनेवाली घण्टिका शिथिल हो जाना, चक्कर आना; लम्बी अस्थियोंमें गम्भीर वेदना,

संधि पीड़ा, हाथ पैर टूटना; दाह और यकृत्प्लीहा वृद्धि आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। कभी नाकमेंसे रक्त गिरता है तथा कभी प्रस्वेद आता है; कभी प्रस्वेद नहीं आता, शरीर धीरे-धीरे शुष्क और पीला बनता जाता है, कुछ कामला हो जाता है, किसीको मलावरोध और किसीको अतिसार होता है; जलमय पिटिकाएँ (Herpes) अथवा कभी-कभी ग्रीवापर गुलाबी रङ्गके चक्र या चिह्न होते हैं।
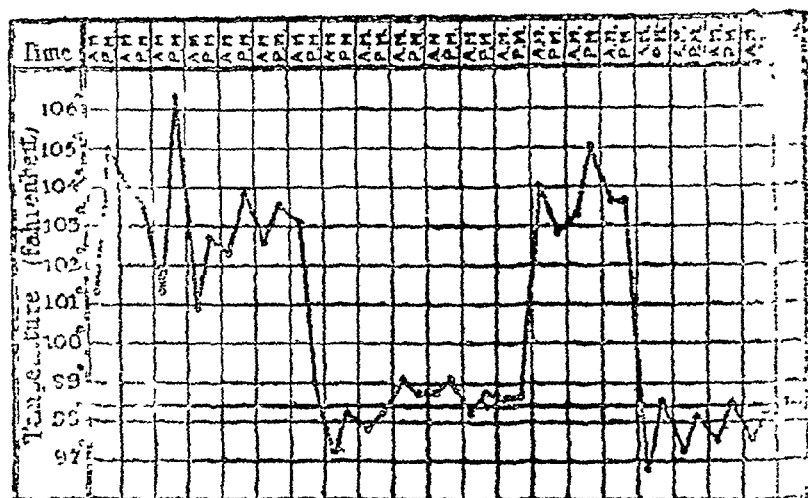
चित्र नं० ३०—परिवर्तित ज्वरमें उत्ताप।

सामान्यत: ५ वें से ७ दिनके भीतर आकस्मिक उपशम होकर ज्वर दूर होता है। उस समय बहुत स्वेद आता है तथा तेजीसे उत्तापका ह्रास होता है। इस हेतुसे निर्बल व्यक्तियोंकी मृत्यु हो जाती है।

फिर ५-७ दिन तक ज्वर नहीं रहता। पुन: (लगभग १४ वें दिन) पहलेके अनुरूप तेजीसे आजाता है। किन्तु लक्षण पहलेकी अपेक्षा सौम्य होते हैं। इस तरह तीसरी और चौथी बार भी कभी-कभी आक्रमण होता है। निर्बलता अधिक आ जानेसे स्वस्थावस्था शनै:-शनै: आती है।

गम्भीर प्रकार—भारतमें अनेक बार यह रोग गम्भीर आक्रमण करता है, तब विषप्रकोपज (Toxeamia) विविध लक्षण (प्रलाप, निद्रानाश आदि) तथा गम्भीर कामला आदि प्रकट होते हैं। आकस्मिक उपशमके साथ शक्तिक्षय होता है। इस प्रकारमें पैत्तिक संतत ज्वर (Bilious remittent fever) की प्राप्ति होती है।

सामान्यत: क्रम २ से ६ दिनका होता है। पुनराक्रमण २–३ बार और कभी ७ बार हो जाता है।

उपद्रव—ज्वरावस्था बढ़नेपर प्रलाप होता है। मुक्तावस्थाकी प्राप्तिके समय कभी तारामण्डलका प्रदाह, मस्तिष्कावरण प्रदाह, पक्षवध और आक्षेप होते हैं।

साध्यासाध्यता—योग्य उपचार होनेपर अच्छी स्थितिवालोंमें मृत्यु २ प्रतिशतकी होती है। समूहोंमें रहकर चिकित्सा होनेपर तथा जिनका स्वास्थ्य पहलेसे खराब हो, उन व्यक्तियोंमें मृत्युपरिमाण २० से ३० प्रतिशत आता है। गम्भीर आक्रमण हो तो परिणाम अनिश्चित।

पार्थक्यदर्शक रोगविनिर्णय—संक्रामक कामला और विषम ज्वर, प्रलापक ज्वर और इन्फ्लुएञ्जाके साथ इसके लक्षण मिलते हैं। ज्वरावस्थामें रक्तकी परीक्षा करनेपर उसमें स्पाइरोकेट्स कीटाणु मिलनेपर रोग-निर्णय निःसन्देह हो जाता है।

द्वितीय प्रकारका परिवर्तित ज्वर।

(चिचड़ों द्वारा प्राप्त—Tick-borne fever)

यह प्रकार भारत और अफ्रीकामें प्रतीत होता है। इस प्रकारके उत्पादक कीटाणुओंको स्पाइरोकेट डुटोनी (Spirochaetes Duttoni) संज्ञा दी है। इन कीटाणुओंका प्रवेश चिचड़ेके काटनेपर होता है।

क्रम—इसका क्रम जूँसे प्राप्त रोगके अनुसार होता है, किन्तु ज्वराधिक्यका समय अपेक्षाकृत कम, प्रायः २ से ३ दिनका होता है। पुनरावृत्ति अधिक होती है, रक्तमें कीटाणु कम होते हैं। क्वचित् मस्तिष्कविकृतिके लक्षण—निद्रानाश, प्रलाप आदि तथा अर्दित और दृष्टिमान्द्य उपस्थित होते हैं। कभी-कभी गम्भीर प्रकार भी हो जाता है।

साध्यासाध्यता—मृत्यु-परिमाण जूंवाले प्रकारकी अपेक्षा अधिकतर होता है।

चिकित्सोपयोगी सूचना।

इस ज्वरकी चिकित्साके २ विभाग होते हैं। रोगोत्पत्तिरोधक और रोगशामक।

रोगोत्पत्तिरोधक (Prophylactic)-कपड़ेमें या शिरमें जूँयें हों, उनका नाश करें। जूंवाले मकानका त्याग करें या खूब स्वच्छ करावें। कपड़ोंको कीटाणुरहित करावें।

यदि चिचड़े काटनेसे रोगप्राप्ति हुई हो तो चिचड़ोंको दूर करना चाहिये।

रोगशामक (Curative) सूचना—रोगीको पलंगपर लिटाये रखें। कमरेमें प्रकाश रहे किन्तु अधिक शीत न रहे, ऐसा प्रबन्ध करें। मलावरोध हो तो मृदु विरेचन देकर उदरशुद्धि करें। रक्तमें मूत्र-विष-वृद्धि न होनेके लिये काली अनन्तमूलका फाण्ट यवक्षारयुक्त देना चाहिये; या शीतल पर्पटी देनी चाहिये।

भोजनमें दूध और मोसम्बीका रस देवें। अतिसार होनेपर गोदुग्ध न देवें; बकरीका दूध देवें। अनार, सेव भी अतिसारवालेको हितकर हैं। जल गरम करके शीतल किया हुआ बार-बार चाहिये उतना देते रहें, जलमें कसर न करें। प्यास अधिक लगती है इस हेतुसे षडंग पानीय देते रहना विशेष लाभदायक है।

यकृत्-प्लीहामें अत्यन्त वेदना होनेपर स्थानिक शीतल प्रयोग अथवा निरन्तर पुल्टिसका प्रयोग करें।

ज्वर अधिक बढ़ जानेपर शिरपर बर्फ रखें; अथवा कपालपर कलमी सोराके जलवाली पट्टी रखें।

वेदना अधिक हो तो मलावरोधको दूर करके अफीम-प्रधान औषध महावातराज या अन्य देवें।

कामला हो जाय तो कलमीसोरा अधिक हो ऐसी श्वेत पर्पटी देते रहें। यदि नेत्र-प्रदाह (तारामण्डल प्रदाह) हो जाय, तो कनपट्टीपर जलौका लगावें एवं कनीनिकाकी प्रसारक औषध धतूरा या बेलाडोना स्वरस (अथवा एट्रोपिन) डालें। कनीनिकाको प्रसारित रखनेका प्रयत्न करना चाहिये।

ज्वरके उपशम होनेके समय वृद्ध और निर्बलोंको उत्तेजक और हृदय-पौष्टिक औषध संचेतनी वटी या हेमगर्भपोटली रस या जवाहर मोहरा देना चाहिये।

रोगशामक औषधियां—इस ज्वरमें विशेषतः दुर्जलजेता रस श्रेष्ठ औषधि है। कई रोगियोंको हरताल और सोमल प्रधान औषधियां अचिन्त्यशक्ति रस आदि भी अच्छा लाभ पहुँचाती हैं। हृदयकी निर्बलताके लिये कस्तूरी-मिश्रित औषध देनी चाहिये। प्रकृति पित्तप्रधान हो तो दुर्जलजेता, अष्टमूर्ति रसायन, या हरताल गोदन्ती जैसी सौम्य औषध देनी चाहिये।

रोग-शमन हो जानेपर संशमनी वटी अथवा सुवर्णमालिनी या लघु-मालिनी वसन्त जैसी प्लीहाके दोषको शमन करे तथा मस्तिष्क और वातवहा-नाड़ियोंको सबल बनानेवाली औषध कुछ दिनों तक देनी चाहिये।

शेष उपद्रवोंके लिये—ज्वरके प्रारम्भमें (पृष्ठ २३७ से २४१) और सन्नि-पातमें लिखे अनुसार चिकित्सा करें।

एलोपैथीमें इस रोगके लिये नियोआर्सफेनामाइन (Neoarsphenamine) विशेष औषध है। इसका अन्तःक्षेपण १ या २ बार करनेपर रक्तमेंसे कीटाणु अदृश्य हो जाते हैं, कुछ घण्टोंमें ही ज्वरका पतन हो जाता है, तथा पुनरावृत्ति क्वचित् होती है।

सूचना—इस रोगमें आकस्मिक उपशम होता है। अतः उस समय हृदय-पौष्टिक औषध देवें और योग्य सम्हाल रखें।

(३१) कण्ठरोहिणीजन्य ज्वर।
(डिफ्थेरिया-Diphtheria)

गलदेशमें वात, पित्त या कफ कुपित होकर अथवा तीनों मिलकर अथवा रक्त प्रकुपित होकर मांसको दूषित कर देते हैं। फिर कण्ठके अवरोधक मांसाकुरोंकी उत्पत्ति करा देवें, उसे कण्ठरोहिणी कहते हैं। यह रोग प्राणोंका नाश कर देता है।

वाग्भटाचार्य लिखते हैं कि; यह दारुण रोग जिह्वाके मूलमें कण्ठमार्गविरोधी उत्पन्न होता है, इसमें मांसाङ्कुरोंका संग्रह शीघ्र हो जाता है। यह रोग आशु मारक होता है।

(१) वातज कण्ठरोहिणी लक्षण—इस रोगमें जिह्वाके चारों ओर अति वेदना उत्पन्न करानेवाले: मांसांकुरोंकी उत्पत्ति होती है, वे कण्ठका अवरोध

अणुवीक्षण यन्त्रसे दिखनेवाला कण्ठप्रदेश ग्रसनिका और नासाप्रदेश
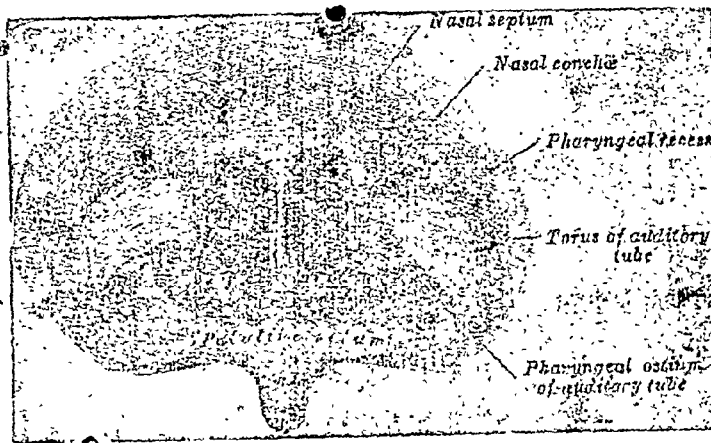
चित्र नं० ३१

Nasal Septum	नासामध्य प्राचीर
Nasal Conchae	नासाखात
Pharyngeal recess	ग्रसनिका खात
Torus of auditory tube	पटह पूरणिकाकी त्रिकोण तरुणास्थि
Pharyngeal ostium of auditory tube	पटह पूरणिकाका ग्रसनिका-मुख
Palatine velum	गलतोरणी कपाटिका
Uvula	काकलक (कागलिया)

उक्त प्रदेशमें पहले प्रदाह उत्पन्न होता है। फिर फैलता है और घातक रूप धारण कर लेता है।

कराते हैं। इसके साथ-साथ वातकृत स्तब्धता, अति व्यथा आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

श्री वाग्भटाचार्य लिखते हैं कि वातज रोहिणीमें तालु और कण्ठका शोथ होता है; तथा ठोढ़ी और श्रोत्रमें पीड़ा होती है।

२. पित्तज कण्ठ रोहिणी लक्षण—कण्ठमें शीघ्र अङ्कुरोंकी उत्पत्ति, दाह, और शीघ्र पाक होता है; तथा तीव्र ज्वर बना रहता है।

श्री वाग्भटाचार्य लिखते हैं कि, इस प्रकारमें ज्वर, कण्ठशोथ, तृषा, मोह, कण्ठसे धुंआं निकलता हो ऐसा रोगीको भासना, अंकुरोंकी शीघ्र उत्पत्ति होना, शीघ्र पकना, रङ्ग अति लाल हो जाना, स्पर्श सहन न होना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

३. कफज कण्ठ रोहिणी लक्षण—यह रोहिणी स्रोतोंका रोध कराने वाली, अचल, ऊँची उठी हुई तथा स्थिर अंकुरोंवाली होती है।

श्री वाग्भटाचार्यने लिखा है कि, यह रोहिणी पिच्छिल और पाण्डुवर्णकी होती है। आचार्य भोजने लिखा है कि, इस रोगसे कण्ठके भीतर और बाहर शोथ, श्वास और कण्ठावरोध होता है।

४. सन्निपातज कण्ठरोहिणी लक्षण—इस प्रकारकी रोहिणी गम्भीर पाकयुक्त निवारण न हो सके ऐसे वीर्यवाली और तीनों दोषोंके लक्षण-युक्त होती है।

५. रक्तज कण्ठरोहिणी लक्षण—इस प्रकारमें कण्ठके भीतर अनेक फुन्सियाँ हो जाती हैं। अन्य लक्षण पित्तज रोहिणीके समान होते हैं। इस रोहिणीको साध्य माना है। इन लक्षणोंके अतिरिक्त श्री वाग्भटाचार्य कहते हैं कि, यह रोहिणी तप्त अङ्गारके सदृश वर्णवाली और कानोंको पीड़ा करने-वाली होती है।

साध्यासाध्यता—सामान्यरूपसे इस रोगको घातक कहा है। परन्तु वातज, पित्तज, कफज रोहिणीके एक सप्ताह व्यतीत हो जानेपर भी रोग काबूमें न आवे तो असाध्य मानी जाती है। रक्तज एक सप्ताह तक असाध्य नहीं मानी जाती। इन चारोंकी योग्य चिकित्सा शीघ्रकी जाय, तो ये साध्य हो जाती हैं। केवल त्रिदोषज रोहिणी प्रारम्भसे ही असाध्य मानी जाती है। (सुश्रुत संहिताके टीकाकार डल्हणाचार्य और गयदासाचार्यने रक्तजको भी उत्पत्तिसे ही असाध्य माना है।)

अन्य आचार्योंके मतमें त्रिदोषज कण्ठरोहिणी जल्द मार देती है। कफ प्रकोपज ३ दिनमें, पित्तज ५ दिनमें (भोजके मतमें ४ दिनमें), वातज ७ दिनमें मार देती है।

एलोपैथिक विवेचन ।

(डिफ्थेरिया-Diphtheria.)

यह एक विशेष प्रकारका संक्रामक रोग है। इसकी संप्राप्ति क्लेब्स लोफलर कीटाणु (Klebs Loeffler Bacilli) द्वारा होती है। इसके स्थानिक लक्षण सामान्यतः गलतोरणीका (Fauces) या स्वरयन्त्रकी श्लैष्मिक कलापर रक्ततन्तुओंके क्षरणके हेतुसे तथा सार्वाङ्गिक लक्षण कीटाणुओंके प्रसारणकी दिशामें विषप्रकोपसे उत्पन्न होते हैं।

इसका अत्यधिक सम्बन्ध आयुसे है। संप्राप्ति १ से ५ वर्ष तक और उनमें ही अधिकतम मृत्यु (लगभग ८० प्रतिशत)। १० वर्षसे अधिक आयुवालोंपर आक्रमण कम और मृत्यु संख्या भी कम। १५ वर्षकी आयुके बाद आक्रमण अति कम। ६ माससे कम आयुवालेपर बारम्बार आक्रमण नहीं (वंशागत रोग निरोधक शक्तिके हेतुसे)।

इनके कीटाणुओंका शोध क्लेबने १८८३ ई० में किया है तथा लोफलर ने १८८४ ई० में इसे पृथक् किया है। इन कीटाणुओंकी लम्बाई और देखाव भिन्न-भिन्न आकार-प्रकारके हैं। ये ग्रामके रंगसे रंजित होते हैं; किन्तु नीले रंगमें रंजित करना अधिक सुविधावाला है।

कीटाणुवंश—इसके ३ वंश हैं। १. गंभीर; २. मध्यम; और ३. सौम्य। गंभीर प्रकारके कीटाणु होनेपर फेनीभवन, श्वेतसार और शर्करा (Glycogen) रूपसे होता है (शेष दोमें ऐसा फेनीभवन नहीं होता)। सौम्य प्रकार रक्तरंजनका नाशक है (शेष दो नहीं)। आवश्यकतापर रोगीके रक्तको खरगोशके रक्तमें मिला, निश्चित विधिसे पोषण कर वंश निर्णय किया जाता है।

निदान—

भौगोलिक वर्गीकरण—प्रायः सर्वत्र; किन्तु अत्यन्त प्रसारित सम शीतोष्ण और शीतल जलवायुवाले भागमें अधिक।

ऋतु—इंग्लेण्डमें अगस्तमें कम और अधिकतम अक्टोबर और नवेम्बरमें। भारतमें विशेषतः शरद् ऋतुमें।

संक्रमणकी रीति—अति संसर्गज। सामान्यतः वारम्बार एक व्यक्तिसे दूसरेको मिल जाना। उदा०—चुंबन, पीड़ित व्यक्तिकी पेंसिलको मुँहमें डालना, पाठशालामें विद्यार्थियोंका अति सम्बन्ध, पीड़ित व्यक्तिका झूठे अन्न-जलका सेवन आदि कारणोंसे इसका संक्रमण होता है। परिचर्या करनेवाली नर्स भी अनेक बार पीड़ित हो जाती है। इनके अतिरिक्त कण्ठकी परीक्षा करनेके समय रोगीको कास चलनेपर कभी-कभी डाक्टरको थूँकके परमाणुओंद्वारा कीटाणु लग जाते हैं।

१. व्यक्तिके प्रत्यक्ष सम्बन्धसे—आदर्श प्रतिरोधक कण्ठरोहिणीसे।
२. प्रभावित पदार्थसे—रोग कीटाणु महीनों तक जीवित रहते हैं।
३. रोगवाहक कृमि आदिसे।
४. अनादर्श कण्ठरोहणीके विषय-उदा०-सौम्य उपजिह्विका प्रदाह। गंभीर आक्रमण प्रभावित व्यक्तियोंमें।
परंपरागत होनेवाला संक्रमण—
५. दुग्धद्वारा जनपद व्यापी-कितनीही गोलमालमें या भूलहोनेपर। गौके स्तनोंपर कण्ठरोहिणी कीटाणुके विषका वहन। (जो अन्यत्र प्रतीत नहीं होता) संभव है कि, स्तनपर क्षत हो और पीड़ित व्यक्ति द्वारा वह प्रभावित हो, फिर दूपित हो जाय।
वक्तव्य—कण्ठरोहिणीके असंप्राप्तिकर कीटाणु बारम्बार दूध और पनीरमें विदित होते हैं।
६. उगानेकी क्रियाद्वारा आकस्मिक संक्रमण। ये कीटाणु वायु अथवा जलद्वारा संक्रमण नहीं करते। एक आक्रमण रोग-निरोधक शक्ति प्रदान नहीं करती।
तन्तुओंपर कीटाणुओंका प्रभाव।
१. आच्छादक तन्तु वृत्तिमें-विशेषतः उत्तान भाग और सतह पर। कीटाणु इस तन्तुवृत्तिके नीचे प्रवेश नहीं करते।
२. दूसरो ओर विशेषतः श्लैष्मिक कलामें निमित्त मिलनेपर उपस्थित, जैसे नासाश्लैष्मिक कलाप्रदाह (Rhinitis), नेत्रश्लैष्मिक कलाप्रदाह (Conjunctivitis) और इससे कम समय मध्य कर्णकी श्लैष्मिक कलाका प्रदाह (Otitis media), कभी भगके भीतर भी, अति क्वचित् क्षतमय हृद्यान्तर प्रदाहमें।
३. त्वचाके क्षत और घावमें गौण आक्रमण।

रोग-निरोधक अन्तःक्षेपण—वर्त्तमानमें मांसपेशीके भीतर प्रतिविषके ३ अन्तःक्षेपण ४ सप्ताहके भीतर बड़े मनुष्यको करते हैं। बच्चेको २ अन्तःक्षेपण। इससे ६ सप्ताहके भीतर रोग-निरोधक शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस हेतुसे वर्त्तमानमें यूरोपके भीतर इस रोगसे पीड़ितोंकी मृत्युसंख्या केवल ५ प्रतिशत होती है।

वाहक—सामान्यतः कण्ठरोहिणीके कीटाणुओंकी उपस्थिति नासिका और गलतोरणिका प्रदेशमें होती है, कुछ भी रोग-लक्षण नहीं दर्शाते। इन वाहकोंके २ प्रकार हैं। १. पुनः स्वास्थ्य प्राप्तवाहक; आक्रमणके उत्तरकालमें; निश्चित पृथक् होते हैं; सामान्यतः ६ से ८ सप्ताहमें उनकी समाप्ति होती है (तब तक रोग फैला सकते हैं)। २. पूर्णांशमें रोगपीड़ित वाहक। केवल ये दो प्रकार

ही विषमय कीटाणुओंके सच्चे वाहक हैं।

रोगियोंका निरोध—पाश्चात्य देशोंमें इस रोगसे संक्रमित व्यक्तयोंको बाहरसे आनेपर १२ दिन तक शहरसे बाहर रोक देते हैं।

शारीरिक विकृति—प्रकृति निर्देशक परिवर्त्तन तन्तुवृत्तिकी रचनामें ऊर्ध्व वायुमार्गके भीतर होता है। तन्तुवृत्तिके उत्तान पर्तपर एक मिथ्या कला (False memrane) की रचना होती है, जो कण्ठरोहिणीके कीटाणुओंके विषसे उत्पन्न होती है।

प्रभावित कलाके सामान्य स्थान—उपजिह्विका और उसके समीपका प्रदेश तथा स्वरयन्त्र है। ग्रसनिका, श्वासनलिका, अधिजिह्विका और नासापुट भी प्रभावित होते हैं। घातक रोगियोंमें बारम्बार नासाविवर (अग्रिमा परिखा, हनु परिखा, जातुक परिखा और झर्झरक परिखायें प्रभावित होती हैं। कचित् नेत्र श्लेष्मावरण भी।

तन्तुकलाका वर्ण धूसराभ श्वेत, फिर गहरा। पर्त्तका विच्छेद होनेपर सतहपर रक्तस्राव और संयोजन। जीर्णावस्थामें सरलतासे पृथक् होती है। यह परिवर्त्तन उत्तान वृत्तिमें होता है।

गंभीर भागमें अति कचित्। यह विगलन होनेपर अदृश्य।

गलतोरणिकाकी विकृति—प्रारम्भमें मामूली जुकाम। पहले सामान्यतः एक स्थानपर कलाकी रचना, उपजिह्वापर या काकलक और उपजिह्वाके संयोग स्थानपर। फिर कला उपजिह्वा, गलतोरणिका स्तंभ, काकलक, मृदु तालु तथा ग्रसनिकापर फैल जाती है।

स्वर यन्त्रकी विकृति—स्वर यन्त्रोदरसे अधिजिह्विकापर कला फैलती है। गलतोरणिकाकी कलाभी सामान्यतः वर्त्तमान।

लसीका ग्रन्थियाँ—हनुके नीचे तथा कण्ठमें बढ़ी हुई। गंभीर रोगियोंमें अत्यधिक। मुख्यतः गौण स्ट्रेप्टोकोकाईके संक्रमणसे; किन्तु प्रतिविषद्वारा शीघ्र प्रभावित नहीं होतीं।

हृदय—हृदयपेशीमें महत्त्वका परिवर्त्तन। प्रातः वसापक्रान्तिकी प्रतीति। हृदयान्तर प्रदाह अति कचित्।

फुफ्फुस क्षति—श्वास प्रणालिका-प्रदाह (कास) और फुफ्फुस प्रणालिका-प्रदाह (डब्बा), ये सामान्य और घातक विशेषतः, स्वरयन्त्र विकृति प्रकारमें। न्युमोकोकस सामान्यतम यान्त्रिक रचनामें। क्लेब्लोफलर कीटाणु कचित्। बृहद् श्वासनलिकासे विभाजित मुख्य श्वासनलिका तक कला फैलती है; कभी फुफ्फुसस्थ सूक्ष्म श्वासनलिका प्रशाखा तक।

वात संस्थान—डिफ्थेरियासे उत्पन्न नाड़ियोंका वध हो, तो परिधिगत संचालन और नाड़ियोंकी श्याम अपक्रान्ति।

इनके अतिरिक्त रक्त, वृक्क, यकृत्, प्लीहा, आदिमें भी परिवर्त्तन होता है। किन्तु वे प्रकृति निर्देशक नहीं हैं। रक्तमें श्वेताणुओंकी निश्चित वृद्धि और इनके सम्बन्धी बहुजीव केन्द्रमय घटकोंकी उपस्थिति। वृक्कोंकी वसापक्रान्ति और क्वचित् वृक्कप्रदाह। यकृत्प्लीहाका विषज परिवर्त्तन।

चयकाल—सामान्यतः २ दिन। कभी कीटाणु लक्षण गुप्त भी रह जाते हैं।

लक्षण—सार्वाङ्गिक व्याकुलता। उत्ताप १०१° लगभग, कभी १०३° से अधिक। मंद स्वरभेद। बच्चोंमें प्रायः कण्ठक्षतपर लक्ष्य नहीं जाता। मुखमण्डल धूसर। बालकोंमें आक्षेप, प्रायः जानुक्षेप (Knee jerks) का अभाव (जानु-पर प्रहार करानेसे पैर बलपूर्वक आने लगता है, इस क्रियाका अभाव) अति वारंबार किञ्चित् शुभ्र प्रथिनका मूत्रके साथ गमन, मूत्रीयाकी वृद्धि।

परीक्षात्मक प्रकार—अ. गलतोरणिका प्रकार; आ. स्वरयंत्र प्रकार; इ. नासिका प्रकार; ई. त्वचा प्रकार; उ. गंभीर प्रकार; ऊ. नानाविधि प्रकार।

अ. गलतोरणिका कण्ठरोहिणी (Faucial Diphtheria)—बालकोंमें गुप्तरोग-थोड़ी वेदना, विषप्रकोपके हेतुसे रुदन आदि। प्रारम्भमें लक्षण ऊपर अनुसार। निगलनेमें कुछ कष्ट। उपजिह्वा विकार रूपसे सामान्यतः प्रसेक। पहले ही दिन बहुधा कृत्रिम कलाका आरम्भ। हनुके नीचे और गलेमें (प्रभावित बाजूमें) ग्रन्थियोंकी मृदुता और किञ्चित् वृद्धि।

तीसरे दिन उपजिह्विका, तालु और काकलकपर कृत्रिमकला* बन जाना, ग्रन्थियोंकी वृद्धि। उत्ताप अनेक प्रकारका। सार्वाङ्गिक व्याकुलता और विष-प्रकोपज ज्वर (Toxaemia) निगलनेमें वेदना।

चौथेसे पाँचवें दिन तक कला फैलना, ग्रन्थियाँ बढ़ना, अति भारी श्वास, मल-लिप्त जिह्वा, मूत्रका ह्रास और शुभ्र प्रथिन प्रायः नियमित जाना।

सौम्य रोगियोंमें परवर्त्ती कालमें कलाका विगलन। चिह्नोंका लोप। आरोग्य-प्राप्ति ७ से १० दिनमें। शारीरिक लक्षण सामान्यतः कलाके विस्तारके अनुरूप।

गम्भीर रोगियोंमें भस्म सदृश मुखमण्डल। नाड़ी निर्बल, तेज या प्रायः मन्द। अवस्था बढ़नेपर अति गम्भीर (अवसाद ग्रस्त होनेसे नाड़ी स्पन्दन ५०, ४० और कभी २० तक) उत्ताप अधिक या कम हो सकता है। कला सामान्यतः विस्तृत। नासिकासे स्राव सामान्य, वमन, मूत्रमें शुभ्र प्रथिनकी वृद्धि। क्षीणताकी वृद्धि। मृत्यु हृदयपतनसे, प्रायः अकस्मात्, सामान्यतः ३ से ८ दिनमें स्वरयन्त्र भी प्रायः पीड़ित।

---

* यदि इस कलाको बलात्कारसे खुरचकर निकाल दिया जाय तो पुनः नूतन कला निर्माण होती है।

उपजिह्वा परिवर्त्तन प्रकार—१. पिटिकामय उपजिह्वा प्रदाहके समान छिद्रसे स्राव-क्षरण, २. व्यापक पुल्टिसके सदृश क्षरण; ३. कितनेही स्थानोंमें कठोर दानेदार कला; ४. प्रत्येक थोड़ी कलासह, गम्भीर रोगियोंमें नासिकाके भीतर कीटाणु विष प्रायः अनेक प्रकारका।

आ. स्वरयन्त्रकी कण्ठरोहिणी गलौघ (Laryngeal Diphtheria)—सामान्यतः ३ वर्षकी आयुमें। सर्वदा लगभग गलतोरणिका कण्ठरोहिणीसे सम्प्राप्त गौण प्रकार। गलतोरणिका कला ग्रैवेय ग्रन्थियाँ और लक्षण वर्त्तमान।

प्रथमावस्थामें आशुकारी स्वरयंत्रप्रदाह (श्वासावरोधसह) अर्थात् स्वरभेद, कर्कश कास, श्वासग्रहण शीत्कार ध्वनिसह, अक्षकास्थिपर श्वासग्रहणमें खिंचाव।

परीक्षात्मक उपप्रकार—१. अकस्मात् आक्रमण, किन्तु लक्षण गम्भीर नहीं। स्वरयन्त्र द्वारके आक्षेपसे कुछ घण्टोंतक श्वासकृच्छ्रतामें अकस्मात् प्रचण्डता। कला किञ्चित् प्रभावित। परिणाम शुभ।

२. आक्रमण कम आकस्मिक। बिना आक्षेप श्वासकृच्छ्रता दुःखप्रद बनी रहना। वर्ण श्याम। गात्रनीलता और कुक्कुटध्वनि (Croup) की वृद्धि। व्याकुलता, वमन होते रहना और बेहोशी। श्वासनलिकाके नीचे कला फैलना। फुफ्फुसके उपद्रव सामान्यतः। परिणाम अति अशुभ।

शारीरिक आक्रमण क्वचित् अधिक, यदि गलतोरणिकाके लक्षण न हों तो। बड़ोंमें स्वरयंत्रकी कण्ठरोहिणीमें क्वचित्, किन्तु प्रायः उपेक्षित होता है। स्वरयन्त्रका प्रसारण प्रतिबन्धका निवारण करता है। फिर कुक्कुट ध्वनि नहीं होती। यदि कला श्वासनलिका तक फैल जाती है, तो गम्भीर लक्षण उपस्थित होते हैं और मृत्युसंख्या अधिक होती है।

इ. नासा विकृतिसह रोहिणी-(Nasal Diphtheria)—इसके २ उप प्रकार हैं। १. प्राथमिक नासा श्लैष्मिक कलाप्रदाह-नासास्राव। कला प्रायः विशेष फैली हुई। लक्षण प्रायः मन्द और कारण उपेक्षित।

२. गलतोरणिका प्रकारमें—स्राव रक्तमय। कला किञ्चित् मात्र होनेपर भी लक्षण सामान्यतः गम्भीर।

ई. त्वचा विकारसह रोहिणी (Cutaneous Diphtheria)—१. आशुकारी प्रकार—उदा० स्थानिक क्षत-नखपाक (Whitlows) या कभी कोथ। सर्वदा कण्ठक्षत सह। २. चिरकारी प्रकार-उष्ण ऋतुमें सामान्य। त्वचा क्षतपर स्थापित। उदा० शुष्क क्षत (Desert sore) पामा भेद (Impetigo), घोड़ेके पैरपर व्युचीके सदृश प्रदाह। क्षत गहरे गोल, नीलाभ सीमासह तथा तलपर चर्मवत् काली कला। पक्षवध सामान्य; सामान्यतः

क्षत भर जानेके पश्चात् इसके दोनों ओर रही हुई समान मांसपेशियोंपर तथा विशेषतः निम्न अवयवोंपर असर पहुँचता है।

उ. गम्भीर प्रकार (Gravis type)—गम्भीर स्थानिक शोथ। कोथ, कलाकी रचना। ठोस घटक तन्तुओंका प्रदाह (वृषभके गले सदृश स्फीति Bull neck) और अतिशय विषप्रकोपद्वारा प्रकृति निर्देश। शव-परीक्षा करनेपर हृदय, वृक्क, अधिवृक्क और वात-संस्थानमें बड़े हुए कोथमय क्षतकी प्रतीति। प्रतिविष प्रयोगका असर मंद। मृत्युसंख्या अधिक।

ऊ. नानाविध (Various)—कीटाणु पहुँचनेपर कोई भी तन्तु संक्रमित हो सकता है। अति मन्द गतिसे घातक अवस्था तक वृद्धि।

१. क्षत (त्वचा प्रकारके समान)।
२. नेत्रश्लैष्मिक कलाका सौम्य प्रदाह या पलकपर कलाका सामान्यतः सीधा अन्तःक्षेपण। क्वचित् शीघ्र कर्दममय।
३. भग और अन्तर्भगपर* प्राथमिक या गौण गलतोरणिकासे प्राप्त, गुप्त कर्दममय प्रकार; वंक्षणोत्तरिक ग्रन्थियोंकी वृद्धि। विष प्रकोपज गम्भीर सन्निपात। रोग विनिर्णय कठिन।
४. शिश्नच्छदा (Prepuce) का छेदन (सुन्नत)।

उपद्रव :—

१. फुफ्फुस संस्थानमें—गम्भीर स्थितिमें सर्वदा श्वासनलिका-प्रदाह और श्वासप्रणालिकाप्रदाह (न्युमोनिया) उपस्थित।
२. हृदयमें—अनियमितता अति सामान्य। बारम्बार क्षीण मर्मर ध्वनि। अनियमित और विशेषतः मन्द नाड़ी। गम्भीर अशुभावस्थामें प्रायः अकस्मात् मृत्यु। गम्भीर हार्दिक लक्षण, आशुकारी अवस्थामें सामान्य नहीं। रक्तदबावका अति ह्रास।
३. लसीकामेह—प्रायः मूत्रमें शुभ्र प्रथिन जाना पहले दिनसे ही चालू। गम्भीरावस्थामें मात्रा—वृद्धि। फिर गम्भीर मूत्राघात (Anuria) अति क्वचित् उत्तरकालीन वृक्कप्रदाह।
४. वमन होते रहना—भयप्रद चिह्न।
५. त्वचापर धब्बे (Rashes)—प्रतिविषके अभावसें व्यापक विसर्प।
६. लसीका ग्रन्थियाँ—नासा पश्चिम ग्रन्थिके आवरणका प्रदाह और कण्ठस्थ घटक तन्तुओंका प्रदाह। फिर स्ट्रेप्टोकोकाई कीटाणुओंका आक्रमण होनेपर पूयपाक।

---

* यदि प्रसूताका प्रसव-पथ इन रोग कीटाणुओंसे प्रभावित हो जाय, तो प्रबल सूतिका ज्वर उपस्थित होता है, जो रुग्णाको मार देता है।

७. पुनरावृत्ति—१. प्रतिशतमें । अति सामान्य, कण्ठ क्षतके हेतुसे मन्द आक्रमण । पुनः प्रतिविषका प्रयोग करें ।

अनुगामी रोग—विशेष महत्वके अ. पक्षाघात; तथा आ. हृदयपतन ।

अ. पक्षाघात—यह गम्भीर अनुगामी रोग है । स्वस्थ होनेके दूसरे या तीसरे सप्ताहमें मूल विषके हेतुसे । १०-१५ प्रतिशतको । बड़ी आयुवालोंमें अधिक । गलतोरणिका प्रकारमें सामान्यतम । विशेषतः गम्भीर रोगके पश्चात्; किन्तु क्वचित् सौम्य प्रकारमें भी । यह प्रतिविष चिकित्साका कम प्रभाव होनेपर होता है । जब प्रतिविष दिया जाता है, तब पहले या दूसरे दिन क्वचित् ही पक्षाघात होता है ।

पक्षाघातके आक्रमणके पश्चात् प्रगतिमें २ से ७ सप्ताह लगते हैं । पूर्ण स्वास्थ्य मिल जाता है । रोग-प्रगति किसी भी अवस्थामें रुक जाती है ।

योग्य संचलन-१. तालु; २. नेत्र; कभी-कभी; ३. हाथ-पैर आदि अवयव; ४ कण्ठ; ५ महा प्राचीरा पेशी तथा ६. पर्शुकान्तरिका पेशीका । विशेष शक्ति कभी प्रभावित नहीं होती । अर्दित क्वचित् । संकोचनी पेशियां अति क्वचित् पीड़ित होती हैं ।

१. तालुपात—सर्वदा पहले प्रभावित । सबसे पहला चिह्न अनुनासिक आवाज । भोजनका नाकमें प्रवेश हो जाना । गम्भीर रोगियोंमें कण्ठसंकोचनी पेशी भी पीड़ित । पक्षाघात बढ़नेपर जीर्णावस्थामें स्वरयन्त्र पीड़ित।

२. नेत्र—बारम्बार तालुके पश्चात् प्रभावित । अति सामान्यतः तन्तुमय पेशीका वध होनेसे नेत्रोंकी केन्द्रीकरण शक्तिका नाश होता है । तिर्यक् दृष्टि, कनीनिकाकी प्रायः शिथिलता आदि विकार उत्पन्न होते हैं ।

३. हाथ-पैर आदि अवयव—पैर हाथकी अपेक्षा विशेषकर प्रभावित । संचलनमें प्रारम्भसे ही निर्बलता । जानुक्षेप और गंभीर प्रतिफलित क्रिया का लोप । पूर्ण वधसह पेशियोंका शोष प्रायः अन्तिम । संचेतना शक्ति प्रायः प्रभावित, किन्तु लक्ष्य देने योग्य नाश विरल । अपक्रान्तिकी प्रतिफलित क्रिया अति क्वचित् ।

४ कण्ठकी पेशियां—संचलनमें असमर्थ ।

५. महा प्राचीरा पेशी-कफके संग्रह होनेपर विशेषतः फुफ्फुसके लिये भयङ्कर।

६ पर्शुकाकार पेशियां—श्वसन क्रियापर गम्भीर प्रभाव ।

इस पक्षवधमें श्वसनक्रियाका लोप या हृदयक्रियाका पतन होनेपर मृत्यु । सौम्य आघात हो तो कुछ सप्ताहमें पूर्ण स्वस्थ । गम्भीर रोगियोंमें देरसे । पक्षवध कदापि जीवनके साथ दृढ़ नहीं होता । बड़ी आयुवालोंमें मृत्यु संख्या बहुत कम ।

आ. हृदयपतन—आशुकारी अवस्थामें प्राप्त । अति सामान्यतम तीसरे सप्ताहमें पतन ।

रोगविनिर्णय—कीटाणुओंकी परीक्षा कर लेनेसे रोगका निःसन्देह परिचय मिल जाता है । प्रारम्भसे लसीका मेहकी प्राप्ति तथा जानुक्षेपका अभाव प्राय: रोग निर्णय करा देता है ।

अ. गलतोरणिका रोहिणी—इसका निदान पिटिकामय उपजिह्वाप्रदाह, शोणज्वर, कम सामान्यत: प्रादाहिक ज्वर, दानेदार श्वेताणुओंकी उत्पत्तिका अभाव (Agranulocytosis), श्वेताणुवृद्धिमय पाण्डु, गौण फिरंग, आमाशयप्रदाहज कण्ठक्षत (Thrush), आशुकारी पूयमय उपजिह्वाप्रदाह (Quinsy) । उपजिह्वाका सौम्य साद्रेन कण्ठक्षत* (Vincent's angina), तालुका कक्षारोग, इन सबसे प्रभेद करना चाहिये । गरमगरम पेयादिसे ग्रसिनका जली है या (मुँह साफ न होनेसे) दूध जम गया है, ऐसी मान्यता या भूल भी हो जाती है ।

पिटिकामय उपजिह्वाप्रदाह हो, तो आक्रमण शीघ्र होता है। उत्ताप १०४°, मुख पर तेजी, उपजिह्वापर किसी प्रकारकी कला मर्यादित भागमें विद्यमान, सतहपर रक्तस्रावका अभाव आदि लक्षण पृथक् हो जाते हैं ।

शोणज्वरमें वमनमह अकस्मात् आक्रमण, उत्ताप १०३°, तेज नाड़ी, मुखमण्डलपर तेजी, मुँहके चारों ओर पाण्डुता, जिह्वा अति लाल, त्वचापर विसर्प सदृश ददोरे आदि लक्षण होते हैं ।

प्रादाहिक ज्वरमें रक्तके भीतर एक जीव केन्द्रमय श्वेताणु विद्यमान होते हैं।

आशुकारी पूयमय उपजिह्वाप्रदाहसे पूयके हेतुसे भेद हो जाता है। रोहिणी में कभी पूय नहीं होता ।

आ. स्वरयन्त्रस्थ रोहिणी—इसे स्वरयन्त्रप्रदाह, रोमान्तिका,पश्चात् ग्रसनिका विद्रधि, श्वासप्रणालिकाप्रदाह तथा कम सामान्यत: स्वरयन्त्रका आक्षेप, बाह्य वस्तु प्रवेश और स्वरयन्त्रका मस्सा (कठोर अर्बुद) से पृथक करना चाहिये ।

आशुकारी स्वरयन्त्र प्रदाहसे प्रभेद कठिन । बच्चोंका प्राथमिक आशुकारी स्वरयन्त्र प्रदाह सर्वदा लगभग रोहिणी सदृश होता है ।

रोमान्तिकामें प्रसेकमय लक्षण, कोपलिकका चिह्न, कृत्रिम कलाका अभाव, जीर्णावस्थामें त्वचापर आदर्श पिटिका इन लक्षणोंसे प्रभेद हो जाता है ।

---

* विन्सेण्टके रोगमें कभी-कभी ग्रसनिका, मुख, दन्तवेष्ट तथा स्वरयन्त्र और श्वासनलिका भी प्रभावित हो जाते हैं ।

ग्रसनिका पश्चात् विद्रधि—संस्थिति और टेपन द्वारा प्रभेद ।

श्वासप्रणालिका प्रदाह—निःश्वासमें शीतकार ध्वनि ।

निम्न पर्शुकाओंका खिंचाव (गड्ढा पड़ना) ।

स्वरयन्त्रका आक्षेप—रात्रिको श्वासकृच्छ्रताका आक्रमण पुनः पुनः । अकस्मात् आक्रमण । कृत्रिम कलाका अभाव । सार्वाङ्गिक लक्षण मन्द । उष्ण सेक या क्लोरोफार्मद्वारा आक्षेपका शमन ।

स्वरयन्त्रका मस्सा—रक्तस्राव करता है ।

यहां कण्ठरोहिणीसे कृत्रिम झिल्लीमय स्वरयन्त्र प्रदाह (क्रुप) और पिटिकामय उपजिह्वाप्रदाहसे विभेदक लक्षण दर्शाते हैं ।

	कण्ठरोहिणी ।	कृत्रिम झिल्लीमय स्वरयंत्र प्रदाह ।
१.	प्रदाह तालुसे प्रारम्भ होकर समीपस्थ स्थानोंमें फैलता है ।	प्रदाहका प्रारम्भ स्वरयन्त्र और श्वासनलिकामेंसे होता है ।
२.	प्रारम्भमें ज्वर उपस्थित होता है ।	प्रारम्भ प्रतिश्याय और कास सह ।
३.	संक्रामक जनपदव्यापी विकार है ।	संक्रामक और जनपदव्यापी नहीं है ।
४.	कृशता और शक्तिपातकी क्रमशः वृद्धि । फिर शक्ति-ह्राससे मृत्यु । बालकोंकी स्वरयन्त्र-प्रदाह और श्वासरोधसे मृत्यु ।	अधिक शक्तिपात नहीं होता । मृत्यु बहुधा श्वासावरोध होनेसे होती है ।
५.	हनुनिम्नस्थ ग्रन्थिकी वृद्धि ।	हन्वस्थिपर ग्रन्थियोंकी वृद्धि नहीं होती ।
६.	अनेकोंको नासिकासे रक्तस्राव । पेशाबमें शुभ्र प्रथिन जाता है ।	रक्तस्राव नहीं होता । शुभ्र प्रथिन नहीं जाता ।

	कण्ठरोहिणी	पिटिकामय उपजिह्वाप्रदाह ।
१.	सामान्यतः गुप्त रूपसे आक्रमण ।	अकस्मात् आक्रमण ।
२.	शारीरिक उत्तापकी क्रमशः वृद्धि । ज्वरका क्रम अनियमित । ज्वर आदिसे अंत तक अधिक रूपसे रहता है ।	प्रारम्भके २४ घण्टों तक ज्वर १०२ से १०५ डिग्री तक । ज्वर ३ दिन स्थायी होता है ।
३.	सामान्यतः ३ दिन तक विशेष विकारकी अप्रतीति । फिर अधिक दुर्बलता ।	पहले दिन शारीरिक अति विकृति, दुर्बलता अधिक नहीं आती ।
४.	नाड़ी द्रुतगामी होनेपर क्षीण और अव्यवस्थित भी।	नाड़ी द्रुतगामी और भारी ।

५. समीपकी ग्रन्थियोंकी स्फीति।	ग्रन्थियोंकी स्फीति नहीं होती।
६. ४–५ दिनमें रोगकी पूर्ण वृद्धि।	२४ से ३६ घण्टेमें रोगकी पूर्ण वृद्धि।
७. किसी-किसीको निगलनेपर नासिकासे पेय पदार्थ और आहार बाहर आ जाते हैं।	ऐसा नहीं होता।
८. ज्वर कम होनेपर मूत्रमें शुभ्र-प्रथिन जाता है।	ज्वर बढ़नेपर मूत्रमें शुभ्र प्रथिन जाता है।
९. समग्र कण्ठनलिका अति लाल।	केवल उपजिह्विका लाल।
१०. पहले उत्सृष्ट पदार्थ पृथक्-पृथक् बिन्दु-बिन्दु आकारमें फिर एकीभूत बनता है। प्रारम्भमें वर्ण धूसर फिर पीला-सा।	पृथक् पृथक् पीतवर्णके बिन्दु या कुछ कुछ भागमें झिल्ली या फैली हुई झिल्ली।
११. उपजिह्विका, अधिजिह्विका और ग्रसनिकामें कृत्रिम झिल्लीकी उत्पत्ति।	केवल उपजिह्विका आक्रान्त।
१२. झिल्ली निकालनेपर रक्तस्राव होता है।	झिल्ली निकाल लेनेपर रक्तस्राव नहीं होता।
१३. बलात्कारसे झिल्ली निकाल लेनेपर पुनः नूतन झिल्लीका निर्माण।	झिल्ली निकाल डालनेपर नूतन झिल्ली नहीं होती।
१४. दो दिन तक सामान्यतः कण्ठ की एक ओर झिल्ली प्रतीत होती है।	झिल्ली दोनों ओर शीघ्र एक साथ फैल जाती है।

अन्य विशेष ज्वरोंका संमिश्रण—क्वचित् इस रोगके साथ रोमांतिका या शोण ज्वर आदि उपस्थित होते हैं। परिणाम गंभीर।

साध्यासाध्यता–मृत्युसंख्या ५ प्रतिशत। विशेषतम ५ वर्षसे कम आयुवाले बच्चोंकी। आयुवृद्धिके साथ मृत्यु-भय कम। गंभीर प्रकारमें मृत्यु ३० प्रतिशत।

गलतोरणिका प्रकारमें प्रतिविषका अन्तःक्षेपण पहले या दूसरे दिन हो जाय, तो मृत्युसंख्या २ प्रतिशतके भीतर; अन्तःक्षेपण तीसरे दिन होनेपर ५ प्रतिशत तथा ४ दिन होनेपर १० प्रतिशत। स्वरयन्त्रके प्रकारमें मृत्युसंख्या गलतोरणिकासे अत्यधिक तथापि पहिले दिन अन्तःक्षेपण होनेपर मृत्यु अति कम।

भयप्रद लक्षण—अति अनियमित नाड़ी, विशेषतः मंद। शक्तिह्रासके लक्षणों सह न्यून उत्ताप। लसीकामेह, आक्षेप तथा कण्ठस्फीति सह गंभीर शोथ आदि।

गलतोरणिका प्रकारमें विशाल कला तथा ग्रन्थियोंकी अतिवृद्धि; स्वरयन्त्र प्रकारमें अवरोध और फुफ्फुस लक्षण. नासा प्रकारमें मुक्त रक्तस्राव; पक्षवध प्रकारमें विशाल नाड़ीवध, श्वसन क्रियासाधक पेशियोंका पीड़ित होना, हृदयकी निर्बलताके लक्षण और वमन, ये सब भयप्रद हैं।

चिकित्सोपयोगी सूचना

यह रोग संक्रामक और अति घातक है। शीघ्र योग्य उपचार न होनेपर रोगीका जीवन दुर्लभ हो जाता है।

वर्त्तमानमें स्थानिक चिकित्सामें दाहक और उग्रता साधक औषधका प्रयोग बिल्कुल नहीं होता। फिर भी प्राचीन शास्त्र कथित उपचार यहाँ दिया जाता है; जिससे किसी चिकित्सकको उस तरह प्रयोग करना हो, तो कर सके।

भगवान् धन्वन्तरि लिखते हैं कि जो कण्ठरोहिणी साध्य हो उसमें रक्त-मोक्षण करना हितकर है एवं वमन, धूम्रपान, गण्डूष (कुल्ले कराना) और नस्य कर्म लाभदायक है।

कण्ठरोहिणी वात-प्रधान हो, तो पहले रक्त निकलवावें। फिर सैंधानमक आदि जबड़ोंपर घिसें और बारंबार सुहाते-सुहाते निवाये तेल आदिके कुल्लेको धारण करावें।

पित्तज रोहिणीमें रुधिर निकलवा कर रक्त चंदन (मतान्तरमें प्रियङ्गु), शक्कर और शहदसे प्रतिसारण करें एवं द्राक्षा और फालसेके फाण्टसे कुल्ले करावें; तथा उनका ही कवल धारण करावें। इस तरह और भी पित्तशामक उपचार करें।

कफप्रकोपज रोहिणीमें रसोई घरके धुएँकी धूल, सोंठ, कालीमिर्च और पीपलके चूर्णसे घिसें। अपराजिता (गोकर्णी), बायविडंग और शुद्ध जमाल गोटा (तैलरहित) के कल्कसे पकाये हुये तैलमें सैंधानमक डालकर नस्य करावें तथा इन्हीं अपराजिता आदिका कवल भी धारण करावें। कफप्रकोपमें गोमूत्रके गण्डूष कराना भी हितकर है।

रक्तज रोहिणीमें पित्तज रोहिणीके समान उपचार करें।

ऊपर कहे हुए उपचार बड़ेके लिये अधिक उपयोगी हो सकते हैं; किन्तु बालक या शिशु रोगी होनेपर सौम्य उपचार करना पड़ता है। बालकोंके लिये वचका घासा देनेसे वमन होकर झिल्ली, कीटाणु और विष बाहर निकल जाते हैं। फिर ज्वर केसरी वटी, आनन्द भैरव रस, त्रिभुवनकीर्ति रस, लक्ष्मी-

नारायण या अन्य बच्छनाभ प्रधान औषध कम मात्रामें देते रहें। मलावरोध हो तो पहिले ज्वरकेसरी वटी देनी चाहिये। उदरकी शुद्धिपर सर्वदा लक्ष्य देना चाहिये।

कण्ठमें एरण्डककड़ी (पपीता) के दूधका लेप करें या उसके सत्व पेपेनको जलमें मिलाकर लगावें। योग्य स्थानिक उपचार करते रहें।

इस रोगमें हृदयके अवसादग्रस्त होनेका भय रहता है, इस हेतुसे रोगीकी नाड़ी बार-बार देखते रहना चाहिये। हृदय निर्बल होनेपर रोगीको बिल्कुल नहीं चलने देना चाहिये। कमरेमें नीचे बिछाये हुए दरी, गलीचे आदिको रोज उठवा कर साफ करें या न बिछावें।

कण्ठ (गलतोरणिका आदि) को शुद्ध रखनेके लिये नमक मिलाये हुये निवाये जलसे कुल्ले करावें।

नासिकामें या स्वरयन्त्रमें विकृति होनेपर केशर मिश्रित निवाये गोघृत या षड्बिन्दु तैल (निवाये) का नस्य देना चाहिये। बाष्पका नस्य भी उपकारक माना है।

गलेमें वेदना और शोथ हो, तो ऊपर गरम कपड़ा बांधें या सेक करके गरम कपड़ा बांधें।

कण्ठमें क्षत हो गया हो, तो खदिरादि वटी मुँहमें रखकर रस चूसें। डाक्टरीमें बर्फका छोटा टुकड़ा मुँहमें रखनेको देते हैं।

हृदय-पतन होनेपर हृदयोत्तेजक हेमगर्भपोटली रस, लक्ष्मीविलास रस, कस्तूरी, पूर्णचन्द्रोदय रस, त्रैलोक्यचिन्तामणि, मृगमदासव, संजीवनी सुरा आदिमेंसे प्रयोग करना चाहिए।

पक्षवध होनेपर एकांगवीर और चिरकारी अवस्थामें नवजीवन रस देवें।

भोजन नासिकामें आ जाता हो, तो बालकोंको नासानलिका और बड़ोंको आमाशय नलिकासे भोजन देते रहें।

इस रोगमें रक्तमें विष मिल जानेसे लसीका मेह उपस्थित होता है। उस को मर्यादामें रखने या नष्ट करनेके लिये रोगीको प्रतिदिन शिलाजीत २-२ रत्ती (२-२ माशे शीतल मिर्चके फाण्टके साथ) दिनमें २ बार देते रहना चाहिये।

हृदयका पक्षाघात हो गया हो और वमन होती रहती हो, तो तीव्र वेग-कालमें मुँहसे कुछ भी भोजन न देवें। गुदासे द्राक्षशर्कराका जल चढ़ाते रहें। डॉक्टरीमें २० बूंदें बेलाडोनाका अर्क तथा २० ग्रेन पोटास ब्रोमाइड भी मिलाते रहते हैं।

एलोपैथिक ग्रन्थोंसे चिकित्सोपयोगी सूचना

रोगोत्पत्ति रोधक—रोगीको पूर्ण रूपसे पृथक् रखें। वस्त्रोंको कीटाणु रहित रखें। जब तक कीटाणु नाश न हो जायँ, तब तक उपचार करते रहें।

कमसे कम ४-४ दिनके अन्तरपर ३ बार परीक्षा करें। यह रोग प्रबल संस्पर्शज होनेसे रोगीके पास अन्य बालकोंको नहीं जाने देना चाहिये। परिचारक और परिचारिकाको भी चाहिये कि पूर्ण स्वच्छताका पालन करें। हाथको कीटाणुनाशक धावनसे धो लेवें। कुल्ले करके मुखके भीतरके भागोंको शुद्ध करें। कपड़ोंको भी पूर्ण कीटाणुरहित बनावें।

स्तनपान करनेवाला बालक पीड़ित हो, तो स्तनपान करनेके पहले और पश्चात् स्तनको अच्छी तरह धो लेना चाहिये। अन्यथा कीटाणु भीतर प्रवेश करके संगृहीत स्तन्यको दूषित बना देता है।

रोगशामक–ज्वर और संक्रामक रोगकी परिचर्याका वर्णन रुग्णपरिचर्याके ८ वें प्रकरण (भाग ३४) में किया है। संक्षेपमें रोगीको सूर्य्यप्रकाश और शुद्ध वायुवाले कमरेमें रखें। रोगीको पूर्ण आराम देवें, सीधा सुलावें। प्रतिविषका अन्तःक्षेपण करें। स्वरयन्त्रमें अवरोध दूर करनेके लिये आवश्यक उपचार करें। योग्य सम्हाल, पथ्य भोजन, स्थानिक उपचार तथा विशेष लक्षणोंकी चिकित्सा ये सब रोगशमनमें सहायक हैं।

कृत्रिम कलाके नष्ट हो जानेके पश्चात् सौम्य रोगमें ३ सप्ताह तक तथा गम्भीर रोगमें इससे अधिक समय तक आराम कराना चाहिये।

सल्फोनेमाइडके किसी भी प्रकारके उपयोगसे स्थानिक या सार्वाङ्गिक लाभ होनेका प्रमाण नहीं मिला।

श्वसन-क्रिया करानेवाली मांसपेशियोंका वध होनेपर ड्रिङ्करके यन्त्र (Drinke's appatratus) से कृत्रिम श्वसन क्रिया करावें। पेशियोंमें शिथिलता आगई हो, तो विद्युत् प्रयोग करें। अंगमर्दन भी हितावह है। विद्युत्प्रयोग और अंगमर्दनका विचार रुग्णपरिचर्या प्रकरण ७ के ३३ वें भागमें किया है।

स्वरयन्त्रका अवरोध हो, तो श्वासनलिकामें कृत्रिम छिद्र करें। श्वासकृच्छ्रताकी वृद्धिमें अक्षकास्थिपर श्वास ग्रहणमें खिंचाव और व्याकुलता होते हैं।

पथ्यापथ्य—भोजनमें केवल दूध देवें। वमन हो, तो मोसम्बी आदि फलोंका रस भी देते रहें। ज्वर दूर होनेपर फिर थोड़ा-थोड़ा अन्न दे सकते हैं। शराब, अलकोहल आदि उत्तेजक पेयका उपयोग बिल्कुल न करें। (अन्यथा उत्तेजनाके पश्चात् प्रबल अवसादकता आनेका डर रहता है)। हृदयकी निर्बलता आजानेपर उत्तेजनाकी आवश्यकता हो, तो सम्हालपूर्वक मद्यका प्रयोग करें।

(३२) दुर्जलजनित ज्वर।

विदेशमें जाने, जलवायुके परिवर्त्तन और आहार-विहारमें प्रतिकूलता होनेसे वात आदि तीनों दोष निर्बल हो जाते हैं। फिर आम संचित होकर मन्द-

मन्द ज्वर आने लगता है; तथा शरीरमें पीलापन, मंदाग्नि, अरुचि, हाथ-पैर टूटना, मलावरोध, बारबार थोड़ा-थोड़ा दस्त होते रहना, क्वचित् अतिसार या ग्रहणी, बेचैनी, खुजली, शुक्रस्थानमें उष्णता और अन्तर्दाह आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। इस रोगकी जल्दी चिकित्सा न करनेसे अनेकोंको संग्रहणी या क्षय रोग हो जाता है।

दोष पाचनार्थ—(१) सोंठ, जीरा और हरड़का चूर्ण ४ से ६ माशे तक प्रातःकाल जलके साथ देते रहें।

(२) रात्रिको ३ माशे निशोथकी छालका चूर्ण शहदमें मिलाकर दें।

(३) **पथ्यादि गुटिका**—छोटी हरड़ और पीपल १०-१० तोले; नीमके पत्ते, चित्रकमूल और सैंधानमक ५-५ तोले लें। पहले छोटी हरड़ और पीपलको जौकूट चूर्णकर दुगुने मट्ठेमें २४ घण्टे भिगो दें और फिर मट्ठे सह उबालकर अवलेह जैसा बननेपर उतार नीमके पत्ते, सैंधानमक और चित्रक-मूलका कपड़छन चूर्ण मिला, खरल कर झड़बेरके समान गोलियाँ बाँधें। इनमेंसे २-२ गोली दिनमें तीन बार जलके साथ सेवन करानेसे आम और विष नष्ट हो जाते हैं। यह गोली दीपन, पाचन, सारक, रुचिकर और ज्वरको हरने वाली है।

(४) अदरकके साथ १ माशे जवाखारको मिला कल्क कर फिर निवाये जलमें मिलाकर पिलानेसे दोष-पचन हो जाता है।

(५) तालीसादि चूर्ण या पाठादि चूर्ण दिनमें ३ समय थोड़ी-थोड़ी मात्रामें देते रहनेसे दोष पचन होकर मन्द ज्वर और अतिसार दूर हो जाते हैं।

धातुमें लीन दोषके पचन और ज्वर शमनार्थ—दुर्जलजेता रस, लक्ष्मी-नारायण रस (ज्वर १०० डिग्री या इससे अधिक रहता हो तो), सुवर्णमालिनी वसन्त, जयमंगल रस, लघुमालिनी वसन्त, सुदर्शन चूर्ण, जयाजयन्ती वटी, चन्दनादि लोह, इनमें अनुकूल औषधकी योजना करें।

ज्वर अधिक रहता हो, तो दुर्जलजेता या लक्ष्मीनारायण देना चाहिये। मन्द ज्वर होनेपर शेष औषधियोंमेंसे कोई भी देवें।

इनमेंसे वसंतमालिनी प्लीहाको कम करने और मस्तिष्क-रक्षणमें विशेष हितकर है। दाह रहता हो, तो चन्दनादि लोह देवें। इससे रक्तमें लाली भी आ जाती है। सुदर्शन चूर्ण दोष-पाचन करानेमें अति हितकर है। पतले दस्त होते हों; सेन्द्रिय विष अधिक बढ़ गया हो, तो दुर्जलजेताके साथ जयमंगल देना चाहिये। जयाजयन्तीमें सब प्रकारके गुण सामान्यरूपसे अवस्थित हैं।

क्षयसे जन्तु हो जानेका भय हो तो—सुवर्णमिश्रित औषध अवश्य देनी चाहिये, किन्तु तीव्र ज्वर हो, तो पहले सूतशेखर, लक्ष्मीनारायण रस या अन्य किसी ज्वरशामक औषधसे ज्वरको कम करना चाहिये।

शीतसह विषमज्वर हो तो—अचिन्त्यशक्ति रस या शीतभंजी रस देते रहें।

ग्रहणी रोग हो तो—सुवर्ण पर्पटी या पञ्चामृत पर्पटी देवें।

कफ, कास और श्वास अधिक हो तो—(१) अभ्रक भस्म २ रत्ती, शृङ्ग भस्म ४ रत्ती, सुवर्ण भस्म आध रत्ती, प्रवालपिष्टी ४ रत्ती और ६४ प्रहरी पीपल ४ रत्ती मिलाकर; ३ विभाग कर दिनमें तीन बार शहदके साथ देवें; तथा द्राक्षासव दिनमें दो बार भोजन कर लेनेपर पिलाते रहें।

(२) संशमनी वटी और शृङ्ग भस्म देनेसे या सितोपलादि अवलेह बकरीके दूधके साथ देनेसे भी थोड़े ही दिनोंमें कास सह ज्वर दूर हो जाता है।

ज्वर शमन हो जानेपर शक्ति बढ़ानेके लिए—अभ्रक भस्म और लोह भस्म आध आध रत्ती च्यवनप्राशावलेहके साथ या बृहद्वंगेश्वरको दूधके साथ कुछ दिनों तक देते रहें।

(३३) औपद्रविक ज्वर।

ग्रहणी, पाण्डु, अर्श, विद्रधि, आगन्तुक (वृश्चिकदंश, मूषिकदंश आदि) अनेक प्रकारकी व्याधियोंमें तीनों दोष प्रकुपित होकर उपद्रव रूपसे ज्वर रहता है। उसे औपद्रविक ज्वर कहते हैं। इसका विवेचन मूल रोगोंके साथ किया जायगा।

आश्रयभेदसे ज्वरकी अवस्था।

ज्वर किस स्थान अर्थात् रस-रक्त आदि दूष्यमें है, इस बातका बोध होने पर सहज साध्यता, कष्टसाध्यता और असाध्यताका ज्ञान होकर चिकित्सा-पथका निर्णय हो सकता है। इसीलिए प्राचीन आचार्योंने ज्वरके रस, रक्त आदि आश्रय स्थानोंका वर्णन निम्नानुसार किया है।

रस गत ज्वर—रस स्थानमें ज्वर होनेपर अङ्गमें भारीपन; दीनता, उबाक, नेत्रोंमें जलका आना, वमन और अरुचि, ये लक्षण होते हैं।

रक्तगत ज्वर—रक्तस्थानके आश्रयसे ज्वरके रहनेपर चेहरेपर लाली, छोटी-छोटी फुंसियां, तृषा, थूकमें रक्त आना, भ्रम, दाह, मूर्च्छा, अरुचि, वमन, व्याकुलता और प्रलाप आदि लक्षण होते हैं।

मांसगत ज्वर—अंग टूटना, तृषा, पतला मल, अधिक मूत्र, बार-बार मलमूत्रका होना, संताप, अन्तर्दाह, हाथ-पैर टूटना और ग्लानि आदि लक्षण मांसगत ज्वर होनेपर प्रतीत होते हैं।

मेदोगत ज्वर—अत्यन्त पसीना, तृषा, मूर्च्छा, वमन, प्रलाप, श्वासोच्छ्वासमें और शरीरमें दुर्गन्ध आना, ग्लानि, अरुचि, अधिक प्रकाश और बड़ी आवाजका सहन न होना इत्यादि लक्षण मेदोगत ज्वरमें प्रतीत होते हैं।

अस्थिगत ज्वर—इस ज्वरमें हड्डियोंके भीतर तोड़नेके समान पीड़ा, बार-बार दुःखके मारे रो देना, वमन, अतिसार, हाथ पैर पटकना और श्वास आदि चिह्न होते हैं।

मज्जागत ज्वर—इसमें चक्कर आना, हिक्का, कास, महा श्वास, वमन, हृदय आदि मर्मोंमें काटनेके समान पीड़ा, बाहर शीत और अन्तर्दाह आदि लक्षण होते हैं। काटनेके समान बाहर विशेषतः चातुर्थिक ज्वर और यक्ष्मा ज्वरकी अवस्था विशेषमें ही प्रतीत होती है।

शुक्रगत ज्वर—इसमें वृषण, पौरुषग्रन्थि आदि शुक्रस्थान तथा मूत्रेन्द्रियकी जड़ता, शुक्रस्राव; देह सूख जाना, आवाज मन्द पड़ जाना, निस्तेजता और अत्यन्त मानसिक अस्वस्थता आदि चिह्न होते हैं। प्रायः सुषुम्णाकाण्डपर आघात होनेसे उत्पन्न ज्वर और पागल कुत्तेके विषप्रकोप-जनित ज्वरकी अन्तिमावस्थामें इस शुक्रगत ज्वरके लक्षण प्रतीत होते हैं।

इससे रक्ताश्रयी, रक्तसे मांसाश्रयी, मांससे मेदाश्रयी ज्वरको क्रमशः अधिकाधिक दुःखप्रद माना है। रस और रक्ताश्रित ज्वरको साध्य; मांसगत, मेदोगत, अस्थिगत और मज्जागतको कष्टसाध्य; तथा शुक्रगतको असाध्य माना है।

सामावस्थामें प्रायः सभी ज्वर रसगत होते हैं। सन्तत ज्वरको रसरक्तस्थ कहा है। सभी सान्निपातिक ज्वर विशेषतः रसरक्तस्थ ही होते हैं। कुछ दिनों बाद धातुपाक होनेसे मांसाश्रित, मेदाश्रित आदि ज्वर उत्तरोत्तर धातुका आश्रय करके गम्भीर रूप धारण करते जाते हैं। इन सब ज्वरोंमें अन्य ज्वरोंकी अपेक्षा विशेषतः विषम ज्वर ही उत्तरोत्तर धातुका आश्रय करके गम्भीर रूपको धारण करता है।

रस-रक्तादि गत ज्वरोंके शमनोपाय।

रस-धातुगत ज्वर हो, तो—त्रिफला, छोटी कटेलीकी जड़, अजवायन और हल्दीका क्वाथ कर शहद मिला कर दें, इससे रस धातुगत विकृति दूर होकर ज्वरकी निवृत्ति होती है।

रक्तगत ज्वर हो, तो—(१) त्रिफला, खैरकी छाल, नीमकी अन्तरछाल, परवलके पत्ते, गिलोय और अड़ूसेके पत्तोंका क्वाथ कर शहद या मिश्री मिलाकर पिलावें। इससे रक्तधातुमें उत्पन्न विकार दूर होकर ज्वर शमन हो जाता है।

(२) वासा (अड़ूसा) के पत्ते, धमासा, पित्तपापड़ा, चिरायता, कुटकी और पीपलका क्वाथ कर शहद मिलाकर देवें। इससे रक्तस्थ विष, दाह, तृषा, और मूर्च्छा सह ज्वर निवृत्त होता है।

मांसगत ज्वर हो, तो—प्रथम विरेचन देकर कोष्ठशुद्धि करनी चाहिये।

इसके बाद नीमकी अन्तरछाल, नागरमोथा, अनन्तमूल और सफेद पुनर्नवाके मूलका क्वाथ कर पिलानेसे मांसगत विकार दूर होते हैं।

मेदोगत ज्वर होनेपर—लङ्घन और स्वेदन क्रिया करावें या स्वेदन औषध देवें। पश्चात् जीर्णज्वर शामक औषध कई दिनों तक देते रहना चाहिये।

अस्थिगत ज्वर हो तो—(१) लौंग, पीपल और सफेद पुनर्नवाकी जड़का क्वाथ कर दिनमें तीन तीन बार कई दिनों तक देते रहना चाहिये। अथवा-

(२) गिलोय सत्व शहदके साथ देते रहें।

मज्जागत ज्वरपर—चातुर्थिक ज्वरनाशक या क्षयनाशक उपचार करना चाहिये।

शुक्रगत ज्वरपर—विषघ्न उपाय करना चाहिये।

विगत ज्वर लक्षण—पसीना सम्यक् प्रकारसे निकलना, शरीरमें हलकापन, शिरमें खुजली चलना, छींकें आना, भोजनकी इच्छा होना, ग्लानि, मोह, मुखपाक (होठोंपर त्वचापाक), पहले जो बिना परिश्रमके थकावट रहती थी वह दूर हो जाना, अधिक उष्णता और मानस व्यथाका शमन होना, इन्द्रियाँ निर्मल हो जाना, स्थिरता और क्षुधा-पिपासा आदि स्वाभाविक वृत्ति सम्यक् हो जाना, ये सब चिह्न ज्वरकी निवृत्ति हो जानेपर देखनेमें आते हैं।

ज्वरके अवस्था भेद—

"आसप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्मनीषिणः।
मध्यं द्वादशरात्रं तु पुराणमत उत्तरम्॥
त्रिसप्ताहव्यतीतस्तु ज्वरो यस्तनुतां गतः।
प्लीहाग्निसादं कुरुते स जीर्णज्वर उच्यते।"

ज्वर आनेसे ७ दिन तक अर्थात् आमदोष दूषित हो तब तक तरुण ज्वर, १२ दिन तक अर्थात् आमकी पच्यमान अवस्थामें मध्यम ज्वर और पश्चात् निराम अवस्था आनेपर पक्व ज्वर कहलाता है।

जो ज्वर २१ दिन बीत जानेपर भी मन्द वेगसे बना रहता है एवं जिसमें प्लीहा-वृद्धि और अग्निमांद्य आदि लक्षण होते हैं; उसे जीर्ण ज्वर कहते हैं।

यहाँपर ७-१२ और २१ दिन कहे हैं, यह प्राचीन कालकी सामान्य मर्यादा है। वर्त्तमानमें ७ दिन तक तरुण और १२ दिन तक मध्यम ज्वर मानना ही चाहिये, ऐसा शास्त्रकारोंका आग्रह नहीं है। तरुण ज्वरके लक्षण प्रतीत हों तब तक तरुण ज्वर, मध्यम ज्वरके लक्षण हों तब तक मध्यम ज्वर, और फिर पक्व ज्वर मानना चाहिये। अनेक बार ज्वर २-३ दिनमें ही पक्व हो जाते हैं। अतः लक्षणानुसार चिकित्सा करनी चाहिये।

पथ्यापथ्य विचार

ज्वरका पथ्यापथ्य सम्बन्धी संक्षेपमें वर्णन चिकित्साके प्रारम्भमें एवं अलग-अलग ज्वरोंकी चिकित्साके प्रारम्भमें दर्शाया है, तथापि पुन: यहाँ सविस्तार पृथक्-पृथक् विभागानुसार लिखा गया है।

ज्वर रोगीको मच्छर, मक्खी, पिस्सू आदिसे रहित प्रकाशवाले, साफ मकानमें रखना तथा तेज वायुसे रक्षण करना चाहिये।

रोगीके कमरेमें अधिक सामान न रखना चाहिये; एवं अधिक मनुष्योंको भी न रहना चाहिये। प्रकाश आने और वायु शुद्ध रहनेके लिये खिड़कियोंको खुली रखें।

रोगीके वस्त्र साफ रखें, प्रस्वेद आनेके लिये गरम वस्त्र आवश्यकतानुसार उढ़ा देवें, किन्तु श्वास लेनेके लिए नाकको या सारे मुँहको खुला रखें।

पित्त ज्वरमें रोगीके मकानमें उष्णता न हो जाय, इस बातकी सम्हाल रखें। स्थान शीतल रहनेसे अधिक व्याकुलता नहीं होती। कदाचित् आवश्यकता हो तो ताड़, खस, श्वेत वस्त्र, या मोरपुच्छके पंखेसे धीरे-धीरे वायु डालनेका प्रबन्ध करें, किन्तु बिजलीके पंखेका उपयोग भूल कर भी नहीं करना चाहिये।

शुद्ध वात ज्वरकी निरामावस्थामें तैलकी मालिश, मांसरस सेवन और जीर्ण ज्वरके समान चिकित्सा करनी चाहिये।

वातकफज्वरमें प्रस्वेद बहुत आता है, अत: उसको रोकनेके लिए भुनी हुई कुलथीके आटेकी मालिश कराना चाहिये। संधियोंमें पीड़ा और श्वास आदि लक्षण हों, तो बालुका स्वेद देना चाहिए।

विषम, दण्डक ज्वर और अन्य कतिपय ज्वरोंके लिए पथ्यापथ्य उनके वर्णनमें चिकित्साके प्रारम्भमें लिख दिया है। विशेष अन्य ज्वरवत् पालन करें। आन्त्रिक ज्वर (मधुरा), श्वसनक ज्वर, वातश्लैष्मिक ज्वर, इन सबके रोगियों को प्रारम्भमें केवल जलपर ही रखना लाभदायक है। फिर आमाशयमें पचन हो सके ऐसे द्रव, द्रव्य दूध और फलोंका रस देवें, अन्न नहीं देना चाहिए। इन सब रोगोंमें चिकित्साके प्रारम्भमें सूचना भी की है।

प्रलेपक और वातबलासक आदि जीर्ण ज्वरोंमें मूल रोगके अनुरूप पथ्यापथ्य सेवन किया जाता है। इन सबका विवेचन मूल रोगके वर्णनमें किया जायगा।

रात्रिको रोगीके कमरेमें मिट्टीके तेलकी बत्ती नहीं रखनी चाहिये। एरण्ड तेल, तिल तैल या सरसोंके तैलकी बत्ती रखें। मिट्टीके तैलसे वायु अधिक दूषित होती रहती है और अधिक प्रकाश नेत्रको भी बाधा पहुँचाता है।

ज्वरके पूर्वरूपमें पथ्य—दोषोंकी न्यूनाधिकताके अनुसार लघु भोजन, लङ्घन, स्नेहन, घृतपान (वात ज्वरका पूर्वरूप हो तो), विरेचन (पित्त ज्वरका

पूर्वरूप हो तो), मृदु वमन (कफ ज्वरका पूर्वरूप हो तो), द्वन्द्वज ज्वरोंमें मिश्रित उपचार और त्रिदोषज ज्वरके पूर्वरूपमें त्रिदोषघ्न चिकित्सा और पथ्यकी योजना करनी चाहिये। यदि लङ्घन कराया जाय और वमन-विरेचन आदिसे देह शुद्ध करली जाय, तो अनेक रोगोंके बीज नष्ट हो जाते हैं और शेष उपस्थित होते हैं, तो भी लक्षण तीव्र नहीं होते।

तरुण ज्वरमें पथ्य—भगवान् आत्रेय ने कहा है कि—

लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः।
पाचनान्यविपक्कानां दोषाणां तरुणे ज्वरे॥
च० सं० चि० ३।१४०॥

नूतन ज्वरके प्रारम्भमें दोषपाचनार्थ लङ्घन, स्वेदन, ८ दिनकी प्रतीक्षा करना, सोंठ आदि चरपरे पदार्थोंके संस्कारवाली पेया, यवागू आदि, कड़वा रस (जल और यवागू आदिमें मिलानेके लिये), सब क्रियायें करनी चाहिये।

इनके अतिरिक्त कड़ुवा और चरपरा रस तथा प्रस्वेद लानेवाली क्रिया भी अति हितावह होती है।

लङ्घन कराना लाभदायक है; किन्तु क्षय, निराम वात ज्वर, भय, क्रोध, शोक और श्रमसे आये हुए ज्वरमें उपवास नहीं कराना चाहिये।

लङ्घन करानेसे साम दोषों (अपक्व रस युक्त वात, पित्त और कफ) का परिपाक, ज्वरका नाश, अग्निकी वृद्धि, भोजनकी इच्छा, भोजन रुचिकर लगना और देहमें लघुता आदि गुण होते हैं। किन्तु जीवनीय शक्तिका क्षय न हो, इस बातको ध्यानमें रखते हुए लङ्घन कराना चाहिये। बालक, वृद्ध, सगर्भा स्त्री और दुर्बलोंको लङ्घन नहीं कराना चाहिये।

सम्यक् लंघन लक्षण—लङ्घन सम्यक् प्रकारसे होनेपर अधोवायु और मलमूत्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति, देहमें हलकापन, आमाशयकी शुद्धि, शुद्ध डकार आना, कण्ठ और मुँहकी शुद्धि, तन्द्रा और ग्लानिका नाश, स्वाभाविक प्रस्वेद आना, भोजनमें रुचि होना, क्षुधा-तृषाका उदय और चित्तमें प्रसन्नता ये सब चिह्न प्रतीत होते हैं।

अति लङ्घन लक्षण—अति लङ्घन होनेपर संधियोंमें तोड़नेके समान पीड़ा, हाथ-पैर शिथिल हो जाना, कास, मुँहमें शोष, क्षुधानाश, अरुचि, तृषा, नेत्र और कर्णशक्तिकी निर्बलता, बार-बार चित्तभ्रम हो जाना, ऊर्ध्ववात, चक्कर आना हृदयमें भारीपन, देहबल और अग्नि बलकी हानि, ये लक्षण भासते हैं।

वमन के अधिकारी—भोजन कर लेनेपर तुरन्त ज्वर आ गया हो, या संतर्पण (बृंहण औषध सेवन) से ज्वर आ गया हो, तो वमनके योग्य (बलवान्) रोगीको तुरन्त वमन करा देना चाहिये।

आमाशयमें स्थित दोषोंमें कफकी प्रधानता हो और उबाक, बेचैनी आदि हों, तो तुरन्त वमन करा देना चाहिये। अन्यथा हृद्रोग, श्वास, आनाह और अति मोह, ये उपद्रव हो जाते हैं। अतः वात-पित्तकी प्रधानतावाली अवस्थामें भूल कर भी वमन नहीं कराना चाहिये।

जलपान नियम—वातज, कफज और वात-कफज ज्वरमें निवाया जल पिलाना चाहिये। किन्तु मद्यपानजनित ज्वर, पित्त ज्वरमें कड़वी औषधियोंसे सिद्ध किया हुआ शीतल जलपान करावें।

उबाले हुए जलको अपने आप शीतल होने दें, वायु डालकर ठंडा नहीं करना चाहिये। आवश्यकतापर थोड़े जलको थालीमें डाल कर ठण्डा कर लेवें। इस तरहके जलपान करानेसे अग्निवृद्धि, अपक्व रसका परिपाक, ज्वर शमन, स्रोतोंकी शुद्धि, बलकी वृद्धि, भोजनकी रुचि और प्रस्वेद आना, ये सब चिह्न दीखते हैं,

चिकित्साके प्रारम्भमें कहे हुए षडंग पानीयको पिलाना अति हितकर है।

शास्त्रकारोंने तरुण ज्वरमें (आम पचन हो तब तक) ज्वरघ्न औषध देनेका निषेध किया है। कारण, आम और सेन्द्रिय विषको जलानेकी क्रिया अपूर्ण रहती है। जिससे ज्वर कदाच चला जाय, तो भी बीज शेष रह जानेसे कुछ समयमें ज्वर या अन्य रोग उपस्थित हो जाते हैं एवं रोगनिरोधक शक्ति निर्बल बन जाती है। दोषोंको पचानेवाली औषधियाँ तथा षडंग जल या पेय मण्ड आदि संस्कारके लिये जो औषधियाँ उपयोगमें ली जाती हैं, वे अप्रधान (गौण) औषध होनेसे उनके सेवनकी आज्ञा दी गई है।

रोग सान्निपातिक हो, तो आमकफघ्न चिकित्सा, अवलेह, अञ्जन, नस्य, गण्डूष, रस क्रिया, हाथ, पैर, गले आदिपर सेक करना इत्यादिमेंसे आवश्यक क्रिया करनी चाहिये।

तरुण ज्वरमें अपथ्य—स्नान, मैथुन, पूर्व दिशाकी वायु या खुली तेज वायुका सेवन, सूर्यके तापमें घूमना, दतौन करना (मुख-शुद्धिके अर्थ थोड़ा दन्तमञ्जन लगाकर कुल्ले करनेमें बाधा नहीं है), चढे हुए ज्वरमें संशमन औषध देना, भोजन, कषाय रसवाले, क्काथ आदि औषध, शीतल ताजा जलपान, तैलकी मालिश, दिनमें शयन, व्यायाम, दूध, घृत, दाल, मांस, छाछ, शराब, मधुर रसयुक्त भारी भोजन (गुड़-शक्कर मिली हुई वस्तु), प्रवाही पदार्थ, क्रोध, कफवर्द्धक पदार्थोंका सेवन, शीतल जलका सेवन, संशोधन क्रिया, (वमन-विरेचन आदि), ये सब तरुण ज्वरमें अपथ्य माने जाते हैं। इन अपथ्योंका सेवन नहीं कराना चाहिये। अन्यथा शोष, वमन, मद, मूर्च्छा, भ्रम, तृषा, अरुचि, आदि उपद्रवोंकी उत्पत्ति होकर रोगी संकटमें पड़ जाता है।

मध्यम ज्वरमें पथ्य—मध्यम ज्वर होनेपर पुराना सांठी और शालि चावल; मूँग, मसूर, चने, कुलथी और मोठका यूष, परवलके पत्ते, परवल, कच्चे केले, पोई, बांसके अङ्कुर, बैंगन, करेला, सुहिंजनेकी फली, आषाढमें उत्पन्न फल-शाक, मकोयकी पत्ती, ककोड़ा, पित्त-पापड़ा, कच्ची मूली, पाठाके पत्ते, गिलोयकी पत्ती, गोजिह्वा (वनगोभी), चांगेरी (खट्टा चूका), चौलाई, बथुआ, जीवन्ती, सोयेकी पत्ती, तोरई, गलका तोरई, इनमेंसे अनुकूल शाक, अदरक, आँवले, अनार, कैथ, मोसम्बी, मीठा नींबू, संतरा, अंगूर, सेव, पके मीठे आम और दूध, ये सब पथ्य माने जाते हैं।

जिन रोगियोंको दूध अनुकूल नहीं रहता, उनको अनेक चिकित्सक मठ्ठा देते हैं; किन्तु ज्वर रोगीको मठ्ठा देना हो, तो मठ्ठा गरम जल मिलाकर बनाना चाहिये; और मक्खन बिल्कुल निकाल देना चाहिये। कारण मक्खन ज्वर रोगीको पचन नहीं हो सकता। नव्य मतके अनुसार दूध और मठ्ठा अन्न-सेवनकी अपेक्षा अधिक हितकर हैं। अन्नका सेवन करनेपर आमाशय, अन्त्र, यकृत् आदि अवयवोंको अधिक परिश्रम होता है। दूधके पचनमें उतना कष्ट नहीं होता। दूधका अधिकांश आमाशयमें पच जाता है।

पक्व और जीर्ण ज्वरमें पथ्य—विरेचन, वमन, अञ्जन, नस्य, धूम्रपान, अनुवासन बस्ति, सिरावेध, शिरोविरेचन, ज्वरशामक औषध, पीड़ाशमनार्थ या निद्रा लानेके लिये लेप; तैलकी मालिश, कभी-कभी निवाये जलसे स्नान, शीतल उपचार, सब प्रकारके हिरन, चिड़ा, मोर, लावा, खरगोश, तीतर, मुर्गा, क्रौंच, चकोर, चातक, बतक, इन पशु-पक्षियोंके मांसका रस, गेहूँकी रोटी या दलिया, भात, मूँग, अरहर, चनेकी दाल, आंवला, अनारदाने, नींबू, पोदीनाकी चटनी, धनिया, हल्दी, सैंधानमक, कालीमिर्च, इलायची, गोदुग्ध, बकरीका दूध, घी, हरड़, पर्वतके झरनोंका जल, एरंड तैल, सफेद चंदन, तरुण ज्वरमें कहे हुए भोजन और चन्द्रमाकी चांदनी, ये सब पथ्य हैं।

अञ्जन (काजल) या सौम्य नेत्राञ्जन करना चाहिये। अधिक अश्रुस्राव हो ऐसा अञ्जन हानिकारक होता है। वमन-विरेचन करानेकी आवश्यकता हो, तो मृदु औषध देना चाहिये। धूम्रपानके व्यसनीको बहुत कम परिमाणमें धूम्रपान करना चाहिये।

भीतर आम दोष न हो, ज्वर तीव्र न हो, त्वचा शुष्क हो और प्रस्वेद द्वारा अधिक विष बाहर निकालनेकी आवश्यकता न हो (विष विशेषतः पेशाब द्वारा साफ होता रहता हो, वृक्क निर्दोष हो) तो तैलकी मालिश करा सकते हैं। तैलकी मालिशसे त्वचा सुन्दर, मुलायम और स्निग्ध बनती है तथा मांसपेशियां दृढ़ और सबल बनती हैं।

यदि यकृत्‌के पित्तका स्राव योग्य परिमाणमें होता हो, दस्तमें पीलापन हो और दुर्गन्ध न हो, तो घी का सेवन लाभदायक है। घीका सेवन उतना करना चाहिये, जितना पचन हो सके। घीका पचन अन्त्रमें होता है। यकृत्-पित्त जितना अधिक परिमाणमें मिले उतना पचन अधिक होता है। यकृत् बढ़ा हुआ हो, तो घीका सेवन नहीं करना चाहिये। अन्यथा निर्बलता बढ़ती जायगी और पुनः ज्वर उपस्थित हो जायगा।

मुँहमें छाले हों, आमाशयमें खट्टा पित्त अधिक रहता हो, खानेपर उदरमें भारीपन आ जाता हो, छातीमें दाह होता हो और मलावरोध रहता हो, तो चावलका सेवन नहीं करना चाहिये या कम करना चाहिये।

अन्त्रमें दर्द होता हो, मरोड़ा आता हो, पेचिश कभी-कभी हो जाती हो, तो चावल हितकर है। गेहूँ-चनेका सेवन कम करना चाहिये। यदि कृमि दोष हो तो मधुर पदार्थ और मांसका सेवन, ये सम्हाल पूर्वक करने चाहिये।

विविध प्रकारके सेन्द्रिय विष और आमको जलाने तथा कृमियोंको नष्ट करनेमें पोदीना, कालीमिर्च, लाल मिर्च, हींग, जीरा, लौंग, दालचीनी, इलायची आदि हितकर हैं। किन्तु अधिक मात्रामें सेवन करनेपर हानि ही पहुँचती है।

अतिसार हो तो बकरीका दूध लेना चाहिये और मलशुद्धि ठीक होती हो या मलावरोध हो तो गोदुग्धका सेवन करना चाहिये। जिनको धारोष्ण दूध अनुकूल आता हो, उनके लिये नीरोगी गौका धारोष्ण दूध लाभदायक है; किन्तु यह ग्रामोंके लिये है। शहरकी गौका दूध धारोष्ण लेनेमें कीटाणुओंका डर रहता है। एवं शहरी गौका स्वास्थ्य भी जङ्गलमें फिरने वाली गौके समान नहीं रहता। शहरकी गौका गोबर दुर्गन्धमय रहता है। कारण, शुद्ध वायु कम मिलती है। घूमना-फिरना कम होता है और आहार आवश्यकतासे अधिक मिलता है। इसलिये शहरकी गौका दूध उबाल करके लेना उचित माना जायगा।

जिनको धारोष्ण दूध अनुकूल न रहता हो, या मूल्यसे दूध खरीदना पड़ता हो अथवा शहरकी गौका दूध पीना हो, उनको चाहिये कि दूधको लोहेकी कढ़ाहीमें गरम करें। अच्छी तरह १-२ उफान आनेपर उतार लेवें। फिर शीतल होनेपर सेवन करें। अधिक उबालनेपर दूध स्वादु बनता है, किन्तु वह पचनमें भारी होता है और उसमेंसे कितनाही सत्व उड़ जाता है।

दूध अधिक गरम नहीं पीना चाहिए। अन्यथा अन्ननलिका, आमाशय और लघु अन्त्र आदिकी श्लैष्मिक कला जलती रहती है। मस्तिष्कमें उष्णता अधिक पहुँचती है। दीर्घ काल तक गरम-गरम दूध, चाय और गरम-गरम भोजन करने वाले मलावरोधके रोगी बन जाते हैं। इस उद्देश्यको लेकर धर्मशास्त्रने

उष्ण अन्नका भागी पितरोंको ही कहा है। देवोंको भोग लगाकर फिर प्रसाद ग्रहण करना चाहिये।

गरम दूध, चाय आदिसे तात्कालिक उत्तेजना आती है जिससे प्रसन्नता भासती है। किन्तु वह कृत्रिम है; परिणाम हानिकर है। गरम दूध, चाय आदि व्यसनियोंके दाँत जल्द गिरते हैं, दृष्टि निर्बल बनती है, पाचन-शक्ति मन्द होती है, कब्ज रहता है। शनैः-शनैः शारीरिक बल और आयु भी कम हो जाती है। प्रातःकाल दूध लेना हो तो इतना लेना चाहिये कि भोजन करनेके पहले पचन हो जाय। दूध पचन होनेके पहिले यदि भोजन किया जायगा, तो दूधका लाभ दूर हो जायगा, प्रत्युत हानि होगी। दूध सेवनके साथ खट्टे फलोंका सेवन पाश्चात्य ग्रन्थकारों की दृष्टिके हितावह है; किन्तु स्वप्नदोषके रोगीके लिए हानिकर अनुभवमें आया है। निर्बल पचन-शक्ति-वालोंको भी लाभदायक सिद्ध नहीं हुआ।

यदि दस्तमें दुर्गन्ध आती हो तो धारोष्ण दूध नहीं लेना चाहिये, घी कम कर देना चाहिये, आहारका परिमाण भी घटा देना चाहिये।

रक्तार्शसे पीड़ित रोगियोंको दूध देना हो तो बकरीका दूध देना चाहिये। गौका दूध नहीं देना चाहिये। अन्यथा रक्तस्राव बढ़ जाता है।

आहारमें शाकका सेवन अवश्य करना चाहिये। पान, फूल, फल, शाक हितकारक हैं। कंदशाक पचन हो उतना लेना चाहिये। शाकमें काष्ठौजका अंश अधिक होनेसे उदरशुद्धिमें सहायता पहुँचाता है एवं विविध क्षार और जीवन सत्वके हेतुसे स्वास्थ्यवृद्धिमें अति सहायक होते हैं। वर्षा ऋतु हो तो पानशाकको अच्छी तरह धो लेना चाहिये। अनेक बार सूक्ष्म कृमि उनमें रहते हैं, जो खानेमें आजानेपर विविध प्रकारके रोगोंकी सृष्टि करते हैं। किसी-किसी रोगीको पान शाक उदरविकृतिके हेतुसे भी अनुकूल नहीं रहता उनको नहीं देना चाहिये।

अन्न आदिमें जीवन सत्व, मेद, क्षार, प्रथिन आदि द्रव्य न्यूनाधिक परि-माणमें रहते हैं। इस सम्बन्धमें कुछ विचार आगे पचनेन्द्रिय संस्थानमें दिये जायँगे।

अथवा आवश्यकतानुसार वमन, विरेचन और उपवास करानेपर पथ्यके समय उचित औषधियोंके साथ औटाये हुए जलसे सिद्ध किया हुआ यवागू या यूष देना चाहिये। निम्न यूष भी हितकारी है।

पञ्चमुष्टिक यूष—जौ, बेर, कुलथी, मूँग और मूलीकी डंडी प्रत्येक ४-४ तोले लेकर आठ गुने जलमें पकाकर सिद्ध करें। यह यूष, वात, पित्त और कफ नाशक है; तथा शूल, गुल्म, कास, श्वास, क्षय और ज्वरमें हितावह है।

पक्व और जीर्ण ज्वरमें अपथ्य—उपवास, दतौन करना (दन्तमंजनसे मुखशुद्धि करनेमें बाधा नहीं है), असमयपर भोजन, प्रकृतिके प्रतिकूल भोजन, दाहकारक भोजन, गुरु भोजन, भोजनपर भोजन, बासी भोजन, विरुद्ध भोजन, अति भोजन, वमनके वेगको रोकना, रात्रिको जागरण, अधिक परिश्रम, क्रोध, शोक, चिंता, संशय, मल-मूत्रावरोध, सूर्यके तापमें भ्रमण, दूषित जल, नमकीन और खट्टे पदार्थ, पत्ती शाक, मूँग, चने आदिको भिगोनेसे अंकुर निकलनेपर शाक बनाना (ये अन्य समयपर अधिक लाभदायक हैं। ज्वरावस्थामें ही योग्य लाभ नहीं पहुँचा सकते)। नागरबेलका पान, तरबूज, कटहर, मछली, तिलकुट, छत्रक (सांपकी छतरी) पिट्ठीके बने हुए पदार्थ, पकान्न और दही आदि अभिष्यंदी पदार्थ, इन सबका त्याग करना चाहिए।

आगन्तुक ज्वरमें पथ्य—प्रवास और श्रमजन्य ज्वरमें तैलाभ्यंग और दिनमें शयन; क्रोधज ज्वरमें शीतल उपचार; औषध गंधज और विषज ज्वरमें विषघ्न और पित्त प्रसादक औषध, दूध, घृत, लघुपौष्टिक आहार, शराब, मांसरस, मालिश और शिराव्यध आदि पथ्य हैं।

काम और शोक ज्वरमें पथ्य—वातहर चिकित्सा, अच्छी निद्रा, मूल हेतुको भुलानेकी चेष्टा करना, शास्त्र श्रवण, जप, होम और देवसेवा अधिक हितकर हैं।

काम ज्वरमें अपथ्य—चिन्तन, अकेला रहना, विलासी ग्रन्थ देखना, विलासी बातें सुनना, विलासी मनुष्यका सहवास, कामोत्तेजक आहार-विहार और जागरण हानिकर हैं।

शोक ज्वरमें अपथ्य—लंघन, चिन्ता, शोक जिस स्थानमें रहनेसे बार-बार शोकका चिन्तन हो जाय उस स्थानमें रहना, ये सब अपथ्य हैं। इनके अतिरिक्त अनेकोंके लिये जागरण और एकान्त में रहना, ये भी बाधक होते हैं।

विषम ज्वरमें पथ्य—लहसन, तिल तैल मिली हुई लहसनकी चटनी, घी, दूध, मिश्री, पीपल, शराब, मण्ड, मुर्गे, तीतर और मयूरका मांसरस, वमन, विरेचन, लघु भोजन, सन्तरा, मोसम्बी, अंगूर, अमरूद, तैलकी मालिश, धूप, अंजन, नस्य, तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र, देव, पूज्य और ब्राह्मणोंकी सेवा ये सब हितकर हैं। शेष पक्व और जीर्ण ज्वरमें कहे अनुसार पथ्य देवें।

संधिक ज्वर (आमवातिक ज्वर) में पथ्य—लङ्घन, स्वेदन, चरपरे और कड़वे पदार्थ, दीपन, विरेचन, स्नेहन, निरूह बस्ति, रूक्ष स्वेद, लेप, सैंधवाद्य तैल या विन्टरग्रीन तैलकी मालिश, पञ्चकोल मिलाकर उबाला हुआ जल,

सूखी मूलीका यूष, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, अजवायन, हल्दी, हींग, काला जीरा, जीरा, कलौंजी, हरड़, सैंधानमक, कांजी, बैंगन, बथुआ, परवल, गोखरूकी पत्तीका शाक, वरनाके पत्ते, करेले, कड़वे फलोंका शाक, टमाटर, सोयाकी पत्ती, गिलोयकी पत्ती, नीमकी पत्ती, पुनर्नवाकी पत्ती, अमलतासकी पत्ती, सुहिंजनेकी फली, घीक्वाँरकी गोंदल, इनमेंसे अनुकूल शाक; अदरक, मट्ठेमें सिद्ध किया लहसन, जौ, पुराने शालि और साँठी चावल, मट्ठा मिलाकर बनाया हुआ लावाका मांस, जंगलके पशुपक्षीका मांसरस, कुलथीका यूष, मटर या चनेका यूष, बाजरा, जुवार, सांवां, कोदों, पुरानी शराब, एरण्ड तैल, गरम जल, गोमूत्र; कफघ्न, वातहर और अग्निवर्द्धक पदार्थ ये सब पथ्य हैं।

संधिक ज्वरमें अपथ्य—दही, मछली, गुड़, दूध, पोईका शाक, उड़द, पिट्ठीके पदार्थ, अनूप देशोंके जीवोंका मांस; अभिष्यन्दी, गुरु और पिच्छिल भोजनका त्याग कर देवें। दुष्ट जल, शीतल जल, पूर्व दिशाकी वायु, मल-मूत्र और अधोवायुको रोकना, जागरण, असमयपर भोजन इन सबको छोड़ दें।

तीव्र आमवातिक ज्वरमें स्नान करना हानिकर है। अन्न न दें; घृत, दूधकी चाय या रक्तशोधक और मूत्रल गुणवाले फलोंपर रखना हितकर है।

मसूरिका ज्वरमें पथ्य—प्रारम्भमें लङ्घन, वमन, विरेचन और शिरावेध करावें। पश्चात् पुराने साँठी और शालि चावल, जौ, चने, मूंग, मसूर, और अरहरका यूष, कबूतर, चिड़िया, तोता, पपैहा, चकोर, मोर आदि पक्षियोंका मांसरस, गिलोयकी पत्ती, पित्तपापड़ा, परवलकी पत्ती, करेला, ककोड़ा, कच्चा केला, सुहिंजनेकी फली, इनमेंसे अनुकूल शाक, धनियाँ, आँवला, हल्दी, गधीका दूध, बिजौरे नींबू, अंगूर, अनार, बुद्धिवर्द्धक, पवित्र, पौष्टिक भोजन, पके सूखे बेर, उड़दका यूष, इनमेंसे भोजन देवें। छोटे बेर खिलानेसे विष शीघ्र बाहर आ जाता है।

कर्पूरके जलसे नेत्र धोते रहें, नित्य प्रति नीमकी ताजी टहनियाँ रोगीके कमरेमें बाँधें और धूप नियमपूर्वक प्रातः-सायं करते रहें।

मसूरिका पक जानेपर मूंगका यूष, जङ्गली जीवोंका मांस, घृत, सम्हालुकी पत्तीका शाक, रालका धूप, उपलोंकी राख और गूगलको पीस, फूटी हुई मसूरिकापर लगावें। मसूरिका सूख जानेपर नीमके पत्ते और हल्दीको जलमें पीसकर लेप करें; तथा व्रण रोगोक्त चिकित्सा करें।

मसूरिकामें अपथ्य—मैथुन, स्वेदन, श्रम, तैल, गुरु अन्न, क्रोध, सूर्यके तापका सेवन, तेज वायु, दुष्ट जल, दुष्ट वायु; विरुद्ध भोजन, असमयपर भोजन, सेम, आलू, नमक, कुलथी, चरपरे, मिर्च आदि पदार्थ, खटाई, मल-मूत्र आदि वेगका अवरोध, ये सब अपथ्य हैं।

सूचना—रोगीको नमक और मिर्च बिल्कुल न दें अन्यथा पिटि कामें खुजली चलकर रोगीको अधिक त्रास होता है।

ज्वरमुक्त होनेपर पथ्य—विरेचन, इक्षुरस, गन्ना चूसना, लघु पौष्टिक भोजन, दूध, स्वेदन (कफ वात वृद्धि हो, तो), ठण्डाई (पित्त दाह हो, तो), तैलकी मालिश, ये सब पथ्य हैं।

जो मनुष्य तक्र, दूध, दही या उड़द इनमेंसे एकके साथ मांस-भक्षण करता है; वह विषम ज्वरसे मुक्त हो जाता है।

ज्वर मुक्त होजानेपर भी अपथ्य—शरीरमें बल न आवे तब तक व्यायाम, मैथुन, प्रवास, शीतल जलसे स्नान और भारी भोजनका सेवन हानिकर है।

ज्वरमें पथ्य भोजन—शास्त्रकारोंने भिन्न-भिन्न प्रकारके ज्वरोंमें निम्नानुसार भिन्न-भिन्न भोजन कहा है :—

(१) विषमज्वरमें—मण्डके साथ शराब पिलाना और मुर्गी, तीतर, लावा, चकोर, चिड़िया आदि पक्षियोंका मांस भोजनार्थ देना, यह पथ्य माना गया है।

(२) वातज्वर, श्रम या उपवाससे आये हुए ज्वरमें—मांसरसके साथ भातका भोजन (या दूध और गेहूँका दलिया) देना हितावह माना है; अथवा पीपल, पीपलामूल, अजवायन और चव्य मिलाकर सिद्ध की हुई यवागू देवें।

(३) कफज्वरमें—मूंगका यूष और चावल देना चाहिये।

(४) पित्तज्वरमें—मूंगका यूष और चावलके साथ थोड़ी मिश्री मिला शीतल करके देना चाहिये अथवा सोंठ, मिर्च, जीरा और सैंधानमक मिलाकर चावलोंकी मांड देवें।

(५) वात-पित्तज्वरमें—मूँगका यूष अनार या आँवले मिलाकर पिलाना चाहिये। यह यूष शालपर्णी आदि लघु पञ्चमूलके क्वाथमें बनावें।

(६) कफ-वातज्वरमें—कोमल मूली मिलाकर किया हुआ मूँगका यूष पिलावें। यह यूष बृहत् पञ्चमूलके क्वाथमें बनावें।

(७) कफ-पित्त ज्वरमें—पीपल और धनियांके क्वाथमें यूष बनाकर देवें अथवा कडुवे परवल और निम्बके पत्ते मिलाकर यूष, मांड या पेया बनाकर देवें।

(८) त्रिदोषज ज्वर वालेको—दशमूल क्वाथमें यूष बनाकर दें; अथवा छोटी कटेलीकी जड़, धमासा और गोखरूके क्वाथमें तैयार की हुई यवागू दें।

(९) वात, पित्त, कफ एवं सब प्रकारके ज्वरोंपर पञ्चमुष्टिक यूष लाभदायक है।

यदि उपवास करा कर दोषोंको परिपक्व किया गया हो; तो १० दिनके

पश्चात् या जब कफ धातु क्षीण तथा वात-पित्त वृद्ध हो जाय, तब घृतपान कराना अमृत सदृश हितावह माना गया है (च० चि० ३-१६२)। किन्तु वर्त्तमानमें रोगियोंकी स्थिति घृतपानके अनुकूल प्रतीत नहीं होती। इस हेतुसे बहुधा यह रिवाज दूर हो गया है। यकृत् सबल हो और प्राचीन विधि अनुसार घृतपान कराया जाय, तो लाभ ही होगा।

दुष्ट कफकी अधिकता हो, तो उसके शमनका उपचार करें और बलकी रक्षा करनेके लिये (पक्व ज्वरवालेको) आवश्यकता हो, तो भोजनमें मांसरस दें (वर्त्तमानमें दूधपर रखनेका अधिक रिवाज है)।

दाह, तृषा सह वात-पित्त ज्वरमें निराम अवस्था हो या दोष विचलित हुआ हो, या बद्ध हो, इन सब अवस्थाओंमें दूध देना हितकर है। दोष विचलित हो और अतिसार हो, तो बकरीका दूध; तथा दोषबद्ध-मलावरोध हो, तो गोदुग्ध देना चाहिये (च० चि० ३-१६५)।

ज्वर रोगमें मन्दाग्नि वालोंको क्षुधा लगनेपर छोटी पीपल और सोंठके क्वाथमें सिद्ध की हुई लाल चावलोंकी पेया देनी चाहिये। यह पेया ज्वरहारिणी है।

जिस रोगीको (पित्त प्रकोप होनेसे) वमन, अतिसार, श्वास, दाह, विष, मूर्च्छा आदि उपद्रव हों, उसे यवागू अथवा यूप न दें। परन्तु चावलोंका सत्तू, मुनक्का, अनारदाने और खजूरको जलमें घोल, मिश्री, घी और शहद मिला संतर्पण बनाकर पिलाना चाहिये।

ज्वर रोगीको अरुचि हो, तो आरग्वधादि कल्क या आंवला, मुनक्का और मिश्रीका कल्क देना चाहिये।

ज्वरमें पसली, मूत्राशय और शिरमें शूल हो, तो गोखरू और छोटी कटेलीके क्वाथमें सिद्ध की हुई लाल शालि चावलोंकी पेया क्षुधा लगनेपर देनी चाहिये।

यदि मल-मूत्रावरोध और उदर पीड़ा सह ज्वर हो, तो मुनक्का, पीपलामूल, चव्य, आंवला और सोंठके क्वाथमें पेया बनाकर पिलानी चाहिये।

यदि गुदामें काटनेके समान पीड़ा होती हो, तो बेल छाल, बला, कोकम (अथवा डांसरिया या अनारदाने, इनमेंसे एक) बेर, पृश्निपर्णी और छोटी कटेलीके क्वाथमें पेया बनाकर पिलानी चाहिये।

पेया—पेया बनानेके लिये लाल सांठी चावल ४ तोले और जल ५६ तोले मिला कर सिद्ध करें। * फिर सैंधानमक, काली मिर्च, सौंठ, पीपल और

---

* मण्ड सिक्थ (चावल) रहित और पेया सिक्थ सहित (चावल सब घुल कर मिल जाना चाहिये) को कहते हैं। यवागूमें अधिक सिक्थ होता है, तथा विलेपीमें द्रव कम होता है। विलेपीके लिये चावलसे ४ गुना, मण्ड और पेयाके लिये १४ गुना तथा यवागूके लिये ६ गुना जल मिलाया जाता है।

जीरा आदि मसाला मिलाकर पिलानी चाहिये। यह पेया अति हलकी, ग्राही, धातु-पोषक, तृषा, ज्वर, वात, निर्बलता और कुक्षि,रोगोंका नाश करनेवाली, पसीना लाने वाली, आमनाशक, रुचिकर और अग्नि प्रदीपक है; तथा वायु और मलको अनुलोम करती है।

मण्ड—मण्ड बनाना हो, तो १४ गुने जलमें लाल शालि चावलोंको सिद्ध कर ऊपरका पतला प्रवाही लेवें। फिर उसमें अनार दानोंका रस, धनिया, जीरा, सोंठ, पीपल और सैंधानमक आवश्यकतानुसार मिलाकर ज्वरवालेको पिलाना चाहिये। यह मण्ड दीपन, पाचन, ग्राही, हलका, शीतल, धातुओंको सम करने वाला, तृप्तिकर, बलदायक और ज्वरहर है, तथा पित्त, कफ और श्रमको दूर करता है।

यवागू—यवागू बनानेके लिये चावलोंको ६ गुने जलमें सिद्ध करें। फिर मसाला मिलाकर रोगीको खिलावें। यह यवागू हलकी, दीपन, तृषाहर और बस्तिशोधक है; श्रम और ग्लानिको दूर करती है, तथा वात, मूत्र और मलका अनुलोमन करती है।

सूचना—ज्वर और अतिसारके रोगीको जितनी क्षुधा हो, उसका चौथा हिस्सा यवागू देनी चाहिये।

कफप्राधान्य ज्वर, मदात्यय, पित्त-कफकी अधिकता और ऊर्ध्व रक्त-पित्त वालेको या ग्रीष्म ऋतुमें तथा नित्य मद्यपान करनेवालोंको यवागू नहीं देनी चाहिये।

प्रमथ्या—४ तोले चावल या अन्य मूँगादि अन्नको जलमें पीस, पेयाकी रीतिसे ८ गुने जलमें सिद्ध करें, उसे प्रमथ्या कहते हैं। इस प्रमथ्याका गुण पेयाके समान है। यह दीपन, पाचन और लघु है। मध्यम दोषवालेके लिये हितकर है। इसके ऊपरका जल ८-८ तोले या शक्ति अनुसार पिलाना चाहिये।

विलेपी—शालि चावलोंको ४ गुने जलमें पकावें। जिसमें चावल गल जाय तथा जल और चावल मिल जायें, उसे विलेपी कहते हैं। यह विलेपी दीपन, बलदायक, हृदयको हितकर, मलको बाँधने वाली, लघु, व्रण और नेत्र-रोगियोंको हितकर, तृप्तिकर, तृषाशामक और ज्वरहर है। दुर्बल और स्नेहपान करनेवालेके लिये हितकर है।

भात—शालि चावलोंको ५ गुने जलमें मिलाकर पाक करें। चावल सिद्ध हो जानेपर ऊपरसे माण्डको निकाल डालें। यह भात अग्निप्रदीपक, पथ्य, तृप्तिकारक, मूत्रल और लघु है।

अच्छी रीतिसे चावलोंको धोकर बनाया हो, अलग-अलग दाने रहनेपर भी गल गया हो और गरम हो, तब तक अधिक गुणदायक रहता है। जो चावल अच्छी रीतिसे न पका हो, कड़क हो, वह बहुत कालमें कठिनता से पचन होता है।

जिस चावलको पहले न धोया हो और कम जलमें उबाल कर माण्ड न निकाला हो, वह शीतल, पौष्टिक, गुरु और कफप्रद है।

अति गरम भात बलका हरण करता है। अति शीतल (३ घण्टे बाद) या सूख जानेपर दुर्जर (देरीसे पचने वाला) होजाता है।

सिद्ध भात १२ घण्टे तक ढककर रखा रहनेसे गीला और दुर्गन्धयुक्त हो जाता है वह और जिस चावलको फिरसे गरम किया जाय वह, ये दोनों दुर्जर और ग्लानिकर होते हैं।

जिस चावलको घीमें छौंक देकर भून लिया हो, वह रुचिकर, सुगन्धयुक्त, कफनाशक और लघु होता है। वातरोगी, मन्दाग्निवाले, तथा निरूह बस्ति या विरेचन जिनने लिया है, उनके लिये अत्यन्त हितकर है।

जो भात दूध या मांसरसके साथ बनाया गया हो,वह अति गुरु होजाता है।

औषधसिद्ध पेया आदि विधि—जिस औषधसे मण्ड आदिको सिद्ध करना हो उसे ४ तोले लें, २५६ तोले जलमें उबाल अर्द्धावशेष क्वाथ करें (या चौथा हिस्सा जल जला देवें)। फिर छान, उस क्वाथमें मण्ड, पेया, यवागू और यूष आदिको सिद्ध करें।

जैसे वातज्वरोंके लिये पञ्चमूलके क्वाथमें पेया बनाना है, तो ४ तोले पञ्च मूलको २५६ तोले जलमें उबाल, छानकर उसमें पेया बनावें। इसी तरह अन्य औषधियोंके लिये भी व्यवस्था करें।

जो पेया आदि भोजन इस विधिसे औषधके क्वाथमें सिद्ध किये जायँ, वे दीपन, पाचन, लघु और ज्वर रोगीके ज्वरको हरनेवाले होते हैं।

मुद्गयूष—आठ तोले मूँग और १२८ तोले जल लें। पहले जलको उबालें। जल उबलनेपर मूंग डालें। जब मूंग बिल्कुल गल जायें, जल चतुर्थांश कम हो जाय, तब चूल्हेपरसे उतार लें। फिर मसल कर जलको छान लें। उसमें अनारदानोंका रस ४ तोले; सैंधानमक, सौंठ, धनिया, पीपल और जीरेका चूर्ण १-१ तोला या रुचिकर हो उस हिसाबसे मिला लें (हल्दी भी मिलाने का रिवाज है)।

यह यूष दीपन, शीतल और लघु है। व्रण, गलेके ऊपरके भागमें विकार, तृषा, दाह, कफ-पित्तज्वर और रक्त-विकारको दूर करता है। निर्बल, व्रणरोगी, कण्ठरोगी और नेत्ररोगीके लिये अधिक हितकर है। यदि घीमें जीरा डालकर छौंक दिया हो, तो कफ-पित्तका नाश करनेमें विशेष हितकर होता है।

यदि मूंगका यूष बनानेके समय (मूंग गलनेपर) आंवले मिला लेवें, तो भेदक (मलका भेदन करने वाला), शीतल, रुच और वातशामक बनता है; तथा तृषा, दाह, मूर्च्छा, श्रम और मेदको दूर करता है।

मसूरका यूष—मूंगके यूषकी विधिके अनुसार १६ गुने जलमें मसूरका यूष तैयार करें। यह यूष ग्राही, पौष्टिक, स्वादिष्ट और प्रमेहनाशक है। यह ज्वरवालेको हितकर नहीं है। केवल मसूरिका ज्वरमें अतिसार होनेपर यह दिया जाता है।

कौलत्थ यूष—कुलथीका यूष वायुका अनुलोमन करनेवाला, श्वास, पीनस, कास, अर्श, गुल्म, अश्मरी, तूनी और प्रतूनी आदि कफ और वात-प्रधान व्याधियोंको नष्ट करनेवाला है। उष्णवीर्य, विपाकमें खट्टा और शुक्रको हानि पहुँचानेवाला है। रक्त और पित्तको उत्पन्न करता है। यह यूष ज्वर वालेको विशेष हितकर नहीं है। केवल आमवातिक ज्वरमें दिया जाता है।

रसौदन—अति मांसवाले पशुकी जंघाका मांस और हड्डीरहित तीतरका मांस १६ तोले लें। छोटे-छोटे टुकड़े कर अच्छी रीतिसे धो लेवें। फिर उसमें पीपल, पीपलामूल, सोंठ, जीरा, धनिया ये सब ८-८ माशे मिला १२८ तोले जलमें पकावें। चतुर्थांश जल शेष रहनेपर मांसको कुड़छीसे अच्छी रीतिसे कूट हाथोंसे मलकर रसको निकाल लें। फिर घीमें हींग और जीरा डालकर छौंक देवें और आवश्यकता अनुसार सैंधानमक मिला लेवें। इस रसको भातमें मिला लेनेसे रसौदन कहलाता है।

यह रसौदन भारी, शुक्रवर्द्धक, बलदायक और वातज्वरको हरनेवाला है तथा वमन, विरेचन आदिसे शुद्ध हुए मनुष्योंके और वमन-विरेचन आदिसे संशोधन करनेकी इच्छावालोंके लिये हितकर है।

संतर्पण—खीलोंका सत्तू, मुनक्का, अनारदाने और खजूर, इन सबको जलमें घोल लेवें। उसमें मिश्री, घी और शहद मिला लेवें। फिर ज्वर वालेको पिलावें। (घी पहले सत्तूमें मिला लेनेसे अच्छी रीतिसे मिल जाता है)। यह संतर्पण वमन, अतिसार, तृषा; दाह, विष, मूर्च्छा और ज्वरको दूर करता है।

दूसरी विधि—ज्वरनाशक फलोंका रस, शहद और मिश्रीको सत्तूके साथ मिलानेपर संतर्पण तैयार होता है। चरक-संहितामें दाह, वमन और तृषाको दूर करनेके लिये अंगूर, अनार, खजूर, चिरौंजी और फालसेके रससे संतर्पण बनानेको कहा है।

ज्वर रोगीके लिये भोजनका नियम—ज्वर रोगीको दिनमें एक समय भोजन दें, दो बार न दें। पूर्वाह्न कालमें (सुबह) भोजन नहीं करना चाहिये।

तरुण ज्वरमें अभिष्यंदी (दही आदि), तीक्ष्ण और भारी अन्न कदापि नहीं देना चाहिये।

ज्वरसे कृश हुए रोगीको एक साथ अधिक संतर्पण नहीं देना चाहिये। अधिक संतर्पणसे शमन हुआ ज्वर पुनः आ जाता है।

संख्यांक ४२
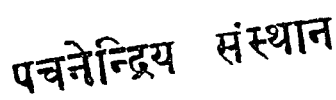
पचनेन्द्रिय संस्थान

(७) पचनेन्द्रियसंस्थान व्याधि प्रकरण।

(१) अतिसार।

दस्त—इसहाल—डायर्‌हिया—कोलायटिस—एण्टरायटिस—
(Diarrhoea, Colitis, Enteritis)

श्री माधव निदानकारने पचनेन्द्रिय संस्थानके रोगोंमें पहले अतिसारका वर्णन किया है। उस क्रमके अनुरूप यहांपर भी अतिसारसे प्रारम्भ किया है। जब रस, जल, मूत्र, स्वेद, मेद, कफ, पित्त और रक्त आदि धातुसमूह दूषित होकर मलके साथ मिल जाते हैं; फिर बार-बार पतले दस्त होते रहते हैं, तब वह व्याधि अतिसार कहलाती है। अतिसारमें मल स्वस्थावस्थाकी अपेक्षा अधिक आता है, और वह पूर्ण पक्व नहीं होता। यह रोग विशेषतः उष्ण ऋतुमें होता है, इस रोगमें आंतोंके भीतर प्रदाह हो जाता है। छोटी आंतमें प्रदाह होनेपर डाक्टरीमें 'एण्टरायटिस' और बड़ी आंतमें दाह होनेपर 'कोलायटिस' संज्ञा दी है। इनमें बड़ी आँत विशेषतर प्रदाह पीड़ित होती रहती है।

आमाशयमेंसे अन्नके कुछ अंशका पचन होकर शेष आहार छोटी आंतमें जाता है। फिर उसके साथ यकृत्‌मेंसे पित्त (Bile), अग्न्याशयका आग्नेय रस (Pancreatic juice) और अन्त्रमें उत्पन्न आन्त्रिक रस अर्थात् क्षार रस (Succus entericus) मिश्रित होकर आहार पचनक्षम बनता है। पश्चात् उसमेंसे सत्त्वांशका रक्तमें शोषण हो जाता है।

ये सब क्रियाएँ नैसर्गिक नियमानुसार स्वस्थावस्थामें नियमित रूपसे होती रहती हैं। इन क्रियाओंके लिए यकृत्, अन्त्र, अग्न्याशय, अन्त्रसे सम्बन्ध वाली वातवहा नाड़ियाँ (nerves), उदर्य्याकला--अन्त्रावरण--(Peritoneum) ये सब सबल होने चाहिए; तथा इनसे सम्बन्धवाली फुफ्फुस, हृदय और वृक्क आदि इन्द्रियोंकी स्वस्थताकी भी आवश्यकता रहती है। यदि फुफ्फुस आदि इन्द्रियोंमेंसे किसीकी विकृति हो जाती है, तो उसका असर भी अन्त्र, यकृत् या अन्त्रावरणपर हो जाता है।

इन इन्द्रियोंमेंसे लघु अन्त्र और उदर्य्याकलाका कुछ वर्णन पहले आन्त्रिक ज्वरके प्रारम्भमें किया है। शेष विवेचन यहाँ दिया है।

अन्त्रवृत्तियाँ—लघु अन्त्रकी दीवारमें ४ वृत्तियां हैं। १- उदर्य्यावृत्ति (Serous Coat); २. पेशीवृत्ति (Muscular coat) मांसपेशियोंसे बना हुआ स्तर); ३. संयोजनीवृत्ति (Areolar or submucous coat) अर्थात्

मकड़ीकी जालके तन्तु समान सूक्ष्म स्नायु सूत्रोंसे बनी हुई झिल्ली; ४. आभ्यन्तरावृत्ति (Mucous coat).

इनमें आभ्यन्तर स्तर मखमल-समान मुलायम हैं। इसमें असंख्य छोटी-छोटी ग्रन्थियों (Glands) के स्रोत खुलते हैं। इनमेंसे क्षार रस (सक्कस एण्टेरीकस--Succus entericus) झरता रहता है। जो अन्न-पचनक्रियामें आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त इस स्तरमें कितनी ही झुर्रियाँ (Wrinkles) पड़ी हुई हैं, जो समुद्रकी तरङ्ग या गिरिमालाके सदृश दीखती हैं। इनको वलीराजियाँ (Circular folds) संज्ञा दी है। यह आहार रसको शीघ्र आगे बढ़ने नहीं देती और पचन हुए आहार रसके शोषणार्थ अधिक विस्तार देती जाती है।

इस तरह इस झिल्लीमें कदम्बकेशरके सदृश हजारों रसांकुरिकाएँ (विलाई Villi) रही हैं। ये रसांकुरिकाएँ इस छोटी आँतमें सब मिलकर अन्दाजन ५० लक्ष होंगी। ये सौम्य अन्नरसका शोषण कर रसायनियोंद्वारा रस ग्रन्थियोंमें भेजती जाती हैं। फिर वह रस वहाँ शुद्ध होकर रसप्रपा और रसकुल्याद्वारा सिरा (रक्त) में मिल जाता है।
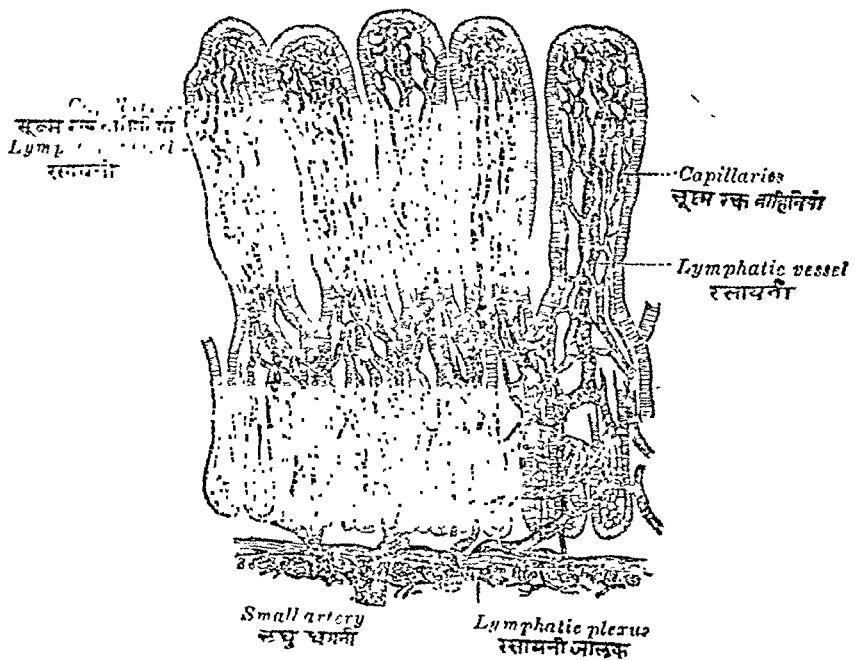
चित्र नं० ३२ क्षुद्रान्त्रकी रसांकुरिकाएँ

इन रसांकुरिकाओंमें रही हुई केशवाहिनियाँ आग्नेय आहार रसका शोषण कर यकृत्‌में रासायनिक शुद्धि के लिये भेजती रहती हैं। ये रसांकुरिकाएं भी वलीराजियोंके समान पचन हुए आहार रसके शोषणके लिये अधिक विस्तार देती रहती हैं।

नाड़ियां—इस लघु अन्त्रसे प्राणदा नाड़ियोंके तन्तु और इड़ा, पिंगला नाड़ी समूहके तन्तु मिलते हैं। इड़ा, पिङ्गलाके तन्तु मणिपुर चक्रमेंसे आते हैं। ये दोनों प्रकारके तन्तु समान वायुकी क्रियाके साधनरूप हैं। ये ही आंतोंकी चलनक्रिया, पचनक्रियामें उपयोगी भिन्न-भिन्न जातिके रस तथा पक्व आहारके सत्वरूप आग्नेय और सौम्य रसके शोषणके लिये जवाबदार हैं।

बृहदन्त्र (Large Intestine)—इस आँतका प्रारम्भ दाहिने वंक्षणोत्तरिक प्रदेशमेंसे होकर यकृत् तक ऊंचा जाता है। वहांसे मुड़कर प्लीहा तक जाता है। फिर वहाँसे बाँये वंक्षणोत्तरिक प्रदेशमें नीचे उतरता है। पश्चात् पृष्ठवंशके पास धनुषकी तरह मुड़ी हुई गुदनलिकामें मिल जाता है।

लघु अन्त्रमें पचन हुए आहार रसका शोषण हो जानेके पश्चात् अवशेष प्रवाही मल-भागको बृहदन्त्र आश्रय देता है। इस आंतमें मलके प्रवाही अंशका शोषण होकर वह गाढा हो जाता है। फिर योग्य समयपर बाहर फेंक दिया जाता है। इस बृहदन्त्रमें अनेक कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं या आजाते हैं, तब वहाँ सड़नकी उत्पत्ति होती है। यदि पित्तकी न्यूनता है, तो मलमें दुर्गन्ध भी हो जाती है।

पित्त यकृत्‌मेंसे लघु अन्त्रमें आता है, वह वसाके पचन और आत्मीय बनानेमें अति आवश्यक है। यदि पित्त न मिले, तो स्निग्ध अंशका पचन नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त पित्तके प्रभावसे ही अन्त्रमें आहार रसकी सम्यक् गति होती रहती है; मल नहीं रुकता और दुर्गन्ध या सड़ान उत्पन्न नहीं होती। पित्त कम मिलनेसे मलका रङ्ग सफेद हो जाता है और वह दुर्गन्धवाला भी हो जाता है।

इस तरह अग्न्याशयमेंसे जो रस मिलता है, उसे आग्नेय रस (Pancre atic juicc) कहते हैं जो अर्द्धपाचित आहारको पूर्णरूपसे पचन करनेमें आवश्यक है।

छोटी आंतोंमें विकृति होनेपर मल रचनामें अन्तर हो जाता है। दस्त कम होते हैं; बीच-बीचमें उदरशूल होते रहते हैं; थोड़ा आफरा आ जाता है; मलमें थोड़ा आम होता है; तथा आहारके सत्वांशका शोषण किञ्चित् या कम होनेसे कृशता और पाण्डुता भी आ जाती है।

बड़ी आँतमें विकार होनेपर मलमें श्लेष्मा अधिक होता है, शूल नहीं होता।

(कदाच शूल हुआ तो भयङ्कर होता है)। यदि बड़ी आँतका अन्त भाग भारी विकृत होता है, तो मल त्यागके समय किनछना पड़ता है। इस तरह अन्त्रस्थ कारणके स्थान-संश्रयके अनुरूप मलस्वरूप और लक्षणोंमें अन्तर होता है।

इन सब अवयवोंकी सम्यक् क्रिया जब तक होती रहती है, तब तक शरीर स्वस्थ रहता है। स्वस्थावस्थामें आहार छोटी आँतमेंसे ४-५ घण्टोंमें बड़ी आँतमें चला जाता है। फिर बड़ी आँतोंमेंसे बाहर निकलनेको १८ से २४ घण्टे लग जाते हैं। इस तरह क्रिया नित्य होती रहती है। जब किसी हेतुसे इनमें विकृति होकर अन्त्रप्रदाह होता है; तब आँतें अपना फर्ज नहीं बजा सकतीं। जिससे सत्त्वांशका बिना शोषण किये ही आहार रसको फेंक दिया जाता है, वही अतिसार रोग कहलाता है। इसे पाश्चात्य वैद्यकशास्त्रमें रोग नहीं माना है। अन्य अन्त्रप्रदाह आदि रोगोंका मुख्य लक्षण माना है।

हेतु—ज्यादा भोजन, उड़द आदि भारी पदार्थोंका भोजन, देरीसे पचने वाले मांस आदिका सेवन, अति चिकने, अति उष्ण, अति पतले, पक्का भोजन, अति शीतल या शुष्क पदार्थोंका अति सेवन, अध्यशन (भोजनपर भोजन), संयोग या प्रकृति-विरुद्ध अथवा देश-कालसे प्रतिकूल पदार्थका सेवन, बारबार भोजन, अजीर्णमें भोजन, असमयपर भोजन, स्नेहन आदि षट्कर्मोंका अतियोग या मिथ्या योग, दूषीविष या स्थावर विषका प्रयोग, भय, शोक, दूषित जलपान, सूर्यके तापमें अति भ्रमण, अधिक जलपान, अति मद्यसेवन, ऋतुका परिवर्त्तन, जलक्रीड़ा, मलमूत्र आदि वेगका रोकना और उदरकृमि आदि कारणोंसे वात आदि दोष प्रकुपित होनेपर इस अतिसार रोगकी संप्राप्ति होती है।

सम्प्राप्ति—अतिसारमें जल, रस, रक्त, पित्त, मूत्र, स्वेद आदि पतली धातुएं कुपित होकर जठराग्निको मन्द करती हैं। फिर इन धातुओंकी वायुद्वारा अधोगति होनेपर वे मलमें मिश्रित हो जाती हैं। जिससे पतले दस्त लगते रहते हैं और वही अतिसार रोग कहलाता है।

पूर्वरूप—इन अतिसारोंके पूर्वरूपमें हृदय, नाभि, गुदा, उदर और कुक्षि-आदि स्थानोंमें तोड़नेके समान पीड़ा, ग्लानि, अधोवायुकी अधिक उत्पत्ति और अवरोध, मलावरोध, आध्मान और अपचन आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

इन अतिसारोंमें बहुधा अरुचि, जिह्वापर सफेद अथवा पीला मैल जमना, उदरवात और दुर्गन्धयुक्त डकारें आदि उपलक्षण भी होते हैं।

अतिसारके ६ प्रकार हैं—वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, शोकज और आमजन्य अतिसार। पित्तज अतिसारकी वृद्धिसे रक्तातिसार हो जाता है एवं शोकके समान भयसे भी अतिसार हो जाता है।

(१) वातिक अतिसारके लक्षण—वातप्रकोपसे वायुकी आवाज सहित कच्चे आम और झाग युक्त कुछ ललाई लिये वेदना सह या श्याम रङ्गके थोड़े थोड़े दस्त और मूत्रावरोध आदि लक्षण होते हैं।

(२) पैत्तिक अतिसारके लक्षण—पित्तप्रकोप होनेपर दाह-प्रस्वेद, प्यास, शूल, व्याकुलता, गुदपाक, मांसके धोवन समान, छिछड़ेदार, गरम; हरा-पीला या किञ्चित् लालरङ्गके दुर्गन्धयुक्त बार-बार दस्त और क्वचित् मूर्च्छा आदि चिह्न प्रतीत होते हैं।

(३) कफातिसारके लक्षण—कफविकृति होनेपर अन्नद्वेष, रोमहर्ष, तन्द्रा, जी मिचलाना, मुँहमें पानी आना, सफेद, शीतल, लेसदार, कुछ गाढ़ा, कफ-मिश्रित दुर्गन्धयुक्त दस्त और दस्त हो जानेपर भी शंका बनी रहना, ये रूप भासते हैं।

(४) त्रिदोषज अतिसारके लक्षण—इस प्रकारमें मांसके धोवन समान या सूअरकी चरबी सदृश सबके मिश्रित लक्षणोंसहित अनेक रङ्गके दस्त, तन्द्रा, बेहोशी, मंदाग्नि, मुखशोष और तृषा आदि लक्षण हो जाते हैं। चिरकारी मलावरोध या आँतें निर्बल हो जानेपर क्वचित् मल सूख जाता है। फिर मल आँतोंको घिसता हुआ जाता है, जिससे क्वचित् आँतमें व्रण हो जाता है। किसी स्थानपर अन्त्रसंकोच हो जानेसे उसके जहरके हिस्सेमें मल संचित होकर सूख जाता है, फिर आगे जानेपर व्रण हो जाता है। इन हेतुओंसे जो अतिसार होता है, उसे त्रिदोषज अतिसार कहते हैं।

अन्त्रव्रण होनेपर मलके साथ पूय, श्लेष्मल त्वचाके टुकड़े और रक्त निकलता है। सामान्य अन्त्रव्रणमें पीप अधिक नहीं होता। यदि मलमें अधिक पीप हो, तो अन्त्रके किसी स्थानमें अंत्रविद्रधि फूटी है, ऐसा समझना चाहिये। विशेषतः अंतर्विद्रधि अंत्रपुच्छके समीप प्रदेशमें अथवा स्त्रियोंके गर्भाशयके आवरण अथवा गर्भाशय बन्धनिका (Broad Ligament) में होती है। तद्वत् अर्बुद हो जानेसे या गुदनलिकामें विद्रधि होनेपर भी मलमें पीप आता है। मलमें रक्त मिलना और उदरपीड़ा, ये अंत्रव्रणके चिह्न हैं, तथा श्लेष्मल त्वचाके टुकड़े अधिक निकलना, ये विशेषतः तीव्र प्रवाहिकाके लक्षण माने जाते हैं।

इस त्रिदोषज अतिसारके समान डाक्टरीमें अलसरेटिव कोलायटिस (Ulcerative Colitis) है जो बड़ी आंतके भीतर दाह-शोथ होनेपर क्षत होकर हो जाता है। यह रोग बहुधा ३०-४० वर्षकी आयुमें होता है। इस रोगमें बड़ी आँतकी श्लेष्मल त्वचा अनेक स्थानोंसे नष्ट हो जाती है। किसी-किसी

स्थानपर आँत विस्तृत हो जाती है, ऐसा होनेपर उदरव्यथा, कृशता, आध्मान और मंदज्वर सह अतिसार हो जाता है। दस्त पतला, जलसमान, दुर्गन्धयुक्त और क्वचित् रक्तमिश्रित होता है। इन लक्षणोंपरसे यह त्रिदोषज अतिसारका है, ऐसा जाना जाता है।

(५) आमातिसार (म्युकस कोलायटिस (Mucous Colitis)—अपचनके हेतुसे वात आदि दोष प्रकुपित होकर रक्त आदि धातुओंको दूषित कर देते हैं। फिर शूल और आम सहित नाना रङ्गवाले दस्त होने लगते हैं।

आमातिसार और अन्य प्रकारके अतिसारकी चिकित्सामें भेद होनेसे आमातिसारको पृथक् किया है। अन्य अतिसारोंमें ग्राही औषध दी जाती है; किन्तु आमातिसारमें मलको बांधनेवाली औषध नहीं दी जाती। (न तु संग्रहणं पूर्वं देयं सामातिसारिणे) केवल आमपाचनार्थ औषध या एरण्ड तैल आदिका विरेचन दिया जाता है। यदि ग्राही औषध दी जायगी, तो संग्रहणी, आफरा, शूल, गुल्म, शोथ, उदररोग, ज्वर; या रक्तविकार आदि रोगोंमेंसे कोई-न-कोई उत्पन्न हो जाता है।

आमातिसार बहुधा २५ से ४० वर्षकी स्त्रियोंको अधिकतर होता है। इस व्याधिमें आँत बिल्कुल अशक्त हो जाती है। मलके साथ आमके गोले ऐंठन व मन्द-मन्द उदर पीड़ा और आफरा हो जाता है।

(६) शोकातिसार—शोक होनेपर वात और पित्त धातु प्रकुपित होती है फिर बहुत थोड़ा भोजन करनेपर भी चिरमी जैसे रङ्गवाले, पित्त या रक्त-सहित दुर्गन्धयुक्त या दुर्गन्धरहित दस्त अथवा क्वचित् मात्र रक्त गिरना, ये लक्षण प्रतीत होते हैं। इस अतिसारको अति दारुण कष्टप्रद माना है।

(७) भयातिसार—भयके हेतुसे वात आदि धातुयें प्रकुपित हो जाती हैं। फिर तुरन्त पित्तके लक्षण वाला कच्चा (जलमें डूबने वाला), पतला और गरम गरम दस्त होने लगता है।

भयका आघात हृदय, मस्तिष्क, आमाशय, आँत, मलाशय और मूत्राशय आदि अनेक यन्त्रोंपर पहुँच जाता है। पहले हृदयकी गति अति बढ़ जाती है। फिर हृदय और रक्तकी गति शिथिल हो जाती है। मस्तिष्कको हानि पहुँचनेसे स्मरण शक्तिका लोप हो जाता है और बुद्धिविभ्रम हो जाता है। मुखकान्ति निस्तेज हो जाती है। ओजक्षय (न्यूरसथिनिया) के रोगीके समान चेहरा प्रतीत होता है। आमाशयपर असर होनेसे आमाशयिक रस यथोचित नहीं निकल सकता। आंतोंपर आक्रमण होनेसे आंतोंमें आया हुआ अपक्व अन्न आगे

धकेल दिया जाता है। मलाशय और मूत्राशयमेंसे तुरन्त मल मूत्र निकल जाते हैं। फिर बार-बार पतले गरम-गरम दस्त होते हैं; और मूत्र भी बूंद-बूंद टपकता रहता है एवं भयके हेतुसे देह भी निस्तेज जड़-सी हो जाती है।

(८) रक्तातिसार—पित्तातिसार बढ़नेपर अपथ्य पित्तप्रकोपक आहार या विषकृमि आदि अन्य हेतुसे रक्तसहित पतले दस्त आने लगते हैं, उसे रक्तातिसार कहते हैं।

असाध्य लक्षण—अतिसारमें पक्के जामुनके रङ्ग सदृश मल या लाल काला रंगका मल या मांसके धोवनके समान मल या गरमागरम घी, तैल, वसा, मज्जा, वेशवार (मशाले) में मिले हुये जल सदृश, दूध या दहीके समान चिकना मल, या मयूरपूंछके चाँदके समान नाना प्रकारके रंगयुक्त मल, नीला लाल या काला मल, एवं मलमें सड़े हुए मुर्दे सदृश भयंकर दुर्गन्ध आती-हो या मस्तकमें रहनेवाली चर्बी सदृश गन्धयुक्त भारी, अति गरम और दुर्गन्धयुक्त मल हो, साथ-साथ भयङ्कर तृषा, दाह, चक्कर, श्वास, कास, ज्वर, शोथ, गुदापाक, प्रलाप, बेहोशी, हिक्का, अति आफरा, मूत्रावरोध, अरुचि, वमन, पार्श्वशूल, अस्थिशूल; उदरशूल, शक्तिक्षय, शीतल गात्र हो जाना इत्यादि उपद्रव हो गये हों, तो अतिसार रोग असाध्य माना जाता है।

जिस रोगीकी गुदा संकुचित न हो सके, अत्यन्त क्षीणता और अत्यन्त आफरा हो, अग्नि नष्ट हो जाय और गुदापाक आदि उपद्रव हो जायें, उस रोगीको असाध्य जानकर त्याग देना चाहिये।

श्वास, शूल, अति तृषा; शक्ति-क्षय और ज्वर आदि उपद्रव उत्पन्न होनेपर अतिसार बहुधा वृद्ध और बालकोंको मार डालता है।

हाथ-पैरकी उँगलियाँ पक जाना, संधिपाक, मूत्रावरोध और मल अत्यन्त गरम आना, ये लक्षण हों, तो रोगीकी मृत्यु हो जाती है।

जिन अतिसारी, क्षय रोगी या ग्रहणी रोगीके मांस, अग्नि और बलका क्षय हो जाता है, उनका जीना दुर्लभ है।

अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, विसूचिका, कृमि विकार और अजीर्ण रोगमें मल पतला और प्रवाही हो जाता है। किन्तु इन सबके लक्षणोंमें निम्नानुसार अन्तर रहता है:—

(१) आमातिसार	प्रवाहिका
१—मरोड़ी होती है। श्लेष्मल त्वचाके टुकड़े, कीटाणु और दोष नहीं होते। अधिक आम और क्वचित् रक्त मिश्रित मल जाता है।	१—मरोड़ी, दस्तमें आम, श्लेष्मल त्वचाके टुकड़े, सूक्ष्म कृमि, पित्त, रक्त और क्वचित् पीप भी होता है।

२—अनेक रंगका मल।	२—एक प्रकारके रंगका मल।
३—शूल या तीव्र वेदना बनी रहती है।	३—दस्तके पहले शूल। फिर शूल शमन।

(२) आमातिसार	ग्रहणी
१—कारण—रक्त धातु क्षुब्ध होने से लघु आंतके अन्त भागमें आम-संचय।	१—कारण—ग्रहणी कलाकी विकृति होनेपर ग्रहणी रोग होता है।
२—नाना प्रकारके रंगका मल	२—एक प्रकारके रंगका मल।
३—उदरमें तीव्र व्यथा।	३—वेदनाका अभाव।
४—क्षुधा नाश।	४—अग्निमन्द, क्षुधा लगना।

(३) आमातिसार	विसूचिका
१—अनेक वर्णका मल।	१—कीटाणु सह चावलके धोवन के समान मल।
२—तृषा, वमन, दाह, ऐंठन, शीतल देह और मूत्रावरोध, ये लक्षण नहीं होते।	२—भयंकर प्यास, वमन, हाथ-पैरोंमें ऐंठन, मूत्रावरोध, ऊपरसे शीतल देह और भीतर दाह होता है।

(४) कृमि विकारमें पतले दस्त होते हैं किन्तु संख्यामें कम होते हैं। साथमें उबाक और बेचैनी रहती है। नासिका और गुदामें प्रायः खुजली आती रहती है। ये लक्षण अतिसारमें नहीं होते।

(५) अजीर्णमें कचित् अतिसारके समान चावलके धोवन जैसे रंगवाले पतले दस्त हो जाते हैं। किन्तु उसमें दुर्गन्ध भयङ्कर होती है। ऐसा अजीर्ण बहुधा विसूचिकाका पूर्वरूप होता है। जिससे उसमें उबाक, वमन, बेचैनी, प्यास आदि लक्षण भी प्रतीत होते हैं। ये लक्षण अतिसारमें नहीं होते।

इनके अतिरिक्त प्रवाहिका, ग्रहणी, अर्श, रक्तातिसार और अधोरक्तपित्तमें गुदा द्वारसे रक्त गिरता है। उसका भी विवेकद्वारा निर्णय हो सकता है। प्रवाहिका और ग्रहणीमें रक्त गिरता है, तब मरोड़ी आती है; रक्तातिसारमें मरोड़ी नहीं आती। अर्शमें प्रायः मलावरोध रहता है; एवं पहले या पीछे रक्त गिरता है। रक्त-पित्तमें भी ऐसा होता है; किन्तु रक्तातिसारमें रक्त आदि और मल, ये सब एक साथ गिरते हैं।

मल-परीक्षा—अतिसार रोगमें चिकित्सा करनेसे पहले मलकी परीक्षा करनी चाहिये। यदि मल दुर्गन्धयुक्त तेसदार है; और जलमें डालनेसे डूब

RIGHT LATERAL LINE
Hypochondriac
Epigastric
Hypochondriac
Transpyloric plane
Lumbar
Umbilical
Lumbar
Transtubercular plane
Iliac
Hypogastric
Iliac
Left lateral line
MEDIAN PLANE

उरोगुहा और उदरगुहा
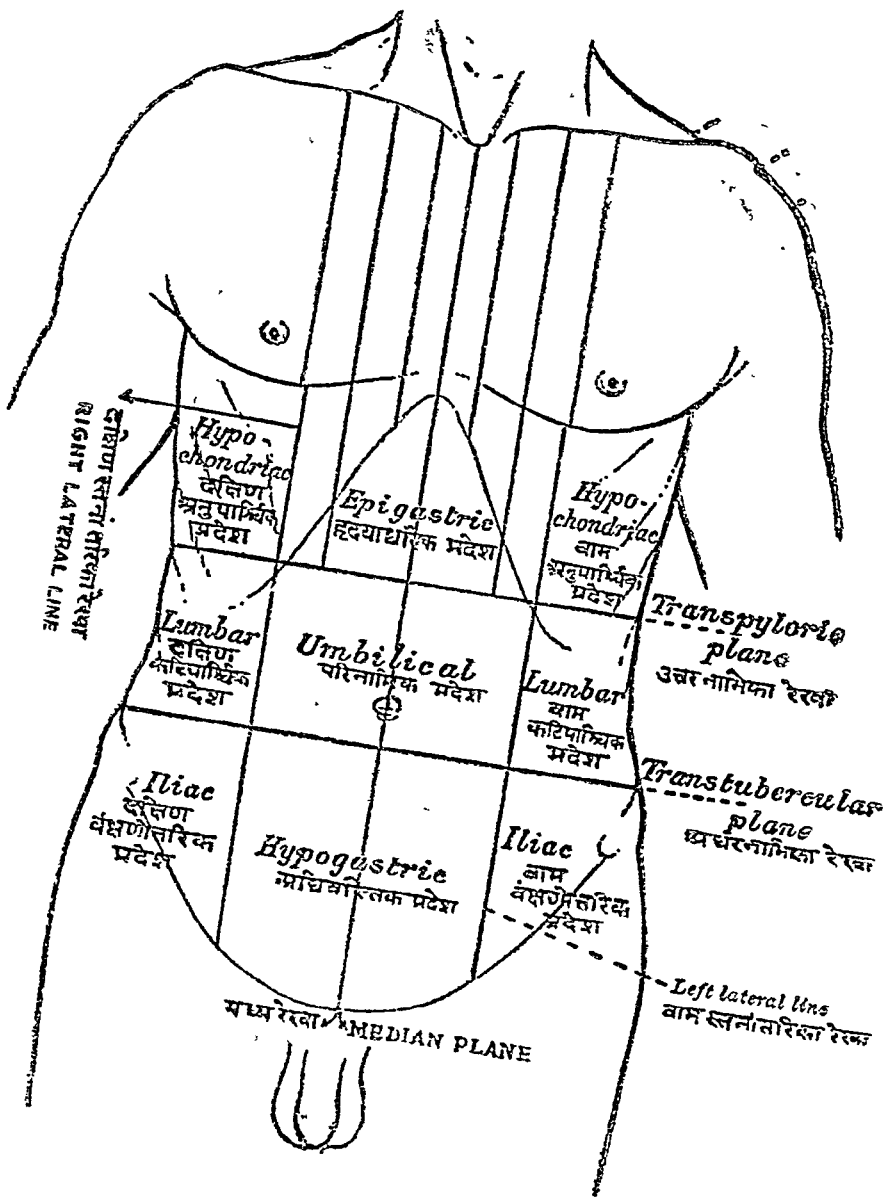
जाता है, तो कच्चा; तथा जलपर तैरता है, तो पक्का है, ऐसा बहुधा माना जाता है। परन्तु अनेक बार अति पतला मल होनेसे कच्चा होनेपर भी जलके ऊपर रह जाता है; और कफसे दूषित पक्का होनेपर भी नीचे बैठ जाता है। अतः दुर्गन्ध आदि अन्य लक्षणोंको मिला करके ही विचार करना चाहिये।

अतिसारके डाक्टरी निदान आदि।

इस रोगके डाक्टरीमें मुख्य ३ विभाग हैं—१. मूलभूत (प्राथमिक); २. गौण और ३. विशेष प्रकारका। चिकित्साकी सुविधाके लिये पुन. आशुकारी और चिरकारी विभाग होते हैं।

निदान-मूलभूत अतिसार (Primary Diarrhoea) के हेतु निम्नानुसार माने गये हैं—

१. भोजन विकार—अत्यधिक अपथ्य अथवा कीटाणुमय भोजन, यह सामान्य कारण है। इसके अतिरिक्त विशेषतः बालकोंका स्वभाव भी; अधिक और बार-बार खिलाना है।

२. मलावरोध—मलकी तीव्र रेचक या सारक औषधका बार-बार सेवन।

३. जलवायु या ऋतु परिवर्त्तन—इनमें बच्चोंके लिये कीटाणु कारण हो सकते हैं। शीत लगना अथवा प्रसेक जनित लघु अन्त्रप्रदाह।

४. रासायनिक उत्तेजना—पारद या मल्ल प्रधान औषध सेवन।

५. अन्त्रस्रावकी उत्पत्ति और शोषणमें परिवर्त्तन।

६. वात नाड़ियोंका क्षोभ—विविध प्रकारकी मानसवृत्ति शोक, भय आदि।

निदान-गौण (लक्षणात्मक Secondary)—अतिसारके हेतु निम्नानुसार हैं—

१. विशेष प्रकारके संक्रामक कीटाणुओंका अन्त्रपर आक्रमण। यथा—मधुरा आदि कितनेही रोग, प्रवाहिका, विसूचिका तथा इनके अतिरिक्त सेन्द्रिय विषप्रकोप (Septicaemia)।

२. अन्त्र अथवा उसके समीपवर्त्ती स्थानोंकी व्याधि। यथा-कर्कस्फोट, क्षय, चिरकारी उदर्य्याकला प्रदाह, बार-बार मलावरोध हो जाना।

३. चिरकारी रक्त संचालन क्रियामें प्रतिबंध—प्रतिहारिणी सिरा (Portal-vein) में रक्तसंग्रह यकृद्दाल्युदर या हृदय और फुफ्फुसकी चिरकारी अरुचि होनेपर बार बार दुर्दम्य अतिसार होता रहता है।

४. पहलेका अवशेष विकार—बृहदन्त्रकी उग्रता अथवा आमातिसार जनित।

५. विष संग्रह जनित—वृक्क संन्यास होना अथवा ग्रैवेयक ग्रन्थिका अत्यधिक

स्राव होते रहना (Hyperthyroidism)।

६. वसापक्रान्ति (Lardaceous Degeneration) जनित अति कचित्।

निदान-विशेष प्रकार (Special types)—इसमें निम्न भेद हैं:—

१. व्रणमय बृहदन्त्र प्रदाह (Ulcerative Colitis)।

२. श्लैष्मिक कलाविकृतिजन्य बृहदन्त्र प्रदाह—इस प्रकारमें अतिसार नियमित नहीं रहता।

चिकित्सा प्रधान प्रकार—१. आशुकारी और २. चिरकारी।

१. आशुकारी अतिसार—इस प्रकारमें रोगकी गम्भीरता, कद और अन्त्रपर प्रभावजनित अनेक लक्षण उपस्थित होते हैं। इस प्रकारमें ३ निम्न विभाग हैं:—

अ. समग्र आमाशय-लघु-बृहदन्त्र प्रदाह (Gastro-Enterocolitis)।

आ. आमाशय क्षुद्रान्त्रप्रदाह (Gastro-Enteritis)—इस प्रकारमें सामान्यतः बृहदन्त्रके ऊपरका भाग भी कुछ पीड़ित हो जाता है।

इ. बृहदन्त्र प्रदाह (Colitis)।

२. चिरकारी अतिसारके निदान—इस प्रकारमें बार-बार पचन-संस्थानके कुछ स्थानिक विभाग स्पष्ट प्रभावित होते हैं। इसमें मुख्य २ विभाग हैं:—

अ. आमाशयके पचनकी विकृति जनित।

आ. क्षुद्रान्त्र प्रदाह—इसमें निम्न उपविभाग हैं:—

A. प्रसेक या प्रदाह-आमाशय-क्षुद्रान्त्र प्रदाहके शमनके पश्चात् प्रसेकका मृदु या शेष असर रह जाना।

B. कर्बोदक, प्रथिन या वसाके चयापचय या शोषणमें क्रियाका ह्रास।

१. कर्बोदक—अन्त्रमें कर्बोदकजनित अजीर्ण।

२. प्रथिन—कीटाणुओंकी विक्रियासे दुर्गन्धमय अतिसार होता है।

३. वसा—उदर गुहामें (Coeliac) व्याधि, स्वाभाविक वसा-ग्रन्थियोंका अधिक स्राव (Idiopathic steatorrhoea) संग्रहणी, अग्न्याशयके रोग आदिसे एवं नियमित कालमें वमन विकृति (Cyclical Vomiting), आधासीसी आदिसे शोषण क्रियामें विकृति।

इ. बृहदन्त्र विकारजनित अतिसार—१-चिरकारी प्रसेक; २-व्रणमय; ३-प्रवाहिका; ४-बिल्हार्जिया (कृमिरोग); ५-विषमज्वर; ६-विद्रधि; ७-क्षय।

ई. वातनाड़ी प्रकोपक अतिसार।

अनुसंधान (Investigate)।

१. लक्षण और कारण अनुरोधसे सामान्य परीक्षा।

२. मलके रंग, प्रतिक्रिया, गाढ़ापन, मलपदार्थ, गैस, आम (रंजित या रंग रहित), रक्त, पूय, कृमिके अण्डे (Ova) तथा कीटाणुका निरीक्षण करना चाहिये। अपाचित, रेखा चिह्नित, स्नायुतन्तु, पिष्ट और वसाको भी देखना चाहिये।

३. मलकी कीटाणुप्रधान परीक्षा।

४. गुदनलिकाकी परीक्षा।

५. क्षकिरणद्वारा चित्र उतारना और बृहदन्त्र कुण्डलिका दर्शक यन्त्रसे परीक्षा करना।

अ. आमाशय अन्त्रप्रदाह (Gastro Enterocolitis)—पचनसंस्थानका समग्र मार्ग प्रभावित हो जाता है। जिससे त्रिविध गम्भीरतायुक्त अतिसार और वमन उपस्थित होते हैं। गम्भीर स्थिति होनेपर आशुकारी बृहदन्त्र प्रदाह (आमातिसार), वमन, क्षुधानाश और मललिप्त जिह्वा आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। यह शीघ्र क्लेशदायक बनता है। सर्वदा रोगमुक्ति होती है; किन्तु क्षीणता आती है एवं सामान्यतः चिरकारी क्षुद्रान्त्रप्रदाह या बृहदन्त्रप्रदाह अवशिष्ट रह जाता है। चिकित्सा आशुकारी आमातिसारमें लिखे अनुसार करनी चाहिये।

आ. आमाशय क्षुद्रान्त्रप्रदाह (Gastro Enteritis)—इस प्रकारमें मुख्यतः आमाशय और लघु अन्त्र व्यथित होते हैं। बृहदन्त्रके ऊपरका हिस्सा भी शेषान्त्रकके सम्बन्धसे उत्तेजित हो जाता है। यह प्रकार आमाशय अन्त्र प्रकारके सदृश किन्तु अपेक्षाकृत सौम्य होता है, किन्तु जब वह आदर्श-लक्षणात्मक हो तब शूल सदृश वेदना (यह विशेषतः मलकी गतिसे सम्बन्धवाला नहीं होता), गहरा हरा और सम रचनायुक्त मल, कुछ आम घनिष्ठरूपसे मिश्रित और पित्तसे रञ्जित होना, ये लक्षण भासते हैं। इसमेंसे सामान्यतः चिरकारी क्षुद्रान्त्र प्रदाह शेष रह जाता है। इसकी चिकित्सा आशुकारी आमातिसारके समान होती है।

इ. आमाशय विकृतिजन्य अतिसार (Gastrogenous Diarrhoea)—आमाशयमें आहार अपाचित रहनेपर लघु और बृहदन्त्र पीड़ित होते हैं। फिर दोनोंके प्रदाहकी वृद्धि होती है। आमाशय स्रावमें लवणाम्लका ह्रास (Hypochlorhydria) या अभाव होना (Schorhydria) अथवा कृत्रिम छिद्र द्वारा आमशयमेंसे अन्त्रमें मार्ग होना (Gastro-Enterostomy) आदि हेतु होते हैं। इसकी चिकित्सा लवणाम्ल स्राव बढ़ानेके लिये की जाती है। इसमें आयुर्वेदके लवणभास्कर चूर्ण आदि उत्तम औषधियाँ मानी गई हैं।

ई. प्रसेक जनित क्षुद्रान्त्र प्रदाह (Catarrhal Enteritis)-आमाशय क्षुद्रान्त्र प्रदाहके दमन हो जानेके पश्चात् मुख्यतः लघु अंत्रपर सौम्य आक्रमण होता है या अवशिष्ट विकार उपस्थित होता है। फिर उष्ण वातावरणमें शीत लगता है। सामान्यतः यह रोग शीतोष्ण कटिबंधमें होता है। (कभी-कभी सौम्य प्रवाहिकाके कीटाणु—Flexner का आक्रमण हो जाता है) ।

लक्षण—बार-बार सविराम । जब यह उपस्थित होता है, तब बारम्बार गम्भीर अवसादकता, थकावट और मल घनीभवनका ह्रास आदि प्रकट होते हैं। इनके अतिरिक्त उदरमें दर्द होना, कभी-कभी शूल चलना (किन्तु किसी एक स्थानमें नहीं एवं इसका सम्बन्ध सीधा आहार अथवा मलकी गतिके साथ न रहना), वेदना, क्वचित् तीक्ष्ण होना, सामान्यतः उदर स्फीत और दबानेपर वेदना होना, अतिसार मंद रहना या कभी अभाव होना, बारम्बार उपस्थित होना और मलावरोध होना, कभी आफरा आना; कभी दूर हो जाना, उदरमें भारीपन रहना किन्तु डकार न आना, जिह्वा साफ रहना तथा क्षुधा योग्य लगना (केवल उदरमें बेचैनी होनेपर अभाव) आदि लक्षण भी उपस्थित होते हैं।

चिकित्सा—प्रतिरोधक उपचार करना चाहिए। इस प्रकारमें शय्यामें विश्राम लेनेकी आवश्यकता क्वचित् ही रहती है। विशेषतः श्रम और व्यायामसे प्रकृति सुधरती है। शीतल प्रयोगको छोड़ देना चाहिए।

जिह्वा साफ रहे ऐसा लघु भोजन करना चाहिए। उदरपर गरम वस्त्र बांधना चाहिए। आवश्यकता अनुसार सौम्य सारक औषध (लवण प्रधान) प्रति दिन ले लेनी चाहिए।

इस रोगमें पहले आवश्यकता हो, तो कीटाणुनाशक और वातघ्न उपचार करें फिर ग्राही औषध देवें। डाक्टरीमें पहले बिस्मथ सेलीसिलेट देते हैं। फिर चाक मिश्रण (Pulv. creatae Aromaticus) या कभी चाक अफीम मिश्रण देते हैं। एवं निम्न मिश्रणका भी उपयोग करते हैं—

एसिड सल्फ्युरिक एरोमेटिक-Acid Sulph. Arom- १० बूँद
टिंचर क्लोरोफार्मि एट मोर्फिन Tin. chloroformi-
et Morphin Co. ५ बूँद
एक्वा क्लोरोफार्म-Aq.chloroform ad. १ औंस

सूचना—अफीम और अफीम सत्व प्रधान औषध वेदना अधिक होनेपर आवश्यकता अनुसार सम्हाल पूर्वक देनी चाहिए।

उ. कर्बोदक जनित अन्त्रगत अजीर्ण (Intestinal Carbohydrate Dyspepsia)-इस प्रकारमें लघु अन्त्रके भीतर पैष्ठका पचन और कर्बोदकका

शोषण योग्य नहीं होता। फिर बृहदन्त्रमें कीटाणुओं द्वारा खमीरोत्पत्ति होती है। इससे गैस, अतिसार और वेदना उपस्थित होते हैं।

लक्षण—बृहदन्त्रके प्रसारणके हेतुसे उदरमें वेदना और भारीपन, कभी कभी यह कष्ट भोजनके बाद अधिक होना, रात्रिको गम्भीर आफरा, निद्रानाश, दिनमें अन्त्रके प्लीहास्थानके मोड़पर गैसके हेतुसे स्फीति (इसका आमाशयके आफरेके अनुकरण रूप होना) मल अम्ल, उग्र और गैसके हेतुसे झागमय होना, अतिसार होनेपर बार-बार दस्त लगना, मलमें अपाचित आहार निकलना, अणुवीक्षण यन्त्रसे परीक्षा करनेपर पैष्ट कण, सामान्यतः वसा अधिक न होना या मांसरज्जुसे चिह्नित न होना, क्ष किरणसे चित्र लेनेपर लघु अन्त्रके भीतर शीघ्र गमन प्रतीत होना आदि चिह्न उपस्थित होते हैं।

चिकित्सा—कुछ दिनों तक बिछौनेपर लेटे रहना चाहिए। शक्करके अतिरिक्त कर्बोदक नहीं देना चाहिए। भोजनमें चाय, कॉफी, शक्कर, मक्खन, क्रीम, मुरब्बा, अण्डे आदि। पथ्य पालन करनेपर सामान्यत शीघ्र सुधार होता है।

उपचार होनेपर पैष्टमय शाक या फल नहीं देना चाहिए। विटामिन C प्रधान फल देवें। जैसे संतरेका रस। बस्तिका उपयोग हितकर नहीं है।

ऊ. विगलनमय अतिसार (Putrefactive Diarrhoea)—इस प्रकार में लघु अन्त्रके भीतर प्रथिनका पचन ठीक नहीं होता। कीटाणुओंका प्रभाव बृहदन्त्रमें होनेसे विषोत्पत्ति होकर अतिसार, वेदना और विषप्रकोप (Toxaemia) उपस्थित होते हैं। आमाशयरसमें लवणाम्ल (Acid Hydrochloric) का अभाव हो जाता है।

लक्षण-उपर्युक्त कार्बोदक जनित अजीर्णके समान बेचैनी और उदरविकार दर्शक लक्षण उपस्थित होते हैं। उदरमें कष्टप्रद वायुका संग्रह होता है। दस्त गहरे रंगका, सम क्षाराम्ल, पतला और कष्टदायी होता है। विष लक्षण भी प्रकट होते हैं; जैसे कि मुखमण्डल निस्तेज; जिह्वा दानेदार, शुष्क त्वचा, क्षुधानाश आदि। देहका वजन घट जाता है।

चिकित्सा—बिछौनेपर आराम करें। दो दिन तक शक्कर, ग्लूकोज और प्रवाही भोजन लेवें। सामान्यतः दूध २-३ पिण्ट देवें। आयुर्वेद मतानुसार मट्ठा हितकर है या बकरीका दूध कार्बोदक धीरे-धीरे अधिक बढ़ावें।

ए. आशुकारी प्रसेकज बृहदन्त्रप्रदाह (Acute Catarrhal Colitis) यह रोग सब प्रकारसे गम्भीरता दर्शाता है। सौम्य प्रकार होनेपर सामान्य अतिसार कहलाता है। मल पतला होता है। गम्भीर प्रकारमें बृहदन्त्र प्रदाहके

लक्षणोंके समान व्रणमय लक्षण भासते हैं। इस रोगमें बृहदन्त्रकी श्लैष्मिक कलाका प्रदाह और अपक्रान्ति होती है एवं श्लेष्मस्राव अधिक होता है।

लक्षण—सामान्य गम्भीरतावाले रोगीमें-अकस्मात् आक्रमण, शूलसह उत्तेजना होना, बहुधा कुछ दिन पहलेसे कष्ट होते रहना, यदि भोजन गुरु हो, तो आक्रमण कालमें वमन होना, कभी-कभी उत्तापवृद्धि (ज्वरातिसार), वेदना, विशेषत: मलत्याग कालमें किनछना, उदर-स्फीति और दबानेपर कुछ वेदना होना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

चिकित्सा—गम्भीर प्रकारमें व्रणमय बृहदन्त्रप्रदाहके समान उपचार करना चाहिये। सामान्य प्रकारमें निम्नानुसार उपचार करें।

ज्वर और निर्बलता हो, तो बिछौनेमें आराम करना चाहिए, जब तक उत्ताप स्वाभाविक और दस्त गाढ़ा न हो तब तक हाथ पैरोंको उष्ण रखें।

रोग तीव्र हो, तो भोजनमें चूनेका जल मिला हुआ दूध देवें। आयुर्वेदमें बकरीका दूध या मट्ठा मक्खन निकाला हुआ दूध या एल्व्युमिन वॉटर, सौम्य प्रकार हो, तो थोड़ा-सा शीतल पेय आदि देवें। गर्म भोजन और कठोर भोजनका त्याग करावें।

उत्तेजना और प्रदाहको दूर करनेवाली औषध देनी चाहिये। प्रारम्भमें एरण्ड तेल शोधनार्थ देवें। अति वेदना हो, तो अफीमका अर्क मिलावें। एरण्ड तेल आक्रमणके १२ से २४ घण्टोंके भीतर दिया जाता है, जब तक दूषित मल अन्त्रमें हो या अपचन हो। इससे पहले मल बाहर फेंका जाता है और फिर ग्राही गुण दर्शाता है।

अतिसारके शमन और अन्त्रकी परिचालन क्रियाका ह्रास २४ घण्टोंके पहले कराना, यह हितकर नहीं माना जायगा। इस हेतुसे डाक्टरीमें अफीम मिश्रणका चूर्ण या निम्न बिस्मथ मिश्रण दिया जाता है :—

बिस्मथ ओक्सीकार्ब Bismuth Oxycarb	२० ग्रेन।
टिंक्चर क्लोरोफार्म मोर्फिन कम्पा Tinct. Chlorofotm et Morphinae Co.	१० बूंद।
एक्वा क्लोरोफार्म Aq. Chloroform ad	१ औंस

४ से ६ मात्रा प्रतिदिन देते रहना चाहिये।

विशेष उपचार—वेदना हो, तो उदरको उष्ण रखें। मुँहसे अफीम देवें; किन्तु गम्भीर शूल या आक्षेप हो, तो मात्र एक बार अन्त:क्षेपण करें।

वमन हो, तो वर्फ चूसनेको देवें और अर्द्ध पाचित दूध बर्फसे शीतल करके देवें।

आफरा और स्फीति हो तो वातहर औषध अजीर्ण रोगपर लिखी हुई हींग आदि और तार्पिनकी बस्ति आदि उपचार करें।

उत्तेजना अधिक हो तो डाक्टरीमें अवसादक औषध शेम्पेन, ब्रांडी आदि बर्फ मिलाकर देते हैं।

स्वास्थ्योन्नति—जैसे-जैसे रोगबल घटेगा, वैसे-वैसे अतिसार और वेदना का ह्रास होता है। फिर आहारकी वृद्धि करें। गरस भोजन, मैदा और यूष आदिका त्याग करें।

ऐ. चिरकारी प्रसेकजनित बृहदन्त्र प्रदाह (Chronic Catarrhal Colitis)—इस प्रकारकी प्राप्ति होनेपर गम्भीरता विशेष अंशमें दमन हो जाती है। इसका आरम्भ आशुकारी बृहदन्त्र-प्रदाहके शमनके पश्चात् अवशेषसे होता है। कभी-कभी आशुकारी अवस्थाएँसे ही जीर्णावस्थाकी प्राप्ति हो जाती है। यह स्वास्थ्यको विशेष हानि न पहुँचाते हुए और मृदु विरेचनका उपयोग किये बिना कितनेही मासोंसे अतिसारमें गुप्त रूपसे वृद्धि करता रहता है। कभी-कभी वर्षों तक मृदु अवस्थामें रहता है। कभी गम्भीर आक्रमण करता है, तब व्रणमय बृहदन्त्र प्रदाहके लक्षण उपस्थित होते हैं।

लक्षण—सामान्य बढ़े हुए निम्न उदर प्रदेशमें कुछ वेदना, दस्त लगनेपर वेदना कम होना, उदर प्रदेश शिथिल, कुछ नरम, कभी उदर नरम रहना, दस्त २ से ६ तक या अधिक पतले; पीले और आममिश्रित लगना, जिह्वा स्वच्छ, क्षुधा अच्छी लगना, गम्भीर आक्रमण होनेपर, देहका वजन घट जाना तथा गम्भीर उत्तेजनाका चिह्न वमन आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

बृहदन्त्रके प्रदाहमें उपान्त्र भी प्रभावित हो जाता है। यदि आशुकारी या स्पष्ट हो, तो शस्त्र-चिकित्साका अवलम्बन लेना पड़ता है; किन्तु सामान्यतः बृहदन्त्र प्रदाहमें उतनी प्रगति नहीं होती।

चिकित्सा—गम्भीर उत्तेजना होनेपर आशुकारी प्रकारके समान चिकित्सा करनी चाहिये। मलावरोधके लिये बीचमें भी पेराफिन लिक्विड या एरण्ड तैल दे सकते हैं, या वस्ति देवें।

कच्चा शाक नहीं देना चाहिये। फल देना हो, तो छालोंको निकालकर देना चाहिये।

ओ. कितनेही विशेष प्रकार—

इस प्रकारमें ४ मुख्य हैं—१. अभिषंगज; २. प्रतिफलितात्मक, ३. प्रातःकालीन, ४. ऊष्माजनित।

१. अभिषंगज (Nervous Diarrhoea)—कितनेही मनुष्योंको भय, शोक आदिका मानसिक आघात होनेपर वातनाड़ियोंमें क्षोभ होकर अकस्मात् पतले दस्त लगते हैं। यह नियमित वातनाड़ीसे सम्बन्ध वाला नहीं है। यह केवल क्लेशप्रद है, इसका कोई व्याधिरूप असर नहीं होता।

चिकित्सा—मानस प्रवृत्तिके प्रतिरोधके लिये शिक्षा देवें। मनको प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करें। ब्रोमाइड, बेलाडोना (सूर्चा बूटी या राजधतूरा) का प्रयोग करें। सामान्यतः स्वास्थ्य संरक्षणार्थ प्रयत्न करें।

२ प्रतिफलित क्रियाजन्य अतिसार—(Lienteric Diarrhoea)—इस प्रकारमें भोजन कर लेनेपर तुरन्त नियमित रूपसे दस्त आता है। आमाशय और अन्त्रकी सामान्य प्रतिफलित क्रियाका अतिरिक्त दबाव होनेसे इस तरह भोजनके पश्चात् दस्त लग जाते हैं। यह बालकोंमें अत्यन्त सामान्य है। इसका मूल आधार वातनाड़ीपर है। आमातिसार शमन हो जानेपर भोजनके बाद इस तरह दस्त लगते रहें तो आग्रहपूर्वक सम्हाल रखनी चाहिये।

चिकित्सा—अभिषंगज प्रकारके अनुसार।

३. प्रातःकालीन अतिसार (Morning Diarrhoea)—प्रातःकाल उठते ही दस्त आता है। (यूरोपियनोंमें प्रातःकाल बिस्कुट, चाय आदि लेनेपर शौच जानेका रिवाज है) भारतीयोंमें प्रातःकाल शौच शुद्धि हो जाय, वह उत्तम माना है; किन्तु वह स्वाभाविक होना चाहिये। अस्वाभाविक होनेपर उसे रोग कहा जायगा) कभी-कभी यह सामान्य हो जाता है। इसके कारण रात्रिको विशेषतः शराबके साथ भारी भोजन, निद्रानाश बृहदन्त्रका अर्बुद (Carcinoma), जीर्ण क्षुद्रान्त्र प्रदाह है।

४. ऊष्माजनित (Fireman's Cramp)—यह विकार विशेषतः एञ्जिन या भट्टीमें लकड़ी डालनेवालोंको हो जाता है। कभी अन्योंको और कभी सूर्यके तापमें भ्रमण करनेवालोंको भी होता है। बार-बार जल-सदृश पतले दस्त लगते हैं। साथमें शक्तिपात तथा मांसपेशियोंका गम्भीर आक्षेप (बांयटे) आना, ये चिह्न भी भासते हैं। लक्षण लगभग विसूचिकाके सदृश उपस्थित होते हैं। इस प्रकारमें प्रस्वेदद्वारा क्लोराइड क्षार कम हो जाना, यह हेतु है।

चिकित्सा—क्लोराइड क्षार देना चाहिये और आक्षेपशामक उपचार करना चाहिये।

अन्त्रगत क्षतोत्पत्ति।

(Ulceration of the Intestine)

इस प्रकारमें अन्त्रके भीतर व्रण (क्षत) उत्पन्न होते हैं। इसमें ८ प्रकार हैं—१. शेषान्त्रक स्थली क्षत; २. विशेष संक्रामक व्याधि; ३. क्षतमय बृहदन्त्रप्रदाह; ४. उण्डूकप्रदाह, ५. पिटिका प्रधान क्षतोत्पत्ति; ६. अर्बुद; इनके अतिरिक्त ७. विजातीय द्रव्य (शल्य) जनित व्रण, ८. सामान्य सूक्ष्म छिद्रमय क्षत आदि प्रकार होते हैं।

१. शेषान्त्रक स्थली क्षत (Meckel's Diverticulum)-शेषान्त्रक स्थली २-३ प्रतिशत मनुष्योंमें होती है। उसकी श्लैष्मिक कलामें क्षत हो जाता है।
२. विशेष संक्रामक व्याधिके उपद्रव रूप—मधुरा, प्रवाहिका, क्षय, उपदंश और बिलहार्जिया (Biiharzia) कृमि आदि से।
३. क्षतमय बृहदन्त्र प्रदाह—(Ulcerative Colitis)।
४. उण्डूक प्रदाह (Diverticulitis)।
५. पिटिका प्रधान क्षतोत्पत्ति (Follicular ulceration)—यह बालकोंमें अधिक होती है। कभी गौण और कभी अतिसारके अन्तमें मूत्रविष-प्रकोप (Uraemia) होनेपर उपद्रवरूपसे उपस्थित होती है। इस प्रकारमें तीक्ष्ण सीमासह छोटे क्षत होते हैं। कभी छिद्र नहीं होते। इसका कोई विशेष लक्षण भी नहीं है।
६. नववर्द्धन (Neoplasms)—अस्वाभाविक नयी ग्रन्थि या अर्बुद होना। यह विकार विशेष परिमाणमें होता है।
७. शल्यज व्रण (Foreign bodies extrancous abscess)—चांदीकी दुअन्नी, बेरकी गुठली आदि खा लेनेपर होता।
८. सामान्य सूक्ष्म छिद्रमय क्षय (Simple perforating ulcer)—यह विशेषतः मध्यान्त्रक, उण्डुक या बृहदन्त्रमें अति क्वचित् एकाकी होता है।

लक्षण—इन क्षत प्रकारोंके हेतुसे अतिसार उत्पन्न होता है; तथा उदरमें वेदना या शूल चलना, बृहदन्त्रपर दबानेसे वेदना होना, किंछना, गुदासे रक्त-स्राव, मलमें आम, पूय और तन्तुओंके टुकड़े मिलना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। इन सबका विशेष विचार प्रत्येक रोगोंके साथ यथा स्थान किया जायगा।

बृहदन्त्र क्षत (आमातिसार)।
(Ulcerative Colitis)

जब बृहदन्त्रकी प्रदाहावस्था बढ़ जाती है, तब क्षत हो जाते हैं। आशुकारी बृहदन्त्र प्रदाह और आशुकारी प्रवाहिकासे कभी-कभी कुछ ही दिनोंमें मृत्यु हो जाती है। इन दोनों रोगोंमें अन्त्रकी श्लैष्मिक कला शोथमय रक्त ग्रस्त हो जाती है। शिगेला कीटाणु जनित प्रवाहिका (Bacillary dysentery) में वर्षों तक बृहदन्त्र क्षत रह जाते हैं। आशुकारी बृहदन्त्र प्रदाहकी वृद्धि होनेपर उसके सदृश क्षत होते हैं। बृहदन्त्र क्षत, यह कितनी ही गम्भीर स्थितियुक्त प्रसेकज बृहदन्त्र प्रदाह है।

निदान—इस तरहकी बृहदन्त्र-विकृतिके हेतु अभी अज्ञात हैं। कोई विशेष कीटाणु नहीं हैं। शिगा (Shiga) और फ्लैक्सनर (Flexner) कीटाणु

इसके सदृश आशुकारी अवस्था निर्माण कर सकते हैं; किन्तु वे इस रोगकी उत्पत्तिका यथार्थ कारण नहीं है। सोनीके कीटाणु (Sonne's bacillusshigella की एक जाति) का अभी निर्णय नहीं हुआ; किन्तु वे क्वचित् ही उपस्थित होते हैं। प्रवाहिकाके उत्पादक नहीं हैं; ऐसे कीटाणु कभी-कभी रोगी के रक्तमें प्रतीत हुए हैं; किन्तु इस रोगके साथ इनका सम्बन्ध सिद्ध नहीं हुआ। वार्जिनका डिप्लो स्ट्रेप्टोकोकस भी स्वीकार नहीं हुआ। कितनेही रोगियोंमें कीटाणुओंका अभाव और विटामिन हेतुरूप होनेका निर्णय हुआ है।

इन्द्रियोंका प्रतिनिधित्व—इस रोगकी सम्प्राप्ति होनेपर इन्द्रियोंकी क्रिया में विकृति आ जाती है और इसके आक्रमण या पुनराक्रमणसे बारम्बार पूर्ववर्ती इन्द्रियोंकी अव्यवस्था प्रतीत होती है; तथापि इन्द्रियोंकी चिकित्सा करने पर रोगकी उन्नति होनेमें कोई असर नहीं पहुँचता।

सम्प्राप्ति—बृहदन्त्र चौड़ा होता है, किन्तु लम्बा नहीं हो जाता। सामान्यतः बृहदन्त्रके भीतर क्षत हो जाते हैं, ये बार-बार अनियमित और विस्तृत होते हैं। क्षतकी सीमापर अन्तर्भरण होता है, किन्तु वह गहरा नहीं होता। अवशिष्ट श्लैष्मिककला मोटी हो जाती है और कितने ही चिरकारी रोगियोंमें मस्से (Polypus) के समान डण्ठलमय मुलायम वर्द्धनयुक्त (Polipoid) बन जाती है। अवगेही और श्रोणिगुहामें अवस्थित बृहदन्त्र और गुदनलिका मात्र बारम्बार अत्यधिक प्रभावित हो जाते हैं। आरम्भिक अवस्था और अति तीव्रावस्थामें श्लैष्मिक कला लाल और प्रदाहयुक्त बन जाती है। उस समय क्षतावस्था मंद होती है।

कभी यकृत्पर व्रण होता है। फिर पूय फैलकर अनेक व्रण बन जाते हैं।

आक्रमणके प्रकार—आक्रमण अकस्मात् अथवा गुप्त रूपसे होता है। निर्णित प्रकार आशुकारी और चिरकारी हैं।

आशुकारी प्रकार—इसका आक्रमण बिल्कुल अकस्मात् होता है और कुछ दिनोंमें शीघ्र प्रगति कर जाता है। विशेषतः इसकी प्राप्ति युवावस्थामें होती है। इसके लक्षण बढ़ते जाते हैं; फिर चिरकारी अवस्थामें परिणत हो जाता है।

चिरकारी प्रकार—कभी इस प्रकारका आक्रमण भी होता है। आशुकारी प्रकारके अन्तमें इसकी प्राप्ति होती है। किन्तु गुप्त भावसे आक्रमण होता है, तब दस्त क्रमशः पतला होता है, अधिक बार आता है। यह स्थिति शनैःशनैः बढ़ती हुई महिनों या वर्षों तक रहती है। फिर गम्भीर रूप धारणकर लेता है।

आशुकारी अवस्थाके लक्षण—इसका आक्रमण होनेपर उदरमें वेदना और शौच जानेका वेग उपस्थित होनेसे कई रोगी निद्रामेंसे जाग जाते हैं। कितनेकोंमें इसका आरम्भ प्रायः सामान्य अतिसारके समान होता है; फिर कुछ दिनोंमें शीघ्र उन्नति हो जाती है।

अन्त्र रिक्त हो जानेपर मल अति कम मल द्रव्य युक्त, पतला तथा अत्यधिक परिमाणमें होता है। आक्रमणके समय बहुधा होता है; वह भी अति परिमाणमें, तेजस्वी, रक्त वर्णका होता है; किन्तु रक्तमिश्रित काला मल (Melaena) कदापि नहीं होता।

बारम्बार वेदना गम्भीर होती है, किन्तु प्रारम्भिक अवस्थामें दस्त हो जानेपर शमन हो जाती है। आक्रमण कालमें १-२ बार वान्ति हो जाती है। शारीरिक उत्ताप ९९° से १००° तक बढ़ जाता है। २४ घण्टोंमें १०-२० बार शौच होती है।

लक्षण वेग पूर्वक बढ़ते हैं। विविध गम्भीरता वाली स्थिति भासती है। इसके कल्पित दो विभाग कर सकते हैं। अति गम्भीर और सामान्य गम्भीर, शिगा कीटाणुजनित प्रवाहिकाके ठीक समान होते हैं।

इस रोगका शीघ्र संशमन नहीं होता। वृद्धिके पश्चात् चिरकारी अवस्थामें परिवर्त्तित होता है। इसके समयका आधार यथार्थ चिकित्सापर अवलम्बित है।

चिरकारी अवस्थाके लक्षण—दृढ़ अतिसार होता है, वह क्रमशः शनैः शनैः घटता जाता है। मलावरोध होकर या गाढ़ा मल होकर बीचमें विश्राम नहीं लेता है। दस्त बहुधा मुलायम, काले भूरे रंगका होता है। आम और रक्त भिन्न-भिन्न मात्रा और परिमाण (amount and degree) में संमिश्रित होते हैं, कठोर मलद्रव्य नहीं होता।

आमाशय विकृतिदर्शक लक्षण—उबाक, वमन या आफरा कोई भी नहीं होता। किन्तु प्रतिकूल भोजन मिलनेपर हो सकते हैं। मन्द स्थितिमें क्षुधा अच्छी लगती है और जिह्वा प्रायः साफ रहती है। उदर-रोगदर्शक विशेष लक्षण नहीं दीखता। बृहदन्त्र मृदु होता है। कुण्डलिका प्रदेश स्पष्ट भासमान होता है। पीड़ा क्वचित् गम्भीर हो जाती है; प्रायः नहीं रहती, शूलजनित वेदना और किंछना भी होते हैं। शारीरिक उत्ताप न्यूनाधिक होता है। गम्भीर रूप होनेपर उत्ताप बढ़ता है अन्यथा सामान्य रहता है। पाण्डुता सामान्यतः बढ़ती जाती है।

योग्य सम्हालपूर्वक चिकित्सा चालू रखनेपर बहुधा स्थिति अच्छी रहती है। पूर्ण स्वास्थ्यकी प्राप्ति तो क्वचित् ही होती है। बृहदन्त्र सामान्यत; स्थायी पीड़ित रहता है। आशुकारी उन्नति उपस्थित होती है। अन्यथा क्लेशप्रद बढ़ी हुई थकावटमें अन्त आता है; फिर रोगक्रम परिवर्तित हो जाता है।

मध्यवर्ती अवस्थाके लक्षण—अच्छे आकारका मल गिरता है और आदर्श रूप कम होनेपर उसी दिन रक्त, पूय और आममिश्रित शौच प्रातःकाल जल्दी आता है। लम्बे क्रमके भीतर या सुधारके भीतर ऐसा होता है।

उपद्रव—

१. भगन्दर, गुदापर दरार होना, ये असाधारण नहीं हैं। उपचार कठिन होता है।
२. उपान्त्र प्रदाह—निश्चित या अनिश्चित-सीमा युक्त, स्थान परिवर्त्तन होनेपर बृहदन्त्र प्रदाह (आमातिसार दूर नहीं होता)।
३ मस्से—जीर्णावस्थामें उपस्थित होते हैं। रक्तस्राव स्थायी होता है। घातक भी बन जाता है। गुद-नलिकामें उनके मूलको जला सकते हैं। डाक्टरी में पेक्वेलिनको कोटेरी (Cautery) द्वारा जलाते हैं।
४. प्रणालीका मुड़ जाना (Stricture)—यह विकृति जीर्णावस्थामें रोग-दमन होनेपर होती है। यदि शौच मृदु हो, तो कभी प्रतिरोध होता है।
५ छिद्र होना—यह क्वचित् होता है। सामान्यतः सूक्ष्म छिद्र अनेक हो जाते हैं। इस प्रकारमें मृत्यु-परिमाण विशेष होता है। बृहदन्त्र की ऐसी स्थितिमें अस्त्र-चिकित्सा होनेपर सफलतापूर्वक क्षतिपूर्ति कचित् ही होती है।
६. सन्धिप्रदाह (Arthritis)—यह भी असामान्य नहीं है।
७. अनेक नाड़ी प्रदाह (Polyneuritis)—यह क्वचित् होता है। यह विष-प्रकोप अनेक नाड़ी-प्रदाहक सदृश होता है।

क्रम और भावी परिणाम—सब रोगियोंमें परिणाम विपत्ति लानेके लिये तत्पर रहता है। कुछ वर्षोंमें मृत्यु हो जाती है। मृत्युसंख्या अधिक आती है।

आशुकारी अवस्थामें रोगीकी मृत्यु कुछ दिनोंमें हो जाती है। अत्यधिक रोगी जीर्णावस्थाको प्राप्त होते हैं। जीर्णावस्थाके रोगी योग्य उपचार करते रहनेपर स्वास्थ्यमें उन्नति पाता है। पुनराक्रमण सामान्य है। स्थायी पूर्ण स्वास्थ्य कचित् होता है।

रोग दूर होनेपर मलावरोध सामान्यतः हो ही जाता है।

उदरमें गैससंग्रह (Meteorism) और पक्षवध जनित गम्भीर शूल (Paralytic ileus), ये अन्त्रावरोध उत्पन्न करते हैं। ये दोनों रोग, सर्वदा अशुभ माने गये हैं। इसकी उत्पत्ति मोर्फियाके अवैध उपयोगसे हो सकता है।

रोग विनिर्णय—मलकी परीक्षा केवल नेत्रसे, अणुवीक्षण यन्त्रसे और कीटाणु विद्या अनुसार करनी चाहिये। बृहदन्त्रप्रदाहमें दिन-प्रति-दिन स्थिति कुछ भेदवाली बनती जाती है। चिकित्सा न होनेपर मलावरोध या गाढ़ा मल होनेसे विश्रान्ति नहीं मिलती।

इतिहास प्रायः विश्वास योग्य नहीं माना जायगा। वात नाड़ियोंकी कार्य विकृति (Neurosis) और मलावरोध होनेको प्रमाणित करना चाहिये।

आशुकारी अवस्थाकी प्राप्ति प्रवाहिका और क्षोभोत्पादक विषसे होती है।

रोग विनिर्णय कर उसके अनुरूप चिकित्सा करनी चाहिये। चिरकारी अवस्थामें नव रोगियोंका रोगनिर्णय निम्नानुसार परीक्षापरसे करना चाहिये। इतिहास बार-बार भ्रममूलक मिलता है।

१. श्लैष्मिक कला विकारज बृहदन्त्र प्रदाह, वातनाड़ी कार्य-विकृति, मलावरोध, आमके गोले गिरना आदि लक्षण—चिह्न प्रतीत होते हैं। वे निरीक्षण करनेपर सहज विदित होते हैं।

२. प्रवाहिकाका निर्णय मल, गुदनलिकाकी परीक्षा तथा प्रवाहिकाकी वेदना युक्त स्थानोंमें होना आदिपरसे हो जाता है।

३. बृहदन्त्रमें नववर्धन (Neoplasm of Colon) कभी-कभी इस निर्णयमें कठिनता होती है। कुछ दिनों तक निरीक्षण करना चाहिये। कुण्डलिका प्रदेशमें विकृति होनेपर शौच अनियमित आता है और उसके आकारमें भिन्नता होती है। सच्चा अतिसार नहीं होता। सहज अवरोध होता है। अवरोही अन्त्रमें विकार होनेपर अवरोध अति सरलतासे होता है। आरोही अन्त्रमें विकृति होनेपर वेदना और बेचैनी होती है एवं विस्तृत प्रदेश पीड़ित होता है। उण्डूक पीड़ित होनेपर अर्बुद दृष्टिगोचर होता है तथा स्थानिक असुख होता है। संकोच और अवरोध उपस्थित होनेपर शूल-सदृश वेदना उत्पन्न होती है और लक्षण अपचनकी सूचना करते हैं।

४. क्षयकी प्रथमावस्था—वयस्कोंमें अति कचित् होता है। रोग विनिर्णय अति कठिन होता है। शौच होनेमें अत्यधिक विचित्रता भासती है और मलमें क्षतकीटाणु मिल जाते हैं।

रोग विनिर्णयकी विशेष पद्धति—कुण्डलिकादर्शक यन्त्र और क्ष किरण ये विशेष साधन हैं। क्ष किरणके लिये उसके विशेषज्ञका आश्रय लेना चाहिये। इन साधनोंद्वारा बृहदन्त्रकी स्थिति और क्षतकी उपस्थितिका निर्णय होता है। (इसका सद्भाव या अभाव चिकित्सामें प्रभाव नहीं डालता) एवं नववर्धनके प्रतिबन्धोंका बोध होता है।

सूचना—(१) कुण्डलिका दर्शक यन्त्रके उपयोगमें उस भागको चेतना रहित न करें। पूर्ण सावधानतापूर्वक कार्य करें। इसमें पुनरावृत्ति रूप हानि पहुँचनेका डर है। गुदनलिकाकी सब प्रकारकी उत्तेजनाको दूर करना चाहिये। श्लैष्मिक कला मोटी, लाल, सहज रक्तस्राव होने योग्य और सतहपर आम-युक्त होती है। उत्तान क्षत अनियमित किनारेवाले होते हैं और तल भागपर पूय होता है। अतः सावधान होकर परीक्षा करनी चाहिये।

(२) क्ष किरण परीक्षा आशुकारी प्रकारमें नहीं होती। बृहदन्त्रकी सिल-

वट न होनेपर प्रदेश सीधी नलिकाके समान स्पष्ट प्रतीत होता है; अथवा अनि-यमित खण्ड और आक्षेपयुक्त भासता है। वह विशेष देखाव नहीं है, तथापि रोग निर्णय हो जाता है। बेरियमकी बस्ति कभी-कभी नववर्धनको देखनेके लिये निष्फल हो जाती है। अतः बेरियम-वाला भोजन कम सुविधाकर है।

चिकित्सोपयोगी सूचना।

रोगीके लिये विश्रान्ति, उष्णता और पथ्य (योग्य भोजन) की पूरी आवश्यकता है। बृहदन्त्रकी अतिरिक्त चिकित्साका त्याग करें। सामान्यतः शुश्रूषा सम्हालपूर्वक करते रहें। इसकी चिकित्सा ४ से १२ मास तक करनी पड़ती है। किसी भी प्रकारसे शीघ्र लाभ नहीं हो सकता। इस बातका स्पष्टीकरण पहले कर देना चाहिये। मानसिक विश्रान्ति आवश्यक है।

आशुकारी रोगियोंको विशेषतः देहको शीत न लगनेका—उष्णता रखनेका प्रयत्न करना चाहिये। हाथ-पैरोंपर ऊनी वस्त्र पहनें या रुई लपेट रखें। हाथोंको आच्छादित रखना चाहिये।

आशुकारी स्थितिमें १-२ औंस प्रवाही प्रत्येक २०-३० मिनिटपर देते रहें। अन्य अवस्थामें निकलते हुए प्रवाहीका प्रतिबन्ध करना, उतनी चिकित्सा करनी होती है।

दूध अधिक नहीं देना चाहिये। अंगूर, सन्तरा, अनार आदिका रस हितकारक है। मांस रस देवें; किन्तु मांस नहीं देना चाहिये। विटामिन देनेकी आवश्यकता रहती है।

यदि प्रारम्भके १२ से २४ घण्टोंके भीतर प्रवाहिकाके समान दर्द हो, तो लवण जलद्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

पाण्डुता आई हो, तो लोहभस्म और यकृत् सत्वसे उत्तम परिणाम आता है। इस रोगमें अफीम नहीं देनी चाहिये। आवश्यकतापर बस्तिमें मोर्फिया मिला सकते हैं। इस रोगपर डाक्टरीमें बिस्मिथ सेलीसिलेट, मिक्सचर क्रीटा, सल्फ्युरिक एसिड, एरोमेटिक आदि व्यवहृत होते हैं। चारकोल और केओलिन निर्भय औषधियां हैं।

इस रोगमें विशेष चिकित्सा बस्तिद्वारा की जाती है। अलग-अलग अवस्था में लक्षण भेदसे चिकित्सा-भेद हो जाता है।

बृहदन्त्रकी श्लैष्मिककला प्रदाह (आमातिसार)।

(Muco-membranous Colitis-Mucous Colitis)

बृहदन्त्रकी चिरकारी अवस्था होनेपर मन और वातनाड़ियोंकी क्रियाविकृति, मलावरोध, कभी-कभी आमकी गाँठें आना, ये लक्षण होते हैं।

इसका आक्रमण २० से ४० वर्षकी आयुमें होता है। इसका स्थितिकाल अनेक वर्षों तक है। ५ स्त्री और १ पुरुष इस अनुपातमें यह रोग पाया जाता है। यथार्थमें इस रोगके भीतर बृहदन्त्रमें प्रदाह नहीं होता। श्लेष्मका अधिक स्राव होनेसे आमकी गांठें बन जाती हैं, साथमें मलावरोध होता है, जिससे अन्त्रस्राव द्वारा आमकी गांठें विशेष बँध जाती हैं।

रुग्णाका दिखाव—पतली पाण्डुता युक्त स्त्री, गीली मैली त्वचा, उतरा हुआ मुखमण्डल, मंद क्षुधा, उदरके कुछ भागका पतन और वात-नाड़ी-विकृतिके लक्षण आदि प्रकट होते हैं।

मुक्तावस्था कभी-कभी महीनों तक, स्वास्थ्य क्षीण, मलावरोध बना रहना, आक्रमण होनेपर कुछ दिनोंसे कुछ महीनों तक रहना, विशेषत: आहारकी भूल या मानसिक उद्वेगसे आक्रमण होना आदि लक्षण मिलते हैं।

आक्रमणकालमें लक्षण—दुर्दमनीय मलावरोधसे अतिसारका आक्रमण हो जाता है। फिर शूल, शेषान्त्रकी बांयीं ओर महाखातमें बृहदन्त्र रज्जुके समान प्रतीत होना, सामान्यत: श्लैष्मिक कला कुछ आक्रमणोंके पश्चात् स्थान स्थानपर दूषित होना, किंछना, किसी-किसीको गुदभ्रंश होना, मल आमयुक्त या आमकी गांठें अलग रहना; मल बृहदन्त्रके आकारका गोल गिरना, बाहरसे चिकना, भीतरसे कठोर आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं। त्वचाके उत्तान स्तरके टुकड़े (Epitheliums) कभी नहीं निकलते। गम्भीर रोग बन जानेपर अन्त्रमें से रेतके समान पदार्थ निकलता है।

उपद्रव और सम्बन्धवाले रोग—मन और वातनाड़ियोंके कार्यकी अनियमितता (Phychoneurosis), १० प्रतिशत रुग्णाओंमें श्लैष्मिक कलाके स्राव युक्त पीड़ितार्तव (Membranous dysmenorrhea) तथा सामान्यत: अर्शके मस्से हो जाना। फिर यह रोग दूर नहीं हो सकता।

रोग विनिर्णय—उपान्त्र प्रदाहका भ्रम होता है। आम अधिक गिरना और श्लैष्मिक कलाकी विकृति, ये बृहददन्त्र प्रदाहके अन्य प्रकारोंमें भी होते हैं। कभी-कभी बृहदन्त्र, गुदनलिका, बीज वाहिनी या बीजाशयके कर्कस्फोटमें भी ऐसा ही होता है। उन सब रोगोंके अन्य लक्षणोंपरसे सबको पृथक् करना चाहिये।

साध्यासाध्यता—यह क्लेशप्रद नहीं है। चिकित्सा करनेपर रोगका दमन हो जाता है; किन्तु पूर्ण स्वास्थ्य क्वचित् ही होता है।

चिकित्सा—इस रोगमें चिकित्सा ३ प्रकारसे करनी चाहिए। १-मन

और वातनाड़ियोंके कार्यको नियमित बनाने, २-मलावरोधके स्वभावको दूर करने; और ३-बृहदन्त्रको साफ करनेके लिए।

(१) मन और वातनाड़ियोंको सबल बनानेके लिये बिछौनेपर १-२ सप्ताह या अधिक समय तक आराम करावें। आवश्यकता अनुसार ब्रोमाइड या बेलाडोना देवें।

(२) मलावरोधको दूर करनेके लिए एरण्ड तैल और बस्तिका उपयोग करना चाहिये। उत्तर कालमें मृदु विरेचन, सनाय, पेराफिन लिक्विड दें। यदि किंछना पड़ता हो, तो रात्रिको जैतूनका तेल चढ़ा सकते हैं। उदरको मसलना आदि बाह्य क्रिया आवश्यकता अनुसार करावें।

भोजन सामान्य सरलतासे पचन होता हो, वैसा लेना चाहिये। बीजवाले फलोंका त्याग करें। नियमित आहार, विहार और नियमित व्यायाम करें, बार-बार विरेचन न लें। आवश्यकतापर पेरेफिन लिक्विड निर्भय औषध है। सनायका फाण्ट दे सकते हैं, एरण्ड तैल उत्तम है। उदरपर पट्टा बांधना हितकर है।

सूचना—सब प्रकारकी शस्त्र-चिकित्सा, उपान्त्रपर हो या देहके किसी भी भागमें हो, दुःखप्रद है।

बालकोंका अतिसार।

(Diarrhoea in Children)

इसमें २ प्रकार हैं। १. सामान्य अतिसार; २. जनपदव्यापी या ग्रीष्म कालीन (आशुकारी आमाशय क्षुद्रान्त्र प्रदाह)। इनके अतिरिक्त चिरकारी अतिसारकी प्राप्ति उदर-प्रदेशके रोग और क्षय-कीटाणुजनित क्षुद्रान्त्र प्रदाहमें होती है। उसका वर्णन यहां नहीं किया जायगा।

सामान्य बालातिसार।

(Simple Diarrhoea)

हेतु—१. दूध पिलानेमें भूल, विशेषतः बोतलसे पिलानेमें शक्कर या वसा का अधिक मिलाना (उससे अधिक खमीर होता है) या अधिक दूध या बार बार दूध पिलाना; २. शीत लग जाना, ३. स्वास्थ्यमें विकृति—गंदा दूध, या बोतलकी अस्वच्छता अथवा शुद्ध वायुका अभाव अथवा अस्थिवक्रता (Rickets) रोगके हेतुसे; ४. स्थानिक पाकमय और सार्वाङ्गिक कीटाणु-प्रधान रोग (Septic and General infections)—मध्यकर्ण-प्रदाह, श्वासनलिका प्रदाह आदि।

संप्राप्ति—प्रायः किञ्चित् परिवर्तन होता है। श्लैष्मिक कलामें रक्तसंग्रह और किञ्चित् मोटापन होता है।

लक्षण—आक्रमणके पहले बहुधा व्याकुलता रहती है। फिर उदरमें शूल चलना, पैरोंकी नाड़ियाँ खिंचना और उदरकी कठोरता, किञ्चित् उत्तापवृद्धि, वमन और अतिसार, दिनमें २ से १० बार शौच होना, मल दुर्गन्धमय या खट्टी बासवाला, अपाचित दूध निकलना, आगे अवस्था बढ़नेपर आम गिरना, मलका रंग तेजस्वी पिङ्गल या हरा होना, शक्तिका ह्रास होना, (निर्बल बालकोंमें अधिक शक्तिह्रास) आदि लक्षण भासते हैं।

यह रोग सामान्यत: कुछ दिनों तक रहता है। ग्रीष्मकालमें गम्भीर प्रकार बन जाता है। उत्तर कालमें आमाशयमें कुछ पीड़ा रहती है या पुनराक्रमणकी प्रवृत्ति होती है।

अन्त्रकी परिचालन क्रिया द्रुत होनेसे पित्तरञ्जक द्रव्य निकलता रहता है, इससे मलमें हरा रंग आ जाता है या कीटाणुओंके प्रकोपसे ऐसा परिवर्त्तन हो जाता है।

प्रतिफलित क्रिया जनित अतिसार (Lienteric Diarrhoea)—भोजन करनेपर दस्त आता है। यह विकार सामान्यत: ५-६ वर्षके बच्चेमें चिरकारी होता है। दस्तमें अधिक अपाचित (कच्चा) अन्न निकलता है। योग्य पोषण और सम्हाल न होनेपर कभी-कभी गम्भीर परिणाम आता है। संग्रहणी रोगमें भी बार-बार ऐसा होता है।

देशव्यापी बालातिसार।

(Epidemic Diarrhoea)

इस रोगका कारण कीटाणुओंका आक्रमण होनेकी मान्यता है; किन्तु अभी तक इस बातकी पुष्टि नहीं हुई। प्राय: ६ से १८ मास तक के बालक आक्रमित होते हैं। ग्रीष्म ऋतुमें अत्युष्णता होनेपर यह फैलता है।

सम्प्राप्ति—इस रोगमें श्लैष्मिक कला पतली और मुरझाई हुई हो जाती है। एकाकी लसीका ग्रन्थिकी वृद्धि हो जाती है। अन्य परिवर्त्तन लक्षित नहीं होता। कभी-कभी लाली और छोटे व्रण होते हैं, एवं यकृत् मेदमय और फुफ्फुस प्रणालिका-प्रदाह हो जाता है।

लक्षण—आक्रमण अकस्मात् आक्षेप या मांसपेशियोंका संकोचन सह होता है। वमन होना (कचित् नहीं होती), कितनेही वेगमें होना, पहले मल आना, फिर पतला जल जैसा होना, आम सामान्य निकलना, रक्त कचित्, गुदनलिकाका प्राय: पतन होकर गुदभ्रंश होना, उदरकी वेदनाके हेतुसे पैरोंका ऊपर खिंचना, उदर कड़ा रहना, मुंह सूखना; किन्तु शक्तिपात होनेपर शिथिल

हो जाना, शारीरिक उत्ताप १०३° से १०५° तक, तृषावृद्धि, पेशाब थोड़ा होना, आमाशय प्रदाह होना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

इस रोगमें थकावट और शक्तिपात वेगपूर्वक गम्भीर होते हैं। फिर मुँह उतर जाता है, नेत्र गड्ढेमें घुस जाते हैं। शिर-संपुटके ऊपर गड्ढा होना, त्वचा शुष्क, शीतल, नीली शिरायुक्त हो जाना, गुदामें उत्ताप अधिक रहना, त्वचा शीतल और चिपचिपी होना, व्याकुलता होकर फिर शक्तिपात बढ़ना, मंद-मंद रोना, वमन और अतिसार प्रायः शान्त हो जाना आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

साध्यासाध्यता—शक्तिपात या उत्तापाधिक्य होनेपर कुछ घण्टोंमें मृत्यु हो जाती है। रक्तमेंसे चारका अपचय तेजीसे बढ़ता जाता है। आशुकारी लक्षण होनेपर सामान्यतः २-३ दिनमें शीघ्र सुधार होता है या अनेक बार चिरकारी अवस्थामें रूपान्तर होता है। फुफ्फुस प्रणालिका-प्रदाह हो तो गंभीर होता है।

इस रोगमें मृत्यु-संख्या अधिक होती है।

आराम शनैः शनैः होता है। इस रोगका स्वभाव बार-बार आक्रमण करनेका और चिरकारी अतिसारकी प्राप्ति करानेका है।

विसूचिका प्रधान बालातिसार (Choleraic Diarrhoea-Infantile Cholera)—यह प्रकार उपर्युक्त प्रकारकी भयप्रद अवस्था है। इसमें शक्तिपात अति तेजीसे होता है। मृत्युसंख्या अत्यधिक होती है।

बालातिसार चिकित्सा।

इस रोगकी चिकित्सामें २ प्रकार हैं—रोग-निरोधक और रोगशामक।

रोग-निरोधक उपचार—यह चिकित्सा अति आवश्यक है। अति उष्णता रहनेपर माताका स्तन-पान छुड़ा देना (यह भारतीयोंके लिये उचित नहीं भासता; माताको पथ्य भोजन देकर स्तन्यको रोग शमनमें सहायक बना लेना चाहिये), शीतसे रक्षा करना, दूध पिलानेकी बोतल आदिको पूर्ण स्वच्छ रखना, दूधमेंसे वसाका परिमाण कम करना, अन्त्रकी बाधाओंको हटाना, स्वच्छ वायुका सेवन कराना और सामान्य स्वास्थ्यपर लक्ष्य रखना, इन सबके लिए योग्य सम्हाल रखना चाहिये।

रोगशामक चिकित्सोपयोगी सूचना—आक्रमणकी उत्पत्तिको रोकना, शक्तिपातसे रक्षण करना, विषको रूपान्तरित करना, वमन और अतिसारका दमन करना, इन सबके लिये योग्य लक्ष्य देना चाहिये।

ठण्डीको दूर करें, किन्तु कमरेमें शुद्ध वायु रहनी चाहिये; विशेषतः रोग-वृद्धि होनेपर गरम वस्त्रका उपयोग करना चाहिये। उदरपर फलालिन बांधना चाहिये।

डाक्टरी मत अनुसार भोजनमें १२ से २४ घण्टों तक अल्ब्युमिन वाटर

मात्र देवें। फिर चूनेका जल मिला हुआ दूध देवें। जल देवें वह गरम किया हुआ और बहुत थोड़ी मात्रामें बार-बार देते रहें। १५-१५ मिनटपर १-१ औंस दे सकते हैं। बालक अति सूख जानेपर आवश्यकतापर लवण जल चढ़ाया जाता है।

औषध रूपसे एरण्ड तैल उत्तम है। मोर्फियासे कभी अतिसारका रोध नहीं होता। एरण्ड तैल पहली बार अधिक देवें। फिर कम मात्रामें देवें।

कनकसुन्दर रस, सर्वाङ्गसुन्दर रस या बालातिसार हर चूर्ण देवें। डाक्टरीमें बिस्मथ, कसैली औषध (कत्थेका अर्क) आदि व्यवहृत होती हैं। रोग काबूमें आनेपर डोवर्स पाउडर उत्तम औषध है।

विलूचिका प्रधान विकार होनेपर मोर्फियाका अन्तःक्षेपण किया जाता है। उत्तापवृद्धि होनेपर लवण जल या बर्फ जलका उपयोग करते हैं। वमन बन्द करानेके लिये नलिकासे आमाशयको धो देते हैं। शक्तिपात होनेपर त्वचाके नीचे लवण जल और द्राक्ष शर्करा (४ से १० औंसका) अन्तःक्षेपण बार-बार कराया जाता है। उत्तेजक औषध डाक्टरीमें ब्राण्डी, तथा आयुर्वेदमें संजीवनी सुरा, रससिंदूर, अभ्रक आदि दी जाती है।

अतिसारकी चिकित्सोपयोगी सूचना।

आमातिसारके रोगीको लिटाये रखें, दोष-पचनार्थ पहले लङ्घन करावें, फिर लघु, पाचक आहार देवें। बलवानोंके लिये लङ्घन सर्वोत्तम उपचार है। इस रोगमें औषधकी अपेक्षा पथ्य ही विशेष लाभदायक है। दुर्गन्धयुक्त मल गिरता हो, तो उसे निकालनेके लिए एरण्ड तेल अथवा आमविध्वंसनी वटी का जुलाब देना, यह अति हितकर है अथवा रेवाचीनी दे सकते हैं।

एरण्ड तेलके सेवनसे आमाशय और अन्त्रकी उग्रताका ह्रास होता है, आम और दूषित मल निकल जाता है। फिर ग्राही असर उत्पन्न हो जाता है। यदि वमन होती हो, तो एरण्ड तेल पिचकारी द्वारा चढ़ाना चाहिये।

ईसबगोलकी भूसी ६-६ माशे समान शक्कर मिलाकर रात्रिको दूधके (कब्जमें गोदुग्ध और अतिसारमें बकरी दूध या मट्ठेके) साथ लेते रहें। थोड़ी-थोड़ी भूसी मुँहमें डालकर दूध पीवें। इस तरह ३-४ घूंटके साथ ले लेवें। यह भूसी आँतोंके भीतर मलको फुलाती है। शुष्क चिपके हुए मलको मृदु बनाती है। फिर भीतर चिपके हुए आमको लेकर सब मल बाहर आ जाता है। यह प्रयोग जीर्ण मलावरोधवालोंको अधिक समय तक करना पड़ता है और अजीर्णजनित अतिसारमें थोड़े दिनमें ही लाभ पहुँच जाता है।

यदि आमाशयमें दूषित अन्न शेष है, तो रोगीको पीपल और सैंधानमक मिला हुआ निवाया जल पिलाकर वमन करानी चाहिए। फिर आवश्यकता-

नुसार लंघन, यवागू या यूष और आमपाचक औषधियाँ देनी चाहिए।

रोगीको पीनेके लिये खस, सोंठ और नागरमोथेको जलमें मिला उबालकर शीतल किया हुआ जल देवें।

दस्तमें दुर्गंध हो तब तक भोजन नहीं देना चाहिये। पाचन औषध देनी चाहिये। दस्त सफेद रंगका हो तो यकृत् पित्तका स्राव कम माना जाता है। ऐसी अवस्थामें दूधकी मलाई घी शक्कर नहीं देना चाहिये।

रोगीको किसी प्रकार शीत न लग जाय, यह सम्हालना चाहिये। आवश्यकता हो तो उदरपर गर्म वस्त्र बांधना चाहिये।

बालकोंके रोगमें अतिसार प्रारम्भमें प्रबल होता है। अतः उसे केवल जल पर १२ घण्टे रखा जाय तो अच्छा। फिर बकरीके दूधमें जल मिला उबाल कर देवें। शक्तिपात हो, तो तत्काल सम्हालना चाहिये। अभ्रक, कस्तूरी, रससिंदूर, सम्रार्क आदि देना चाहिये।

देह शीतल हो जानेपर डाक्टरी मतके अनुसार राईके जलसे स्नान और उत्तेजक औषध दी जाती है।

वात-नाड़ियोंकी विकृतिसे अतिसार हो तो अफीमद्वारा वातनाड़ियोंकी उग्रताका दमन करना चाहिये।

अपचन जनित अतिसार हो तो एरण्ड तेलसे उदरशुद्धि करके फिर क्षार-प्रधान पाचन औषध—हिंग्वष्टक, शिवाक्षार पाचन, लवणभास्कर आदि देनी चाहिये।

रोग अति जीर्ण होनेपर ग्रहणी रोगमें लिखे अनुसार उपचार करना चाहिये।

ग्रीष्म ऋतु प्रकोपसे तीक्ष्ण अतिसार हो और मलमें दुर्गन्ध न हो तो कर्पूर प्रधान औषध—कर्पूर अर्क, कर्पूर हिंगुवटी, त्रिसूचिकान्तक वटी; या लोहबान पुष्प और लहसुनादि वटीका सेवन कराना चाहिये।

यदि बँधा हुआ थोड़ा थोड़ा दस्त शूल सह होता रहता है, तो ६ माशे हरड़ और १॥ माशा पीपलको जलमें पीस निवायाकर पिलानेसे रुका हुआ मल निकल जाता है; और शूल आदि उपद्रव निवृत्त हो जाते हैं। अथवा एरण्ड तेल, दूध या सोंठके क्वाथ या सोंफके अर्कके साथ देकर बादमें पाचक औषध देनी चाहिये।

कच्चे आमयुक्त अतिसारके प्रारम्भमें कुड़ा आदि ग्राही औषध नहीं देनी चाहिये। अन्यथा बद्ध दोषों द्वारा नाना प्रकारके रोगोंकी उत्पत्ति हो जाती है। दण्डालसक (मल-मूत्रावरोध युक्त उदर पीड़ा), आध्मान, ग्रहणी, अर्श, भगन्दर, शोथ, पाण्डु, प्लीहा, कुष्ठ, गुल्म, उदररोग और ज्वर आदिमेंसे कोई न कोई हो जाते हैं। ऐसा भगवान आत्रेयने चरकसंहिताके निम्न श्लोकोंमें कहा है—

न तु संग्रहणं देयं पूर्वमामातिसारिणे ।
विबध्यमानाः प्राग्दोषा जनयन्त्यामयान् बहून् ॥
दण्डकालसकाध्मान—ग्रहण्यर्शोगदांस्तथा ।
शोथपाण्ड्वामयप्लीहा-कुष्ठगुल्मोदरज्वरान् ॥

किन्तु रोगी अत्यन्त अशक्त है, दोष अति बढ़े होनेसे दस्त बहुत हो गये हों तथा पाचक औषध देनेपर मृत्यु हो जानेका भय रहता हो, तो आम दोष रहनेपर भी (चव्य, नागरमोथा, नेत्रवाला आदि पाचक औषधियोंके साथ) संग्राही औषध देनी चाहिये। अतिसार रोगमें औषध दिनमें ३-४ बार थोड़ी-थोड़ी मात्रामें देनी चाहिये। यदि वेग अधिक तीव्र है, तो मात्रा कम करके दिनमें ५-६ या ८ बार देवें।

पहाड़ोंपर अतिसार रोग थोड़ी-सी भूलसे हो जाता है, एवं विरेचन औषध की थोड़ी मात्रा लेनेपर भी दस्त अधिक लग जाते हैं। अतः ऐसे स्थानोंपर या ऐसे स्थानोंके प्रवासीको मल शोधनार्थ औषध कम मात्रामें देनी चाहिये; एवं अतिसार होनेपर आगे लिखी हुई औषधियोंमेंसे अनुकूल औषधकी मात्रा कम और अधिक बार देनी चाहिये; तथा रोगीको पूर्ण आराम देना चाहिये।

यदि अतिसारमें अपानवायु और मलमें रुकावट होती है, उदरशूल, पेचिश और रक्तपित्त है, तो बकरीका दूध अमृत सदृश हितकारी है; वह बहुत दिनोंके जीर्ण अतिसारमें भी अति लाभदायक है। दूधमें तीन गुना जल मिला, औटाया हुआ दूध शेष रहनेपर उतार शीतल करके पिलाना चाहिये।

पित्तातिसारमें बकरीके दूधको प्रयोगमें लानेके लिये चरक संहितामें लिखा है कि—

पित्तातिसारो दीप्ताग्नेः क्षिप्रं समुपशाम्यति ।
अजाक्षीरप्रयोगेण बलं वर्णश्च वर्धते ॥
बहुदोषस्य दीप्ताग्नेः सप्राणस्य न तिष्ठति ।
पैत्तिको यद्यतिसारः पयसा तं विरेचयेत् ॥

पित्तातिसारी दीप्ताग्निवाला है, तो बकरीके दूधका प्रयोग करनेसे अतिसार शीघ्र शमन हो जाता है, बल-वर्णकी वृद्धि होती है यदि बलवान् पित्तातिसारीके आंतोंमें अति दोष भरा है; किन्तु अग्नि तेज है, तो अधिक दूध पिलाकर विरेचन कराना चाहिये।

पलाशके फल या गोंद अथवा त्रायमाणका चूर्ण दूधके साथ देकर उदर शोधन कर लेनेसे अतिसार शीघ्र शमन हो जाता है।

कदाच उदरशूल (बड़ी आंतमें भयंकर शूल) हो, तो अनुवासन बस्ति देकर दोषको दूर करना चाहिये। सौंफ, शतावरी, मुलहठी और बेलगिरीका कल्क १ भाग, तिल तैल १ भाग, गोघृत ४ भाग, बकरीका दूध ८ भाग और सौंफ आदिका क्वाथ १६ भाग मिला, घृत सिद्ध करें। इस घृतकी अनुवासन बस्ति देनेसे आम और मल दूर होते हैं। बड़ी आंतोंके व्रण शमन होते हैं; तथा शूलजनित पीड़ा दूर होती है। फिर आवश्यकता हो, तो निम्न पिच्छा बस्ति दी जाती है।

पिच्छा बस्ति—सेमलके ताजे फूलोंको कूट, गोला बना, बड़ आदिके पत्तों में रख ऊपर सूतसे बांध, मिट्टी लगावें। फिर पुटपाक कृतिसे पाक करें। पश्चात् ८ तोले रसको निचोड़ लें। इस रसमें ८ गुना दूध (६४ तोले) और २५६ तोले जल मिलाकर दुग्धावशेष क्वाथ करें। अनन्तर दूध, दूधसे चतुर्थांश घी, घीके समान तैल, मुलहठीका कल्क भी घीके समान मिलावें (कितने ही चिकित्सक इसमें घीके समान शहद भी मिलाते हैं)। इसकी बस्ति देनेसे पित्तातिसार ज्वर, शोथ, गुल्म, जीर्णातिसार, ग्रहणी आदि अति बढ़े हुए रोग दूर होते हैं।

सूचना—बस्ति देनेके पश्चात् बकरीका दूध या जांगल पशुओंके मांसरसका भोजन कराना चाहिये।

यदि पित्तातिसारमें अपथ्य-सेवन करनेसे रक्तातिसार हो गया हो; तृषा, शूल, दाह, गुदपाक आदिसे दारुण पीड़ा होती हो, तो उस रोगीके लिये शहद मिश्री मिला हुआ बकरीका ताजा या गरम करके ठंडा किया हुआ दूध पीने (भोजन और जलपान रूपसे) एवं गुदा धोनेके लिये देना चाहिये। ऐसा निम्न वचनमें महर्षि आत्रेय ने कहा है कि—

छागं तत्र पयः शस्तं शीतं समधुशर्करम्।
पानार्थे व्यञ्जनार्थे च गुदप्रक्षालनं तथा॥

अतिसार चिकित्सा विधिके लिये भगवान् आत्रेय ने कहा है, कि—

वातस्यानुजयेत्पित्तं पित्तस्यानुजयेत्कफम्।
त्रयाणां वा जयेत्पूर्वं यो भवेद्बलवत्तमः॥

पक्वाशय वायुका स्थान होनेसे अतिसार-चिकित्सामें (आमको दूर करनेके पश्चात्) पहले वायुको शमन करें। फिर पित्त और कफको क्रमशः जीतना चाहिये। अथवा तीनोंमें जो बलवान् हो, उसको पहले जीतना चाहिये।

किन्तु जहाँ पित्त विकार समवाय सम्बन्ध (मूल कारण) रूप हो, द्विदोषज या त्रिदोषज अतिसार हो, वहाँ पहले पित्त-शमन और फिर वात-कफ शमनका उपचार करना चाहिये, ऐसा भगवान् धन्वन्तरि ने निम्न वचनमें कहा है:—

"समवाये तु दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत् ।
ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम् ॥ (सु० सं०)

यदि ज्वर और अतिसार दोनों साथमें हैं, तो आगे ज्वरातिसारमें कही हुई औषध देनी चाहिये ।

अन्त्रमें यदि व्रण हो तो दिनमें ३-४ समय चूनेका साफ नितरा जल ५-५ तोले पिलाते रहनेसे अतिसार रोगमें लाभ पहुँचता है ।

आंतमें शोथ हो, उदरपर हाथ लगानेसे दर्द होता हो, तो पूर्ण आराम करना चाहिये, राईका प्लास्टर लगाना चाहिये । किन्तु जब जलन होने लगे तब प्लास्टरको खोलकर इस स्थानपर घी लगा देना चाहिये ।

निराम अतिसारका निश्चय होनेपर ग्राही (मलको बाँधने वाली) औषध देनी चाहिये ।

डाक्टरी मतके अनुसार विविध सूचनाएँ भिन्न-भिन्न उपचार प्रकारोंके साथ दी हैं ।

आमातिसार चिकित्सा

(१) धान्यपंचक योग—धनिया, सोंठ, नागरमोथा, नेत्रबाला, और कच्चे बेलफलका क्वाथकर दिनमें ३ समय पिलानेसे आम, शूल, वायु और मलकी रुकावट दूर होकर अग्नि प्रदीप्त होती है । यदि पित्तकी अधिकता है, तो सोंठ कम कर देना चाहिये ।

(२) कलिङ्गादि क्वाथ इन्द्रजव, अतीस, भुनी हींग, काला नमक, बच और हरड़का क्वाथ बनाकर पिलानेसे आमका पचन हो जाता है । शूल, स्तम्भ और विबन्ध दूर होकर अग्नि प्रदीप्त होती है ।

(३) हरड़, बच, अतीस, भुनी हींग और काला नमकका चूर्ण निवाये जलसे लेनेसे आम-पचन हो जाता है ।

(४) सोंठ, अतीस, नागरमोथा, पीपल और इन्द्रजवका क्वाथ कर पिलाना चाहिये । यह आम पचन करनेमें अति हितकर है या बेलगिरीका मुरब्बा दिनमें २ समय देनेसे वेदना शमन होती है और आम-पचन होकर अग्नि प्रदीप्त हो जाती है ।

(५) पाठा, इन्द्रजव, हरड़ और सोंठका क्वाथ बनाकर दिनमें ३ समय पिलानेसे अतिसारका शमन हो जाता है ।

(६) बच, इन्द्र जव, सैंधानमक और कुटकीका क्वाथकर पिलानेसे आमका पचन होता है; तथा रुका हुआ मल और वायु, दोनों सरलतासे दूर होते हैं ।

(७) मूर्वा, चित्रकमूल, पाठा, सोंठ, कालीमिर्च पीपल और गजपीपलका क्वाथ बनाकर पिलानेसे आमका शीघ्र पचन होकर अग्नि प्रदीप्त हो जाती है ।

(८) कच्चे बेलफल और आमकी गुठलीकी गिरीका क्वाथ बना शहद मिलाकर पिलानेसे वमन सह अतिसारकी निवृत्ति होती है।

(९) आमातिसारघ्न चूर्ण—सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, अतीस, भुनी हींग, खरैंटो, कालानमक, बड़ी हरड़, इन ८ औषधियोंको कूट कपड़छान चूर्ण कर ३ से ४ माशे तक निवाये जलके साथ दिनमें ३-४ समय सेवन करानेसे भयंकर बढे हुए आमातिसारका भी पचन होकर शमन हो जाता है। यह आमातिसारमें अति लाभदायक औषध है।

(१०) वराटिका भस्म और सोंठका चूर्ण घीके साथ अथवा घी और शहद मिलाकर दिनमें ३ समय देते रहनेसे अन्त्रका दाह-शोथ, क्षत और आम दूर होकर अतिसार निवृत्त हो जाता है।

(११) कुटजावलेह (दूसरी विधि)—(कच्चा दुर्गन्धयुक्त मल न होनेपर) पचन और स्तम्भनार्थ दिनमें २ समय देनेसे २-३ दिनमें अतिसार शमन हो जाता है।

(१२) वचादि क्वाथ—वच, नागरमोथा, अतीस, हरड़, देवदारु और सोंठका क्वाथकर पिलानेसे आम और शूलका शमन होकर आमातिसार दूर हो जाता है।

(१३) यदि पेटमें आफरा है तो—हींग, त्रिकटु, अजवायन और नमकको जलमें पीस निवायाकर पेटपर लेप करना चाहिये।

(१४) यदि उदर शूल अधिक हो, तो—पेटपर अलसीकी पुल्टिस या बाजरेकी रोटी बांधना चाहिये; और अरंडीका तैल पिलाना या वचादि क्वाथ पिलाना चाहिये। एरंड तैल संगृहीत आमको निकालता है और वचादि क्वाथ आमकी उत्पत्तिका रोध कराता है।

पक्व आमातिसार होनेपर—(१) आनन्दभैरवरस, अगस्तिसूतराज रस (शूल सह हो तो), जातिफलादि वटी, रामबाण रस, महावातराज रस (रक्त भी जाता है, तो) रस पर्पटी, कुटजारिष्ट, गंगाधर चूर्ण इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन करावें। ये सब औषधियाँ पक्वातिसारको तुरन्त नष्ट कर देती हैं।

अगस्तिसूतराज, जातिफलादि वटी, महावातराज रस, तीनों अफीमप्रधान औषधियां हैं। शूल हो, प्रवाहिकाका असर हो और मलमें दुर्गन्ध न हो तो इनका व्यवहार करना चाहिये। आनन्दभैरव और रामबाणमें आमकी उत्पत्तिको रोकनेका और पचन करानेका गुण है। रोग जीर्ण होनेपर पर्पटीका उपयोग करना चाहिये। कुटजारिष्टमें पाचन और ग्राही, दोनों गुण हैं।

(२) लजालु, धायके फूल, मजीठ, लोध और नागरमोथा, इनको कूट

४-४ माशे चूर्ण शहदके साथ दें; फिर ऊपरसे चावलोंका धोवन पिलानेसे अतिसार शमन हो जाता है।

(३) सेमलकी छाल, लोध, कुड़ेकी छाल और अनारकी छाल, इन सबको मिला चूर्णकर शहदसे दें। ऊपर चावलोंका धोवन पिलावें।

(४) आमकी गुठलीकी गिरी, लोध, बेलगिरी और प्रियंगूका चूर्ण ऊपर की विधि अनुसार देनेसे अतिसार रुक जाता है।

(५) मुलहठी, सोंठ और अरलूकी छालका चूर्ण कर दिनमें ३ समय ४-४ माशे देनेसे अतिसार नष्ट हो जाता है।

(६) **कुटजादि कषाय**—कूड़ेकी छाल, अनारकी छाल, नागरमोथा, धायके फूल, बेलगिरी, नेत्रबाला, लोध, लाल चन्दन और पाठा इन ९ औषधियोंका क्वाथ करें। फिर ६ माशे शहद मिलाकर पिलानेसे आम, शूल, रक्तस्राव, मलकी पिच्छिलता, ये दूर होते हैं। यह कषाय सब प्रकारके अतिसारोंमें हितकारक है।

(७) **कंचटादि क्वाथ**—चौलाई, जामुन, अनार, सिंघाड़े, इन चारोंके पान, बेलगिरी, खस, नागरमोथा और सोंठ, इन ८ औषधियोंको मिला क्वाथ कर (शहद मिलाकर) पिलानेसे प्रबल अतिसार भी रुक जाता है।

सूचना—आमातिसार और अन्य सब अतिसारमें पहले पाचन औषध, फिर संग्राही (मलको बाँधने वाली) औषध देवें। यदि संग्राही औषधसे अतिसार शमन न हो, रोग बढ़ रहा हो, मरोड़ आता हो तो अफीम मिश्रित स्तम्भन औषध देनी चाहिये।

(८) **जीर्ण आमातिसार पर**—राजवल्लभ रस रसतन्त्रसार द्वितीय खंडमें लिखा है वह एवं प्राणदा पर्पटी यह अति हितकर है। यह आमकी उत्पत्तिका निरोध करता है और शरीरको बलवान बनाता है। किन्तु निर्बल हृदयवालोंको प्राणदा पर्पटी न देवें।

अजीर्ण, आमवृद्धि, पतले दस्त, अशुद्ध डकारें आदिके निवारणार्थ जीवनरसायन अर्क दिनमें ३ समय ५-५ बूँद २॥-२॥ तोले जलके साथ देवें। यह अपचन, विसूचिका आदिकी उत्तम औषध है।

बालकोंके लिए आमपक्व होनेपर—कनकसुन्दर रस, सर्वाङ्गसुन्दर रस (तीव्र ज्वर और वमन सह हो तो) बाल अतिसारहर चूर्ण, बालमित्र चूर्ण (प्रथम विधि) (रक्तातिसार हो तो) बाल संजीवन रस, दन्तोद्भेद गदान्तक रस, पिप्पल्यादि चूर्ण, केशरादि चूर्ण, जहरमोहरा भस्म इनमेंसे अनुकूल औषध देवें।

बाल अतिसारहर चूर्ण निर्दोष, सस्ती और दिव्य औषध है। बहुत जल्दी

लाभ पहुँचाती है। दाँत निकलनेके हेतुसे दस्त हो, या वात-प्रधान अतिसार ज्वर सह हो, तो कनकसुन्दर रस देवें अथवा दन्तोद्भेद गदान्तक रस देवें। अति बढ़े हुए ज्वरातिसारमें जब हरे-पीले गर्म-गर्म जल-समान प्रवाही दस्त, वमन, बेचैनी, प्यास आदि लक्षण हों, तब सर्वाङ्गसुन्दर अति हितकर है। रक्तातिसार हो, तो बालमित्र चूर्ण (प्रथम विधि) लाभदायक है। प्रवाहिका हो, तो बालमित्र चूर्ण (द्वितीय विधि) देनी चाहिये। उदर पीड़ामें केशरादि चूर्ण, विसूचिकामें जहरमोहरा भस्म, सामान्य वमन, दस्त हों तो बालसंजीवन रस तथा मन्द ज्वर, सामान्य अतिसार, जुकाम और सामान्य खाँसी हो, तब पिप्पल्यादि चूर्ण देना चाहिये।

वातातिसार चिकित्सा।

(१) **पंचमूलादि चूर्ण**—बृहत् पञ्चमूल, खरैंटी, सोंठ, धनिया, नीलोफर, बेलगिरी, इन १० औषधियोंको समभाग मिला, चूर्ण बनाकर शहद काँजी या मट्ठेके साथ देनेसे वातातिसार दूर होता है।

(२) **वचादि क्वाथ**—बच, अतीस, नागरमोथा और इन्द्रजवका क्वाथकर दिनमें ३ समय पिलानेसे वातातिसार दूर होता है।

(३) **पथ्यादि क्वाथ**—हरड़, देवदारु, वच, सोंठ, नागरमोथा, अतीस और गिलोयका क्वाथकर पिलानेसे वातप्रधान अतिसार शीघ्र शमन होता है।

(४) करंजके बीज, पीपल, सोंठ, खरैंटो, धनिया और हरड़का क्वाथ बनाकर सायंकाल पिलानेसे वातज अतिसार निवृत्त हो जाता है।

(५) आमातिसारमें कहा हुआ कुटजादि कषाय भी हितकर है।

(६) हिंगुल वटी या कनकसुन्दर रस, आनन्द भैरव देनेसे वातप्रधान अतिसारकी निवृत्ति होती है। इनमेंसे हिंगुल वटीमें अफीम आती है। अतः कच्चा दुर्गन्धयुक्त मल हो तब तक उसे न देवें।

नाभि टल गई हो तो—(बृहद् अन्त्रमें मल संगृहीत होता है। फिर लघु-अन्त्रमें रस और वायुका भार जब बढ़ जाता है, तब अन्त्र नीचे झुक जाती है, उसे नाभि टलना कहते हैं।) कभी-कभी बोझा उठाने या कूदनेपर भी शिथिल अन्त्रका पतन हो जाता है, फिर बार-बार दस्त लगते रहते हैं।

(१) लघु गङ्गाधर चूर्ण गुड़के साथ दें।

(२) रोगीको चित लिटाकर नाभिके चारों ओर आँवलोंको मट्ठेमें पीसकर मेंड़ बांधे। पश्चात् उसमें अदरकका रस भरें। इस औषधको ३-४ घण्टे रखनेसे नाभि स्थिर होती है।

(३) कच्ची फिटकरी और माजूफल १-१ तोला लेकर कांजी या सिरकेमें मिला नाभिपर लगादें; और २-३ घण्टे चित सोते रहनेसे नाभि स्थिर होजाती है।

(४) शौच जानेके समय नाकमें सलाई या डोरीका प्रवेश करानेपर छींक आती है और छींक आनेसे नाभि बैठी जाती है।

(५) नाभि टलनेपर रोगीको चित लेटाकर दूसरे मनुष्यसे नाभिपर हाथ रखावें अर्थात् नाभि (धरण) को पकड़ रखें। फिर जमीनपर धूलमें या कागज पर निम्न अनुसार यन्त्र लिखकर उसपर १० बार जूती मारें। उतनेसे ही नाभि यथास्थानपर बैठ जाती है। कचित् न बैठे तो उस यन्त्रको मिटाकर दूसरे कागजपर नया यन्त्र इसी रीतिसे लिखकर ७ बार जूती मारें। इससे नाभि बैठ जाती है। कभी तीसरे समय भी इस रीतिसे क्रियाकी जाती है। बारबार यंत्रपर ७ बार जूती मार कर पूछें, कि नाभि बैठ गई या नहीं।
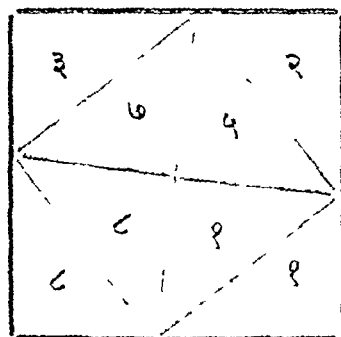
इस यन्त्रको सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है। इस उपायसे सैकड़ों लोगोंको लाभ हो गया है। इस तन्त्र विधिसे मन पर असर होकर रोग-निवृत्ति हो जाती है।

होमु	काळु
नमळु	सदाद

अथवा इस तरह यन्त्र लिखकर २१ बार जूती मारें। एक समय न बैठे, तो दूसरी समय उसी यन्त्रपर फिर जूती मारें। शहरकी अपेक्षा ग्रामवासियोंको यंत्र-तंत्रसे अधिक लाभ होता है।

पित्तातिसार चिकित्सा।

अपक्क आमका अनुबन्ध हो तो—दूधके साथ शीतल सौम्य जुलाब देना चाहिये; अथवा मृदु, दीपन और कड़वी औषधियोंसे आमका पचन कराना चाहिये।

(१) धनिया, नेत्रवाला, बेलगिरी और नागरमोथाका क्वाथ देनेसे आमका पचन होता है। इस तरह तालीसादि चूर्ण देनेपर भी आम और मलका शोधन और पचन होकर पित्तातिसार दूर हो जाता है।

(२) हल्दी, अतीस, इन्द्रजव, पाठा और रसौंतका क्वाथकर दिनमें ३ बार पिलानेसे आमका पचन होकर पित्तातिसार दूर हो जाता है।

(३) कच्चे बेल, इन्द्रजव, नागरमोथा, नेत्रवाला और अतीसके क्वाथसे आम पचन और पित्तशमन होकर अतिसार जल्दी निवृत्त हो जाता है।

(४) पाठा, गिलोय, चिरायता और कुटकी, इन ४ औषधियोंको मिला १।-१। तोलेका क्वाथ कर, दिनमें २ या ३ समय पिलानेसे आमपचन होकर पित्तातिसारकी निवृत्ति हो जाती है।

(५) रसौंत, हल्दी, दारुहल्दी और इन्द्रजवका क्वाथ कर दिनमें ३ समय देनेसे आमका पचन हो जाता है।

(६) नागरमोथा, इन्द्रजौ, चिरायता और रसौंतका क्वाथ कर ६ माशे शहद मिलाकर पिलानेसे पित्तातिसार दूर हो जाता है।

(७) कायफल, अतीस, नागरमोथा इन्द्रजौ और सोंठका क्वाथ बना शहद मिलाकर पिलानेसे पित्तप्रधान अतिसार शान्त हो जाता है।

(८) पाठा, नागरमोथा, हल्दी, दारुहल्दी, पीपल और इन्द्रजौ, इन ६ औषधियोंका क्वाथ शहद मिलाकर पिलानेसे आमपचन होकर पित्तातिसार नष्ट हो जाता है।

(९) मधुकादि चूर्ण—मुलहठी, कायफल, लोध, अनारका बकल, इन सबको मिला कूट चूर्ण कर ४-४ माशे शहदके साथ दिनमें ३ समय दें। ऊपर से चावलका धोवन पिलाते रहें, तो २-३ दिनमें पित्तातिसार दूर हो जाता है।

(१०) बिल्वादि क्वाथ—बेलगिरी, इन्द्रजौ, नागरमोथा, नेत्रबाला और अतीसको मिला २-२ तोलेका क्वाथ कर पिलानेसे आमसह पित्तातिसारका नाश हो जाता है।

(११) आमातिसारमें कहा हुआ कंचटादि क्वाथ देनेसे प्रबल पित्तातिसार आमदोष सह निवृत्त हो जाता है।

(१२) पक्व पित्तातिसार पर—लघु गंगाधर चूर्ण, सर्वांगसुन्दर रस, शंख-भस्म, मौक्तिकभस्म (अनार शर्बतके साथ), बालमित्र चूर्ण (प्रथम विधि), काम-दुघा रस, इनमेंसे अनुकूल औषध दिनमें २ या ३ बार देते रहनेसे पित्तातिसार निवृत्त हो जाता है। लघुगंगाधर चूर्णके साथ शंख, मौक्तिक या कामदुघा मिलाकर देनेसे शीघ्र लाभ पहुँचता है।

(१३) नाभिचूर्ण—जल प्रवाहके समान बार-बार दस्त लगते हों, तो ५-१० तोले आँवलोंको मट्ठेमें पीस कल्क कर रोगीको चित सुला नाभिके चारों ओर मेंड बाँधें। पश्चात् बीचमें अदरकका रस भरें। इस स्थितिमें २-३ घण्टे रहनेसे एक दिनमें २५-५० या इनसे अधिक दस्त लगते हों, वे भी रुक जाते हैं।

सगर्भाको दस्त हो तो—केवल बकरीका दूध दें; या अभ्रपर्पटी, कुटजादि वटी, कामदुघा रस; सूतशेखर रस, लघुगंगाधर चूर्ण, बाल अतिसारहर चूर्ण इनमेंसे प्रकृतिके अनुकूल औषधका सेवन करानेसे अतिसार दूर हो जाता है। पित्त तेज हो, तो कामदुघा रस दें। वातपित्तकी प्रधानता हो, तो सूतशेखर रस अधिक हितकर है।

वमन और दस्त दोनों हों तो—(१) कच्चे बेलफल और आमकी गुठली

अथवा बेलगिरी और गिलोयको मिला दो तोलेका क्वाथकर ६-६ माशे शहद-मिश्री मिलाकर पिलानेसे वमन और दस्त, दोनों शीघ्र रुक जाते हैं।

(२) पटोलादि क्वाथ—परवलके पत्ते, जौ और धनियेका क्वाथकर शक्कर और शहद मिलाकर पिलानेसे वमन और अतिसार, दोनोंकी निवृत्ति हो जाती है।

(३) जसद भस्म आध आध रत्ती तथा कामदुघा रस १-१ रत्ती मिलाकर दिनमें ४-६ समय बकरीके दूध, मट्ठा या चावलोंके जलके साथ देनेसे वमन और दस्त दोनों शमन हो जाते हैं। अन्नमें शोथ होनेपर जसद भस्म अति हितकारक है।

(४) शौक्तिक भस्म २-२ रत्तीको ३-३ माशे मक्खन और मिश्रीके साथ ३-३ घण्टे पर ३-४ समय देनेसे अत्यन्त उत्तेजनासे उत्पन्न वमन, अतिसार, दोनों नष्ट हो जाते हैं।

(५) प्रियंगु, रसौंत और नागरमोथाका चूर्ण कर शहद और चावलोंके धोवनके साथ देनेसे प्यास, वमन और अतिसार दूर होते हैं।

गुदामें जलन और शोथ (कांच निकलता) हो तो—माजूफलका चूर्ण लगावें, अथवा सेलखड़ी या सफेदाको घीमें मिलाकर लेप करें।

ग्रहणी आंत और गुदामें दाह हो तो—मौक्तिक पिष्टी, शौक्तिक भस्म या कामदुघा रस, स्वर्णमाक्षिक भस्म देना चाहिये। कीटाणुजनित दोष हो तो अफीमयुक्त औषध—हिंगुल वटी या कर्पूर रस देना चाहिये।

कफातिसार चिकित्सा।

कफातिसार होनेपर पहले उपवास कराकर आमातिसारमें लिखी औषध पाचनार्थ देनी चाहिये।

कफप्रधान अतिसारमें पाचन और ग्राही प्रयोग—

(१) कोमल बेलफल, काकड़ासिंगी, नागरमोथा, हरड़ और सोंठका क्वाथ कर दिनमें ३ बार पिलानेसे कफातिसार शमन होता है।

(२) बच, वायविडंग, धनियां, अजवायन और देवदारुका क्वाथ बनाकर पिलानेसे कफातिसारका शमन होकर अग्नि प्रदीप्त होती है।

(३) कूठ, अतीस, पाठा, चव्य और कुटकीका क्वाथ देनेसे दूषित आम और कफ निकलकर अतिसारकी निवृत्ति हो जाती है।

(४) पीपल, पीपलामूल, चित्रकमूल और गजपीपलका क्वाथ देनेसे मल गाढ़ा हो जाता है और विकृत कफ नष्ट हो जाता है।

(५) पथ्यादि क्वाथ—हरड़, चित्रकमूल, कुटकी, पाठा, बच, नागरमोथा, कुड़ेकी छाल और सोंठका क्वाथ बनाकर पिलानेसे आमका पचन होकर कफातिसारकी निवृत्ति हो जाती है।

(६) चव्यादि क्वाथ—चव्य, अतीस, नागरमोथा, कच्चे बेल, सोंठ, इन्द्रजौ, कुड़ेकी छाल और हरड़, इन ८ औषधियोंको समभाग मिला, २-२ तोलेका क्वाथ कर दिनमें ३-४ समय पिलानेसे वमन सह कफातिसार नष्ट हो जाता है।

(७) हिंग्वादि चूर्ण—भुनी हींग, कालानमक, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, हरड़, अतीस और वच, इन ८ औषधियोंको समभाग मिला, चूर्णकर ३-३ माशे चूर्ण दिनमें ३ समय शहद या निवाये जलके साथ देनेसे आमका पचन होकर कफातिसारका नाश हो जाता है।

(८) आनन्दभैरव रस, अगस्ति सूतराज रस, हिंगुल वटी, इनमेंसे अनुकूल औषध देनेसे कफातिसार दूर हो जाता है। इनमेंसे अगस्ति सूतराज और हिंगुल वटीमें अफीम है, इसलिये कच्चा आम हो, तब तक नहीं देनी चाहिये।

(९) रसपर्पटी या पंचामृत पर्पटी दिनमें ३ से ४ समय जीरा और शहदके साथ देते रहनेसे आँतोंका शोथ, दुर्गन्धयुक्त कच्चे मलके दस्त, ग्रहणी (आँतके प्रारम्भके हिस्से) की निर्बलता और कीटाणु आदि दोष नष्ट होकर कफातिसार शमन हो जाता है।

(१०) क्षयके कीटाणुजन्य अतिसार हो तो—सुवर्णपर्पटी, हेमगर्भपोटली रस (संग्रहणी), लवंगादि चूर्ण, जातिफलादि चूर्ण, इनमेंसे अनुकूल औषध दिनमें ३-४ समय थोड़ी थोड़ी मात्रामें दीर्घकाल तक देनी चाहिये।

(११) उदरमें ग्रन्थि होनेसे अतिसार हो तो—लोकनाथ रस या प्रवाल पंचामृतका एकाध मास तक सेवन कराना चाहिये।

वातश्लेष्मज पक्वातिसार चिकित्सा।

इस द्वन्द्वज अतिसारमें झागयुक्त वमन, आफरा, दुर्गन्धयुक्त बड़े-बड़े जुलाब और शूल आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

(१) लाही चूर्ण, लघु लाही चूर्ण, अगस्तिसूतराज रस (त्रिकटु और शहद के साथ), हिंगुलेश्वर रस, कनकसुन्दर रस, सर्वाङ्गसुन्दर रस इनमेंसे अनुकूल औषध देवें। इनमेंसे अगस्तिसूतराज रसमें अफीम आती है; अतः निराम दोष होनेपर कम मात्रामें देवें। लाही चूर्णमें भाँग आती है, इसलिये प्रकृतिका विचार करके देवें। लघुलाही चूर्ण सौम्य और दिव्य औषध है। इसका निर्भयतापूर्वक सर्वत्र उपयोग हो सकता है।

(२) चित्रकादि क्वाथ—चित्रकमूल, अतीस, नागरमोथा, खरैंटी, कच्चे बेलफल, सोंठ, कुड़ेकी छाल, इन्द्रजौ और हरड़, इन ९ औषधियोंको समभाग मिला, २-२ तोलेका क्वाथकर दिनमें तीन समय पिलानेसे वातकफातिसार दूर हो जाता है।

(३) अग्नितुण्डी वटी या जीवनरसायन अर्क, दिनमें २ समय देते रहनेसे उदरशूल, दुर्गन्धयुक्त सफेद दस्त, वमन और अग्निमांद्यादि विकार दूर होते हैं तथा पित्तस्राव कम होता हो, तो नियमित होने लगता है।

वात पित्तातिसार चिकित्सा।

वातपित्तज अतिसार होनेसे मलमें झाग, गुदामें जलन, अत्यन्त वेदना, अनेक रंगके दस्त, क्वचित् रक्त भी जाना इत्यादि लक्षण भासते हैं।

(१) कुटजादि वटी या, कुटजारिष्ट दिनमें ३ समय देनेसे २-३ दिनमें वातपित्तज अतिसार दूर हो जाता है।

(२) अधिक शूल और रक्तसह हो तो—शंखोदर रस थोड़ी थोड़ी मात्रामें दिनमें ३-४ बार देवें।

व्याधि जीर्ण हो गई हो तो—ग्रहणीकपाट रस, लाही चूर्ण, सूतशेखर रस या अफीम मिश्रित जातिफलादि वटी दिनमें २-३ समय देते रहें।

(३) कलिङ्गादि कल्क—इन्द्रजौ, बच, नागरमोथा, देवदारु और अतीसका कल्ककर चावलोंके धोवनके साथ दिनमें ३ समय देनेसे अति बढ़ा हुआ अतिसार भी शमन हो जाता है।

पित्तकफातिसार चिकित्सा।

(१) कुटजादि कषाय, कुटजावलेह, कर्पूरासव, तालीसादि चूर्ण, कुटजारिष्ट, कुटजादि वटी, इनमेंसे अनुकूल औषध देनेसे अतिसारकी शीघ्र निवृत्ति हो जाती है।

मुस्तादि क्वाथ—नागरमोथा, अतीस, मूर्वा, बच और कूड़ेकी छालका क्वाथकर शहद और मिश्री मिलाकर पिलानेसे पित्त-कफज अतिसार दूर हो जाता है।

(३) समङ्गादि क्वाथ—लजालु, धायके फूल, बेलगिरी, आमकी गुठलीकी गिरी और कमलकेशरको मिला २-२ तोलेका क्वाथ कर या ६-६ माशेका कल्ककर चावलोंके धोवनके साथ देनेसे पित्तश्लेष्म-प्रधान अतिसारका शीघ्र शमन हो जाता है।

(४) बेलगिरी, मोचरस, लोध, कूड़ेकी छाल और इन्द्रजौका क्वाथ या कल्क बनाकर चावलोंके धोवनके साथ दिनमें ३ समय देनेसे रक्त सहित पित्त कफातिसार दूर होता है।

त्रिदोषज अतिसार चिकित्सा।

(१) समङ्गादि कषाय—लज्जावन्ती, अतीस, नागरमोथा, सोंठ, नेत्रवाला,

धायके फूल, कुड़ेकी छाल, इन्द्र जौ, बेलगिरी, इन ९ औषधियोंको समभाग मिला क्वाथकर पिलानेसे त्रिदोषज प्रबल अतिसार भी दूर हो जाता है।

(२) पंचमूलाद्य क्वाथ—बृहत् पञ्चमूल, खरैंटी, बेलगिरी, गिलोय, नागरमोथा, सोंठ, पाठा, चिरायता, नेत्रबाला, कुड़ेकी छाल और इन्द्रजौ, इन १५ औषधियोंको समभाग मिला क्वाथ कर पिलानेसे ज्वर, वमन, शूल, श्वास, कास आदि दुस्तर उपद्रवों सह त्रिदोषज अतिसार दूर हो जाता है। यह क्वाथ वातनाड़ियोंको सबल बनाता है, आमका पचन कराता है और ग्राही गुण दर्शाता है।

सब प्रकारके अतिसारोंपर स्तम्भनकारक प्रयोग—जब पक्व अतिसारमें ग्रहणीकी शिथिलता हो जानेसे बार-बार दस्त होते रहते हैं, तब निम्न औषधियोंमेंसे कोई भी एक देनेसे दस्त रुक जाता है। इन औषधियोंमें ग्राही (मलको बांधना) और स्तम्भन (मलको रोकना), दोनों गुण रहे हैं।

(१) लज्जालु, धायके फूल, मजीठ, लोध और नागरमोथा मिलाकर चूर्ण करें। इसमेंसे ३-४ माशे शहदके साथ दिनमें ४ समय चावलके धोवनके साथ देनेसे अनेक अतिसार दूर हो जाते हैं।

(२) सेमलकी छाल, लोध, कूड़ेकी छाल और अनारकी छालका चूर्णकर ऊपर कही विधिसे प्रयोगमें लावें।

(३) आमकी गुठलीकी गिरी, लोध, बेलगिरी और प्रियंगुका चूर्णकर शहद और चावलोंके धोवनके साथ देवें।

(४) मुलहठी, सोंठ और श्योनाककी छालको समभाग मिला, कूट कपड़छान चूर्णकर ३-३ माशे शहदके साथ दिनमें ३ समय देवें और ऊपर चावलका धोवन पिलावें।

षडङ्ग घृत—इन्द्रजौ, दारुहल्दीकी छाल, पीपल, सोंठ, लाख और कुटकी, इन ६ औषधियोंके कल्कसे ४ गुना घृत और घृतसे ४ गुना जल मिलाकर मंदाग्निपर यथाविधि घृत सिद्ध करें। इसमेंसे १-१ तोला घी मण्डके साथ दिनमें २-३ बार देते रहनेसे दारुण त्रिदोषज अतिसार नष्ट हो जाता है। अन्त्रमें क्षत हो जानेपर यह घृत अति हितकर है। बस्ति रूपसे भी इस घृतका उपयोग हो सकता है। बस्तिसे लाभ शीघ्र पहुँचता है।

(६) अंकोट वटक—दारुहल्दी, अंकोटके मूलकी छाल, पाठाकी जड़, कुड़ेकी छाल, मोचरस, राल, धायकेफूल, लोध, अनारका छिलका, इन ९ औषधियोंको मिला चावलके धोवनमें १-१ माशेकी गोलियाँ बनावें। १ से २ गोली शहद और चावलके धोवनके साथ दिनमें २ समय सेवन करानेसे अन्त्रशोथ सह सब प्रकारके अतिसार शमन हो जाते हैं। वृक्क निर्बल होते हैं या

स्वेद कम आता हो, तब स्वेद लार विषको बाहर निकालना, कफ दूषित, संगृहीत हो उसे बाहर फेंकना, आमोत्पत्तिको रोकना और दस्तको बाँधना, ये सब कार्य इस वटी द्वारा सिद्ध होते हैं। यह वटी यकृत्को सबल बनाती है जिससे अन्त्रके भीतर पचन-क्रिया सुधर जाती है। जीर्ण रोगमें मात्रा कम देनी चाहिये।

(७) अमृतार्णव रस—हिंगुलमेंसे निकाला हुआ शुद्ध पारा, लोह भस्म, सोहागाका फूला, शुद्ध गन्धक, कचूर, धनिया नेत्रवाला, नागरमोथा, पाठा, जीरा और अतीस, इन ११ औषधियोंको १-१ तोला लेवें। पहले पारद गन्धक की कज्जली करें, फिर लोह भस्म, सोहागाका फूला और अन्य काष्ठादि औषधियोंका चूर्ण क्रमशः डालकर मिला लेवें। पश्चात् बकरीके दूधमें १२ घण्टे खरलकर २-२ रत्तीकी गोलियाँ बनावें।

इनमेंसे २-२ गोली दिनमें ३-४ समय देवें। अनुपान-धनिया जीरा मिला हुआ मूँगका यूष, भाँगका चूर्ण, सणके बीजोंका चूर्ण, शहद, बकरीका दूध, भातका माण्ड, शीतल जल, केलेके खम्भेका रस, मोचरस या चौलाईका रस। इनमेंसे अनुकूल अनुपानके साथ देनेसे उग्र अतिसार, एक दोषज, द्विदोषज, त्रिदोषज अतिसारजनित उपद्रव, शूल, ग्रहणी, अर्श, अम्लपित्त, कास, गुल्म, इनको शमन करता है और अग्निको प्रदीप्त करता है।

जो अतिसार अन्य औषधियोंसे शमन न हुआ हो, उसके लिये यह रसायन अत्युत्तम है। सगर्भा, प्रसूता, बालक, वृद्ध, निर्बल रोगी, सबको निर्भयतापूर्वक दे सकते हैं। नूतन पक्वातिसार एवं जीर्णातिसार सबपर यह रसायन लाभ पहुँचाता है।

(८) वृद्ध गङ्गाधर चूर्ण—नागरमोथा, श्योनाक, सोंठ, धायके फूल, लोध, नेत्रवाला, बेलगिरी, मोचरस, पाठा, इन्द्रजव, कुड़ेकी छाल, आमकी गुठलीकी गिरी, लजालू और अतीस, इन १४ औषधियोंको कूट कपड़-छान चूर्ण कर ३ से ४ माशे शहद और चावलके धोवनके साथ देनेसे सब प्रकारके अतिसार, प्रवाहिका और संग्रहणी आदि रोग शमन होते हैं। यह चूर्ण गंगाके समान प्रवाहवाले अतिसारोंको भी रोक देता है। रोग जितना प्रबल हो, उतनी ही मात्रा कम देवें और अधिक बार देवें।

(९) विजयावलेह—भाँग और जायफल १-१ तोला तथा इन्द्रजव २ तोले लें। तीनोंका चूर्ण कर ८ तोले शहद मिलाकर अवलेह जैसा बनावें। इस अवलेहके सेवनसे अतिसार नष्ट हो जाते हैं। मात्रा ३ से ६ माशा तक दिनमें २ से ३ समय प्रकृतिका विचार कर देवें। भाँग जिनसे सहन हो सकती है, उनको १ तोला तक देवें। यह अवलेह नये और पुराने रोगको दूर

करनेमें अति हितकर है। वातप्रकोपज विकृति हो तब यह अवलेह आश्चर्य-कारक लाभ दर्शाता है। आक्षेप बन्द होता है, वेदना शमन होती है, पेशाबका परिमाण बढ़ता है। रक्तस्राव होता हो, तो बन्द होता है, उत्तेजना आती है, निद्रा आती है और अतिसार दूर होता है।

(१०) अतिविषाद्यवलेह—अतीस, बेलगिरी, मोचरस, लोध, धायके फूल, आमकी गुठलीकी गिरी, इन ६ औषधियोंको १-१ तोला लेकर शहद मिलाकर अवलेह बनावें। इसके सेवन करनेसे घोर अतिसार भी शमन हो जाता है। मात्रा ६ माशेसे १ तोला तक दिनमें ३ समय देते रहनेसे ३-४ दिनमें अतिसार दूर हो जाता है। यह सौम्य और उत्तम औषध है। बालक, सगर्भा और वृद्धोंको भी हितकर है।

(११) कपित्थाष्टक चूर्ण—अजवायन, पीपलामूल, दालचीनी, तेजपात; इलायची, नागकेशर, सोंठ, कालमिर्च, चित्रकमूल, नेत्रवाला, सफेद जीरा, धनिया, काला नमक प्रत्येक १-१ तोला; अम्लवेंत, धायके फूल, छोटी पीपल बेलका गूदा, अनारदाने, अजमोद ये सब ३-३ तोले मिश्री ६ तोले और कैथ का गूदा ८ तोले लें। सबको एकत्र कर कूट कपड़छान चूर्ण करें। इस चूर्णको ३ से ४ माशे तक दिनमें ३ समय जलके साथ सेवन करानेसे अतिसार, ग्रहणी, क्षय, गुल्म, गलेके रोग, कास, श्वास, अरुचि तथा हिक्कादि व्याधियोंका नाश होता है। यह चूर्ण निर्भय और अति लाभदायक औषध है।

मलावरोध रहता हो, तो उसे भी दूर करता है, कासोत्पत्तिको बन्द करता है तथा मलको बाँधता है। यह दीपन, पाचन, ग्राही है एवं मलावरोधमें सारक गुण भी दर्शाता है।

रक्तातिसार चिकित्सा।

(१) कुटजादि वटी, शंखोदर रस, उशीरादि क्वाथ, कुटजारिष्ट, बोलपर्पटी (प्रथम विधि); बोलबद्ध रस, कर्पूर रस (ज्वर सह हो तो), जातिफलादि वटी, शम्बूक भस्म, तृणकान्तमणि पिष्टी, संगजराहत भस्म इनमेंसे अनुकूल औषध देवें। शंखोदर रस, कर्पूर रस, जातिफलादि वटी, इनमें अफीम होती है, अतः ३ दिन तक न दें; सगर्भाको न दें; अन्य रोगियोंको आवश्यकतापर थोड़ी मात्रामें देवें।

(२) दाड़िमावलेह—अनारदाने ६४ तोलेको २५६ तोले जलमें उबालकर चतुर्थांश शेष रहनेपर ६४ तोले मिश्री मिलाकर पाक करें फिर ६४ तोले घृत मिलावें। पश्चात् सोंठ, पीपलामूल, पीपल, धनिया, अजवायन, जावित्री, जायफल, कालीमिर्च, जीरा, वंशलोचन, हरड, निम्बपत्र, लजालु, कूठ, मोच-रस, अरलूकी छाल, अतीस, पाठा और लौंग, इन १९ औषधियोंको ४-४

तोले लें, चूर्णकर मिला लें। फिर यथा विधि पचन कर अवलेह बना लें। शीतल होने पर ६४ तोले शहद मिलावें। इस अवलेहमेंसे ६ माशेसे १ तोला तक दिनमें २ समय सेवन करानेसे ज्वरातिसार, आम, रक्त, आमशूल, मन्दाग्नि शोथ, आन्त्रक्षय और धातुमें लीन दोष आदि विकार नष्ट हो जाते हैं। अधिक पाण्डुता आ गई हो, तो १-१ रत्ती लोह भस्म भी मिलाते रहें।

सूचना—अनारदानेमें खटाई रहती है, इसलिये क्वाथके लिये मिट्टी या कलई किया हुआ पीतलका बरतन लेना चाहिये।

(३) अहिफेनासव—महुएकी शराब ४०९ तोले, अफीम १६ तोले और नागरमोथा, जायफल, इन्द्रजौ, छोटी इलायचीके दाने, चारोंका चूर्ण ४-४ तोले लेवें। सबको एकत्र मिला एक मास तक रहने देवें। पश्चात् छानकर उपयोग में लेवें। इसमेंसे ५ से २० बूंदों तक ॥ तोले जलमें मिला कर दिनमें ३-४ समय देते रहनेसे भयङ्कर, उग्र अतिसार और दारुण विसूचिका रोगका नाश हो जाता है। विसूचिकामें ५-५ बूंदें एक-एक घण्टेपर देते रहें। दस्तमें यदि रुकावट होती है, तो मात्रा देरीसे देवें।

(४) दाडिमाष्टक चूर्ण—वंशलोचन १ तोला, चातुर्जात (दालचीनी, तेजपात, इलायची, नागकेशर) चारों ३-३ तोले; अजवायन, धनिया, जीरा, पीपलामूल, कालीमिर्च, सोंठ, पीपल ये सब ४-४ तोले; अनारदाने और मिश्री ३२-३२ तोले लें। सबको मिला कूट कपड़छान चूर्ण करें। ३-३ माशे दिनमें ३ समय देनेसे अतिसार दूर होते हैं। यह चूर्ण क्षय, ग्रहणी, गुल्म, कास, श्वास, अरुचि, हिक्का आदि रोगोंमें लाभदायक है। इस चूर्णका गुण लगभग कपित्थाष्टक चूर्णके समान है। बालक, युवा, वृद्ध, सगर्भा आदि सबको दिया जाता है।

रक्तातिसारशामक सरल प्रयोग—(१) नेत्रवाला, नीलोफर, नागरमोथा और पृष्ठपर्णीका क्वाथ, क्वाथसे आधा बकरीका दूध और १४ वाँ हिस्सा चावल मिला उबाल पेया बनाकर पिलानेसे रक्तातिसारका शमन हो जाता है।

(२) कच्चे बेलको रात्रिके समय अग्निमें पका दूसरे दिन सुबह ६ माशे पुराना गुड़ मिलाकर खानेसे आम और शूलसह रक्तातिसार निवृत्त हो जाता है।

(३) नागरमोथेके २ तोले रसके साथ ६ माशे शहद मिलाकर दिनमें ३ समय पिलानेसे रक्तातिसार दूर होता है।

(४) ४ माशे नागकेसर, २ तोले मक्खन, ४ माशे मिश्री और ४ माशे शहद मिलाकर खानेसे दाह, गुदामें जलन और शूलसह रक्तातिसार निवृत्त हो जाता है।

(५) रसांजनादि कल्क—रसौंत, अतीस, कुड़ेकी छाल, इन्द्रजौ, धायके फूल और सोंठका कल्ककर शहदमें मिला चाटकर ऊपर चावलका धोवन पिलानेसे शूल सह तीव्र रक्तातिसार नष्ट हो जाता है तथा अग्नि प्रदीप्त होती है।

(६) बिल्वादि कल्क—बेलगिरी, नागरमोथा, धायके फूल, पाठा, सोंठ, मोचरस, सबको समभाग मिला मट्ठेमें पीस, कल्क कर गुड़ मिलाकर दिनमें २-३ समय मट्ठेके साथ देनेसे दुर्जय रक्तातिसारका भी ३ दिनमें नाश हो जाता है।

(७) अनार और कुड़ेकी छाल, दोनोंका क्वाथकर शहद मिलाकर पिलानेसे कठिन रक्तातिसार भी सद्य शमन हो जाता है।

(८) शाल, बेर, जामुन, चिरौंजी, आम या अर्जुन, इनमेंसे किसी एककी छालका कल्ककर बकरीके दूध और शहदके साथ सेवन करानेसे अतिसारमें रक्त आना बन्द हो जाता है।

(९) जामुन, आम और आँवलोंके पत्तोंका स्वरस (स्वरस यन्त्र या पुटपाक से) निकाल, बकरीका दूध और शहद मिला कर पिलानेसे रक्तातिसार नष्ट हो जाता है।

(१०) चौलाईके कल्कमें मिश्री और शहद मिला चावलके धोवनके साथ देनेसे रक्तातिसारकी निवृत्ति हो जाती है।

(११) शतावरीका कल्क दूधके साथ पिलावें। भोजनमें केवल बकरीका दूध ही देवें, तो रक्तातिसारका शमन हो जाता है।

(१२) काले तिलोंका कल्क १ तोले तथा शक्कर ४ तोलेको मिलाकर १६ तोले बकरीके दूधके साथ दिनमें ३-४ समय देनेसे एक या दो दिनमें रक्तातिसार चला जाता है।

(१३) कुकरौंधेके पत्तोंका स्वरस १ तोला और शहद ६ माशे मिलाकर पिलानेसे रक्त गिरना बन्द हो जाता है।

अन्तस्त्वचाके क्षोभ शमनके लिये—कामदुघा रस या मौक्तिक पिष्टी दिन में ३ समय शहद या बकरीके दूधके साथ देवें।

भयंकर उदरशूल हो, तो—दशमूल क्वाथसे तैल सिद्ध करके स्नेह बस्ति दें। स्नेह बस्तिकी विधि और नियम पहले शरीर शुद्धि प्रकरणमें विस्तार पूर्वक लिख दिये हैं।

गुदाका दाह हो तो—(१) परवलके पत्ते और मुलहठीका क्वाथकर शीतल होनेपर उससे गुदा धोनेसे दाह शमन हो जाता है।

(२) बकरीके दूधमें शक्कर और शहद मिलाकर बार-बार गुदापर सिंचन करें। इस तरह प्रक्षालन, भोजन और पान (पीने) के लिये भी उपयोगमें लेवें।

(३) अफीम और कत्था ४-४ रत्ती और खेलखड़ी १ माशा, तीनोंको मिला

शहदसे बत्ती बना लें। आवश्यकता पर घी वाला हाथ लगाकर बत्तीको अंगुलीसे गुदामें प्रवेश करानेसे गुददाहजनित पीड़ा शमन हो जाती है।

(४) सेलखड़ीकी भस्मको ४ गुने धोये घीमें मिला गुदापर लगानेसे दाह और गुदभेद दूर होते हैं।

गुदभ्रंश पर—(१) कदाच दाहके हेतुसे गुदा बाहर निकलती हो, तो शतधौत घृत या सिद्ध घीकी गुदनलिकापर मालिश करें और गुदाको भीतर प्रविष्ट करावें। फिर स्वेदन कर गुदापर छिद्र वाले चमड़ेको कपड़ेकी पट्टीसे बाँध देनेसे गुदा स्थान पर बैठ जाती है।

(२) चूहेके मांसकी पुल्टिससे सेक करने या चूहेकी चरबी लगानेसे गुद-भ्रंश शमन हो जाता है।

(३) कमलिनीके कोमल पत्तोंको शक्करके साथ खिलानेसे भीतरका दाह शमन होकर कांच निकलना बन्द हो जाता है।

(४) कोकम (अभावमें डांसरिया या बेर), चित्रकमूल, चूका, बेलगिरी, पाठा और इन्द्रजोका चूर्णकर ३-३ माशे खिलानेसे गुदभ्रंश व्याधिकी निवृत्ति हो जाती है और अग्नि प्रदीप्त होती है।

(५) मूषक तैल—चूहा और दशमूल, इन ११ औषधियोंको समभाग मिला क्वाथ करें और इनका कल्क भी करें। फिर कल्कसे ४ गुना तैल और तैलसे ४ गुना क्वाथ मिला कर तैल सिद्ध करें। इस तैलकी मालिशसे गुदभ्रंश, गुदशूल और भगंदर नष्ट होते हैं।

(६) चांगेरी घृतकी मालिश करने और पिलानेसे गुदभ्रंश विकारका शमन हो जाता है।

(७) लिहसोड़ेकी राख या चमड़ेकी राख या माजूफलका चूर्ण या सफेदा लगाकर गुदाको स्वस्थानमें बैठा देनेसे काँच निकलना बन्द हो जाता है।

(८) मर कर सूखे हुए कछवे के मुँहको जलसे घिसकर लेप करनेसे गुदभ्रंश दूर हो जाता है।

जीर्णातिसार चिकित्सा।

जिस रोगीकी अग्नि प्रदीप्त हो; उदर पीड़ा न हो; दोष परिपक्व हो गया हो; रोग अनेक दिनोंका जीर्ण हो गया हो; फिर भी दस्तमें अनेक प्रकारके रंग हों; इसका उपचार निम्नानुसार पुटपाक कृतिसे करना चाहिये।

यदि रोगीको आम न हो, शूल हो, लङ्घन आदिसे कृश और रूक्ष हो गया हो; तो अग्निका विचार कर बकरीके दूधके साथ षडङ्ग घृत या अन्य सिद्ध घृत देना चाहिये।

(१) शूल सह अतिसार हो तो-मिश्री, अजमोद, श्योनाक और मुलहठीका चूर्णकर घी और शहदके साथ दिनमें तीन बार देवें, ऊपर बकरीका दूध पिलावें।

(२) दारुहल्दी, बेलगिरी, पीपल, मुनक्का, कुटकी, इन्द्रजौ, सबको मिला कल्क और क्वाथ करें। फिर कल्क, कल्कसे ४ गुना घी और घीसे ४ गुना क्वाथ मिला कर घीको सिद्ध करें। इस घृतमेंसे १-१ तोला दिनमें २ समय सेवन करानेसे वातज, पित्तज, कफज, तीनों प्रकारके नये और पुराने अतिसार शूल सह शमन हो जाते हैं।

(३) त्रिदोषज अतिसारमें कहा हुआ षडङ्ग घृत दिनमें २ या ३ समय देने और १ घण्टे बाद बकरीका दूध पिलानेसे शूल सह अतिसार नष्ट होजाता है।

(४) कुटज पुटपाक—कुड़ेकी स्निग्ध मोटी-ताजी छाल, जो कीड़ों आदिसे खराब न हुई हो, उसे कूट चावलोंके धोवनमें मिला पिण्डी बाँधें। पश्चात् जामुन या पलाशके पत्तोंमें रख, ऊपर कुश या सूतको लपेट, फिर गीली मिट्टी का १-१ अंगुल मोटा लेप करें। उसे गोबरीकी निर्धूम अग्निमें भरतेकी तरह गोला लाल हो तब तक पकावें। फिर बाहर निकाल मिट्टी और पत्तोंको दूर कर पिण्डीको निचोड़ रस निकाल लें। शीतल होनेपर चौथा हिस्सा शहद मिलाकर पिलानेसे अतिसार निवृत्त हो जाते हैं।

इस औषधके स्वरसकी मात्रा ४ तोले (वर्तमानमें १-१ तोला) लेना चाहिये। दिनमें २ समय देवें। यह योग भगवान् कृष्णात्रेय (पुनर्वसु) ने दिया है। यह अतिसारोंको नष्ट करनेके लिये सम्पूर्ण योगोंका राजा है। विशेषतः रक्तातिसारके लिये तो अति लाभदायक है।

(५) श्योनाक पुटपाक—अरलूकी छालको कूट कमल-केशर मिला चावलों के धोवनके साथ पीस ऊपर लिखे अनुसार पिण्डी बनावें। इसे कमल या गम्भारीके पत्तोंमें लपेट सूत या कुशोंसे बाँधें। फिर मिट्टीका लेपकर अग्निमें पकावें। पश्चात् स्वरस निकाल शीतल होनेपर शहद मिलाकर पिलावें। इस औषधसे रक्तस्राव और अतिसार दूर होते हैं।

(६) दाड़िम पुटपाक—अनारके कच्चे फलोंको पीस उपरोक्त विधिसे पुटपाक कर स्वरस निकालें। फिर शहद मिलाकर सेवन करानेसे अतिसार नष्ट हो जाते हैं।

इस तरह जीवन्ती और मेंढ़ासिंगी आदि औषधियोंका पुटपाक बना करके भी उपयोगमें लिया जाता है।

(७) कुटजावलेह—दिनमें ३ समय बकरीके दूध, मट्ठा या घीके साथ देनेसे रक्तातिसार और कफपित्तज अतिसार शमन हो जाते हैं।

(८) लोध, चन्दन, मुलहठी, दारुहल्दी, पाठा, मिश्री और कमलके साथ अरलूकी छाल मिलाकर ऊपरकी विधिसे पुटपाक बना, स्वरस निकाल शहद मिलाकर पिलानेसे कफपित्तजन्य उदरविकार (अतिसार) शमन हो जाता है।

(९) कौटज फाणित—कुड़ेकी छालका स्वरस निकाल या क्वाथ कर उसे इतना पकावें कि वह शहद जैसा गाढ़ा हो जाय, उसे फाणित कहते हैं। मात्रा १-१ तोला। अतीसका चूर्ण १ माशा और ६ माशे शहदके साथ मिलाकर चटानेसे आम, अति कफ और आफरा सह रक्तातिसार दूर हो जाता है।

(१०) मलक्षय होनेसे थोड़ा-सा झागयुक्त दस्त हो तो—दीप्ताग्नि वालेको ऊपर लिखे अनुसार सोंठका फाणित बनाकर दही, तैल, दूध और घी मिलाकर पिलानेसे दस्तमें फेनिलपना जल्दी शमन हो जाता है।

(११) जायफलको जलमें पीस १ रत्ती अफीम मिला नाभिपर लेप करनेसे दारुण अतिसार निवृत्त हो जाता है।

(१२) पित्तातिसारमें कहे हुए नाभिपूरण प्रयोगसे घोर अतिसार भी दूर हो जाता है।

(१३) भुने हुए कच्चे बेलका गूदा, गुड़, तैल, पीपल और सोंठको मिलाकर खिलानेसे जीर्ण अतिसार, शूल, रुकी हुई वायु और पेचिश दूर हो जाते हैं।

(१४) तालीसादि चूर्ण, जीरकादि मोदक, कर्पूर रस, ग्रहणीकपाट रस, इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन कराने-से जीर्ण अतिसार, उदर वात और ग्रहणी रोग दूर हो जाते हैं।

(१५) जातिफलादि वटी या अहिफेनादि वटी देनेसे आमसह जीर्ण अतिसार का शमन हो जाता है।

(१६) रक्त, पीप और दुर्गन्ध सहित अतिसारपर—कनकसुन्दर, सर्वाङ्गसुन्दर रस (बेलके मुरब्बेके साथ अथवा लघुगंगाधर चूर्णके साथ), प्रवाहिका रिपु चूर्ण, पंचामृत पर्पटी (कच्चे आम और ज्वर सह हो तो), जातिफलादि वटी (अपथ्य) और संगजराहत भस्म (दूसरी विधि) मक्खन-मिश्रीके साथ, इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन करावें। जातिफलादि वटीमें अफीम है। अतः सम्हालपूर्वक दें। वेग और पीड़ा अधिक होने पर प्रवाहिकारिपु चूर्ण अद्भुत गुण दर्शाता है। जीर्ण रोगमें शारीरिक निर्बलता होनेपर पंचामृत पर्पटी हितकर है। कनकसुन्दर सब प्रकारमें लाभदायक है।

(१७) यकृत्प्लीहावृद्धि, शूल और जीर्ण अतिसार हो, तो—लोहपर्पटी या पञ्चामृत पर्पटी (दूसरी विधि) का दिनमें २ समय सेवन करानेसे जीर्ण अतिसार दूर हो जाता है और ग्रहणी सबल बन जाती है।

(१८) नागभस्म (ज्वर न हो तो, सोंठ और सौंफके चूर्णके साथ दिनमें २ समय देते रहनेसे अन्त्रशक्तिकी वृद्धि होती है।

शोथातिसार चिकित्सा।

(१) पुनर्नवा, इन्द्रजौ, पाठा, बेलगिरी, अतीस और नागरमोथोंका क्वाथ कर, कालीमिर्चका चूर्ण मिलाकर पिलानेसे शोथ सह अतिसार निवृत्त हो जाता है।

(२) बायविडंग, अतीस, नागरमोथा, देवदारु, पाठा और इन्द्रजौका क्वाथ कर १ माशा कालीमिर्चका चूर्ण मिलाकर दिनमें ३ समय पिलानेसे शोथातिसारका शीघ्र नाश हो जाता है।

(३) चिरायता, नागरमोथा, गिलोय, सोंठ, लाल चन्दन, नेत्रबाला और इन्द्रजौका क्वाथ पिलानेसे ज्वर सह शोथातिसार दूर हो जाता है।

उपद्रव रूप अतिसार चिकित्सा।

भयातिसार, शोकातिसार, अर्श प्रकोपज, उपदंशजन्य, सूतिका रोगमें अतिसार, कृमिजन्य या अन्य रोगोंमें उपद्रव रूप अतिसार हो, तो उसमें मूल कारणको नष्ट करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

क्षय, उदर रोग, कृमि, सूतिका रोग, जलोदर, वृक्कशोथ, उपदंश, विद्रधि, और अन्त्रविकृति आदि आगन्तुक रोगोंमें उपद्रव रूप अतिसार हो जाता है। इसकी चिकित्सा मुख्य रोगके वर्णनमें यथास्थान लिखी जायगी।

शोकातिसारमें अनेक समय रक्त सदृश या रक्तमिश्रित दुर्गन्धयुक्त दस्त होते हैं। इसकी चिकित्सा वातातिसारके समान करनी चाहिए। उसी अनुसार भयातिसारकी चिकित्सा करें। यथार्थमें शोक और भयके हेतुको दूर किये बिना पूरा लाभ नहीं हो सकेगा। निद्रा लाने वाली औषध देनी चाहिए।

शोकातिसार चिकित्सा।

(१) पृश्निपर्ण्यादि क्वाथ—पृश्नपर्णी, खरैंटी, बेलगिरी, धनिया, नीलोफर, सोंठ, बायबिडंग, अतीस, नागरमोथा, देवदारु, पाठा और इन्द्रजौ, इन १२ औषधियोंको समभाग मिला, क्वाथ बना, कालीमिर्च डालकर पिलानेसे शोकज अतिसार दूर होता है।

(२) मनको प्रसन्न रखने और हृदयको उत्तेजना देनेके लिए द्राक्षासव पिलावें। साथमें आध रत्ती अफीम देनेसे अतिसार भी बन्द हो जाता है।

अतिसार निवृत्ति लक्षण—जिस मनुष्यको पेशाब करते समय दस्त न निकल जाता हो, अपानवायु सम्यक् प्रकारसे गुदासे निकलती रहती हो, जठराग्नि दीप्त हो और कोठा हल्का, मुलायम हो गया हो, उसे अतिसारसे मुक्त हुआ जानें।

अतिसारमें पथ्य—प्रारम्भमें एरण्ड तैलका विरेचन या सिद्ध घृत आदि

की पिच्छिल बस्ति देकर आमको दूर करावें, फिर लंघन और लघु भोजन आदि देवें।

यदि आमाशयमें दूषित आम और प्रबल कफ हो, तो वमन कराकर फिर लंघन करावें। इस सम्बन्धमें भगवान् धन्वन्तरिने कहा है, कि—

गौरवे वमनं पथ्यं यस्य स्यात्प्रबलः कफः।
ज्वरे दाहे सविड्बन्धे मारुताद्रक्तपित्तवत्॥

जिसका कफ बहुत बढ़ गया हो, गुरुता, ज्वर, दाह और मलावरोध हो, उसे वातज अधोगामी रक्तपित्तके समान वमन कराना चाहिये।

यदि पक्के अतिसारमें अधिक मलावरोध हो जाय, तो मूत्रशोधक गोक्षुरादि औषधियोंके क्वाथसे आस्थापन बस्ति देनी चाहिये। एवं अनुवासन बस्ति भी करानी चाहिये।

कांखनेसे गुदा बाहर निकलती हो, कमर जकड़ी हुई हो, तो मधुर, अम्ल द्रव्योंसे सिद्धकी हुई अनुवासन बस्ति देवें।

वमन, लंघन, निद्रा, पुराना शालि और सांठी चावल, विलेपी, औषधके क्वाथमें बनाई हुई पेया और यवागू, साबूदाना, अगरोट, सिंघाड़के आटेकी लपसी (विलेपी) लाजामंड (चावलकी खीलका मंड), मसूर और अरहर की दालका यूष, खरगोस, हिरन, लावा और कपिञ्जलका मांस; सब प्रकारकी छोटी मछलियाँ, बड़ी मछलियाँ, तैल, बकरीका घृत, दूध, दही और छाछ, गाय का दूध (अनुकूल रहे तो जीर्ण अतिसार रोगमें), गायके ताजे दहीका मट्ठा, दही; मक्खन, और घृत, केलेका फूल, कच्चा केला, परवल, बैंगन, गूलर, शहद, जामुन, कमरख, भसींडा, पक्का अदरक, सोंठ, ल्हेसवा, कण्टाई, कैथ, बकुल (मौलसरी) के फूल, बेलफल, ताड़फल; तेंदू, खट्टा और मीठा अनार, जायफल, चूका, चौलाई, भाँग, जीरा, अतीस, धनिया, बेलका मुरब्बा, कसेरु, कसैले पदार्थोंका रस और अग्निप्रदीपक, तुरन्त पच सकें ऐसे अन्न-पान, ये सब पथ्य हैं।

अतिसारमें जल औटाकर अर्धावशेष रहनेपर पीनेके लिये उपयोगमें लें। या पोनेके लिये जल निम्नानुसार औषधके साथ १२ गुना मिला पका कर देना चाहिये।

नागरादि पानीय—सोंठ, अतीस और नागरमोथा या धनिया और सोंठ मिला, जलको उबाल अर्धावशेष करके पीनेको देवें।

यदि प्यास अति लगती हो, तो नागर मोथा और नेत्रवालासे जल पकाकर दें।

तृषा और दाह हो, तो नेत्रवाला और धनियाको १२८ गुने जलमें मिला उबाल अर्धावशेष रहनेपर उपयोगमें लें। अथवा नागर मोथा और पित्तपापड़ा या नेत्रवाला और सोंठ मिला जल उबाल कर देते रहें।

खड्यूष—मट्ठेमें कैथ, अमलोलिया, कालीमिर्च, जीरा, चित्रकमूल और मूँग या अन्य अन्न मिलाकर यूष बनावें। कैथ आदिमें मसाला स्वाद और गुण कायम रहे, उस हिसाबसे मिलावें। सिद्ध होनेपर धनिया, हल्दी और सैंधानमक मिलाकर पिलावें। इस यूषसे आमका पचन होता है और अतिसार की निवृत्ति होती है।

यवागू—यवागू बनानेकी विधि ऊपर प्रकरणके अन्तमें लिखी है। उस अनुसार बनाकर जीरा, सोंठ, पीपलमूल आदि पाचक मसाला मिलाकर देवें; या अरलूकी छाल, प्रियंगू, मुलहठी, अनारकी कोमल पत्ती और मट्ठा डाल, लाल चावलोंकी यवागू बनाकर देवें। यह यवागू आमपचनमें अति हितकारक है; अथवा नेत्रवाला, सोंठ और पाठा या नागरमोथा, पित्तपापड़ा और पाठा मिलाकर यवागू बनाकर देवें।

मुस्तादि दुग्ध—२० नग नागरमोथेको कूट २० तोले बकरीके दूध और ६० तोले जलके साथ मिलाकर पकावें। दूध शेष रहनेपर छान लें। शीतल होनेपर ६ माशे शहद मिलाकर पिलानेसे वेदना सह आमातिसार नष्ट हो जाता है।

अपानवायु और मलकी रुकावट, शूल, पेचिश, रक्तपित्त और तृषा रोगमें तथा पुराने अतिसार रोगमें दूध पिलाना अमृत समान हितकर है। अतः दूधको तीन गुने जलके साथ मिला दुग्धावशेष रहे, तब तक औटाकर पिलाना चाहिये।

सूचना—यदि विलेपी या यवागूका सेवन करना है, तो अनेक पदार्थोंका सेवन नहीं करना चाहिये। क्योंकि शाक, मांस और फलके रसोंके साथ विलेपी, यवागूका सेवन करनेसे आहार दुर्जर हो जाता है और आंतें निर्बल बन जाती हैं।

अतिसारमें अपथ्य—स्वेदन, अञ्जन, रुधिर निकालना, अधिक जलपान, स्नान, तैलमर्दन, जलमें घुसकर स्नान, स्त्री सेवन, रात्रिका जागरण, धूम्रपान, नस्य, मलमूत्र आदि वेगका धारण; रूक्ष भोजन, अपथ्य (देश, काल या संयोग विरुद्ध) भोजन, प्रकृति विरुद्ध अन्न, गुरुपाकी और स्निग्ध भोजन, अधिक भोजन, व्यायाम, अग्नि या सूर्यके तापका सेवन, चाहे जहाँ सो जाना, गेहूँ, उड़द, जौ, बथुआ, मकोय, निष्पाव (सेमकी फली), शहद, सुहिंजनेकी फली, पक्के आम, सुपारी, काशीफल, लौकी, तूम्बी, बेर, भारी भोजन, नागर वेलका पान, ईख, गुड़, शराब, पोईकी पत्ती, अंगूर, अम्लबेंत, लहसुन, सब प्रकारके कन्द शाक, सब प्रकारके पत्ती शाक, आँवला, दूषित जल, दहीका नितरा जल, काँजी, नारियल, दूध (नये अतिसारमें) क्षार, दस्तको भेदन करने वाले पदार्थ, पुनर्नवा, ककड़ी, खीरा, अधिक नमक, खट्टे पदार्थ, क्रोध करना इत्यादि अतिसार रोगीके लिये हानिकर हैं।

अतिसार रोगमें पतले पेय देनेका शास्त्रकारोंने निम्न वचनोंमें निषेध किया है:—

वर्जयेद् द्विदलं शूली कुष्ठी मांसं क्षयी स्त्रियम्।
द्रवमन्नमतिसारी सर्वं च तरुणज्वरी॥

उदरशूल वाले द्विदल धान्य (अरहर, मसूर, उड़द आदि), कुष्ठ रोगी मांस, क्षय रोगी स्त्री सेवन, अतिसार रोगी पतला भोजन और तरुण ज्वरवाले इन सबको छोड़ देवें।

व्रणोदरास्थापनपीड़ितानां प्रमेहिणां छर्द्यतिसारिणां च।
द्रवं न दद्यादथवापि कोष्ठं स्वल्पं हितं भेषजसंप्रयुक्तम्॥

व्रण रोगी, उदर रोगी, आस्थापन बस्ति लेनेपर, प्रमेही, वमन रोगी और अतिसार रोगीको द्रव पदार्थ नहीं देना चाहिये।

किन्तु यह विधान लाजामण्ड, पेया या औषधसे तैयार की हुई यवागूको छोड़कर अन्य प्रकारके पेयके लिये समझना चाहिये। कारण भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि :—

तृष्णापनयनी लघ्वी दीपनी बस्तिशोधनी।
ज्वरे चैवातिसारे च यवागूः सर्वदा हिता॥

यवागू तृषाको शान्त करने वाली, हलकी, दीपन और बस्तिको शोधन करने वाली है। सर्वदा ज्वर और अतिसारमें हितकर है।

(२) प्रवाहिका।

(पेचिश, मरोड़ा, इसहाल उलदम, डिसेन्ट्री—Dysentery)

पेटमें मरोड़ा आकर बार-बार थोड़े-थोड़े कफ लिपटे हुए दस्त आते रहें, दस्तके समय किंछना (प्रवाहण करना) पड़े, उसे प्रवाहिका कहते हैं।

प्रवाहिकामें प्रवाहण यह लक्षण होता ही है, किन्तु प्रवाहण होनेपर प्रवाहिका ही हो, यह नियम नहीं। अहिपूतना (गुदामें गम्भीरपामा-प्रुरायटस Pruritus), गुदापर व्युची (एक्झिमा Eczema), गुदभेद (गुदाकी चमड़ी फट जाना (Fissure of the Anus) अर्श, गुदनलिका संकोच, गुदनलिकामें दाह या व्रण, पौरुषग्रन्थिवृद्धि, अथवा मूत्राशयरोग, मूत्राशयपर अर्बुद, अश्मरी, गर्भाशयविकार, गर्भाशयमें रक्तवृद्धि, बीजकोष विकार, भगंदर, गुदाके समीपमें विद्रधि, मस्तिष्ककी निर्बलता और भय-शोक आदि हेतुओंसे भी रोगीको किंछना पड़ता है। इसलिये और लक्षणोंको भी मिलाना चाहिये।

सम्प्राप्ति—अपथ्य सेवन करनेपर वायु कुपित होकर संचित कफको (पित्त और रक्तको भी) मलमें मिलाकर बार-बार नीचे गिराती रहती है। +

+ वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य।
प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलाक्तं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥

भेद—यह रोग शूलसह होनेपर वातज, दाह (विशेषतः गुदामें) होनेपर पित्तज, कफकी अधिकता होनेपर कफज और रक्त (या पीप) मिश्रित होनेपर रक्तज कहलाता है।

अधिक रूक्ष पदार्थोंके सेवनसे वातिक, तीक्ष्ण और उष्ण पदार्थोंसे पैत्तिक, घृत-तैल आदिके अधिक सेवनसे श्लैष्मिक और पित्त-रक्त प्रकोपक (गुड़,शराब, धूम्रपान आदि) पदार्थोंसे रक्तज प्रवाहिकाकी उत्पत्ति होती है। इस रोगमें कच्चे पक्के आमकी परीक्षा और चिकित्सा अतिसारमें लिखे अनुसार करनी चाहिये।

निदान—अतिसार हो जानेपर एवं बिना अतिसार हुए भी इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है। वर्षाऋतुके दूषित जल, शीतल वायुका सेवन, आर्द्र स्थानमें निवास, दूषित जलपान, विरुद्ध पदार्थोंका सेवन (दूध और फल, दूध और खिचड़ी आदि), वातप्रकोपक और गुरुपाकी भोजन, तीक्ष्ण पदार्थोंका सेवन, अधिक शराब, अधिक परिश्रम, कूदना, दौड़ना और अतिसारमें कहे हुए अन्य कारणोंसे वायु प्रकुपित होनेसे इस रोगकी उत्पत्ति होती है।

काठियावाड़ और बीकानेर आदि प्रदेशोंमें वैद्य और डॉक्टर दूध और खिचड़ी पथ्यरूपमें देते रहते हैं. यह रिवाज उन देशोंके लिये रूढ़ हो गया है। किन्तु शास्त्रमर्यादासे विपरीत है।

अतिसार अथवा दूषित खानपानके हेतुसे विशेषतः बड़ी आँतकी भीतरकी त्वचामें (क्वचित् लघु आँतमें) अधिक क्षोभ होनेपर इस रोगकी उत्पत्ति होती है। इस रोगमें आँतके भीतर सूजन होकर घाव हो जानेपर बार-बार रक्त, आम अथवा पीव मिश्रित, दाह और शूल सहित थोड़ा-थोड़ा दस्त होता रहता है।

रूप—प्रारम्भमें आम लिपटा हुआ दुर्गन्धयुक्त मल निकलता है। अग्निमान्द्य, प्यास, पेटमें मरोड़ा आना, जिह्वापर मैल जमना, शुष्क जिह्वा, उबाक, मूत्र थोड़ा और लाल हो जाना, क्वचित् ज्वर, नाड़ी कभी तेज कभी क्षीण हो जाना, और दस्तके समय प्रवाहण करना (किंछना) इत्यादि लक्षण होते हैं।

प्रवाहिकाका डाक्टरी निदान आदि।

व्याख्या—अतिसार सह रक्त और आम निकलने वाले रोगको प्रवाहिका कहते हैं। इस रोगमें उदरमें पीड़ा होकर थोड़ा-थोड़ा मल गिरता है और किंछना पड़ता है। यह रोग कीटाणु जनित है। इसके मुख्य २ प्रकार हैं—१. बेसीलरी और २. एमिबिक।

बेसिलरी प्रवाहिका।

(Bacillary Dysentery—Epidemic Dysentery)

इस रोगका प्रकोप विशेषतः ग्रीष्मप्रधान देशमें होता है। विषुवत् रेखाके

३५ डिग्री उत्तर और दक्षिण अक्ष रेखाके बीचके प्रदेशमें यह फैलता है। ग्रीष्म प्रदेशोंमें भी यह सर्वत्र समभावसे नहीं फैलता। गुजरात, काठियावाड़ और आफ्रिकाके कितने ही भाग ग्रीष्म प्रधान होनेपर भी वहाँ उतना बल नहीं दर्शा सकता। वर्षा-शरद् ऋतुमें जब मक्खियाँ बहुत हो जाती हैं, दिनमें उष्णता और रात्रिमें शीतलता होती है तब यह अधिक फैलता है। समय-समयपर समशीतोष्ण देशमें भी प्रकट होता है। दुष्काल और युद्धकालमें भी यह तीव्र रूप धारण कर लेता है।

यह रोग कभी-कभी जनपदव्यापी बन जाता है। उस समय मृत्युसंख्या भी अधिक होती है। शिगा कीटाणु कभी जनपदव्यापी बन जाता है।

यह बाल, वृद्ध, स्त्री-पुरुष, सबको होता है; तथापि २ वर्षके भीतरके बालक और परिपक्व आयुवाले स्त्री-पुरुषोंको अधिक होता है।

निदान—इस रोगके उत्पादक ३ जातिके कीटाणु हैं। १. शिगा (Shiga) इसके भीतर स्मिटज (Schmitz's) के कीटाणुका अन्तर्भाव होता है; २. फ्लेक्सनर (Flexner); ३ सोने (Sonne)। शिगाकी शोध १८९८ में हुई है। यह समूह अति स्पष्ट है। फ्लेक्सनरमें V, W, X, Y, Z, ये ५ प्रकार हैं। सोनेज बेसिलस. शिगा और फ्लेक्सनरसे भिन्न प्रकारका है। उन दोनों प्रकारों में रक्त द्रव चिपचिपा (Agglutinate) नहीं बनता। एवं इनके लक्षणोंमें भी भेद हो जाता है। इस सोनेके कीटाणुसे शेषान्त्रक-बृहदन्त्र प्रदाह होता है। सामान्यतः लक्षण सौम्य होते हैं, मलका रंग हरा होता है। यह क्वचित् आशुकारी रूप धारण करता है; तब वमन, अतिसार कराकर शीघ्र शक्तिपात करता है।

शिगाके कीटाणुओंसे पीड़ित इन्द्रियोंके विष-स्रावसे केन्द्रस्थ वातसंस्था प्रभावित होती है तथा अन्त्रगत श्लैष्मिक कला विष शोषणके हेतुसे पीड़ित होती है। फ्लेक्सनर और सोनेका आक्रमण बहुधा शिगाकी अपेक्षा सौम्यतर होता है।

सम्प्राप्ति—इसके कीटाणु बृहदन्त्रकी श्लैष्मिक कलापर आशुकारी प्रदाह उत्पन्न करते हैं। साथ-साथ शेषान्त्रकका अन्तःभाग भी प्रभावित हो जाता है। (तीव्र आक्रमण हो तो श्लैष्मिक कला रक्तपूर्ण, गहरी लाल और मोटी हो जाती है)। उसपर छोटे-छोटे उत्तान-क्षत गुलाबी आभा वाले होते हैं और उनसे बड़े अनियमित क्षत आड़े होते हैं। रोग बढ़नेपर श्लैष्मिक कलाका कोथ होता है और उसका रङ्ग हरिताभ-कृष्ण हो जाता है।

कीटाणु अन्त्रके बाहर प्रतीत नहीं होते।

चयकाल—कुछ घण्टोंसे लेकर ३ दिन तक। कभी-कभी १ सप्ताह।

लक्षण—आक्रमण अकस्मात् होता है। उदरकी पीड़ा सह अतिसार, व्याकुलता, बार बार थोड़ा थोड़ा आम निकलना, बेचैनी, उत्तापवृद्धि और किन्हना

ये सब उपस्थित होते हैं। आशुकारी अवस्था हो तो बार-बार शौच होता है। इसके साथ वमन और तृषा भी उपस्थित होती है। वमन १-२ दिन तक रहती है। सामान्य शिरदर्द होता है।

परीक्षा करने पर उदर मुलायम भासता है। मांसपेशियोंकी जकड़ाहट होती है। शारीरिक उत्ताप १०२° से १०३° तक और नाड़ी तेज प्रतीत होती है। गम्भीर प्रकार हो तो जिह्वा शुष्क होती है तथा जल अधिक निकल जाने और विषप्रकोपसे शक्तिपात होता है। पेशावकी उत्पत्ति कम हो जाती है। फिर थोड़ा आम कुछ मल सह गिरता है। मलमें दुर्गन्ध नहीं आती और उसमें मल द्रव्य भी नहीं होता, कभी-कभी केवल रक्त ही गिरता है। अणुवीक्षण यन्त्रद्वारा देखने पर कुछ कीटाणु प्रतीत होते हैं।

रोग बढ़नेपर गालपर नीलाभ तेज भासता है। त्वचा अति शीतल लगती है। उदरपर दबानेपर वेदना होती है; विशेषतः बांयी ओर। यदि इस अवस्था में वमन हो, तो अवस्था अति गम्भीर मानी जायगी। घुटने आदिमें कुछ दर्द होता है। बल-क्षय अधिकाधिक होता जाता है; व्याकुलता भी बढ़ती है। मल मूत्रका निग्रह नहीं होता। मन चारों ओर भटकता है। फिर भी बुद्धि कायम रहती है। इस तरह रोग-वृद्धि होनेपर मृत्यु हो जाती है। ऐसी गम्भीर अवस्था वाले रोगियोंमेंसे ५० प्रतिशतकी मृत्यु हो जाती है।

मध्यम वेगवाली अवस्थामें उदरपीड़ा और प्यास तो अधिक होती है, किन्तु शुष्कता और शीत नहीं होती। १५-२० मिनटपर बारम्बार शौच होता रहता है; किन्तु केवल रक्तका नहीं। त्वचा आर्द्र रहती है। उदर पर दबानेसे दर्द होता है। कुण्डलिका: भाग प्रायः स्पष्ट प्रतीत होता है; आक्षेपसे संकुचित होता है। नाड़ी तेज होती है; किन्तु दौड़ती हुई नहीं। वमन अति क्वचित्। आशुकारी अवस्था ४-५ दिन रहती है। फिर तेजीसे स्वास्थ्यकी उन्नति होती है या चिरकारी अवस्थाकी प्राप्ति होती है।

विविध प्रकार—

१. गम्भीर प्रकार (Fulminating Dysentery)—यह विसूचिका सदृश प्रकार है। यह शक्तिपात, वमन और अतिसार सह होता है। कभी कोथ, गम्भीर विषप्रकोप और उदरपीड़ा भी होते हैं। एक दिनमें दस्त ४०-५० होते हैं।

२. सौम्य प्रकार—इसके लक्षण सौम्य होते हैं। सामान्य किंछना, मल, आम और रक्तमय शौच होता है।

३. चिरकारी प्रकार—यह महीनेसे भी अधिक समय तक कष्ट पहुँचाता है। मलावरोध और अतिसार होते रहते हैं। दस्तकी संख्या कम होती है।

४. **बालातिसार या ग्रीष्मातिसार** (Infantile Cholera or Summer Diarrhoea)—इस प्रकारमें रक्त और आम सह मल गिरते हैं। यह बेसिलरी प्रवाहिकाका भेद है। इसका उल्लेख जनपदव्यापी अतिसार में पहले किया है।

पार्थक्य दर्शक रोग विनिर्णय—मधुरा, आहार-विष (अपचन) जनित अतिसार, आशुकारी क्षतमय बृहदन्त्रप्रदाह, शेषान्त्रकके अन्तर्भागका प्रदाह, विषम ज्वर जनित प्रवाहिकामें इसके लक्षण कितने ही मिलते हैं। किन्तु भेदद-र्शक लक्षण अनेक मिलते हैं, जिससे भ्रम नहीं होता। बेसिलरी और एमिबिक प्रवाहिका, दोनोंमें कितने ही लक्षण समान होते हैं। अतः दोनोंकी पृथकता निम्न कोष्ठकमें दर्शायी है :—

	बेसिलरी प्रवाहिका।	एमेबिक प्रवाहिका।
१.	आक्रमण आशुकारी	विशेषतः नियमित बढ़ने वाला। प्रारम्भिक अतिसार असामान्य नहीं होता।
२.	जिह्वा लाल, विषप्रकोप, किंछना, समस्त उदरमें दबानेपर वेदना।	जिह्वा मल लिप्त, मंद विषप्रकोप, किंछनाविरल, दबानेपर स्थानिक वेदना।
३.	रोग बढ़नेपर अत्यन्त गम्भीर लक्षण।	अनियमित, विशेषतः चिरकारी बनना।
४.	दस्त कम मात्रामें और अधिक समय, गंधहीन, क्षारीय, सफेद, कुछ रंगवाले आम, पूय, कोषाणु और रक्त रहना। दस्त बँधा होने पर आमसे आच्छादित।	दस्त अधिक परिमाणमें, दुर्गन्धमय; अम्लशौच, आम, रक्त और मल द्रव्य युक्त; विशेषतः मिश्रित रक्तरंजित आमके छोटे गोले। दस्त बंधा होनेपर आम मिश्रित होना।
५.	यकृद्विकार नहीं।	यकृत्की विद्रधि।
६.	विशेषतः कुण्डलिका भाग प्रभावित होगा। शेषान्त्र प्रायः रक्तसंग्रहमय। क्षत उत्तान होना। श्लैष्मिक कला मोटी हो जाना।	उण्डुक और आरोही अन्त्र मुख्यतः प्रभावित होना। शेषान्त्रक क्वचित् पीड़ित होना। क्षत लम्बाईकी रुखसे निम्न किनारे युक्त।

उपद्रव और भावी क्षति—

१. बृहदन्त्र प्रदाह—मलावरोध और बार-बार अतिसार होना, कभी उपान्त्र प्रदाह। प्रायः दस्त और मलयुक्त। अरबन रहना, देहका वजन घटते जाना।

२. संधिप्रदाह—रोगमुक्तिके प्रात समयमें आक्रमण। बड़ी संधियोंका प्रदाह

विशेषतः छुटनेका सौम्य प्रदाह। महीनों तक कष्ट होता है। हृदयपर आघात नहीं होता।

३. तारामण्डल प्रदाह या तारामण्डल, तन्तुसमूह और मध्यपटल प्रदाह (Iritis and Iridocyclitis) विशेषतः सन्धि प्रदाह होनेपर।

४. स्फोटक (Boils)—कभी-कभी, किन्तु वेदनाप्रद।

५. अर्श—रोगमुक्ति कालमें शौचमें अधिक रक्त जानेपर।

६. उदर्याकला प्रदाह—कभी छिद्र होनेपर अन्तिमावस्थामें गम्भीर आक्रमणके पश्चात् होता है। कभी औदर्य प्रदाह, प्रलापक और कभी स्थानिक होता है। इस प्रकारमें मृत्यु-संख्या अत्यधिक होती है।

७. व्रणसंरक्षक त्वचाजन्य संकोच (Cicatricial Contractions)—कभी इससे अन्त्रावरोध हो जाता है।

८. हृत्स्पंदन वर्द्धन (Tachycardia)—कभी-कभी हृदयके स्पंदन बढ़ जानेसे अनियमितता आ जाना।

९. हृत्स्पंदन ह्रास (Bradycardia)—रोगमुक्ति होनेपर दूसरेसे चौथे सप्ताहके भीतर स्पंदन ४० से ६० तक होना, यह असामान्य नहीं है। विशेषतः सौम्य प्रकारोंमें। विशेष गम्भीर आक्रमणके पश्चात् सामान्यतः हृदय गति ६०-७० होती है। प्रायः चौथे सप्ताहसे हृदय गति बढ़ती है; विशेषतः रोगी उठता है तब १०० या उससे भी अधिक द्रुत।

१०. विषम ज्वर—यदि रोग गुप्त रहता है तो उपस्थित होता है।

रोगमुक्ति—गम्भीर आक्रमणके पश्चात् स्वास्थ्यकी प्राप्ति अति धीरे-धीरे होती है। कुछ मास लग जाते हैं। सामान्य आक्रमणके साथ शीत और पथ्य सम्बन्धी भूल होनेपर अन्त्रविकृति हो जाती है। फिर अपचन और आमाशयमें भारीपन रहना, यह सामान्यतः होता है। मलावरोध बारंबार रहता है।

क्रम—गम्भीरावस्थामें क्रम शीघ्र बढ़ता और मृत्यु हो जाती है। आशु-कारी प्रकारमें अतिसार सामान्यतः ७ से १० दिन तक रहता है। फिर स्थिति सुधरने लगती है। पुनराक्रमण हो सकता है। कभी जीर्णावस्थाकी प्राप्ति होती है।

साध्यासाध्यता—गम्भीर प्रकारमें मृत्यु ४० से ६० प्रतिशत। सामान्य प्रकोपमें मृत्यु प्रायः अति कम। यदि शिगा कीटाणुका आक्रमण हो तो सौम्य प्रकारमें भी कुछ गम्भीरता रहती है। रोगमुक्ति देरसे मिलती है तथा सामान्य अतिसार रह जाता है। फ्लेक्सनर कीटाणुसे प्रायः २-३ प्रतिशतसे अधिक मृत्यु नहीं होती।

एमिबिक प्रवाहिका ।
(Amoebic Dysentery-Amoebiasis.)

व्याख्या—इस रोगकी उत्पत्ति प्राणी कीटाणु एण्टमिबा हिस्टोलिटिका (Entamoeba histolytica) के आक्रमणसे होती है। ये कीटाणु एक इन्द्रियमेंसे अपर इन्द्रियमें प्रवेश करते हैं। फिर अन्त्रके तन्तुओंकी गहराईमें पहुँचते हैं और रक्तप्रवाहके साथ फैल जाते हैं। इनसे सामान्यतः यकृत् प्रभावित होता है।

इन कीटाणुओंका व्यास १५ से ५० माइक्रोन (Micron—१ माइक्रोन अर्थात् १ मीटरका दशलाखवाँ हिस्सा) सामान्यतः ३० माइक्रोन अर्थात् १।८३५ इञ्च) होता है। प्रायः ये रक्ताणुओंको अपने अधिकारमें कर लेते हैं। फिर केन्द्रस्थान (Nucleus) अस्पष्ट और पराङ्मुख हो जाता है।

इनके अतिरिक्त दूसरी उपजाति एण्टमिबा कोली (E. Coli) तथा तीसरी उपजाति एण्टमिबा नाना (E. nana) है। कोलीका व्यास हिस्टोलिटिकाके समान या कुछ अधिक है। नानाका व्यास ६ से १२ माइक्रोन है। यह जाति रोगोत्पादक नहीं है।

इनमेंसे एण्टमिबा हिस्टोलिटिका ही मात्र आशुकारी प्रवाहिका रोगीके मलमें प्रतीत होता है। इसकी शोध १८७५ ई० में हुई है। दस्तकी परीक्षा शीघ्र कर लेनी चाहिये है। अन्यथा कीटाणु कुछ घण्टोंमें अदृश्य (मृत) हो जाते हैं। इन कीटाणुओंके कोष (Cysts) गोल, ७-१४ माईक्रोन व्यासके तथा २ से ४ केन्द्र स्थानवाले होते हैं। वे आम वाले भागमें मिल जाते हैं। ये कोष शीतल आर्द्र स्थानमें रहें, तो लगभग १० दिन तक रह सकते हैं। इन कोषोंको मक्खियाँ ले जाती हैं, वे अन्नजलमें मिला देती हैं। इन कोषोंवाला अन्नजल खानेमें आनेपर निरपराधियोंको भी इस रोगकी उत्पत्ति होजाती है।

इस रोगकी सम्प्राप्ति विशेषतः भारत, हिन्दी चीन, चीन, फिलीपाइन्स, मिश्र, मेसोपोटेमिया और अमेरिकाके कुछ भागमें होती है। यह रोग प्रायः बालक और बड़ी आयु वालोंको होता है।

सम्प्राप्ति—इसके कीटाणु बृहदन्त्रकी श्लैष्मिक कलामें पहुँच कर वहाँ अपना अड्डा जमाते हैं। फिर दीवार मोटी होती है; उपश्लैष्मिक कलाके तन्तुओं का कोथ होता है; और बोतलके आकारका क्षत होता है। क्षत बढ़ता है; उसका किनारा नीचा रहता है। वे अन्त्रमें लम्बाईके रुखसे होते हैं। विशेषतः उण्डुक और अन्त्रके मोड़पर (आरोही अन्त्रमें) होते हैं। एमिबा प्रतिहारिणी सिरा द्वारा यकृत्में पहुँचते हैं और वहाँ पर प्रदाह उत्पन्न करते हैं अथवा एक या अधिक विद्रधि निर्माण करते हैं। पूय गुलाबी आभावाला पिङ्गल (Pinkish

brown) और सामान्यतः वंध्य (निष्फल) होता है। एमिबा विद्रधिकी दीवार मेंसे उत्पन्न मल (Scraping) में रहते हैं। ये विद्रधि फुफ्फुस, आमाशय, ग्रहणी, बृहदन्त्र, उदर्याकला और कभी हृदयावरणमें फूटता है एवं इस विद्रधिके विषप्रवाह द्वारा मस्तिष्क या प्लीहामें विद्रधि होती हैं।

जीर्णरोग वाले रोगियोंके भीतर कुछ भागमें दीवार मोटी और कुछ भागमें पतली। व्रणसंरक्षक त्वचा लगी हुई और रञ्जित भासती है। व्रणसंरक्षक त्वचा जनित संकोच और उदर्याकलाकी संलग्नता भी प्रतीत होती है। फिर कभी छिद्र और उदर्याकला प्रदाह होते हैं। लसीका ग्रन्थियाँ सामान्यतः बढ़ती हैं।

यकृत् विद्रधि ऊपर कही है, वह ५ प्रतिशत रोगियोंमें होती है।

चयकाल—संभवतः ३ सप्ताहसे ३ मास।

आशुकारी प्रकारके लक्षण—सामान्य नहीं होते; अकस्मात् आक्रमण, किन्तु प्रायः पूर्वरूपमें अतिसार होता है। व्यापक लक्षण बेसिलरी प्रवाहिकाके समान होते हैं। किन्तु किञ्छना कम पड़ता है और विषप्रकोप कम होता है। सामान्यतः ज्वर भी नहीं होता। २४ घण्टोंमें लगभग ८-१२ बार शौच होते हैं। आम, रक्त और मल एवं पूय द्रव्य मिश्रित होते हैं। प्रतिक्रिया अम्ल होती है।

विश्वासघातक प्रकारके लक्षण—सामान्य अनियमित रूपसे बीचमें विराम और पुनराक्रमण युक्त होते हैं। आक्रमण सौम्य या गम्भीर होता है, किन्तु विषप्रकोप मंद तथा उण्डूक या कुण्डलिका भागमें दबानेपर वेदना, यकृत् प्रदाह होनेपर उत्तापवृद्धि, देहका वजन घट जाना आदि लक्षण प्रकट होते हैं। पुनराक्रमणके बीचका समय सप्ताहोंसे वर्षों तकका होता है।

सौम्य प्रकारके लक्षण—सामान्य। प्रायः अकस्मात् अतिसार सह पुनः पुनः आक्रमण। चिरकारी प्रकार विरक्त नहीं, एवं अतिसार सहित भी नहीं। दुराग्रही मलावरोध, क्षीणता, उदासीनता और उदरमें भारीपन आदि लक्षण होते हैं। बीच-बीचमें आक्रमण होता रहता है।

गुप्त प्रकार—यह भी दृष्टिगोचर होता है। उपद्रवोंका पहले आविर्भाव करता है। लक्षण उपस्थित नहीं होते।

उन्नति—आशुकारी प्रकार और आक्रमणका निरोध क्वचित् ही चिकित्सा द्वारा होता है और क्लेशप्रद परिणाम ला देता है। किन्तु प्राथमिकावस्थामें मृत्यु कम होती है; प्रायः उत्तरोत्तर उन्नति होती है। मलावरोध और अतिसार क्रमशः होकर लम्बा समय आरोग्यप्राप्तिमें निकल जाता है। कभी जीर्ण रूप धारण करता है और उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

रोग विनिर्णय—इस रोगका और बेसिलरी प्रवाहिकाका प्रभेद बेसिलरी प्रवाहिकामें दर्शाया है। कुण्डलिका दर्शक यन्त्रद्वारा देखनेपर कुण्डलिका भाग

में प्राय: क्षत प्रतीत होते हैं। क्ष किरण परीक्षा कुछ सहायता देती है।

उपद्रव और भावी क्षति—

१. यकृत्पर विद्रधि—यह विद्रधि आशुकारी और चिरकारी होती है। कुछ सप्ताहोंमें आशुकारीकी प्राप्ति होती है। कभी ५-१० वर्ष भी लग जाते हैं।

२. स्थानिक उदर्य्याकला प्रदाह—यह चिरकारी अवस्थामें होता है। विशेषत: मोटे अन्त्रके ऊपर। यथा हि उण्डुक। कभी उपान्त्र प्रदाहसह होता है, शस्त्र चिकित्सा व्यर्थ है।

३. छिद्र और उदर्य्या कला प्रदाह—सामान्यत: गम्भीर आक्रमणकी अन्तिमावस्थामें। मृत्यु संख्या अधिक होती है, रक्तस्राव कदचित् होता है; किन्तु क्लेश-प्रद होता है।

४. वृहदन्त्र विकृति—आकुंचन कभी नहीं होता। प्रसारण होता है।

५. उपान्त्रप्रदाह—वह विरल नहीं है।

इनके अतिरिक्त बेसिलरी प्रवाहिकाके उपद्रव हो जाते हैं; किन्तु संधिप्रदाह नहीं होता।

प्रवाहिकाके अन्य प्रकार।

१. सोने प्रवाहिका (Sonne Dysentery)—इसका वर्णन बेसिलरीके साथ किया गया है। यह सौम्य प्रकार है। मृत्युसंख्या कम होती है।

२. लेम्बिया (जियार्डिया)-इन्टेसटाइनलिस—Lamblia (or Giardia) Intestina'lis—इसकी लम्बाई २० माइक्रोनकी है। यह शुण्डाकार कीटाणु है। इसके लम्बी पूँछ होती है। इसकी प्रतिक्रियासे अतिसार होता है। शौच पीताभ और बड़े-बड़े होते हैं। आम कभी नहीं होते। यह ग्रहणी नलिका द्वारा पित्तमें पहुँच जाता है। विशेषत: आमाशय रस में लवणाम्ल की कमी होनेपर। किन्तु वह पित्ताशय या पित्त नलिकापर स्पष्ट आक्रमण नहीं करता। एटेब्रिन दिनमें ३ बार ५ दिन तक सेवन करने पर ये नष्ट हो जाते हैं।

३. बेलेंटिडियम कोली (Balantidium Coili)—यह प्राणिज कीटाणु अण्डाकार है। इसकी लम्बाई ५०-८० और चौड़ाई ३०-६० माइक्रोन है। यह एमिबिक प्रवाहिकाके सदृश क्षत बनाता है। लक्षण चिरकारी प्रवाहिकाके समान होते हैं। यह लसिका ग्रन्थियोंपर आक्रमण करता है; किन्तु यकृत्पर कभी नहीं। मल परीक्षापरसे एमीबिक और इसका भेद होता है। इसकी चिकित्साका अनुसंधान हो रहा है। लाभदायक उपचार की अभी तक सिद्धि नहीं हुई।

४. ट्रिकोमोनस वेजाइनलिस (Trichomonas Vaginalis)—यह प्राणी कीटाणु अमरूदके सदृश आकारका है। लम्बाई १०-१५ और चौड़ाई ७-१० माइक्रोन होती है। इससे योनिमार्ग प्रदाह (Vaginitis) होता है। फिर १० प्रतिशत स्त्रियाँ अन्त्र विकारसे पीड़ित हो जाती हैं। पुरुषोंमें कभी पौरुष ग्रन्थि प्रदाह (Prostatitis) से भी अन्त्र विकृति हो जाती है।

प्रवाहिका चिकित्सोपयोगी सूचना।

इस रोगके विरुद्ध निम्न उद्देश्यसे चिकित्साकी जाती है:—

१. रोगको फैलनेसे रोकना।
२. आशुकारी आक्रमण होनेपर बृहदन्त्रमें संगृहीत दूषित मल और कीटाणुओंको बाहर निकालना। आशुकारी आक्रमणकी वेदना और प्रवाहणका उपशमन कराना।
३. प्रदाहग्रस्त श्लैष्मिक कलाकी उग्रताको शमन करना; तथा प्रसेक पूर्ण या क्षतग्रस्त श्लैष्मिक कलाका रोपण करना।
४. रक्तगत कीटाणु या कीटाणु विषका ध्वंस करना और भावी उपद्रवोंका प्रतिबन्ध करना।

१. रोग निरोधक उपचार—जलको अच्छी तरह उबाल शीतल कर फिर छानकर पीवें। सुबह-शाम नया जल उबाल लेवें।

रोगीके मलको तुरन्त सम्हाल पूर्वक गड्ढेमें गाड़ देवें; या जला देवें। मलपर मक्खियोंको न बैठने देवें।

बाजारकी मिठाई आदि पदार्थ न खायं। होटलोंमें भोजन न करें। पत्र (पान) शाकका उपयोग न करें, फल शाकको सुधारनेके पहले गरम जलसे धो लेवें। बासी उतरे हुए शाकका उपयोग न करें। मिर्च, गरम मसाला और अधिक शक्करका उपयोग न करें।

वर्षा ऋतुमें आर्द्र वायु होनेपर उदरको शीत न लगने देवें। रात्रिको उदर पर गरम कपड़ा बाँधकर सोवें।

२. आशुकारी आक्रमण होनेपर—एरण्ड तेलका विरेचन देकर कोष्ठशुद्धि करावें।

एरण्ड तैल ३ से ५ तोले सोंठके क्वाथ या दूधके साथ देनेसे मल, रोगोत्पादक कीटाणु, आम और उदरवात; ये सब दूर हो जाते हैं। आवश्यकता पर २-२ तोले एरण्ड तैल ४-६ या अधिक दिन तक रोज सुबह देते रहें। या बादाम तैल १-१ ड्राम अथवा आमविध्वंसिनी वटी देवें। उदर-पीड़ा अधिक रहती हो, तो उदरपर तार्पिन तैलकी धीरे हाथसे मालिश करें।

पहले दिन एरण्ड तैल देवें और रोगी बलवान् हो तो लङ्घन करावें। फिर पाचन औषध देवें। भोजनमें मठ्ठा, अनार, सेव देवें। त्रिरतरको शीतल न रहने देवें। उदरपर गरम वस्त्र बांधें।

गेहूँ, गौ या भैंसका दूध और चाय नहीं देना चाहिये। ककड़ी, खीरा, अमरूद, बेर, भुट्टा, जामुन, आम, तरबूज, खरबूजा आदि फल रोगवर्द्धक हैं।

जल उबाल कर शीतल किया हुआ पिलावें। अति हिम जल या दूधका वर्फ न देवें।

ज्वर न होनेपर और प्रवाहिका वेग मन्द होनेपर अन्न देवें।

यवागू, चावल और मट्ठा, खिचड़ी, साबूदाना या मूंगका यूप, अन्न या पेया कोई भी गरम नहीं देना चाहिये। अन्यथा आक्रमण वेग और प्रवाहण बढ़ जाते हैं।

प्रदाह और क्षयके लिये उपचार—कतीला गोंद, बिहदाना या ईसबगोल का लुआब बना कर देवें। अर्थ भूनी हुई सौंफ खिलाना भी लाभदायक है। गुदाका पाक हो गया हो तो शीतल सेक-लेप आदि उपचार करना चाहिये।

यदि शूल बना रहता हो, निवृत्ति न होती हो तो पाचक अग्निका विचार कर मधुर-अम्ल द्रव्योंसे सिद्ध तैल या घृतकी अनुवासन बस्ति देवें। इस सम्बन्धमें आचार्यों ने कहा है कि—

प्रवाहणे गुदभ्रंशे मूत्राघाते कटिग्रहे।
मधुराम्लैः शृतं तैलं घृतं वाप्यनुवासनम्॥

आशुकारी प्रवाहिका लङ्घन और पाचनसे उपशमित न हो तो रोगशामक औषधियोंको अजा-दुग्धमें औटाकर पिलाना चाहिये। विशेप आवश्यकता हो तो पिच्छिल बस्ति देनी चाहिये।

मलमें दुर्गन्ध न हो, आम पक गया हो, तो अफीम युक्त औषध देनी चाहिये। अफीम देनेपर वेदना और मांसपेशियोंकी उत्तेजना शमन होती है। अन्त्रकी परिचालन क्रियाका ह्रास होता है। फिर शौच बार-बार नहीं होता। रात्रिको शान्त निद्रा आ जाती है। रक्तस्राव होता हो तो बन्द हो जाता है।

रक्तगत कीटाणु और विषध्वंसके लिये—इस रोगके विषको नाश करनेके लिये भांग, गांजा, कुटजत्वक्‌घन, इन्द्रजौ आदि औषधियोंमेंसे उचित हो उसका उपयोग करना चाहिये।

ज्वर हो और विषम ज्वरका कीटाणु रक्तमें हो, तो सन्तपर्ण, कालमेघ व किनाइन देनी चाहिये।

इस तरह अन्य कोई संक्रामक रोग साथमें हो तो उसके कीटाणुओंका नाश करनेके लिये उस रोगकी औषध मिला लेनी चाहिये। कभी यकृत्प्रदाह

आदि हो जाय तो चन्द्रकला रस, सूतशेखर या अन्य ताम्रघटित शामक औषध मिलानी चाहिये।

रोगीके बलका संरक्षण—शक्ति अधिक घट जाय तब शक्तिके संरक्षणार्थ लक्ष्मीविलास (अभ्रक वाला), सूतशेखर, जवाहर मोहरा (रसतंत्रसार द्वितीय खण्ड) या अन्य हृदयपौष्टिक औषध देनी चाहिये।

सूचना—शराब नहीं देना चाहिये।

प्रवाहिका चिकित्सा।

सरल प्रयोग—(१) इमलीके पौधेकी जड़ या बड़े वृक्षकी छालका चूर्ण ३-३ माशे दिनमें ३-४ बार मट्ठेके साथ देनेसे नया रोग जल्द शमन होजाता है।

(२) एकसे दो माशे सफेद राल शक्करके साथ मिलाकर दिनमें २-३ समय देनेसे प्रवाहिकाकी निवृत्ति हो जाती है।

(३) पीपल या कालीमिर्चका कल्क कर २-३ माशे, बकरीके १०-२० तोले दूधके साथ देनेसे पुराना पेचिश मिट जाता है।

(४) तिलका तैल ५ तोले और खट्टे दहीका तोड़ २० तोले लेवें। फिर दोनोंको अच्छी तरह मिलाकर तुरन्त पिला देनेसे पेचिश बन्द हो जाती है। कोई-कोई चिकित्सक दहीमें शहद भी मिलाकर पिलाते हैं।

(५) कच्चे बेलका गूदा, काली मिर्च, गुड़ और सोंठको पीस, तिल तैलमें मिलाकर चटानेसे प्रवाहिकाका नाश होजाता है।

(६) प्रवाहिका पक्व हो जानेके पश्चात् कम मात्रामें अफीमयुक्त औषध इस रोगपर बहुत अच्छा लाभ पहुँचाती है।

(७) ईसबगोल ६-६ माशे दही या मट्ठेके साथ दिनमें ३ बार देनेसे नयी पेचिश १-२ दिनमें ही शमन हो जाती है।

(८) कच्चे बेलका गूदा और गुड़ मिलाकर खिलावें। फिर ऊपर दहीको मथकर पिला देनेसे प्रवाहिकाकी निवृत्ति हो जाती है।

(९) भुना जीरा ६ माशे या हिंग्वष्टक चूर्ण ३ माशेके साथ चौथाई या आध रत्ती अफीम रात्रिको सोनेके समय देनेसे प्रवाहिका मिट जाती है। अपचन रहता हो तो हिंग्वष्टक मिलावें। केवल मलको बाँधना हो तो जीरा मिलाना चाहिये।

(१०) अनारके कच्चे फल या पत्तोंका रस २-२ तोले दिनमें तीन समय पिलानेसे पेचिश रोग शमन हो जाता है।

(११) सफेद राल ४ रत्ती, मोचरस १ माशा और गुड़ २ माशे, तीनोंको मिलाकर मट्ठेके साथ देवें। या ४ रत्ती सफेद राल पक्के केलेके साथ देनेसे भी प्रवाहिका दूर हो जाता है।

(१२) बकरीके दूधमें तीन गुना जल तथा खरैंटी और सोंठका चूर्ण १-१ तोले मिलाकर पकावें। फिर पानी जल जानेपर उतार शीतलकर गुड़ और तैल मिलाकर पिलानेसे प्रवाहिकाका शमन हो जाता है।

(१३) कुड़ेकी छाल और अनारका वक्कल १-१ तोला मिला क्वाथ कर पिलावें। इस तरह दिनमें ३ समय पिलानेसे एक दो दिनमें ही आराम हो जाता है।

(१४) चूना और अफीम सम भाग मिला शहद या अदरकके रसके साथ आध-आध रत्तीकी गोलियाँ बना कर १-१ गोली दिनमें २ या ३ समय जलसे देते रहनेसे अनेक प्रकारकी प्रवाहिका शमन हो जाती हैं।

शास्त्रीय औषधियाँ—(१) लघु गंगाधर चूर्ण, पीयूषवल्ली रस, (प्राथमिक अवस्थामें), कनकसुन्दर रस (प्राथमिक अवस्थामें), अगस्ति सूतराज रस, हिंगुल वटी, सर्वाङ्गसुन्दर रस, शंखोदर रस (पित्तप्रकोप और दाह अधिक हो तो), अहिफेनादि वटी, कुटजादि वटी, जातिफलादि वटी, प्रवाहिकारिपु चूर्ण, सिद्धप्राणेश्वर रस (ज्वरातिसार चिकित्सामें कहा हुआ), कुटजारिष्ट, कुटजावलेह इनमेंसे अनुकूल औषध देवें।

ये सब औषधियाँ इस रोगमें हितकर हैं। इनमें अगस्ति सूतराज; हिंगुल वटी, शंखोदर रस, अहिफेनादि वटी और जातिफलादि वटीमें अफीम मिली है। अत: इनका उपयोग कम मात्रामें करें। अफीमवाली औषधसे प्रवाहिका, वेदना और निद्रानाशकी बहुत जल्दी निवृत्ति हो जाती है, किन्तु मलमें कच्चा आम हो, या दूषित मल हो, तब तक इसका उपयोग नहीं करना चाहिये। ३ दिन बाद दूषित मल निकल जानेपर देनेमें आपत्ति नहीं। रक्त गिरता हो, तो वह भी शीघ्र बन्द हो जाता है। ये अफीम युक्त औषधियाँ सब प्रकारकी पेचिशोंमें लाभ पहुँचाती हैं।

दस्तमें दुर्गन्ध हो, तो लघु गंगाधर चूर्ण, कनकसुन्दर रस, सर्वाङ्गसुन्दर रस या कुटजादि वटी दे सकते हैं। इनके अतिरिक्त अतिसार प्रकरणमें कहे हुए वृद्ध गंगाधर चूर्ण, कपित्थाष्टक चूर्ण, विजयावलेह और अतिविषाद्यवलेह भी अति हितावह है।

रक्त और पीप गिरता हो और अफीमवाली औषध अनुकूल न रहती हो, तो नये और पुराने रोगमें पीयूषवल्ली रस, प्रवाहिकारिपु चूर्ण या पञ्चामृत पर्पटी देनी चाहिये। प्रवाहिकारिपु चूर्ण सामान्य औषध होनेपर भी अद्भुत गुण दर्शाता है। इस तरह सामान्य रक्तस्राव हो, तो कुटजारिष्ट, कुटजादि वटी, कुटजावलेह और दाड़िमावलेह आदि औषधियाँ भी दी जाती हैं।

(२) हिंगुलेश्वर रस, धनिया, जीरेके क्वाथके साथ दिनमें ३ समय थोड़ी मात्रामें देनेसे नूतन आमसह प्रवाहिकाका शमन हो जाता है।

(३) रक्त जाता हो तो कुटजादि वटी, कुटजारिष्ट, दाड़िमावलेह (अतिसार चिकित्सामें कहा हुआ), कुटजावलेह, प्रवाहिकारिपु चूर्ण, जातिफलादि वटी, हिंगुल वटी, इनमेंसे कोई भी एक औषध देवें।

(४) पञ्चामृत पर्पटी या प्राणदा पर्पटी दिनमें २ समय देते रहनेसे जीर्ण प्रवाहिका, ज्वर, रक्त और पीप जाना, ये दूर हो जाते हैं। इनमें पञ्चामृत पर्पटी पेचिशकी सब अवस्थाओंमें अमृत समान गुणदायक सिद्ध हुई है।

(५) मलक्षय हो, अग्नि प्रदीप्त हो और झाग सह थोड़ा-थोड़ा आम निकलता हो, तो सोंठके क्वाथको उबाल शहदके समान बनाया हुआ फाणित दही, तैल, घृत और दूध मिलाकर पिलावें।

नूतन रोगमें एरण्ड तैलसे कोष्ठ शुद्ध करके हम कुटजादि वटी, कुटजारिष्ट, कुटजावलेह, दाड़िमावलेह बालक, सगर्भा आदि सबको निर्भयतासे देते रहते हैं। यदि रोगका बल अधिक है; रोगी निर्बल है; और कोष्ठ शुद्धि हो गई है, तो अफीम वाली औषध—जातिफलादि वटी, शंखोदर रस या अन्य देते रहते हैं। रोग यदि जीर्ण हो गया है, तो ग्रहणी रोगमें कहे अनुसार चिकित्सा करते हैं; अर्थात् ग्रहणीकपाट रस आदि सामान्य रसायन और पर्पटियोंमेंसे अनुकूल औषधियोंको प्रयोगमें लाते हैं।

डाक्टरी चिकित्सा।

फ्लेक्सनर कीटाणु होनेपर सल्फोनेमाइड (सल्फागुएनिडाइन) लाभदायक है। वह शिगापर कम लाभ पहुँचाता है।

बेसिलरि कीटाणु होनेपर वर्तमानमें Bismuth Mixture Sulfa guanidine अथवा Sulfatried टेब्लोइडका प्रयोग अधिक होता है। निद्रानाश और व्याकुलता होनेपर मोर्फियाका अन्तःक्षेपण करते हैं। बालकोंको Streptomycine को डिस्टिल्ड वॉटरमें मिलाकर प्रति घण्टे १०-१० बूंद देते रहते हैं।

मलावरोध होनेपर लिक्विड पेराफीन देवें। लवण प्रधान अन्य मृदु विरेचन न देवें। सामान्य मलावरोध रहता हो, तो वह आपत्तिकर नहीं माना जायगा।

एमिबिक कीटाणु जनित प्रवाहिकामें १० दिनके लिये एमेटिन हाइड्रोक्लोराइडका इञ्जेक्शन दिया जाता है। यकृत्की विद्रधिपर भी यह हितावह है। इस चिकित्साके साथ मद्यार्कका सेवन नहीं कराना चाहिये। इसके अतिरिक्त Entro-vioform टेब्लोइड २-२ दिनमें २ बार भोजनके पश्चात् १० दिन तक देते हैं अथवा Neo-viosept अथवा Nivimbin टेब्लोइडका प्रयोग करते हैं।

जीर्ण एमिबिक प्रवाहिकामें इमेटिन विस्मथ आयोडाइडका सेवन कराया जाता है।

एमिबिक कीटाणुजनित रोगमें मल्लघटित औषध भी व्यवहृत होती है।

वमन अतिसारद्वारा जल बहुत बाहर निकल गया हो, तो लवण जलका शिराद्वारा अन्तःक्षेपण कराना चाहिये।

किंछना अधिक हो, तो स्टार्च और अफीमकी बस्ति या पिचकारी देनी चाहिये।

(१) नयी पेचिशपरः—

एरण्ड तैल	Oil Recini	४ ड्राम
टिञ्चर ओपियाई	Tinct. Opii	३ बूँद
टिञ्चर कार्डामम	Tinct. Cardam.	१० बूँद
टिञ्चर जिंजीबेरिस	Tinct Zingib.	२० बूँद
एका मेन्था पिप०	Aqua Mentha Pip ad	१ औंस

सबको मिलाकर पिला देनेसे कफ, आम और रुका हुआ मल निकलकर प्रवाहिका दूर हो जाता है।

(२) पल्विस इपिकाक क० (डोवर्स पाउडर) की मात्रा १५ ग्रेन तक है। फिर भी किसीसे सहन न हो, बेचैनी, उबाक या वमन हो जाय तो मात्रा कुछ कम करें।

पल्विस इपिकाक कम्पोझिटा बनानेकी विधि—

इपिकाक्युहानाके मूलका चूर्ण	१ भाग
अफीम	१ भाग
पोटास सल्फेट	८ भाग

तीनोंको खरल कर मिलालें। इस औषधको ई० १९३२ से पल्विस इपिकाक एट ओपियो संज्ञा दी है।

(३) मलशुद्धिके पश्चात्:—

बिस्मथ सब नाइट्रास Bis-Sub-Nit.	१० ग्रेन
पल्विस इपिकाक क० Pulv. Ipecac Co.	८ ग्रेन
सोडाबाई कार्ब Soda Bicarb.	५ ग्रेन

तीनोंको मिलाकर जलके साथ देवें। इस तरह दिनमें ३ बार। ज्वर हो, तो २ ग्रेन क्विनाइन भी साथमें मिला देवें।

(४) पुरानी पेचिशपर—नीलाथोथा और अफीम समभाग मिला शहदके साथ १-१ ग्रेनकी गोलियाँ बनावें। फिर प्रकृतिका विचार कर १ से २ गोली तक दिनमें २ या ३ बार जलके साथ देते रहें।

पथ्यापथ्य अतिसार चिकित्साके अन्तमें लिखे अनुसार पालन करें।

इनके अतिरिक्त आवश्यक सूचनाएं चिकित्साके प्रारम्भमें लिखी हैं।

(३) ज्वरातिसार।

(दस्त और बुखार—डायरूहिया विथ फीवर—Diarrhoea with Fever)

इस रोगमें ज्वर और अतिसार, दोनोंके लक्षण प्रतीत होते हैं। इसलिये इस रोगको ज्वरातिसार कहते हैं।

ज्वर, तृषा, दाह, पसीना, चक्कर, बार-बार पतले पीले दस्त आदि लक्षण होते हैं। पित्तज्वरमें ज्वर प्रधान होता है और दस्त गौण रहते हैं। अर्थात् पतले दस्त मात्र लक्षण रूप होते हैं। किन्तु ज्वरातिसारमें ज्वर और अतिसार, दोनोंका प्राधान्य रहता है। इससे ज्वर और गुदाके दाह सहित बार-बार दस्त होते रहते हैं।

इस रोगका डाक्टरी निदान आदि अतिसार और प्रवाहिकाके साथ लिखा गया है। अतः यहाँ पुनः वर्णन नहीं किया।

इस रोगमें ज्वरघ्न अथवा अतिसारघ्न औषध नहीं दी जाती। कारण, ज्वरनाशक औषध मलको अनुलोमन करती है (नीचे गिराती है) और अतिसारघ्न औषध ग्राही (मलरोधक) होती है। इस तरह दोनों परस्पर विरोधी हैं। अतः दोनोंको शमन करने वाली अल्पग्राही और ज्वर-निवारक औषधियों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

चिकित्सा—रोगी बलवान् है, तो आरम्भमें लङ्घन करानेसे दोषोंका पचन और शमन, दोनो कार्य उत्तम प्रकारसे हो जाते हैं। फिर लङ्घनके पश्चात् पेया, विलेपी, साबूदाना आदि हलका भोजन देवें। तरबूज, खरबूजा, ककड़ी, बेर, आम आदि फलोंका त्याग करावें।

ज्वर अधिक हो, तो रोगीको केवल बकरीके दूध या सेव और अनारके रस पर रखना विशेष हितकारक है।

दोषपाचक और रोगशामक औषधियाँ—(१) ज्वरातिसारकी प्रथमावस्थामें धनिया और सोंठका क्वाथ देनेसे आमदोषका पचन होकर अग्नि प्रदीप्त होती है। तथा वात-कफ ज्वर, अतिसार, प्रवाहिका और ज्वरातिसारका नाश हो जाता है।

(२) पृश्निपर्ण्यादि पेया—पृश्निपर्णी, खरैंटी, बेलगिरी, धनिया, सोंठ और कमल, इन ६ औषधियोंके क्वाथसे पेया बना खट्टे अनारका रस मिला कर पिलानेसे ज्वरातिसार दूर हो जाता है।

(३) पीपल, गजपीपल, और खीलोंका क्वाथ बना शहद-मिश्री मिलाकर पिलानेसे तृषा सह ज्वरातिसार दूर होता है।

(४) दो-दो तोले दशमूलके क्वाथमें तुरन्त पिसा हुआ सोंठका चूर्ण ४

माशे मिलाकर दिनमें ३ समय पिलानेसे ज्वर, अतिसार और शोथयुक्त संग्रहणी दूर होते हैं।

(५) बेलगिरी, नेत्रवाला, चिरायता, गिलोय, नागरमोथा और इन्द्रजवको मिला २-२ तोलेका क्वाथ कर दिनमें ३ समय पिलानेसे दोषोंका पचन होकर शोथ सह ज्वरातिसार दूर होता है।

(६) पाठा, इन्द्रजव, चिरायता, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, गिलोय और सोंठका क्वाथ पिलानेसे ज्वर सहित आमातिसार शान्त होता है।

(७) इन्द्रजव, देवदारु, कुटकी और गजपीपलका क्वाथ कर दिनमें २ समय पिलानेसे दाह सह ज्वरातिसार दूर होता है।

(८) गोखरू, छोटी पीपल, धनियाँ, बेलगिरी, पाठा और अजवायनका क्वाथ कर दिनमें ३ समय पिलानेसे दोष पचन होकर दाह सह ज्वरातिसारकी २-३ दिनमें ही निवृत्ति हो जाती है।

(९) किरातादि क्वाथ—चिरायता, नागरमोथा, गिलोय, नीमकी अंतरछाल, रक्तचन्दन, नेत्रवाला और कुड़ेकी छाल, इन ७ औषधियोंको समभाग मिला २-२ तोलेका क्वाथ कर दिनमें ३ समय पिलानेसे शोथ, अतिसार और ज्वर तीनों ही दूर हो जाते हैं।

(१०) गुडूच्यादि क्वाथ—गिलोय, अतीस, धनिया, सोंठ, बेलगिरी, नागरमोथा, नेत्रवाला, पाठा, चिरायता, कुड़ेकी छाल, रक्तचन्दन, खस और पद्माख, इन १३ औषधियोंका क्वाथ कर शीतल होनेपर पिलानेसे उबाक, अरुचि, वमन, प्यास और दाह सह ज्वरातिसार शमन हो जाते हैं।

(११) सोंठ, अतीस, बेलगिरी, गिलोय, नागरमोथा और इन्द्रजवको मिला २-२ तोलेका क्वाथकर दिनमें ३ समय पिलानेसे मलको पचाकर शोथ, ज्वर और अतिसारको ४ रोजमें नष्ट कर देता है।

(१२) नागरादि क्वाथ (चौथी विधि), उशीरादि क्वाथ, कुटजावलेह, कुटजादि वटी, आनन्दभैरव रस (अतिसार), कर्पूर रस, ये औषधियाँ ज्वरातिसारको दूर करती हैं। इनमेंसे अनुकूल औषधका प्रयोग करें। कर्पूर रसमें अफीम होती है। मलमें दुर्गन्ध न हो; दूषित मल निकल गये हों तो इसका उपयोग करें। क्वाथकी योजना अनुपान रूपसे की जाती है। ज्वर हो, तो प्रारम्भमें आनन्दभैरव या कुटजादि वटी देना, यह निर्भय उपाय है। २ दिन बाद कर्पूर रस देना चाहिये।

(१३) उदरशूल और रक्त सह होवे, तो—सूतराज रस (आमकी अधिकता है, तो नागरमोथेके क्वाथके साथ) दिनमें २ समय देनेसे २-३ दिनमें ज्वरातिसार दूर हो जाता है। ३ दिन बाद आवश्यकता रहे तो कर्पूर रस या शंखोदर रसका प्रयोग करना चाहिये।

(१४) व्योषाद्य चूर्ण—सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, इन्द्रजव, नीमकी अन्तर छाल, चिरायता, भाँगरा, चित्रकमूल, कुटकी, पाठा, दारुहल्दी, अतीस ये १२ औषधियाँ १-१ तोला तथा कुड़ेकी छाल १२ तोले लें। सबको कूट कपड़-छान चूर्ण कर ३-३ माशे चावलोंके धोवनके साथ दिनमें ३ समय देने अथवा शहदमें चटानेसे दोषोंका पचन जल्दी हो जाता है। यह चूर्ण मलको बाँधकर तृषा और अरुचि सह ज्वरातिसारको दूर करता है; तथा प्रमेह, ग्रहणी-विकार, गुल्म, प्लीहावृद्धि, कामला, पाण्डु और शोथको भी नष्ट करता है।

(१५) लक्षण अनुरोधसे—सिद्ध प्राणेश्वर रस, प्राणदा पर्पटी, सर्वाङ्ग-सुन्दर रस, कुटजादि वटी, इनके सेवन करानेसे लाभ होता है।

(१६) आफरा सह ज्वरातिसार होवे, तो—कनकसुन्दर रस या सूतराज रस देनेसे, वातल पदार्थके सेवनसे उत्पन्न आफरा सह ज्वरातिसार दूर हो जाते हैं।

(१७) पेचिस सह हो, तो—कर्पूर रस, शंखोदर, अगस्ति सूतराज, कुट-जादि वटी या हिंगुल वटी (प्रथम विधि); इनमेंसे एक औषध देना चाहिए।

जीर्ण ज्वरातिसार हो, तो—गदमुरारि रस (कुटजारिष्टके साथ) देवें। अथवा पंचामृतपर्पटी या प्राणदापर्पटी (अधिक आम हो, तो) या अन्य पर्पटी कल्पका सेवन करावें।

इस रोगमें कुटजादि वटी अति निर्भय और उत्तम औषध है। बालक और सगर्भाको भी हम देते रहते हैं। यदि रक्त जाता हो, तो हम कर्पूररस या बोल-बद्ध रस देते हैं। रक्त नहीं जाता और जहाँ आम दोषके हेतुसे ज्वरकी अधि-कता हो, वहाँपर आनन्दभैरव रस और सिद्धप्राणेश्वर रसको अधिक प्रयोगमें लाते हैं। यदि रोग जीर्ण है, तो पंचामृत पर्पटीका सेवन कराते हैं। लक्षण भेदसे या प्रकृति भेदसे अन्य औषधियोंका भी उपयोग किया जाता है।

सूचना—ज्वरातिसारके निर्बल रोगीको लङ्घन नहीं कराना चाहिये। एवं दूषित मल निकल जानेके पहले अफीमयुक्त स्तम्भन औषध नहीं देनी चाहिए।

पथ्यापथ्य—पृश्निपर्णी पटक क्वाथमें पेया बनाकर देवें। अनारका रस, बकरीका दूध, खीलोंका मंड, सिंघाड़ेकी लपसी, अरारूट, बार्लि, मूँगका यूष, मसूरका यूष, पुराने चावलका भात, बेंगन, गूलर, कच्चे केले, परवल आदि शाक, भुना हुआ कच्चा बेल, सेव, अनार, गरम कर शीतल किया हुआ जल, ये सब पथ्य हैं। अधिक विचार अतिसारके पथ्यापथ्यमें दर्शाया है।

(४) ग्रहणी।

(संग्रहणी—क्रॉनिक डायरहिया, डिसेन्ट्रिक डायरहिया और स्प्रु—Chronic Diarrhoea, Dysenteric Diarrhoea and Sprue)

ग्रहणी और संग्रहणी, दोनोंका विवेचन शास्त्रकारोंने एक साथ किया है। संग्रहणीको निर्जन्तुक, अनुलोमक्षय, रसक्षय और अन्त्रक्षय भी कहते हैं। डाक्टरोंके जो ३ नाम दिये हैं, इन तीनोंमें कुछ अन्तर है।

भेद—क्रॉनिक डायरहिया जीर्णातिसारको, डिसेन्ट्रिक डायरहिया जीर्ण प्रवाहिकाको और स्प्रु संग्रहणीको कहते हैं। इस तरह तीनोंमें भेद होनेसे सबका वर्णन पृथक् किया है।

संप्राप्ति—अतिसारकी निवृत्ति होनेपर या अतिसारमें ही अग्निसाद हो जानेपर जो मनुष्य अपथ्य भोजन करता है; उसकी अग्नि दूषित होकर ग्रहणीको दूषित कर देती है। इससे ग्रहणी रोगकी संप्राप्ति हो जाती है। क्वचित् अतिसार न होनेपर भी इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है।

लघु अन्त्रके प्रारम्भके १२ अंगुल भागको ग्रहणी (ड्यू ओडिनम Duodenum) कहते हैं। आमाशय और ग्रहणीके मध्यमें एक मुद्रिका द्वार है। उस द्वारसे आमाशयमेंसे आहार रस ग्रहणीमें आता है। फिर पित्ताशयमेंसे पित्तप्रवाह और अग्न्याशयमेंसे आग्नेय रस निकलकर उस आहार रसमें मिल जाता है। इससे अपूर्ण रही हुई पचन क्रिया पूर्ण होती है। जब इस ग्रहणीकी संधारण और संकोचन शक्ति नष्ट हो जानेसे पचन क्रिया सम्यक् प्रकारसे नहीं होती, तब इस ग्रहणी रोगकी संप्राप्ति होती है।

वात आदि एक-एक दोष करके या सब मिलकर अत्यन्त कुपित होकर ग्रहणीको दूषित कर देते हैं। इससे ग्रहणी आहारको विशेषतः कच्चा और क्वचित् अध कच्चा ही निकाल देती है। कभी मल पक्व त्याग करती है, तो कभी मल दुर्गन्धयुक्त, पीड़ा सह, बंधा हुआ और कभी पतला होता है। इसे आयुर्वेदमें ग्रहणी रोग कहा है।

ग्रहणी रोगमें अग्नि दूषित हो जानेसे आहार रसकी पचनक्रिया यथाविधि नहीं हो सकती। इससे अधपक्का या अधकच्चा रस निकलता रहता है। फिर वह शेष लघु अन्त्र और बृहदन्त्रमें होकर मलरूपसे बाहर आता है। इस रोगमें मल बहुधा कच्चा रह जाता है; अर्थात् जलमें डालनेसे डूब जाता है। यदि पित्तप्रधान ग्रहणी हुई हो, तो दुर्गन्धयुक्त पका हुआ मल वेदना सहित निकलता है। कफप्रधानमें अधकच्चा या विशेष अंशमें कच्चा जाता है और वातप्रकोपमें कभी कच्चा और कभी पक्का मल जाता है।

ग्रहणी रोगमें कभी मल पतला, कभी गाढ़ा और दुर्गन्धयुक्त होता है। किसीको दिनमें मात्र २-४ दस्त और किसीको २५-३० होते हैं। किसी-किसी का पेट कटता रहता है, एवं किसीको मलमें रक्त और पीप भी जाता है। यह रोग बढ़नेपर अनेकोंको ज्वर भी आने लगता है।

चित्र नं० २६

ग्रहणी आदि अवयव।

१ महा प्राचीरा पेशी Diaphragm
२ प्लीहा spleen.
३,६ मूत्र पिण्ड-वृक्क (वाम) Left kidney.
४ अग्न्याशय Pancreas.
५,५ मूत्र पिण्ड-वृक्क (दक्षिण) Right kidney.
६ बृहदन्त्रका यकृत्कोण (दक्षिण) Right colic flexure.
७ अन्न नलिका Oesophagus.
८ ग्रहणी Duodenum.
१० बृहदन्त्रका आरोही भाग Ascending Colon.
११ बृहदन्त्रका यकृत्कोण (वाम) Left colic flexure,
१२ बृहदन्त्रका अवरोही भाग Descending colon.
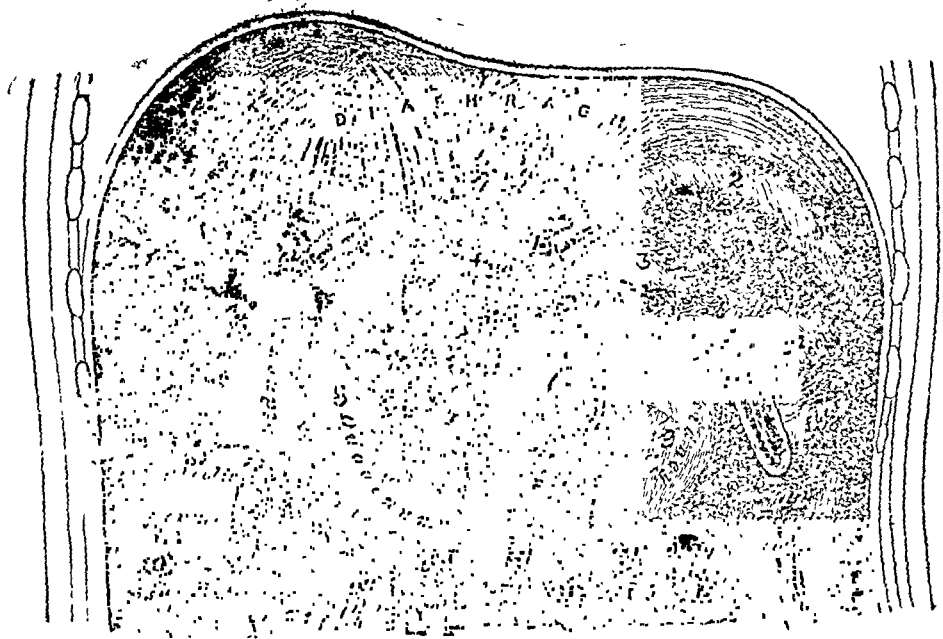
१३ कटि चतुरस्रा पेशी Quadratus Lumbar.
१४ अधिवृक्क ग्रन्थि (दक्षिण) Right Suprarenal gland.
१५ अधिवृक्क ग्रन्थि (वाम) Left Suprarenal gland.
१६ उत्तरा आन्त्रिकी नाली Superior Mesenteric vessel.
१७ दक्षिण गवीनी Right Ureter.
१८ अधरा महासिरा Infetior Vena Cava.
१९ महाधमनी Aorta.
२० कटिलम्बिनी दीर्घपेशी Psoas. major muscle.
२१ वाम गवीनी Left Ureter.

यदि बिना अतिसार हुए संग्रहणी हुआ हो, तो क्षुधाका नाश नहीं होता; दस्त कभी गाढ़ा और कभी पतला रहता है। ग्रहणी रोग होनेपर अतिसारके समान रस-धातुमें अधिक क्षोभ नहीं होता। इस रोगमें अतिसारके समान तीव्र व्यथा नहीं होती; तथा दस्त आवाज सहित आता है, ऐसा अतिसारमें नहीं होता। इन लक्षणोंके भेदसे दोनोंका भेद सहज विदित हो जाता है।

पूर्वरूप—ग्रहणीके पूर्वरूपमें तृषा, आलस्य, बलक्षय, अन्नका विदाह, दीर्घ समयमें अन्न-पचन होना, शरीरमें भारीपन, ग्लानि, अरुचि, कास, आंतोंमें गुडगुड़ाहट, निर्बलता और कानोंमें शब्द-सा होना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

सामान्य रूप—ग्रहणी रोग होनेपर हाथ-पैर आदिपर शोथ, कृशता, संधि-स्थानोंमें पीड़ा, व्याकुलता, तृषा, वमन, ज्वर, अरुचि, दाह, मुँहमेंसे खट्टा या कड़वा पानी निकलना, खाये हुए अन्नकी दूषित डकार या रुधिर-सी दुर्गन्ध युक्त डकार, बार-बार मुँहमें पानी आजाना, मुँहके स्वादकी विरसता, श्वास चढ़ना और अरुचि आदि लक्षण सब प्रकारके ग्रहणी रोगोंमें प्रतीत होते हैं।

ग्रहणी भेद—वात, पित्त और कफ तथा तीनों मिले हुए दोष (सन्निपात) से इस तरह ग्रहणी रोग चार प्रकारका होता है।

वातिक ग्रहणी निदान—अति चरपरा, अति कड़वा, अति कसैला, अति रूक्ष, संयोग आदि विरुद्ध भोजन (जैसे दूध और खटाई अथवा बासी हानि-कर भोजन) अति कम भोजन, अति भोजन, समय चले जानेपर भोजन, उपवास, अति मार्गगमन, क्षुधा, अधोवायु और मल-मूत्र आदि वेगोंका निग्रह तथा अति मैथुन, किसी रोगके कारणसे कृशता आदि कारणोंसे वायु कुपित होकर अग्निको आच्छादित कर देती है फिर भोजन दुःखपूर्वक पचता है।

वातिक ग्रहणी रूप—खट्टा विपाक, शुष्क खरदरी त्वचा, कंठ और मुँहमें शोष, क्षुधा-तृषाका नाश, चक्कर आना, कानोंमें शब्द गूंजना, पसली, उरु, वंक्षण (उरुके ऊपरका संधिस्थान) और कण्ठमें पीड़ा, सारे शरीरमें चारों ओर आमजन्य पीड़ा, हृदयपीड़ा, कृशता, निर्बलता मुँहमें वेस्वादुपन, गुदामें काटने समान पीड़ा, मधुर आदि स्वादिष्ट भोजनकी इच्छा, बेचैनी, भोजनका पचन हो जानेपर आफरा आना और भोजन करनेपर थोड़ी शान्तिका भास होना, अधिक प्यास लगना इत्यादि रूप दीखते हैं।

इस रोगमें वात गुल्म-हृद्रोग और प्लीहावृद्धिके समान पीड़ा होती है, जिससे इन रोगोंकी शंका हो जाती है। बहुत देर तक बैठे रहनेसे दुःखपूर्वक क्वचित् पतला, क्वचित् शुष्क, आम और झागवाला थोड़ा-थोड़ा दस्त आवाज होकर ५-७ बार गिरता है। तब मल-शुद्धि होनेका भास होता है। इसके अलावा वातप्रकोपके हेतुसे श्वास-कासका उपद्रव भी होता रहता है।

पैत्तिक ग्रहणी निदान—चरपरे, अजीर्णकारक, करीर आदि विदाही, खट्टे,

नमकीन, तीक्ष्ण, गरम, क्षार मिले (सज्जीखार मिले पापड़ आदि) अथवा अन्य पित्तको बढ़ाने वाले पदार्थोंके अति सेवनसे दूषित हुआ पित्त जठराग्निको नष्ट कर डालता है। जैसे गरम जल अग्निको बुझा देता है, वैसे इन विरोधी पदार्थोंके सेवनसे हानि होती है। *

पैत्तिक ग्रहणीका रूप—शरीर निस्तेज, पीला पड़ जाना, पतला दुर्गन्धयुक्त नीला-पीला या बिल्कुल पीला पतला गर्म मल, अति खट्टी दुर्गन्धयुक्त गरम डकार, हृदय और कंठमें दाह, मुँहमें छाले, अरुचि और अति तृषा आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

श्लैष्मिक ग्रहणी निदान—भारी, अति स्निग्ध, शीतल, पिच्छिल और मधुर आदि पदार्थोंका अत्यन्त सेवन, अध्यशन (भोजन कर लेनेपर भोजन), अत्यन्त मैथुन, दिनमें भोजन करके तुरन्त शयन करना इत्यादि कारणोंसे कफ धातु कुपित होकर जठराग्निको नष्टकर श्लैष्मिक ग्रहणीकी उत्पत्तिकराती है।

श्लैष्मिक ग्रहणीका रूप—अन्न दुःखपूर्वक पचना, उबाक, वमन, अरुचि, मुँहमें मीठापन और चिपचिपापन, कास, मुँहसे थूक या कफ आते रहना, जुकाम, हृदय जकड़ना या हृदयपर बोझ-सा लगना, पेटमें भारीपन और जड़ता, दुर्गन्धयुक्त मीठी डकार, अग्निमांद्य, हाथ-पैर टूटना, स्त्री-प्रसङ्गमें अनिच्छा, आम और कफ युक्त कच्चा कुछ बँधा हुआ तथा कुछ पतला मल हो जाना, शरीर कृश न दीखनेपर भी निर्बलता और आलस्य आना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

त्रिदोषज ग्रहणी लक्षण—त्रिदोषज ग्रहणीमें उपर्युक्त वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक, तीनों प्रकारके लक्षण मिश्रित हो जाते हैं।

संग्रहणी (संग्रह-ग्रहणी) के रूप—इस रोगको डाक्टरीमें (स्प्रु-Sprue) कहते हैं। १०-१५-२० दिनमें या नित्य कमरसे पीड़ा सह पतला और शीतल या गाढ़ा, चिपचिपा, श्वेत रंगका, कच्चा और अति पिच्छिलतायुक्त (वसामय) मल उतरना, मल विसर्जनमें मन्द पीड़ा और आवाज होना, आँतों गुड़गुड़ाहट, आलस्य, निर्बलता, ग्लानि, अङ्ग टूटना, अग्निमांद्य, दिनमें प्रकोप और रात्रिमें कुछ शान्ति होना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

इस रोगका निर्णय कठिनतासे होता है अतः शास्त्रकारोंने इस रोगको कष्टसाध्य और दीर्घकाल तक रहने वाला माना है। यह रोग आम और वायु के प्रकोपसे होता है।

सोनेपर पसलियोंमें पीड़ा होती है; और रहँटके घड़ेमेंसे जल निकलनेपर आवाज हो वैसी आवाज मल उतरनेपर हो, उस ग्रहणी रोगको घटीयन्त्र

---

* आप्लावयेद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम् ॥ (मा.नि.)

संज्ञा दी है। उसे असाध्य माना है।

संग्रहणी रोगमें प्राय: प्रथमावस्थामें ५-१०-१५ या अधिक दिनों तक प्रकृति अच्छी हो जाती है। फिर ५-१० दिन खराव हो जाती है। ऐसा बार-बार होता रहता है। इससे संग्रहणीकी शंका नहीं होती फिर रोग जीर्ण हो जाने पर नित्य इस तरह शौच होता रहता है।

इस रोगमें मुँहसे लेकर गुदा तक आमाशय और आँतोंमें सर्वत्र फफोले अग्निदग्ध फफोलेके सदृश हो जाते हैं। कच्चा मल गिरना, गुदामें दाह और कतरनेके समान पीड़ा, वमन, अजीर्ण, आफरा, दाह, मुखपाक, बलक्षय और कम्प आदि लक्षण होते हैं। जीभपर फफोले होनेसे नमकीन वस्तु और जल निगलनेमें भी कष्ट होता है। रोग बढ़नेपर आँतोंमें क्षयके कीटाणुओंकी आबादी हो जाती है। रस-रक्त आदि धातुओंका क्रमश: क्षय होने लगता है। अग्न्याशय और यकृत् धीरे-धीरे सिकुड़ कर छोटे हो जाते हैं; और शरीर अस्थि-पिञ्जर-सा बन जाता है। इस रीतिसे सब धातुओंका क्षय हो जानेसे इसे अनेक चिकित्सकोंने अनुलोम क्षय संज्ञा दी है।

जब इस रोगमें ज्वर, शौचके समय घट-यन्त्र समान आवाज होना, निद्रावृद्धि, पार्श्वपीड़ा और भयंकर निर्वलता आदि उपद्रव हो जायें, तब इसे असाध्य माना है।

इस रोगमें पकापक (मल) की परीक्षा अतिसारकी परीक्षाके समान करनी चाहिये। जिन उपद्रवोंसे अतिसारको असाध्य माना है, उन उपद्रवोंकी उत्पत्ति हो जानेपर ग्रहणी और संग्रहणी रोग भी असाध्य हो जाते हैं।

सामान्यत: यह बालकोंके लिये साध्य, युवाके लिये कष्टसाध्य और वृद्धोंके लिये असाध्य है।⊛

डाक्टरी निदान।

ग्रहणी-चिरकारी अतिसार (क्रोनिक डायर्‌हिया)

डाक्टरी विद्यानुसार यह रोग अतिसारमें कहे हुये कारणोंसे उत्पन्न होता है। इस व्याधिमें दिनमें ३-४ या अधिक दस्त कुछ पतले लगते हैं। यह कितनेही सप्ताह, मास या वर्ष तक चलता रहता है।

निदान—आशुकारी अन्त्रप्रदाह (अतिसार) का पर्यवसान होनेपर अतिसारके समान लक्षण परन्तु सौम्य प्रतीत होता है। आमातिसारकी वारबार पुनरावृत्ति होनेपर चिरकारी ग्रहणी रोग बन जाता है। सोमल और एन्टिमनी

⊛ बालके ग्रहणी साध्या यूनि कृच्छ्रा समीरिता।
वृद्धे त्वसाध्या विज्ञेया मतं धन्वन्तरेरिदम्॥

के विष प्रयोगसे तथा अग्न्याशयकी चिरकारी विकृति होनेपर भी इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है।

गुदभेद (गुदापरकी त्वचा फट जाने—Fissure of the Anus) से भी ग्रहणीरोगके समान दस्त होते रहते हैं, परन्तु गुदभेदका निर्णय हो जानेसे रोग विनिर्णय सहज हो जाता है।

अन्नरसवाहिनी शिरामें अवरोध होनेपर अन्त्रमें रक्तवृद्धि होकर अतिसार हो जाता है। इसका कारण चिरकारी होनेपर चिरकारी व्याधि (ग्रहणी रोग) हो जाती है।

यह रोग मस्तिष्कविकार या वातनाड़ियोंकी विकृतिसे हुआ हो, तो स्वस्थावस्थाके सदृश मलोत्सर्ग होता रहता है; उदर पीड़ा और किंछना आदि लक्षण नहीं होते; किन्तु परिश्रम होकर थकावट आनेपर तुरन्त या सुबह बहुत जल्दी मलोत्सर्ग करना पड़ता है।

क्षयरोगमें कफ निगल जानेसे और मधुरा आदि रोगोंसे छोटी आंतमें व्रण होजाता है; पेचिश रोग या मल शुष्क बननेपर या अन्य कारणोंसे बड़ी आंतमें व्रण होता है; एवं शल्य या दाहसे अन्त्रपुच्छमें और पेचिश, अर्बुद, फिरंगरोग आदि कारणोंसे गुदनलिकामें व्रण होजाता है; तथा चिरकारी वृक्कप्रदाह, पाण्डु, कृशता लानेवाले अन्य रोग और जीर्ण बद्धकोष्ठसे भी अनिश्चित स्थानपर व्रण हो जाते हैं। इस तरह व्रण होनेपर इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है।

फिरंग रोगसे व्रण हो जानेपर मलमें रक्त और पीप आना, उदर पीड़ा, किंछना और अन्य फिरंग रोगज लक्षण प्रतीत होते हैं।

फिरंगरोग या अन्य हेतुसे देहके भीतर पूयोत्पत्ति होनेपर शनैः-शनैः अन्त्रकी विकृति हो जाती है। यकृत्प्लीहा और वृक्कोंकी रचना और कार्यमें अन्तर पड़ जाता है। फिर मल पतला, दुर्गन्धयुक्त और कभी-कभी रक्त मिश्रित आने लगता है।

कर्कस्फोट (Cancer) से यदि अतिसार हुआ हो, तो रोगीकी आयु ३५ वर्षसे अधिक होनी चाहिये। रोगीका शरीर रोग होनेसे पहले दुर्बल रहना चाहिये; तथा उसके पूर्वजोंको भी बहुधा यह रोग होना चाहिये। फिर यह कर्कस्फोट (अर्बुद) यदि गुदनलिकामें हो, तो पेचिश-सा असर और शौचके समय किंछना आदि चिन्ह प्रतीत होते हैं। आंतमें अन्य किसी स्थानपर होगा, तो उदरमें गांठ समान दीखेगा और दस्तमें रक्त भी जाता रहेगा।

इस रोगके हेतु-लक्षण आदिका विशेष विचार अतिसार रोगमें किया है। अतः यहाँ विस्तार नहीं किया।

प्रवाहिकाजन्य ग्रहणी (डिसेन्ट्रिक डायरहिया)।

यह रोग पेचिशसे हो जाता है। पेटमें मरोड़ा आना, जिह्वा लाल और फटी-सी दीखना, दुर्गन्ध वाले पतले झागोंसह दस्त, थोड़ा-सा अपचन होने पर तीव्र व्याधि हो जाना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। इसका डाक्टरी वर्णन अतिसारके भीतर विस्तारसे दिया गया है।

(५) संग्रहणी-श्वेतातिसार।

(स्प्रु-सिलोसिस-Sprue-Psilosis)

व्याख्या—यह चिरकारी भयङ्कर प्रदाह युक्त व्याधि है। इस रोगमें पचनेन्द्रिय संस्थान विशीर्ण हो जाता है। यह रोग उष्ण कटिबंध प्रदेशमें होता है। इस रोगमें मुंह, जिह्वासे लेकर गुदातक फफोले या क्षत हो जाते हैं। दस्त पतला और कच्चे अन्नका, पाण्डुता, देह धीरे धीरे क्षीण होना, उपशम हो-होकर बार-बार आक्रमण होना आदि लक्षणों और स्वभाव वाला यह रोग है।

यह रोग कभी जनपद-व्यापी नहीं होता। यह संक्रामक भी नहीं है। इसका भोजनके साथ स्पष्ट सम्बन्ध भी नहीं है। सामान्यतः लम्बी स्थितियुक्त है। कभी-कभी १-२ वर्ष तक या कम। इसके साथ प्रवाहिका और दुर्बलता उपस्थित होते हैं। यूरोपियन लोग उष्ण कटिबन्ध छोड़कर यूरोपमें वापस जाते हैं, वहाँ कितने ही वर्षोंके बाद भी उनपर आक्रमण हो जाता है। यह रोग विशेषतः बड़ी आयु वालोंको होता है। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियाँ कुछ अधिक पीड़ित होती हैं।

निदान—इसका हेतु अभी तक अविदित है। आहारके शोषणकी अपूर्णता इसका कारण हो सकता है। रक्तमें चूनेके अणुओंका ह्रास या जीवन सत्व (Vitamin B) की अपूर्णता भी हेतु हो सकते हैं।

पार्वतीय अतिसार (Hill diarrhoea) जो ६००० फुटसे अधिक ऊँचाई वाले पहाड़ोंपर होता है, जिससे विशेषतः सुबह अतिसार होता है। वह बढ़ने पर संग्रहणी बन जाता है। इसी तरह प्रवाहिका रोगी अधिक अपथ्यसेवी होनेपर उसे भी यह रोग हो जाता है। सामान्यतः जिन स्त्री-पुरुषोंकी जिह्वा चटपटे भोजनसे तेज बन जाती है, जिनको नाना प्रकारके चरपरे, खट्टे, नमकीन पदार्थ, गरम-गरम चाय, तमाखू सह अत्यधिक ताम्बूल सेवन, धूम्रपान आदिकी लालसा बढ़ जाती है, उन मिथ्याचारियोंको यह रोग शीघ्र घेर लेता है।

संप्राप्ति—इस रोगमें क्षुद्रान्त्रकी दीवार अति पतली तथा श्लैष्मिक कला विशीर्ण हो जाती है। छोटे-छोटे क्षत और छिद्र हो जाते हैं। फिर बृहदन्त्रकी भी वैसी ही शोचनीय अवस्था हो जाती है। हृदय, यकृत् और प्लीहा शीर्ण होकर आकुंचित हो जाते हैं। अस्थियोंके भीतर मज्जामें स्थूल जीव केन्द्र युक्त

रक्ताणु (Megaloblast) सब तन्तुओंकी परिवृद्धि क्षुद्रान्त्रकी आकुंचित श्लैष्मिक कला शोषण क्रियामें हस्तक्षेप करती है।

लक्षण—क्रमशः या अकस्मात्। प्रायः पहले प्रवाहिका और अतिसार होते हैं। आमाशय प्रदाह दृढ़ होता है। इसके लम्बे क्रमके पहले अतिसारकी प्राप्ति होती है; तथा सामान्यतः उपशम होना और बार-बार आक्रमण होना, ऐसा होता रहता है। इसका स्थिति-काल अनेक वर्षों तक है। अन्तमें सम्पूर्ण पचन संस्थान प्रभावित हो जाता है। फिर रोगदर्शक लक्षण निम्नानुसार प्रकट होते हैं-

१. आमाशय प्रदाह—जिह्वा, मुख और कण्ठमें वेदना, इनकी श्लैष्मिक कला प्रसेक और क्षतमय होना। उत्तर कालमें विशीर्णता और जिह्वापर मुलायम चिह्न हो जाना। रोग जीर्ण होनेपर जिह्वा निस्तेज और पतली होजाती है।

प्रायः रोगियोंमें मुखपाक रहता ही है। यह अतिसार हो जानेपर शान्त और इसके बन्द होनेपर फिर बढ़ जाता है।

२. वसामय अतिसार—मल पिङ्गल अथवा सफेद, ढीला, अतिशय दुर्गन्धमय और झागदार होता है। वसा अधिक मात्रामें होती है। पित्तरंजक द्रव्य वर्त्तमान होता है, किन्तु पित्तरंजक द्रव्य (Bilirubin) कम हो जाता है। उदर गुहाके रोगमें भी वसा अधिक होती है किन्तु क्षार मिश्रित वसाम्ल (Soaps) अप्रचुर होता है।

३. क्षीणता (Wasting)—त्वचा शुष्क और गहरी (श्याम) होना। यकृत्प्लीहा शीर्ण होकर छोटे हो जाना, अति शीत लगना।

४. पाण्डुता—रक्तमें सूक्ष्म जीवकेन्द्ररहित रक्ताणु (Microcytes), स्थूल जीवकेन्द्र रहित रक्ताणु (Megalocytes) बढ़ता है या एकीकरण होता है। चिरकारी अपक्रान्ति कभी नहीं होती।

५. मांसपेशियोंका आक्षेप (Tetany बाँयटे) कभी आते हैं किन्तु रसक्षय (Coeliac disease) की अपेक्षा कम। अस्थियोंकी विकृति होती है।

६. इनके अतिरिक्त उत्तेजना, अपचन, अफारा, उदरमें भारीपन, बृहदन्त्र का प्रसारण, आमाशयिक अम्लता, रक्तदबावका ह्रास, चूनेके चयापचयमें विकृति आदि प्रकट होते हैं।

माधव निदानमें संग्रह-ग्रहणीके कहे हुए सब लक्षण प्रतीत होते हैं, तथा मल सफेद रंगका, झागवाला और दुर्गन्धयुक्त होता है।

जैसे चूहे गृहमें छिपकर रहते हैं; और समय मिलनेपर फूँक-फूँककर काटते रहते हैं, ताकि काटनेकी पीड़ाका भान उस समय नहीं होता। इस तरह यह रोग भी देहमें छिपकर रहता है और समय मिलनेपर धीरेसे आक्रमण करता है। प्रारम्भमें एक मासमें दो चार दिन थोड़ी-सी गड़बड़ करता है। फिर कुछ

अधिक बार त्रास पहुँचाता है। साथमें अजीर्ण, खट्टी डकार, आफरा, मलावरोध और दस्त लग जाना, ऐसा रूप दिखाता है। पश्चात् जीवनीय शक्तिको दबाकर जब देह रूप नगरीमें अधिकारी बन बैठता है; तब श्वेत वर्णके दुर्गन्धयुक्त दस्त आदि लक्षण बार-बार दृष्टिगोचर होते रहते हैं। फिर यह रोग शनैः शनैः शरीरको अति कृश बना डालता है।

मुखपाक आदि लक्षण बार-बार न्यूनाधिक होते रहते हैं। लक्षण कम होने पर रोगीको कुछ शान्ति प्रतीत होती है। किन्तु थोड़ेही दिनोंमें पूर्ववत् ये अधिक तीव्र हो जाते हैं। कश्चित् यह रोग महीनों या वर्षों तक भी देहमें गुप्त अवस्थामें रह जाता है। फिर पुनः दर्शन दे देता है।

तीव्र प्रकोप होनेपर जिह्वा अति लाल हो जाती है; श्लैष्मिक कला फूल जाती है; उसपर छोटी छोटी पिटिकाएँ हो जाती हैं; और दोनों किनारी फट जाती हैं। रोग जीर्ण होनेपर जिह्वाकी श्लैष्मिक कला तथा स्वादांकुर नष्ट होने लगते हैं। पश्चात् जिह्वा अति लाल, शुष्क और श्लक्ष्ण हो जाती है; तथा मुँहमें चारों ओर छाले हो जाते हैं। यही स्थिति अन्न-नलिकाकी होती है। अन्न-नलिकामें छाले हो जानेपर उरोस्थिके पीछेके हिस्सेमें वेदना होती है; और दाह-शोथ हो जाता है। दूध, साबूदाना आदि पतले भोजन भी कण्ठके नीचे उतारने में कष्ट ही होता है और नमकीन, खट्टे या चरपरे पदार्थ मुँहमें डालते ही एक-दम आगसी लग जाती है।

अपचनके हेतुसे उदरमें जड़ता, आध्मान और क्वचित् वमन एवं वेदना होती है; शरीर निस्तेज हो जाता है; और रोगकी तीव्र अवस्था हो जानेपर विसूचिकाके समान बाँयटे भी आने लगते हैं।

इस संग्रहणी रोगके अतिसारमें दो प्रकार हैं—(१) चिरकारी और नित्य; (२) आशुकारी और विरामी।

चिरकारी प्रकारमें नित्य प्रति पतले दुर्गन्ध युक्त, झाग वाले, चिकने दस्त एक दो या अधिक होते हैं; किन्तु वेदना मंद रहती है। क्वचित् रोग तीव्र होनेपर गुदा और स्त्रियोंकी योनिमें दाह होने लगता है।

यदि अपूर्ण लक्षण युक्त आम संग्रहणी है, तो मुखपाक, जिह्वा श्वेत, अजीर्ण, सफेद गाढ़ा और ज्यादा परिमाणमें दस्त एक या दो बार होता है। शरीरमें कृशता आ जाती है। इस प्रकारमें आमाशयकी श्लैष्मिक कला क्षीण हो जाती है। इससे आमाशयके रसकी उत्पत्ति कम हो जाती है। इस आम संग्रहणीका वर्णन अतिसार रोगमें विस्तारसे किया गया है।

दूसरे प्रकारमें केवल आंतके कुछ भागमें विकृति होती है। इससे अतिसार हो जाता है, तथापि मुखपाक नहीं होता।

उपद्रव—कभी-कभी रक्तवमन और मांसपेशियोंका आक्षेप, ये उपद्रव होते हैं।

साध्यासाध्यता—इस रोगकी चिकित्सा शीघ्रकी जाय, तो रोग छोटी आयु वालोंका साध्य हो जाता है; अन्यथा कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है। यदि रोग बढ़ जानेके पश्चात् भी रोगी संयमसे रहे, पूर्ण पथ्य पालन करे, तो कई वर्षों तक जीवित रह जाता है।

इस रोगमें रक्तके कीटाणु और श्वेताणु दोनोंकी संख्या बहुत घट जाती है; और रक्त भी दूषित हो जाता है। मल, परीक्षा करनेपर आग्नेय रसके अभाव या अति न्यूनताका बोध हो जाता है।

डाक्टरीमें इस संग्रह-ग्रहणी रोगकी उत्तम औषध नहीं है। बम्बई और महाराष्ट्र में प्रति वर्ष अनेक रोगी डाक्टरी चिकित्सासे विमुख होकर आयुर्वेदिक चिकित्सासे स्वस्थ होते हैं। ऐसा निश्चय हो जानेपर कई सज्जन सर्जन उनके पास आने वाले संग्रह-ग्रहणीके रोगियोंको आयुर्वेदिक चिकित्सा करानेकी हृदयपूर्वक सम्मति देते रहते हैं।इस तरह बम्बईके भी एक सुप्रसिद्ध डाक्टर इस रोगके रोगियोंको यही सलाह देते रहे हैं।

चिकित्सोपयोगी सूचना।

ग्रहणी रोगमें यदि कच्चे आम हों, तो पहले लंघन कराकर अग्निप्रदीपक और आमको पचन कराने वाली औषध देनी चाहिए। इस रोगमें चिकित्सा अजीर्ण चिकित्साके समान करनी चाहिए; तथा अतिसारमें कही विधिसे आमको पकाना चाहिए।

यदि मलमें दुर्गन्ध आती है, तो रोगीको १-२ मास तक केवल मट्ठा या केवल दूधपर रखें। अथवा आयु, प्रकृति, रोगबल और उपद्रव आदिका विचार करके आगे लिखा हुआ आम्रकल्प कराना चाहिए। दुर्गन्ध होनेपर घी का पचन नहीं होता। अतः मट्ठेमेंसे मक्खन निकाल लेना चाहिए। फिर जैसे-जैसे पचन क्रिया सुधरे वैसे-वैसे मक्खन कम निकालते रहें।

रोगीको पूर्ण विश्रान्ति दें, अधिक परिश्रमसे दूर रखें। हाथको उष्ण प्रतीत हो, ऐसे गरम एवं भारी भोजन न देवें। ४-६ सप्ताह आराम करें और पथ्यसे रहें तो रोग दूर हो जाता है।

चाय कॉफी और शराब आदिका त्याग कराना चाहिये। यदि दूषित कफ बहुत बढ़ गया है, तो पहले वमन करानी चाहिये। फिर चरपरे, खट्टे नमकीन और क्षारयुक्त भोजनसे अग्निको प्रदीप्त करना चाहिए।

यदि वातप्रकोप है, तो अग्नि प्रदीप्त करनेके लिये खट्टे और नमकीन पदार्थके साथ घृतपान कराना अति हितकारक माना है।

यदि कफक्षीण, अग्नि मन्द (किन्तु यकृत् सबल हो) और मल पक्का किन्तु ढीला है, तो सोंठ और सैंधानमक मिलाकर २-२ तोले गोघृत पिलाना चाहिये।

संग्रह-ग्रहणी आदि व्याधियोंमें मल रुकनेसे शुष्क होकर बड़ी कठिनतासे उतरता हो तथा छोटी आंतमें प्रतिबन्ध होता हो, तो पंचलवणके साथ घृतपान कराना लाभदायक है।

देह बहुत रूक्ष होगई हो, तो अग्नि प्रदीप्त करनेके लिये घी या सिद्ध तैल सोंठ आदि अनुपानके साथ देना चाहिये।

यदि अति स्नेहपानसे अग्नि मन्द हो गयी हो, तो क्षार आदिके साथ आसव अरिष्ट पिलाना चाहिये।

पंचकोल मिलाये हुए हल्के भोजन, यवागू, पेया और यूष आदि अग्नि-प्रदीपक पदार्थ तथा तक्र हितकारक हैं। इनमें कैथ, बेलगिरी, चाँगेरी (अम्लोनिया), तक्र और अनारदानेको मिलाकर पकाई हुई यवागू पिलानेसे आमका पचन शीघ्र होता है; और मल भी बँध जाता है।

तीव्र संग्रहणीमें अत्यन्त त्रास होता हो, तो थोड़े दूधके साथ २-२ तोले एरण्ड तैल १-१ दिनके पश्चात् ३-४ समय देकर कोष्ठशुद्धि कर लेनी चाहिये। फिर दोषपाचक औषध देनेसे शीघ्र लाभ होजाता है। किन्तु एरण्ड तैल देनेमें रोगीका बल न घटे और व्याधि कम होती जाय, इस तरह सम्हालपूर्वक थोड़ी मात्रामें देना चाहिये।

प्रवाहिकायुक्त तीव्र ग्रहणीकी पीड़ामें रोगके प्रारम्भ कालमें शीघ्र वेदना शमन करानेकी आशासे स्तम्भक और सम्मोहक अफीमयुक्त औषध भूलकर कभी भी नहीं देनी चाहिये। पहले कच्चे आमको पचन करा, फिर मलको बांधने वाली बेलगिरी और इन्द्रजौ या कुड़ा मिली हुई औषधका सेवन कराना चाहिये। कच्चे बेलके चूर्ण या वटी और कुड़ा आदि औषधियोंके सेवनसे मल बँध जाता है और रक्तप्रवाह भी शीघ्र स्तम्भित हो जाता है।

तीव्र पीड़ामें भाँगका सेवन हितावह है। भाँग आमको पचाती है। संमोहक होनेसे पीड़ाको शीघ्र शमन करती है और अग्निको प्रदीप्त करती है। भाँगके साथमें इलायची, खसखस, सफेद मिर्च, सौंफ, धनिया, जीरा और सोंठ आदि अनुकूल वस्तु मिला गोली, चूर्ण या अवलेह बनाकर लेनेसे तुरन्त लाभ पहुँच जाता है।

उदरमें तीव्र पीड़ा हो, तो अफीम, कपूर, तारपिन तैल और तिल तैलको मिला पेटपर धीरे-धीरे १०-१५ मिनट तक मालिश करें; तथा शूलशामक औषध—शंखवटी आदि खानेको देवें; या सोंठका ताजा चूर्ण २ माशे, २ माशे मिश्री और वराटिका भस्म ४ रत्ती मिलाकर सेवन करावें।

पाण्डुता अधिक होनेपर लोहका सेवन कराना चाहिये।

रोग बढ़ जानेपर मांसपेशियोंका आक्षेप (बाँयटे) उपस्थित हों, तो उसका स्थानिक उपचार—सेक, तैलकी मालिश आदि करना चाहिये एवं औषधमें ताम्रभस्म १/३२ रत्ती मिला देनी चाहिये।

इस रोगमें चिकित्सा दीर्घकाल पर्यन्त करनी पड़ती है। यदि कुछ लाभ होनेपर रोगी अपथ्य सेवन कर लेगा, तो फिरसे रोग बढ़ जायगा; और रोग-निरोधक शक्ति शिथिल बनेगी। अतः आहार-विहारमें भूल न होनेके लिये पूर्ण सम्हाल रखनी चाहिये।

श्वेत मल होनेपर यकृत् पित्तका ह्रास या अभाव विदित होता है। ऐसी स्थितिमें यकृत् पर कार्यकर औषध ताम्र, पारद, मल्ल, कालीमिर्च, पीपल, क्षार आदि देनी चाहिये। दस्तमें पीला रंग हो तो ताम्र आदि सेवन कम कराना चाहिये।

यकृत्पित्त और अग्न्याशयके आग्नेय रसकी सहायतासे घृत, शर्करा आदि पदार्थोंका पचन होता है। अतः यकृत् निर्बल होनेपर आमाशयमें पचन हो ऐसे मट्ठे, दूध, फलोंके रस आदि भोजनपर रोगीको रखना चाहिये।

यदि आंतोंमें व्रण हो गये हों, या श्लेष्मल त्वचा नष्ट हो गई हो, तो जल या छाछ में ईसबगोल भिगोकर देना विशेष हितावह है। ईसबगोलसे आंतकी श्लेष्मल त्वचा शीघ्र स्निग्ध बनती है। अन्त्र-दाह, रुक्षता और अन्त्रव्रणका शमन होता है। नये पुराने सब प्रकारके ग्रहणी रोगमें ईसबगोलका अनुपान रूपसे सेवन कराया जाता है।

कतीरा गोंद ६ माशे जलमें भिगों दें, ३ घण्टे बाद मसल १ तोला शक्कर मिलाकर पिलानेसे दाह, आँतोंकी सूजन और रक्त जाना ये बन्द होजाते हैं।

जीर्ण रोगमें तक्र, दुग्ध, आम्रकल्प या पर्पटी कल्पका सेवन कराना अति हितकारक है। पर्पटी कल्पमें उपद्रव भेदसे औषध भेद हो जाता है। मात्र अंत्र-शोथ ही हो तो रसपर्पटी; रक्तकी भी कमी हो तो लोहपर्पटी; ज्वर, अम्ल-पित्त, रक्तस्राव, पूय जाना आदि लक्षणों सह व्याधिमें पञ्चामृत पर्पटी; यकृद्-वृद्धि या अन्य यकृत्प्लीहा विकृति है तो ताम्र पर्पटी; तथा क्षयके कीटाणु या सेन्द्रिय विषजन्य विकृति हो, तो सुवर्णपर्पटी दी जाती है। यदि सगर्भाको अतिसार या ग्रहणी रोग होगया हो, तो अभ्रपर्पटी का सेवन लाभदायक है। बहुत बड़े बड़े दस्त हों या हृदयमें निर्बलता आ गई हो, तो सुवर्णपर्पटीकी योजना करें। इस तरह विचार पूर्वक चिकित्सा की जाती है। पर्पटी सेवन करानेके समय पहले आँतोंको एरण्ड तैलसे शुद्ध कर लें। फिर बीचमें भी आवश्यकता हो तो एरण्ड तैलका सेवन कराते रहें।

ग्रहणी-संग्रहणी चिकित्सा।

पाचन प्रयोग—(१) सोंठ, गिलोय, नागरमोथा और अतीसका क्वाथ रोग

के प्रारम्भ कालमें देनेसे दस्त बँधता है; आमपचन होता है; शूल नष्ट होता है और अग्नि प्रदीप्त होती है।

(२)—धनिया, अतीस, नेत्रबाला अजवायन, नागरमोथा, सोंठ, खरैंटी, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी और बेलगिरी, सबको समभाग मिला २-२ तोलेका काथ दिनमें ३ समय पिलाते रहनेसे आमका पचन होकर अग्नि प्रदीप्त होती है।

(३) कच्चे बेलके गूदेके कल्कमें सोंठ और गुड़ मिलाकर मट्ठेके साथ सेवन करानेसे ग्रहणी रोगकी निवृत्ति हो जाती है।

(४) भल्लातक क्षार—भिलावा, सोंठ, कालीमिर्च; पीपल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सैंधानमक, बिड़नमक, कालानमक, इन १० औषधियोंको ८-८ तोले लेकर एक हाँडीमें रखें। ऊपर कपड़मिट्टी कर गजपुटकी अग्निमें फूँक दें। फिर भस्मको निकाल १-१ माशे घीके साथ या मट्ठेके साथ देनेसे हृद्रोग, पाण्डु, ग्रहणी; गुल्म, उदावर्त्त तथा उदरशूल आदि व्याधियाँ नष्ट होजाती हैं।

(५) अभयादि योग—हरड़, पीपलामूल, बच, कुटकी, पाठा, गोखरू, चित्रकमूल और सोंठ, सबको समभाग मिला १।-१। तोलेका काथकर दिनमें ३ समय पिलाने या इन सबका चूर्णकर ३-३ माशे जल या मट्ठेके साथ देनेसे आमपचन होकर अग्नि प्रदीप्त होती है।

(६) बेलगिरी, इन्द्रजौ, नागरमोथा, सोंठ, कालीमिर्च, सुनी सौंफ और जीरा, इन सबको समभाग मिलाकर चूर्ण करें। इसमेंसे ४-४ माशे चूर्ण दिनमें ४ समय देवें। सुबह, दोपहर और शामको मट्ठेसे देवें और रात्रिको जलके साथ सेवन करावें।

(७) आमपचनार्थ अतिसार प्रकरणमें कहे हुए कपित्थाष्टक चूर्ण, दाड़िमाष्टक चूर्ण और बृहद् गंगाधर चूर्ण हितकारक हैं। यदि इन चूर्णोंके सेवन कालमें पथ्यका पूरा पालन किया जाय, तो नया ग्रहणी रोग निःसंदेह शमन होजाता है।

(८) हिंग्वष्टक चूर्ण, यवानीखाण्डव चूर्ण, लवणभास्कर चूर्ण, हिंग्वादि चूर्ण, चित्रकादि वटी, ये सब औषधियां आमका पचन कराने वाली हैं। वात प्रधान रोगपर हिंग्वष्टक या हिंग्वादि चूर्ण, ज्वरसह पैत्तिक विकार हो तो यवानीखाण्डव और वातकफ प्रधान हो, तो चित्रकादि वटी देवें।

(९) तक्रारिष्ट—अजवायन, आंवले, हरड़, कालीमिर्च, ये सब १२-१२ तोले और पाँचों लवण ४-४ तोले लेवें। सबको २५६ तोले मट्ठेमें मिलाकर ४-६ दिन रहने दें। खट्टापन आनेपर पिलानेके लिये उपयोगमें लेवें। इस अरिष्टके सेवनसे ग्रहणी, शोथ, गुल्म, अर्श, कृमि, प्रमेह और उदर रोग नष्ट होते हैं, और अग्नि प्रदीप्त होती है। मलमें दुर्गन्ध आती हो और स्नेह पचन न होता हो, तब इस अरिष्टको हितकर माना है।

गौके ताजे दहीमें केवल चतुर्थांश जल मिलाया जाय, तो पीने लायक

अरिष्ट नहीं बन सकेगा। इसलिए ३-४ गुना जल मिला मथनकर घी निकाल लेवें। फिर अरिष्ट बनावें।

जो औषधियाँ ग्रहणी और संग्रहणीके लिये लिखी हैं, वे ही अनुपान भेद से वात आदि भिन्न-भिन्न प्रकारके विकारोंपर दी जाती हैं। फिर भी वात आदि दोषोंपर शीघ्र लाभ पहुँचा सकें, ऐसी कुछ औषधियाँ यहाँ पृथक्-पृथक् दिखाई हैं।

(१०) **मूत्रावरोध** होता हो तो-ईसबगोल २ माशे, छोटे इलायचीके दाने १ माशे और शक्कर ३ माशे मिलाकर दिनमें ३ समय देवें।

(११) **सारिवादि चूर्ण**—काली अनन्तमूल, छोटी इलायचीके दाने, कतीरागोंद, रूमीमस्तंगी, लालबोल, कत्था, शीतलमिर्च और धमासा, इन ८ औषधियोंको समभाग मिलाकर चूर्ण करें। इस चूर्णमेंसे ३-३ माशे दिनमें २ समय जल, मट्ठा या दूधके साथ देनेसे मूत्रावरोध दूर होता है; सेन्द्रिय विष मूत्र द्वारा निकल जाता है। उष्णता शमन होती है; मुखपाक और खट्टी डकार कम होती है; दस्तका पतलापन और संख्या कम होती है; आँतोंका दाह-शोथ नष्ट होता है; और मस्तिष्क भी शान्त बन जाता है।

वातप्रधान ग्रहणी चिकित्सा।

(१) **रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रहमें दिये हुए**—ग्रहणीकपाट रस, अगस्तिसूतराज रस, जातिफलादि चूर्ण, लाही चूर्ण, लघु लाही चूर्ण, कनकसुन्दर रस, पञ्चामृत पर्पटी ये सब वात प्रधान रोगपर हितकारक हैं। ग्रहणीकपाट और अगस्ति सूतराजमें अफीम है। अतः सम्हालपूर्वक उपयोग करें। जातिफलादि चूर्ण, लाही चूर्ण और कनक सुन्दरमें भांग मिश्रित है। अतः कम मात्रामें देवें। लघु लाही चूर्णमें कुटजत्वक् चूर्ण मिलाया है। वह अति निर्दोष औषध है।

(२) अपचन और शूल हो, तो अग्नितुण्डी वटी, हिंग्वष्टक चूर्ण, हिंग्वादि चूर्ण या हिंगुल रसायन (दूसरी विधि) इनमेंसे एकका सेवन कराना चाहिये। दूषित डकारें आती हों, उदरमें भारीपन हो तब ये औषधियाँ दी जाती हैं।

(३) वातपित्तात्मक शूल हो, तो सूतशेखर (तुलसीके रसके साथ) देना हितकारक है। अन्त्रके भीतर क्षत होनेसे रह-रहकर शूल निकलता हो, तब यह दिया जाता है।

(४) **मेथीमोदक**—सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, जीरा, कालाजीरा, धनिया, कायफल, पुष्करमूल, काकड़ासिंगी, अजवायन, सैंधानमक, बिड़नमक, तालीसपत्र, नागकेशर, तेजपात, दालचीनी, छोटी इलायची, जायफल; जावित्री, लौंग मुरामांसी (अभावमें जटामांसी), कपूर,

लाल चन्दन इन २७ औषधियोंको १-१ तोला लेकर कपड़छान चूर्ण करें। फिर ६७ तोले मेथीका आटा और ५४ तोले पुराना गुड़ मिलाकर २-२ तोलेके लड्डू बना लें। अनेक चिकित्सक पहले मेथीको ५४ तोले घीमें भून, फिर औषधियोंके चूर्ण और भूने हुए मेथीके आटेको गुड़की चाशनीमें मिलाकर लड्डू बाँधते हैं।

इनमेंसे १-१ मोदक या पाचन शक्ति अनुसार न्यूनाधिक मात्रा (६-६ माशे शहद मिलाकर) रोज सुवह सेवन करानेसे अग्नि प्रदीप्त होती है। यह मोदक आम और मेदवृद्धि वालोंके लिये अति हितकर, बलवर्णकारक और नये संग्रह-ग्रहणी (खट्टे पानी मुँहसे अधिक न गिरते हों, तो) का नाशक है प्रमेह, मूत्राघात; अश्मरी, पाण्डु, कास, क्षय और कामला, ये रोग दूर होते हैं। स्त्रियोंके शिथिल हुए स्तन ताड़फलके समान दृढ़ हो जाते हैं। इस योगमें दृष्टि शक्तिकी वृद्धि करने और सन्तान देनेके गुण भी रहे हैं। वार-बार चट-पटे भोजन करके जिन्होंने पचन शक्ति बिगाड़ दी है, उनके लिये यह मोदक हितकर है।

(५) **बृहद्मेथी मोदक**—ऊपर मेथीमोदकमें कही हुई सोंठादि २७ औषधियाँ, सोया, मुलहठी, पद्माख, चव्य, सौंफ और देवदारु सब मिलाकर ३३ औषधियोंको १-१ तोला लें। मेथी ३३ तोले, मिश्री ६६ तोले और घृत आवश्यकतानुसार मिलाकर २-२ तोलेके लड्डू बनावें। इनमेंसे रोज सुबह पाचन शक्ति अनुसार सेवन करानेसे मन्दाग्नि और विशेषत: आमदोष दूर होते हैं। यह मोदक अग्नि प्रदीप्त करता है; आमवातका नाश करता है; शुक्रकी वृद्धि करता है; तथा ग्रहणी, अर्श, प्लीहा, पाण्डु, प्रमेह, कास, दारुण श्वास, वमन, अतिसार और नाना प्रकारके दुष्कर रोगोंमें लाभ करता है।

सगर्भा स्त्रीकी संग्रहणीपर—अभ्रपर्पटी, हेमगर्भपोटली रस (दूसरी विधि) या जातिफलादि चूर्ण दिनमें २ या ३ समय बकरीके दूध, मट्ठे या जलके साथ देते रहना चाहिये। मुँहमें क्षत हो और दाह होता हो, तो हेमगर्भ पोटली रस देना चाहिये। भांग सहन हो तो जातिफलादि चूर्ण दें। निर्बलता अधिक हो तो अभ्रपर्पटी देवें।

प्रसूताकी ज्वरसह संग्रहणी—दशमूलारिष्ट, सर्वाङ्ग-सुन्दर रस, लक्ष्मीनारायण, जीरकाद्यरिष्ट, प्रतापलंकेश्वर रस या पञ्चामृत पर्पटी (दूसरी विधी) इनमेंसे अनुकूल औषध देवें। गर्भाशयमें दूषित विष हो, तो प्रतापलंकेश्वर और दशमूलाद्यरिष्ट देवें। गरम-गरम दस्त लगते हों, तो लक्ष्मीनारायण और जीरकाद्यरिष्ट दें। ज्वर अधिक हो और शूल हो तो सर्वाङ्गसुन्दर देवें। जीर्ण रोग हो तो पञ्चामृत पर्पटी देवें।

ग्रहणीमिहिर तैल—धनिया, धायके फूल, लोध, मजीठ, अतीस, हरड़,

खस, नागरमोथा, नेत्रबाला, मोचरस, रसौत, बेलगिरी, नीलोफर, तेजपात, नागकेशर, कमलकेशर, गिलोय, इन्द्रजौ, काली निशोथ, पद्माख, कुटकी, तगर, छरीला, भाँगरा, काला भाँगरा, पुनर्नवा, आमकी छाल, जामुनकी छाल, कदम्बकी छाल; कुड़ा छाल, अजवायन और जीरा इन सब औषधियोंको २-२ तोले मिलाकर कल्क करें। फिर कल्क, तिल तैल १२८ तोले, तथा मट्ठा, कुड़ेकी छालका क्वाथ, या धनियेका क्वाथ, तैलसे ४ गुना मिलाकर तैल पाक करें।

यह तैल उत्तम रसायन रूप और वलिपलितका नाश करने वाला है। इस तैलके उपयोगसे (पीने और मालिश करनेसे) अतिसार, ग्रहणी, ज्वर, तृषा, कास, हिक्का, श्वास, वमन, भ्रम आदि उपद्रवों सह उदर रोगोंमें लाभ होता है। अर्श, कामला, प्रमेह, शोथ और भयंकर शूल शमन होते हैं। तैल बृंहण, वृष्य, रोगोंका नाशक और विचलित गर्भको स्थिर करने वाला है। सगर्भाको प्रारम्भसे इसका सेवन कराया जाय, तो गर्भकी खूब वृद्धि होती है। यह ग्रहणीमिहिर तैल संसारका मंगल करने वाला है।

जीरकाद्यरिष्ट—१० सेर जीरेको कूट ५१। सेर जलमें मिलाकर क्वाथ करें। चतुर्थांश जल शेष रहनेपर उतार कर १५ सेर गुड़ मिलावें; तथा धायके फूल ६४ तोले, सोंठ ८ तोले; जायफल, नागरमोथा, दालचीनी, तेजपात, नागकेशर, छोटी इलायचीके दाने, अजवायन, शीतल मिर्च और लौंग ये ९ वस्तुयें ४-४ तोले मिलाकर एक मास रहने देवें। अरिष्ट सिद्ध होनेपर छान लेवें। फिर ३ मास हो जानेके पश्चात् उपयोगमें लेवें।

इस अरिष्टमेंसे २॥-२॥ तोले समान जल मिलाकर भोजनके पश्चात् दिन में २ या ३ समय देनेसे सूतिका रोग, ग्रहणी रोग, अतिसार और पचन क्रिया की विकृति, ये दोष दूर होते हैं।

पित्तप्रधान ग्रहणी चिकित्सा।

(१) पित्तज ग्रहणीके प्रारम्भमें रसौंत, अतीस, इन्द्रजौ, कुड़ेकी छाल, सोंठ और धायके फूलको कूट चूर्णकर ४-४ माशे शहद और चावलोंके धोवनके साथ दें।

(२) तालीसादि चूर्ण अथवा मण्डूर माक्षिक भस्म, प्रवाल पिष्टी (दाड़िमावलेहके साथ) दिनमें २ या ३ समय देते रहनेसे पित्तप्रकोपज ग्रहणी नष्ट हो जाती है।

(३) पक्का केला २॥ तोले, पकी इमली १। तोला, सैंधानमक ६ माशे मिलाकर प्रातः और सायं काल देते रहनेसे ग्रहणी रोग शीघ्र शमन होता है।

(४) रोगबल अधिक है, तो—सुवर्णपर्पटी, हेमगर्भपोटली रस (दूसरी विधि) लघु लाही चूर्ण, ग्रहणीकपाट रस, जीरकादि मोदक, नृपतिवल्लभ

एवं लघु गंगाधर चूर्ण इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन कराना चाहिए। यदि क्षयके कीटाणु अन्त्रमें हो गये हों; तो सुवर्णपर्पटी या हेमगर्भपोटली रस या अन्य सुवर्णयुक्त औषध ही देनी चाहिए। शूल हो या वेगपूर्वक दस्त होते हों तो ग्रहणीकपाट देवें। लघुलाही चूर्ण सौम्य और उत्तम पाचक औषध है। कोमल स्वभाव वालोंको और प्रसूताको जीरकादि मोदक हितकर है। उसमें भांग आती है, अतः मात्रा कम देनी चाहिए।

(५) नागरादि चूर्ण—सोंठ, अतीस, नागरमोथा, धायके फूल, रसोंत, कुड़ेकी छाल, इन्द्रजौ, बेलगिरी, पाठा, कुटकी, इन सबको समभाग मिलाकर चूर्ण करें। इसमेंसे २-२ माशे चूर्ण दिनमें ४ समय शहदके साथ देवें। ऊपर चावलका धोवन पिलावें। इस चूर्णके सेवनसे पैत्तिक ग्रहणी, रक्तज ग्रहणी, अर्श, गुदशूल, प्रवाहिका आदि व्याधियाँ दूर होती हैं। यह चूर्ण शीतल आमपाचक, ग्राही और दाहशामक है। नये और पुराने रोगमें भी लाभ पहुँचाता है। जिनको मलावरोध रहता हो उनको यह मलशुद्धिके लिए दिया जाता है। अतिसारावस्थामें कुटकी नहीं मिलानी चाहिये।

(६) पित्तकी तीव्रता या अम्लतासे उदरशूल होवे, तो—वराटिका भस्म या शंख भस्म, प्रवाल पंचामृत दिनमें ३ समय घी के साथ देवें। यदि दोष वातपित्तात्मक है, तो सूतशेखर दिनमें २ या ३ समय अदरकके रस और शहदके साथ देते रहें। आमाशयमें खट्टा रस अधिक बननेसे जिह्वापर क्षत, उदरमें दाह, आमाशयमें भारीपन आदि भी रहते हों तब ये औषधियाँ हितकारक हैं।

(७) गुद शूल होवे, तो—लघु लाही चूर्ण या सर्वाङ्गसुन्दर रसका सेवन कराना चाहिये।

(८) ज्वर, पाण्डु और शोथ होवे, तो—दुग्धवटी या पंचामृतपर्पटी या लोह पर्पटी, सर्वाङ्गसुन्दर रसमेंसे अनुकूल औषध देते रहें। तीव्र ज्वर और बार-बार शौच होना आदि लक्षण हों तो दुग्ध वटी देवें। इसमें अफीम डाली जाती है। अतः रोगीकी प्रकृतिका विचार करके देवें। जीर्ण रोग हो तो पंचामृतपर्पटी देवें।

(९) लोहपर्पटी या पंचामृतपर्पटी दिनमें २ से ३ समय देते रहनेसे ज्वर, पाण्डु और यकृत्प्लीहावृद्धि सह ग्रहणी रोग दूर हो जाता है।

(१०) यकृत् शोथ हो, तो—ताम्रपर्पटी (भुना जीरा और शहदके साथ) दें; तथा प्रारम्भमें कहा हुआ सारिवादि चूर्ण, मूत्रशुद्धि और दाहशमन के लिए देते रहें।

दाह शमनार्थ—अनार, सेव, मोसम्मी या फालसोंका रस पिलावें। या

मौक्तिकपिष्टी अथवा प्रवालपिष्टी, गिलोयसत्त्व, सुवर्णमाक्षिक भस्म और अनार-शर्बतके साथ दिनमें २ से ३ समय देते रहें।

रक्त-पीप सह ग्रहणी होवे, तो—(१) पञ्चामृतपर्पटी, बोलपर्पटी (कुटजावलेह या दाड़िमावलेहके साथ) दें, अथवा मण्डूरमाक्षिक भस्म और शंख भस्म (दाड़िमावलेह या दाड़िमाष्टक चूर्णके साथ) दिनमें ३ समय देते रहें।

(२) सौंफ, रूमीमस्तंगी और छोटी इलायची इन सबको कूट लें, ईसबगोलको बिना कूटा हुआ मिलावें। सबके समान मिश्रीका चूर्ण मिलावें। इसमेंसे ३-३ माशे चूर्ण दिनमें ३-४ समय जल मट्ठा, बकरीके दूध या चावलके धोवनके साथ देते रहनेसे उदर शूल, आंतोंका दाह, आम, रक्त और पीप जाना ये सब उपद्रव दूर होते हैं।

कफज ग्रहणी चिकित्सा।

(१) नागरमोथा, सोंठ और वायविडंगका चूर्ण निवाये जलके साथ देनेसे आम और कफका पचन होकर ग्रहणी रोग दूर हो जाता है।

(२) हरड़, पीपलामूल, बच, कुटकी, पाठा, इन्द्रजौ, चित्रकमूल और सोंठका चूर्णकर ३-३ माशे निवाये जलके साथ दिनमें २ समय देते रहनेसे कफपित्तात्मक विकृतिकी निवृत्ति होती है।

(३) नागरमोथा, अतीस, बेलगिरी और इन्द्रजौका चूर्ण कर, ३-३ माशे शहदके साथ मिलाकर दिनमें ३-४ समय देते रहनेसे तीनों दोषोंकी विकृति दूर होती है।

(४) तालीसादि चूर्ण (भांगमिश्रित), जातिफलादि चूर्ण, क्रव्याद रस, लघु क्रव्याद रस, लवणभास्कर चूर्ण या चित्रकादि वटी, अग्निकुमार रस ये सब अग्निप्रदीपक और ग्रहणी दोषको दूर करने वाले हैं। इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन करावें। क्रव्याद रस अधिक उग्र है, अतः सम्हाल कर उपयोग करें।

(५) आम और कफवृद्धि होवे, तो—आनन्दभैरव रस, अगस्ति सूतराज रस (पेचिश सह), रामबाण रस, हिंगुलेश्वर रस, और लाही चूर्ण इनमें से कोई भी औषधका सेवन करानेसे नयी कफज ग्रहणी आमदोष सह दूर हो जाती है। सामान्य दोष हो, तो आनन्दभैरव रस देवें। कुछ अधिक दोष हों, तो हिंगुलेश्वर या रामबाण रस देवें। अन्त्रमें कीटाणु, उदर-शूल, वमन और अग्निमांद्य सह हो, तो अगस्तिसूतराज देवें। ज्वर और अधिक आम हो, तो लाही चूर्ण देना हितकारक है। अगस्ति सूतराजमें अफीम आती है। अतः आवश्यकतापर सम्हाल कर देवें।

(६) ग्रहणी रोगमें वातकफसे यदि कोष्ठमें शूल हो तो इन्द्रजौ, भुनी हींग, अतीस, बच, काला नमक और बेलगिरी इनके चूर्णको गरमजल या अनार

के रससे लेवें।

(७) यदि वात कफसे कोष्ठमें अफारा रहता हो, तो पिप्पली, सोंठ, पाठा, सारिवा, (अनन्तमूल), छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, चित्रकमूल, इन्द्रजौ, पांचों नमक (सैंधव, सामुद्र, विड, औद्भिद, संचर) यवक्षार, इन्हें समान परिमाणमें मिश्रित कर चूर्ण करें फिर ३-३ माशा चूर्णको दही, गरम जल अथवा काँजी आदि अनुपानसे प्रातः सायं सेवन करते रहें।

कल्याण गुड़—आँवलोंका रस १९२ तोले, ३ वर्षका पुराना गुड़ २०० तोले; पीपलामूल, जीरा, चव्य, सोंठ, मिर्च, पीपल, गजपीपल, हाऊबेर, अजमोद, वायविडङ्ग, सैंधानमक, हरड़, बहेड़ा, आँवला, अजवायन, पाठा, चित्रकमूल और धनियाँ ये १८ औषधियाँ ४-४ तोले, निशोथ ३२ तोले और तिलका तेल ३२ तोले लेवें। पहले आँवलोंके रसको उबालें, फिर गुड़ मिलाकर चासनी करें। पश्चात् नीचे उतार निशोथको छोड़, शेष औषधियोंका चूर्ण मिलावें। निशोथको तैलमें कुछ देर भूनकर मिलावें। फिर दालचीनी, तेजपात और छोटी इलायची इन तीनोंका चूर्ण ४-४ तोले मिला लें। इसमेंसे १-१ तोला नित्यप्रति सेवन करानेसे ग्रहणीरोग, श्वास, कास, स्वरभेद, शोथ आदि विकार नष्ट होते हैं; अग्नि प्रदीप्त होती है; कामोत्तेजना होती है; तथा स्त्रियोंका बन्ध्यत्व दोष दूर होजाता है।

ज्वर शमनार्थ–यदि ज्वर रहता हो, तो ग्रहणीरोगकी औषधके साथ-साथ सूतराजरस (कालीमिर्च और शहदके साथ), दिनमें २ समय प्रातः सायं देते रहें।

जीर्ण रोगमें रोगशमन और आँतोंकी शक्ति बढ़ानेके लिये—आगे लिखे हुए कल्पोंका सेवन और पर्पटीका प्रयोग करना चाहिये।

प्रवाहिकाजन्य ग्रहणी चिकित्सा।

(१) ग्रहणीकपाट रस (कुटजावलेह या दाड़िमावलेहके साथ), अगस्तिसूतराज रस या पंचामृतपर्पटी, पीयूषवल्ली रस इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन कराना चाहिये। नया रोग हो और ग्रहणीमें अधिक शिथिलता न आई हो, तो अगस्तिसूतराज, या ग्रहणीकपाट दें। ग्रहणीकपाट पित्तविकार, उदरशूल, रक्तस्राव और अग्निमान्द्यको दूर करता है; कच्चे आमका पचन करता है और पीपको भी दूर करता है। यदि रोग जीर्ण है, तो पंचामृत पर्पटी और पीयूषवल्ली लाभदायक है।

(२) तृषा, दाह और पेचिश सह नये रोगपर कर्पूररस, जातिफलादि वटी या ग्रहणीकपाट रस, ये तीनों लाभ पहुँचाते हैं। कर्पूररससे जातिफलादि वटी में अफीम कम है और जातिफलादि वटीसे ग्रहणीकपाटमें कम है। यदि ज्वरकी प्रधानता हो तो कर्पूररस देना अधिक लाभदायक है।

(३) अहिफेनादि वटी—अफीम १ भाग और गाँजाकी पत्ती २ भाग मिला अनारके रसके साथ खरलकर आध-आध रत्तीकी गोलियाँ बना लें। प्रातः-सायं एक-एक गोली तक्रके साथ देनेसे नये और पुराने ग्रहणीरोग,पेचिश, रक्त और पीपजाना, निद्रानाश, अग्निमान्द्य, उदरशूल और शिथिलता आदि, थोड़े ही दिनोंमें दूर होकर शरीर नीरोगी और तेजस्वी हो जाता है।

संग्रहणी की चिकित्सा।

इस रोगमें पचनेन्द्रिय संस्थानकी सब इन्द्रियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं। वे अपना कार्य नहीं कर सकतीं। अतः इन इन्द्रियोंको सबल बनाने और संगृहीत मल, विष आदिको निकाल देने या जलानेके लिये चिकित्सा की जाती है, दीर्घ काल पर्यन्त पथ्य पालन सह योग्य चिकित्सा होनेपर ही लाभ मिलता है।

(१) मौक्तिकपिष्टी (दाड़िमावलेहके साथ), प्रवालपिष्टी, शंखभस्म (सोंठके चूर्ण और घीके साथ), हेमगर्भपोटली रस (दूसरी विधि), सुवर्णपर्पटी, जातिफलादि चूर्ण, तालीसादि चूर्ण और सूतशेखर रस (ज्वर रहता हो तो) ये सब औषधियाँ लाभदायक हैं। इनमें मौक्तिक, प्रवाल और शंख ये सब पित्तकी तेजीको नष्ट करती हैं। भाँग मिश्रित तालीसादि चूर्ण और जातिफलादि चूर्ण अन्त्र-शक्तिको बलवान् बनानेमें सहायक हैं। सुवर्णयुक्त औषध, हेमगर्भपोटली रस, सुवर्ण पर्पटी और सूतशेखर विषघ्न और ग्राही हैं। इनमेंसे अनुकूल औषधियोंको प्रयोगमें लावें।

(२) वमन होती है, तो पीपल (अश्वत्थ) वृक्षकी लकड़ीकी राखको १६ गुने जलमें भिगो ऊपरसे नितरे हुए जलमेंसे ५-५ तोले जल दिनमें ४-५ समय पिलावें या एलादि चूर्ण देवें।

शेष उपद्रवोंके लिये ग्रहणीरोगमें लिखे अनुसार चिकित्सा करें।

इस रोगमें मल बँधा हुआ हो; तो प्रातः और सायं सुवर्ण पर्पटी १ रत्ती च्यवनप्राशावलेह या दाड़िमावलेहके साथ देवें। यदि सुवर्ण पर्पटी दाड़िमावलेहके साथ देवें; तो आध घण्टे बाद दूध देवें; और च्यवनप्राशावलेहके साथ दिया जाय तो १ घण्टे बाद दूध पिलावें। यदि गौका धारोष्ण दूध पचन हो सके तो धारोष्ण दूध देवें। धारोष्ण दूधके लिये पात्रको गरम कर, ऊपर कपड़ा बाँध फिर गौको दुहना चाहिये। च्यवनप्राशावलेह धीरे-धीरे आध तोलेसे २ तोले तक बढ़ाते जायँ। भोजन पचन होता हो तो मसूरका यूष, दलिया, खिचड़ी खीलोंका मण्ड, साबूदाना आदि पतले और हलके भोजन बहुत थोड़े परिमाण में देवें। भोजनके २ घण्टे बाद दोपहरको और रात्रिको जातिफलादि चूर्ण १ माशा, मौक्तिकपिष्टी १ रत्ती (या प्रवालपिष्टी २ रत्ती तथा गिलोय सत्व ४ रत्ती मिलाकर शहद मिलाकर साथ देते रहें। हमने इस विधिसे अनेक

रोगियोंको लाभ पहुँचाया है। लगभग १ से २ मास तक औषध देनेसे रोग बिल्कुल शमन हो जाता है।

यदि ज्वर, पतले दस्त और पेचिशका असर हो, तो दिनमें ४ समय पंचामृत पर्पटी, कुटजावलेह (या भुना जीरा और शहद) के साथ देवें। ज्वर शमन होनेपर प्रातःसायं पंचामृत पर्पटीके स्थानपर सुवर्ण पर्पटी देना विशेष हितकर है।

जिन रोगियोंको पतले दस्त हों उनको बकरीके दूधपर या मट्ठेपर रखना चाहिये। दूध जिनको अनुकूल हो उनको दूध ही देना चाहिये।

मूत्रविकार, दाह, मुखपाक, आँतोंका शोथ; इनको कम करनेके लिए (ज्वर न हो तो) पहले मूत्रशुद्धिके लिए लिखा हुआ सारिवादि चूर्ण जलके साथ दिन में ३ समय देवें। सायंकालके पश्चात् इस चूर्णका उपयोग नहीं करना चाहिये।

ग्रहणीशार्दूल रस—१ से २ रत्ती दिनमें ३-४ समय भुने जीरेका चूर्ण और शहद या कुटजारिष्टके साथ देनेसे सूतिका रोग, ग्रहणी रोग, अर्श, कास, श्वास, अतिसार, संग्रहणी, आमशूल ये नष्ट होते हैं; पचन-शक्ति बलवान् बनती है; तथा बलवीर्यकी वृद्धि होती है। यह जीर्ण रोगोंपर निर्भय और सफल औषधि है।

यह रसायन अन्त्रविकारसे उत्पन्न संग्रह-ग्रहणी, ग्रहणी रोग; अन्त्रक्षय और सूतिका रोगमें अत्यन्त लाभदायक है।

यदि दूधके अधिकारीको दूध पचन न होता हो; तो दूधको खूब उलट पलटकर झाग उत्पन्न करें, ये झाग खिलाते रहनेसे पचन हो जाता है। पश्चात् धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा करके दूध पचन होने लग जायगा। दूधके झागके लिये हारीत संहितामें लिखा है; कि:—

क्षीणे ज्वरातिसारे च सामे च विषमज्वरे।
मंदाग्नौ कफमाश्रित्य पयःफेनं प्रशस्यते॥

अति क्षीण मनुष्य, ज्वरातिसार, आम ज्वर, विषम ज्वर, अग्निमांद्य और कफाधिकतामें दूधके झाग अति लाभदायक हैं।

सूचना—संग्रहणीके रोगीका वजन बहुत घट गया हो; अंतड़ीमें क्षय रोगके जन्तुओंकी उत्पत्ति होगई हो तो रोगीको सुवर्णयुक्त औषध अवश्य देनी चाहिये।

यदि इस संग्रहणी रोगमें ज्वर रहता है, या आम कफ बढ़ गये हैं, तो जलको औटाकर शीतल होनेपर उपयोगमें लेना चाहिये। आँतोंमें आम और दूषित मलका संग्रह बहुत समय तक न रहे; इस बातका खूब लक्ष्य रखना चाहिये।

एलोपैथीमें इस रोगपर विटामिन B 12 का अन्तःक्षेपण करते हैं, Ana cobin Macrabin आदि प्रयोजित होते हैं। इसके साथ B Complex संमि-

लित कर देनेपर अधिक लाभ पहुंचता है।

Plebex + Anacobin अथवा Beplex + Macrabin का प्रयोग विशेषत: करते हैं।

कल्प चिकित्सा।

संग्रहणी रोगमें जब सामान्य चिकित्सासे लाभ नहीं होता तब या प्रारम्भ से ही अनेक रोगियोंकी चिकित्सा कल्प द्वारा करायी जाती है।

तक्र, दूध और आमके रस ये ३ प्रकारके कल्प करानेकी प्रथा है। तक्र सेवनके योग्य रोगियोंको तक्र, दूधके अनुकूल अधिकारी वर्गको दूध और आम के रस वालोंको आमके रसका कल्प कराया जाता है। कल्प चिकित्सासे रोग शमन होनेपर सब धातुयें और इन्द्रियाँ नीरोगी और सबल हो जाती हैं, जिससे भविष्यमें पुन: इस रोगके आक्रमणका भय ही दूर हो जाता।

कल्पकाल—तक्र कल्प हो सके तब तक ग्रीष्म और शरद् ऋतुमें नहीं कराना चाहिये। वर्षा ऋतुमें सम्हालपूर्वक कराया जाता है। किन्तु आर्द्र वायुसे रोगीको बचाते रहना चाहिये। हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतुओंमें सरलतापूर्वक हो सकता है। दुग्धकल्प सब ऋतुओंमें करा सकते हैं; और आम्रकल्प विशेषत: वर्षा ऋतुमें ही आम पकनेपर कराया जाता है।

तक्र-कल्पके अधिकारी—जिनके मूत्रमें प्रतिक्रिया क्षारीय होती हो, ज्वर, उर:क्षत, मूर्च्छा रोग, पित्तप्रकोप, अम्लपित्त, शोथ या रक्तपित्त न हों, सुजाक या उपदंश रोग भूतकालमें न हुआ हो, उन रोगियोंको तक्र-कल्पका अधिकारी माना है।

तक्र कल्प फल—इस तक्र कल्पसे पुराना ग्रहणी या संग्रहणी रोग हो, चाहे कितनी निर्बलता आगई हो, अस्थिपञ्जरवत् देह कृश हो गई हो, क्षुधानाश, अन्नका अपचन, अग्निमांद्य, उदरशूल, आमवृद्धि, आँतोंमें गुड़गुड़ाहट, पतले दस्त, अत्यन्त दुर्गन्ध वाले दस्त, दस्तोंकी अत्यधिक संख्या, अर्श, प्रदर, प्रमेह और स्वप्नदोष आदि विकार हों, ये सब जलकर नष्ट होते हैं, तथा आँतें बलवान बन जाती हैं, जिससे भविष्यमें पुन: इन जली हुई व्याधियोंके आक्रमणका डर ही नहीं रहता। इस विषयमें आचार्य वंगसेनने लिखा है, कि:—

> ग्रहणीरोगिणां तक्रं संग्राहि लघु दीपनम्।
> सेवनीयं सदा गव्यं त्रिदोषशमनं हितम्॥
> दु:साध्यो ग्रहणीदोषो भेषजैर्नैव शाम्यति।
> सहस्रशोऽपि विहितैर्विना तक्रस्य सेवनात्॥
> यथा तृणचयं वह्निस्तमांसि सविता यथा।
> निहन्ति ग्रहणीरोगं तथा तक्रस्य सेवनम्॥

ग्रहणी रोगीके लिये तक्र मलको बाँधने वाली, लघु और दीपन है। तक्रमें

भी गायका तक्र त्रिदोषशामक होनेसे सदा सेवन करने योग्य है। दुःसाध्य ग्रहणी रोग जो हजारों औषधियोंके सेवनसे न गया हो, वह तक्र-सेवनसे निर्मूल हो जाता है। जिस तरह घासके समूहको अग्नि और अन्धकारको सूर्य नष्ट करता है, उसी तरह सेवन किया हुआ मट्ठा ग्रहणी रोगका विनाश कर डालता है।

दुग्ध-कल्पके अधिकारी—जब पेशाबकी प्रतिक्रिया अम्ल होनेसे या अन्य कारणोंसे तक्र अनुकूल नहीं रहता या ज्वर, शोथ, रक्तपित्त, अम्लपित्त, क्षय, उरःक्षत आदि विकार हों, तब दुग्ध कल्प कराया जाता है। छोटे बालकोंके लिये दुग्ध कल्प ही विशेष अनुकूल रहता है।

दुग्ध-कल्प फल—दुग्ध-कल्पसे ज्वर, शोथ, निर्बलता और अम्लपित्त आदि लक्षणों सह ग्रहणी और संग्रहणी रोग दूर हो जाते हैं। संग्रह-ग्रहणीमें मट्ठेकी अपेक्षा दूध शीघ्र और अधिक लाभ पहुँचाता है। किन्तु रोग शमन हो जानेपर भी कुछ दिनों तक केवल दूधपर ही रोगीको रखना चाहिये। अन्यथा धातुओंमें लीन दोष या निर्बलता रह जानेसे पुनः कालान्तरमें रोगका आक्रमण हो जाता है।

सूचना—दुग्ध-कल्प करनेपर तक्र और अम्ल पदार्थोंका सेवन ४-६ मास तक नहीं करना चाहिये।

आम्र कल्प—तक्र-कल्पके सब अधिकारियोंको प्रायः आम्र-कल्प कराया जाता है। किन्तु शोथ, मूत्रकी अम्ल प्रतिक्रिया, रक्तविकार, प्लीहावृद्धि, कफ-प्रकोप, वातप्रकोप और आफरा रहना, इनमेंसे कोई उपद्रव है, तो आम्र-कल्प अनुकूल नहीं रहता। ऐसे रोगियोंको दुग्ध-कल्प या तक्र-कल्प कराया जाता है।

आम्र-कल्पके लिये आम देशी, मीठे और पालके पके हुए लेवें। आममें जिसका रस पतला हो, वह विशेष हितकारक है। खट्टे, हरे छिलके वाले और उतरे हुए (सड़े हुए) को उपयोगमें नहीं लेना चाहिये। अच्छे पके, मीठे आमसे पित्तका विरोध नहीं होता; खट्टा आम पित्तको प्रकुपित करता है। इसलिये ग्रहणी रोगीको खट्टे या कम पके आमका सेवन नहीं कराना चाहिये।

कल्प सेवन कराने वालोंको चाहिये कि दही, तक्र और दूधके गुणोंको अच्छी तरह जानकर अधिकारी अनुरूप कल्प करावें। अन्यथा लाभके स्थान-पर हानि होती है।

दहीके गुण—दही रस और विपाकमें अम्ल, ग्राही, गुरु, उष्ण और वात-जित् है। मेद, शुक्र, बल, कफ, पित्त, रक्त और अग्निको बढ़ाता है, शोथ-कारक है। अरुचिको दूर करने वाला और रुचिकर है। शीतपूर्वक विषमज्वर, वातप्रधान पीनस, मूत्रकृच्छ्र और ग्रहणी रोगमें हितकारक है। इनमें ग्रहणी

रोगमें रूक्ष गुण उत्पन्न करता है, अर्थात् अन्य स्निग्धता शोषण आँतोंमें नहीं होता। फिर भी दहीकी स्निग्धताका शोषण बहुधा हो जाता है फिर मलसें स्निग्धांश नहीं जाता।

सूचना—दहीको रात्रिमें कदापि नहीं खाना चाहिये; गरम करके सेवन न करें; तथा बसन्त, ग्रीष्म और शरद्-ऋतुमें भी न खायँ। नीरोगी मनुष्योंको मूँगकी दाल, शहद, घृत-मिश्री या आँवलोंका चूर्ण, इनमेंसे कोई भी एक वस्तु मिलाकर सेवन करना चाहिये। मन्द दही, जो पूरा न जमा हो, उसका सेवन कदापि नहीं करना चाहिये; अन्यथा ज्वर, रक्तपित्त, विसर्प, कुष्ठ, पाण्डु और भ्रम आदि व्याधियोंमेंसे कोई-न-कोई उत्पन्न हो जाती है।

कफविकार और रक्तपित्तके रोगोंके लिए दही सर्वथा अपथ्य है।

दहीका सेवन करना हो, तो दिनमें ही करना चाहिये। किन्तु नियमपूर्वक रोज नहीं लेना चाहिये। हेमन्त, शिशिर और वर्षा ऋतुमें दहीका सेवन करना लाभदायक है।

गायका दही वातनाशक, पवित्र, रुचिप्रद, हृद्य और अग्निप्रदीपक है। बकरीका दही कफपित्तनाशक, लघु, वातक्षयको दूर करनेवाला, अर्श, श्वास, कास और क्षय रोगियोंको हितकर तथा अग्निप्रदीपक है। भैंसका दही विपाकमें मधुर, वृष्य, वातपित्तका प्रसादन करने वाला, गुरु, अभिष्यन्दी, दुर्जर, कफवर्धक और स्निग्ध है। इन तीनोंमेंसे गाय और बकरीका दही ही ग्रहणी रोगमें हितकारक है।

दूधको पकाकर जमाया हुआ दही विशेष लाभदायक है। दूधमेंसे मलाई आदि सत्त्व निकालकर जमाया हुआ दही कम गुणवाला होता है। कच्चे दूधमेंसे बनाया हुआ दही रोगी और निर्बल प्रकृति वालोंके लिये हानिकर होता है; तथा निःसार दधि (मलाई या मक्खन निकाला हुआ दही) रूक्ष, ग्राही, मलावरोधकारक, वातल, अग्निप्रदीपक, अति हल्का, कसैले रसवाला और रुचिप्रद होता है। जिनके दस्तमें चिकनापन अधिक हो, दस्तका रंग सफेद हो उनको निःसार दधि देवें।

तक्र वर्ग—दहीमें बिना जल डाले मथन किया जाय, उसे घोल; दहीकी मलाई निकाल बिना जल मिलाये घोल किया हो, तो उसे मथित; दहीमें चौथा हिस्सा जल मिला मथन कर लिया जाय उसे तक्र; आधा जल मंथन किया जाय उसे उदश्वित् (सुश्रुत-संहितामें इसे तक्र कहा है); तथा अधिक जल डाला हो और मक्खन भी निकाल लिया हो, उसे छच्छिका (छाछ) संज्ञा दी है। ये सब तक्र उत्तरोत्तर अधिक लघु होते हैं। मक्खन निकाल लेनेपर शोषघ्न और हलका होता है।

तक्रके गुण—लघु, कसैला, खट्टा, मीठा, उष्ण वीर्य, रूक्ष, अग्निप्रदीपक

तथा कफ और वातको जीतने वाला है। शोथ, उदर, अर्श, ग्रहणी रोग, बस्ति-शूल, मूत्रावरोध, अरुचि, प्लीहा, गुल्म, अधिक घृतसे होने वाला विकार, कृत्रिम विषविकार, सेन्द्रिय विष प्रकोप, तृषा, वमन, शूल, मेदवृद्धि, कफ और वात रोग आदिको दूर करता है। तक्रका विपाक मधुर होता है तथा हृदय-हितकर है।

ग्रहणी रोगीको तक्र देनेके लिये चरक-संहितामें लिखा है, कि—

तक्रं तु ग्रहणीदोषे दीपनग्राही लाघवात्।
श्रेष्ठं मधुरपाकित्वान्न च पित्तं प्रकोपयेत्॥
कषायोष्णविकासित्वाद्रौक्ष्याच्चैव कफे मतम्।
वाते स्वाद्वम्ल सान्द्रत्वात्सद्यस्कमविदाही तत्॥

ग्रहणी विकार वालोंको मट्ठा लघुपाकी होनेसे अग्निप्रदीपक, मलको बाँधने वाला और पथ्य है। इसका विपाक मधुर होता है इसलिये पित्तको प्रकुपित नहीं करता। कसैला, गरम, विकासी और रूक्ष होनेसे कफविकारमें; तथा स्वादु खट्टा और सान्द्र होनेसे वातज व्याधियोंमें लाभदायक है। किन्तु जिस मट्ठेको तुरन्त बनाकर उपयोगमें लिया जाय, वही अविदाही होनेसे सच्चा लाभ पहुँचा सकता है।

मट्ठेके सेवनसे आमाशय और अन्त्र आदि पचनसंस्थान सबल होकर भोजनका परिपाक नियमित और शीघ्र होता है, लघु अन्त्रमें रही हुई रसांकुरिकाओंकी शोषण क्रिया सम्यक् हो जाती है; यकृत् और मूत्रपिण्डकी क्रिया उत्तेजित होती है; रक्ताभिसरण क्रिया बलवती बनती है; रक्त विशुद्ध और लाल बनता है तथा अन्त्रमें रहे हुए सेन्द्रिय विष, सूक्ष्म कीटाणु और मलमें उत्पन्न दुर्गन्ध नष्ट हो जाती हैं।

बड़े या छोटे, स्त्री या पुरुष, किसीके ग्रहणी या अन्त्र विकार हो जानेसे अतिसार, ग्रहणी रोग या अर्शकी प्राप्ति हो गई हो, तो उसके लिये तक्र अमृत सदृश हितकारक है। पाचक पित्तकी उत्पत्ति योग्य परिमाणमें न होनेसे अजीर्ण या संग्रहणी (Sprue) हो गये हों, उनके लिये भी तक्र-सेवन अत्यन्त उपकारक है।

जिन ज्वर पीड़ित रोगियोंको दुग्ध सेवन अनुकूल नहीं रहता और तक्र सेवनके अभ्यासी हैं, तो उनको तक्रका सेवन कराया जाता है। किन्तु ज्वर रोगीके लिये मधुर दहीमें गरम जल मिलाकर मट्ठा बनाना चाहिये और सब मक्खन निकाल लेना चाहिये। कारण ज्वर रोगमें मक्खनका पचन नहीं हो सकता।

मट्ठेमें लेक्टिक एसिड (दुग्धाम्ल), म्यूरियाटिक एसिड (लवणाम्ल) और साइट्रिक एसिड (निम्बुकाम्ल) होते हैं। इनमें लेक्टिक एसिडके योगसे

अन्त्रस्थ रसांकुरिकाओंको उत्तेजना मिलती है; और सूक्ष्म कीटाणु नष्ट होते हैं, म्युरियाटिक एसिडके अस्तित्वसे पित्तस्राव नियमित होता है, यकृत् और बृहदन्त्र सबल बनते हैं और ये इन्द्रियाँ अपनी क्रिया भली भाँति करने लगती हैं। साइट्रिक एसिड रक्तशुद्धि, रुधिराभिसरण क्रियामें उत्तेजना, कीटाणु नाश, तथा आमाशय और ग्रहणी आदिकी शक्तिकी वृद्धि करता है। डाक्टरोंने भी शीतकाल, अग्निमान्द्य, अपचन, अन्त्रदाह, अर्श, आमवृद्धिसे नाड़ियोंका अवरोध आदि पर तक्रको अत्यन्त हितकारक माना है।

जो तक्र मधुर (अम्ल न हुआ) हो यह श्लेष्म प्रकोपक और पित्त-शामक है। खट्टा होनेपर वातनाशक और पित्तकर हो जाता है। वातशमनार्थ सैंधानमक और सोंठके साथ, पित्तशमनार्थ शक्करके साथ, कफ नाशके लिये त्रिकटु और जवाखार मिलाकर; तथा अर्श, अतिसार और ग्रहणी विकारमें भुनी हींग, भुना जीरा और सैंधानमक मिलाकर सेवन करना चाहिये। मूत्र-कृच्छ्रमें गुड़ और जवाखार या केवल गुड़ मिलाकर और पाण्डुरोगमें चित्रक-मूलका चूर्ण मिलाकर उपयोगमें लेना चाहिये।

तक्र निषेध—क्षत रोगी (उरःक्षत) को उष्णकालमें तथा दुर्बलको तक्र नहीं देना चाहिये; तथा मूर्च्छा, भ्रम, दाह और रक्तपित्तके रोगीको तो कदापि मट्ठा नहीं देना चाहिये।

प्राचीन आचार्योंने तक्र स्तुतिमें कहा है कि:—

न तक्रसेवी व्यथते कदाचिन्न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः।
यथा सुराणाममृतं सुखाय तथा नराणां भुवि तक्रमाहुः॥

जो मनुष्य भोजनके पश्चात् विधिवत् मट्ठेका सेवन करता रहता है, वह कदापि रोगी नहीं होता। तक्रसे नष्ट हुए रोगोंकी उत्पत्ति पुनः नहीं हो सकती। जैसे स्वर्गमें देवोंके लिये अमृत सुखदायक है; वैसे ही इस भूमण्डलपर मनुष्यों के लिये मट्ठा हितकारी है।

सूचना—दही जमनेसे पहले बनाया हुआ तक्र वातप्रकोपक, रूक्ष, अभि-ष्यंदी और दुर्जर होनेसे उपयोगमें नहीं लेना चाहिये।

अति खट्टे दही से बनाया हुआ या अधिक समय तक पड़ा रहनेसे जो खट्टा होगया हो, वह अम्लविपाकी, तीक्ष्ण और अति पित्तकर होनेसे ग्रहणी रोगमें लाभदायक नहीं है।

यदि पीनस, और कास आदि रोगियोंको तक्र देना हो, तो दहीमें गरम जल डाल मट्ठा बनाकर देना चाहिये। शीतल जल मिलानेसे मट्ठा कण्ठ और श्वासवाहिनियोंमें कफकी उत्पत्ति कराता है।

दही जमानेके लिये मिट्टी या काचके छोटे छोटे बरतन रखने चाहिये और दूध डालनेके पहले जलमें घिसे हुए चित्रकमूलका लेप सबमें कर लेना चाहिये।

आध-आध सेर दूधमें १ माशेका लेपकरें; और अच्छा जम जानेपर उपयोग लेवें।

यदि एक ही पात्रमें दूध जमाया जायगा और उसमेंसे ३-४ या अधिक बार निकाला जायगा, तो शेष दहीमें खट्टापन और जलकी उत्पत्ति हो जायगी, जिससे गुणमें न्यूनता होती जाती है। यदि दहीके ऊपर आई हुई मलाई नहीं हटाई जाय, तो दही ज्यादा समय तक गुणयुक्त रहता है। अतः ३-४ बरतनोंमें थोड़ा-थोड़ा जमाना अधिक हितकर है। एक बरतनमें जमाया हुआ दही एक बार ही उपयोगमें लेना चाहिये। शेष बचे हुए दहीका सेवन रोगीको न करावें। रोगीके लिये तक्र दूसरी बार चाहिये,तब दूसरे बरतनमेंसे दही लेवें।

शीतकालमें जमाये हुए दूधको शीत न लगे, ऐसे स्थानपर रखें और उष्ण-कालमें जमाये हुए दहीको अधिक उष्णता न पहुँचे, इस तरह सम्हालपूर्वक शीतल स्थानमें रखें।

बकरीके दहीमेंसे बने हुए तक्रकी अपेक्षा गौके दहीमेंसे बना हुआ तक्र विशेष लाभदायक है, किन्तु प्रवाहिकाजन्य ग्रहणी, क्षयके कीटाणुजन्य संग्रहणी अथवा रोगी बालक है, तो बकरीके मट्ठेका उपयोग विशेष हितावह है एवं कफ या पित्तप्रकोप है, तो बकरीका मट्ठा विशेष अनुकूल रहता है।

यदि नेत्रमें रोहे हों, तो बकरीका मट्ठा या दूध नहीं देना चाहिये। दूधको मिट्टी और पीतलके बरतनकी अपेक्षा लोहेकी कढ़ाहीमें गरम किया जाय, तो अधिक हितावह है। एक उफाण आवे, तब तक गरम कर नीचे उतार लेवें। फिर कुनकुना रहनेपर जमा देवें। जमानेके लिये थोड़ेसे दहीको ४-८ तोले दूधमें मिला एक रस बना, उसे और दूधमें मिला देना चाहिये।

तक्र बनानेके लिये प्रारम्भमें तीन गुना जल मिलाना चाहिये और मक्खन भी निकाल लेना चाहिये। दूसरे सप्ताहमें प्रकृतिपर मट्ठेका प्रभाव पहुँचकर बल आनेपर आधा मक्खन निकाल लें। तीसरे सप्ताहमें या चौथे सप्ताहमें सब मक्खन मट्ठेमें ही रहने देवें।

अथवा वातज ग्रहणी वालेके लिये चौथाई मक्खन, पित्तज ग्रहणी वालेके लिये आधा मक्खन, कफाधिकतामें पौना मक्खन तथा दुर्गन्ध और आमसहित मल वालेके लिये सब मक्खन निकाल लेना चाहिये। अथवा प्रकृति अनुसार जल कम मिलावें और मक्खन निकालें या न निकालें। यथार्थमें दुर्गन्ध रहित पीला मल बन्धा हुआ जब आवे, तब मक्खन थोड़ा-थोड़ा अधिक रहने देना चाहिये। पतले और दुर्गन्धयुक्त दस्त वालोंको मक्खन पचन नहीं हो सकता; इसलिये सब निकाल लेना चाहिये। दुर्गन्ध दूर होनेपर मक्खन थोड़ा-थोड़ा रहने देवें।

तक्र बनानेके समयमें प्रकुपित पित्त वालेके लिये शीतल जल तथा वात और कफकी प्रधानता होनेपर गरम जल मिलावें; किन्तु मट्ठा उष्ण नहीं पिलाना

चाहिये और रोगी मट्ठा पीनेके समय एक-एक घूंटको मुँहमें खूब चला-चलाकर धीरे-धीरे पीवें। मट्ठे में सैंधानमक, भुना जीरा, सोंठ (या काली मिर्च) और भुनी हींग (केवल वात प्रकृति वालेको) या लवणभास्कर चूर्णकी उतनी मात्रा मिलावें कि मट्ठा पीनेमें स्वादु लगे और अतियोग भी न हो जाय।

तक्र कल्प विधि—जिस रोगीको तक्रकल्प कराना हो, उसे अन्न और जल बिल्कुल नहीं देना चाहिये। क्षुधा, तृषा, दोनोंकी निवृत्ति मट्ठे से ही करानी चाहिये। जब चाहिये तब मट्ठा ताजा तैयार करके उपयोगमें लेवें। शौच क्रिया करनेके लिये भी मट्ठेका ही उपयोग करें। रोगी केवल कुल्ले करने और हाथ धोनेके लिये ही जलका उपयोग करें।

किन्तु पहले दिन रोगीको सेका हुआ जीरा मिलाया हुआ आध-आध सेर मट्ठा ४ समय देवें। प्यास लगनेपर २-३ समय जल भी देवें। जब तक आंतों में पहलेके अन्नका असर होगा, तब तक (३ दिन तक) जल मिलाना चाहिये। फिर जल कम करके बन्द कर दें। केवल मट्ठेपर रहने दें। मट्ठा जठराग्निके बलके अनुसार शनैः-शनैः बढ़ाते जायँ। इस तरह केवल मट्ठेपर रहनेसे लगभग ४०-५० दिनोंमें ग्रहणी रोग निर्मूल हो जाता है; आंतें बलवान् बन जाती हैं; मल बँधकर दुर्गन्धरहित नियमित समयपर आने लगता है; निद्रा मर्यादित होती है; शरीर सबल और तेजस्वी बनता है, तथा मनमें स्फूर्त्ति और प्रसन्नता आती है। जब पूर्ण स्वास्थ्य प्रतीत हो, तब पथ्य भोजनका प्रारम्भ कराना चाहिये। किसी रोगीको एक सप्ताह कम और किसीको १ सप्ताह अधिक मट्ठे पर रहना पड़ता है। रोगबल, शरीरबल और देश-काल आदि भेदसे समय न्यूनाधिक हो जाता है।

कल्पके प्रारम्भमें अनेक रोगी शीघ्र अन्न नहीं छोड़ सकते। अनेकोंकी यह मान्यता है, कि अन्न छोड़नेपर देह अधिक कमजोर हो जायगी। उनको विश्वास दिलाना चाहिये कि अन्न छोड़नेपर अशक्ति नहीं आवेगी, प्रत्युत शक्ति बढ़ जायगी।

कितने ही मनुष्य प्रकृतिको बिल्कुल पराधीन बना देते हैं। नाना प्रकारके व्यसनोंके जालमें फँसे हुए रहते हैं। चाय, तमाखू, बीड़ी या सिगरेट और चटपटे भोजन बिना नहीं रह सकते। ऐसे रोगियोंके लिये व्यसन और भोजन धीरे-धीरे छुड़ाना चाहिये। एकदम मट्ठेपर नहीं रख देना चाहिये। थोड़ा भोजन करावें। प्रातः-सायं भोजनके पश्चात् थोड़ा थोड़ा मट्ठा पिलाते जायँ। फिर शनैः-शनैः भोजन घटाते जायँ। इस तरह भोजन छुड़ा कर मट्ठेपर रखना चाहिये।

कल्प कालमें दिनमें ४ समय पञ्चामृत पर्पटी देते रहें या प्रकृति भेदसे सुवर्ण पर्पटी, अन्य पर्पटी या हेमगर्भपोटली रस या अफीम वाली औषध

ग्रहणीकपाट आदि देते रहें। औषधियोंमें पर्पटीका स्थान ऊँचा माना जाता है। फिर भी प्रकृतिका विचार करके योजना करनी चाहिये। हो सके तब तक अफीमयुक्त औषध न दें। शक्तिवृद्धिके लिये हिंगुल रसायन (तीसरी विधि) आध रत्ती तथा लोह, अभ्रक, नाग और जसद भस्म मिलाकर १-१ रत्ती दिनमें २ समय शहदके साथ देते रहें।

मन्दाग्नि हो, तो लवणभास्कर मट्ठेके साथ दे सकते हैं। इस तरह आम-नाशके लिये लाही चूर्ण और लघु लाही चूर्ण भी दिनमें २ समय अन्य औषध-सेवनके साथ दे सकते हैं। दस्तकी संख्या कम करनेके लिये दाड़िमाष्टक या कपित्थाष्टक चूर्ण अथवा लघु लाही चूर्ण दे सकते हैं। दाड़िमाष्टक और कपित्थाष्टकमें दीपन-पाचन और कुछ ग्राही गुण हैं। तब लघु लाहीमें अधिक ग्राही गुण, कम दीपन-पाचन और पेचिशको दूर करनेका श्रेष्ठ गुण भी रहता है। यदि आफरा आता हो, तो हिंग्वष्टक चूर्ण १-१ माशा मट्ठेके साथ देते रहना चाहिये।

यदि मूत्रमें पीलापन, थोड़ा-थोड़ा पेशाब बार-बार होते रहना, पेशाब साफ न होना, ऐसे उपद्रव हों, तो सोंफ, सारिवादि चूर्ण या छोटी इलायची और धनिया (छिलके निकाले हुए) मट्ठा पिलानेके पश्चात् दिनमें ३-४ समय थोड़ा-थोड़ा देते रहें या जायफल, कत्था, छोटी इलायचीके दाने, सोंफ और काली अनन्त मूलको कूट चूर्ण कर १-१ माशा दिनमें ३ समय देते रहनेसे पेशाब साफ आ जाता है। रात्रिको मूत्रल औषध नहीं देनी चाहिये।

पथ्य भोजन विधि—तक्र कल्पके समाप्ति कालमें तक्र शनैः शनैः घटाते जायँ और अन्न बढ़ाते जायँ। लाजामण्ड जिसमें ६ माशे लाजाचूर्ण आ जाय, उतना पहले दिन एक समय दें। दूसरे दिन २ समय दें। तीसरे दिनसे १-१ तोला लाजाचूर्ण बढाते जायँ। फिर ३ दिन बाद मसूरकी दालका यूष, मूंगका यूष, पुराने चावलोंकी खिचड़ी आदि शनैः-शनैः बढ़ाते जायँ। गेहूँ और जौ देना हो, तो कम से कम १५ दिनोंके पश्चात् ही देना चाहिये। यदि पथ्यके समय जल्दी की जायगी तो पुनः पाचनसंस्थान दूषित हो जायगा।

सूचना—यदि रात्रिको सो जानेके पश्चात् बार-बार पेशाब करनेको उठना पड़े या शोथ या ज्वरकी उत्पत्ति हो जाय, तो तक्र-कल्प बन्द कर दुग्ध-कल्प कराना चाहिये।

तक्र कल्प सेवनके पश्चात् एक वर्ष या कम से कम ६ मास तक दुग्ध, गुरु, अभिष्यन्दी, मिष्टान्न और मांसाहारका सेवन नहीं करना चाहिये (मुर्गेका मांस तो २-३ वर्ष तक नहीं खाना चाहिये)।

दुग्धकल्प।

दुग्ध कल्पमें गोदुग्ध ही प्रधान हैः किन्तु बालक, क्षयके कीटाणुजन्य

अंत्रक्षयके रोगी, प्रवाहिकाके रोगी, अन्त्र क्षत वाले, जिनके मलमें रक्त जाता हो, वायुका प्रकोप हुआ हो, उन सबके लिये बकरीके दूधका उपयोग करना चाहिये। अन्योंके लिये गोदुग्ध हितकर है। जिनको बार-बार मलावरोध हो जाता है या बँधा हुआ दस्त आता है, ऐसे संग्रहणीके रोगियोंके लिये गायका दूध अमृत सदृश लाभदायक है।

कल्पके प्रारम्भमें दूध गरम करके उपयोगमें लेना चाहिये। दूध गरम करने के लिये लोहेकी कढ़ाहीका उपयोग करें। दूधमें चतुर्थांश जल डालकर २-३ उफाण आवें, तब तक गरम करें। फिर नीचे उतार कर तुरन्त कलई किये हुए पीतलके बरतनोंमें डाल दें। एक समय जितना पीना हो उतना ही एक पात्रमें डालें। गरम दूध डालनेसे ऊपर मलाई आ जाती है, जो दूधमें १२ घण्टों तक अम्लता उत्पन्न नहीं होने देती। जब दोपहर या रात्रिको ताजा दूध न मिल सके, तब सुबह-शामका दूध गरम कर सम्हालपूर्वक रखा हुआ हो उसे काम में लेते रहें। ताजा दूध आजानेपर पहले वाले दूधका उपयोग रोगीके लिये नहीं करना चाहिये। ताजा दूधको गरमकर फिर शीतल करके देवें; गरम किये हुए दूधको शीतल स्थानपर रखें, जिससे जल्दी अम्लता नहीं आयगी।

दूधमें शक्कर न मिलाना, यह रोगियोंके लिये विशेष हितकर है। २-३ दिन में जिह्वाको बिना शक्कर मिलाये दूधमें पूरा स्वाद मिलने लग जाता है। यदि छोटे बच्चेको दूध देना है, तो दूधमें थोड़ी मिश्री या पताशे मिलाकर देना चाहिये।

दूधपर रोगीको रखना हो, तब अन्नका एक दम त्याग कराना या ४-८ दिनमें धीरे-धीरे अन्न छुड़ाना, यह रोगीकी प्रकृति और मनोबलसे निर्णय करना चाहिये। एक दम अन्न छुड़ानेमें हानिका डर नहीं है। तृषा लगनेपर दूधका अर्क निकालकर थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहें। जलपान हो सके उतना कम करना चाहिये। दुग्धकल्पमें बिलकुल जलका निषेध नहीं है। दूधको धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये। इस तरह दूध बढ़ जानेपर एक दिनमें ५ सेर या अधिक दूध पच जाता है। दूधको सर्वदा शीतल करके और एक-एक घूँटको मुँहमें खूब हिला-हिला कर पीना चाहिये। इस तरह पीनेसे आध सेर दूध पीनेमें सहज १० मिनिट लग जाते हैं।

मुँहमें चला-चला कर पीनेसे दूध जल्दी पचन होता है; तथा आमाशय और आँतोंमें सत्वका शोषण अधिक होता है। दुग्धपान मुँहमें चलाये विना जल्दी-जल्दी करते रहनेसे १०सेर या इससे भी अधिक दूध चढ़ जाता है, फिर भी लाभ कम ही होता है। कारण सत्व शोषण कम होता है; आँतोंको कष्ट अधिक पहुँचता है और प्यास अधिक लगती है। यदि क्षुधा अधिक लगती हो, तो ही दूध अधिक लेना चाहिये। बिना क्षुधा दूध बढ़ा देनेसे मेद बढ़ता है;

और शक्तिका ह्रास होता है। मीठा मिलाने और गरम दूध पीनेसे प्यास अधिक सताती है। जितनी प्यास कम लगे, उतनी रोग-निवृत्ति शीघ्र होती है।

जिनको प्यास अधिक लगती हो, उनको गोदुग्धमेंसे अर्क खींचकर थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहें। एवं दूधके साथ १-१ माशा लवंगादि चूर्ण (पतला दस्त लगता हो, तो) देते रहें।

संग्रहणीका रोगी है, तो सुबह-शाम च्यवनप्राशावलेह १ से २ तोले तक दूध पीनेके १ घण्टे पहले देना चाहिये। च्यवनप्राशावलेह शनैः शनैः बढ़ावें; अन्यथा पतले दस्त हो जाते हैं।

रोगीको तेज वायु वाले खुले मकान उष्णता बढ़ती हो, ऐसे टीन वाले मकानमें और जहाँ एञ्जिनोंकी अधिक आवाज आती रहती हो या अधिक दुर्गन्ध, मच्छर, खटमल आदिका त्रास हो ऐसे स्थानमें नहीं रखना चाहिये।

दुग्ध-कल्पके प्रारम्भकालमें कदाच १-२ दस्त अधिक लगें, तो डर न मानें। दूधसे संचित दोष प्रारम्भमें निकलता है। दोष होगा तब तक अग्नि, रक्त या बलकी योग्य वृद्धि नहीं हो सकती।

तृषा, दाह, ज्वर और पतले दस्त अधिक आते हैं तो दूधके साथ पाठादि चूर्ण २-२ माशे देते रहना हितकारक है।

दुग्ध-कल्प कालमें सुवर्ण पर्पटी प्रातः-सायं दिनमें २ समय देते रहें। अधिक ज्वर रहता हो, तो कम होने तक पञ्चामृत पर्पटीका सेवन करावें। ज्वर, शूल और शोथ अधिक हो, तो दोपहर और रात्रिको दुग्धवटी देते रहें। दुग्धवटी ग्रहणी रोगमें श्रेष्ठ औषध है। निद्रा न आती हो, रात्रिको खाँसी चलती हो और बारबार शौचके लिये उठना पड़ता हो, तो दुग्धवटी हितकर है। किन्तु दुग्धवटीमें अफीम है। इसलिये मात्रा कम देनी चाहिये और दूषित मल न रुक जाय, इस बातका लक्ष्य रखना चाहिये।

रोगी बालक है, तो सर्वाङ्गसुन्दर रस दिनमें ३ समय देते रहें। यह रसायन बड़े मनुष्यको देना हो, तो ज्यादा मात्रामें दिया जाता है।

यदि शूल चलता है या आफरा आता है, तो सोंठका तुरन्त कुटा हुआ चूर्ण २ माशे, वराटिका भस्म ४ रत्ती और मिश्री २ माशे मिलाकर दूधके साथ देवें। बार-बार कब्ज होता हो तो अग्नितुण्डीवटीका सेवन कराना चाहिये।

यदि कल्पके प्रारम्भके दिनोंमें पूय जनित या विषम ज्वरके कीटाणु जनित शीत ज्वर रहता हो और पञ्चामृत पर्पटी या दुग्धवटी अनुकूल न रहती हो, तो सतौनाकी छाल, नीमकी अन्तरछाल, गिलोय, सोंठ, सारिवा, रक्तचन्दन, नागरमोथा, इन्द्रजौ, परवलके पत्ते और आँवलेका क्वाथ बनाकर दिनमें २ या ३ समय ३-४ दिन तक पिलानेसे ज्वर चला जाता है; अथवा विषम ज्वर

नाशक किनाइन या अन्य औषध देकर ज्वरको दूर करना चाहिये।

इस तरह ४०-५० दिन दूधपर रहनेसे रोग नष्ट हो जाता है। फिर धीरे-धीरे तक्र-कल्पके अन्तमें लिखे अनुसार अन्नसेवनका प्रारम्भ करावें और दूध घटाते जावें।

दूध-कल्प करने वालेको मटठा या खटाई (आँवलेके अतिरिक्त) ४-६ मास तक सेवन नहीं करना चाहिये। कल्पके पश्चात् अन्नका प्रारम्भ अति सम्हालपूर्वक करना चाहिये।

दुग्धके गुण—भगवान् धन्वन्तरि ने लिखा है कि जीर्णज्वर, कास, श्वास, शोष, क्षय, गुल्म, उन्माद, उदररोग, मूर्च्छा, भ्रम, मद, दाह, प्यास, हृद्रोग, बस्तिरोग, पाण्डु, ग्रहणीदोष, अर्श, शूल, उदावर्त्त, अतिसार, पेचिश, योनि-रोग, गर्भस्राव, रक्तपित्त, अम्लपित्त, श्रम और थकान ये सब विकार दूधके सेवनसे दूर होते हैं। गोदुग्ध पापों (सेन्द्रिय विष और बुद्धिको बिगाड़ने वाले कुविचारों) का नाश करता है। बलवर्धक, वीर्यवर्धक, कामोत्तेजक, रसायन, बुद्धिको पवित्र करने वाला, सन्धि-स्थानोंको दृढ़ बनाने वाला, आयुवर्धक, अवस्थाको स्थिर रखने वाला, बृंहण, वमन और विरेचनमें सहायक तथा ओजवर्धक है। बालक, वृद्ध, क्षतक्षीण, क्षुधापीड़ित, मैथुन और व्यायामसे कृश हुओंको हितकारक है।

गोदुग्धके गुण—गौका दूध स्निग्ध, अनभिष्यंदी, रसवहा नाड़ियोंमें गुरुता न करने वाला, गुरु और रसायन है। रक्तपित्तनाशक, शीतल, रस और विपाकमें मधुर, जीवनीय, शक्तिवर्धक, वातपित्तशामक, रुचिकर, स्वादु, बल-वर्धक, अतिपथ्य; कान्तिकारक, बुद्धिवर्धक, वीर्यवर्धक, हृद्य, रसायन और विषनाशक है।

प्रातःकालका दूध शीतल, कुछ भारी और विष्टम्भी होता है। सायंकालका दूध प्रातःकालकी अपेक्षा हलका, श्रमनाशक, वायुको अनुलोम करने वाला और नेत्रको हितावह है।

गौके दूधमें काली गौका दूध विशेषतः वातनाशक, पीली गौके दूधमें पित्त और वातनाशक गुण लाल और चितकबरी गौके दूधमें वातनाशक गुण तथा सफेद रंगकी गौके दूधमें कफवृद्धिकर और गुरु गुणकी अधिकता रहती है।

अजादुग्धके गुण—बकरीके दूधमें गुण गोदुग्धके लगभग समान हैं। किन्तु क्षयरोगीके लिये बकरीका दूध गोदुग्धकी अपेक्षा विशेष हितकर है। यह दीपन, लघु, संग्राही, श्वास, कास रक्त और पित्तको नष्ट करने वाला तथा मलको बांधनेमें विशेष हितकर है। यह उदरवात और मलावरोधके रोगियोंको तथा नेत्र रोगियोंको विशेष हितकर नहीं माना गया। केवल अजा दुग्धपर रहे हुए बालकोंके नेत्रमें उष्णता पहुंचती रहती है। पचनमें गौके

दूधकी अपेक्षा हलका है। संसारके सब प्राणियोंको क्षय होता है; किन्तु केवल बकरीको ही नहीं होता। इस हेतुसे क्षयके जन्तुओंकी आबादी आंतोंमें हुई हो तो बकरीके दूधका ही सेवन लाभदायक माना गया है।

दुग्धकल्पमें थोड़ी शक्ति बढ़नेपर तथा ज्वर शमन हो जानेपर जब धारोष्ण दूध मिले तब धारोष्णको ही उपयोगमें लेवें। शेष समयमें गरम किये हुए दूधका सेवन करें। धारोष्ण दूधके लिये एक लोटे या प्यालेको गरम कर ऊपर कपड़ा बांध, उसमें गो या बकरीका दूध निकालना चाहिये। इस धारोष्ण दूधसे रक्तवृद्धि बहुत ज्यादा होती है, आँतोंकी उष्णता शमन होकर दस्त बंध जाता और शारीरिक शक्तिकी शीघ्र वृद्धि होती है।

आम्र कल्प विधि।

पहले दिन केवल ५ आम प्रातः और ५ आम सायंकाल (सूर्यास्तसे १ घण्टे पहले) चूसें। बीच-बीचमें भुना जीरा, सोंठ और सैंधालमक (नमक अधिक न मिलावें) की चटनी या चूर्ण थोड़ा-थोड़ा चटाते जायँ। आम चूसनेके ३ घण्टे बाद दूध पिलावें। प्रारम्भके ४-५ दिन तक थोड़ा चावल भी खिलाते रहें। आम प्रति दिन एक-एक बढ़ाते जायँ। सुखपूर्वक पचन हो और यथेच्छ तृप्ति हो तब तक आम बढ़ावें। इस तरह दूधमें भी क्षुधा, तृषा और पाचन शक्ति अनुसार वृद्धि करते जायँ और चावल कम करते जायें। दोपहरको आम नहीं देना चाहिये। तीन समय आम देनेसे पचनक्रिया सम्यक् नहीं रहती। तृषा लगे या क्षुधा लगे, तो दोपहरको दूध ले सकते हैं। इस कल्पमें जलका सेवन नहीं कराया जाता।

इस कल्पके साथ सुवर्ण पर्पटी प्रातः-सायं (आम चूसनेके पहले) जीरा और शहदके साथ; तथा दोपहरको २ समय लाही चूर्ण या जातिफलादि चूर्ण १-१ माशा देते रहें। अथवा वराटिका भस्म ४ रत्ती और सोंठका ताजा कूटा हुआ चूर्ण २ माशे और मिश्री २ माशे मिलाकर दूधके साथ दिनमें २-३ या ४ बार देवें।

यदि ज्वर हो तो सुवर्ण पर्पटीके स्थानमें पञ्चामृत पर्पटी देवें। प्यास अधिक लगती हो; तो दूधका अर्क निकालकर थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहना चाहिये। कल्प-कालमें हो सके उतनी विश्रान्ति लेनी चाहिये। सूर्यके तापमें घूमना या तेज वायुका सेवन, दोनोंका त्याग करना चाहिये। अन्यथा प्यास अधिक लगती है। इस तरह विधिवत् कल्प करनेसे १-१॥ मासमें ग्रहणी रोग समूल नष्ट होकर पचनसंस्थान बलवान् बन जाता है।

आम देशी; मीठे, पतले रसवाले, ताजे और पालके पके हुए लेना चाहिये। खट्टे कच्चे और दुर्गन्धयुक्त (उतरे हुए) आमका सेवन नहीं कराना

चाहिये। आमको चूसनेसे पहले आधसे एक घण्टे तक जलसे भरे हुए भगोनेमें भिगो देना चाहिये।

ग्रहणी रोगमें पथ्य—मूँगका यूष, पुराना साँठी और शालि चावल, मसूरका यूप, अरहरका यूष, खीलोंका मण्ड, यवागू, शहद, बकरीका दूध, दही, घी और मक्खन, कैथ, गायका मक्खन निकाला हुआ दही, मट्ठा और दूधका मक्खन; कच्चे बेलफल, कच्चे केले, सेब, परवल, गूलर, नासपाती, अनार, खजूर, छोटी मछली, हिरन, तीतर, लावा और खरगोशका मांस रस, मखाने, सिंघाड़े, जामुन, विश्रान्ति, रात्रिको शयन, वमन, लङ्घन, तिलका तैल, कमलकंद; चिकनी सुपारी, भाँग, धनियाँ, जीरा, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, चित्रकमूल, भुनी हींग, इन्द्रजौ, कुड़ेकी छाल, नागरमोथा, ईसबगोल, जायफल, अफीम, शहद और कसैले पदार्थोंका रस इत्यादि पथ्य हैं। समुद्रकी वायु इस रोगमें विशेष अनुकूल रहती है।

आम संग्रहणी, कफ संग्रहणी, ज्वरयुक्त ग्रहणी, मलमें रक्त और पीपसह ग्रहणी इन रोगोंमें जल गरम कर शीतल करके दिया जाय, तो ताजे जलकी अपेक्षा विशेष हितकर है। किन्तु किसी समय उबाला हुआ और किसी समय कच्चा जल लेना यह हानिकारक है।

जीर्ण शोथयुक्त संग्रहणी हो, तो केवल दूध ही पथ्य माना गया है।

रक्तज ग्रहणीमें गोदुग्धके स्थानमें बकरीका दूध देना विशेष हितकर है। दूध पिलानेके समय दूधमें शक्कर न मिलाना विशेष लाभ दायक है। ग्रहणी रोगमें अम्लपित्त हो, तो बहुधा खटाई और मट्ठा अनुकूल नहीं रहते।

ग्रहणी रोगमें अपथ्य—पहाड़ोंपर रहना, टीनके नीचे रहना, अधिक जलपान, दिनमें भोजन कर तुरन्त शयन, नया गुड़, दहीका पानी, अंगूर, तेज नमकीन पदार्थ, पक्का भोजन, धानकी काँजी, संयोग विरुद्ध भोजन, भोजनपर भोजन, अधिक भोजन, रात्रिका जागरण, स्नान, स्त्री-प्रसंग, मल-मूत्र आदि वेगका धारण, नस्य, खून निकालना, अञ्जन, स्वेदन क्रिया, धूम्रपान, सूर्यके तापमें घूमना, तेजवायुका सेवन, अग्निसेवन, गेहूँ, उड़द, जौ, मटर, कठोर भोजन, भारी भोजन, पिच्छिल (आँतोंमें चिपक जाय, वैसा) पदार्थ, आम-वर्धक पदार्थ, लहसुन; कच्चे अध पक्के और पक्के खट्टे आम, ककड़ी, खीरा, नारियल, पोई, बथुआ, मकोय आदि पत्ती शाक, गोमूत्र, कस्तूरी, ईख, बेर, तूम्बी, सुहिंजनेकी फली, कन्द शाक, अधिक नमक, पान, ठण्डाई और लाल-मिर्च आदिका सेवन अपथ्य हैं।

चाय, कॉफी, शराब, सिगरेट, बीड़ी, गर्म-गर्म भोजन, गर्म दुग्ध-पान, मानसिक चिन्ता, परिश्रम, अधिक तैलका सेवन (तैलसे प्यास बढ़ती है),

दूधमें ज्यादा मीठा मिलाना, असमय या अनियमित भोजन, क्षुधा न लगनेपर भोजन, अधिक बलवृद्धिकी आशामें दूध या मट्ठेका पाचनशक्तिसे अधिक सेवन ये सब हानिकर हैं।

औषध ज्यादा मात्रामें लेना, यह परिणाममें बाधक है। थोड़ी-थोड़ी मात्रामें अनेक बार औषध लेना यह हितकर है। कच्चे आम, दूषित रक्तप्रवाह अथवा वृक्कोंके तीव्र दाह-शोथ होनेपर अफीम मिश्रित औषध नहीं देनी चाहिये। अन्यथा नाना प्रकारके रोगोंकी उत्पत्ति होती है।

खट्टी वमन होती रहती हो, मुँहमें छाले हो गये हों, भोजन कर लेनेपर पेट भारी हो जाता हो; रात्रिको पेशाब करनेके लिये निद्रामेंसे उठना पड़ता हो, तो तक्र सेवन या आम्रप्रयोग अनुकूल नहीं रहता।

मूत्रमें अम्ल प्रतिक्रिया होनेपर आँवलोंके अतिरिक्त सब प्रकारकी खटाई हानि पहुँचाती है। किसीको मट्ठा अनुकूल रहता है, किन्तु अनेकोंको प्रतिकूल हो जाता है। अतः प्रकृतिका विचार करना चाहिये।

मलमें आम और दुर्गन्ध हो, तो अन्न सेवनसे रोगकी वृद्धि होकर अधिकाधिक निर्बलता आती जाती है एवं चढ़े हुए ज्वरमें देनेसे प्लीहावृद्धि होती है और सेन्द्रिय विष भी बढ़ता है।

(६) रसक्षय।

रसक्षय—वसामय मलविकार—सिलिआक डिजिज—इडियोपैथिक स्टीटोर्हिया—Coeliac disease—Idiopathic Steatorrhoea)

व्याख्या—यह दीर्घकाल स्थायी रोग है। इस रोगकी सम्प्राप्ति अन्त्रके भीतर वसाके शोषणके ह्रास या अभाव सह होती है। वसा, चूना और जीवन सत्वके चयापचयके ह्रासके हेतुसे भावी क्षति उपस्थित होती है। मलमें वसा अधिक जाती है। इस रोगमें लक्ष्य देने योग्य स्थिति और भेद निम्नानुसार हैं—

१. व्यापार भेदसे यह रोग मृदु और सबल बन जाता है।
२. चूनेके चयापचयमें प्रतिबन्ध (संभवतः जीवन सत्वके शोषणकी हीनता या अभावके हेतुसे) होनेपर अस्थियोंकी रचनामें न्यूनता रहनेपर अस्थिवक्रता (Rickets) और अस्थिमार्दव (Osteomalacia) मांसपेशियोंका आक्षेप (Tetany) उपस्थित होते हैं।
३. रक्त रचना करनेवाली शक्ति या अवयवोंके मार्गमें प्रतिबन्ध होनेसे विविध प्रकारकी पाण्डुता उपस्थित होती है।
४. जीवन सत्वकी हीनतासे जीवन क्षय।

इनके कारण सम्बन्धमें कितनी ही शंकाओंका समाधान अभी तक नहीं मिला।

वर्गीकरण—अ. बालकोंका रसक्षय और आ. युवकोंका रसक्षय। इनका क्रमशः अलग विवेचन किया है।

अ. बालकोंका रस क्षय।

फक्क-बालशोष-सिलीयाक डिजिज, गीज डिजिज (Coeliac disease—Gee's disease)

काश्यप संहितामें इस रोगका अन्तर्भाव फक्क रोगमें किया है। फक्क रोगके ३ प्रकार हैं:—१. क्षीरज, २. गर्भज, ३. व्याधिज।

१. क्षीरज फक्क श्लेष्मप्रकोप युक्त धात्रीके दुग्धपानसे शिशुओंको विविध प्रकारकी व्याधियाँ और कृशता प्राप्त होती हैं।

   श्लेष्म प्रकोपके समान पित्त वात प्रकोपज दुग्धसे भी विविध प्रकारके लक्षण युक्त फक्क रोगकी संप्राप्ति होती है।

२. गर्भज फक्क (पारिगर्भिक-Intestinal infantilism)—जब बच्चा सगर्भा माताका दूध पीता रहता है, तब गर्भज विषजन्य मिश्रित दूध मिलनेसे वह जल्दी ही मर जाता है या फक्क रोगसे पीड़ित हो जाता है।*

१. व्याधिज फक्क—यह रोग छोटे-बड़े बच्चोंको ज्वर आदि विविध व्याधियों के उपद्रव रूपसे प्राप्त होता है।

क्षीरज फक्क—इस प्रकारमें रसवाही स्रोतोंके मार्गमें अवरोध होता है। परिणाममें रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र आदि धातु बननेमें उत्तरोत्तर प्रतिबन्ध होता है। इससे बालक दुर्बल, निस्तेज और शक्तिहीन भासता है। फिर रसक्षय, बालशोष या अस्थिवक्रता (Rickets) की प्राप्ति होती है।

---

* सामान्यत; शिशुके पहले दिनका मल अफीमकी डोडीके दूधके समान गहरा हरा भासता है। इस हेतुसे उसे एलोपेथीमें मेकोनियम (Meconium) कहते हैं। पहले दो मासमें मलका रङ्ग और गाढ़ापन अण्डेकी सफेद पीली जरदीको मसलनेपर दीखे वैसा होता है। मलमें किञ्चित् अम्ल बास आती है और दिनमें ३-४ बार शौच होता है। छठवें मासमें पिंगलवर्ण और गाढ़ापन आता हैं। इस तरह क्रमशः मल रचनामें सुधार होता जाता है किन्तु सगर्भा माताके दूधमें विकृति होनेसे इस शैशवावस्थासे ही स्वास्थ्य गिरता जाता है और पारिगर्भिक रोगकी सम्प्राप्ति हो जाती है।

गर्भज फक्क—सगर्भा माताका दूध विकारी होता है। इससे उदर घड़ेके समान बड़ा, हाथ-पैर पतले, अग्निमांद्य, कास, वमन, बद्धकोष्ठ या अतिसार, निर्बलता, सारे दिन रोते रहना और क्रोध आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। रस, रक्त आदि धातुओंकी उत्पत्ति योग्य नहीं होती। शीघ्र योग्य सम्हाल न लेने पर बालक मृत्युमुखमें चला जाता है।

व्याधिज फक्क-निज अथवा आगन्तुज ज्वर आदि रोगोंसे पीड़ित बालकोंके मांस, बल और तेजका क्षय होता है, बालक अनाथ-सा बन जाता है। नितम्ब, भुजा, ऊरु आदि शुष्क हो जाते हैं। उसकी त्वचापर सिलवटें पड़ जाती हैं। उदर और मस्तिष्क बड़ा हो जाता है (अन्त्र शिथिल और चौड़े होते हैं, मुख-मण्डल-अकाल पक्व होता है)। इनके अतिरिक्त नेत्र पीले, हाथ पैर कम्पना, अस्थिपञ्जरवत् कृश भासना, सर्वदा (असमयपर) मल-मूत्र त्याग करना, देहका निम्नार्ध भाग मलिन-सा रहना अथवा निश्चेष्ट या घुटने और हाथोंसे चलने वाला, दुर्बल होनेके हेतुसे मंदगति वाला, पड़ा रहने वाला। देहमेंसे दुर्गन्ध निकलनेके हेतुसे मक्खी, कृमि-कीट आदिसे व्याप्त रहना, शक्तिहीन, विशीर्ण (अतिशय शक्तिहीन), प्रसन्न (वेदनासे अपीड़ित), खड़े और गतिहीन रोमयुक्त, शुष्क बड़े नखयुक्त, देहमेंसे दुर्गन्ध निकलना, मलिन-सा रहना, चिड़-चिड़ा, श्वासोच्छ्वासमें अवरोध होनेसे दुःखी रहना, मलमूत्रकी अधिक प्रवृत्ति होना तथा नेत्र और नासिकासे मल निकलना आदि लक्षण प्रकट होते हैं। इन लक्षणोंपरसे व्याधिज फक्क विदित होता है।

इनके अतिरिक्त आचार्यने चिकित्सा स्थानमें लिखा है कि प्रायः अति भोजन करने वाले अनाथ बच्चोंकी ग्रहणी दुष्ट होकर फक्क रोग होजाता है। फिर मंदाग्नि होकर रसोत्पत्ति सम्यक् नहीं होती जिससे मल-मूत्रका परिणाम आहार की अपेक्षा बढ़ जाता है और फक्क रोगकी संप्राप्ति हो जाती है।

बालकोंके रसक्षयका डाक्टरी निदान आदि।

निदान—इस रोगकी प्राप्ति १ से ५ वर्ष या ७ वर्ष तक आयु वाले बालकों को होती है। विशेषतः दूधके पचनमें न्यूनता इसका कारण माना जाता है। यह सब ऋतुओंमें लड़के और लड़कियोंको समभावसे होता है। वंशागत निर्बलता भी कारण हो सकती है; किन्तु इसका पूर्ण अनुसंधान नहीं हुआ। वसाका शोषण क्यों नहीं होता, इसका सच्चा कारण अभी तक अज्ञात है।

संप्राप्ति—शवच्छेदन करनेपर अन्त्रकी श्लैष्मिक कलाका अन्तर्भरण प्रतीत होता है एवं कितने ही रोगियोंमें अग्न्याशयके सूक्ष्म कोषोंके चारों ओर तन्तुओंकी अपक्रान्ति विदित होती है।

चित्र नं० ३७—रसक्षय—फक्क (Coeliac disease) पीड़ित बालक।

बाह्य लक्षण—बालकको दुर्बलता, मुखमण्डल दुर्बल न भासना किन्तु त्वचा निस्तेज हो जाना, क्रोधी, समतोल सम्हालने की शक्तिका ह्रास किन्तु अकाल विकसित अवस्था युक्त भासना; अर्थात् आयु हो उससे बड़ी भासना, ऊँचाई अपेक्षाकृत कम भासना, क्षुधानाश, विविध प्रकार की निर्बलता, विकासमें प्रतिबंध, बुद्धि मन्द प्रतीत होना, किन्तु जड़ता न होना, बड़े बालकमें भी स्त्री-पुरुष सम्बन्धी विकासका अभाव और गम्भीर रोग आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

लक्षणोंके ३ समूह—

१. पचन संस्थानके व्यक्त लक्षण—वसाशोषण का अभाव, मल पतला, निस्तेज और परिमाण में अधिक, दिनमें १ २ दस्तसे अधिक न होना (किसी-किसीको ३-४ दस्त), गम्भीरावस्थामें मल झागमय और दुर्गन्धमय और बार बार परिमाणमें वृद्धि होना, वायु भरा रहनेसे उदरकी स्फीति, मांसपेशियोंकी हीनता, यकृद्वृद्धि (कभी स्थान भ्रष्ट होना), बृहदन्त्र भाग प्रसारित होना, क्षुधानाश, अधिक भोजन हो तो वमन होना और पेशाब सामान्य होना आदि।

२. चूना (Calcium) और स्फुर (Phosphorus) के चयापचयमें प्रतिबन्ध—यह गम्भीर रोगियोंमें प्रतीत होता है। इस प्रतिबंधके हेतुसे अस्थियोंकी प्रगतिमें न्यूनता (अस्थिवक्रता) और फिर मांसपेशियोंका आक्षेप।

३. बड़े बालकोंको पाण्डुता।

इनके अतिरिक्त रक्तमें शर्कराका ह्रास, अस्थियोंकी दृढ़ताका ह्रास, आमाशयिक रसस्रावमें न्यूनता या अभाव होना, शुष्क मलमें ५० प्रतिशत या अधिक वसा मिलना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

किसी-किसी रोगीको अतिसार नहीं होता। वह अपेक्षाकृत सौम्य होता है। कितने ही रोगी बिल्कुल सुधर जाते हैं, केवल बृहदन्त्रका प्रसारण रह जाता है। मांसक्षय होने लगता है, तो विशेषतः मृत्यु हो जाती है। कितने ही रोगी, जो सौम्य प्रकारसे पीड़ित हों, उनपर बार-बार अनियमित ज्वर और उदरकी विकृति रूप आक्रमण होता है। बीचमें स्वास्थ्य अच्छा रहता है। कितने ही दुर्बल रहते हैं और मस्तिष्क-विकास कम होता है। कइयोंको रोग दृढ़ हो जाता है जो अन्त तक बना रहता है। फिर मलमें स्वभाव सिद्ध वसा और चिकनापन अधिक रहते हैं।

पार्थक्यदर्शक रोगनिर्णय—वसामय अतिसारसे इसका भेद करनेकी आवश्यकता है। आमातिसार (Colitis) के मलकी परीक्षा करनेपर सहज निर्णय हो जाता है। निम्न रोगोंके साथ लक्षण मिल जाते हैं। अतः उनके लक्षण यहाँ दर्शाये हैं।

१. सहजात वसामय मल (Congenital Steatorrhoea)—इस प्रकारमें मल अधिक परिमाणमें, अच्छे रंगवाले, दुर्गन्ध रहित, बार-बार असमयपर नहीं, गाढ़ी वसा (मक्खन सदृश), विशेषतः साबुन जैसी वसा आदि लक्षण होते हैं।

२. उदरके अवयवोंके रोग—कितने ही अपक्रान्तियुक्त रोगोंके स्वरूप या शक्तिका नाश (Destruction), आमाशय और बृहदन्त्रका नाड़ीव्रण, अन्त्रके विशेष भागको काट देना, अन्त्रस्थ लसीका ग्रन्थियोंका अतिसार, पाण्डु और जिह्वाप्रदाह (Glossitis) उपस्थित होते हैं।

३. संग्रहणी (Sprue)।

४. बृहदन्त्रका प्रसारण और चरम सीमा तक बृहदन्त्र प्रसारित रहना (Megacolon and Hirschspring's disease)—इन रोगोंमें गौण रस-क्षयकी सम्प्राप्ति होती है।

चिकित्सोपयोगी सूचना।

रसक्षय (फक्क रोग) में रसोत्पत्तिकी विकृतिके हेतुसे रस आदि वाहिनियोंका मार्ग रुद्ध हो जाता है। अतः सबसे पहले बलका संरक्षण करते हुए स्रोतोंका संशोधन करना चाहिये। दूधमें गोमूत्र मिला करके पिलानेसे उदर-शुद्धि होती है।

गोमूत्रको १ सफेद बोतलमें भरकर उसमें ३ माशे केशर डालें। फिर ३ दिन तक सूर्य तापमें रखें। रोज शामको उठाकर मकानमें रखें। फिर इसमेंसे १-१ ड्राम गोमूत्र दिनमें २ बार देते रहनेसे उदर और स्रोतोंका संशोधन उत्तम प्रकारसे होता है।

भोजनमें घी, तेल आदि वसामय वस्तु कम देवें, भारी भोजन न देवें, भोजनमें मांस रस, सिद्ध दूध और यूष देना चाहिए अथवा बकरीका दूध और सामान्य भोजन देवें। पान, फल, फूल, शाकमेंसे जो अनुकूल रहें, वे अधिक देवें। दूधमेंसे मक्खन निकालकर दिया जाय तो विशेष हितकर है।

संतरा, मोसम्बी, अंगूर, सेव आदि अधिक देना चाहिए। जीवनसत्व D, B और C तथा नीलातीत किरण देवें।

दूध या फलोंका रस जो देवें, वह थोड़ा-थोड़ा देवें। एक साथ अधिक परिमाणमें न देवें एवं एक समयका रस या दूध पचन न हुआ हो तब तक दूसरी बार न देवें। अन्यथा आमोत्पत्ति अधिक होगी।

फलोंका रस देनेके ३ घण्टे तक दूध नहीं देना चाहिये एवं दूध देनेके ३ घण्टे तक रस नहीं देना चाहिये। दोनोंके बीचमें कमसे कम ३ घण्टोंका अंतर रहना चाहिये।

बड़े बच्चेको जो भोजन अनुकूल न रहता हो, वह नहीं देना चाहिये। द्विदल धान्य, नये चावल, भैंसका दूध, कन्द शाक, शक्कर या गुड़वाले पदार्थ, एवं अन्य पचनेमें भारी हों ऐसे पदार्थ कम देना चाहिये। भोजन,, लघु पौष्टिक देना चाहिए। अधिक गरम-गरम पदार्थ एवं आइस्क्रीम आदि अधिक शीतल पदार्थ नहीं देना चाहिये।

पेशाबमें क्षार, वसा आदि कोई द्रव्य निकलता हो, पेशाबका रंग अधिक पीला रहता हो अथवा पेशाबमें अन्य किसी भी प्रकारका दोष हो तो चन्द्रप्रभा, शिलाजतु, यवक्षार या अपमार्ग क्षार, मूत्रविरेचन चूर्ण आदि आमपाचक और मूत्रल औषध भी मिला देनी चाहिये।

यद्यपि इस रोगमें घृत विशेष नहीं दिया जाता किन्तु प्रवाल पिष्टीके साथ षट्पल घृत या कल्याणघृत अनुपान या औषधरूपसे देनेमें आपत्ति नहीं है। दस्त अधिक होते हों, तो पञ्चामृत पर्पटी, सुवर्ण पर्पटी, और प्रवाल पञ्चामृत अति हितकारक हैं।

इस रोगमें यदि अस्थिवक्रता भी हो गई हो, तो मुक्ता, प्रवाल, शुक्ति, शंख, वराटिका, सुधाषट्क आदि चूना प्रधान औषध, गोदन्ती भस्म, सुधारस, शृंगभस्म या अन्य अस्थिपोषक औषध भी साथ-साथ देते रहना चाहिये।

इस रोगपर अरविन्दासव, बालार्क गुटिका, सुधारस (रसतन्त्रसार द्वितीय

खण्ड) लाभदायक हैं। निम्न मिश्रण भी दे सकते हैं—सुवर्ण वसंत, प्रवाल-पिष्टी, मण्डूर सात्विक भस्म, पीपल ६४ प्रहरी, ये सब मिला कर दिये जाते हैं। बालरक्षक तेलकी मालिश तथा अरविन्दासवका सेवन अन्य कोई भी औषध देते हुए कराते रहना चाहिये।

यदि उदरमें मलसंग्रह या आमसंग्रह हो, तो उपचारके प्रारम्भमें निशोथ मिला हुआ दूध प्रातःकाल कुछ दिनों तक पिलाकर उदरका शोधन करा लेना चाहिये।

यदि वात नाड़ियोंमें विकृति हो अर्थात् वातप्रकोप अधिकांशमें हो, तो वातशामक रास्नादि औषधियोंसे दूधको सिद्ध करके देते रहना चाहिये एवं बस्ति, स्नेहपान, स्वेदन, उबटन आदि उपचार वातको शमन करनेमें हितकर हैं। यदि कफप्रकोपकी प्रधानता हो तो गोमूत्र मिश्रित दूध पिलाना चाहिये।

रसक्षय पीड़ित बालकोंको एलोपैथीमें विटामीन D. B. और C. तथा कोड लिवर एक्स्ट्रेक्टके अन्तःक्षेपण करते हैं एवं लोह प्रधान औषधिका उदर सेवन कराते हैं।

रसक्षय-वसामय संग्रहणी-सिलिआक डिज़ीज इन एडल्ट्स-इडिओपैथिक स्टीटोर्हिया-नोन-ट्रोपिकल स्प्रु—गी थैसेन डिजीज (Coeliac Disease in adults-Idio Pathic Steaorrhoea-Non-tropical Sprue-Gee Thaysen Disease)

व्याख्या—वसामय मल तथा चूना और स्फुरके चयापचयमें प्रतिबंधसे उत्पन्न रोगको रसक्षय कहते हैं। इसे वसा-ग्रन्थियोंका अहेतुक अत्यधिक स्रावमय विकार कहा है।

आ. युवकोंका रसक्षय।

संग्रहणी (Sprue) और इस रोगमें सामान्य अभिव्यक्ति और चयापचय विकृति समान होते हैं किन्तु संग्रहणी वंशागत नहीं होती और बाल्यावस्थामें नहीं होती। अतः दोनोंका स्पष्ट भेद है।

निदान—इस रोगका कारण अज्ञात है। युवावस्थाके प्राप्तिकाल और परिपक्वावस्थामें इस रोगकी प्राप्ति होती है। स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंको अधिक होता है।

जिसे बार-बार अतिसार होता रहता हो और छोटी आयुमें अस्थिवक्रता विकार हुआ हो, वे प्रायः इससे पीड़ित होते हैं। कइयोंको छोटी आयुमें उत्पन्न हुआ रसक्षय शेष रह जाता है।

अन्त्रस्थ लसीका ग्रन्थियाँ, जो क्षय कीटाणुओंसे बार-बार पीड़ित होती हों, उनका सच्चा सम्बन्ध कदाच इस रोगसे हो सकता है।

सम्प्राप्ति—शव-छेदन करनेपर इस रोगका कोई विशेष चिह्न अपक्रान्ति

या अन्य प्रतीत नहीं हुआ। केवल बृहदन्त्र प्रसारित होता है।

लक्षण—बालकोंके रसक्षयके समान होते हैं। त्वचामें सिलवटें हो जाती हैं, वर्ण बदल जाता है, गम्भीर रोग होनेपर कितनीही अस्थियोंमें दर्द होना, सन्धियोंमें वेदना होना और बाहरके आघात बिना टूट जाना, रोग बढ़नेपर मांसपेशियोंका आक्षेप होना, कइयोंके बृहदन्त्रका प्रसारण होना, अंगुलियाँ अन्तमें ग्रन्थिमय होना या तोतेकी चोंचके समान हो जाना, ज्वरका अनियमित आक्रमण होते रहना, पाण्डुता, उदरमें भारीपन, वायु भरा रहना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। मल पतला, सूखनेपर आधा वसामय, अतिसार न होनेपर भी बृहदन्त्र प्रसारित रह जाना, जिह्वाके रसांकुरोंका शोषण होनेसे चिकनी होना, क्वचित् क्षत होना, ये सब प्रतीत होते हैं।

साध्यासाध्यता—योग्य चिकित्सा और पथ्य पालन करनेपर रोग साध्य है।

चिकित्सा—बालकोंके रसक्षयमें कहे अनुसार।

आयुर्वेदीय संग्रहणी रोगकी चिकित्सा और तक्र कल्प करानेपर यह रोग शमन हो जाता है। मटठेमेंसे घी निकालकर देना चाहिये। मन्द अवस्थामें चतुर्मुख रस और प्रवाल पंचामृत मिश्रण इस रोगके लिये विशेष लाभदायक माना जायगा। प्रबलावस्थामें पंचामृत पर्पटी और प्रवालपञ्चामृत तथा ज्वर होनेपर प्राणदा पर्पटी देनी चाहिये। रोग शमन होनेपर हिंगुल रसायन (द्वितीय विधि) दीर्घकाल पर्यन्त कम मात्रामें सेवन कराना चाहिये। इस रोगमें डाक्टरी चिकित्सा असफल होती है।

(७) अन्त्रक्षय।

(इण्टेस्टाइनल ट्यूबरक्युलोसिस-ट्युबरक्युलस एण्टेराइटिस एण्ड कोलाइटिस—Intestinal Tuberculosis—Tuberculous Enteritis and Colitis)

निदान—इस रोगकी सम्प्राप्ति क्षय कीटाणुओंके आक्रमणसे होती है। बालक क्षय पीड़ित माता या क्षय पीड़ित गौका दूध पीनेसे तथा बड़ी आयुवाला क्षय रोगीका झूठा भोजन करनेपर रोगग्रस्त होता है। कभी फुफ्फुस क्षयका रोगी कफको, अज्ञान या आलस्यवश निगल लेता है, तब अन्त्रमें क्षय कीटाणु पहुँचकर अन्त्रक्षय उत्पन्न कर देते हैं।

सम्प्राप्ति—क्षय कीटाणुओंका आक्रमण विशेषतः शेषान्त्रक, उण्डुक और बृहदन्त्रपर होता है। अति सामान्य शेषान्त्रके अन्त भाग तथा इससे कम पेयर्सकी लसीका ग्रन्थियां और एकाकी ग्रन्थि प्रभावित होते हैं। फिर उनके तन्तुओंका परिवर्तन होता है। वे शोथ, पनीरवत्-अपक्रान्ति, मृदुता और क्षतमय बन जाते हैं। फिर क्षतोंकी वृद्धि होने लगती है।

क्षय प्रकार—१. मूलभूत; २. उपद्रव रूप (फुफ्फुस क्षय और उदर्या-कलाके क्षयमें); ३. विशेष प्रकारका अर्बुदरूप-शेषान्त्रक-उण्डूक भागके तन्तुओंके गुणयांक रूपसे परिवर्तन मय (Hyperplastic tuberculosis of the Iliocaecal region)।

मूलभूत—यह रोग गोदुग्धमें रहे हुए कीटाणु (Bovine bacilli) द्वारा ८० प्रतिशत रोगियोंमें प्रतीत होता है।

लक्षण—प्रारम्भमें उदरपीड़ा, कोष्ठबद्धता, अग्निमान्द्य, अरुचि, मस्तिष्क भारी रहना और बेचैनी आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। थोड़े-थोड़े दिनोंमें अंत्र-पुच्छ प्रदाह (Appendicitis) के समान उदरशूलके दौरे होने लगते हैं। शूल उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है; अधिक समय तक रहता है, और दौरा भी जल्दी-जल्दी होने लगता है। जब लसीका ग्रन्थियाँ फटकर व्रण हो जाते हैं, तब अतिसार, पेचिश समान उदरपीड़ा, क्वचित् रक्त आना, उदरका भाग ऊँचा हो जाना, उदरपर दबानेसे पीड़ा होना, उदरमें ग्रन्थियोंका भास होना, आफरा, राजयक्ष्माके सदृश ज्वर बना रहना, यदि बड़ी रक्तवाहिनी फट जाती है, तो बार-बार रक्त मिला हुआ मल गिरना, निस्तेजता और धीरे-धीरे शरीर अस्थिपिञ्जर बन जाना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। यह रोग शनैः-शनैः दारुण होता जाता है; और अन्तमें रोगीको मार डालता है।

फुफ्फुसक्षयके उपद्रव रूप अन्त्रक्षय—यह कफ निगलनेसे होता है। ५०-७० प्रतिशत रोगियोंमें प्रतीत होता है। यह निर्णय शवच्छेदन परसे हुआ है।

भावी क्षति—

१ **छिद्र या उदर्याकला प्रदाह**—उदर्या कला कभी मोटी होती है और चिपक जाती है।

२. **स्थानिक क्षत निर्माण**—फिर छिद्र होता है।

३. **अन्त्र संकोच** (Stenosis of intestine)—अन्त्रक्षतका रोपण होकर व्रण-संरक्षक त्वचा आने या तन्त्वात्मक अपक्रान्ति होनेसे अन्त्रसंकोच होता है।

४. **क्षुद्रान्त्र बन्धनीकी ग्रन्थियां और उदर्याकलाका क्षय**—यह प्राथमिक होना भी संभवित है।

५. **रक्तस्राव अति क्वचित्**—किन्तु रक्तस्राव हो तो गम्भीर और अशुभ होता है।

लक्षण—अतिसार-यह विशेषतः प्रसेक या वसामय अपक्रान्तिके हेतुसे होता है। शेष लक्षण फुफ्फुस क्षयके समान होते हैं।

विशेष प्रकारका अर्बुदरूप अन्त्रक्षय (Tuberculosis Caecal Tumour)—इस रोगमें कभी क्षय कीटाणु प्रतीत नहीं हुए। जैसा कि

क्रोहनके रोग (Crohn's disease) में क्षय कीटाणु नहीं मिलते उसी तरह इसमें भी नहीं होते ।

चिकित्सोपयोगी सूचना ।

कमरा, वस्त्र, शय्या आदिको खूब साफ रखें। कफ और मलपर मक्खियाँ न हो जायँ, इस बातकी भी सम्हाल रखें।

सूर्य-प्रकाश, प्रातःकालकी सूर्य किरणोंका सेवन, स्वच्छ वायु, लघु पौष्टिक भोजन, मनकी प्रसन्नता और पूर्ण विश्रान्तिके सेवनका उचित प्रबन्ध करना चाहिये। इनमें मानसिक प्रसन्नता जितनी अधिक रहती है; उतना ही बल बना रहता है ।

रोगीको बकरीका दूध, बकरीका मक्खन, बकरीका घी, बकरीके मांसका रस, अण्डे, सन्तरा, मोसम्बी, अंगूर, सेब, अनार आदि फल, थोड़े परिमाणमें बादाम-पिस्ता, लहसनकी चटनी इत्यादि क्षय रोगीके समान पथ्य देते रहें। रोगीके कमरेमें प्रातः-सायं धूप करते रहें ।

इस रोगका बोध होनेपर सुवर्णयुक्त रसायन तथा च्यवनप्राशावलेह, वासावलेह (रक्तस्राव अधिक हो, तो) इत्यादि औषध देनेका प्रारम्भ करना चाहिये। सुवर्णसे क्षयके कीटाणुओंका नाश होता है ।

अन्त्रक्षय चिकित्सा ।

(१) सब अवस्थामें जीवन्त्यादि घृत भोजनमें या औषध रूपसे देते रहें ।

(२) जन्तुओंकी वृद्धि रोकनेके लिये शृंग भस्म १-१ रत्ती और वातवहानाड़ियोंके संरक्षणार्थ अभ्रक भस्म आध-आध रत्ती, दोनोंको मिला कर दिनमें ३ समय शहदसे देते रहना चाहिये; या अन्य रोगशामक औषधके साथ मिलाते रहें।

(३) अतिसार अधिक हो, तो—हेमगर्भपोटली रस (दूसरी विधि) अथवा सुवर्णपर्पटी १-१ रत्ती दिनमें ३ समय देवें। प्रातः-सायं च्यवनप्राशावलेहके साथ तथा दोपहरको त्रिकटु, जीरा और शहदके साथ देवें। च्यवनप्राशावलेह प्रारम्भमें आध-आध तोला देवें। फिर शनैःशनैः १ तोला तक बढ़ा देवें। च्यवनप्राश देनेके १ घण्टे तक दूध या जल नहीं देना चाहिये।

(४) तालीसादि चूर्ण (भाँग मिश्रित) जातिफलादि चूर्ण या लवंगादि चूर्ण, लवणभास्कर चूर्ण, इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन सुवर्णके साथ कराते रहने से पचन-क्रिया सबल बन जाती है और रोग नाश होनेमें सहायता मिलती है।

रोज ज्वर बढ़ जाता हो, तो सुबहके समय जब कम ज्वर हो तब सुवर्ण पर्पटी कम मात्रामें देवें। दोपहर और शामको ज्वर बढ़ जानेपर पञ्चामृत पर्पटी देते रहें या सूतशेखर देवें ।

(५) ज्वर और अतिसार, दोनों सामान्य रूपसे हों, तो सूतशेखर दाड़िमावलेह या अदरकके रस और शहदके साथ दिनमें ३ समय देते रहना अति हितकर है।

(६) अतिसार कम हो तो—सुवर्णमालिनी वसन्त, जयमंगल रस (ज्वर अधिक हो तो भी), महामृगाङ्क रस (पित्ताधिकता है तो दाड़िमावलेहके साथ), ग्रहणीशार्दूल रस (संग्रहणी चिकित्सामें लिखा हुआ), इन औषधियोंमेंसे अनुकूल औषध देते रहें। ये सब औषधियाँ अति लाभदायक हैं। सब बार-बार उपयोगमें ली जाती हैं।

(७) प्रवाहिका हो, तो—हेमगर्भपोटली रसके साथ शङ्खोदर रस या दुग्ध वटी (ज्वर भी हो तो) या अन्य अफीमवाली औषध बहुत कम मात्रामें (चौथाई मात्रामें) मिलाकर दी जाती है।

(८) रक्त अधिक जाता है, तो चन्द्रकला रस वासावलेहके साथ दिनमें ३ समय देते रहनेसे शीघ्र बन्द हो जाता है।

(९) शूल शमनार्थ—शंख भस्म, शूलवज्रणी वटी, हिंगुल रसायन (दूसरी विधि) (रक्तस्राव न हो, तो), इनमेंसे अनुकूल औषध शूल चलनेपर देनेसे शूलका शमन होता है। आवश्यकता हो, तो १ घण्टेपर दूसरी मात्रा देवें।

विशेष चिकित्सा राजयक्ष्मा रोगके अनुसार करनी चाहिये।

इस रोग वाले अनेक रोगी डाक्टरोंके रजा दे देनेपर सुवर्णपर्पटीके सेवनसे नीरोगी हो गये हैं। इस रोगमें सुवर्णमिश्रित औषध उत्तम मानी गई है। उपद्रव, लक्षण या अवस्था भेदसे सुवर्णकी भिन्न-भिन्न कृतिको प्रयोगमें लाया जाता है; एवं उपद्रवानुसार अनुपानमें भेद किया जाता है। अनेक स्त्री रुग्णाएँ सूतशेखर रस और लवंगादि चूर्णका सेवन करानेसे स्वस्थ हो गई हैं।

बालकोंको क्षय होनेपर ऊपर लिखी हुई औषधियाँ कम मात्रामें दी जाती हैं एवं ग्रहणीशार्दूल रस, सर्वाङ्गसुन्दर रस और कुमारकल्याण रस भी अति हितकर हैं। रोग प्रारम्भ होनेपर यदि बालार्क गुटिकाका सेवन कराया जाय, तो इस सामान्य औषधसे भी रोग शमन होकर बालक पुष्ट बन जाता है।

हमें ३-४ बालक ऐसे मिले थे, जो अस्थि-पिञ्जरवत् हो गये थे, जिनके हाथ-पैरोंपर शोथ आ गया था, ज्वर ९९ से १०२ डिग्री तक रहता था, अतिसार भी बढ़ा हुआ था, ऐसी भयप्रद स्थितिमें सर्वाङ्ग सुन्दर रस और कुमारकल्याण रसके सेवनसे वे स्वस्थ हो गये थे।

पथ्यापथ्य—राजयक्ष्मा रोगके अनुसार पथ्य पालन करें। बच्चेके लिये माताका दूध दूषित हो, तो छुड़ा देना चाहिये। बकरीका दूध छोटे और बड़े, स्त्री और पुरुष, सब प्रकारके राजयक्ष्माके रोगियोंके लिये अमृत रूप है।

रोगीको स्नान नहीं कराना चाहिये। गरम जलमें वस्त्र भिगोकर शरीरको

पोंछ लेवें; तथा रोगीको पूर्ण विश्रान्ति देनी चाहिये।

खेत या जंगलोंमें कुटी बनवाकर रोगीको रखना विशेष हितकर है। किन्तु बागमें जहाँ वृक्षोंको रोज जल पिलाया जाता है, वहाँ नहीं रखना चाहिये। जल गरम कर शीतल किया हुआ देना चाहिये।

यदि रोगी सबल है, तो केवल बकरीके दूधपर रख देनेसे लाभ पहुँच जाता है।

(८) कोष्ठबद्धता।

(बद्धकोष्ठ, विबंध, मलावरोध, विट्संग, विष्टब्धता, आनाह, कब्ज—कान्स्टिपेशन Constipation)

नियमित समयपर दस्त न होने और मल कठोर होकर देरसे मलशुद्धि होनेको कोष्ठबद्धता या कब्ज कहते हैं।

सामान्य अवस्थामें आज सुबह किये हुए भोजनका निःसत्व अंश (मल) दूसरे दिन सुबह शरीरमेंसे बाहर निकल जाना चाहिये। जब ३६ घण्टोंसे अधिक समय तक मल आँतोंमें शेष रह जाता है, तब वह कब्ज कहलाता है। ज्वर आदि अनेक रोगोंमें कब्ज रूप लक्षण रहनेसे वे रोग शीघ्र दूर नहीं होते। अन्य रोगोंमें कब्ज होना, यह लक्षण कहलाता है; और पाचनसंस्थान या आँतों की निर्बलताके हेतुसे मलशुद्धिमें सर्वदा रुकावट होकर मलावरोध होता रहे, तब रोग कहलाता है।

इस रोगका विशेष सम्बन्ध बड़ी आँतसे रहता है, अतः पहले यहाँ इसके विभागका संक्षिप्त वर्णन करते हैं। इस व्याधिका आमाशय और छोटी आँतकी क्रियासे भी सम्बन्ध है; किन्तु इसका विवेचन पहले हो चुका है।

बड़ी आँतकी लम्बाई लगभग ५ फीट है। वह दाहिने वंक्षणोत्तरिक प्रदेशमें छोटी आँतके संगम स्थानसे यकृत् तक ऊपर जा, आड़ी होकर बाँये वंक्षणोत्तरिक प्रदेशमें नीचे उतरती है। शिष्योंके ज्ञानार्थ आचार्योंने इस आँतके ६ भाग किये हैं-उण्डुक, आरोहि भाग, अनुप्रस्थ भाग, अवरोहि भाग, कुण्डलिका और गुदनलिका।

(१) उण्डुक (पुरीषोण्डुक-Coecium)—इसका दिखाव थालीके समान है। लगभग ३॥ अंगुल चौड़ी है, छोटी आँतका सिरा, बाँयी बाजूसे इसमें प्रवेश करता है। इस उण्डुकमें कपाटिकाएँ हैं, मलको छोटी आंतमें वापस नहीं जाने देती।

इस भागमें लगभग ४ अंगुलकी लम्बी पतली नली उण्डुकपुच्छ (अन्त्र-पुच्छ Appendix) लगी है। प्रकृति भेदसे यह नली न्यूनाधिक लम्बी होती है। इस भागमें कचित् मलकी गोली या अनाजका दाना या अन्य वस्तु चली जाय तो इसपर शोथ आ जाता है। फिर पीप बनकर धीरे-धीरे वह सड़ने लगता है ऐसा होनेपर मलावरोध और अन्य अनेक उपद्रव होते हैं।

बृहदन्त्र (रसायनियों सह)
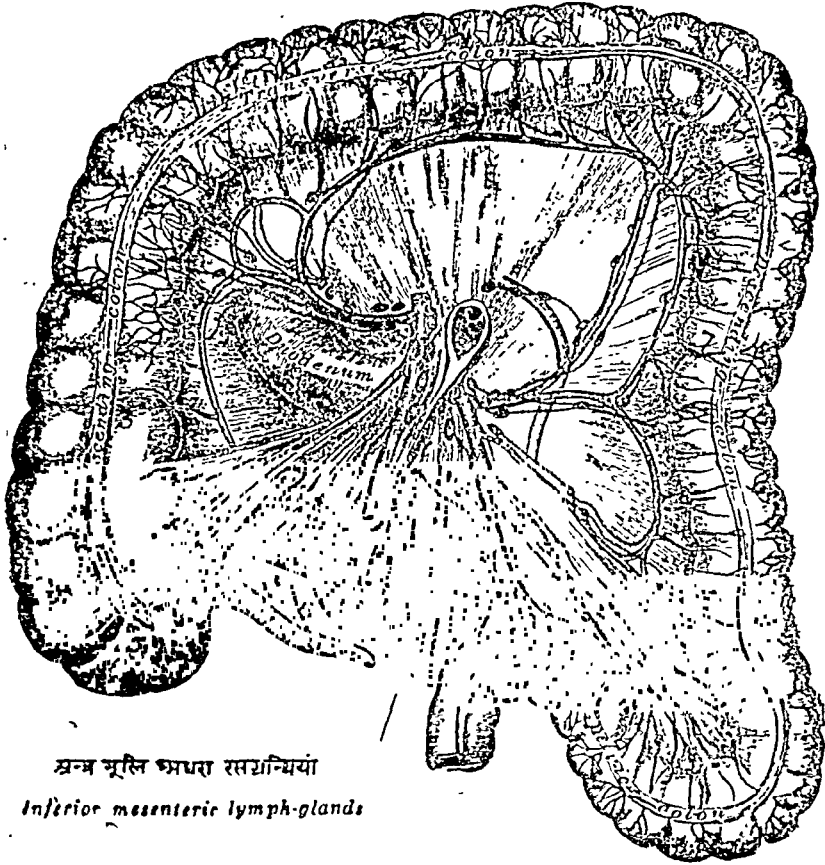
चित्र नं० ३८

१ अनुप्रस्थ अन्त्र -Transverse Colon.

२ ग्रहणी Duodenum.

३. आरोही अन्त्र--Ascending colon.

४ उण्डुक--Coecium.

५ शेषान्त्रक (क्षुद्रान्त्रका सिरा) Ileum.

६ अन्त्रपुच्छ--Appendix.

७ अवरोही अन्त्र-Descending Colon.

८ अवरोही अन्त्रका अन्त भाग और कुण्डलिका भाग -Ilio-pelvic Colon.

(२) आरोही भाग(Ascending Colon)—यह लगभग ६ इञ्च लंबा है। छोटी आँतके संयोग-स्थानसे यकृत् तक ऊपर गया है।

(३) अनुप्रस्थ भाग (Transverse Colon)—यह भाग यकृत्के नीचेसे प्लीहाके कोने तक आड़ा है, लगभग २० इञ्च लम्बा है।

(४) अवरोही भाग (Descending Colon)—यह अन्त्रभाग प्लीहाके नीचेके कोनेसे बाँयी कुक्षि तक नीचे उतरता है।

(५) कुण्डलिका भाग (Sigmoid Flexure)—अवरोहि आँतके नीचेका हिस्सा जो लुप्त आकार 'S' के चिह्न सदृश है, उसे कुण्डलिका भाग कहते हैं।

(६) गुदनलिका (Rectum)—बड़ी आँतके कुण्डलिका भागके आगेका हिस्सा जो सरल है, लगभग ६ से ८ इञ्च लम्बा है, और गुदा द्वारके साथ मिल जाता है, उसे गुदनलिका कहते हैं। पुरुष-शरीरमें गुदनलिकाके उपर सामने मूत्राशय और स्त्री शरीरमें गर्भाशय रहता है।

गुदनलिकाके भीतर लगभग अर्धचन्द्राकार ३ (क्वचित् ४) आड़ी वलियाँ हैं। इनमेंसे एक दाहिनी ओर, दूसरी इससे कुछ नीचे बाँयी ओर और तीसरी सबसे बड़ी वली बस्तिके पीछे गुदनलिकाके आगे लगी है। जब गुदनलिका संकुचित रहती है, तब ये वलियाँ परस्पर मिलकर बड़ी आँतके अन्तिम कुण्डलिका भागमें संचित मलको नीचेसे आधार देती हैं। जब मल नीचे उतरकर गुदनलिकामें प्रवेश करता है; तब वे सब पृथक् हो जाती हैं; और मल निकल जानेपर पुनः मूल स्थितिमें आ जाती हैं।

गुदद्वार (Anus)—गुदनलिका महास्रोतके नीचेका हिस्सा, जो दोनों नितम्बोंके बीच और अनुत्रिकास्थिके आगे रहा हुआ है; उसे गुदद्वार और पायु कहते हैं। इस पायुद्वारसे मल त्याग होता है।

मलको गुदनलिकामें नीचे उतारनेके लिए उदरपेशियां और उत्तर गुदाका संकोच तथा पायुधारिणी पेशीका शिथिल होना, इन क्रियाओंकी आवश्यकता रहती है। पश्चात् गुदनलिकाके सब भाग क्रमशः ऊपरसे नीचे संकुचित होनेसे धक्का लगकर मल बाहर निकल जाता है। फिर पुनः दो गुदसंकोचनी पेशियाँ और पायुधारिणी पेशीका संकोच हो जानेसे गुदद्वार बन्द हो जाता है। इस तरह इस यन्त्रमें सब क्रियाएँ नियमपूर्वक होती रहें, तब तक शरीर नीरोगी और मन प्रसन्न रह सकते हैं।

छोटी आँतमेंसे आहारका शेष अंश (मल) बड़ी आँतमें आता है, तब वह बड़ी आँतकी मन्दगतिद्वारा ऊपर चढ़ता है, आड़ी गति करता है। फिर उतरता है। इस तरह आगे बढ़ता है। बड़ी आँतमें आहार रस आनेपर अधिक पतला होता है। फिर जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे उसमेंसे द्रव अंशका शोषण होता जाता है। अन्तमें वह गाढ़ा होकर मलाशयमें संचित होता है और फिर गुदद्वारसे बाहर निकल जाता है।

जब आमाशय, छोटी आँत, यकृत् या अग्न्याशयमेंसे रस पूरा नहीं मिलता, तब भोजनका पाक अच्छी तरह नहीं होता और मलमें दुर्गन्ध होजाती है। यह बात पहले अतिसारके प्रकरणमें लिख दी है।

जब आँतोंमें मल सड़ता है, तब बेक्टीरिया नामक कीटाणु उत्पन्न होते हैं। जो (इण्डोल Indol) और (स्कटोल Skatol) आदि विषको उत्पन्न करते हैं। फिर मलमें दुर्गन्ध आने लगती है। पश्चात् इन विषोंका शोषण रक्तमें होनेपर नाना प्रकारकी व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। इस हेतुसे मलावरोधको अति घातक शत्रु मानकर शीघ्र दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

वर्त्तमानमें इस बद्धकोष्ठकी जितनी अधिकता प्रतीत होती है, उतनी प्राचीन-कालमें नहीं थी। कारण संयम, परिश्रम, परोपकार, सेवा-धर्म पालन, निश्चि-न्तता, पवित्रता और सदाचार आदि सद्गुण वर्त्तमानकी अपेक्षा भूतकालके मानव जीवनमें अत्यधिक परिमाणमें थे। वर्त्तमानमें बाललग्न, आहार-विहार में स्वच्छन्द वृत्ति, नाना प्रकारके शराब, सिगरेट आदि के व्यसन, दुराचार, राजाओंकी धन शोषक नीति, विलास करनेकी वासनाएँ, पराधीनतासे प्राप्त निर्धनता, चिन्ता और आलस्य आदि बढ़ जानेसे वंशपरम्परागत निर्बलता बढ़ती जाती है। इनके अतिरिक्त नव्य समाजने नैसर्गिक नियमोंका भंग कर प्रकृतिको बिल्कुल पराधीन और असहिष्णु बना दी है। इन हेतुओंसे संसारमें बद्धकोष्ठ व्याप्त हो गया है।

प्राचीन कालमें इस व्याधिका अभाव कथन मात्रका होनेसे शास्त्रीय ग्रन्थों में इसका वर्णन पृथक् रोग रूपसे नहीं लिखा गया। फिर भी भगवान् धन्वन्तरि कथित आनाह रोगसे कुछ अंशमें मेल हो सकता है।

डाक्टरीमें अतिसारको जैसे अनेक रोगोंमें मुख्य लक्षण रूप माना है, वैसे ही इस कब्जियतको भी महत्वके लक्षण रूप माना है। मलावरोध होनेपर आँतमें सेन्द्रिय विष (Intestinal Toxins) की उत्पत्ति हो जाती है, जो प्रकृतिको अति बाधक होती है। इस हेतुसे पाश्चात्य चिकित्सकोंने इसे अधिक महत्व दिया है।

नियमित मल शुद्धि होनेमें आमाशय यकृत्, अग्न्याशय और छोटी आँतके पाचक रसस्रावी पिण्डोंकी क्रिया, आहारकी अन्त्रमें होने वाली गति तथा स्थू-लान्त्रमें रस शोषण क्रिया, ये सब सम्यक् प्रकारसे होनी चाहिये। इनके अति-रिक्त अन्त्रस्थ वातवहा नाड़ियोंकी सबलता और मानसिक अतिश्रम, चिन्ता, शोक आदिका अभाव, ये भी नियमित मलशुद्धिमें हेतु माने जाते हैं।

जो मनुष्य प्रति दिन चाय, सिगरेट, विरेचक औषध या वस्ति आदि क्रियाओं द्वारा मलशुद्धि करते रहते हैं, वे सब नैसर्गिक नियमोंका भंग करते हैं।

आँतोंको शक्तिहीन बनाते हैं। आगे चाय या विरेचक औषध आदिकी मात्रा बढ़ती ही जाती है और अन्तमें वे व्यसन से बद्ध हो जाते हैं। फिर तन और मन, दोनों निर्बल हो जानेसे इच्छा होनेपर भी व्यसन नहीं छूट सकता। बार-बार अनेक व्याधियोंका आक्रमण होता रहता है और शेष जीवन अति दुःखदायी और विवश बन जाता है।

ऐलोपैथिक निदान आदि।

सामान्य हेतु—

१. वंशागत स्वभाव, विशेषत: स्त्रियोंमें।
२. गद्दी या कुर्सी पर अधिक बैठक।
३. मलका स्वाभाविक वेग उत्पन्न होनेपर शौच न जाना।
४. विविध प्रकारकी निर्बलता लाने वाली व्याधियाँ—ज्वर, पाण्डु, वात-नाड़ियोंका शक्तिक्षय (ओज क्षय—Neurasthenia)।
५. वृद्धावस्था जनित निर्बलता।
६. अफीम आदिका व्यसन।
७. चिन्ता, शोक आदि मानस वृत्तिसे वातवाहिनियोंपर आघात होकर बद्धकोष्ठ।

स्थानिक हेतु—इसमें ४ प्रकार हैं–१, अन्त्रकी गति कराने वाली मांस-पेशियोंकी क्षीणता; २. अन्त्रकी दीवार और वातनाड़ियोंकी यन्त्रिणीका प्रभाव ३. अन्त्रगत आहार आदिका स्वभाव; ४. अन्त्र प्रतिबन्ध।

१. ऐच्छिक मांसपेशियोंकी क्षीणता (Weakness of voluntary muscles)—उदरस्था और महाप्राचीरा पेशीकी क्रियामें विकृति होनेसे अन्त्रकी परिचालन क्रियामें प्रतिबन्ध होता है; या उदर गत दबाव वृद्धिके हेतुसे मलत्यागमें अवरोध होता है। चिरकारी तनावमें शिथिलता होनेपर उदर गुहाका प्रसारण और निर्बलता उपस्थित होते हैं। निर्बलताके साथ मेदो-वृद्धि एक समयके पश्चात् पुनः गर्भावस्था, कुर्सी या गद्दीपर बैठे रहना, उदरका पतन (Visceroptosis), चिरकारी उदरवात, वृद्धावस्था और विटप विदारण आदि सम्बन्ध वाले हैं।

२. अन्त्रकी दीवार और नाड़ी यन्त्रिणीका असर (Affections of the intestinal wall and nervous mechanism)—अतिसार होने या विरेचन लेनेपर श्लैष्मिक कलाकी शिथिलता होती है, यद्यपि द्रव्य का शोषण अधिक होता है, तथापि परिचालन क्रिया मन्द होती है। आमाशय की विकृति हो तो वह आमाशयकी प्रतिफलित क्रियाको नष्ट करती है। सहजात बृहदन्त्र प्रसारण हो तो भी कब्ज रहता है। इडापिंगलाके

तन्तुओंकी विकृतिसे परिचालन क्रियामें विकृति होती है। नाग (शीशा) का विष, अन्त्रगत खिंचाव विशेषत: कुण्डलिका प्रदेशमें (यह श्लैष्मिक कलामें क्षत होनेपर या वातनाड़ियोंकी विकृतिसे) होनेपर मलावरोध होता है।

३. अन्त्रगत आहार और बृहदन्त्रका स्वभाव—अपूर्ण आहार, अपथ्य आहार, दूषित आहार, असमयपर आहार, भोजन पचन होनेके पहले पुन: भोजन, विरुद्ध भोजन, क्षार आदिकी न्यूनता आदि। बृहदन्त्रमें द्रवका पचन और शोषण (Greedy colon) अत्यधिक होनेपर मलावरोध हो जाता है।

४. अन्त्रगत आहारकी गतिमें प्रतिबन्ध—अन्त्रावरोधके हेतुसे मलावरोध। उक्त सामान्य और स्थानिक हेतुओंका वर्णन पाठकोंको समझनेमें सुविधा हो, इसलिये यहाँ पुन: विस्तार सरल भाषामें किया है।

निदान—आहार-विहारमें स्वच्छन्द वृत्ति, प्रकृतिके प्रतिकूल भोजन, भोजन पर भोजन, शुष्क भोजन, स्वल्प भोजन, उपवास; अति स्निग्ध भोजन। मृदु पदार्थका अत्यन्त आहार, बार-बार विरेचन लेना, शोक, चिन्ता, उदरको शीत लग जाना, आमाशय और अन्त्रके रोग, अन्त्रसे सम्बन्ध वाली इन्द्रियोंकी विकृति, अन्त्रस्थ विकृति, अन्त्रस्थ वातवहानाड़ियोंकी निर्बलता और पाचक रसस्रावकी न्यूनता, मलका वेग उत्पन्न होनेपर शौच न जाना, अफीम आदिका व्यसन और वंशागत स्वभाव आदि कारणोंसे बद्धकोष्ठ रोगकी सम्प्राप्ति होती है।

अनेक मनुष्योंमें आँतोंकी वातनाड़ियाँ निर्बल हो जाती हैं। जिससे आँतोंमें आहार रसका मथन और आगे गति करानेकी क्रिया यथोचित नहीं होती। बाल्यावस्थासे गर्म चाय आदिका सेवन करानेसे अनेक रोगियोंमें आँतोंकी नाड़ियाँ शिथिल होकर बचपनसे ही यह रोग प्रतीत होता है। इस हेतुसे इनके शारीरिक अवयव मस्तिष्क और बुद्धिके विकासमें भी न्यूनता रह जाती है। अत: बुद्धिमानोंको चाहिये कि इस रोगकी उत्पत्ति न होनेके लिए पहलेसे ही आवश्यक ध्यान दें।

आग्नेय रस और सौम्य रसके शोषणके लिए प्राणदा नाड़ियोंके तन्तु (Vagi Nerve fibers) और इड़ापिंगला नाड़ियोंके तन्तु (Sympathetic Nerve fibers) जवाबदार माने गये हैं। इनमें प्राणदा नाड़ीके तन्तु गतिका रोध करते हैं, और इड़ापिंगलाके तन्तु गतिकी वृद्धि करते हैं। इस तरह दोनों एक दूसरेपर अंकुश रखते हुए आंतोंकी क्रियामें अपने बल अनुसार सहायता प्रदान करते रहते हैं। ये तन्तु निम्न कारणोंसे जब शिथिल बन जाते हैं तब अपना कार्य यथोचित नहीं कर सकते।

अन्त्रस्थ वातनाड़ियोंकी निर्बलताके हेतु—पाण्डु, सांसर्गिक ज्वर, चिरकारी वृक्कदाह, मस्तिष्क व्याधि, अपस्मार और उन्माद आदि वातनाड़ियोंकी व्याधि, ऊरुस्तम्भ, श्रमका अभाव, वृद्धावस्था, शारीरिक निर्बलता, मलमूत्रके वेगका अवरोध, चिरकारी अजीर्णरोग, अधिक सन्तान हो जाने या अन्य कारणोंसे उदरकी नाड़ियाँ शिथिल हो जाने, गर्भाशय या बीजकोषकी व्याधि, अफीम आदि औषधियोंका अति सेवन, इन कारणोंसे आंतोंके तन्तु निर्बल हो जाते हैं।

कब्ज होनेपर बड़ी आंतमें मल संचय हो जाता है। फिर उसको आगे चलानेके लिये परिचालक शक्ति विशेष चाहिये, इस हेतुसे अन्त्रस्थ वातनाड़ियों की वृद्धि (Hypertrophy) होती जाती है। परिणाममें वे निर्बल हो जाती हैं। पश्चात् मलके दबावसे वे पतली होती जाती हैं, और आंतके भीतरका भाग चौड़ा हो जाता है।

अन्त्रस्थ अन्य कारण—अंत्रसंकोच (बहुधा प्रवाहिका आदि रोगोंमें या अन्य हेतुसे उदर्य्याकलाके दाह-शोथके पश्चात् लसदार स्राव होनेसे आँतोंके हिस्से परस्पर चिपक जाते हैं, जिससे इनको दब कर रहना पड़ता है। फिर आंतें सिकुड़ जाती हैं), अन्त्रस्रोत:संकोच, अन्त्रस्थानभ्रंश, बड़ी आंतके भीतरका भाग चौड़ा हो जाना, गुदनलिकामें शोथ, उदरमें अर्बुद या गुल्म हो जाना, अर्श, गुदभेद, मेदवृद्धि, विटप-पेडु (Perineum) की शिथिलता और उदर्य्याकलाका किसी इन्द्रियके साथ चिपक जानेसे आंतोंपर दबाव कम पड़ना, इन कारणोंसे भी कब्जियत होने लगती है।

अन्त्रस्रोत:संकोच, अन्त्रस्थानभ्रंश और अन्त्रविस्तार इनसे मल संचय होनेके पश्चात् जब ऊपरसे दबाव अधिकांशमें पड़ता है, तभी नीचे जा सकता है एवं गुदनलिकामें दाह-शोथ होनेपर वहाँ मलके द्रवभागका शोषण होकर शुष्क बन जाता है, जिससे ऊपर बहुत दबाव पड़नेपर ही मल बाहर निकल सकता है।

अर्श और गुदभेदमें मल त्यागनेके समय पीड़ा होती है, जिससे रोगी निरुपाय होकर प्रवाहण क्रिया कम करता रहता है। परिणाममें कुण्डलिका भागमें या गुदनलिकाके भीतर मल शेष रह जाता है।

क्वचित् मल अति शुष्क बन जानेपर आगे जानेके समय श्लैष्मल त्वचाको तोड़ता जाता है, जिससे उसमेंसे रक्त निकलने लगता है। क्वचित् शुष्क मलका दबाव उदरकी शिराओंपर पड़नेसे गुदद्वारकी रक्तवाहिनियाँ फूल जाती हैं, उसे अर्श संज्ञा दी है। इस अर्श रोगसे कब्ज और कब्जसे अर्श, इस तरह

दोनोंका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हो जाता है। इसी हेतुसे पुरुषोंमें अण्डकोषकी शिराओंकी वृद्धि भी हो जाती है।

मेदवृद्धि, विटपकी शिथिलता और उदर्य्याकलाका चिपकना, इन तीन कारणोंसे मलको प्रवाहण करने (किंछने) की क्रिया यथोचित नहीं हो सकती जिससे मलशुद्धिमें प्रतिबंध होता रहता है।

उदर्य्याकला चिपक जानेका हेतु विषम भोजन और विरुद्ध भोजन, भोजन पर भोजन है। इन कारणोंसे अथवा मलका वेग बढ़ने या कूदने-उछलने आदि हेतुओंसे आंत स्थानभ्रष्ट हो जाती है। फिर इन आंतोंको स्थानपर स्थिति रखने के लिये उदर्य्याकला संलग्न हो जाती है। इस हेतुसे इसका यथोचित संकोच विकास नहीं हो सकता; और संकोच कालमें आंतपर दबाव कम हो जाता है। फिर मनुष्य मलको बाहर निकालनेके लिये योग्य प्रवाहण नहीं कर सकता; परिणाममें कब्ज होने लगता है।

अनेक मनुष्य अपनी आदत बिगाड़ लेते हैं; जिससे उनको पाव आध घंटे तक शौचालयमें बैठा रहना पड़ता है। वे बार-बार किंछते रहते हैं, तब बड़ी कठिनतासे मल विसर्जन होता है। इस तरह स्वभाव बना लेनेमें प्रकृति निर्बल बनती है। बड़ी आयु होने और अन्य व्याधि होनेपर एवं प्रवासकालमें कष्ट होता है। इसलिये नियमित समयपर शौच जाने और २-३ मिनटसे अधिक समय न बैठनेका अभ्यास रखना चाहिये। क्वचित् शौच शुद्धि न हो, तो बार-बार कांछ-कांछ कर मलत्यागका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। अधिक बल लगाकर मल त्याग करनेसे वातनाड़ियां शिथिल बनती हैं, और कब्ज रोग दृढ़ हो जाता है।

आमाशयमें पचन क्रिया लगभग ३-४ घण्टोंमें होती है फिर लघु अन्त्रमें आहार रस आता है, वहाँ पचन होने लगता है। पश्चात् शनैः-शनैः बृहदन्त्रमें प्रवेश करता है। सामान्यतः आहार रसकी गति उण्डुक तक ४॥ घण्टेमें, यकृत् मोड़ तक ६॥ घण्टेमें, प्लीहामोड़ तक ९ घण्टेमें और विटप तक १२ घण्टेमें होती है। फिर गुदनलिकामें प्रवेश होनेपर प्रायः मलवेग उपस्थित होता है। प्रायः श्रोणिगुहास्थित बृहदन्त्रके भीतर गति सामान्यतः कुछ तेजीसे होती है।

मलावरोध प्रकार—

१. अन्त्रगत बद्धकोष्ठ (Intestinal constipation)—इस प्रकारमें अन्त्र की निर्बलता वातनाड़ियोंकी शिथिलता या अन्त्रके भीतर अवरोध होनेपर आहार रस मन्दगतिसे आगे बढ़ता है। प्रायः बृहदन्त्रमें अधिक देर होती है। चि० प्र० नं० ४३

२. **गुदनलिकामें मलसंचय** (Dyschezia)—इस प्रकारमें अन्त्र क्रिया योग्य होनेपर भी मांसपेशियोंके दबावका ह्रास या अर्श आदि व्याधि अथवा गुदनलिकामें विद्रधि आदिके हेतुसे श्रोणिगुहास्थित बृहदन्त्र और गुद-नलिकामें शिथिलता होनेसे मल संगृहीत रहता है।

३. **शोषणाधिक्य** (Greedy Colon)— इस प्रकारमें बृहदन्त्रके भीतर द्रवका शोषण अत्यधिक होनेसे मल कठोर बन जाता है।

अनेक मनुष्य बार-बार जुलाब लेते रहते हैं ; जिससे आंतोंको शक्तिसे अधिक कार्य करना पड़ता है। जिस तरह अधिक परिश्रम करनेपर अधिक समय तक विश्रान्ति लेनी पड़ती है; उस तरह आंतोंको भी विरेचनके पश्चात् अधिक शान्तिकी आवश्यकता रहती है। किन्तु आवश्यक शान्ति न मिलनेपर वे अपना कार्य सुचारु रूपसे नहीं कर सकती। इसलिये विरेचनसे उदर शुद्धि हो जानेके पश्चात् पुनः थोड़े ही समयमें मल संगृहीत हो जाता है; जिससे रोगी पुनः-पुनः या नित्य प्रति विरेचन औषध लेनेका आदी हो जाता है।

जो मनुष्य वस्तिसे उदरशुद्धि करते हैं, उनकी मान्यतानुसार बस्तिसे विरे-चनके समान दोनों आंतोंको परिश्रम नहीं पहुँचता; केवल बड़ी आंतको सामा-न्य कष्ट पहुँचता है और लाभ अधिक होता है। कदाच यह मान्यता सत्य हो, फिर भी बार-बार बस्ति लेते रहना, यह क्रिया नैसर्गिक नियमके विरुद्ध होनेसे बड़ी आंतको निर्बल और पराधीन बनाती है। एवं बस्तिमें लिये हुये द्रवमेंसे कुछ अंशका शोषण रक्तमें हो जाता है, जिससे अनेक व्याधियोंकी उत्पत्ति हो जाती है. एवं वातनाड़ियोंको आघात भी पहुँचता है। इसी हेतुसे भगवान् धन्वन्तरिने सुश्रुत-संहितामें लिखा है, कि :—

> स्नेहवस्तिं निरूहं वा नैनमेवातिशीलयेत् ।
> स्नेहादग्निवधोत्क्लेशौ निरूहात्पवनाद्भयम् ॥
> सम्यङ्निरूढलिंगे तु प्राप्ते वस्तिं निवारयेत् ।
> अपि हीनकर्म कुर्यान्न तु कुर्यादतिक्रमम् ॥

स्नेह बस्ति या निरूह बस्ति, दोमेंसे किसी एकका सेवन बारबार नहीं करना चाहिये। कारण, अति स्नेह बस्तिसे जठराग्निका नाश और उत्क्लेशकी उत्पत्ति; तथा अति निरूह बस्तिसे वातप्रकोपका भय रहता है।

जब सम्यक् प्रकार निरुहण हो जाय, तब बस्ति कर्म बन्द कर देना चाहिये। इस बातको लक्ष्यमें रखें कि हीन क्रम भले ही हो: किन्तु अति क्रम अर्थात् मर्यादासे अधिक बार बस्ति कर्म नहीं करना चाहिये।

इस दृष्टिसे बस्तिका व्यसन भी दुःखदायी ही है। बस्तिके व्यसनी कुछ काल तक अपथ्य भोजन और असमयपर भोजनसे हानि होते हुए भी हानिका

अनुभव नहीं कर सकते। किन्तु व्यसनसे बद्ध हो जानेके पश्चात् पछताते रहते हैं। इस तरह स्वाभाविक नियमोंको तोड़ने वाले सबको कष्ट पहुँचा और पहुँच रहा है। अतः बुद्धिमानोंके लिये ईश्वररचित नियमोंके अनुकूल जीवन बना लेना यही मलावरोध और अन्य सब प्रकारके रोगोंसे बचनेका श्रेयस्कर मार्ग है।

सुश्रुताचार्य कथित आनाहके लक्षण—आम अथवा मल क्रमशः बड़ी आँतमें संचित हो; फिर प्रकुपित वायुसे बद्ध होकर या सूखकर अपने मार्ग द्वारा बाहर न निकल सके; तब वह आनाह रोग कहलाता है।

यदि आम (अपाचित कच्चे आहार रस) से आनाह रोग हुआ हो, तो तृषा, प्रतिश्याय, शिरःशूल या मस्तिष्कमें दाह, आमाशयमें शूल, उदरमें भारीपन, हृदयका जकड़ना और डकार रुकना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

मलसंग्रह (रोज थोड़ा-थोड़ा मल शेष रह जानेके हेतुसे होने वाले मल संचय) से आनाह होनेपर कमर और पीठ जकड़ना, मल-मूत्रकी अप्रवृत्ति, उदरशूल, मूर्च्छा, मलकी वान्ति, तमक श्वास (हाँफ चढ़ना), अलसक रोगमें कहा हुआ आफरा, अधोवायुका अवरोध और आहारकी सम्यक् गति न होना इत्यादि लक्षण उपस्थित होते हैं।

लक्षण—सार्वाङ्गिक सामान्य लक्षण क्रियामान्द्य है। यद्यपि जीर्ण मलावरोधमें प्रायः स्वास्थ्य बना रहता है; तथापि मुखमण्डल मलिन, नेत्रकी श्लैष्मिक कला मैली, किञ्चित् कामला जैसी आभायुक्त, जिह्वा मललिप्त, क्षुधा मन्द, श्वासमें भारीपन, शौच सामान्य जैसा न होना, अपूर्ण, कठिन, और प्रायः दृढ़ बँधा हुआ, अति पीला (या कालासा) मल, आम सामान्यतः होना, मलकी उग्रता होनेपर अतिसारका आक्रमण हो जाना, कभी-कभी अति गम्भीर मलावरोध (बृहदन्त्रका प्रसारण होनेपर), उदरशूल, मलकी गाँठ होनेपर पिघल कर अतिसार होना और बार-बार थोड़ा मल निकलना और दुर्गन्धयुक्त अधोवायु सरना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

सार्वाङ्गिक लक्षण रूपसे अवसन्नता, बेचैनी, मस्तिष्क शक्तिका ह्रास, चक्कर आना, शिर दर्द, गुदनलिका मलपूर्ण रहनेपर निद्रानाश आदि प्रकट होते हैं।

उदरका चिह्न पीछे खिंचा हुआ या स्फीत, विशेषतः गैस भरा रहनेसे प्रसारण; उदर दबानेपर मलकी गाँठ सरकना और बस्ति लेनेपर गाँठें दूर हो जाना, कभी दबाव होनेपर खड्डा होना, प्लीहाके मोड़पर अति क्वचित् संस्थिति और क्वचित् उण्डुकमें मल रह जाना। गुदनलिकामें सामान्यतः कठोर मल रहना और रिक्त होना, ये दृष्टिगोचर होते हैं।

परिणाममें अन्त्रका अनियमित आकुंचन, बाँये सांथलके अग्रभागकी

और्वीनाड़ी (Anterior crural nerve) पर दबाव, साँथलके पीछे या ऊरु संधिपर गुदनलिका का दबाव तीसरी, चौथी और पाँचवीं अनुत्रिका नाड़ीपर आना आदि विकृति उत्पन्न होती है।

हाथ-पैर टूटना, किसी-किसीको मलावरोधके हेतुसे मन्द ज्वर रहना, कचित् ज्वर बढ़ जाना, ये भी लक्षण होते हैं। इन लक्षणोंमेंसे कभी अमुक प्रकारके लक्षण तो दूसरी बार भी हो जाते हैं। इस तरह एक मनुष्यके लिये एक प्रकारके लक्षण और दूसरेके लिये दूसरे प्रकारके, ऐसा भेद भी हो जाता है।

अनेकोंको दिनमें २-३ समय मलत्याग होता है, तब अनेकोंका अभ्यास २४ घण्टेमें १ बार ही शौच जानेका होता है। एक समय शौच जाने वालोंको १ बार या २-३ समय जाने वालोंको २-३ बार नियमित समयपर मलत्याग न हो, तो कब्ज माना जाता है। किन्तु जलपान कम होने, स्वादु भोजन न मिलने, आहार कम होने, जागरण होने या रात्रिको शीत लग जानेसे कुछ घण्टोंके लिये कभी मल रुक जाय, तो उसके लिये भ्रमित होकर औषधका सेवन नहीं करना चाहिये। प्रकृतिको प्राकृतिक नियमोंके अनुकूल बनाकर नियमित शौच-शुद्धिका प्रयत्न करना चाहिये।

आम जनित आनाहके लक्षण अपचन जनित नूतन मलावरोधमें मिलते हैं; तथा मलजनित आनाहके लक्षण बड़ी आंत विस्तृत और शिथिल हो जानेके पश्चात् मलकी अधिक रुकावट होनेपर होते हैं। किन्तु वर्त्तमानमें जो कब्ज प्रतीत होता है, उसमें प्रायः प्रतिदिन कुछ अंशमें मल शेष रह जाना, दोनों आंतोंकी शिथिलता, पाचक रसकी कम उत्पत्ति, वात, पित्त, कफ, तीनों दोषोंकी निर्बलता, प्रमेह और शुक्रविकृति आदि मिश्रित लक्षण देखनेमें आते हैं।

उपद्रव भावी क्षति और परोक्ष प्रभाव--

१. स्वास्थ्यमें न्यूनता होनेसे—पाण्डु, व्रण-विद्रधि, तारुण्यपिडिका (Acne vulgaris) आदि विकार होना।
२. उदरके अन्तर्गत दबाववृद्धिसे—अन्त्रावतरण, अर्श, संन्यास (Apoplexy) और हृत्स्पन्दन वृद्धि (अत्यधिक दबाव होनेपर)।
३. अन्त्रकी श्लैष्मिक कलाकी उग्रता जनित—शेषान्त्रक पुच्छप्रदाह (Diverticulitis) और कुण्डलिकावरणप्रदाह (Perisigmoiditis)।
४. मल संचय जनित—अन्त्र अन्त सीमा तक प्रसारित हो जाना, अन्त्रावरोध होना, असमयपर या रात्रिको मलका निर्गमन होना।

इनके अतिरिक्त पित्ताश्मरी, बृहदन्त्र प्रदाह कभी उपान्त्र प्रदाह और कभी अत्यधिक प्रसारण होनेपर अन्त्रस्थ स्नायुओंका टूटना आदि उपद्रव हो जाते

हैं। एवं अन्त्रव्रण, आमाशयकी शिथिलता, अर्बुद, उदरकृमि, मुँहसे दुर्गन्ध आना, दन्तवेष्ट (Pyorrhoea), अतिसार, प्रवाहिका, बहुमूत्र आदि भी उपस्थित होते हैं।

इस तरह स्मरण शक्तिका ह्रास, चित्तकी अप्रसन्नता, निरुत्साह, चिड़-चिड़ापन, रक्ताभिसरण क्रियामें प्रतिबन्ध, शिरदर्द, निद्राभंग, निस्तेजता, अरुचि, अग्निमांद्य, दृष्टिमान्द्य, ज्वर, तमक श्वास, कफवृद्धि, प्रमेह, स्वप्नदोष, शुक्रस्राव, वृक्कस्थान भ्रंश, गर्भाशयका पीछेकी ओर पतन, स्तनरोग, मूत्राशय विकृति, इनमें से कोई-न-कोई उत्पन्न हो जाते हैं।

—बद्धकोष्ठ चिकित्सोपयोगी सूचना—

बद्धकोष्ठकी चिकित्सा रोगोत्पादक कारणोंपर निर्भर है।

मूल कारणको हटाना चाहिये। धैर्यपूर्वक प्रकृति अनुरूप आंतोंको बलवान बनानेका नैसर्गिक उपाय करना चाहिये। अर्थात् उपःपान (प्रातःकाल उठनेके समय जलपान), व्यायाम, नियमित समयपर प्रकृतिके अनुकूल परिमित भोजन, आवश्यक निद्रा, रात्रिको जल्दी सो जाना, सुबह जल्दी उठना, शुद्ध वायुका सेवन, मल-मूत्र आदि वेगोंको न रोकना, दिनमें भोजन कर लेनेपर पौन घण्टा विश्रान्ति, दिनमें निद्रा न लेना, ब्रह्मचर्य, मानसिक चिन्ताका त्याग और धैर्य आदि नियमोंका आग्रहपूर्वक पालन करना चाहिए।

व्यायाम और भ्रमणसे अन्त्र परिचालन शक्ति बढ़ती है। यकृत्पित्तका स्राव अधिक होता है। उदरमें रक्त संचालन क्रियामें वृद्धि होती है। अतः मलावरोधके रोगीके लिये व्यायाम, अश्वारोहण, परिश्रम, भ्रमण आदि अति लाभदायक हैं।

स्वास्थ्यके संरक्षणार्थ श्री वाग्भट्टाचार्यने लिखा है, कि—

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत्स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।

मनुष्यको स्वस्थता और आयुके रक्षणार्थ ब्राह्ममूहूर्त्तमें (सूर्योदयसे १॥ घण्टे पहले) उठना चाहिए।

उषःपान—प्रातःकाल उठनेपर ईश्वरका ध्यानकर फिर जलके ४-६ कुल्ले करें। पश्चात् उषःपान अर्थात् जलपान करें, यह अत्यन्त लाभदायक है। जिस तरह मोरी जलसे धोनेपर साफ हो जाती है, उस तरह उषःपानसे रक्त, आंतें और मल मूत्राशय आदि साफ हो जाते हैं; तथा बिना उपचारके अनेक रोगोंकी उत्पत्तिका निरोध होता है। दर्शनशक्ति, घ्राणशक्ति, पचनक्रिया और स्मरण शक्तिकी वृद्धि होती है।

रात्रिके तृतीय प्रहरके अन्तमें (या जब सुबह उठें तब) उषःपान करनेसे

अर्श, शोथ; संग्रहणी, ज्वर, उदर रोग, अकालमें वृद्धावस्था, मलावरोध, मेद-वृद्धि, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, पित्तप्रकोप, वातवृद्धि, कर्ण रोग, शिर-दर्द, कण्ठ रोग, कटिपीड़ा, नेत्रकी निर्बलता तथा वातज, पित्तज, रक्तज, कफज द्वन्द्वज और त्रिदोषज व्याधियाँ दूर होती हैं। गुद नलिकामें मल संग्रहीत रहता हो या बृहदन्त्रमें द्रवशोषण अधिक होता हो, इन दोनों प्रकारोंपर उषःपान अति लाभदायक माना जाता है।

उषःपानके लिये रात्रिको जल ताम्रपात्रमें भरकर रख देवें। सुबह ऊपरसे थोड़ा जल निकालकर शेष जलको छान लगभग आधा सेर पी लेवें। शीतकाल में कुछ कम और उष्णकालमें कुछ अधिक पीवें। शीत कालमें जल अति शीतल न हो जाय, इसलिए जलको सम्हाल पूर्वक रखें अर्थात् लोटेपर वस्त्र ढक दें या ताजा कूप-जल निकाल कर पीवें।

सूचना—यह जलपान नूतन ज्वर, आमवृद्धि, कफप्रकोप; तीव्र वातव्याधि श्वास, कास, क्षय, हिक्का, आध्मान, पीनस, आमाशय रसकी न्यून उत्पत्ति जनित अग्निमांद्य, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, नूतन प्रतिश्याय; मधुमेह, विसूचिका इन रोगोंमें हितकर नहीं है एवं स्नेहपान करने वालोंको भी उषः पान नहीं करना चाहिये।

यदि सामान्य कफवृद्धि या आमवृद्धि वाले रोगियोंको देना है, तो तुरन्त गरम करा फिर कुन कुना रहनेपर देनेमें बाधा नहीं है।

उषःपान शौच जानेके पहले हो करना चाहिये। शौचके पश्चात् न करें। अग्निमांद्य, आध्मान, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, नूतन, प्रतिश्याय, हिक्का, मधुमेह, नूतन ज्वर और अति कफ प्रकोप होनेपर तो प्यास लगे बिना जल बिलकुल नहीं देना चाहिये।

अनेक मनुष्य नाकसे जलपान करते हैं, किन्तु यह हितकर नहीं है। ईश्वर ने नाक श्वासोच्छ्वास और गन्धके उपयोगार्थ बनायी है। जलपानके लिये मुँह ही दिया है। अतः मुँहसे ही जलपान करें। नाकसे जलपान करनेपर नाकमें रहा हुआ श्लेष्म उदरमें जाता है।

जिनको सूतनेति और जलनेति (योगिक क्रिया) करनेका अभ्यास हो; नित्य प्रति नियमित समयपर पथ्य सात्विक भोजन और प्राणायामका सेवन करते हों, शरीर नीरोगी हो, और शुद्ध वातावरणमें रहते हों, उनके लिये ही रात्रिके तृतीय प्रहरमें नासिकासे उषःपान करनेका विधान है। शेष सबको मुखसे ही जलपान करना चाहिये।

प्राचीन आचार्योंने उषःपानकी महिमा लिखी है—

विगतघननिशीथे प्रातरुत्थाय नित्यं,
पिबति खलु नरो यो घ्राणरन्ध्रेण वारि।
स भवति मतिपूर्णश्चक्षुषा तार्क्ष्यतुल्यो,
वलिपलितविहीनः सर्वरोगैर्विमुक्तः ॥

जो मनुष्य नित्य ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठकर नासापुटसे जलपान करता है, वह बुद्धिमान होता है। उसकी दृष्टि गरुड़के समान तेजस्वी होती है; तथा वलीपलित रहित और सब रोगों मुक्त होता है।

नाकसे जल पीनेकी यह विधि नगर निवासी व्ययसायी जीवन वाले और रोगियोंके लिये हितकर नहीं, बल्कि हानिकर है। उनके लिये मुखमार्गसे जलपान करना लाभप्रद होता है।

मलावरोधके रोगियोंको स्नान नित्यप्रति निवाये जलसे करना चाहिये। शीतल जलसे स्नान शीतकालमें हानि पहुँचाता है। यदि हठयोगमें कहे हुए आसनोंका अभ्यास किया जाय, तो मलावरोध दूर हो सकता है। इसका विवेचन अन्यत्र किया है। इस पुस्तककी सीमाके बाहर होनेसे यहाँ यौगिक क्रियाओंका वर्णन नहीं किया।

भुक्त्वा पादशतं गत्वा वामपार्श्वे तु संविशेत्।
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धांश्च मनसः प्रियान्।
भुक्त्वानुपसेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति ॥"

दिनमें भोजन कर लेनेके पश्चात् बांयी करवट लेटना हितकर है। जलादि पेयका अधिक पान, अग्निसे तापना, तैरना, व्यायाम, मैथुन, दौड़ना, बाहर गाँव जाना, युद्ध करना, गाना और पढ़ना, इन सबको पौन घण्टे तक तो छोड़ ही देना चाहिये। दिनमें अधिक निद्रा लेना और सारे दिन बैठे रहना, ये भी मलावरोधके रोगीको हानिकर हैं।

भोजनमें मोटे और चोकदार आटेकी अच्छी रीतिसे सेकी हुई रोटी, अन्त्र गति उत्पादक शाक-भाजी और आवश्यक फल आदि लेते रहनेसे कब्ज रोग शनैः-शनैः कम होता जाता है। आहार शुष्क है, तो बीचमें जल पीना चाहिये; एवं उष्ण ऋतुमें भोजनके बीचमें जलपान करना ही चाहिये। यदि आहार नरम है, तो जलपान नहीं करना चाहिये। भोजन हो जानेपर दुग्धपान करें, तो जलपान एक घण्टे या दो घण्टेके पश्चात् करना चाहिये। जलपान जल्दी न करनेसे आमाशयमेंसे ही आधे आहार रसका शोषण हो जाता है, और आमाशय-तल या आँतोंपर अधिक बोझा नहीं पड़ता। यदि आमाशयमें दाह होता है, तो जलपानमें उतनी देरी नहीं करनी चाहिये। रात्रिको सोनेसे कुछ समय पहले निवाया दूध या निवाया जलपान करते रहनेसे प्रातःकाल शौच

शुद्धिमें सहायता मिल जाती है।

एलोपैथिक मत अनुसार जिनको मल शुष्क हो जानेसे मलावरोध रहता हो, उनको भोजनके आध घण्टे पहले एक ग्लास जल पी लेना चाहिये। पित्तप्रधान प्रकृतिवालोंके लिये यह हितकर है एवं आमाशयकी शिथिलता वालोंके लिये भी लाभदायक है।

भोजनके पश्चात् उदरपर कभी मालिश नहीं करानी चाहिये। किन्तु उदरपर हलका हाथ फेरना लाभदायक माना गया है। मालिश करानेपर अन्त्र शिथिल होता है तथा अयोग्य आहर रस बड़ी आँतमें चला जाता है, तो मलावरोधका हेतु होता है (उपान्त्रमें गमन करे तो उपांत्रप्रदाह होता है)।

कारण भेदसे चिकित्सा—

१. अन्त्रकी शिथिलतापर—व्यायाम, चोकरदार मोटे आटेकी रोटी, भोजनमें पत्ती वाले हरे शाक अधिक लेना, रात्रिको जल्दी सो जाना, दोपहरको भोजनके बाद एक घण्टे तक परिश्रम न करना, अन्त्रमें चिपकने वाले मैदा आदि पदार्थोंका उपयोग कम करना आदि हितावह है। उदरमें मल न हो तब तैल लगाकर हलके हाथसे मालिश करावें। उदरका शीतसे रक्षण करें।

अन्त्रकी वात नाड़ियोंकी शिथिलता होनेपर अभ्रक, नागभस्म या कुचिला प्रधान औषध, वायु भरा रहता हो तो हींग या कुचला प्रधान औषध, प्रदाह होनेपर प्रदाह-नाशक उड़नशील तैल प्रधान (सौंफ, लौंग, इलायची आदि) या पारद घटित औषध, कृमि होनेपर कृमिघ्न औषध तथा श्लैष्मिक कलामें विकृति होनेपर ईसबगोल, बेलगिरी, बादाम तैल आदि स्निग्ध औषधका सेवन कराना चाहिये।

२. आमाशय रसकी न्यूनता—भोजन हलका शीघ्र पचन हो वैसा करें। पाचक रस उत्पन्न कराने वाले क्षारयुक्त मसाले और औषधका सेवन करें। चाय आदि गरम पदार्थ और बर्फ आदिका त्याग करें। ज्वर, पाण्डु आदि रोग-जनित निर्बलता हो, तो उसे दूर करें। आमाशय शिथिल हो तो डकार लाने वाली औषध लेवें एवं भोजन थोड़ा-थोड़ा करें।

३. यकृत्के पित्त और अन्त्रस्रावकी न्यूनता होनेपर—मिर्च आदि मसालोंका सेवन करें। ताम्र प्रधान औषध लेवें।

४. बृहदन्त्रकी द्रवशोषण क्रिया होनेपर—उष:पान भोजनके आध घण्टे पहले जल पान, भोजनके बीचमें जल-पान या भोजनके अन्तमें दूध या मट्ठेका सेवन, शीतल जलसे स्नान, सूर्यके तापमें कम घूमना, अग्निके पास कम बैठना और रात्रिको तैल प्रधान भोजनका कम सेवन आदि हितावह हैं।

५. **गुदनलिकामें मल संग्रहीत हो तो**—उष:पान, ग्लिसरीनकी पिचकारी, जीर्ण रोगमें गुलकंद, हरड़, एरण्ड तैल, रेवाचीनी, अथवा लवण प्रधान औषधियोंका सेवन, जीर्ण रोगमें १-१ दिन छोड़कर ५-७ बार एरण्डतैल मिश्रित बस्ति, तीव्र रोगमें साबुन मिश्रित जलकी बस्ति या दीपन पाचन औषध (सोंठ आदि) के साथ एरण्ड तैलका सेवन एवं मुनक्काका सेवन भी हितावह है।

६. **उदरमें वायु संग्रहीत रहती हो तो**—कुचिला या हींग प्रधान औषध व्यायाम, भ्रमण आदिका सेवन।

७. ज्वर, पाण्डु, कामला और आमातिसार, यक्ष्मा, प्रमेह आदि रोगोंसे मलावरोध रहता हो तो मुख्य रोगको दूर करनेके लिये योग्य उपचार करना चाहिए।

उदर कठोर होनेपर उदरपर रात्रिको सोते समय तैल वाला हाथ लगा कुछ कम सेकी हुई मोटी रोटी बाँधते रहें। ४-६ रोज तक बाँधने पर अन्त्रमें चिपके हुए मल शिथिल होकर खुल जायँगे। आवश्यकता अनुसार रात्रिको सौम्य विरेचन या प्रात:काल लवण प्रधान विरेचन या एरण्ड तैल लेना चाहिये। बालकोंको हो सके तब तक विरेचन नहीं देना चाहिये। कभी आवश्यकता हुई तो एरण्ड तैल देवें।

इस बातको स्मरण रखना चाहिए कि बार-बार लावणिक विरेचन लेनेसे पाण्डुताकी वृद्धि होती है और रोगी कृश होता है। पारद घटित अथवा उसारे रेवन, थूहरका दूध, जेलप, कोलोसिन्थ, या जमालगोटा मिश्रित औषध बार-बार लेनेपर आमाशय और अन्त्रमें प्रदाह उपस्थित होता है। एरण्ड तैल और रेवाचीनी लेते रहनेसे बार-बार मलावरोध होने लगता है। एलुवा, सनाय-पत्ती और उपर्युक्त सब औषधियाँ वृक्क स्थानको उग्रता पहुँचाती हैं एवं किसी एक ही प्रकारका विरेचन बार-बार लेते रहनेपर रक्तमें विष संग्रहीत होता है। अत: प्रति दिन विरेचन नहीं लेना चाहिए एवं आवश्यकता अनुसार भिन्न-भिन्न औषध लेनी चाहिए।

कच्चा मल बाहर फेंकना हो तब अमलतासका गूदा अति उपयोगी है। आहारको पचन कराकर मल शुद्धि कराना इष्ट हो तो हरड़ या त्रिफला उत्तम है। सौम्य विरेचन एलुवा प्रधान या स्वादिष्ट विरेचन आदि लेना हो तो रात्रिको लेना चाहिए, क्योंकि, उसमें ६-८ घण्टे बाद उदर शुद्धि होती है। एरण्ड तैल, लवण प्रधान, जमालगोटा, निशोथ आदि लेना हो, तो प्रात: काल में लेना चाहिए।

क्वचित् अधिक भोजन या अपथ्य भोजन आदि कारणसे मलावरोध हो गया हो, तो मल शुद्धिकर सामान्य औषध-त्रिफला, पञ्चसकार, एरण्ड तैल

आदि या वस्ति, ग्लिसरीनकी पिचकारी या ग्लिसरीनकी बत्ती, इनमेंसे किसी एकको अनुकूलता अनुसार प्रयोगमें लावें।

तीव्र मलावरोध हो या कभी-कभी हो जाता हो तो साबुनके जलकी वस्ति द्वारा उदरशुद्धि कर लेना, यह औषध सेवनकी अपेक्षा अच्छा माना जायगा। किन्तु सामान्य मलावरोध होनेपर इसका उपयोग नहीं करना चाहिये। विरेचन और वस्तिका विवेचन शरीरशुद्धि प्रकरणमें किया है। इसका विशेष विचार रुग्ण परिचर्यामें विस्तार पूर्वक किया है।

ग्लिसरीन पिचकारी द्वारा १ औंस गुदासे चढ़ायी जाती है, इससे मल मार्ग स्निग्ध होकर विना क्षोभ हुए मल स्वत: आ जाता है। इस तरह उसकी बत्ती गुदामें चढ़ानेसे भी मलशुद्धि हो जाती है। बालकोंके लिये इस बत्तीका अधिक उपयोग होता है।

ईसबगोल ३-३ माशे जलमें भिगो, थोड़ा बादामका तैल मिला दिनमें २ समय प्रात:-सायं लेते रहनेसे आंतोंकी श्लैष्मिक कलाकी विकृति दूर होकर और आँतें बलवान बनकर नियमित मलशुद्धि होने लगती है। प्रारम्भके ३ दिनोंमें कुछ कष्ट हो, तो सहन कर लेना चाहिये।

दुराग्रही मलावरोध बना रहता हो और आंतें शिथिल हों तो डाक्टरी मत अनुसार पेराफिन लिक्विडका सेवन कराया जाता है या कभी रात्रिको ४ औंस जेतून या तिल्लीका तेल चढ़ावें और सुबह साबुन जलकी वस्ति देकर उदर शुद्धि करा लेवें।

ताप्यादि लोह २-२ रत्ती जलके साथ या नाग भस्म २-२ रत्ती दूध या मक्खन-मिश्री (१-१ तोला) के साथ एक दो मास तक सेवन करनेसे आँतकी शक्ति (मलको बाहर निकालनेकी) सबल होकर बद्धकोष्ठ दूर हो जाता है। हरड़के ४ माशे चूर्णमें काला नमक ४ रत्तीसे १ माशा मिला रात्रिको सोनेके समय निवाये जलके साथ ले लेनेसे भोजनका सम्यक् परिपाक होकर सुबह १ दस्त साफ आ जाता है।

पाचक रसका स्राव कम होता हो, तो अग्निकुमार रस या क्रव्याद रसका सेवन करना चाहिये।

आँतें शिथिल हों, तो अभ्रक भस्म, जातिफलादि चूर्ण १-१ माशा या अग्नितुण्डी वटी लेवें या चन्द्रप्रभा वटी एक दो मास तक सेवन करने और सुबह शाम घूमनेसे आंतोंकी शिथिलता मूत्रविकृति और मलावरोध दूर हो जाते हैं।

बद्धकोष्ठ चिकित्सा।

मलशुद्धिकर औषधियाँ—यवानीखाण्डव चूर्ण, धनञ्जय वटी, विरेचन वटी, मृदुविरेचन वटी, स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण, तालीसादि चूर्ण, त्रिफला चूर्ण,

पंचसम चूर्ण, विरेचन चूर्ण, पंचसकार चूर्ण, नाराच चूर्ण, आरग्वधादि कल्क, आमविध्वंसिनी वटी ये सब मलको साफ करने वाली औषधियाँ हैं। एक या दो दस्त लाती हैं। आवश्यकतापर इनमेंसे प्रकृतिके अनुकूल औषधका सेवन करना चाहिये।

सरल विरेचन वटी—एलुवा, उसारेरेवन, हरड़ और सोंठ चारोंको सम-भाग मिलाकर कपड़-छान चूर्ण करें। फिर चूर्णके समान वजनमें मिश्रीकी चासनी कर थोड़ी शीतल होनेपर चूर्णको मिला २-२ रत्तीकी गोलियाँ बनावें। इनमें से १ से २ गोली निवाये जलके साथ प्रातःकाल देनेसे २-३ घण्टेमें दो दस्त साफ आजाते हैं। इस औषधसे उदर पीड़ा या बेचैनी भी नहीं होती।

अपचन हो जानेके पश्चात् लङ्घन न हो सके और मलको बाहर निकाल देना हो, तो मलशुद्धिकर औषधका उपयोग करें। किन्तु जब तक बिना औषध कार्यकी सिद्धि होती हो, तब तक औषधका उपयोग न करना ही अच्छा है।

गुलकन्द, आँवलेका मुरब्बा, हरड़का मुरब्बा, मुनक्का (काली मुनक्का विशेष हितकर), इनमें भी सारक गुण रहा है। विरेचन औषध लेनेकी अपेक्षा ऐसी सामान्य वस्तुसे उदरशुद्धि कर लेना, यह कम हानिकारक माना जाता है।

विरेचक औषधियाँ—नारायण चूर्ण, जुलावकी मुंजिस, आरग्वधादि क्वाथ, इच्छाभेदी रस, इनके अतिरिक्त अनेक औषधियाँ शरीर शुद्धि प्रकरणमें विरेचन विधिके साथ लिखी हैं। इनमेंसे आवश्यकतापर मलको निकालनेके लिये प्रकृति और ऋतुके अनुकूल औषधका उपयोग करें।

जीर्ण कोष्ठबद्धतापर—अभ्रक भस्म, द्राक्षासव, कुमार्यासव, अभयारिष्ट, नाराच घृत, इनमेंसे आवश्यक औषधका उपयोग करें। अभ्रक भस्म आँतोंकी वातनाड़ियोंको सबल बनाती है। नाराच घृतसे चिपका हुआ पुराना मल निकल जाता है। शेष औषधियाँ अन्त्रगतिवर्धक, पाचक और सारक हैं। इन औषधियोंके सेवनकी अपेक्षा १-१ दिन छोड़कर ५-७ बार साबुन जलकी बस्ति ले लेना, यह विशेष अच्छा माना जायगा।

उपदंशजनित विकृतिसे बद्धकोष्ठ हो तो—बोलपर्पटी (दूसरी विधि) या गन्धक रसायनका सेवन कराना चाहिये। गन्धक रसायन रक्तविकार, कुष्ठ, उपदंश आदि रोगोंके कीटाणु, दाह, अग्निमांद्य, प्रमेह और अन्त्रविकारको दूर करता है। बोलपर्पटी (काले बोलमेंसे बनी हुई) मलशुद्धिमें हितकारक है।

सुजाकके पश्चात् बद्धकोष्ठ हो तो—गन्धक रसायन, हरिशंकर रस या चन्द्रप्रभा वटीका सेवन कराना लाभदायक है। अथवा गोक्षुरादि गूगल ४-६ मास तक देकर सुजाकके विषको नष्टकर देना चाहिये।

एलोपैथिक चिकित्सा।

जीर्ण मलावरोधपर:—

(१) पोडॉफिली रेझीना	Podophylli Resina	१ ग्रेन
पिल्थुला रिहाई को०	Pil. Rhei Co.	१० ग्रेन
एक्सट्रेक्ट हायोस्यामी	Ext. Hyoscyami	४ ग्रेन

इन सबको मिलाकर ४ गोलियाँ बनावें। १-१ गोली १-१ दिन छोड़कर रात्रिको सोनेके समय देनेसे सुबह शौच शुद्धि हो जाती है।

(२) एक्सट्रेक्ट केसकेरा सेग्रेडा	Ext. Casc. Sag. Sicci	३ ग्रेन
,, नक्सवामिका	,, Nucis Vomica	$\frac{1}{4}$ ग्रेन
,, वेलाडोना	,, Belladonna	गोली बांधने लायक

इस परिमाणसे गोलियाँ बना लेवें। एक-एक गोली दिनमें २ बार देवें।

(३) पिल्थुला हाइड्रार्जिरी	Pil. Hydrargyri	३ ग्रेन
एक्सट्रेक्ट हायोस्यामी	Ext. Hyoscyami	१ ग्रेन
,, एलोभ	,, Aloes	१ ग्रेन

इस हिसाबसे गोलियां बना लेवें। रोज रात्रिको या एक-एक रात्रि छोड़ कर देते रहें। यकृद्विकार वाले रोगीके लिये यह हितकर है।

पथ्य—ब्रह्मचर्यका पालन, चोकरदार मोटे आटेकी रोटी, दलिया, मट्ठा, थोड़ा दूध, थोड़ा घी, तैल, पापड़, मूंगेड़ीका थोड़ा शाक, थोड़ी दाल, गुड़, शक्कर, नींबू, सन्तरा, मोसम्बी, अंगूर, थोड़ा अनार, थोड़ा सेव, बादाम, पिस्ता चिरौंजी, अमरूद, थोड़ी बेलगिरी, थोड़ा आम, अमचूर, इमली, सैंधानमक, आँवला, लाल मिर्च, हींग, धनिया, जीरा, हल्दी, कालीमिर्च, दालचीनी, लौंग, अदरक, ईख, उष:पान, व्यायाम, खुली वायुमें घूमना, नियमित समयपर शौच जाना (वेग न हो फिर भी नियमित समयपर जाना), दिनमें भोजन कर पौन घण्टा आराम करना, निवाये जलसे स्नान; टमाटर, चौलाई, बथुवा, मेथी, पालक, तोरई, घिया, नाड़ीशाक, अम्लोनिया, चूका, मूली, परवल, अजवायन के पान, गुँवारपाठाकी गांदल, ककोड़ा, करेला, बैंगन, टींडे, सुहिंजनेकी फली इत्यादि शाक, प्रातःकालके सूर्यके तापका थोड़ा-थोड़ा सेवन, समुद्र किनारे घूमना, पूरी निद्रा लेना इत्यादि लाभदायक हैं।

मूत्रकी प्रतिक्रिया क्षारीय हो, तो नींबूके रसको जलमें मिला थोड़ा सैंधानमक या शक्कर डाल कर पिलानेसे मलशुद्धि होती है। यदि मूत्रकी प्रतिक्रिया अम्ल है और मुखपाक हो, तो मट्ठा, नींबू, खट्टे फल, ये सब पूरा लाभ नहीं पहुँचा सकते। अम्ल प्रतिक्रिया होनेपर जौकी रोटी थोड़े घी वाली हितकर है।

यकृत्के बल अनुसार घी, तैलका सेवन करना चाहिये।

रात्रिको जल्दी सोना, सुबह जल्दी उठना, फिर थोड़ा जलपान कर घूमना और वेग उत्पन्न होनेपर मल त्याग करना, ये सब लाभदायक हैं।

रात्रिको सोनेके समय एक ग्लास निवाया जल ४-६ रत्ती सैंधानमक मिलाकर पीनेसे सुबह मलशुद्धि हो जाती है। उपदंश, सुजाक आदि पहले हो गये हों, या शुक्रस्राव बार-बार होता रहता हो, अथवा पित्तमें अम्लता अधिक है तो खट्टे भोजन ओर चावल आदि अम्लविपाक वाली वस्तुएं नहीं खाना चाहिये।

अपथ्य—उपवास, कम भोजन, अति भोजन, चावल, मैदा, बारीक आटेकी रोटी, जुवार, मक्की, बाजरी, चनेका पदार्थ, ज्यादा दाल खाना, उड़द, मसूर, अरहर, सेम, मटर, भोजनपर भोजन, असमयपर भोजन, पक्का भोजन, अति शीतल जलपान, शीतल जलसे स्नान, शीत लगे ऐसे वस्त्र पहनना, अधिक प्रवाही वस्तुओंका सेवन, ज्यादा दही, मलाई, कच्चा काशीफल, सरसों की पत्ती, गिलोयकी पत्ती, ककड़ी, कन्दूरी, सेम, आलु, रतालु, महुआ, गाजर, केला, भसींडा, (कमलकी जड़), कटहल, कैथ, भिण्डी, गोभी, लिहसोड़ा, बार-बार जुलाब लेना, चाय, कॉफी, सिगरेट, बीड़ी, तमाखू, अफीम, भांग, गांजा, शराब, मैथुन, बर्फ, मांसाहार, अधिक मसाला, मल-मूत्र और अधोवायुका अवरोध, मानसिक चिन्ता, दिनमें शयन, रात्रिका जागरण, आर्द्र या अंधकार वाले मकानमें रहना, ये सब अपथ्य माने हैं।

सिंघाड़े, पक्के शहतूत, फालसा, अनार, सेव, नासपाती, केला, जामुन, अखरोट, चिलगोजे, आम, पक्के कटहल, फूट, नारियल, खजूर, कमलगट्टा, खिरनी, तरबूज, खरबूजा, ककड़ी, ताड़फल, बेलफल इत्यादि फल अधिक मात्रामें ग्राही होनेसे अपथ्य हैं।

बार-बार जुलाब या बार-बार बस्ति लेना, ये परिणाममें दुःखदायी हैं।

(९) अर्श।

(बवासीर-हिमरॉइड्स-पाइल्स—Haemorrhoids-Piles)

अर्श सामान्यत: २ प्रकारके होते हैं–१ शुष्क अर्श और २ आर्द्र अर्श। अर्शका ज्ञान रखने वाले वैद्य वात प्रबल या कफ प्रबल या वातकफ प्रबल अर्शोंको शुष्क अर्श कहते हैं। इनसे रक्तस्राव नहीं होता। जो अर्श रक्त प्रबल या पित्त प्रबल अथवा रक्त पित्त प्रबल होते हैं, उनसे रक्तस्राव हुआ करता है वे आर्द्र अर्श कहाते हैं।

वात आदि दोष कुपित होनेपर वे त्वचा, रक्त, मांस और मेद धातुको दूषित कर गुदाकी बलियोंपर मांसके अंकुर उत्पन्न कर देते हैं, उसे अर्श कहते

हैं। या गुदा और गुदनलिकाकी ३ वलियोंमें रही हुई अशुद्ध रक्तवाहिनीका विस्तारवृद्धि होनेको अर्श कहते हैं।

गुदनलिकाका अन्त भाग ५।। अंगुल लम्बा है, उसे सुश्रुतसंहितामें गुदा कहा है। उस स्थानमें लगभग १।।-१।। अँगुलकी ३ वलियाँ हैं। प्रवाहिणी, विसर्जनी और संवरणी, ये तीनों वलियाँ शंखकी आँटीके समान एकके ऊपर एक रही हैं। इनके बाहर गुदाका ओष्ठ है, जो आधे अँगुल प्रमाणका है। इसके ऊपर प्रथम संवरणी वलि २ अँगुलकी, दूसरी विसर्जनी १।। अँगुलकी और तीसरी प्रवाहिणी भी १।। अंगुलकी है।

इन वलियोंके बोधके लिये शरीरविदोंने गुदनलिकाके ३ भागोंकी कल्पना की है। उत्तरगुद, मध्यगुद और अधरगुद। उत्तरगुद ४।। अंगुल लम्बा थाली सदृश विशाल है। मध्यगुद २ से ३ अँगुल लम्बा और अधरगुद १।। से २ अँगुल लम्बा है। उत्तरगुद वाला हिस्सा मलको नीचे धकेलता है, अतः उसे प्रवाहिणी; दूसरे मध्यगुदका काम गुदाको चौड़ी करके मलको बाहर निकालना है, अतः उसे विसर्जनी और तीसरी अधरगुद (गुद संकोचनी दो पेशियों से बनी हुई वलि) गुदद्वारका संकोचन करती है अतः उसे संवरणी संज्ञा दी है।

किसीको अर्श बाहर और किसीको भीतर होते हैं। आखिरीकी वलिके मस्से जो बाहर दीखते हैं, उनको बाह्यार्श (External Piles) और अन्तरकी वलिके मस्से जो नहीं दीखते, उनको अन्तरार्श (Internal Piles) कहते हैं।

अन्तरार्श प्रारम्भमें मुलायम होते हैं, फिर शनैः-शनैः कठोर होते जाते हैं, तब इनमें वेदना बनी ही रहती है; और इनमेंसे बार-बार गरम-गरम रक्त टपकता रहता है। इन रक्तस्रावीको रक्तार्श (खूनी बवासीर Bleeding Piles) भी कहते हैं। बाह्यार्शमेंसे रक्त नहीं निकलता; इसलिये उन्हें शुष्कार्श (बादी बवासीर) कहते हैं। बाह्यार्शमें बार-बार शोथ और जलन हो जाती है।

इस अर्श रोगमें प्रकृति भेदसे वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, रक्तज और सहज (वंश परम्परागत), ऐसे ६ विभाग किये हैं। अष्टांङ्गहृदयकारने सहज अर्शको छोड़ द्वन्द्वज मिलाकर ६ भेद दिखाये हैं।

अर्शहेतु और संप्राप्ति—गुरु (भारी), मधुर, शीतल, अभिष्यन्दी, विदाही, विरुद्ध भोजन, पूर्व भोजनके जीर्ण न होनेपर पुनः भोजन करना, स्वल्प भोजन तथा असात्म्य भोजन तथा गोह, मछली, सूअर, भैंस, बकरा, भेड़ इनका मांस, कृश प्राणियोंका मांस, सुखाया हुआ मांस, पूति मांस (सड़ा दुर्गंधयुक्त मांस आदिका सेवन) या पौष्टिक पदार्थ-खोर-लड्डू आदि, तथा उड़दका यूष, गन्नेका रस,

सूखे शाक और लहसुन आदिका अधिक सेवन, अति तेज़ शराब या बिगड़ी हुई शराब पीनेसे, विकृत, तथा भारी जल पीनेसे, अत्यधिक स्नेहपान करना और यथा समय वमन विरेचन आदि संशोधन न कराना, वस्ति क्रमके विमुखसे दिनमें सोना, सुखदायक गद्दे वाली शय्या तथा आसनोंका अत्यधिक सेवन इन सब कारणोंसे अग्निमांद्य होजाता है। फिर मल संगृहीत होने लगता है।

उकडू या विषम (ऊंचे नीचे) और कठोर आसनपर बैठना, निरन्तर घोड़े आदिकी सवारी करते रहना, अत्यन्त मैथुन, गुदामें क्षत होनेपर शीतल जलका स्पर्श, या वस्त्र मिट्टीका गुदापर घर्षण होते रहना, मल, वायु, मूत्र, तथा पुरीषके वेगोंको रोकना इन कारणोंसे वायु प्रकुपित होकर अधोगत सञ्चित मलको प्राप्त होकर उसे गुदाकी वलियोंमें धारण करता है, फिर अर्शकी उत्पत्ति होजाती है।

(१) वातज अर्श निदान—कसैला, चरपरा, कड़वा, रूक्ष, लघु या ठण्डा भोजन, स्वल्प भोजन, समय व्यतीत हो जानेपर भोजन, तीक्ष्ण मद्यपान, अधिक मैथुन, उपवास, शीतल, अनूप देश या हेमन्त आदि ऋतुप्रकोप, घोड़ा, ऊँट या साइकिल पर अधिक सवारी करना, बिना वेग मल या अधोवायुको काँख-काँख कर निकालनेका प्रयत्न करना, अधिक समय तक उकड़ू बैठे रहना, अधिक परिश्रम, पैरोंसे मशीन चलाना, बार-बार जुलाब लेना, शोक, तेज वायु या सूर्यके तापका आघात आदि कारणोंसे वातज अर्श हो जाता है।

(२) पित्तज अर्श निदान—ज्यादा चरपरे, ज्यादा खट्टे, अधिक नमकीन, अधिक तीक्ष्ण, अति विदाही और अति गरम पेय या गरम भोजनका सेवन, गर्म औषध, अधिक व्यायाम, अग्नि या सूर्यके तापका अधिक सेवन, उष्ण या मरुभूमि आदि देश अथवा शरद् या ग्रीष्म आदि ऋतुका प्रकोप, क्रोध, मद्य-पान, द्वेष करनेका स्वभाव इत्यादि कारणोंसे पित्तज अर्श उत्पन्न होता है।

(३) कफज अर्श निदान—मधुर, स्निग्ध, शीतल, खट्टे, नमकीन और भारी भोजन, व्यायाम न करना, दिनमें शयन, शय्या, आसन या गद्दी-तकिये पर बैठे रहनेमें प्रीति, शीत देश और शीतकालका प्रकोप, चिन्ताका त्याग, पूर्व दिशाकी वायुका अधिक सेवन आदि कारणोंसे कफज अर्श होता है।

(४) द्वन्द्वज अर्श निदान—दो दोषोंको प्रकुपित करने वाले उपरोक्त कारणोंके संयोगसे द्वन्द्वज अर्श उत्पन्न होता है।

(५) त्रिदोषज अर्श निदान—अपने-अपने कारणोंसे जब तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं, तब त्रिदोषज अर्शकी उत्पत्ति हो जाती है। वस्तिकर्ममें जल या नलीका आघात, गुदामैथुन, गर्भपात, गुदापर पत्थर या लोह आदिका

आघात, गुदापर बर्फ या अति गरम जलसे सेंक करना इत्यादि कारणोंसे त्रिदोषज अर्श हो जाता है।

(६) सहज अर्श निदान—माता या पिताको अर्श रोग होनेपर उनके रजवीर्य द्वारा संतानोंको गुदनलिकाकी शिराओंमें निर्बलता या व्याधि बीजकी प्राप्ति होती है या पूर्व जन्मार्जित पापसे हो जाता है। पूर्व जन्मोंका पाप सब जन्मोंके साथ आये हुए वंश परम्परागत समस्त रोगोंमें हेतु माना जाता है।

अर्शका पूर्वरूप—अन्न पचन न होना, निर्बलता, मलसंग्रह होनेपर आफरा-सा हो जाना, कोखमें गुड़गुड़ाहट, कृशता, अधिक डकार, जाँघोंमें पीड़ा, थोड़ा-थोड़ा मल उतरना, कुछ अंशमें मलावरोध बना रहना, ग्रहणी विकार, पाण्डु और उदर रोग हो जानेकी शंका आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

यह अर्श रोग प्रथमा, द्वितीया और क्वचित् तृतीया वलिमें भी हो जाता है। इस व्याधिके हेतुसे प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, पाँचों मिलकर पञ्चात्मा वायु, इस तरह पञ्चात्मा पित्त और पञ्चात्मा कफ प्रकुपित होकर नाना प्रकारके रोग उत्पन्न कर देते हैं।

१. प्राणवायु कुपित होनेपर आमाशय, हृदय और स्वरयन्त्रमें विकार या हिक्का-श्वास आदि।
२. उदान कुपित होनेपर कण्ठसे ऊपरके विकार—उन्माद आदि।
३. समान वायुके प्रकोपसे आमाशयगत विकार, गुल्म, अग्निमांद्य और अतिसार आदि।
४. अपान वायुके दुष्ट होनेपर अधोवायु, मूत्र, मल, शुक्र, गर्भ और आर्त्तवके विकार अर्थात् अन्त्र, मूत्राशय, गर्भाशय और गुदाके रोग।
५. व्यान वायुमें विकृति होनेसे स्वेद, रक्त, शुक्र आदिमें विकृति तथा प्रमेह आदि।
६. आलोचक, रञ्जक, साधक, पाचक और भ्राजक पित्तोंका प्रकोप होनेसे अपने-अपने स्थानको वे दूषित कर देते हैं।
७. अवलम्बक, क्लेदक, बोधक, तर्पक और श्लेष्मक, कफ प्रकारोंमेंसे जिन जिनका प्रकोप होता है, वे अपने-अपने स्थानको दूषित कर देते हैं।

संक्षेपमें यह अर्शरोग नाना प्रकारके रोगोंकी जड़रूप प्रायः सारे शरीरको संताप देनेवाला और कष्टसाध्य है।

वातज अर्श लक्षण—इस अर्शमें रक्त नहीं निकलता, किन्तु भयङ्कर जलन होती रहती है। इस वातज अर्शमें मस्से शुष्क, अति वेदनासह, मुरझायेसे लाल या मैले रंगके कठोर, मुलायमतासे रहित, स्पर्श करनेमें गायकी जीभके समान खरदरे और कर्कश, क्वचित् छोटे, क्वचित् बड़े, टेढ़े, दर्भके अंकुर समान

चुभनेवाले, खिले हुए फूल समान, फटे मुख वाले, बिनोले (वनकपासके बीज), कन्दूरी, बेर, खजूर और ककोड़ेके फल सदृश होते हैं। कचित् कदम्बके पुष्प के समान स्थूल और अनेक छोटे-छोटे शिखरयुक्त तथा कचित् सरसों जैसे छोटे पिटिका रूप होते हैं।

इस वातज अर्शसे मस्तक, पसलियें, कन्धे, नाभि, कमर, जंघा, पेड़ू, लिंग, गुदा इन प्रदेशोंमें अधिक वेदना, छींक और डकार न आना, मलावरोध, हृदय जकड़ना, अरुचि, कास, श्वास, विषम अग्नि (कभी अन्नका पचन—कभी अपचन), निर्बलताके कारण कानोंमें आवाज होना, चक्कर आना, झागयुक्त आवाज सहित थोड़ा-थोड़ा गांठों सह कष्टसे या शूलके साथ दस्त होना, शरीरमें श्यामता, त्वचा, नख, विष्ठा, मूत्र, नेत्र, मुँह सब श्याम रंगके हो जाना, ये रूप प्रतीत होते हैं। क्वचित् वातगुल्म, प्लीहावृद्धि और अष्ठीला (वातप्रकोप से उदरमें गांठ होना) आदि लक्षण भी हो जाते हैं।

पित्तज अर्श लक्षण—इस पित्तज अर्शके मस्सेमें से दुर्गन्धयुक्त जलन सहित रक्त निकलता है। मस्से नीले मुँह वाले, लाल-पीले, कुछ मैले रंगके, गीले, पतले, रुधिरका स्राव कराने वाले, दुर्गन्धयुक्त पतले, मृदु, लम्बे लटकते हुए, कोई तोतेकी जीभ सदृश, कोई यकृत्के टुकड़े सदृश आभावाले और कोई जोंकके मुखके समान होते हैं।

इस रोगमें दाह, गुदपाक, ज्वर, प्रस्वेद, तृषा, मूर्च्छा, अरुचि, मोह, बेचैनी, मस्से स्पर्शमें गरम, मल पतला, नीला-पीला या लाल और आमयुक्त गरम गिरना, मस्से मध्यभागमें जौके सदृश स्थूल, त्वचा, नख, नेत्र, मुँह ये सब हरताल या हल्दीके सदृश पीले रंगके हो जाना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। इस प्रकारका अर्शरोग शीतोपचारसे शमन होता है।

कफज अर्श लक्षण—इस रोगमें अंकुर गहरी जड़ वाले, घन, मन्दपीड़ा वाले, सफेद रंगके ऊँचे, लम्बे, मोटे, चिपचिपे, न मुड़नेवाले, गोल, भारी, निश्चल, पिच्छिल, गीले चमड़ेसे लिपटे हुएके समान, मणिके समान चिकने, खुजलीयुक्त, स्पर्शमें प्रिय, बांसके अंकुर, कटहरके फलकी गुठली अथवा गायके स्तनके सदृश होते हैं।

इस रोगसे वंक्षणस्थानमें डोरीसे दृढ़ बांधने समान पीड़ा, गुदा, मूत्रस्थान और नाभिमें नाड़ियां खिंचना, श्वास, कास, उबाक, मुँहमें पानी आना अरुचि, पीनस, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, मस्तिष्कमें भारीपन, शीतज्वर, नपुंसकता, अग्निमांद्य, वमन, आमवृद्धि होकर अतिसार और ग्रहणी आदि रोगोंकी उत्पत्ति, चर्बी समान कान्ति, श्लेष्मयुक्त मांसके धोवन समान मल गिरना; त्वचा, नख,

नेत्र आदि स्निग्ध और पाण्डुवर्णके हो जाना, रुधिर न गिरनेसे और मल ज्यादा शुष्क न होनेसे गुदामें अधिक त्रास न होना इत्यादि लक्षण होते हैं। इस प्रकारके अर्शरोगमें उष्णोपचारसे शान्ति प्रतीत होती है।

सन्निपातज और सहज अर्शके लक्षण—इन दोनों प्रकारकी व्याधियोंमें वातज, पित्तज और कफज अर्शमें कहे हुए सबके मिश्रित लक्षण प्रतीत होते हैं।

सहज अर्शके लक्षण—सहज अर्शके मस्से कोई अति छोटे कोई बड़े, कोई लम्बे, कोई मोटे, कोई गोल, कोई टेढ़े, कोई त्रासदायक बाहर निकले हुए कोई सन्तापकारक भीतरकी वलिमें, कोई बड़े जटिल और कोई भीतर मुँह वाले होते हैं। इनमें जिस दोषका अनुबन्ध हो, उसी दोषके अनुसार इनके भिन्न-भिन्न वर्ण होते हैं।

सहज अर्श वाला मनुष्य जन्मसे ही अति कृश, निस्तेज, क्षीण, दीन तथा अधोवायु और मल-मूत्रके विबन्धयुक्त रहता है। किसीको मूत्र-मार्गमें शर्करा या पथरी हो जाती है। विबन्ध बना रहनेसे मलशुद्धि सम्यक् प्रकारसे नहीं होती, कच्चे पक्के आम सह शुष्क गाँठ वाला, फटा हुआ मल रुक-रुक कर गिरता है। कभी मल जल्दी गिरता है, कभी देरीसे। मलका रंग सफेद, पाण्डु हरा, पीला, लाल, मैला लाल या काला दोषप्रकोप अनुसार होता है। मल पतला या गाढ़ा पिच्छिल और मुर्देकी-सी गन्ध वाला होता है। नाभि, मूत्राशय और वंक्षणमें कतरनेकी-सी पीड़ा होती है। गुदासे मलके प्रवाहण होनेपर शूल समान वेदना, रोमांच, प्रमेह, अति मलावरोध, आँतोंमें गुड़गुड़ाहट, उदावर्त्त, हृदय और इन्द्रियोंका जड़-सा बन जाना, अधोवायुमें अति रुकावट, चरपरी और खट्टी डकार, अति दुर्बलता, अति मन्दाग्नि, वीर्यकी न्यूनता, क्रोधकी उत्पत्ति होना, चित्तमें दुःख बना रहना, कास, श्वास, तमक श्वास, तृषा, उबाक, वमन, अरुचि, अपचन, जुकाम, बार-बार छींकें आना, तिमिर-रोग, मस्तिष्क शूल, क्षीण टूटी हुई अशक्त और जर्जरित आवाज, कर्ण रोग, हाथ, पैर, मुख, नेत्र पलक आदि अंगोंपर कुछ शोथ आ जाना, ज्वर, अंगमर्द, बीच-बीचमें साँधों-साँधोंमें और हड्डियोंमें शूल चलना, पसली, कूंख, बस्ति, हृदय पीठ और त्रिकस्थान सब जकड़ जाना, सन्ताप, चित्तमें अस्थिरता और अति आलस्य इनमेंसे अनेक लक्षण माता-पितासे प्राप्त सहज अर्शमें हो जाते हैं।

आयुर्वेदने परम्परा प्राप्त इस सहज अर्शको स्वीकार किया है; किन्तु एलोपैथिक वालोंने अभीतक यह बात अंगीकार नहीं की है।

रक्तज अर्श लक्षण—इस व्याधिमें पित्तज अर्शके पीड़ा अधिक होती है। मस्से अग्नि या कीलके समान दुःखदायी, पित्तज अर्शकी आकृति वाले, वड़के अंकुर, गुंजा और प्रवालके सदृश वर्ण वाले होते हैं। शुष्क मलके आनेसे मस्से जब पीड़ित होते हैं; तब गरम-गरम रक्त निकलता है। शुष्क, कठिन और

काला मल, अपानवायुका रोध, पीलीसी कान्ति, अधिक रक्त जानेसे निस्तेजता, बल उत्साहका अभाव और बेचैनी आदि लक्षण होते हैं। कचित् इस व्याधिमें वात और कफका भी अनुबन्ध होता है।

यह रक्तज अर्श यदि रूक्ष वायुके अनुबन्ध सह उत्पन्न हुआ है, तो रुधिर पतला, लाल और झागों वाला, कमर, जंघा और गुदामें शूल तथा अत्यन्त निर्बलता आदि लक्षण होते हैं।

यदि कफसे भारी और स्निग्ध गुण रूप अनुबन्ध सह रक्तज अर्श हुआ है, तो मल सफेद-पीला, चिपचिपा, गुरु, शीतल और शिथिल होना; रक्त गाढ़ा, सूतके सदृश तारयुक्त, पाण्डुवर्ण और गोंदके समान चिपचिपा तथा गुदा चिकनी और स्तब्ध होना इत्यादि लक्षण भासते हैं।

साध्यासाध्यता—इन अर्श रोगोंमें जो बाहरकी वलिमें हो, एक दोषज और नया उत्पन्न हुआ हो उसे सुखसाध्य; दूसरे आंटेके या द्विदोषज, जिसको १ वर्ष व्यतीत हो गया है उसे कष्टसाध्य; तथा सहज (वंशपरम्परागत), त्रिदोषज, तीसरी वलिमें उत्पन्न और वृद्धावस्थामें होने वाले अर्शको असाध्य माना है।

असाध्यता दो प्रकारकी है। याप्य (प्रयत्नसे सफलता मिलने योग्य) और प्रत्याख्येय (बिल्कुल त्यागने योग्य)। जिस रोगीकी आयु शेष हो, चिकित्सा आदि चारों पाद युक्त हों और जठराग्नि प्रदीप्त हो, उसके असाध्य रोगको भी याप्य मानकर चिकित्सा करनी चाहिये। अन्यथा रोगीको छोड़ देना चाहिये।

रोगी, भिषक्, परिचारक और औषध, ये ४ चिकित्साके पाद कहलाते हैं। इनमें आज्ञाकारी, धनिक, उदारचित्त और जितेन्द्रिय रोगी; शास्त्र और शस्त्र-कर्ममें कुशल, निर्लोभी और सत्यधर्मपरायण वैद्य; हितैषी, कुलीन, आलस्य-रहित, प्रेमी और रोगीके अनुकूल वर्त्ताव करने वाला परिचारक (सेवक); तथा नयी रस-वीर्य आदि सम्पन्न औषध, ये सब अनुकूल होनेपर चिकित्सा करनेसे बहुधा सफलता मिल जाती है।

असाध्यता लक्षण—जिस अर्श रोगीके हाथ, पैर, गुदा, नाभि, मुख, अण्डकोष इन स्थानोंपर सूजन तथा हृदय और पार्श्वमें शूल हो उसके रोगको असाध्य माना है।

यदि हृदय और पसलीमें शूल, मोह, वमन, सारे शरीरमें पीड़ा, मन्द-मन्द ज्वर, तृषा, गुदापाक (गुदा लाल हो जाना, अँगुली लगानेसे भी पीड़ा हो), ये उपद्रव हों, तो अर्शरोग रोगीको मार देता है।

तृषा, अरुचि, शूल, रक्त ज्यादा गिरना, शोथ और अतिसार आदि उपद्रव हों, तो अर्शरोग जीवनको नष्ट कर डालता है।

अन्य स्थानके मस्से—गुदाके समान, नाक, कान, मुँह, होठ, तालु, नेत्रके कोने, नाभि, मेढ़ू और योनिमें भी मस्से हो जाते हैं। वे मस्से केंचुएके समान चिकने और मृदु होते हैं।

पुरुषोंके मूत्रेन्द्रियपर जो मस्से हो जाते हैं, वे खुरदरे होते हैं। क्वचित् भीतर क्वचित् बाहर होते हैं। उनमें खुजली चलती है। खुजानेपर क्षत हो जाता है। फिर उसमेंसे चिपचिपा पीप सा रक्तस्राव होता रहता है और वह शीघ्र पुंसत्वका नाश करता है।

स्त्रियोंकी योनिमें छत्र या करीर के फलके आकारके या केंचुएके समान, दुर्गन्धयुक्त, मृदु और पिच्छिल मस्से होते हैं। इन मस्सोंके उत्पन्न होनेसे उनमेंसे रक्तस्राव होता रहता है; वेदना बनी रहती है, और योनिके रक्तका नाश होता है। दोष ऊर्ध्वगत होनेपर कर्णमें मस्सा हो जाय तो बधिरता, उग्र शूल और कानमेंसे पीप निकलते रहना इत्यादि लक्षण होते हैं।

नेत्रमें मस्सा होनेपर जलस्राव, वेदना, दर्शन शक्तिका नाश और अश्रु बहते रहनेसे भांफणीका चिपकना आदि लक्षण भासते हैं।

नाकमें मस्से होनेपर जुकाम, कष्टसे श्वासोछ्वास चलना, शिरमें वेदना, छींकें आना, मुँहमेंसे दुर्गन्ध आना, मिनमिनत्व आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

मुँहमें अर्श होनेपर कण्ठ, ओष्ठ, तालु आदिमें जहाँ हो, उस स्थानके अनुरूप विकृति, गद्गद् वाक्य, स्वादका सम्यक् बोध न होना इत्यादि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

चर्मकील—व्यान वायु कफको ग्रहण करके शरीरके अन्य भागोंकी त्वचा पर कीलके समान स्थिर अंकुर उत्पन्न कर देता है, उसे चर्मकील कहते हैं। इस चर्मकीलमें वातप्राधान्य होनेपर पीड़ा और कठोरता; पित्तप्राधान्य हो, तो मुँह कुछ काला-सा हो जाना, तथा श्लेष्मप्राधान्य होनेपर चिपचिपापन, गाँठदार और शरीरके समान रंग होता है।

अर्शके डाक्टरी निदान आदि।

डाक्टरी मत अनुसार गुदामें गई हुई अशुद्ध रक्त वाहिनियों (शिराओं) पर जब मल या अन्य अवयवका दबाव पड़ता है, तब शिराओंका विस्तार होकर वे अंकुर समान लटक जाती हैं उनको अर्श रोग कहते हैं। छोटी और बड़ी आँतमें जो शिराएँ हैं, वे सब आड़ी अर्थात् आँतकी चौड़ाईकी ओर रही हैं; किन्तु गुदनलिकामें शिराएँ खड़ी अर्थात् लम्बाईके अनुरूप रहती हैं। इन शिराओंके परस्पर मिलनेसे जो चक्र बना है उसे गुदवेष्टन शिराचक्र कहते हैं। इस चक्रमें रही हुई अशुद्ध रक्त-वाहिनियोंके नीचे आधार नहीं है और

इनमें कपाटिका (Valves) की योजना भी नहीं है। जैसे अन्य स्थानोंमें रुधिर वापस न लौटनेके लिए कपाट लगे हुए हैं, इस तरह गुदनलिकामें कपाटिका न होनेसे और ये शिराएं सबसे निम्न स्थानपर रहनेसे अन्नरसवाहिनी आदि किसी भी शिराका अवरोध होनेपर इनका विस्तार हो ही जाता है।

गुदवेष्टन शिराचक्र—असंख्य सूक्ष्म शिराएँ परस्पर ग्रथित होनेसे यह चक्र बनता है। इस चक्रको योगक्रियाके ग्रन्थोंमें आधार चक्र और डाक्टरीमें हेमरहोइडल प्लेक्सस (Haemorrhoidal plexus) कहते हैं। इसमेंसे मुख्य ३ शिराएँ निकलती हैं, जिनको उत्तरा, मध्यमा और अधरा गुदान्त्रिका संज्ञा दी है। वे सीधी और परम्परा रीतिसे अधिश्रोणिका-आभ्यंतरी शिराके साथ सम्बन्ध रखती हैं। एवं उनका संयोग आंत्रिकी शिराओंके साथ होता है। फिर उनके द्वारा प्रतिहारिणी शिरा (Portal vein) के साथ सम्बन्ध होता है।

इस चक्रके २ विभाग हैं। आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर भाग गुदाकी श्लैष्मिक कलाके नीचे और बाह्य भाग गुदाकी मांसमय दीवारके इर्द-गिर्द वेष्टित हुआ है।

आभ्यन्तर भाग चौड़ी और खड़ी शिराओंसे बना है; अर्थात् पिञ्जड़ेके चारों ओर लगी हुई लोह शलाकाके सदृश गुदमार्गके चारों ओर शिराएँ लगी हैं। इन शिराओंमेंसे रक्त आन्त्रिकी शिराओं और प्रतिहारिणी शिरामें जाता रहता है। इस आभ्यन्तर भागकी शिराओंके रक्तप्रवाहको ऊपर जानेमें किसी भी हेतुसे रुकावट हो जाय, तो ये फूल जाती हैं। फिर कठिन मल जब इनके ऊपरसे उतरता है तब वे छिलनेसे बार-बार रक्त गिरता है। इस तरह इस शिराचक्रसे सम्बन्ध वाली फूली हुई शिराएँ, जो केवल मृदु कलासे आच्छादित होती हैं, उनमेंसे भी मस्से बनते हैं।

यदि यकृद्विकार या अन्य किसी हेतुसे प्रतिहारिणी शिराके मार्गमें प्रतिबंध हो जानेपर रक्तार्श होता है और रक्तार्श द्वारा रक्त बाहर निकलता रहता है, तो वह रोगीके लिये कल्याणकारक ही माना जाता है। कारण, इस तरह यदि रुधिर बाहर न निकले और उदर्य्याकलाके स्तरोंमें संचित हो जाय, तो जलोदर या अन्य भयानक रोगकी उत्पत्ति करा देता है।

निदान—प्रवाहिका, आमातिसार, आध्मान आदिसे उदरप्रसारण होकर बार-बार उदरमें गैस भरा रहना, मलावरोध रहना, मूत्रावरोध होना, सगर्भावस्थामें अपचन होकर दबाव आना आदि कारणों से अर्शकी उत्पत्ति हो जाती है।

(१) प्रकोप हेतु—मलावरोध होनेसे कांछना पड़ता है, कांछनेसे शिराओंमें रक्त भर जाता है, किन्तु फिर वह दबावके हेतुसे ऊपर नहीं जा सकता।

इसलिये इनका प्रसारण हो जाता है।

(२) रात दिन बैठे-बैठे काम करना (जैसे दर्जीको पैरोंसे मशीन चलाना, साईकल चलाना आदि), व्यायाम न करना, इन हेतुओंसे भी अर्श होजाता है।

(३) उदरग्रन्थि, अर्बुद, गुदनलिकास्रोत-संकोच और उससे उत्पन्न मलावरोध, यकृद्वृद्धि, जलोदर और स्त्रियोंकी गर्भावस्था इन कारणोंसे अन्नरस-वाहिनीका अवरोध होकर अर्श हो जाता है।

अर्शके २ प्रकार हैं—बाह्यार्श (External Piles) और अन्तरार्श (Internal piles)। गुदाका संकोच करने वाली तृतीया संग्रहणी वलिमें रही हुई गुद संकोचनी बाह्य पेशी (Sphincter ani External) के बाहर होने वाले मस्सेको बाह्यार्श कहते हैं; और उस पेशीसे ऊपर होने वाले मस्सेको अन्तरार्श कहते हैं। इनमें बाह्य अर्शके ऊपर त्वचाका आवरण और अन्तरार्श-पर केवल मोटी श्लैष्मिक कलाका ही आवरण होता है। इस हेतुसे बाह्य अर्शमेंसे (बिना व्रण हुए) रुधिर नहीं निकलता और अन्तरार्शकी श्लैष्मिक कला फट-फटकर बार-बार उनमें से रक्तस्राव होता रहता है।

बाह्यार्श लक्षण—ये मस्से गुदासे बाहर दीखते रहते हैं। जब तक इनपर दाह, शोथ या व्रण न हो, तब तक ये दुःख नहीं पहुँचाते। आहार-विहारके अपथ्यसे अपचन या मलावरोध होनेपर जब ये फूल कर नीले रंगके हो जाते हैं, तब वहाँपर रक्त जमकर शोथ हो जाता है; जिससे असह्य वेदना होती है। फिर उपचार करनेपर शोथ तो शमन हो जाता है; किन्तु मस्से अधिकाधिक कठोर होते जाते हैं। इस तरह बार-बार प्रकोप होता रहा, तो कभी गुदाका सङ्कोच अथवा व्रण होकर विद्रधि या कर्कस्फोट (Cancer) हो जाता है।

अन्तरार्श लक्षण—आरम्भमें ये अति मृदु रहते हैं। फिर शनैः-शनैः कठोर होते जाते हैं। मल त्यागके समय ये बाहर आ जाते हैं फिर भीतर चले जाते हैं। इनपर लाल रंगकी मोटी श्लैष्मिक कला रहती है; मल उसे लगकर बाहर निकलता रहता है जिससे उसपरसे श्लेष्म सिल जाता है। यदि मल शुष्क हो, तो उसके आघातसे थोड़ा बहुत रक्त भी निकल जाता है। यदि इन-मेंसे एक या अधिक मस्से फट जाते हैं तो उनमेंसे रक्त अधिक गिरता है। ये मस्से नहीं फटते तब तक कमरमें जड़ता और मल विसर्जन समयमें बोझा-सा प्रतीत होता है और मस्से फटकर बार-बार रक्तस्राव होनेसे पाण्डुता आती जाती है। क्वचित् मस्से बाहर निकलनेपर फिर स्वतः भीतर नहीं जा सकते, तब अति कष्ट होता है। फिर हाथसे पकड़ कर भीतर चढ़ाना पड़ता है; जिससे बहुधा रक्तस्राव होने लगता है। क्वचित् मस्से भीतर नहीं जा सकते, तब गुदाके संकोचसे उनपर पाश (फाँसी) लग जाता है। फिर उन मस्सोंमें रक्तसंचार

बन्द हो जाता है और उनका बाहर रहा हुआ हिस्सा शोथ आनेपर मृत हो जाता है। फिर उस पर व्रण होता है। इस तरह बार-बार काँछते रहनेसे और गुदाकी जड़ताके हेतुसे कचित् गुदभ्रंश भी हो जाता है—इत्यादि अंतरार्शके लक्षण प्रतीत होते हैं।

अर्शका निर्णय स्पष्ट ही है; तथापि कचित् गुदभेद, गुदभ्रंश, मांसार्श, फिरंग रोगज गुदशूक इन रोगोंमें अर्शकी भ्रान्ति हो जाती है। अतः इन सबके लक्षणोंके भेद जाननेकी आवश्यकता है।

अर्श	अन्य रोग
रक्तार्शमें शिरा फूलना, मलविसर्जन कालमें सामान्य पीड़ा और फिर पीड़ा नहीं रहना तथा मस्से फटनेपर अधिक रक्त गिरना ये चिह्न होते हैं।	गुदभेद (गुदाकी त्वचा फट जाने) में शिरा नहीं फूलती, केवल त्वचा फटती है। मल त्यागनेपर और पश्चात् भी अति पीड़ा घण्टों तक बनी रहती है। कुछ रक्त मलको लगा हुआ निकलता है; तथा पश्चात् भी रक्तकी २-४ बूँदें टपकती हैं।
अर्शके मस्से ऊँचे नीचे कचित् सब गुदापर फैले हुए होते हैं।	गुदभ्रंशका मांस मुलायम और वर्तुलाकृति होता है।
रक्तार्शके मस्से अनेक, मृदु और नालरहित होते हैं।	मांसार्श (पोलिपस Polypus) एकाकी, कठोर नालसह होता है।
अर्श एक ओर रहता है।	फिरंगज गुदशूक (Condyloma) उभय ओर तथा गुदासे कुछ दूर रहता है।

अर्श चिकित्सोपयोगी सूचना।

अर्श रोगकी चिकित्सा औषध सेवन, क्षार या अग्निसे जलाना (दाग देना), और शस्त्रसे काट देना, इन ४ प्रकारोंसे होती है। इनमेंसे औषध चिकित्सा सरल और निर्भय उपाय है। बालक, स्त्री, वृद्ध और निर्बल सबके लिये हितकारक है। शेष ३ उपाय अति विचारपूर्वक करने चाहिये। इस अर्श रोगमें शुष्क मस्सेके लिये तीक्ष्ण लेप आदि क्रिया और रक्तार्शके लिये पथ्यपालन सह दीर्घ काल तक रक्तपित्तशामक चिकित्सा करनी चाहिये।

भगवान् धन्वन्तरिका मत है, कि जो अर्श थोड़े समयका हो, अल्प दोष, अल्प चिह्न और अल्प लक्षण युक्त हो वह औषधसे साध्य होता है। जो मस्से कोमल, फैले हुए, गाढ़े और उभरे हुए हों, उनको क्षार या तिजाबसे जलाना

चाहिये। जो मस्से खरदरे, स्थिर, मोटे और कठिन हों, उनको अग्निसे दाग देना चाहिये; तथा जिनकी जड़ पतली हो, लम्बे और क्लेदयुक्त हों उनको शस्त्रसे काट देना चाहिये। किन्तु जो मस्से भीतर होनेसे नहीं दीख सकते, उनको नष्ट करनेके लिये औषधका ही सेवन कराना चाहिये।

यदि शुद्ध रक्त गिरता है, तो तुरन्त बन्द कर देना चाहिये; और दूषित खून निकल रहा है, तो रोकना नहीं चाहिये। अन्यथा वह शूल, गुदामें पीड़ा, आफरा और रक्तविकार आदि व्याधियोंको उत्पन्न करता है। किन्तु रोगी अत्यन्त निस्तेज हो गया है, तो दूषित रक्तको भी बन्द कर देना चाहिये। एवं रक्तार्शमें केवल पित्तानुबन्ध हो, वातकफानुबन्ध न हो, तो ग्रीष्म ऋतुमें प्रवृत्त होने वाले रक्तको सर्वथा रोक देना उचित है।

गुदांकुर कड़े और शोथयुक्त हों, उनमें रक्त संचित हुआ हो तथा सामान्य चिकित्सासे विकृति दूर न हुई हो, तो सुई, शस्त्र या जौंकें लगवाकर रक्तको निकाल देना चाहिये। दूषित रक्तके निकल जानेपर शोथ, वेदना और खुजली आदि पीड़ायें दूर हो जाती हैं।

वातज अर्शमें पतले झागयुक्त दस्त होते हैं, तो वातातिसारके समान चिकित्सा करें। स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन और अनुवासन बस्तिका उपयोग आवश्यकतानुसार करना हितकर है।

पित्तज अर्शमें विरेचन देना लाभदायक है।

रक्तज अर्शमें संशमन चिकित्सा करनी चाहिये।

कफज अर्शमें वमन तथा अदरक, सोंठ और कुलथीका उपयोग हितकारक है।

मिश्र प्रकोपमें मिश्र चिकित्सा और त्रिदोषज अर्शमें त्रिदोषशामक चिकित्सा तथा औषधोंसे सिद्ध किया हुआ बकरीका दूध देना चाहिये।

वायु और मलका अवरोध हो तो उदावर्त्तके समान; रक्त गिरता हो तो रक्तपित्तके समान और मलका विबन्ध हो तो विबन्धनाशक सौम्य चिकित्सा करनी चाहिये।

वातानुबन्ध युक्त रक्तार्शका रक्त स्नेहसाध्य होता है; अर्थात् स्नेहपान, तैलाभ्यंग और अनुवासन बस्तिसे जीतनेका प्रयत्न करना चाहिये।

यदि मलावरोध रहता है, तो रात्रिको स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण या प्रातःकाल एरण्ड तैलका सेवन लाभदायक है।

सगर्भा स्त्रीको अर्श होनेपर मलवरोध नहीं होने देना चाहिये। आवश्यकता पर मुनका, हरड़, गुलकन्द आदि सौम्य वस्तुसे कोष्ठशुद्धि कराते रहना चाहिये।

मलावरोध न हो, तो पहले पाचन औषध देवें; तथा अग्निबल बढ़ाने और वायुको अनुलोमन करनेके लिये चिकित्सा करें।

मस्से बहुत मोटे फूले हों, तो अळसीका तैल ५-५ तोले दिनमें २ समय पिलाना हितकारक है।

संग्रहणीके समान इस अर्श रोगमें गौके दहीसे बनाये हुए ताजे तक्रका सेवन अमृत सदृश लाभदायक है। किन्तु दूधको जमानेके पहले पात्रमें चित्रकमूलको जलमें घिसकर लेपकर लेना चाहिये। फिर उस दहीमेंसे मट्ठा बनाकर उपयोगमें लेवें। इस तक्रकी प्रशंसा भगवान् आत्रेयने (चरक संहिताके चिकित्सा स्थानमें) तक्र गुणके उपक्रम और उपसंहार, दोनों स्थानोंमें निम्न वचनोंसे की है :—

"वातश्लेष्मार्शसां तक्रात् परं नास्तीह भेषजम्" ॥ १४-७७ ॥

"नास्ति तक्रात्परं किंचिदौषधं कफवातजे" ॥ १४-८८ ॥

वात और कफप्रधान अर्शमें तक्रसे बढ़कर श्रेष्ठ कोई भी औषध नहीं है। इन दोनों वचनोंका तात्पर्य एक ही है। तक्र कल्पको अर्श नाशार्थ उत्तम माना है।

अग्नि मन्द है, तो केवल मक्खन निकाले हुए तक्रपर रखें। अग्नि कुछ अच्छी है, तो शामको खीलके सत्तूकी विलेपी देवें या तक्र जीर्ण होनेपर अर्थात् ७ दिन बाद मट्ठा डालकर बनाई हुई पेया सैंधानमक मिलाकर देवें। फिर मट्ठा और भात दें। अनुपान रूपसे घी दें या यूष अथवा मांसरस मट्ठेके साथ दें। इस तरह एक मासका प्रयोगकर फिर उपशम करें। धीरे-धीरे दूसरे मासमें प्रयोग समाप्त करें। कल्पके प्रारम्भमें मट्ठा बढ़ाते जायँ। फिर कम करते जायँ और अन्न बढ़ाते जायँ। किन्तु सर्वदा शक्ति संरक्षण और जठराग्निकी प्रदीप्तिके लिये लक्ष्य देते रहना चाहिये। इस तरह तक्रके प्रयोगसे जलाये हुए अर्श पुनः जीवित नहीं होते। इस विषयमें उदाहरण सह भगवान् आत्रेय कहते हैं कि :—

भूमावपि निषिक्तं तद्दहेत्तक्रं तृणोलुपम्।
किं पुनर्दीप्तकायाग्नेः शुष्काण्यर्शांसि देहिनः ॥

जब भूमिपर सिंचन की हुई तक्र निकले हुए तृणोंके समूहोंको जला डालती है, तब तक्र प्रदीप्त अग्निवालोंके शुष्क अर्शोंको जला दे, इसमें आश्चर्य ही क्या ?

अर्श, अतिसार और ग्रहणी, इन तीनोंके हेतु सम होनेसे इन सबमें अग्नि का संरक्षण आग्रहपूर्वक करना चाहिये। कारण आचार्योंने कहा है, कि—

अर्शांसि चातातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च।
तेषामग्निबले हीने वृद्धिर्वृद्धे परिक्षयः ॥
अग्निमूलं बलं पुंसां बलमूलं हि जीवितम्।
तस्मादग्निं सदा रक्षेदेषु त्रिषु विशेषतः ॥

अर्श, अतिसार और ग्रहणी दोष इनमें जठराग्निका बल न्यून होनेपर रोगकी वृद्धि होती है और अग्निबलकी वृद्धि होनेपर रोगबलका ह्रास हो जाता है।

विचार दृष्टिसे देखा जाय तो मनुष्योंका बल जठराग्निपर ही अवलम्बित है और बलके आधारपर ही जीवन है। इसीलिये जठराग्निका सर्वदा रक्षण करना चाहिये। इनमें भी इन तीन रोगोंमें तो विशेष सम्हाल रखना चाहिये।

यकृत् पीड़ित होनेपर प्राय: अर्श हो जाता है। यदि प्रबल कामला रोग न हो तो अस्त्र चिकित्साद्वारा अर्शका प्रतिकार हो सकता है। अर्श चिकित्सा करनेमें मल त्याग करनेपर गुदाको कीटाणुनाशक धावनसे अच्छी तरह धो लेवें फिर वेसलीन, जैतूनका तैल या मीठा तैल लगा देवें।

मलावरोध करनेवाला भोजन, मांसाहार, मिर्च, गरम मसाला और उत्तेजक पदार्थोंका त्याग करना चाहिये। मृदु व्यायाम या थोड़ा घूमना लाभदायक है।

अर्श चिकित्सा।

सरल प्रयोग :—

(१) ४ तोले काले तिल और २ तोले मक्खन रोज प्रातःकाल २१ दिन तक सेवन करनेसे मस्से नष्ट हो जाते हैं।

(२) काले तिल, भिलावे, हरड़ और गुड़को समभाग मिला, ६-६ माशेके मोदक बनाकर प्रातः-सायं सेवन करते रहनेसे अर्श, श्वास, कास, प्लीहा, पाण्डु और जीर्णज्वर आदि दूर होते हैं।

(३) कड़वी तोरईके क्षारके जलमें बैंगनको उबाल, फिर घीमें भूनकर गुड़के साथ तृप्ति हो उतना खावें और मट्ठा पीवें, तो बढ़े हुए मस्से भी निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं। यदि १-२ सप्ताह तक सेवन करें, तो सहज अर्शका भी विनाश हो जाता है।

(४) सोंठ, शुद्ध भिलावे और विधारा तीनों सम भाग और सबके समान गुड़ मिलाकर ४-४ माशेकी गोलियाँ बना सेवन करानेसे सम्पूर्ण बढ़े हुए अर्श नष्ट हो जाते हैं।

(५) सैंधानमक, चित्रकमूल, इन्द्रजौ, करञ्जके बीज और बकायनके बीज को मिला चूर्णकर ४-४ माशे मट्ठेके साथ सेवन करानेसे ७ दिनमें नूतन अर्श रोग नष्ट हो जाता है।

(६) छोटी हरड़को घीमें भूने पीपलका चूर्ण और गुड़ मिलाकर सेवन करनेसे मल शुद्धि होती है और वायुका अनुलोमन होता है। इस तरह निशोथ

और दन्तीमूलका चूर्ण भी २-३ माशे तक गुड़के साथ देनेसे कोष्ठशुद्धि और वायुकी सम्यक् प्रवृत्ति होती है।

(७) काले तिल २ तोले और १ नग भिलावाको मिला कूट थोड़ा गुड़ मिलाकर खिलानेसे अर्श और कुष्ठ दोनों रोग नष्ट हो जाते हैं। यह अर्शशमन के लिये उत्तम तथा सरल योग है।

(८) जमीकन्द (सूरण) को पुटपाक कृतिसे शोधनकर फिर तैलमें भून सैंधानमक मिलाकर खिलानेसे अर्शके मस्से जल जाते हैं। अनेक मनुष्य नवरात्रिमें केवल इस सूरणका ही सेवन करते हैं, जिससे मस्से नष्ट होते हैं और आँतें बलवान बनती हैं।

(९) सोंठ और चित्रकमूलका ३-३ माशे नितारे जलके साथ दिनमें २ समय सेवन कराते रहनेसे अर्शरोग शमन होता है और पचनक्रिया बलवान बनती है।

(१०) चव्य और चित्रकमूलका क्वाथ सेवन करानेसे मन्दाग्नि दूर होती है और दोष पचन होकर मस्से जल जाते हैं।

(११) पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रकमूल और सोंठका चूर्ण तक्रके साथ सेवन करानेसे दोष पचन होकर पचन क्रिया सुधरती है। फिर मस्से भी नष्ट हो जाते हैं।

(१२) एक मास तक भिलावेका प्रातः-सायं सेवन करनेसे साध्य और असाध्य अर्श और कुष्ठ रोग नष्ट हो जाते हैं। भिलावाके दो चार टुकड़े कर नागरवेलके पानमें रखकर खिलावें। भिलावा खिलानेके पहले और पीछे ६-६ माशे घी चटावें। अन्यथा मुँहमें शोथ हो जाता है। भिलावेको सरोतेसे काटनेके समय हाथपर भिलावेका तैल न लग जाय, यह सम्हाल रखें। अथवा हाथपर घी लगाकर टुकड़े करें। भिलावेको चबानेके समय मुँहसे न बोलें। मुँह बन्द रखकर चबा लेवें। पहले १ सप्ताह तक १-१ भिलावा फिर २-२ भिलावे लेते रहें।

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं, कि:—

यथा सर्वाणि कुष्ठानि हतः खदिरबीजकौ।
तथैवार्शांसि सर्वाणि वृत्सकारुष्करौ हतः॥

जैसे सब प्रकारके कुष्ठरोगको खदिर और बीजक (भल्लातक) नष्ट कर देते हैं, वैसे ही कुड़ा और भिलावें सब प्रकारके अर्श रोगका नाशकर डालते हैं।

कोष्ठशुद्धिके लिये (१) विरेचनवटी, पंचसकारचूर्ण, नारायण चूर्ण

स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण, त्रिफला चूर्ण (निवाये जलसे), अभयारिष्ट या गुलकन्द इनमें से अनुकूल औषधका सुबह या रात्रिको सोनेके समय सेवन करें। यदि नारायण चूर्ण, त्रिफला या गुलकन्दका सेवन करना हो तो सुबह करें। शेष औषधका सेवन रात्रिको करें।

(२) अरण्डीका तैल या अलसीका तैल पिलानेसे आंतें मुलायम होती हैं; और मलावरोध दूर होता है।

(३) हरड़ और पुराना गुड़ मिलाकर ६ माशे, भोजनके ३ घण्टे पहले निवाये जलसे सेवन करें या आवश्यकतापर निशोथका चूर्ण त्रिफलाके क्वाथके साथ लेनेसे कब्ज दूर होता है।

(४) हरड़का चूर्ण तक्रके साथ सुबह सेवन करें या सोंठ ३ माशे और बेलगिरी २ तोलेका क्वाथ कर सेवन करें।

पाचन-क्रिया सुधारनेके लिये—(१) लवणभास्कर चूर्ण ३-३ माशे दिन में २ समय मट्ठेके साथ लेते रहें।

(२) स्नुहीकाण्डादि गुटिका—थूहरकी टहनियाँ १६ तोले; कालानमक, बिड़नमक और सैंधानमक ४-४ तोले, बैंगन १६ तोले, आककी जड़ ३२ तोले और चित्रकमूल ८ तोले, सबको मिला घड़ेमें बन्दकर निर्धूम गोबरीकी अग्नि पर जलावें। कोयले समान काला रंग हो जानेपर बैंगनके क्वाथमें १२ घण्टे खरलकर २-२ रत्तीकी गोलियाँ बनावें। इसमेंसे भोजनके पश्चात् १ से २ गोली सेवन करानेसे आहार जल्दी पचन होता है। कास, श्वास और अर्श रोगियोंके लिये हितकर है। इस गुटिकाके सेवनसे विसूचिका, प्रतिश्याय और हृद्रोगका भी शमन हो जाता है।

(३) बृहच्छूरण मोदक—सूरण १६ तोले, चित्रकमूल ८ तोले, सोंठ ४ तोले, कालीमिर्च २ तोले; हरड़, बहेड़ा, आँवला, पीपल, पीपलामूल, तालीसपत्र, भिलावा और वायबिडंग ४-४ तोले, काली मूसली ८ तोले, विधारा १६ तोले, भाँगरा और छोटी इलायची २-२ तोले लें। सबका चूर्णकर सबके वजनसे दुगुने गुड़की चाशनी कर मिला १-१ तोलेके मोदक बना लें। ये मोदक शुष्कार्शमें अधिक हितकर हैं।

इनमेंसे १-१ मोदक रोज सुबह धनिक लोग सेवन करते रहें। इस औषध पर गुरु और पौष्टिक भोजन करना चाहिये। अन्यथा यह मोदक उष्णता दर्शाता है। यह मोदक अग्नि और बल-बुद्धिको बढ़ाना है; इतना ही नहीं, वीर्यकी भी वृद्धि करता है और शस्त्र, क्षार या अग्निसे दाग दिये बिना ही अर्शको

नष्ट करता है। शोथ, श्लीपद, कफवातात्मक ग्रहणी और वलीपलितको दूर करता है। मेधा और पुरुषत्वको बढ़ाता है तथा हिक्का, श्वास, कास, राजयक्ष्मा, प्रमेह और अति उग्र प्लीहावृद्धि आदिको नष्ट कर देता है।

(४) पीलू रसायन—पीलूके फलोंको १ या २ सप्ताह (या १ मास) तक रोज सुबह सेवन करें। ऊपर थोड़ा-थोड़ा नया अन्न खायँ तो अर्श, ग्रहणी, कृमि और गुल्म रोगका नाश हो जाता है।

(५) विजय चूर्ण—सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, दालचीनी, इलायची, तेजपात, बच, भुनी हींग, पाठा, जवाखार, हल्दी, दारुहल्दी, चव्य, कुटकी, इन्द्रजौ, चित्रकमूल, सौंफ, सैंधानमक, सांभरनमक, समुद्रनमक, बिड़लवण, कालानमक, पीपलामूल, बेलगिरी, अजमोद, इन २८ औषधियोंको समभाग मिलाकर चूर्ण करें। इसमेंसे ४ से ६ माशे दिनमें २ समय निवाये जल या एरण्ड तैलके साथ सेवन करानेसे कास, शोथ, अर्श, भगन्दर, हृदयशूल, पार्श्वशूल, वातगुल्म, उदररोग, हिक्का, श्वास, अनेक प्रमेह, कामला, पाण्डु, आमप्रधान उदावर्त्त, अन्त्रवृद्धि, गुदाके कृमिरोग और अन्य ग्रहणी विकृतिसे उत्पन्न रोग ये नष्ट होते हैं। महाज्वर, भूतोन्माद एवं वन्ध्यापन आदिको दूर करनेके लिये इस विजय चूर्णको आचार्य कृष्णात्रेय ने निर्माण किया है।

रक्तार्श चिकित्सा—(१) मक्खन और तिलके सेवनसे या १ छटाँक बकरीके दूधमें १ तोला काले तिलका कल्क और १ तोला मिश्री मिलाकर सुबह पीनेसे रक्त गिरना बन्द हो जाता है।

(२) कमल केशर और नाग केशर २-२ माशेको मक्खन, मिश्री और शहदमें मिलाकर सुबह सेवन करानेसे रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

(३) लज्जावन्ती, नीले कमलके फूल, मोचरस, लोध, काले तिल और रक्तचन्दनको मिला १॥ तोले लें। फिर २४ तोले बकरीके दूध और दूधसे ३ गुने जलमें मिला दुग्धावशेष क्वाथका सेवन करें या इन औषधियोंका चूर्ण ३ से ४ माशे दूधके साथ देनेसे रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

(४) चिरायता, रक्तचन्दन, धमासा और नागरमोथाका क्वाथ या दारुहल्दी, दालचीनी, खस और नीमकी अन्तरछालका क्वाथ बनाकर सेवन करानेसे रक्तज अर्श शमन हो जाता है।

(५) बेलगिरी या इन्द्रजौके क्वाथमें सोंठ डालकर पिलानेसे और कड़वी तोरईकी जड़का लेप करनेसे रक्तार्श रोग नष्ट होता है।

(६) कुड़ेकी छालका चूर्ण ३ माशे मट्ठेके साथ सेवन करनेसे रक्त गिरना बन्द हो जाता है।

(७) अनारके फलके छिलकेके क्वाथमें सोंठका चूर्ण या रक्त चन्दनके क्वाथमें नागरमोथेका चूर्ण मिलाकर पिलानेसे रक्त गिरना बन्द हो जाता है।

(८) अपामार्गके पत्तोंका कल्क कर चावलोंके धोवनके साथ पिलाने या शतावरीके चूर्णका बकरीके दूधके साथ सेवन करानेसे या अनारके ४ तोले रसमें ६ माशे मिश्री मिलाकर पिलानेसे रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

(९) कुकरौंधेका रस १ से २ तोलेमें ६ माशे मिश्री मिलाकर पिलानेसे रक्तस्राव शमन हो जाता है।

(१०) उतरणके पत्ते २ तोलेको घीमें भून शक्कर मिलाकर खिलानेसे रक्त-स्राव दूर होता है।

(११) गेंदेकी पत्ती ६ माशे और थोड़ी-सी सफेद मिर्च मिला ठण्डाईकी तरह घोट, छानकर पिलानेसे रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

(१२) हुलहुलकी पत्तीका शाक मट्ठा मिलाकर खिलानेसे रक्तस्रावकी निवृत्ति होती है।

(१३) भल्लातकादि मोदक—भिलावे, तिल और हरड़का चूर्ण समभाग और सबसे दुगुना पुराना गुड़ मिलाकर आध-आध तोलेके लड्डू बनावें। इनमेंसे १-१ लड्डू रोज सुबह एक मास पर्यन्त सेवन करनेसे पित्तज अर्श नष्ट होते हैं।

(१४) कुकरौंधेके रसको कढ़ाहीमें औटाकर गाढ़ा करें, फिर स्वरसका १६ वाँ हिस्सा कालीमिर्चका चूर्ण मिला २-२ रत्तीकी गोलियाँ बनालें। १ से २ गोली दिनमें २ समय जलके साथ देते रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें रक्तार्श दूर होते हैं।

(१५) गिलोय सत्व १-१ माशा दिनमें २ समय बकरीके दूध या मक्खनके साथ सेवन करानेसे रक्त गिरना और वेदनाका शमन होता है।

(१६) ५ तोले रीठेके छिलकोंको जलाकर कोयला करें। फिर ६ माशे कत्था मिला लें। इसमेंसे १-१ रत्ती चूर्ण मक्खन या दहीकी मलाईके साथ ७ दिन तक देनेसे रक्तार्श नष्ट होते हैं। यह प्रयोग ६-६ मासके पश्चात् ३ बार करना चाहिये।

(१७) महानिम्ब (बकायन) के फलोंका चूर्ण ४-४ माशे दिनमें २ बार जल अथवा बकरी या गौके दूधके साथ १५ दिन सेवन करानेसे रक्तार्श नष्ट होता है। इन फलोंकी धूनी नली द्वारा मस्सोंको देते रहनेसे मस्से सूख जाते हैं।

(१८) तृणकान्तमणि पिष्टी, बोलबद्ध रस, बोलपर्पटी (प्रथम विधि), काङ्कायन वटी, कुटजादि वटी (मलावरोध न हो, तो), जातिफलादि वटी, कुटजावलेह, अर्शोहरवटी, अर्शोघ्न चूर्ण, नित्योदित रस; शङ्खोदर रस (तुरंत रक्त बन्द करना हो तो), इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन करानेसे रक्तार्श शमन हो जाता है।

(१९) लोह भस्म (त्रिजातके साथ), योगराज रस, नवायस लोह, नित्योदित रस, सुवर्णमाक्षिक भस्म (नागकेशर, तेजपात और इलायचीके साथ), ये सब औषधियाँ रक्तस्रावको दूर करती हैं तथा शूल, हृदय व्यथा, शोथ और पाण्डुताका नाश करती हैं। इनका सेवन रक्तार्श रोगीके लिये अति हितकर है। इनमेंसे जो रोगीकी प्रकृतिको अधिक अनुकूल हो उसे प्रयोगमें लावें।

(२०) पलाशक्षार घृत—पलाशकी राखको १६ गुने जलमें भिगो, ऊपरसे नितरे हुए ८ सेर जलको निकाल लें। पश्चात् उसके साथ २ सेर गोघृत तथा ४० तोले त्रिकटुका कल्क मिलाकर घृतपाक करें। जब फटे हुए दूधके समान आकृति हो जाय और बुद-बुदे उठने लगें तब घृतको सिद्ध समझ कर उतार लेवें। इसमेंसे १-१ तोला घृत दिनमें २ समय पिलाते रहनेसे नये और पुराने अर्शके मस्से नष्ट हो जाते हैं।

(२१) तक्रारिष्ट—हाऊबेर, कलौंजी, धनिया, कालाजीरा, सौंफ कचूर, पीपल, पीपलामूल, चित्रकमूल, गज पीपल, अजवायन और अजमोद इन १२ औषधियोंको १-१ तोला मिलाकर चूर्ण करें। फिर गौके दहीमें ३ गुना जल मिलाकर बनाया हुआ मट्ठा १। सेर मिलाकर चिकने घड़े या अमृतबानमें भर देवें। ३-४ दिन बाद स्वाद खट्टा और चरपरा हो जाय तब पिलानेके लिये उपयोगमें लेवें। भोजनके प्रारम्भ, मध्य और अन्तमें जलके स्थानपर इसका सेवन करावें। यह तक्रारिष्ट दीपन, रुचिकर, वर्णवर्धक, कफ और वायुको अनुलोमन कराने वाला है तथा गुदाकी शोथ, खुजली और वेदनाको दूर करता है एवं बलको बढ़ाता है।

(२२) कालिङ्गादि गुटिका—इन्द्रजौ, कलिहारी, पीपल, चित्रकमूल, अपामार्गके चावल, चिरायता और सैंधानमकको समभाग लेवें। फिर सबके वजनसे दुगुना गुड़ (गुड़की चासनी) मिलाकर जंगली बेरके समान गोलियाँ बना लें। इनमेंसे २-२ गोली मट्ठेके साथ दिनमें २ समय देते रहनेसे अर्श नष्ट हो जाते हैं।

पुराने रोगमें निर्बलता शमनार्थ—अभ्रक भस्म (दाडिमावलेह या कुटजावलेहके साथ), लोहभस्म या वैडूर्यपिष्टीमेंसे किसी एकका सेवन करावें।

वातप्रधान अर्श चिकित्सा।

(१) दुर्नामकुठार वटी, प्राणदा गुटिका या हिंग्वादि चूर्ण, रौप्य भस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म इनमेंसे किसी एकका सेवन करानेसे वातज अर्श शमन हो जाता है।

(२) कल्याण लवण—भिलावे, त्रिफला, (हरड़, बहेड़ा, आँवला), दन्तीमूल और चित्रकमूल ५-५ तोले, सैंधानमक ४० तोले लेवें। सबको जौकुट कर शराव सम्पुटमें डाल, सन्धि लेप करें। फिर सूखनेपर गोबरीकी निर्धूम मृदु अग्निपर पकावें। स्वाँग शीतल होनेपर खरलकर बोतलमें भर लेवें। यह लवण अर्श रोगियोंके लिये अति हितावह है। इस लवणको तक्रके साथ सेवन करावें एवं भोजनमें भी मिला लेवें।

(३) जीर्ण रोगपर—महायोगराज गूगल, योगराज रस और पहले कहे हुए बृहच्छूरण मोदकका सेवन अति हितकर है।

पित्तज अर्श चिकित्सा।

(१) दाह और बेचैनी दूर करनेके लिये राजावर्त्त भस्म, मौक्तिकपिष्टी (मक्खन-मिश्रीके साथ) या प्रवालपिष्टी (गिलोयसत्व और अनार शर्बतके साथ), इनमेंसे एकका सेवन दिनमें २ या ३ बार थोड़े दिनों तक कराते रहना चाहिये।

(२) समशर्कर चूर्ण—छोटी इलायचीके दाने १ तोला, दालचीनी २ तोले, तेजपात ३ तोले, नागकेशर ४ तोले, सफेद मिर्च ५ तोले, पीपल ६ तोले और सोंठ ७ तोले लें। सबको कपड़छान चूर्ण कर २८ तोले मिश्री मिला लें। इस चूर्णमेंसे ४ से ६ माशे प्रातः-सायं बकरीके दूध, शहद, जल या तक्रके साथ सेवन करानेसे पाचन-क्रिया सबल होती है। फिर अर्श, अग्निमांद्य, कास, अरुचि, श्वास, कण्ठविकार और हृद्रोग आदि उपाधियाँ निवृत्त होती हैं।

(३) नेत्रबाला और सोंठको मिला चूर्णकर मिश्री मिले बकरीके दूध या शहदके साथ देनेसे पित्तज अर्शकी वेदना दूर होती है।

(४) गिलोय सत्व अथवा नागकेशर और छोटी इलायचीके चूर्णको मक्खन-मिश्रीके साथ देनेसे दाह और बेचैनी दूर होती है।

(५) भल्लातक मोदक (पहले लिखे हुए) का सेवन करानेसे पित्तज अर्श नष्ट हो जाते हैं।

कफप्रधान अर्श चिकित्सा।

(१) लवणभास्कर चूर्ण या प्राणदा गुटिकाका सेवन करानेसे पाचनशक्ति बलवान बनकर कफज अर्शकी निवृत्ति होती है।

(२) पञ्चकोलका चूर्ण मिला हुआ मट्ठा १ मास तक पिलानेसे कफज अर्श दूर होता है।

(३) ऊपर कही हुई स्नुहीकाण्डादि गुटिकाका सेवन करानेसे कफज अर्श जल जाता है।

(४) उपदंशके उपद्रवरूप अर्श हो, तो—हरताल भस्म, मल्लभस्म, (प्रथम विधि) या मल्लादि वटीमेंसे एक औषधका सेवन कराना चाहिये।

सगर्भाके मलावरोधको दूर करनेके लिये—(१) दो-तीन तोले मुनक्का (बीज निकाली हुई) का क्वाथ कर सुबह पिलानेसे दस्त साफ आ जाता है।

(२) त्रिफला चूर्ण ३ से ४ माशे सुबह निवाये जलके साथ देनेसे ३ घण्टेमें दस्त हो जाता है।

(३) हरड़ या आँवलेका मुरब्बा या गुलकन्द २-३ तोले खिलानेसे मलशुद्धि हो जाती है।

(४) पके ताजे अंजीर २-३ खिलानेसे शौचशुद्धि हो जाती है।

लेपादि बाह्य चिकित्सा।

(१) कासीसादि तैल, अर्शोघ्न तैल, अर्शोहर मल्हम, अर्शोहर लेप, प्रतिसारणीय क्षार (८ गुने मक्खनमें मिलाकर), इनमेंसे अनुकूल औषधका उपयोग करें। शौच जानेके पश्चात् दिनमें २-३ बार लगाते रहनेसे एक दो मासमें मस्से निःसत्व हो जाते हैं।

(२) शिरीष बीजादि लेप—सिरसके बीज, कूठ, पीपल, सैंधानमक, गुड़, मदारका दूध, सेहुण्डका दूध और त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) इन्हें एकत्र मिश्रित कर अर्शोंपर प्रलेप लगाना चाहिये।

(३) क्षार पातन विधि—जो रोगी बलवान् हो, उसे स्नेहन, स्वेदन करा, वातप्रकोप न हो जाय, इसलिये थोड़े प्रमाणमें स्निग्ध-उष्ण पतला अन्न खिलावें। फिर पवित्र स्थानमें बादल, वर्षा आदि उपद्रवसे रहित कालमें तख्त या पलङ्गपर औंधा लिटा कर कमरका भाग कुछ ऊँचा रखावें। पश्चात् अर्शोयन्त्र (गोस्तन सदृश यन्त्र) पर घृत लगा धीरे-धीरे गुदामें प्रवेश करा मस्सोंको सलाईसे दबा सम्हालपूर्वक क्षार (तिजाब) लगावें।

क्षार लगानेके पहले (भीतरके) मस्सेको अर्शोयन्त्रसे पकड़ कर शाखोट (सिहोरा) या निर्गुण्डीके पत्तेसे रगड़ें। फिर सलाईसे क्षारका लेप कर १०० मात्रा काल (३२ सेकण्ड) तक यन्त्रको बन्द रखें। मस्से जामुनके पके फल समान नीले हो जायँ, तो उत्तम; अन्यथा पुनः लेप करें।

अधिक मस्से हों, तो—पहले दाहिनी ओरसे क्षार लगानेका प्रारम्भ करें। फिर बांयी ओर, पश्चात् पीठकी ओर तथा सबके अंतमें आगेकी ओर लगावें। ७-७ दिनमें एक-एक मस्सेको दग्ध करें।

वातज और कफज अर्शको अग्नि या तीव्र क्षारसे दग्ध करें। और पित्त या रक्तसे उत्पन्न अर्शको मृदु क्षारसे जलावें; किन्तु जो मस्से बड़े हों जिनकी जड़ पतली हो; उन्हें शस्त्रद्वारा ही काटना चाहिये।

सूचना—यदि अति दग्ध होनेसे मूर्च्छा, दाह, ज्वर आदि उपद्रव हो जाय, तो शीतल वातपित्तशामक उपचार करें। शीतल अम्ल रससे क्षारकी उग्रताका शमन होता है। यदि भूल होगी तो भ्रम, नपुंसकता, शोथ, दाह, मद, मूर्च्छा, आफरा, मलावरोध, अतिसार और प्रवाहिका आदि रोगोंकी उत्पत्ति हो जायगी अथवा कचित् मृत्यु भी। इसलिये खूब सम्हालपूर्वक दग्धक्रिया करनी चाहिये।

क्षार लगानेके पश्चात् भूपी सह धानकी कांजीसे सिञ्चित करें। फिर मुलहठीके कल्कमें घीको मिलाकर लेप करें।

अग्निसे दग्ध करनेपर मस्से मुलायम ताड़के फल सदृश सफेद हो जाते हैं और रक्त जम जाता है। फिर दाह शमनके लिये घी और शहद लगाना चाहिये या सम्यक दग्ध होनेपर वंशलोचन, पाखरकी छाल, सफेद चन्दन, सोनागेरु और गिलोयका चूर्ण इन ५ औषधियोंको घीके साथ मिलाकर लेप करें। फिर निवाये जलसे भरे हुए पात्रमें आधसे पौन घण्टे तक बैठावें।

(४) पीपल, सैंधानमक, कड़वा कूठ और सिरसके बीजको थूहरके दूध या आकके दूधमें पीसकर लेप करनेसे बवासीर नष्ट हो जाती है। परन्तु लेप दूसरी जगह न लग जाय इस बातका लक्ष्य रखना चाहिये अन्यथा दाह होने लगता है। कदाच दाह हो जाय, तो घी या मक्खन लगावें।

(५) हल्दी मिलाये हुए थूहरके दूधमें ७ बार या अधिक समय डुबो डुबो कर सुखाये हुए मजबूत डोरेको अर्शपर कस कर बाँध देनेसे थोड़े ही दिनोंमें मस्से कटकर गिर जाते हैं।

(६) सेंहुड़के दूधमें हल्दी मिलाकर मस्सेपर एक बिन्दु लगावें। दूसरे-तीसरे दिन पुनः-पुनः उसी स्थानपर बिन्दु लगावें। इस तरह ३-४ समय बिन्दु लगानेसे मस्से गिर जाते हैं।

(७) कड़वी तोरईका चूर्ण मस्सेपर मलनेसे मस्से गिर जाते हैं।

(८) मनुष्यकी हड्डीका कोयला और नीलाथोथाका फूला १-१ तोला और

दाल चिकना ६ माशे लें। इन तीनोंको खरल कर ५ तोले धोये घीमें मिला मलहम बनाकर मस्सेपर लेप करनेसे मस्से गिर जाते हैं।

(८) कच्चे पपीते (एरण्ड ककड़ी) का रस मस्सेपर ३ से ७ दिन तक दिनमें दो-दो बार लगानेसे मस्से नष्ट हो जाते हैं।

(९) सूअरकी चर्बीमें अफीम मिलाकर अर्शपर लेप करते रहनेसे मस्से मुर्झा जाते हैं।

(१०) कड़वी तोरईके फूलको गुड़ (गुड़की चाशनी) में मिलाकर बत्ती बनावें। इस बत्तीको गुदामें रखनेसे मस्से नष्ट हो जाते हैं।

(११) कड़वी तुम्बीके बीज और सांभर नमकको मिला कांजीमें पीस २-२ माशेकी ३ लम्बी गोलियाँ बनावें। ३ दिन तक एक-एक गोली गुदामें रखें और भैंसका दही खावें तो अर्श दूर हो जाता है।

(१२) हरड़, कड़वी तोरई और समुद्रफेनको जल या मट्ठेमें पीसकर लेप करनेसे मस्से सूख जाते हैं।

(१३) अफीम १ भाग, कपूर ४ भाग और सज्जीखार ८ भाग और सबके समान धोया गोघृत लें। सबको मिला अर्शपर लेप करते रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें अर्श नष्ट हो जाते हैं।

(१४) नीमकी निबोलीकी मींगी १० तोले और १ तोला सांभर नमक या बिड़नमक मिला बारीक पीस कल्क कर ग्लासमें डालें। ऊपर थोड़ा जल डालें। थोड़े समय बाद इसमेंसे २ समय लेप लगाते रहनेसे मस्सेकी वेदना नष्ट हो जाती है।

(१५) आकका दूध, थूहरका दूध, कड़वी तुम्बीके पत्ते और करंजकी छाल इन ४ औषधियोंको बकरेके मूत्रमें खरलकर दिनमें २ समय लेप करते रहनेसे अर्शके मस्से थोड़े ही दिनोंमें गिर जाते हैं।

(१६) हल्दीको थूहरके दूधमें घिसकर लगानेसे मस्से गिर जाते हैं।

(१७) बीज सहित कड़वी तुम्बीको काँजीमें पीस गुड़ मिलाकर पुल्टिस बना मस्सेपर बाँध देनेसे मूल सह अर्श रोग नष्ट हो जाता है।

(१८) पीलूके तैलमें कपड़े या रुईकी बत्तीको भिगो गुदामें रखनेसे अर्शके अंकुर गिर जाते हैं और पीड़ा भी नहीं होती।

(१९) हाथीकी लीद, घी, राल, शिलारस, हल्दी और थूहरके दूधको पीसकर मस्सेपर लेप करनेसे मस्से दूर हो जाते हैं।

(२०) कुकरौंधा, भाँग और मरवेके पत्तोंको जलमें पीस टिकिया बना, निवायी कर प्रातः-सायं मस्सेपर बाँधते रहनेसे तीक्ष्ण पीड़ा सह अर्श रोग दूर हो जाता है।

(२१) भाँगकी पत्तीको दूधमें पीस निवायी कर गुदापर बाँध देनेसे मस्सेकी शोथ और वेदना नष्ट होती है।

(२२) अर्शोहर वटी—चित्रकमूल, सोहागेका फूला, हल्दी और गुड़ सबको समभाग मिला जलके साथ खरलकर सोगठियाँ (शिखर आकारकी गोलियाँ) बना लें। इनमेंसे एक सोगठीको जलमें घिस शौच जानेके पश्चात् दिनमें २ या अधिक बार मस्सेपर लेप करते रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें मस्से निर्मूल हो जाते हैं।

सूचना—मलावरोध रहता हो, तो ४ माशे हरड़का चूर्ण थोड़ा गुड़ मिलाकर रात्रिको सेवन करते रहनेसे शौचशुद्धि होती रहती है और मस्से नष्ट होनेसे सहायता मिल जाती है।

अर्शोहर लेप—लगभग १ सेर वजनका मारु बैंगन लेकर डण्ठल तक ४ फाँक करें। फिर उसमें ३ माशे नीले थोथेका चूर्ण भरकर ऊपर कपड़ा लपेट लेवें। पश्चात् एक हांडीमें चांवल पकावें और उसमें इस बैंगनको दबा देवें। चांवल पक जानेपर बैंगनको निकाल एक कांच या चीनी मिट्टीके पात्रमें रस निचोड़ लेवें और चावलोंको जमीनमें गाड देवें। इस रसमें रुईका फोहा भिगो गुदाके द्वारको खोल, मस्सेपर रखें। पश्चात् ऊपर आकका पत्ता रख लँगोट बाँध लेवें। यह क्रिया रात्रिको सोनेके समय करनेसे बहुधा एक ही रात्रिमें मस्से जल जाते हैं। यह बिल्कुल निर्भय और उत्तम प्रयोग है।

इस रोगपर कितने ही चिकित्सक भल्लादि औषध प्रधान लेप करते हैं, जिससे दारुण व्यथा होती है, किन्तु मस्से नष्ट हो जाते हैं। वैसे कुछ उपाय रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह (द्वितीय-खण्ड)में लिखे हैं।

सगर्भाके मस्सेपर लेप—(१) रसौंतको जलमें पीसकर दिनमें २ समय लेप करें।

(२) माजूफलको जलमें घिस थोड़ी-सी अफीम मिलाकर मस्सेपर लेप करनेसे मस्सेकी वेदना शान्त हो जाती है।

(३) अर्शोहर मल्हम (चौथी विधि) का अथवा दाह अधिक हो, तो अर्शोहर मल्हम (दूसरी विधि) का लेप करें।

(४) मस्से फूल गये हों तो भांगको जलमें पीस थोड़ा घी मिला गरमकर

पुल्टिस जैसा बना मस्सेपर या गुदद्वारपर बांध देनेसे जलन, शोथ और खुजली दूर होती है।

सगर्भाके दाहसह रक्तार्शपर—कामदुघा रस दिनमें २ से ३ समय बकरीके दूध अथवा मक्खन मिश्री या ताजे मठ्ठेके साथ देते रहें।

सूजन और तीक्ष्ण दर्दमें धूम्र—(१) अर्शोघ्न धूम्र देनेसे वेदना शीघ्र शमन हो जाती है।

(२) आककी जड़, शमीके पत्ते, मनुष्यके केश, सांपकी केंचुली, बिल्लीका चमड़ा और घीको मिला, अग्निपर डाल मस्सेको धूआ देनेसे मस्से मुरझा जातेहैं।

(३) कपूरका धूँआ नली द्वारा मस्सोंपर देनेसे रक्त गिरना बन्द होता है; तथा कीटाणु नष्ट होते हैं।

(४) भैंसके सींग जंगलोंमें गिरजानेसे उसमें अंकुर फूट जाते हैं। ऐसे सींगोंके २ तोले चूर्णको घीमें मिला, फिर अग्निपर डालकर धूँआ देनेसे मस्से मुरझा जाते हैं।

(५) देवदाली (बंदाल) के सूखे फलका धूँआ देनेसे पीड़ा शमन होती है।

(६) लोबानका धूँआ देनेसे तीक्ष्ण पीड़ा दूर होती है।

(७) सरसोंके तैलमें रालका चूर्ण मिलाकर मस्से पर धूँआ देनेसे रक्त स्राव शमन हो जाता है।

(८) मस्से पर कुचलेका धूँआ देनेसे शोथ, रक्तस्राव और वेदनाकी निवृत्ति होती है।

(९) बड़ी कटेलीके फल, असगंध, पीपल, तुलसी और घृतको मिला मस्से पर धूनी देनेसे मस्सेकी वेदना और खुजली शमन होती है।

अर्शोहर सेक—(१) तिलोंकी लुगदी बना कपड़ेमें बांध गरमकर सेक करनेसे मस्सोंकी पीड़ा नष्ट हो जाती है।

(२) देवदालीके फलोंको औटाकर नली द्वारा मस्से पर बाष्प देनेसे बवासीरकी पीड़ा दूर होती है।

(३) एरण्डमूल, देवदारु, रास्ना और मुलहठी सब समभाग और गेहूँका दलिया सबके समान मिला दूधमें डालकर पकावें। फिर रोगीसे सहन हो सके उस तरह इससे सेक करनेपर बवासीरकी तीव्र वेदना शमन होती है।

(४) बच और सौंफको पीस थोड़ा घी मिला गरम कर निवाया-निवाया लेप और सेक करनेसे वेदना शीघ्र शमन होती है।

(५) हुक्केके सड़े हुए जलसे आबदस्त लेनेसे बवासीरकी खुजली, शोथ और वेदना दूर होते हैं।

(६) काकड़ासींगीके भिगोये हुए जलसे आबदस्त लेनेसे अर्शकी वेदना दूर होती है।

(७) नीमकी निबौलीका तैल निकाल मस्सोंपर लगानेसे मस्सेकी पीड़ा दूर होती है।

लिङ्गार्श पर लेप—(१) अपामार्गका चार और हरताल दोनोंको मिलाकर लेप करनेसे नये और पुराने लिङ्गार्श नष्ट होते हैं।

(२) छोटी हरड़, कड़वी तोरई और समुद्रफेनको मट्ठेमें पीसकर दिनमें २-३ बार लेप करनेसे लिङ्गार्श दूर होता है।

चर्मकील—चर्मकीलको शस्त्रसे काटकर फिर चार या अग्निसे जला देना चाहिये।

अस्त्र-चिकित्साके उपद्रवोंका उपचार।

(१) यदि मस्से अति दग्ध होनेसे ज्वर आ जाय तो शीतल वातपित्तशामक उपचार करना चाहिये।

(२) मल-मूत्रावरोध हो जाय, तो निवाये जलमें जवाखार १ से २ माशे मिलाकर पिलावें और वरना, गोरखमुण्डी, एरण्डमूल, गोखरू, पुनर्नवा, कालाजीरा और गन्धतृणको ३२ गुने जलमें मिला उबाल, टब या कढ़ाहीमें भर निवाया रहने पर उसमें बैठावें।

(३) गुदामें दाह हो जाय, तो शतधौत घृतका लेप करें।

(४) बस्तिशूल हो जाय, तो पुनर्नवा, कूठ, गन्धतृण, सौंफ, अगर और देवदारुको मिला कल्ककर नाभिके नीचे बस्तिस्थान पर लेप करें।

(५) व्रण पक जाय, तो व्रण शुद्धिके लिये त्रिफलाके क्वाथमें १ माशा शुद्ध गूगलको मिलाकर पिलावें तथा व्रणहर मलहम का लेप करें।

रक्तस्रावघ्नी पेया—अम्लोनिया, नागकेशर और नीले कमलके साथ खीलोंके सत्तूको मिला पेया बनाकर सेवन करानेसे रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

खरैंटी और पृश्निपर्णीके क्वाथमें या कुड़ेकी छालके क्वाथमें पेया बनाकर पिलानेसे रक्तस्राव शमन होते हैं।

अधोवायु और मलका अवरोध होनेपर मोर, तीतर, लावा, मुर्गा या बटेर के मांसरसमें मट्ठा या अन्य दाड़िम आदि खटाई मिलाकर देवें।

पथ्यापथ्य—

पथ्य—विरेचन, लेप, रुधिर निकालना, चार, अग्निसे दाग देना, शस्त्रकर्म, साफ हवामें घूमना, नदी और तालाबमें स्नान, पुराना लाल शालि और साँठी चावल, गेहूँ, जौ, मूंग या कुल्थीकी दाल, परवल, कच्चा पपीता, कच्चा केला, सुहिंजनेकी फली, गूलरके कच्चे फल, पुनर्नवा, नीबू, आँवले, पके कैथ, मृगमांस,

करेला आदि कड़वे पदार्थ, लहसन, प्याज, सूरण (जमीकंद), बथुआ, चौलाई, पोई पालक, जीवन्ती, कोमल मूली, कोमल बेंगन, काँजी, सरसोंका तैल, एरण्ड तैल, एरण्ड तैलमें तली हुई पूरी, तक्र, घी, बकरीका दूध, मक्खन, सैंधानमक, काला नमक, गोमूत्र, छोटी इलायची, हरड़, चित्रकमूल, भिलावा, काँजी, काले तिल, किसमिस, अँगूर, अनार, मिश्री, पीलूके फल, जीरा, धनियाँ, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, अजमोद, दीपन-पाचन अन्न-जल, वायुकी गतिको अनुलोम करने वाले आहार-विहार और औषध ये सब हितकारक हैं।

अपथ्य—अनूप देशके पशुओंका मांस, मत्स्य, तिलकूट, भैंस और गौका धारोष्ण दूध, दही, मैदाके पदार्थ, भुने हुए पदार्थ, उड़द, नया चावल, सेम, बेलफल, सफेद मीठी तुम्बी, चौलाई, जीवन्ती, भसोंडे, पक्के आम, मलावरोध करने वाले समस्त पदार्थ, पक्का भोजन, सूर्यका ताप, अग्नि-सेवन, नदी का जल, वमन, बस्ति, पूर्वकी दिशाकी वायु, मल मूत्र आदि वेगका धारण, स्त्री समागम, घोड़े आदिपर सवारी, उकड़ू बैठना, वायुको प्रकुपित करने वाले आहार विहार ये सब अपथ्य हैं।

मलावरोध होनेपर इस रोगमें अधिक त्रास होता है। इसलिये मलावरोध न होने दें; कदाच कब्ज हो जाय तो हरड़ आदि सौम्य वस्तुका सेवन करा उसे शीघ्र दूर करना चाहिये।

सूचना—जिनको भिलावा अनुकूल न रहे, शोथ लावे या दाह करे, उनको नहीं देना चाहिये।

यदि अधिक रक्तस्राव होता हो, तो रक्तपित्त रोगके समान भी पथ्यापथ्य का पालन करना चाहिये।

डाक्टरी चिकित्सा।

डाक्टरीमें अर्शके मस्सेपर लगानेके लिये निम्न मल्हमोंका उपयोग होता है :—

(१)	कोकेन हाइड्रोक्लोराइड	Cocainae Hydrochlo	१० ग्रेन
	मोर्फिन ,,	Morphinae ,,	५ ग्रेन
	एट्रोपीन सल्फेट	Atropinae Sulphatis	४ ग्रेन
	एसिड टेनिक	Acid Tannic	२० ग्रेन
	वेसलीन	Vaseline	४ ड्राम

इन सबको मिला लेवें; सुगन्धिके लिए गुलाबका इत्र थोड़ा डाल दें। इसमें से थोड़ा-थोड़ा दिनमें २-३ बार मस्सेपर शौच जानेके बाद लगाते रहें। इससे वेदना शमन होती है रक्तस्राव और शोथ नष्ट होता है।

(२) मस्सेपर अधिक खुजली आनेपर—

क्राइसरोबीन	Chrysarobin	१५ ग्रेन
आइडोफॉर्म	Idoform	६ ग्रेन
एक्स्ट्रेक्ट बेलाडोना	Ext. Belladonna	१२ ग्रेन
वैसलीन	Vaseline	५। ग्रेन

इन सबको मिलाकर मल्हम बना लेवें। फिर दिनमें २-३ बार लगाते रहें। लगानेके पहले कार्बोलिक सोल्युशन (१-४०) से धो लेवें। पूय बनने और कण्डू आनेपर यह मल्हम लगाया जाता है।

डाक्टरीमें रक्तस्राव बन्द करनेके लिये अर्क हेमेमेलिस (Tinct. Hamamelis) दिनमें ३ बार पिलाते हैं तथा अर्क हेमेमेलिसओ ग्लिसरीनके साथ समभागमें मिलाकर मलत्यागके पश्चात् प्रत्येक बार पिचकारी द्वारा आध-आध औंस चढ़ाते हैं।

अग्निमान्द्य।

मन्दाग्नि, जोफ उल मे अदा-एटोनिक डिस्पेप्सिया-एनोरेक्सिया— (Atonic Dyspepsia-Anorexia)

जठराग्निके ४ प्रकार हैं। सम, विषम, तीक्ष्ण और मन्द। जब वात, पित्त और कफ तीनों दोष सम अवस्थामें रहते हैं, तब अग्नि सम; वात वृद्धि होनेसे विषम, पित्ताधिकता होनेसे तीक्ष्ण और कफ दोष बढ़नेपर अग्नि मन्द हो जाती है।

यदि अग्निमांद्य होनेपर शीघ्र योग्य चिकित्सा न की जाय, तब विषमाग्नि से अनेक प्रकारकी वातज व्याधि, तीक्ष्णाग्निसे पित्तज व्याधि, और मन्द अग्निसे कफज व्याधियोंकी उत्पत्ति होती है। इसलिये अग्निमांद्यकी उपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिये। इस विषयमें प्राचीन आचार्योंने कहा है, कि—

"अस्तु दोषशतं क्रुद्धं सन्तु व्याधिशतानि च।
कायाग्निमेव मतिमान् रक्षन् रक्षति जीवितम्॥

यदि सैकड़ों दोष कुपित हुए हों या सैकड़ों प्रकारकी व्याधियां हो गई हों, तो भी बुद्धिमान्‌को चाहिये कि जठराग्निका आग्रहपूर्वक रक्षण करनेके साथ जीवनकी रक्षा करें।

(१) वातप्रधान अग्निमान्द्यके लक्षण—भोजन कभी पचन होना, कभी न होना, आफरा, उदावर्त्त, मलावरोध, शूल, पेटमें भारीपन, कचित् अतिसार और अन्त्रमें गुड़गुड़ाहट आदि लक्षण होते हैं।

(२) पित्तप्रधान अग्निमान्द्यका लक्षण—इस प्रकोपमें पित्त तीव्र होजाता

है, जिससे खाया हुआ अन्न जल जाना, अधिक प्रस्वेद, दाह, प्यास, निद्रा कम आना, पतले पीले दस्त और मूत्रमें पीलापन आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

(३) कफ प्रधान अग्निमान्द्यके लक्षण—खाया हुआ अन्न बहुत देरमें पचन होना, कफवृद्धि, आमसंचय, आलस्य, निद्रावृद्धि, मुँहमें मीठापन, उबाक, क्वचित् वमन, ग्लानि तथा शिर और पेटमें भारीपन आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

(४) भस्मक—तीक्ष्णाग्नि-बुलिमिया (Bulimia)—

इस रोगमें जठराग्नि प्रकुपित होकर आहारके सर्वांशको जला कर भस्म कर देती है। इस हेतुसे इसे आचार्योंने भस्मक रोग कहा है। इस भस्मक रोग की संप्राप्ति होनेपर यदि क्षुधा कालमें भोजन न मिले, तो जठराग्नि रस-रक्त आदि धातुओंको भस्म करने लगती है।

भस्मक रोगके निदान—हींग, राई आदि अत्यन्त तीक्ष्ण द्रव्य, क्षार आदि या शुष्क भोजन, अथवा गांजा, चरस, गन्धक या ताम्र भस्म आदि पित्त प्रकोपक औषधियोंका अति सेवन, काकमांस या मार्जार मांसका भक्षण, इन कारणोंसे एवं मधुमेह, गलगण्ड, कृमिविकार और अन्य क्षयोत्पादक रोगोंके हेतुसे कफक्षय और वातपित्तप्रकोप हो जाता है, जिससे ४-६ गुने आहार करनेपर भी रोगीको सच्ची तृप्ति नहीं होती। भोजन करनेपर कुछ समय तक शान्ति रहती है। किन्तु भोजन पच जानेपर पुनः हाथ पैर टूटने लगते हैं और रक्त-मांस आदि धातुओंका क्षय-होने लगता है। इस तरह बार-बार भोजन पचता रहता है और भस्मक रोगसे पीड़ित मनुष्य बार-बार खाता रहता है।

ऊपर कहे हुए कारणोंके अतिरिक्त किन्हीं-किन्हीं स्त्रियोंकी सगर्भावस्थामें कुछ दिनोंके लिये क्षुधा अति प्रदीप्त हो जाती है और भस्मक रोगके समान लक्षण प्रतीत होते हैं।

भस्मक रोग लक्षण—भोजन करनेपर थोड़े ही समयमें क्षुधा लग जाना, तृषा, श्वास, शुष्क कास, पसीना, दाह, शोथ, मूर्च्छा, शुष्क त्वचा, कृशता, क्रोध, नेत्रमें लाली, निद्रा कम हो जाना, बेचैनी, मल-मूत्रमें पीलापन और क्वचित् अतिसार आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

अग्निमान्द्य-डाक्टरी मत।

आमाशयके रोग समझनेके पहले भोजनमें रहे हुए द्रव्य और आमाशयमें होती हुई पचनक्रियाका संक्षेपमें वर्णन करनेकी आवश्यकता रहती है। अपने खान-पानके पदार्थोंमें रासायनिक दृष्टिसे (१) कार्बोदक Carbohydrates) (२) प्रथिन (Protein), (३) वसा (Fat), (४) जल, (५) लवण और (६) जीवन सत्व (Vitamin) ये सब न्यूनाधिक परिमाणमें मिश्रित

रहते हैं। इनके अतिरिक्त खाद्य पदार्थोंमें विद्युत् (इलेक्ट्रिसिटी Electricity) भी होती है।

(१) कार्बोदक—यह तत्त्व मधुरता प्रधान है। यह शरीरमें पहुँच कर शक्तिको उत्पन्न करता है। शक्कर, चावल, गेहूँ, बाजरी, जौ, दाल, अरारोट, अंगूर, आम, अंजीर, शकरकन्द, आलूबुखारा, ईख आदि मीठे फल, सबमें यह तत्त्व विशेषांशमें मिलता है। यह तत्त्व मांसकी अपेक्षा वनस्पतियोंमेंसे बहुत अधिक मात्रामें मिलता है।

इसमें ३ प्रकार हैं—शर्करा (Sugar), श्वेतसार अर्थात् निसास्ता (Starch) और काष्ठौज (Cellulose), इनमेंसे शर्करा और श्वेतसार शक्तिवर्धक और वसाप्रद हैं। काष्ठौजका पचन मानव जठराग्नि से नहीं होता। फिर भी भोजनमें काष्ठौजकी आवश्यकता रहती है। काष्ठौज होने पर दाँत साफ होते हैं और भोजनका पचन शीघ्र होता है। इसके अभावमें बद्धकोष्ठ हो जाता है।

(२) प्रथिन—यह देहके प्रत्येक कोषाणुमें रहता है। इस तत्त्वसे मांसकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है। इस हेतुसे इसे पौष्टिक तत्त्व कह सकते हैं। जिन वस्तुओंमें नत्रजन (नाइट्रोजन) होता है, उनको प्रथिन युक्त कहते हैं। यह तत्त्व वनस्पतिवर्ग, और प्राणिवर्ग दोनोंसे प्राप्त होता है।

दूध, दही, मक्खन, प्राणियोंके यकृत्, वृक्कस्थान, मांस, मछली, बिना चोकर निकाला गेहूँका आटा, पत्तीशाक, इनमें प्रथिन तत्त्व विशेष परिमाणमें है। चोकर निकाला गेहूँका आटा, जौ, बाजरी, चावल (बिना पालिस वाला) दाल, मटर, चना, मसूर, आलू, गाजर, शलगम, मूली, भिण्डी, तोरई, परवल, घीया आदि शाक और फलोंमें प्रथिन तत्त्व मध्यम परिमाणमें है। मीलके चावल, मैदा, पुराने गेहूँ, जौ, ज्वार आदि अन्न मकों और अन्य क्षुद्र धान्योंमें न्यून परिमाणमें रहा है।

(३) वसा—यह स्निग्धता प्रधान तत्त्व है। मेद, मज्जा आदि इस तत्त्व के रूपान्तर हैं। यह तत्त्व सर्दी और गर्मीसे त्वचा इन्द्रियाँ और सन्धिस्थान आदिके संरक्षणमें उपयोगी है। इस तत्त्वकी प्राप्ति घी, मक्खन, तैल, चर्बी आदि पदार्थोंमेंसे विशेषांशमें होती है। यह तत्त्व पशु आदि प्राणि द्वारा अधिक मात्रामें और वनस्पतिसे न्यूनांशमें मिलता है।

(४) जल—मानव शरीरमें जल ७०% भाग है। देहकी कोमलता, आर्द्रता और स्वच्छता जलसे रहती है। जलके हेतुसे प्रस्वेद, मूत्र एवं मल द्वारा विष बाहर निकलता रहता है। भोजनके सब पदार्थोंमें न्यूनाधिक अंशमें जल रहता

है। सामान्यतया भोजनमें लगभग आधेसे अधिक भाग जल रहता है। इसके अतिरिक्त भी जलका सेवन किया जाता है। जलका अभाव होनेपर पाचक रसकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

(५) लवण शरीरके प्रत्येक अणुमें रहता है। इस तत्वसे ही अस्थि और दाँत बनते हैं। यह तत्व शाक, फल, दूध, जल आदि सब पदार्थोंमें न्यूनाधिक मात्रामें रहता है। यह तत्व वनस्पति, प्राणिवर्ग और जल सबसे प्राप्त होता है।

अपनी देहमें ४ प्रतिशत लवण है। इस तत्वके मुख्य २ प्रकार हैं—क्षार-जनक और अम्लताजनक। क्षारजनकमें खटिका (केलशियम), पालाश (पोटेशियम), सामुद्र (सोडियम) आदि क्षार, अम्लता जनकमें स्फुर (फास्फरस), गन्धक, हर (क्लोरिन) आदि अम्ल पदार्थ हैं।

इनके अतिरिक्त लोह, ताम्र, मञ्ज (Manganese), असद, स्फटिका (Aluminium), शैल (Silica), योद (Iodine), प्लव (Flourine) आदि द्रव्य भी अति सूक्ष्म परिमाणमें रहते हैं।

(६) जीवनसत्व—इस तत्वको अनेक विद्वानोंने खाद्योज नाम भी दिया है। यह शारीरिक समस्त क्रियाओंको उत्तेजना देता है। अस्थि और दाँत बनाना, रक्तको निर्दोष रखना, नाड़ियोंको स्वच्छ रखना, व्याधिनिग्रह रूप शक्ति प्रदान करना ये सब कार्य इस विटामिन तत्वसे होते हैं। इस संसारमें इस अति आवश्यक तत्वकी उत्पत्ति सूर्यप्रकाशके सम्बन्धसे वृक्षोंके पत्तोंमें अधिक मात्रामें होती है। विद्वानोंने इस तत्वके अनेक विभाग किये हैं। इनमें से मनुष्योंके लिये ६ मुख्य हैं। इनमेंसे A, D, E, K वसामें घुल जाते हैं, अतः वे वसाद्राव्य कहलाते हैं; तथा B, C जलमें घुलते हैं, अतः वे जलद्राव्य कहलाते हैं।

जीवनतत्व A भोजनके पदार्थ—मांस, दूध आदिको अधिक उबालनेपर यह उड़ जाता है। यह तत्व मछलीका तैल, अण्डेकी जर्दी, घी, मक्खन, पशु-पक्षियोंके यकृत् और वृक्कस्थान, बकरेकी चर्बी, बकरीका घी, करमकल्ला, मूली, टमाटर, गाजर, पत्तीशाक, भुने हुए चने और मक्की आदिमें अधिक परिमाणमें मिलता है।

मक्खन निकाला दूध, दाल, चना, मटर, सेम, गेहूँ जौ, चावल, प्याज, आलु, नारियलका तैल, तिलका तैल और शहद आदिमें न्यून परिमाणमें रहता है।

मैदा, मीलके पालिशके चावल, विदेशी यन्त्रोंसे निकाले हुए सरसोंके तैल, बादामके तैल, कृत्रिम घी इत्यादिमें यह तत्व बिल्कुल नहीं मिलता। इस तत्व की कमी रहनेपर जुकाम, न्यूमोनिया, नेत्र रोग, मसूड़ोंकी विकृति आमाशय

विकार और कीटाणुजन्य अन्य रोग हो जाते हैं।

जीवनसत्व B—इस सत्वके ७ उप विभाग हैं। यह संक्रामक रोगोंसे रक्षा करनेकी शक्ति प्रदान करता है। मस्तिष्क, हृदय, यकृत्, पाचकसंस्था और मांस आदि अवयवोंको पुष्ट बनाता है। यह द्रव्य कम मिलनेपर वेरीरोग Beri Beri (पक्षाघात और शोथके मिश्रित लक्षणयुक्त रोग) उत्पन्न होता है। (बंगाल में मिलोंके पालिश किये चावलोंके सेवनमें यह रोग विशेष परिमाणमें होता है) हृदय निर्बल बन जाता है और शोथ आदि व्याधियाँ हो जाती हैं।

यह तत्त्व अण्डे, गेहूँके अंकुर, चोकरवाला आटा, जौ, मक्की, बाजरा, सेम, मटर, चना, मसूर, मूँग, अलसी, अखरोट, टमाटर, शलगम, मूलीके पत्ते, इनमेंसे अधिक परिमाणमें प्राप्त होता है। आटा, चावल, शक्कर, केला, पपीता संतरा, नींबू और तैलमेंसे न्यून परिमाणमें मिलता है।

जीवनसत्व C—यह अधिक उष्णता पहुँचनेपर नष्ट हो जाता है। यह तत्त्व रक्तपौष्टिक है। इसकी न्यूनता होनेपर मसूढ़े शिथिल हो जाते हैं और उनपर शोथ आ जाता है। त्वचामें स्थान-स्थानपर चकत्ते हो जाते हैं और रक्त-स्राव होने लगता है। अस्थियाँ और दाँत निर्बल हो जाते हैं। आँतोंकी क्रिया रोगविनिग्रह शक्ति मन्द हो जाती है। यह सत्व ताजी शाक-भाजी और फल-फूलोंमें विशेष परिमाणमें रहता है। मांस, सूखे फल, विलायतसे डिब्बेमें आने वाले रबड़ी समान गाढ़े दूध और अनाजमें नहीं मिलता। तथापि मूँग, चने आदिको जलमें भिगो, बाँधकर अंकुर निकाले जायँ, तो उनमें इस तत्त्वकी और B की उत्पत्ति भलीभांति हो जाती है। दूध, दही, करमकल्ला, उबाला हुआ आलू, कच्ची गाजर, शलगम, तरबूज, केला, सेव, नासपाती इत्यादिमें यह तत्व न्यूनांशमें रहता है। आँवलोंमें यह तत्व सबसे अधिक परिमाणमें होता है।

जीवनसत्व D—यह तत्व विशेषतः अस्थियोंका पोषक है। इस तत्वका अभाव होनेपर बालकोंको अस्थिवक्रता (Rickets) रोग और बड़ोंको (इनमें भी स्त्रियोंको) अस्थिमार्दव (Osteo Malacia) रोग हो जाता है। इसके अतिरिक्त पक्षवध, संधिरोग, मांसकी शिथिलता और कामला आदि भी उत्पन्न होते हैं। परन्तु भारतवर्षमें सूर्यका प्रकाश पूर्ण मिलनेसे इन रोगोंकी उत्पत्ति बहुत कम होती है। यह तत्त्व मछलीके तैल, मक्खन, घी और दूधमें अधिक परिमाणमें मिलता है।

विटामिन E—यह तत्व शुक्र और रजमें जीवाणुओंकी उत्पत्ति कराता है। इस तत्वके अभावसे पुरुष और स्त्रीमें गर्भधारण शक्ति नहीं आती। मांस, अण्डे, गेहूँ आदिके अङ्कुरोंमें यह अधिकांशमें और दूधमें न्यूनांशमें रहता है।

जीवनसत्व K—यह तत्व यकृत्में मिलता है। इसका अभाव होनेपर

रक्तस्राव हो, तो यह शीघ्र बन्द नहीं होता। यदि सगर्भा माताकी देहमें इस सत्वका अभाव हो तो बालकका जन्म होनेके पश्चात् रक्तस्राव बन्द नहीं होता। इस तरह कोई साधारण चोट लगजाय तो भी अधिक रुधिर निकल जाता है। इस जीवन सत्वकी प्राप्ति गोभी, मछली, अण्डेकी जर्दी, स्पिनाक आदिसे होती है।

इन जीवन सत्वों और आहारका विशेष वर्णन रुग्ण परिचर्या में किया गया है।

(७) विद्युत् शक्ति—इस शक्तिका सम्बन्ध शरीर और मनके साथ है। इसमें मनके साथ मुख्य सम्बन्ध होनेसे इसे मानसिक शक्ति कह सकेंगे। यह शरीर संरक्षण और वृद्धिके लिये सत्व प्रदान करती है। सारे संसारमें जो व्यापक विद्युत् है, उससे हमारी इस विद्युत् शक्तिका घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। शारीरिक आहारसे यह जितनी मिलती है, उससे अनेक गुणी अधिक मानसिक क्रिया द्वारा मिलती है। यह शक्ति मन, शारीरिक अवयव, रस, क्रिया और रोग आदि पर अपना अच्छा बुरा प्रभाव पहुँचा सकती है। मानसिक प्रसन्नता से शारीरिक अवयव सबल हो जाते हैं; तथा मानसिक शक्तिको प्रेरणासे दुष्कर व्याधियोंका विनाश भी हो जाता है, इसके विरुद्ध मानसिक चिन्तासे शारीरिक शक्तिका ह्रास और नाना प्रकारकी व्याधियोंकी उत्पत्ति हो जाती है एवं प्रबल मानस शक्तिवालोंके शाप द्वारा घोर व्याधियोंकी उत्पत्ति और मृत्युकी प्राप्ति भी हो जाती है।

पचनक्रिया—यह यान्त्रिक (mechanical) और रासायनिक (Chemical) इन दो क्रियाओंपर निर्भर है। भोजनका विविध पाचक रसके साथ योग्य सम्मिलन कराना यह यान्त्रिक क्रियापर अवलम्बित है तथा उन पाचक रसों द्वारा भुक्त भोजनका परिपाक होता है अर्थात पाचक प्रथिन (Pepton) बनता है। पाचक रसका निःसरण और उनकी योग्य क्रिया ये सब रासायनिक परिवर्तनके अन्तर्गत हैं।

यान्त्रिक क्रियाके योगसे पहले आहार द्रव्यके अवयव आकार अवस्थामें रूपान्तर होता है। यह रूपान्तर अन्न आदिको कूटने, पकाने और दाँतोंसे चबानेसे होता है। मुँहमें चबानेकी क्रिया योग्य करनेके लिये नीरोगी दाँतोंकी आवश्यकता है। दाँत न हों या शिथिल हों या मललिप्त हों अथवा स्वस्थ दाँत होनेपर भी जल्दी-जल्दी भोजनको निगल लिया जाय, तो मुँहमें लाला (Saliva) मिश्रण योग नहीं होगा। फिर आमाशयमें पाचक रस मिश्रणमें भी प्रतिबन्ध होता है।

रूपान्तरित आहार द्रव्यमें विविध पाचक रसोंका मिश्रण होता है। इन रसोंके सम्मिश्रणार्थ ओष्ठ, जिह्वा, कण्ठस्थ मांसपेशी, ग्रसनिका, अन्ननलिका,

आमाशय और अन्त्रकी सब मांसपेशियाँ तथा गुद द्वारकी अवरोधक पेशी, इन सबकी क्रियाओंकी आवश्यकता है ।

महास्रोत

(मुख से गुदा पर्यन्त)

चित्र नं० ३९
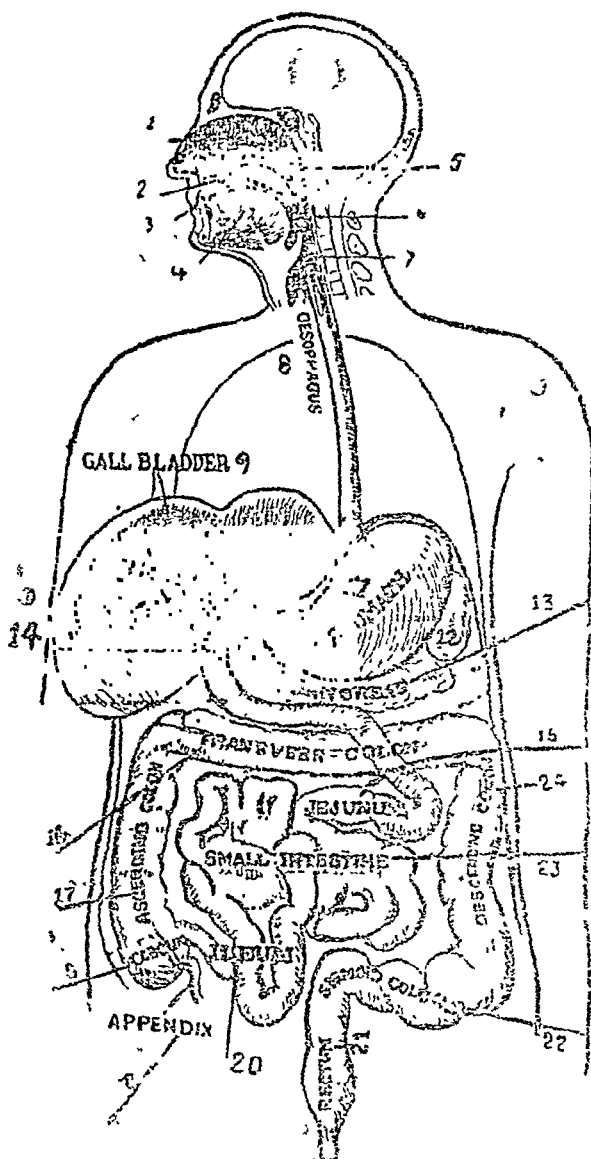
महास्रोत

१ नासागुहा Nasal Cavity.	१३ अग्न्याशय Pancreas.
२ तालु Palate.	१४ ग्रहणी Duodenum.
३ मुख Mouth Cavity.	१५ मध्यान्त्रक Jejuhum.
४ जिह्वाका निम्न प्रदेश Inferior Surface of Tongue.	१६ अनुप्रस्थ अन्त्र Transvers Colon.
५ नासागुहा पश्चिम Nasal Part of Pharynx.	१७ आरोही अन्त्र Ascending Colon.
६ गल बिल Oral part of Pharynx.	१८ उण्डुक Coecum.
	१९ अन्त्र पुच्छ Appendix.
७ स्वरयन्त्र पश्चिम Laryngeal part of Pharynx.	२० शेषान्त्रक Ileum.
	२१ गुदनलिका Rectum.
८ अन्न नलिका Oesophagus	२२ कुण्डलिका प्रदेश Sigmoid Colon.
९ पित्ताशय Gall bladder	
१० यकृत Liver.	२३ लघु अन्त्र Small Intestine.
११ आमाशय Stomach.	२४ अवरोही अन्त्र Descending Colon.
१२ प्लीहा Spleen.	

सामान्यत: भोजनको अच्छी तरह चबानेपर लाल ग्रन्थियोंमेंसे लाला निकलकर आहार द्रव्यमें सम्मिलित होती है। वह श्वेतसारमेंसे निर्यास सत्व (Dextrin) बनाती है। फिर वह ग्रसनिका और अन्ननलिकामें होकर आमाशयमें प्रवेश करती है। फिर वहाँपर पचन-क्रिया प्रारम्भ होती है।

पहले आमाशयमें रहे हुए पाचक रसकी क्रिया कर्बोदकपर होती है, जिससे उसका रूपान्तर धान्य शर्करा (maltose) होता है। यह क्रिया २०-३० मिनट तक होती है।

फिर आमाशयमेंसे आमाशयिक रस अम्लजठर रस (Gastric Juice) बनने लगता है। यह रस लगभग १ घण्टा तक बनता रहता है और इस रसमें रहे हुए लवणाम्ल (Hydrochloric Acid) की क्रिया प्रथिनपर होने लगती है। प्रथिनमेंसे पहले प्रथिन सत्व (Proteose) बनता है। फिर आगे उस तत्त्वका आंत्रमें आग्नेय रस मिलनेपर रूपान्तर होकर पाचक प्रथिन (Peptone) हो जाता है। यह प्रथिन अम्ल, क्षार और समक्षाराम्ल रसमें द्रवणीय है। उष्णता लगनेपर तलस्थ नहीं होता।

इस आमाशयिक रससे मेद और चर्बी आदि स्निग्ध पदार्थ आवरणसे मुक्त हो जाते हैं तथा दुग्धमेंसे बने हुए दुग्धप्रथिन (Caseinogen) का किलाट-जनक सत्व (Casein) बन जाता है।

इस आमाशयिक रसमें लवणाम्लके अलावा दुग्धपरिवर्तक (Rennino gen) तत्व रहता है, जो दुग्ध आदि पदार्थोंमेंसे किलाट (फटे हुए दुग्धमें गाढे भाग) रूप प्रथिनको पृथक् कर देता है। आमाशयिक रसमें तीसरा प्रथिन परिवर्तक (Pepsin) संज्ञक सत्व रहता है, वह इस किलाटका पाचन करा देता है, अनम्लीय द्रव्योंपर इसका प्रभाव नहीं पड़ सकता। इस हेतुसे परमात्माने आमाशयमें उत्पन्न आमाशयिक रसको अम्ल ही बनाया है।

इस आमाशयिक रस द्वारा भोजन पचनकी क्रिया आमाशयमें लगभग ४-५ घण्टे तक होती रहती है। जैसे-जैसे भोजन पचता जाता है, वैसे-वैसे पक्वाशयकी ओर जाता रहता है। जब आहार रस ग्रहणीमें जाता है, उस समय आमाशयकी कपाटिका खुलती है फिर बन्द हो जाती है। यह आहार रस आमाशयकी मांशपेशियोंकी मंथन क्रिया (Churning) द्वारा पाचक रसमें सम्मिलित हो होकर जाता है, जिससे प्रथिन तत्त्व पचन हो जाता है और वसानिवारण हो जाती है। किन्तु इस क्रिया द्वारा आहारमेंसे धान्यशर्करा (माल्टोज) बन जानेके पश्चात् शेष रहे हुए कर्बोदकपर क्रिया नहीं होती, जिससे उसका रूपान्तर नहीं होता; वह मूल रूपमें ही रह जाता है।

पश्चात् अन्त्रमें आहार रस जानेपर आन्त्रिक रस (Succus entericus) और अग्न्याशयसे आग्नेय रस (Pancreatic Juice) और यकृत्मेंसे पित्त (Bile) मिल जाता है। इनमें आग्नेय रससे निरावरण वसाका पचन हो जाता है। परन्तु वसा पचनमें पित्तकी सहायता भी मिलनी चाहिये। यदि पित्तकी सम्यक् प्राप्ति न हो, तो वसाका पाक केवल आग्नेय रससे नहीं हो सकता।

यकृत् पित्तके प्रभावसे अन्त्रमें आहार रसकी गति सम्यक् प्रकारसे होती है; आहार रस रञ्जित होता है और सड़ान या दुर्गन्धकी उत्पत्ति नहीं होती। यह रस वसापर कार्य करके उसे साबुनके रूपमें परिवर्त्तन कराता है।

आग्नेय रस सब प्रथिनोंका रूपान्तर पेप्टोन, श्वेतसार, शर्करा और निर्यास सत्वरूपसे कराता है। यह वसामेंसे पायस (Emulsion) बनाता है। फिर उसे क्षारके साथ सम्मिलित कर साबुन जैसा बनाकर शोषणोपयोगी करता है।

आन्त्रिक रसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होनेसे अम्लरससे न पचने वाले सब सत्वोंका इस रसके संयोगसे पचन हो जाता है। इस आन्त्रिक रसमें

ग्रथिनको पृथक् करके इक्षुशर्करा बनाना तथा अधिक शर्करा हो तो उसको रूपान्तरित कराना, ये दो गुण रहे हैं।

संक्षेपमें मुखका लाला रस, आमाशयिक रस, पित्त, आग्नेयरस और आन्त्रिक रस इन सबका संयोग होनेपर आहारके सत्वका सम्यक् रूपान्तर होता है। इनमें आमाशयिक रसकी विकृति होनेपर आमाशयस्थ व्याधि अग्निमान्द्य आदिकी सम्प्राप्ति हो जाती है।

रोगीके मलकी परीक्षा करनेपर नत्रजन संयुक्त पदार्थका योग्य परिपाक न हुआ हो तो अनुमान हो सकता है कि सब पाचक रसोंमें विकार उत्पन्न हुआ है। यदि श्वेतसारके परिपाकमें न्यूनता हो तो लाला मिश्रणकी न्यूनना या अभाव माना जायगा। मलमें वसा वर्तमान हो तो अग्न्याशयके विकारसे ग्रस्त मल समझा जायगा। यदि मलावरोध होता हो, मलमें दुर्गन्ध आती हो मल वर्णहीन हो तो यकृत् क्रिया सदोष मानी जायगी।

फिर उक्त पाचक रसोंकी विकृति किस हेतुसे हुई है यह जानना चाहिये। अधिकांश स्थलोंमें वातवाहिनियोंकी क्रियामें विलक्षणता आनेपर ऐसा होता है। ये वातवाहिनियाँ अधिक मानसिक श्रम, चिन्ता, भय, शोक, विष प्रकोप, शीत या उष्णताका आघात और विविध शारीरिक रोगोंके हेतुसे प्रभावित होती हैं।

उक्त पाचक रसकी हीनता या क्षीणता अग्निमांद्य और अजीर्णका हेतु है। सामान्यतः एक पाचक रसकी विकृति होनेपर अन्य पाचक रसोंमें भी विकार हो जाता है। यदि आहार द्रव्यपर भिन्न-भिन्न पाचक रसोंकी क्रियाके परिणामका बोध हो तो परीक्षा करनेपर विकृति सरलतापूर्वक निर्णित हो जायगी। सामान्यतः पाचक रसोंकी क्रिया निम्नानुसार होती है।

कभी यन्त्रोंको मिलनेवाले रक्तमें वैलक्ष्य होनेसे पाचक रसके स्वभावमें भेद हो जाता है। रक्त संचालक यन्त्र हृदयके विविध रोग, धमनी विकार, यकृत्की विशीर्णता या प्रतिहारिणी शिराकी विकृति, मानसिक या शारीरिक प्रक्रियाद्वारा रक्तका अन्यत्र ले जाना आदि कारण होते हैं। कभी आमाशय, अन्त्र आदि पचन संस्थाके अवयवोंकी रचनामें विकृति भी रोग सम्प्राप्तिका हेतु होती है।

आमाशय-विकृतिके कारण:—

१. आमाशयिक रसके परिमाण या गुणमें न्यूनता होना।

२. आमाशयस्थ मांसपेशियोंकी क्षीणता होनेपर मन्थन या परिचालन शक्ति में न्यूनता होती है, जिससे भोजनमें आमाशयिक रसका सम्यक् संमिश्रण नहीं होता।

३. आमाशयमें लगी हुई प्राणदा नाड़ियोंमें उत्तेजनाकी वृद्धि होनेपर आमाशयिक रस अधिक उत्पन्न होता है और आमाशयकी गति (Peristalsis) भी अधिक वेगपूर्वक होती है। इसके विरुद्ध इड पिङ्गलाके तन्तुओंमें उत्तेजना बढ़नेपर आमाशयिक रसकी उत्पत्ति और आमाशयिक गति दोनों मन्द हो जाते हैं।

आमाशयकी पचनक्रियाकी विकृति जाननेके लिये भौतिक (Physical) और रासायनिक (Chemical) परीक्षा की जाती है एवं कृमि प्रकोप होने पर जन्तु शास्त्रकी दृष्टिसे भी परीक्षा की जाती है।

भौतिक परीक्षा:—

१. आमाशयकी वृद्धि होनेपर खाली आमाशयपर उँगली-ताड़नसे रिक्त ध्वनि युक्त प्रदेश चारों ओरसे विस्तृत मालूम होता है। आमाशयमें अर्बुद आदि व्याधियाँ अथवा यकृत्-प्लीहा वृद्धि होनेपर आवाजसे आमाशय क्षेत्र संकुचित जाना जाता है। ऊँगली-ताड़नके लिये मध्य प्रदेशसे प्रारम्भ कर चारों ओर किनारेकी तरफ जाना चाहिये।

२. नलिका श्रवण सह उँगलीसे ठेपन करनेपर आमाशयकी सीमा निश्चित हो जाती है।

३. सोडा और टार्टरिक एसिडको आधे आधे ग्लास जलमें मिलाकर पिला दें। फिर आफरा आनेपर ठेपन परीक्षा करें या आमाशयमें आमाशय-नलिका (Stomach Tube) डाल अथवा वायु भर, आमाशय विस्तार का निर्णय करें या आमाशयमें शलाका (Sound) डालकर सीमा का निश्चय करें।

४. क्ष-किरणों ('X' Rays) द्वारा परीक्षा करनेपर आमाशय-व्याप्ति और संचालन शक्ति दोनोंका अच्छी रीतिसे बोध होता है।

५. आमाशयदर्शक यन्त्र—(Gastroscope) या छोटा-सा विद्युत् दीपक डाल अँधेरेमें देखनेसे आमाशय प्रदेश साफ जाना जाता है।

रासायनिक परीक्षामें रासायनिक पद्धतिके ज्ञानकी आवश्यकता रहती है। इस विधिकी परीक्षा आयुर्वेदिक चिकित्साके लिये उपयोगी न होनेसे इसका यहाँ विवेचन नहीं किया है।

आमाशयमें भोजनके साथ जब तक आमाशयिक रस नहीं मिलता; तब तक लालामिश्रित भोजनकी प्रतिक्रिया (Chemical reaction) क्षारीय मानी जाती है। यदि भोजन कर लेनेपर तुरन्त वमन हो जाय, आमाशयगत पदार्थ बाहर आ जाय, तो लाला मिश्रणकी प्रतिक्रिया कुछ अम्ल विरोधी (Alkaline) होती है, ऐसा माना जायगा। **भोजनके बाद घण्टे पश्चात् द्रुवाम्ल**

(Lactic Acid) से प्रतिक्रिया किञ्चिदम्ल (Slightly Acid) होती है। फिर लवणाम्लसे अधिक अम्ल हो जाती है। दुग्धाम्ल आहारके हेतुसे बन जाता है। वह पचनक्रियाके प्रथम घण्टेमें तैयार होता है; फिर धीरे धीरे कम होने लगता है। यदि वह अधिक रह जाता है, तो लवणाम्लका स्राव कम होता है। इस तरह लवणाम्ल आवश्यकतासे कम मिलनेसे अग्निमान्द्य हो जाता है।

आमाशयकी संचालन शक्तिका निर्णय करनेके लिये रोगीको सेलोलकी एक मात्रा देते हैं। यह पदार्थ आमाशय रसमें मिश्रित नहीं होता। इस औषध पर अन्त्रमें ही क्रिया होती है। जब वह आंत्रिक रसमें मिश्रित हो जाता है, तब मूत्रमें सैलिसिल्यूरिक एसिड (Salicyluric acid) आने लगता है। मूत्रमें फेरिक क्लोराइड (Liquor Ferrs Perchloride Fortis) मिलानेसे सैलिसिल्यूरिक एसिड होनेपर मूत्रका रंग बैंजनी हो जाता है। सामान्यतः १॥ घण्टे बाद मूत्रमें सैलिसिल्यूरिक एसिड (ग्लायकोल और सेलिसिलिक एसिडका मिश्रण) निकले, तो आमाशयकी संचालन शक्तिकी कमी है, ऐसा माना जाता है।

एलोपैथीमें आमाशयिक रस कम बनने या न बननेसे उत्पन्न विकारको अग्निमान्द्य कहते हैं। क्वचित् रस बनता है, किन्तु उसमें लवणाम्ल नहीं होता; या बहुत कम होता है तो भी क्षुधा नहीं लगती। अतः उसे भी अग्नि-मान्द्य ही कहते हैं।

निदान—अति भोजन, असमयपर भोजन, अपथ्य भोजन आदि हेतुसे उत्पन्न चिरकारी आमाशय शोथ, आमाशयस्थ अर्बुद, पाण्डु, रक्तविकार और तीव्र संक्रामक ज्वर आदि कारणोंसे इस रोगकी उत्पत्ति होती है। इनके अतिरिक्त आमाशयमें विकृति न होनेपर भी चिन्ता, भय, क्रोध और शोक आदिसे मन्दाग्नि हो जाती है।

लक्षण—अग्निमांद्य ही लक्षण रूप है। अन्य सामान्य लक्षण मलावरोध अजीर्ण, उदरशूल, आफरा किसीको उबाक और वमन आदि होते हैं। यदि लवणाम्ल कम होता हो तो अपचन आदि लक्षण भी प्रतीत होते हैं।

डाक्टरी मत अनुसार अग्निमान्द्य यह अजीर्ण, चिरकारी आमाशय प्रदाह, आदि अनेक रोगोंमें लक्षण रूपसे उपस्थित होता है। इन रोगोंका वर्णन अजीर्णके विवेचनमें तथा इसके पश्चात् आमाशय प्रदाहमें किया जायगा।

अग्निमांद्य चिकित्सोपयोगी सूचना।

मन्द अग्नि स्वल्प उपचारको सहन नहीं कर सकती। विषम अग्नि उप-चार होनेपर कभी विक्रिया कर जाती है और कभी नहीं करती। केवल तीव्र

अग्नि उपचारको सहन कर सकती है। इस हेतुसे तीव्र अग्निकी प्रधानता है।

समाग्निका संरक्षण, विषमाग्निमें वातनिग्रह, तीक्ष्णाग्निमें पित्त शमन और मन्दाग्निमें श्लेष्मविशोधन करना चाहिये।

विषम अग्निको दूध, दही, घृत, खट्टे और नमकीन पदार्थोंसे सम करना चाहिये।

तीक्ष्ण अग्निको शीतल, स्निग्ध और पौष्टिक पदार्थोंसे शान्त करना चाहिये। अन्यथा पित्तप्रधान भस्मक या अम्लपित्त आदि रोगोंकी उत्पत्ति हो जाती है।

बद्धकोष्ठ सह मन्दाग्नि होनेपर लवणयुक्त थोड़ा घृत-पान करना लाभदायक है।

यदि अधिक स्नेहपानसे अग्निमान्द्य हुआ हो, तो क्षार आदि या चरपरे, कड़वे और कसैले पदार्थोंसे शनैः शनैः कफको नष्ट कर अग्निको प्रदीप्त करना चाहिये।

यदि उदावर्तके हेतुसे अग्नि मन्द हो गई हो, तो निरूह बस्तिका प्रयोगकर अग्निबलको बढ़ाना चाहिये।

भोजन नियमित समयपर पचन हो, उतने परिमाणमें करें। भोजनको अच्छी रीतिसे चबाकर खायँ। शराब, गुरु भोजन और अपथ्य भोजनका त्याग करें। दाल पतली लें और शाक शुष्क अर्थात् रसा (झोल) रहित बनवाकर सेवन करें।

इस रोगमें अधिक लंघन नहीं कराना चाहिये; अन्यथा बलका क्षय होता है। इस हेतुसे भगवान् आत्रेय ने कहा है कि :—

नाऽभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नाऽतिभोजनात्।
यथा निरिन्धनो वह्निरल्पो वाऽतीन्धनावृतः॥

जैसे थोड़ी अग्नि ईंधन न मिलनेपर या अति लकड़ी आदिसे दब जानेपर (वायु न मिलनेके हेतुसे) तेज नहीं हो सकती, वैसे ही मन्द हुई जठराग्नि भोजन न मिलने या अत्यधिक मिलनेपर प्रदीप्त नहीं हो सकती।

प्रातः सायं खुली वायु सेवन करें। फिर भी क्वचित् कोष्ठबद्धता हो जाय, तो मृदु मलशोधक औषधसे दूर करें। किन्तु बार-बार विरेचन अथवा सारक औषध लेना हानिकर (बलक्षयकारक) है।

दाँतोंमेंसे पीप निकलनेके हेतुसे मन्दाग्नि हुई हो, तो पीपको दूर करनेके लिये शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिये।

दोष अति बढ़ जानेसे अग्नि मंद हो गई हो, तो पहले वमन, विरेचन आदिसे दूषित मलका हरण करें। फिर लघु भोजनसे अग्निको प्रदीप्त करना चाहिये।

कफप्रधान प्रकोपमें आमाशयस्थ रसोत्पादक ग्रन्थियोंकी शक्तिको बढ़ाने

वाली दीपन पौष्टिक औषधियोंका प्रयोग करें। कफज और वातज अग्निमांद्यमें तक्रका सेवन अति लाभदायक है।

यदि आमाशयिक रसमें अत्यन्त उष्णता या तीव्र अम्लता हो गई हो, तो उसको शमन करने वाली औषधकी योजना करें। अम्ल विरोधी क्षार और धारोष्ण दूध अम्लता शमनके लिये अति हितकर हैं।

अग्निमान्द्य चिकित्सा।

(१) प्रातःकाल १ माशा जवाखार और ३ माशे सोंठके चूर्णको मिला गो घृतके साथ सेवन करनेसे अग्नि प्रदीप्त होती है।

(२) बड़ी हरड़ और सोंठके चूर्णको गुड़ मिलाकर प्रातःकाल सेवन करने से अग्नि प्रदीप्त होती है या बड़ी हरड़के चूर्णमें थोड़ा सैंधानमक मिलाकर निवाये जलके साथ लेनेसे भी क्षुधा बढ़ जाती है।

(३) हरड़, पीपल, सैंधानमक और चित्रकमूलका चूर्ण कर सेवन करनेसे मांस और घृतसे युक्त नया अन्न भी तुरन्त पच जाता है।

(४) आमाजीर्ण, अर्श और बद्धकोष्ठसे होने वाले अग्निमान्द्यके रोगीको सोंठ या पीपल अथवा हरड़ या अनारदानेका गुड़के साथ नित्य सेवन करना चाहिये।

(५) भोजनके प्रारम्भमें सैंधानमक मिला हुआ अदरक सेवन कराना हितकर है। यह अग्निप्रदीपक, मधुर और हृदय पौष्टिक है।

(६) सैंधानमक, हींग, हरड़, बहेड़ा, आंवला, अजवायन, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल इन सबका चूर्ण बना इनमें गुड़ मिला गोलियां बना लेवें। इसके सेवन से वातज, पित्तज और श्लेष्मज अग्निमांद्य शमन हो जाते हैं।

(७) बिडनमक, भिलावा, चित्रक, गिलोय और सोंठ इनका चूर्ण बना समान घृत तथा गुड़ मिला यथाविधि अवलेह बना लेवें। जिनकी अग्नि वायु अथवा कफ प्रकोपसे मंद हो गई है उनको ३ से ६ माशे तक दिनमें २ बार सेवन करावें। यह अत्यन्त अग्नि प्रदीपक है। इसमें भिलावेका योग है। अतः इसपर गरम दूध, गरम चाय या गरम भोजन तुरन्त नहीं लेना चाहिये।

(८) कपित्थादि खड—पक्का कैथ, बेलगिरी, अम्लोनिया, कालीमिर्च, जीरा और चित्रकमूलको मिला चटनी बनाकर खिलानेसे अग्निमांद्य नष्ट हो जाता है। यह चटनी दीपन, पाचन, कफवातहर और ग्राही है। इस चटनीमें आवश्यकतानुसार सैंधानमक मिला लेना चाहिये। मात्रा ६ माशेसे १ तोला तक दिनमें २ समय लेवें।

(९) क्षुधावटी—पत्ते रहित १ मन मूलीको कूट, १ सेर नौसादरका चूर्ण मिलाकर मिट्टीकी नाँदमें डालें। २४ घण्टे पश्चात् मूलीको कूट निचोड़कर रस

कपड़ेसे छान लेवें। फिर पीतलकी कलई लगी हुई कढ़ाहीमें डालकर मन्दाग्नि पर पकावें। जब रस चतुर्थांश शेष रह जाय, तब छोटी हरड़का कपड़छान चूर्ण १ सेर मिला लेवें। पश्चात् मूंगके समान गोलियाँ बना लेवें। इसमेंसे १ से २ गोली जलके साथ देनेसे अपचन, वमन, आफरा, पतला दस्त, उदरशूल, अरुचि और बेचैनी आदि विकार दूर हो जाते हैं।

(१) वातज अग्निमान्द्यनाशक औषधियाँ।

(१) अष्टगुण मण्ड—पुराने शालि चावल १६ तोले और मूंग ८ तोले मिलाकर दोनोंको २-३ तोले घीमें सेक लेवें। फिर १४ गुने गरम जलमें डाल कर सिद्ध करें। (अनेक चिकित्सक मूंग-चावल जलमें पक जानेपर मट्ठा मिला कर आधा जल शेष रहे, तब तक पाक करते हैं)। पश्चात् सोंठ, मिर्च, पीपल, हरा धनिया, जीरा, हींग और सैंधानमक आवश्यक परिमाणमें मिला लेवें। यह मंड अच्छी रीतिसे पक जाय तब तक उबालें। फिर ऊपर-ऊपरसे मांड निकाल निवाया पिलावें।

यह मण्ड अग्निमान्द्य वालेके लिये हितकर है। इस मण्डमें क्षुधा प्रदीपक, बस्तिशोधक, शक्तिवर्धक, ज्वरघ्न, कफपित्तनाशक और वातशामक आदि गुण रहे हैं।

(२) केवल चावलोंके माण्डमें १ रत्ती भुनी हींग और १-२ मासे काला नमक मिलाकर पिलावें।

(३) हिंग्वष्टक चूर्ण, दशमूलारिष्ट, धनंजयवटी, शिवाक्षार पाचन चूर्ण, विषतिंदुकादि वटी अग्नितुण्डी वटी, आर्द्रकावलेह, चित्रकादिवटी, क्रव्याद रस, हिंग्वादिवटी, क्षुद्बोधक रस ये सब आमाशय पौष्टिक हैं। इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन करानेसे वातज विकृति दूर होकर अग्नि बलवान बन जाती है। इनमें विषतिंदुकादि वटी और अग्नितुण्डी वटीमें कुचिला मिलाया है। अतः ये औषधियाँ कम मात्रामें देनी चाहिये। वातवहा नाड़ियोंकी जीर्ण विकृति, उदर शूल, उपान्त्र-शोथ और आंतोंकी शिथिलतामें कुचिला वाली औषधियां अति हितकर हैं।

(२) पैत्तिक अग्निमांद्यनाशक औषधियाँ।

(१) वराटिका भस्म (घी और कालीमिर्चके साथ), प्रवाल भस्म (घी या नींबूके रसके साथ), वैडूर्य भस्म, वराटिका या शंखभस्म, शौक्तिक भस्म, द्राक्षावलेह, अग्निप्रदीपक गुटिका, सितोपलादिचूर्ण, नींबूका शर्बत, लवंगादि चूर्ण इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन करानेसे पित्तप्रकोप शमन होकर जठराग्नि निर्दोष बन जाती है।

(२) बड़वानल चूर्ण—सैंधानमक १ भाग, पीपलामूल २ भाग, पीपल ३

भाग, चव्य ४ भाग, चित्रकमूल ५ भाग, सोंठ ६ भाग और हरड़ ७ भाग लें। इन सबको मिलाकर चूर्ण करें। इसमेंसे ४-४ मासे चूर्ण दिनमें २ समय जलके साथ देनेसे जठराग्नि बड़वानल के समान प्रदीप्त हो जाती है।

सूचना—आमाशयके रस (पित्त) में अम्लता, तीक्ष्णता अति बढ़ जानेपर तेज खट्टे रस वाली औषधियाँ पित्तशमन नहीं कर सकतीं। ऐसे समयपर पित्तको मधुर बनाने वाली वराटिका, शंख भस्म, प्रवालपंचामृत आदि क्षारीय औषध देना हितावह है। वराटिका भस्म, सितोपलादि चूर्ण और शहद मिलाकर देनेसे पित्तकी तीक्ष्णता और अम्लताका सरलतापूर्वक शमन हो जाता है।

(३) कफप्रधान अग्निमान्द्यपर औषधियाँ।

(१) पानीय भक्त वटी, चित्रकादि वटी, क्षुद्बोधक रस, अग्निकुमार रस, क्रव्याद रस, लघु क्रव्याद रस, लवणभास्कर चूर्ण, गन्धक वटी, हिंगुलरसायन (दूसरी विधि) अग्नितुण्डी वटी, धनंजय वटी चौसठप्रहरी पीपल ये सब कफप्रकोपज अग्निमान्द्यपर अति हितकर औषधियाँ हैं। इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन करानेसे आमाशयिक रसकी वृद्धि होकर अग्नि तेज हो जाती है।

अग्निमुख चूर्ण—हींग १ भाग, बच २ भाग, पीपल ३ भाग, सोंठ ४ भाग, अजवायन ५ भाग, हरड़ ६ भाग चित्रक ७ भाग और कूठ ८ भाग मिलाकर चूर्ण बना लेवें। इसमें भी ३-३ मासे चूर्णको गरम पानी, दही या तक्रसे सेवन करें। यह चूर्ण अग्निमांद्य, उदावर्त, अजीर्ण, यकृत्प्लीहा वृद्धि, उदररोग, अर्श, गुल्म, कास, श्वास और राजयक्ष्मा आदिमें हितावह है।

जीर्ण रोगमें—बृहद् योगराजगूगल (आमवृद्धि हो तो) या अग्नितुण्डी वटीका सेवन कराना लाभदायक है।

(४) उपद्रव रूप अग्निमान्द्य चिकित्सा।

शुक्र-क्षयज अग्निमान्द्यपर—(१) वंगभस्म, सुवर्णवंग, लोह भस्म, अभ्रक भस्म, द्राक्षारिष्ट या अश्वगन्धारिष्टमेंसे अनुकूल औषधका सेवन कराना चाहिये। इनमें से वंग, लोह और अभ्रक तीनों मिलाकर भी दे सकते हैं या बृहद् वंगेश्वरका सेवन करानेसे रक्त, मांस, वातसंस्थान और वीर्याशय सबल हो जाते हैं और प्राकृत पाचनशक्ति सबल बनती है।

(२) ज्वरके पश्चात् मन्दाग्नि होनेपर सुवर्ण मालिनी वसंत, लघुमालिनी वसन्त, संशमनी वटी या चन्दनादि लोह और ६४ प्रहरी पीपलमेंसे प्रकृतिके अनुकूल एक औषधका सेवन कराना चाहिये।

(३) जल वायु दोष (विदेशमें जाने या ऋतुपरिवर्तन) से हो तो दुर्लभ-जेता रस या आर्द्रकावलेहका सेवन करावें।

(४) मलावरोधजनित जीर्ण मंदाग्नि होनेपर अभ्रक भस्म, आंतोंकी निर्बलतापर नाग भस्म अथवा नाग भस्म और रससिंदूर मिश्रण तथा मलावरोध शमनार्थ आरोग्यवर्धनी, अग्नितुण्डी वटी, द्राक्षासव, महा द्राक्षासव, क्षुद्बोधक रस और आर्द्रकावलेहमेंसे एक अनुकूल औषध देवें। मलावरोध न रहे, इस बातका पूर्ण लक्ष्य रखें। बार-बार जुलाब न दें। आमाशय और अन्त्र-क्रियाको शनैः-शनैः सबल बनानेका प्रयत्न करें। अभ्रक भस्म, नाग भस्म और अग्नितुण्डी वटीसे अन्त्रशक्ति बलवान् बन जाती है, फिर मंदाग्नि और कब्ज दोनों नष्ट हो जाते हैं।

(५) भस्मक रोग चिकित्सा।

तीक्ष्णाग्नि होनेपर पित्तशामक विरेचन देवें। गुरु, स्निग्ध, मधुर, मध्य, शीतल और स्थिर गुण वाला, कफवर्धक और पित्तशामक भोजन करावें तथा दिनमें भोजनके पश्चात् शयन करावें।

मछली और जलजीवोंका मांस या घृतमें पकाया हुआ बकरेका मांस देवें, अथवा गेहूँके सत्तूका मन्थ बना दूध, मिश्री और घी मिलाकर पिलावें। १-१ तोला काली निशोथको दूधमें पकाकर ५-७ दिन तक सुबह पिलाते रहने से दूषित पित्त नष्ट होकर अग्नि सम हो जाती है।

भैंसका दूध, दही और घी अत्यधिक परिमाणमें देनेसे अति बढ़ी हुई अग्नि शीघ्र शमन हो जाती है।

यवागूमें घी और शहद मिलाकर खूब ज्यादा परिमाणमें पिलानेसे भस्मक रोग शमन हो जाता है।

सफेद चावल और सफेद कमलको मिला बकरीके दूधमें खीर बनाकर १० दिन तक खिलानेसे अग्नि सम होकर भोजन परिमित हो जाता है।

इस उपद्रव वालेको अजीर्णमें भी भोजन कराना चाहिये।

जीवनीय गणकी औषधियों (जीवन्ती, काकोली, मेदा, महामेदा आदि) का कल्क कर विदारीकंदका स्वरस और दूध मिला, भैंसके घीको सिद्ध करके पिलानेसे भस्मक रोग शमन हो जाता है।

भस्मकनाशक चूर्ण ६-६ माशे दिनमें ३ समय देते रहनेसे भस्मक रोग दूर हो जाता है।

बेरकी गुठलीका मगज जलमें पीसकर पिलावें, या अपामार्गके बीजोंको भैंसके दूधमें खीर बनाकर खिलावें अथवा पक्के केलेमें खूब घी डालकर खिलावें या पेठका रस, दूध और घी मिलाकर पिलानेसे भस्मक विकार शान्त हो जाता है एवं गूलरके मूलका जल पिलानेसे भी भस्मक, रक्तविकार, उष्णता आदि विकार शमन हो जाते हैं।

पथ्य—व्यायाम, खुली वायुका सेवन, मानसिक प्रसन्नता, अष्टगुण मण्ड, गेहूँके (चोकर सहित-बिना छाने) आटेमें सैंधानमक और अजवायनका चूर्ण डालकर बनाये हुए पतले फुलके, पुराने चावल, हल्का भोजन, मूँग, अरहर या मसूरकी पतली दाल, बिना रसाके शाक, गोदुग्ध, थोड़ा घी, मक्खन, पोदीनेकी चटनी, भोजनके साथमें अदरक, नींबूका रस, मट्ठा, अनार, मोसम्बी, सन्तरा, मालटा, सेव, अंगूर, फालसे, हरड़, हींग, सोंठ, अजवायन, नमक, भोजनके दो घण्टे पश्चात् जलपान और थोड़ी शराब ये सब पथ्य हैं।

अपथ्य—उपवास, पत्तीशाक, झोलदार शाक, गुरु भोजन, अति भोजन, असमयपर भोजन, भोजनपर भोजन, विरुद्ध भोजन, उड़द, मांस, मलाई, खोवा, ताड़फल, कटहल, अति मसाला, अति जलपान और नारियलका जल आदि अपथ्य हैं।

समशन, विषमाशन और अध्यशन:—

भस्मक हेतु-पथ्य पालन करने वाले रोगी मनुष्यको समशन, विषमाशन और अध्यशन इन तीनोंका आग्रहपूर्वक त्याग करना चाहिये। ये तीनों अत्यन्त हानिकर हैं। इस विषयमें भगवान् आत्रेय ने लिखा है, कि—

पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम्।
विषमं बहु वाल्पं वाप्यप्राप्तातीतकालयोः॥
भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम्।
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान्व्याधीन्सृजन्ति वा॥

पथ्य और अपथ्य दोनों प्रकारके भोजन एक समयमें करना यह समशन (जैसे लाल शालि चावल और जौ मिश्रित भोजन), ज्यादा परिमाणमें खाना, भोजन कालमें थोड़ा-सा खाना, भोजनका समय टल जानेपर खाना ये सब विषमाशन और एक समय किया हुआ भोजन पचन हो जानेके पहले पुनः भोजन करना, यह अध्यशन कहलाता है। ये तीनों स्वास्थ्य और आयुको नष्ट करने वाले तथा घोर व्याधियोंको उत्पन्न करने वाले हैं।

भोजनका समय होनेसे पहले खा लेनेसे अजीर्ण हो जाता है।

भोजनका समय व्यतीत हो जानेपर खानेसे वातप्रकोप होकर अग्निनाश, भोजन कष्टसे पचना और फिर भोजनकी इच्छा कम हो जाना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

अल्प भोजन करने पर असन्तोष और बलक्षयकी प्राप्ति होती है। अधिक भोजन करनेसे आलस्य, व्याकुलता, भारीपन, आफरा और मन्दाग्नि हो जाती है।

विरुद्धाशन—पृथक्-पृथक् गुण-दोष वाले अनेक प्रकारके पदार्थोंका एक साथ सेवन करनेसे तत्काल या भविष्यमें प्रकृतिको हानि पहुँचती है। इसलिये

इसका परित्याग करना चाहिये। दुर्लक्ष्य करनेपर नाना प्रकारकी व्याधियोंकी उत्पत्ति इन्द्रियोंकी दुर्बलता और प्रसंगोपात्त मृत्युकी प्राप्ति भी हो जाती है।

इन विरुद्धान्न भक्षणोंसे आध्मान, अजीर्ण, उदर रोग, मलावरोध, अरुचि, आमप्रकोप, विषविकार, ग्रहणी, ज्वर, रक्तपित्त, पाण्डु, क्षय, नपुंसकता, भगन्दर, अर्श, मद, मूर्च्छा, विस्फोटक, उन्माद, कुष्ठ, पीनस, गर्भाशयविकार, शुक्रक्षीणता, गलग्रह, कास, तमक श्वास, शिरदर्द, मुखपाक, नेत्रविकार और मूत्रकृच्छ्र आदि व्याधियाँ हो जाती हैं।

(११) अजीर्ण।

(डिस्पेप्सिया-Dyspepsia)

जब नियमित समयपर योग्य परिमाणमें पथ्य भोजन करनेपर भी पचन न हो, तब अजीर्ण रोग कहलाता है।

निदान—अति जलपान, अन्धाधुन्ध भोजन, असमयपर भोजन, अति भोजन, क्षुधा, मल-मूत्र और अधोवायु आदि वेगोंका धारण, ईर्षा, भय, क्रोध, शोक आदि हेतुओंसे निद्रामें अनियमितता या अन्य कारणोंसे भोजनका परिपाक न होना, इन सब हेतुओंसे अजीर्ण रोगकी उत्पत्ति हो जाती है। क्वचित् किसी कारणवश एकाध समय भोजनका सम्यक् परिपाक न हुआ हो, तो उसे अपचन कहते हैं और अनेक दिनों तक अपचन रह जाय, तो भी अजीर्ण रोग कहलाता है।

अजीर्ण प्रकार—अजीर्णके आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण और रसशेषाजीर्ण ये ४ विभाग हैं। इनके अतिरिक्त कितनेही आचार्योंने भ्रम, भारीपन, आध्मान और शूल आदि लक्षणोंसे रहित, मात्रा, काल और सात्म्यादि दोषोंसे (अधिक भोजन, असमयपर भोजन या अपथ्य भोजन अथवा मानसिक चिन्ता आदि हेतुसे) या अग्निमांद्य हो जानेपर जो भोजन २४ घण्टोंमें पचन हो उसे दिनपाकी निर्दोष अजीर्ण कहा है। यह पाँचवाँ अजीर्ण है। तथा छठवाँ अजीर्ण उसे कहा है कि जो प्रतिदिन रहता है अर्थात् भोजनका पाक जब तक न हो जाय, तब तक इसकी अजीर्ण संज्ञा है। आहार पच जानेपर जीर्ण कहलाता है। यथार्थमें यह व्याधि नहीं कहलाती है।

अलावा, आमाशय व्रण और अर्बुद आदि रोगोंमें अजीर्ण लक्षण रूपसे भासता है। इनमें मुख्य रोगोंकी ही प्रधान चिकित्सा की जाती है। अतः इस लक्षणात्मक अजीर्णका वर्णन यहाँ नहीं किया जायगा।

(१) आमाजीर्णके लक्षण—शरीरमें भारीपन, उबाक, गाल और नेत्रोंपर सूजन, खाये हुए अन्नकी ही डकार (खट्टी न हो किन्तु दुर्गन्धयुक्त डकार) आते रहना और बेचैनी आदि लक्षण होते हैं।

(२) **विदग्धाजीर्णके लक्षण**—यह अजीर्ण पित्त प्रकुपित होनेपर पित्तकी उष्णता और अम्लता वृद्धि होकर होता है। इस अजीर्णमें भ्रम, तृषा, मूर्च्छा, दाह, खट्टी डकार, पसीना, निद्रानाश, शोथ, बेचैनी, मल मूत्रमें पीलापन और भोजन कर लेनेपर पेटमें भारीपन आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

(३) **विष्टब्धाजीर्णके लक्षण**—यह विष्टब्धाजीर्ण वात-प्रकोप और अन्त्र-स्नायुओंकी शिथिलता होनेपर होता है। इस व्याधिमें शूल, आफरा, मल-मूत्र और अधोवायुका रुकना, अंग जकड़ना, संधियोंमें पीड़ा, हाथ पैर टूटना, बेचैनी, उदरमें भारीपन, भ्रम और मोह (मूढ़ता) आदि लक्षण होते हैं।

(४) **रसशेषाजीर्णके लक्षण**—सुश्रुत-संहितामें लिखा है कि इस व्याधिमें डकार शुद्ध आनेपर भी भोजनकी इच्छा न होना, हृदयमें भारीपन, शूल, आहाररस शेष रहना और मुँहमें पानी आना आदि लक्षण होते हैं।

आरोग्य-मंजरीकार कहते हैं कि विशुद्ध डकार आनेपर भी भोजनकी इच्छा न होना, मुँहमें चिपचिपापन, संधिस्थानोंमें पीड़ा, शिरमें भारीपन मन्द-प्रकोपमें ये लक्षण प्रतीत होते हैं। तथा तीव्र प्रकोप हो जानेपर वबाक, ज्वर मूर्च्छा आदि लक्षणोंकी वृद्धि हो जाती है।

जो मनुष्य सारे दिन पशुके समान खाते रहते हैं या बार-बार अन्धाधुन्ध खाते रहते हैं, उनका आमाशय शिथिल और विस्तृत हो जाता है। फिर आमाशयमें आहार रस शेष रह जाता है। इस शेष रसके पचनार्थ कितने ही क्षार आदि पाचक औषधियाँ लेते रहते हैं, तब कितने ही व्यक्ति विरेचक औषधियों का सेवन प्रतिदिन करते रहते हैं। इन औषधियोंके सेवनसे वात, पित्त, कफ तीनों दोष प्रकुपित होते हैं। क्षार या विरेचनके नित्य सेवन करनेसे पित्ताशय यकृत् और अन्त्रको अपनी शक्तिसे अधिक कार्य करना पड़ता है। परिणाममें ये सब दूषित हो जाते हैं।

इस तरह जब आहारजनित रस शेष रह जाता है, तब इस रसका शोषण यथा समय न होनेसे आमविष (सेन्द्रिय विष) बन जाता है। फिर यह अपने प्रभावसे दुष्ट आमकी उत्पत्ति करता रहता है और रक्त आदि धातुओंमें प्रविष्ट होकर नाना प्रकारकी हानि पहुँचाता रहता है। इस आमविषकी वृद्धि होनेपर रसशेषाजीर्ण व्याधिकी उत्पत्ति होती है।

क्षार आदिका अधिक सेवन करने वालोंके मुखमें छाले, सुषुप्ति कम, स्वप्नावस्था अधिक, तृषा, छातीमें दाह, शुक्रमें उष्णता, संधिस्थानोंमें पीड़ा, फिर तेज अम्ल पदार्थसे भी हानि, मूत्रमें पीलापन, रात्रिको अधिक बार पेशाब के लिये उठना इत्यादि लक्षण होते हैं।

विरेचक औषधका अधिक सेवन करने वालेको मलावरोधका त्रास अधिक रहना, मुँहमें चिपचिपापन, डकार शुद्ध होनेपर भी भोजनकी इच्छा न होना, आँतोंमें वायु भरा रहना, मुँहमें पानी आते रहना, वीर्यमें पतलापन; शिरदर्द, नेत्रज्योति मन्द हो जाना, ज्यादा निद्रा और आलस्य आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

इन दोनों प्रकारके रसाजीर्णमें बेचैनी, अन्नपर अरुचि (भोजनकी इच्छा न होना), हृदयकी निर्बलता और धड़कन, चक्कर, भारीपन, हाथ-पैर टूटना और अति कमजोरी आदि लक्षण समान होते हैं।

अनुमान है कि डाक्टरीमें डाइलेटेशन ऑफ दी स्टमक (आमाशय विस्तार) व्याधि है, वही आयुर्वेदीय रसशेषाजीर्ण है। इस हेतुसे इसका विवेचन आगे पृथक् किया जायगा।

सामान्य अजीर्ण (Indigestion)—ग्लानि, भारीपन, मलावरोध या मल-मूत्रकी बार-बार प्रवृत्ति होना, चक्कर आना, अधोवायु दूषित होकर रुद्ध हो जाना या दूषित वायुकी बार-बार प्रवृत्ति होना इत्यादि लक्षण सामान्य अपचनमें प्रतीत होते हैं।

यह अजीर्ण रोग बहुधा आहार वैषम्यके हेतुसे होता है, यह व्याधि समस्त रोग समुदायोंकी मूल है। यदि इस अजीर्ण रोगको शीघ्र नष्ट कर दिया जाय तो भविष्यमें होने वाले रोग-संघातका ही नाश हो जाये।

उपद्रव—इस अजीर्ण रोगकी वृद्धि होनेपर मूर्च्छा, प्रलाप, वमन, मुँहमें बार-बार पानी आना, थकावट, भ्रम, तन्द्रा, बेशुद्धि और कचित् मृत्यु आदि उपद्रव हो जाते हैं।

अजीर्णका एलोपैथिक निदान।

(डिस्पेप्सिया—Dyspepsia)

व्याख्या—आमाशय और अन्त्रके भीतर जो आहारकी पचन-क्रिया होती है, वह कष्ट पूर्वक या विलम्बसे होनेपर उसे अजीर्ण रोग (Dyspepsia) और पचन योग्य न होनेसे आहार रस विकृति हो जाय, उसे अपचन (Indigestion) कहते हैं। दोनोंमें पचन-क्रियाकी विकृति होती है। इनमेंसे अपचन का अन्तर्भाव आशुकारी आमाशय प्रदाहमें किया गया है।

यह रोग सब आयु वाले स्त्री-पुरुषोंको सब देशोंमें होता है। शीत काल और शीत देशमें कुछ कम होता है।

विविध प्रकार—अजीर्ण रोग यह सच्चा विकार नहीं है; किन्तु इन्द्रिय-क्रिया दर्शक या सम्प्राप्ति दर्शक (आमाशय स्थिति प्रकाशक) लक्षण है। इसके निम्नानुसार मुख्य ३ प्रकार हैं—

१. इन्द्रिय शैथिल्य जनित अजीर्ण (Organic Dyspepsia)—इस प्रकार में घातक अर्बुद (Carcinoma), आमाशय व्रण, ग्रहणी व्रण, चिरकारी आमाशय प्रदाह, आमाशय प्रसारण आदि हेतुओंसे आमाशयकी दीवारके तन्तुओंकी विकृति होती है।

२. क्रिया विकृति जन्य अजीर्ण (Functional Dyspepsia)—इस प्रकारमें आमाशयकी रचनामें स्पष्ट विकृति नहीं होती; केवल क्रियाविकार होता है। इसके ३ उप विभाग हैं:—

अ. संचालक नाड़ियोंकी क्रियाकी अव्यवस्था—इस प्रकारमें अत्यधिक गति अत्यधिक खिंचाव या खिंचावका ह्रास।

आ. आमाशय उत्तेजक नाड़ियोंकी क्रियाकी अव्यवस्था—इस प्रकारमें आमाशय रसमें लवणाम्ल अत्यधिक होना (Hyper chlorhydria) और आमाशय रसका अत्यधिक स्राव अथवा आमाशय रसमें लवणाम्लका अति ह्रास (Hypochlorhydria) और आमाशय रसस्राव अति कम होना।

इ. संवेदना नाड़ियोंकी क्रियाकी अव्यवस्था।

३. वातवाहिनियोंका विकृतिजन्य अजीर्ण (Nervous Dyspepsia)—इस प्रकारमें आमाशयकी वातवाहिनियां शिथिल हो जाती हैं।

जो अपचन (Indigestion) किसी समय हो जाता है, वह आहार की भूलसे होता है. उसका अन्तर्भाव आशुकारी आमाशय प्रदाहमें करना चाहिये। वह तीव्रतर बनकर कभी घातक बन जाता है; किन्तु यह अजीर्णरोग विष प्रकोपके समान कभी घातक प्रकारका नहीं बनता। अनेक बार रोगका स्वरूप ऐसा भासता है कि पाण्डु और आमाशय विकार दोनों समभावसे प्रतीत होते हैं।

व्यापक निदान—१. रोगीका स्वभाव; २. आहारमें भूल; ३. आमाशय या अन्य इन्द्रियोंकी स्थानिक व्याधि; ४ शारीरिक विकार और ५. वात नाड़ियों की क्रियाकी विकृति (Neurosis)।

१. रोगी स्वभाव—१. जल्दीसे भोजनको निगल लेना, योग्य चर्वण न करना, दाँतोंपर मल रहना; २. भोजन असमयपर करना; ३ योग्य व्यायाम न मिलना, भोजन करनेपर तुरन्त शारीरिक या मानसिक परिश्रम करना अथवा अत्यधिक परिश्रम करना; ४ मलावरोध रहना; ५. भोजन चाहिये वैसा स्वादु न बनना, बर्त्तन गन्दे रहना आदि।

भोजन बनानेकी विधि दोष वाली होनेपर वह भोजन शनैः शनैः हानि पहुँचाता है। विविध वनस्पति-जन्य आहारको अच्छी तरह उबालना चाहिये

अर्थात् उसमें अवस्थित उपादानरूप श्वेतसारका जिलेटिन रूपमें रूपान्तर हो जाना चाहिये। एवं मांस आदि पदार्थोंके संयोजक तन्तु कोमल हो जाने चाहिये। ऐसा होनेपर ही भोजनपर पाचक रस योग्य क्रिया कर सकता है। भोजन स्वादु बने और सरलतासे पचन हो, इस हेतुसे विविध सुगन्धित मसाले मिलाये जाते हैं। इन मसालोंका दुरुपयोग न होना चाहिये। दूधको अति उबालनेपर पचनमें भारी हो जाता है।

२. आहारमें भूल—१. अधिक शराब लेना; २. अत्यधिक चायका सेवन करना या अति कड़क चाय लेना (यह मांस स्नायुओंको कठोर बनाता है), अति उष्ण या अति शीतल भोजन, क्षुधा लगनेपर भोजनके स्थानपर चाय लेना; ३. भोजन करते समय अत्यधिक पेयका सेवन (इससे आमाशय रस अति निर्बल हो जाता है तथा लाला और आमाशय रसके स्थानपर जल (या पेय) मिलकर मृदु बनता है, फिर योग्य पचन नहीं होता); ४. कठोर भोजनकी अधिकता, अधिक भोजन या दो समयका भोजन एक बारमें करते रहना; ५. वसा (घी-तेल) अधिक होना (आमाशयमें वसाका पचन नहीं होना); ६. भारी भोजन; ७. शक्कर अधिक होना; ८. धूम्रपान अधिक करना (विशेषतः भोजन करनेके पहले धूम्रपान), ९. पेयकी न्यूनता; १०. अधपके या उतरे हुए फल खाना, बासी भोजन करना; ११. देश, काल, स्वभाव आदिसे विरोधी भोजन, जैसे-अनेकोंको दही प्रतिकूल रहता है, शरद्-ऋतुमें दही हानि पहुँचाता है, किसी-किसी स्थानमें इमली और अमचूर संधियोंको जकड़ लेते हैं आदि; १२. भोजन पचन होनेके पहले पुनः भोजन करना।

३. आमाशय आदिके स्थानिक रोग—१. आमाशयके कर्कस्फोट, व्रण, प्रसारण, स्थानभ्रष्टता, आमाशय प्रदाह; २. यकृत्की विशीर्णतासे आमाशयकी अभिसरणक्रियापर आघात होना; ३. चिरकारी हृद्रोगसे (प्रतिहारिणी शिरा-द्वारा) आमाशय विकृति, साथमें कौड़ी प्रदेशमें वेदना; ४ पित्ताशय विकार; ५. उपान्त्र प्रदाह, कभी-कभी बृहदन्त्रप्रदाह और विचलित वृक्क आदिसे अजीर्ण उत्पन्न होता है।

४. शारीरिक विकार—राजयक्ष्मा, वृक्कप्रदाह, वातरक्त, पाण्डु और निर्बलता लाने वाली व्याधियाँ।

५. वातनाड़ियोंकी क्रिया विकृति, अधिक जागरण, मानसिक चिन्ता, शीत लग जाना, विविध रोग आदि कारणोंसे।

इनके अतिरिक्त निर्धनोंको बार-बार उपवास और बार-बार पूर्ण या अधिक भोजन मिलनेपर अजीर्ण रोग हो जाता है।

लक्षण—१. कौड़ी प्रदेशमें वेदना; २. आफरा; ३. द्रवका प्रत्यावर्त्तन; ४. उबाक और वमन (रोग बढ़नेपर कभी अति स्पष्ट); ५. क्षुधाका परिवर्तन (सामान्यतः क्षुधानाश)।

कौड़ी प्रदेशमें वेदना—इसके हेतु अनेक हैं। अ. आमाशयका प्रसारण (वायु वृद्धि या खिंचावके अभावसे या इन दोनों कारणोंसे); आ. आहार रस अन्ननलिकामें प्रत्यावर्त्तन होना (फिर कण्ठ और छातीमें जलन और ग्रसनिकामें वेदना होना); इ. स्थानिक वेदना होना (दबानेपर वेदनावृद्धि, कभी क्षत होना), ई. श्रोणिगुहास्थित बृहदन्त्रका प्रसारण।

अजीर्णमें किसी-किसीको आमाशय शूल (Gastralgia) होता है। किसी को आमाशय शूल स्वतन्त्र व्याधि रूपसे हो जाता है। कभी-कभी वेदना अति प्रबल हो जाती है। फिर त्वचा शीतल, नाड़ी क्षीण, उबाक, वमन और बेहोशी ये लक्षण उपस्थित होते हैं। कभी-कभी वमन हो जानेपर वेदना शमन हो जाती है, रोग जीर्ण होनेपर वेदना अधिक प्रबल नहीं होती।

दाह (छाती में जलन Cardialgia)—अजीर्ण रोगमें यह कष्टप्रद लक्षण उत्पन्न होता है। आमाशयमें अम्ल रस संगृहीत होनेपर आमाशयके हार्दिक द्वार और अन्ननलिकामें दाह, अम्लता और उग्रता जनित वेदनाका अनुभव होता है। सामान्यतः शक्कर और घी की अधिकता होनेपर दाह उत्पन्न होता है; तथा सोडा आदि क्षारका सेवन करनेपर दाह शान्त होजाता है।

२. अफारा—आमाशयमें गैस भर जानेका हेतु वायुका निगरण होता है। इनमेंसे वायु आहार या पेयके साथ भीतर जाती है या अधिक प्रवाही सेवन, थूकका अत्यधिक स्राव, ग्रसनिकामें उग्रता, आमाशयसें पीड़ा, महा प्राचीरा पेशीके समीप वेदना, वात नाड़ी क्रियामें विकृति आदि अनेक हेतु हैं।

३. द्रवका प्रत्यावर्त्तन—कभी-कभी बार-बार मुँहमें थूक या द्रव आता ही रहता है। यह आमाशय और ग्रसनिकाकी उग्रता दर्शाता है। उग्रता कम होने पर मुँहमें लाला अन्ननलिकामें जाती है और हार्दिक द्वारके पास संगृहीत होती है। फिर अन्ननलिका स्फीत होती है और अत्यधिक स्वादहीन प्रवाही वापस आ जाता है। यह स्थिति आमाशय रसमें लवणाम्ल अत्यधिक बढ़नेपर होती है। विशेषतः ग्रहणी व्रण होनेपर ऐसा होता है। अति क्वचित् आमाशयमेंसे तीक्ष्ण अम्ल रस आ जाता है; कभी वात-नाड़ी क्रिया विकार होनेपर आहार मुँहमें आ जाता है। सामान्यतः गम्भीर आफरा भी होता है।

कभी खमीर उत्पन्न होकर कर्बोदक प्रधान अजीर्ण (Carbohydrate dyspepsia) में अन्त्रके भीतर आफरा आ जाता है। बहुधा आमाशयका आफरा भी साथमें होता है।

४. वमन—यह वान्ति आमाशयगत द्रव्य, दीवारकी स्थिति, वायु निगलने का स्वभाव, वातनाड़ी क्रियाकी विकृति आदि हेतुसे होती है। शराबीको आमप्रधान वमन प्रातःकालमें होती है। वातनाड़ी क्रिया विकार होनेपर भोजनके पश्चात् तुरन्त हो जाती है। व्रण आदि हेतुओंसे भोजनके कुछ समयके पश्चात् होती है। यह वमन आममय, आहारपूर्ण, अम्लमय, रक्तमय, पूयमय आदि अनेक प्रकारकी होती है।

कितनीही बार आमाशयमें विकार न होनेपर भी अन्य यन्त्रों—यकृत्, वृक्क, गर्भाशय आदिके तथा वातनाड़ीके विकारोंके आघात द्वारा वमन होती है। हिस्टीरिया रोगिणीको भयङ्कर वमन हो सकती है।

५. क्षुधाविलक्षणता—आमाशयकी दीवार, मुँहकी वातनाड़ियाँ, आमाशयकी परिचालन क्रिया, आमाशयमें रक्ताभिसरण और लसीका स्थानके प्रसारणकी प्रतिक्रिया आदि हेतुसे क्षुधा भेद हो जाता है।

सामान्यतः क्षुधामान्द्य होता है। रोग प्रबल होनेपर क्षुधा बिल्कुल नष्ट हो जाती है। कभी-कभी अस्वाभाविक क्षुधा उपस्थित होती है। अरुचि भी आ जाती है। रुग्णा हिस्टीरिया पीड़ित हो या सगर्भा हो तो उसे मिट्टी, केछू, राख आदि अखाद्य पदार्थ खानेकी लालसा होती है।

इनके अतिरिक्त निम्न लक्षण भी प्रकट होते हैं।

जिह्वा—ज्वरावस्था न होने या विकृत दाँत, तालु, ग्रन्थि-वृद्धि, तमाखूका अत्यधिक सेवन और विविध स्थानिक कारण न होनेपर आमाशय, अन्त्र या यकृत्के विकारको दर्शानेके लिये जिह्वा मलावृत, काँटेदार एवं पीत या कृष्णवर्ण बन जाती है। शराबीकी जिह्वा अति लाल भासती है एवं जिह्वाके अग्रभागपर लाल काँटे दिखते हैं। आमाशयका क्षय हो तो भी जिह्वा वैसी ही प्रतीत होती है।

सामान्यतः जिह्वा मलीन होनेपर मुँहमेंसे निकलने वाली वायु दुर्गन्धमय होती है। जो वार्त्तालाप करनेपर दूसरेको विदित होती है। मुँह बेस्वादु रहता है। डकार-आनेपर दुर्गन्धका अनुभव होता है।

मुखस्वाद—भोजनकर लेनेपर मुँह बेस्वादु बन जाता है। किसी-किसीको कुछ समय बाद उबाक आने लगती है। खट्टी डकारें आती हैं। वमन हो तो दाँत आम (अम्ला) जाते हैं और किसी-किसीको नेत्रोंमें जल आजाता है।

साथही निस्तेज मुखमण्डल, नेत्र श्लैष्मिक कला मल युक्त, दाँतपर मल जमना; मलावरोध, कभी-कभी अतिसार, कफवृद्धि, सामान्यतः प्रसनिकामें कफ आजाना, शारीरिक उत्ताप सामान्य, नाड़ी प्रायः मन्द, हृत्स्पंदवर्द्धन, चक्कर आना, मस्तिष्क शक्तिका ह्रास और शिथिलता, चिड़चिड़ापन, मस्तिष्कमें आगेकी ओर दर्द होना,

शीतका असर होना आदि प्रकट होते हैं।

कभी-कभी वातनाड़ियोंकी विकृति द्वारा हृदय आदि विविध यन्त्रोंकी क्रियामें अनियमितता, प्रमेह (मूत्रमें क्षार जाना—Oxaluria), शिरदर्द, मानसिक बेचैनी आदि विकार उपस्थित होते हैं।

अजीर्णके विशेष प्रकार—

अ. संचालक नाड़ियोंकी क्रिया विकृतिजन्य—

१. आमाशयकी अत्यधिक गति।

२. आमाशय दबावका ह्रास।

आ. आमाशय संरक्षक क्रियाकी विकृतिजन्य—

३. लवणाम्ल द्रव-वृद्धि।

४. लवणाम्ल द्रव-ह्रास।

इ. ५. आमाशय रसमें प्रथिन परिवर्त्तकके अभाव जन्य।

१. आमाशयकी अत्यधिक गति (Hypermotility)—सामान्यत: भोजन कर लेनेपर २–३ घण्टोंमें अवसन्नताका असर होता है। भोजन कम लेनेपर शान्ति रहती है। 'क्ष' किरण द्वारा परीक्षा करनेपर आमाशयके आकार या कदमें अन्तर नहीं होता। परिचालन क्रिया सबल भासती है। आमाशय शीघ्र खाली होता है। इसका सम्बन्ध अधिक लवणाम्ल द्रवसे रहता है।

२. आमाशय दबावका ह्रास (Atony)—इसका वर्णन आमाशय प्रसारणमें किया जायगा।

३. लवणाम्ल द्रववृद्धि—(Hyperchlorhydria)—सामान्यत: आमाशय रसमें ०·४% लवणाम्ल रहता है। सामान्यत: भोजनमें ०·२% से नहीं बढ़ता। हिस्टेमाइन (Histamine) के साथ ०·३% होता है। लवणाम्ल द्रव वृद्धि मुख्यत: रसस्रावकी अधिकतासे होती है। अम्लताकी वृद्धिसे नहीं। अनुपातकी दृष्टिसे अम्लता कम होती है। कुछ आम होता है।

आमाशय रसस्राव वृद्धि (Hypersecretion) को डाक्टरीमें रीकमेनका रोग (Reichmann's disease) कहते हैं। कचित् मुद्रिका द्वारका आक्षेप, मुद्रिका द्वारके पास व्रण (Juxtra-pyloric ulcer) आमाशयके आकुंचनमें शिथिलता, चिरकारी पित्ताशयप्रदाह या उपान्त्रप्रदाह होनेपर लवणाम्ल द्रवकी अत्यधिक वृद्धि (लगभग ५%) हो जाती है। इन कारणोंको दूर करना वही इस रोगका सच्चा उपचार है।

निदान—१. शारीरिक विकार जन्य या क्रिया जन्य (किसी लक्षणसे रहित); २. महणीव्रण; ३. चिरकारी उपान्त्र प्रदाह और लघु अन्त्रकी विकृति

होनेपर मुद्रिका द्वारपर आक्षेपज प्रतिफलित क्रिया; तथा ४. कभी-कभी पित्ताश्मरी ये सब कारण माने जाते हैं।

लक्षण—छातीमें जलन, विशेषतः भोजनके २-३ घण्टे बाद किन्तु अनियमित जलन, कुछ क्षार सेवन करनेपर आराम रहना, मंद अफरा, अम्ल उद्गार और कभी-कभी मुँहमें द्रव आ जाना, क्षुधा अच्छी लगना, वमन न होना, वामन क्रिया विकृति होनेपर मुँहमें द्रव प्रत्यावर्तित होना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। मांसपेशियोंका आक्षेप नहीं होता। आमाशयकी परिचालन क्रिया प्रबल होनेसे आमाशय शीघ्र रिक्त होता है। किन्तु यह नियमित नहीं।

४. लवणाम्ल द्रव ह्रास (Hypochlorhydria)—आमाशय रस स्राव का ह्रास होनेपर सामान्यतः लवणाम्ल द्रवके स्रावका अभाव कहा जाता है। इस प्रकारमें आमाशय रस और उसकी अम्लता दोनोंमें न्यूनता होती है तथा आमकी वृद्धि होती है।

यदि लवणाम्ल द्रवकी मुक्तताका ह्रास हो तो उसे एक्लोरहाइड्रिया (Achlorhydria) तथा लवणाम्ल द्रवकी मुक्तता और आमाशय रसमें पेप्सिन इन दोनोंका अभाव हो तो उसे एकाइलिया गेस्ट्रिका (Achylia gastrica) कहते हैं। इनमेंसे एकाइलिया गेस्ट्रिकाका वर्णन आगे पृथक् किया जायगा।

निदान—लवणाम्ल द्रव ह्रास यह स्वस्थ व्यक्तिको भी शोक, चिन्ता, क्रोध और थकावट आदिसे उपस्थित होता है या चिरकारी आमाशय प्रदाह होनेपर होता है।

लवणाम्ल द्रवकी मुक्तताका ह्रास स्वस्थ व्यक्तिमें तथा मदात्ययजनित चिरकारी आमाशयप्रदाह और आमाशयके घातक अर्बुद (Carcinoma) के हेतुसे भी स्पष्ट प्रतीत होता है। एवं सामान्य भावसे पाण्डु (Achlorhydric anaemia), तारुण्य पिटिका (Acne rosacea); आमवातिक संधि प्रदाह (Rheumatoid arthritis), चिरकारी उण्डुक प्रदाह और पित्ताशय प्रदाहके साथ उपस्थित होता है। यह विकार स्त्रियोंमें अति सामान्य है। इसके साथ कभी ग्रहणीव्रण या आमाशय व्रण भी होता है। इसका सम्बन्ध चेतना वृद्धि युक्त अवस्थाओं—तमक श्वास; अर्धावभेदक और शीतपित्त आदिके साथ रहता है।

कभी लवणाम्ल द्रवका ह्रास आमाशय क्रिया विकृतिजन्य होता है। इसका सम्बन्ध आमाशय प्रसारणके साथ रहता है। उसमें नियमित रूपसे आमाशयका स्वाभाविक कद नहीं रहता। तनाव और परिचालन क्रिया योग्य होनेपर भी मुद्रिका द्वारकी शिथिलता होनेसे आमाशय शीघ्र रिक्त हो जाता है।

रोगविनिर्णय—आमाशय प्रसारण न हो और लवणाम्ल द्रवका ह्रास हो तो उसका निर्णय आमाशय रसका पृथक्करण करनेपर होता है। आमाशयका तनाव न्यून हो गया हो तो उसका निर्णय रेडियोग्राफसे होता है।

चिकित्सा—इस रोगमें भोजन कर लेनेपर तुरन्त जलमय लवणाम्ल द्रव का सेवन कराया जाता है। मात्रा ५ से ६० बूंदें, शक्कर या संतराके शर्बत मिले १ गिलास जलके साथ। किसी रोगीको इससे मूत्राशयमें उग्रता उत्पन्न होती है और बार-बार पेशाब होता है। ऐसा होनेपर खुरासानी अजवायनका अर्क (Tr. Hyoscyam) यवक्षारके साथ रात्रिको देते हैं।

इस विकारपर हिस्टेमाइन (Histemine) का अन्तःक्षेपण शीघ्र लाभ पहुँचाता है। शरीरके १० किलोग्राम वजनपर १ मिलीग्रामके हिसाबसे (देहके वजनका १/१०००००) अन्तःक्षेपण करनेपर १० से ३० मिनटके भीतर आमाशयिक रसस्राव शुरू होने लगता है।

५. आमाशय रसमें ग्रथिन परिवर्तकाभाव।

(एकाइलिया गेस्ट्रिका—Achylia Gastrica)

इस प्रकारमें आमाशय रसके भीतर लवणाम्ल द्रव और ग्रथिन परिवर्तक (Pepsin) का पूर्णांशमें अभाव होता है जिससे फेनीभवन क्रिया नहीं हो सकती।

निदान—१. चिरकारी आमाशय प्रदाह या घातक पाण्डु जनित श्लैष्मिक कलाका संकोच; २ वातनाड़ी क्रियामें विकृति (यह क्वचित् ही होती है), इसका कोई स्पष्ट रोगदर्शक लक्षण नहीं होता।

रोगविनिर्णय—(आमाशयके घातक अर्बुदसे भेद) १. लम्बे काल तक स्थिति; २. लवणाम्ल द्रव और ग्रथिन परिवर्त्तकका पूर्णांशमें अभाव तथा आमाशयिक अम्लता अति कम होना इन लक्षणोंसे भेद हो जाता है।

वात प्रकोपज अजीर्ण।

(नर्वस डिस्पेपसिया—न्यूरोसिस ऑफ दी स्टमक—Nervous Dyspepsia–Neurosis of the Stomach)

शारीरिक परिवर्त्तन न होते हुए वातनाड़ी क्रिया विकार या वातनाड़ियोंके स्वभावसे आमाशयिक विकार उपस्थित होता है, उसे वातप्रकोपज अजीर्ण कहते हैं। यह हिस्टीरिया और ओजक्षय (Neurasthenia) के समान विकार है। यह क्वचित् पुरुषोंमें प्रौढ़ावस्थाकी प्राप्तिके पहले और स्त्रियोंमें सामान्यतः प्राप्त होता है।

वर्गीकरण—१. संचालक नाड़ी क्रिया भेद; २. संरक्षक नाड़ी क्रिया भेद; ३. संवेदक नाड़ी क्रिया भेद। इनके अतिरिक्त मिश्रित प्रकार।

१. संचालक नाड़ी क्रिया भेद (Motor Neurosis)—इसमें निम्नानुसार ४ विभाग होते हैं:—

अ. वातप्रकोपज वमन (Nervous vomiting)—यह सामान्यतः स्त्रियोंको होता है; उबाक या वमनकी चेष्टा किये बिना आहार प्रत्यावर्त्तित होता है। बार-बार मुँह भर जाता है; विशेषतः भोजनके पश्चात् या पेय लेनेपर तुरन्त। आमाशय रसका पृथक्करण सामान्य होता है। यह विकार क्वचित् ही दृढ़मूल होता है। बहुधा रोग दूर हो जाता है।

आ. वातप्रकोपज आध्मान (Nervous flatulence)—वायुको निगलने का स्वभाव (Aerophagia) और उद्गार निःसरण कितने ही दिनों तक रहता है। यह हिस्टीरिया पीड़ित रोगिणी और कभी-कभी बालकोंको होता है। आमाशयमें वेदना मय प्रसारण तथा द्वार शिथिल न हो तो वायुका दबाव (Pneumatosis) होता है। किसी-किसीकी परिचालन क्रिया प्रबल हो जाती है। फिर भोजन कर लेनेपर वायुकी गुड़गुड़ाहट तथा परिचालन क्रियाकी ध्वनि और वृद्धि होती है। अन्त्र भी प्रभावित होता है।

कम महत्वके प्रकार—

इ. आमाशयगति वृद्धि (Hypermotility)—आमाशय शीघ्र खाली होता है। आमाशय नलिका और 'क्ष' किरणद्वारा अवगत होता है। लक्षण कोई प्रकाशित नहीं होता। प्रायः अम्लता वृद्धि इसके साथ हो जाती है।

ई. प्रत्यावर्त्तन और पुनः चर्वण (Merycism of Rumination)—यह लक्षण रोग वृद्धि होकर आदत पड़नेपर होता है। इसका कोई स्वास्थ्यपर असर नहीं होता।

२. संरक्षक नाड़ी क्रिया विकार (Secretory Neurosis)—इस प्रकारमें ३ उप विभाग हैं—अ. लवणाम्ल द्रवकी वृद्धि; आ. आमाशय रसका सतत स्राव; इ. वात प्रकोपज आमाशय रसगत प्रथिन परिवर्त्तकका ह्रास।

अ. लवणाम्ल द्रव वृद्धि—यह प्राणदा नाड़ीकी क्रिया विकृतिसे होता है। इसका वर्णन पहले किया है। इसमें बीच-बीचमें अपचनके लक्षण उपस्थित होते हैं।

आ. सतत आमाशय रसस्राव (Gastro succorrhoea)—इसमें दो प्रकार हैं—विश्राम सह और सतत। इसमें लवणाम्ल द्रव वृद्धि वर्त्तमान होते हैं।

विश्राम सह प्रकार (Rossbach's gastroxynsis) में रात्रिको भोजन कर लेनेपर कौड़ी प्रदेशमें वेदना, शिर दर्द, फिर अम्ल द्रवकी वान्ति,

सामान्यतः गम्भीर ओजक्षय आदि लक्षण होते हैं। यह कुछ दिनों तक रहता है।

सतत प्रकार (रीकमेनका रोग) अति सामान्य है। बार-बार पीड़ा और डकार सह वमन, देह गलते जाना, प्रवाही वृद्धिसे और मुद्रिका द्वारके आक्षेप होनेपर आमाशयका प्रसारण होना आदि लक्षण होते हैं। यह स्थिति आमाशयके घातक अर्बुद (Carcinoma) की सूचना करती है।

ई. वातप्रकोपज आमाशय रसगत प्रथिन परिवर्त्तकका ह्रास (Achylia Gastrica Nervosa)—वातप्रकोपज अजीर्णके भीतर इस प्रकारमें सामान्यतः लवणाम्ल द्रवका ह्रास होता है। क्वचित् लवणाम्ल द्रव और प्रथिन परिवर्त्तक का बिलकुल अभाव होता है। लक्षण सामान्यतः गम्भीर होते हैं। इसका विचार पहले किया गया है।

३. संज्ञावहा नाड़ीक्रियाविकृति (Sensory Neurosis)—इस प्रकार में ४ उप विभाग हैं—अ. आमाशयगत वेदना; आ. भस्मक; इ. परितृप्तिके बोधका अभाव; ई. वातप्रकोपज क्षुधानाश।

अ. आमाशय शूल (Gastralgia)—इसके साथ बहुधा लवणाम्ल द्रवकी वृद्धि भी होती है। मासिक धर्मके बन्द होनेके समय तथा ओजक्षय, संधिशोथमें वेदना और हिस्टीरियाके साथ यह प्रतीत होता है। कभी यह युवावस्थामें भी भासता है। इस प्रकारका आक्रमण अकस्मात् होता है। पीठकी ओरसे निकली हुई कौड़ी प्रदेशमें गम्भीर वेदना होती है। इसका सम्बन्ध भोजनसे नहीं रहता। यह रात्रिको होती है। कभी-कभी पित्ताशयशूल और कौड़ी प्रदेशका शूल (Epigastric angina) होनेकी भ्रान्ति होती है। आमाशयका शक्तिपात होता है। बार-बार वमन होती है और विश्रान्ति सह आक्रमण होता है। इसका विशेष विचार चिकित्सातत्त्वप्रदीप द्वितीय खण्डमें किया है।

आ. भस्मक (Bulimia)—इस प्रकारमें प्रायः रात्रिको तीव्र क्षुधा लगती है। इस रोगमें न्यूनाधिक आहारका ध्वंस होता है। रोग बढ़नेपर आमाशयका प्रसारण हो जाता है। यह हिस्टीरिया और वात नाड़ी क्रिया विकार होनेपर होता है। यह लवणाम्ल द्रवकी अति वृद्धिके समान है। मधुमेहमें भी ऐसा होता है।

इ. परितृप्तिके बोधका अभाव (Acoria)—इस प्रकारमें क्षुधाका भास होता रहता है। आमाशय कभी पूर्ण नहीं होता।

ई. वातप्रकोपज क्षुधानाश (Anorexia Nervosa)—यह रोग प्रायः १५ से २५ वर्षकी आयु वाली स्त्रियोंको होता है। कभी-कभी वृद्धावस्थामें भी होता है। इसका सम्बन्ध हिस्टीरियासे है। यह कभी अच्छा नहीं होता। इसका वर्णन चिकित्सातत्त्वप्रदीप तृतीय खण्डमें किया जायगा।

अजीर्ण रोगके सार्वाङ्गिक और सामान्य लक्षण—अजीर्ण रोगमें विशेषतः दो अवस्थायें प्रतीत होती हैं—१. द्रवात्रके ह्रास जनित अजीर्ण और २. क्षीणता जन्य अजीर्ण। इस रोगमें प्रायः सबसे पहिले वातनाड़ियाँ आक्रान्त होती हैं। उससे शारीरिक रचनामें किसी भी प्रकारकी विलक्षणता प्रतीत नहीं होती। फिर विविध पाचक रसके परिमाण, धर्म तथा उपादान (रचना कोषाणुओं) में विकृति उपस्थित होती है। सार्वाङ्गिक वात नाड़ियोंकी क्षीणता, स्वरमें अन्तर, तालु आदि स्थानोंकी शिथिलता, जिह्वाकी निस्तेजता, हाथ पैरोंका टूटना, शीतलता, स्मरण शक्तिका ह्रास आदि उत्पन्न होते हैं। त्वचापर चिपचिपा स्वेद आता है, मानसिक उदासीनता आती है। इस तरह स्थानिककी अपेक्षा सार्वाङ्गिक लक्षण प्रबलतर प्रकट होते हैं।

सामान्यतः आध्मान, उदरमें भारीपन फिर कुछ समयके पश्चात् प्रसेकावस्था होती है, जिससे पाचक रसमें विकृति होती है। परिणाममें भोजनका पाक नहीं होता। पाचक रस संग्रहीत होता है। फिर श्लैष्मिक कलाका प्रदाह होता है। आहार द्रव्य चिपचिपे आमद्वारा आवृत होता है, जिससे उसपर पाचक रसकी क्रिया नहीं हो सकती। आमाशय रस अम्ल गुण विशिष्टके स्थानमें क्षार गुण विशिष्ट होता है, जिससे प्रथिन परिवर्तक द्रव्य (पेप्सिन) की क्रिया प्रकट नहीं होती।

शीघ्र उपचार न होनेपर प्रसेकावस्था बढ़ती है। फिर श्लैष्मिक कलाका निम्नस्थ आवरण प्रभावित होता है। इस तरह आमाशय प्रदाह होनेपर दीवार मोटी होती है। मांसपेशियोंके संचालनमें प्रतिबन्ध होता है, आहार द्रव्य अन्त्रमें प्रेरित नहीं होता। अपक्वावस्थामें वहाँ ही रह जाता है, जिससे आमाशयकी उग्रता और बढ़ जाती है। इसके पश्चात् आमाशयका प्रसारण होता है तथा भोजन दीर्घकाल पर्यन्त आमाशयमें रहनेपर उग्रताजन्य वान्ति होती है। इस वान्तिके पदार्थोंकी परीक्षा करनेपर आमाशयिक कीटाणु (Sarsina ventriculi) प्रतीत होते हैं।

आमाशय प्रसेक शनै शनैः अन्त्रमें फैलता है। अन्त्रमें फैलनेपर भोजनके कुछ घण्टोंके पश्चात् उदरमें वेदना होती है। कभी-कभी अतिसार उत्पन्न होता है. अन्त्रकी परिचालन क्रिया शिथिल होती है; इस हेतुसे अतिसार शमन होनेपर मलावरोध होता है। इस अवस्थामें सार्वाङ्गिक लक्षणोंकी अपेक्षा स्थानिक लक्षण प्रबलतर प्रकट होते हैं।

अजीर्ण रोगका निर्णय—यह प्रायः अति कठिन है। इसके निर्णयके लिये निदान और लक्षणोंपर योग्य लक्ष्य देना चाहिये। आमाशय रसका पृथक्करण करना चाहिये। रेडियोग्राफ और आमाशय-दर्शक यन्त्रसे परीक्षा करनी

चाहिये। आमाशयस्थ कर्कस्फोट, व्रण और प्रसारण तथा पित्ताशय, यकृत्, हृदय, उपान्त्र और अन्त्रके रोगोंका भी विचार करना चाहिये एवं क्षय जैसे शारीरिक विकारकी ओर भी दृष्टि डालकर निर्णय करना चाहिये।

अजीर्ण चिकित्सोपयोगी सूचना

अजीर्णकी चिकित्सा करनेमें रोगोत्पादक कारण समूहपर लक्ष्य देना चाहिये। अनियमित और अस्वास्थ्य-कर व्यसन और अभ्यास आदिका त्याग करें। वातनाड़ियोंकी विकृति होनेपर उसे दूर करनेका उपचार करें।

इस रोगमें व्यायाम अति हितकारक है। खुली वायुमें घूमना, अश्वारोहण, अंगमर्दन, चंपी आदि लाभदायक हैं।

इस रोगकी चिकित्सामें पथ्यपालन मुख्य है। पथ्यपालन न होनेपर कदापि रोग शमन नहीं हो सकेगा; बल्कि रोग बढ़ता ही जायगा। भोजन नियमित समयपर लघु, शीघ्र पचन हो सके वैसा करें।

मानसिक चिन्ता, शोक आदि हेतु हों, तो उन्हें दूर करें। मनको प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करें। आवश्यकता हो तो निद्राप्रद औषधका उपयोग करें।

इस रोगमें तेज मसाला, अति गरम गरम भोजन, बर्फ आदिका सेवन एवं शक्कर, घृत आदि वसामय भोजन हानि पहुँचाता है। मांस, भारी भोजन, खूब उबाला हुआ दूध, असमयपर भोजन तथा भोजन पचनेके पहले भोजन इन सबको छोड़ देना चाहिये। रोग अति प्रबल होनेपर दुग्ध अनुकूल हो तो दुग्ध लेवें या मट्ठा अनुकूल हो तो मट्ठा लेवें। अनुकूल फलोंका रस ले सकते हैं।

वमन, उदराध्मान, दाह, शूल, अतिसार, मलावरोध आदि विविध लक्षण उपस्थित होते हैं। इन लक्षणोंके अनुरूप चिकित्सामें अन्तर करना चाहिए।

आमाशय प्रसारण हुआ हो तो भोजन लघु और थोड़ा-थोड़ा करना चाहिये। आमाशयमें दूषित अन्न शेष हो तो आमाशय नलिका (Stomach pump) द्वारा लवण जलसे आमाशयको धोते रहना चाहिये।

आध्मान होनेपर उदरपर तार्पिन तैल, एरण्ड तैल लगावें या ऊपर सेक करें। अम्लपित्तके लक्षण साथमें हों तो भोजनके पहले लवणाम्ल द्रव देवें एवं आध्मान निवारक इलायची, दालचीनी, लौंग, कालीमिर्च, हींग, जीरा आदि युक्त औषध दें। अजीर्णान्तक वटी, भीमवटी, धनञ्जयवटी, शंखवटी, शूलगज केसरी, शिवाक्षार पाचन चूर्ण आदि उपकारक औषधियाँ हैं।

आमाशयकी उत्तेजना हो, लवणाम्ल द्रवका स्राव अधिक होता हो तो शराबका बिल्कुल त्याग करना चाहिये। धूम्रपान भी अधिक हो तो उसे भी छोड़ देना चाहिये। लवणाम्ल द्रव और अम्लता कम हो तो शराबका सेवन मर्यादित कर सकते हैं।

आमाशयमें दूषित आहार शेष रहा हो तो उसे वमन कराकर निकाल देना चाहिये; किन्तु बार-बार वमन कराना हानिकर है। अन्यथा आमाशयका प्रसेक उत्पन्न हो जायगा। इसलिये आहार सम्हाल पूर्वक देवें। आमाशयको रबरकी आमाशय नलिका (Stomach tube) द्वारा धोया जाता है। इस नलिकाको सम्हालपूर्वक रोगीके कण्ठमेंसे नीचे आमाशयमें डालें। नलिका डालनेके समय प्रारम्भमें मस्तकको कुछ पीछेकी ओर झुकावें। फिर कण्ठके पास जाने-पर शिरको आगेकी ओर मोड़ लेवें, जिससे नलिकाका प्रवेश अन्न मार्गमें सहज हो जाता है। पश्चात् बाहर रहे हुए खुले मुँहमें निवाया जल डालें। नलिका भर जानेपर उसे दबाकर उलट देवें, जिससे भीतर रहे हुए रसमें जल मिश्रित होकर नलिकाके दूसरे मुँहसे बाहर आजाता है। इस तरह ३ बार धोनेसे दूषित रस निकलकर साफ पानी आने लगता है।

आमाशयमें अम्ल रस अधिक होता हो, तो वमन करावें और अम्ल-पित्तके अनुसार चिकित्सा करें।

मलावरोध होता हो तो मृदु विरेचन देवें। पञ्चसकार, स्वादिष्ट विरेचन आदि सौम्य विरेचन हितकर हैं। यदि मलका रंग श्वेत हो तो इच्छाभेदी या निशोथयुक्त विरेचन देना चाहिये। ज्वर हो तो अमलतास देना चाहिये। किन्तु बार-बार किसी भी प्रकारका विरेचन नहीं देना चाहिये।

आमाशय रसका स्राव कम होनेपर लवणाम्ल द्रव या सोरकद्राव अथवा इन दोनोंको मिलाकर दिया जाता है। दबाव ह्रास जनित अजीर्ण (अग्निमान्द्य) और शराबीके आमाशय प्रसेकपर यह अम्ल औषध विशेष उपकारक है। भोजन करनेसे पहले अम्ल (तेजाब) देनेपर आमाशय रसस्रावका ह्रास होता है। यदि अम्ल रस भोजनके २-३ घण्टों बाद लिया जायगा, तो आमाशय रसकी क्रियामें वृद्धि होती है। अतः इसका उपयोग करनेके पहले इसका निर्णय कर लेना चाहिये।

यदि उस समय क्षार प्रयोग किया जाय तो आमाशय रसस्राव अधिक होता है। यदि आमाशय रसमें अम्लता बढ़ी हो और क्षार प्रयोग भोजनके पहले किया जायगा, तो अम्लपित्तके लक्षण प्रकट होंगे। यदि क्षारका सेवन भोजनके पश्चात् किया जायगा, तो बढ़ा हुआ अम्ल रस घट जायगा और वह मधुर बन जायगा।

वातवाहिनियोंकी निर्बलतासे अजीर्ण रोग उत्पन्न हुआ हो तो डाक्टरीमें ब्रोमाइडका सेवन कराया जाता है। आयुर्वेदमें सुवर्ण, रौप्य, प्रवाल, लोहभस्म, वत्सनाभ, अभ्रक भस्म, भांग, गांजा, आँवला, आदिका सेवन लाभदायक है। अग्निकुमार, धनञ्जयवटी, चतुर्मुख रस शीघ्र लाभ पहुँचाते हैं।

हृदय यन्त्रकी विकृतिके हेतुसे अजीर्ण हुआ हो तो हृदयपौष्टिक औषध देना चाहिये। इस तरह वृक्क प्रदाहके लक्षणरूप अजीर्ण रहता हो तो वृक्क प्रदाहका उपचार करना चाहिये।

अनेक बार स्त्रियोंको गर्भाशयके दोषसे अजीर्ण होता है। अम्लपित्तके लक्षण भी साथमें रहते हैं। उसके लिये पित्तशामक समशर्कर चूर्ण, प्रवाल, वराटिका आदि देवें एवं गर्भाशय दोषके निवारणार्थ योग्य उपचार करें।

दबावके ह्रास जनित अजीर्ण रोगमें छातीमें जलन होनेपर सोरक द्रावक (नाइट्रिक एसिड) का सेवन कराना चाहिये एवं क्षार प्रयोग करनेपर दाहका शमन होता है।

दाँतोंके विकारसे अजीर्ण हुआ हो तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। मल लगा हो तो मलको दूर करें। पूय आता हो और प्रारम्भिक रोग हो तो दन्तमञ्जन एवं इरिमेदादि तैलका गण्डूष आदि उपाय करें। रोग जीर्ण हो गया हो तो पूय वाले दांतको निकलवा देवें।

शारीरिक निर्बलता जनित अजीर्ण हो तो बल्य औषधका सेवन कराना चाहिये। नवजीवन रस (रसतन्त्रसार दूसरा खण्ड), चन्द्रोदय वटी, अग्नि-तुण्डी वटी, अभ्रक भस्म आदि हितकर हैं।

बाह्य वातावरणमें परिवर्तन होनेपर शीतकाल और वसंत ऋतु आनेपर चिरकारी प्रसेककी वृद्धि होती है। ऐसे समय रोगीको ऊनी वस्त्रोंका उपयोग करना चाहिये और शीत न लग जाय, इसकी पूर्ण सम्हाल रखनी चाहिये।

जीर्ण-अजीर्ण रोगमें कुचिला प्रधान औषध देनेसे परिचालन क्रियाकी वृद्धि होती है। हींग प्रधान औषध उदरवातको बाहर निकालती है। इस रोगमें डाक्टरी मत अनुसार कड़वी औषध कलम्भो, जेनशन, कुचिला, किनाइन आदि उपकारक हैं।

भगवान् धन्वन्तरिजीने (सूत्र अ० ४६-५०५ में) कहा है कि:—

तत्रामे लङ्घनं कार्यं विदग्धे वमनं हितम्।
विष्टब्धे स्वेदनं पथ्यं रसशेषे शयीत च॥

आमाजीर्णमें लंघन, विदग्धाजीर्णमें वमन, विष्टब्धाजीर्णमें स्वेदन और रसशेषाजीर्णमें दिनमें भोजनके पहले सोना हितकारक है।

दिनमें सोनेके अधिकारी—व्यायामसे थका हुआ, स्त्री समागम किया हुआ, सवारीसे थका हुआ, शराबसे मत्त, अतिसार, शूल, श्वास, तृषा, हिक्का और रसाजीर्णसे पीड़ित, वात वृद्धि वाले, निर्बल, क्षीण कफ वाले, बालक और वृद्ध, रात्रिमें जागरण करने वाले तथा उपवास करने वाले, ये सब दिनमें इच्छानुसार सोवें।

रसशेषाजीर्णमें आमाशयकी वृद्धि हो जाती है, इसलिये भोजनके बाद भी कुछ समय तक लेटे रहनेसे आमाशयको अधिक हानि नहीं पहुँचती। भोजन पचन होने लगता है और शनैः-शनैः आमाशय बलवान् बन कर अपना कार्य करने लगता है।

रसशेषाजीर्णमें दिनमें थोड़ी देर शयन कर लेनेके पश्चात् क्षुधा लगनेपर पथ्य लघु भोजन करना चाहिये एवं भोजनके पश्चात् भी १ घण्टे तक आराम करना चाहिये।

विष्टब्ध और रसशेषाजीर्णके लिये अन्य आचार्योंने कहा है कि:—

"विष्टब्धे स्वेदनं पथ्यं पेयं च लवणोदकम्।
रसशेषे दिवास्वप्नो लंघनं वातवर्जनम्॥"

विष्टब्ध अजीर्णमें स्वेदन और लवणोदकका पान दोनों पथ्य हैं तथा रसशेषाजीर्णमें दिनमें सोना, वातप्रकोप न हो, इस तरह लंघन, वातप्रकोप न हो ऐसे आहार-विहारका सेवन और निर्वात स्थानमें रहना ये सब हितकारक हैं।

प्रातःकालके भोजनका पूर्णांशमें पचन होनेके पहले कदाच सायंकालका भोजन किया जाय तो अधिक हानि नहीं है। किन्तु प्रातःकालमें अजीर्ण रह जानेपर यदि भोजन किया जाय तो प्रकृतिमें विशेष विकृति हो जाती है।

इस अजीर्ण रोगमें तीव्र वेदना (शूल) हो तो भी शूलघ्न औषधका सेवन न करना चाहिये। (वमन कराने वाली ओषध या निवाया जल पावें)। कारण तीव्र औषधका सेवन करनेपर अग्नि आमसे आच्छादित होनेसे दोष, औषध और भोजनको नहीं पका सकती प्रत्युत रोगीको हानि पहुँचाती है। ऐसा श्री० वाग्भट्टाचार्यने भी (सूत्र अ० ८-१८) निम्न वचनसे कहा है—

"तीव्रार्तिरपि नाजीर्णी पिबेच्छूलघ्नमौषधम्।
आमसन्नोऽनलो नाऽलं पक्तुं दोषौषधाशनम्॥
निहन्यादपि चैतेषां विभ्रमः सहसाऽऽतुरम्॥

यदि अजीर्ण रोगमें भोजन जीर्ण हो जानेपर उदर स्तब्ध और भारी रह जाय, तो शेष दोषको पचाकर अग्निको प्रदीप्त करनेके लिये औषध देनी चाहिये। प्रारम्भमें कच्चे दोषको तो अपतर्पण द्वारा ही शमन करें; किन्तु अपतर्पणकी योजना देश, काल और अग्निका विचार कर करनी चाहिये। इस विषयमें अष्टाङ्ग हृदयकारने कहा है कि:—

तत्राल्पे लङ्घनं पथ्यं मध्ये लङ्घनपाचनम्।
प्रभूते शोधनं तद्धि मूलादुन्मूलयेन्मलान्॥

थोड़े दोषमें लङ्घन (उपवास) कराना हितकर है; मध्यम दोषमें लङ्घन और

पाचन देवें और दोष अति बढ़ा हुआ हो, तो शोधन औषधद्वारा मलोंको मूलसे उखाड़ डालना चाहिये।

> वामयेदाशु तं तस्मादुष्णेन लवणाम्बुना।
> कार्यं वाऽनशनं तावद्यावन्न प्रकृतिं भजेत्॥
>
> सु० सू० ४३-५०६॥

आमाजीर्णमें नमकको निवाये जलके साथ मिला वमन करनेके लिये तुरन्त पिला देना चाहिये। फिर जबतक प्रकृति स्वस्थ न हो जाय, तब तक लङ्घन कराना चाहिये।

यदि आमाशयमें दाह-शोथ हो, तो अधिक तीक्ष्ण औषध नहीं देनी चाहिये।

यदि आमाशय शिथिल होगया हो, तो भोजनके पश्चात् १ घण्टा तक आराम करना हितकर है।

वातवहा नाड़ियोंकी विकृतिजन्य अजीर्ण हो, तो वातशामक उपचार करना चाहिए। आँवलेका मुरब्बा या च्यवनप्राशावलेहके साथ अभ्रक भस्मका सेवन अति लाभदायक है।

बलवान शरीरवालेको आमाजीर्णमें वमन करानेके लिये नमक मिला निवाया जल देवें या नमक १ तोला और बच ६ माशे मिला निवाया जल ३२ तोलेसे ६४ तोले तक प्रातःकाल पिलाकर तुरन्त वमन करावें (देरी न करें)।

यदि आमाजीर्णका रोगी निर्बल है तो वमन नहीं कराना चाहिये किन्तु लंघन आदिसे ही उपचार करें।

विदग्धाजीर्णमें शीतल जल पिलाना और नित्यपति उषःपान कराना यह पित्तशामक, दोषपाचक और रक्तमें रहे हुए दोषको बाहर निकाल प्रकृतिको स्वस्थ करानेके लिये अति हितकारक है।

अजीर्ण चिकित्सा।

आमपाचन सरल प्रयोग—

आशुकारी विकारपर प्रयोग—(१) हरड़, सोंठ, गुड़ और सैंधानमक मिलाकर सेवन करानेसे जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त होती है।

(२) हरड़, पीपल, चित्रकमूल और सैंधानमकका चूर्ण ३ से ६ माशे निवाये जलसे लेनेसे नष्ट हुई अग्नि प्रदीप्त हो जाती है।

(३) ६ माशे बच, ६ माशे सैंधानमक तथा २ माशे पीपलको एक ग्लास निवाये जलमें मिला, सुबहके समय पिलाकर वमन करानेसे कच्चा आम दोष निकल जाता है।

(४) धनिया और सोंठका क्वाथ पिलानेसे शूल सह आमाजीर्ण दूर हो जाता है और मूत्रकी शुद्धि होती है।

(५) सोंठ और सौंफको पीस समभाग मिश्री मिलाकर ६ माशे लेनेसे आम पच जाता है और शेष अंश मलके साथ निकल जाता है।

(६) हरड़, पीपल और कालानमक मिलाकर ३ माशे चूर्ण नित्राये जल के साथ लेनेसे आमपचन हो जाता है तथा अजीर्ण, मन्दाग्नि, अरुचि, आध्मान, शूलका शमन होता है।

(७) सोंठ, पीपल और हरड़का गुड़के साथ सेवन या अनार खानेसे आमाजीर्ण, बवासीर और विष्टब्धाजीर्ण दूर हो जाते हैं।

(८) विदग्धाजीर्णसे हृदय, कोष्ठ और कण्ठमें दाह हो जाय, तो रात्रिको सोनेके समय बड़ी हरड़, मिश्री और मुनक्काका सेवन शहदके साथ कराना लाभदायक है।

अजीर्ण रोगीको धन्वन्तरि जी (सूत्र अ० ४६-५१२-५१३ में) कहते हैं कि:-

अथेदजीर्णं प्रति यस्य शङ्का स्निग्धस्य जन्तोर्बलिनोऽन्नकाले।
प्रातः स शुण्ठीमभयामशङ्को भुंजीत संप्राश्य हितं हितार्थी॥
स्वल्पं यदा दोषविबद्धमामं लीनं न तेजः पथमावृणोति।
भवत्यजीर्णेऽपि तदा बुभुक्षा या मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति॥

यदि बलवान् मनुष्यको अजीर्ण होनेका संशय हो जाय, तो प्रातःकाल सोंठ और हरड़ समभाग मिलाकर ४-६ माशे सेवन करें। फिर भोजनके समय थोड़ा पथ्य भोजन कर लेवें। सोंठ और हरड़के सेवनका मुख्य कारण यह है कि यदि आम थोड़ा-सा भी वात आदि दोषसे विबद्ध होकर रस-रक्त आदि धातुओंमें लीन हो जाय और जठराग्निके मार्गको न रोके, तो अजीर्णमें भी क्षुधा लग जाती है। परन्तु यह क्षुधा विष सदृश घातक बन जाती है; अर्थात् रसशेषाजीर्णमें कहे हुए उपद्रव या दोषानुरूप किसी अन्य रोगकी उत्पत्ति कराती है।

अजीर्णमें उदरपर लेप व सेक—(१) त्रिकटु, सैंधानमक और हींग इन ५ औषधियोंको जल या काँजीके साथ पीस निवाया कर उदरपर लेप करें। फिर थोड़ा समय शयन करनेसे अजीर्ण निवृत्त हो जाता है।

(२) दारुषट्क लेप—देवदारु, सफेद बच, कूठ, सौंफ, हींग और सैंधानमक इन सबको कांजीमें पीस निवाया कर पेटपर लेप करनेसे आफरा और शूलका शमन होता है।

(३) अलसीको पीस गरम कर कपड़ेपर रोटी समान मोटा बिछावें। फिर दर्द वाले भागपर बाँधें या अलसीकी पोटलीसे पेटपर सेक करें तो तीव्र शूल, आफरा और मलावरोध शीघ्र दूर होते हैं।

(४) एक लौटेमें गरम जल भरें उसमें १ मुट्ठी नमक डालें। फिर पेटपर

एरण्ड तैल लगाकर कपड़ेकी चार तह रख कर सेक करें तो मलावरोध, आफरा और शूल नष्ट हो जाते हैं।

हृदयाधरिक प्रदेशमें तीव्र वेदना होती है, तो गरम जलसे सेक करें या राई का प्लास्तर लगावें। (विधि शरीर शोधन प्रकरणमें लिखा है)।

आमाजीर्ण नाशक औषधियाँ—(१) अग्निकुमार रस, क्रव्याद रस, लघु क्रव्याद रस, रामबाण रस, महायोगराज गूगल (रोग जीर्ण हो गया हो तो), लोह भस्म (त्रिफला घी और शहदके साथ), सञ्जीवनी गुटिका, धनञ्जय वटी, चित्रकादि वटी, गन्धक वटी और क्षुद्बोधक रस ये सब आमको पचन करा अग्निको प्रदीप्त कराती हैं।

इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन करावें।

संजीवनी और अग्निकुमारमें बच्छनाभ है, अतः वातनाड़ियोंका प्रदाह हो तो उसे वे दूर करते हैं। जीर्ण आम सह वातप्रकोप होनेपर महायोगराज देवें। अतिसार सह हो तो रामबाण रस देवें। यकृत् स्राव कम हो तो क्रव्याद रस देवें। पाण्डुता वालेको लघुक्रव्याद या लोह भस्म देवें। क्षुद्बोधक रस आमाशय रस स्राव बढ़ानेमें हितकर है। धनञ्जय वटी आफराको दूर करती है। चित्रकादि वटी, गन्धक वटी, ये सौम्य अग्निवर्द्धक और आमपाचक हैं। गन्धक वटी भोजनके १।-२ घण्टे बाद देनेसे उदरका भारीपन दूर होता है और पचन क्रियामें सहायता मिल जाती है।

(२) **आफरा होवे तो**—शिवाक्षारपाचन चूर्ण, हिंग्वष्टक चूर्ण, अग्निकुमार रस, क्रव्याद रस, अग्नितुण्डी वटी, शंख वटी, धनञ्जय वटी इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन करानेसे आफरा दूर होकर अग्नि प्रदीप्त हो जाती है।

आमपाचन और विरेचनके लिए प्रयोग—नारायण चूर्ण, आमविध्वंसिनी वटी, इच्छाभेदी रस, त्रिवृदष्टक मोदक (पित्तकी अधिकता हो, तो), आरग्वधादि क्वाथ (ज्वर हो तो), विरेचन चूर्ण, पञ्चसम चूर्ण और पंचसकार इनमेंसे अनुकूल औषधका प्रातःकाल सेवन करानेसे आम और मलकी निवृत्ति होती है तथा क्षुधा प्रदीप्त होती है। विरेचनार्थ विशेष प्रयोग और नियम विरेचन विधि एवं चिकित्सा उपयोगी सूचनामें देखें।

जीर्ण अजीर्ण शामक औषधियाँ—क्रव्याद रस, लघुक्रव्याद रस, लोह भस्म (रक्तादि धातुमें दोष लीन हो तो त्रिफलाके साथ), अग्नितुण्डी वटी और द्राक्षासव, इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन करावें। औषध कम मात्रामें दिनमें ३ समय कुछ दिनों तक देनी चाहिये।

अग्नितुण्डी वात-वाहिनियोंकी निर्बलतापर लाभदायक है। अन्त्रकी परी-

चालन क्रियाको बढ़ाती है। क्रव्याद रससे पित्तस्राव अधिक होता है। लोह भस्म पाण्डुताको दूर करनेमें हितकर है।

विदग्धाजीर्ण शामक औषधियाँ—शंख वटी, प्रवाल भस्म, अग्निप्रदीपक गुटिका, शंख भस्म (घी या मक्खनके साथ), मौक्तिक भस्म, सूतशेखर रस (सितोपलादि चूर्ण और शहदके साथ), इनमेंसे अनुकूल औषध दिनमें २ या ३ समय कुछ दिनों तक देते रहें। इन औषधियोंका सेवन छातीमें अधिक जलन रहती हो तो भोजनके ३ घण्टे पहिले या जलन होनेपर करना चाहिये।

समशर्कर चूर्ण—छोटी इलायचीके दाने १ तोला, दालचीनी २ तोले, नागकेशर ३ तोले, काली मिर्च ४ तोले, पीपल ५ तोले, सोंठ ६ तोले और मिश्री २१ तोले लें। सबको मिला चूर्ण कर ४-४ माशे दिनमें ३ समय शीतल जलके साथ देते रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें विदग्धाजीर्ण दूर होकर अग्नि प्रदीप्त हो जाती है।

मलकी शुद्धिके लिये—गुलकन्द, आंवलोंका मुरब्बा या त्रिवृदष्टकमोदक आवश्यकतापर सुबहको देवें। अथवा मुनक्का, मिश्री और बड़ी हरड़का चूर्ण शीतल जलके साथ दें।

विष्टब्धाजीर्ण नाशक औषधियाँ—(१) अग्नितुण्डी वटी, अग्निकुमार रस (मट्ठेके साथ), धनञ्जय वटी, जम्भीरीद्राव, बड़वानल चूर्ण (अग्निमान्द्यमें कहा हुआ) और क्षुद्बोधक रस, द्राक्षासव इनमेंसे अनुकूल औषधका सेवन करावें। यदि दूषित मल भरा हो तो पहिले उसे दूर करना चाहिये।

(२) शूल, वातवृद्धि, वमन, दुर्गन्धयुक्त डकार और आफरा सह होवे, तो शिवाक्षार पाचन चूर्ण, हिंग्वष्टक चूर्ण, वराटिका भस्म (अनार शर्बतके साथ अथवा अदरक और नींबूके रसके साथ), शंख वटी और गन्धक वटी, इनमेंसे अनुकूल औषधकी योजना करें। ये सब शूल, आफरा आदि विकारोंको शमन करके अग्निको प्रदीप्त बनाती हैं। इनमेंसे शिवाक्षार पाचनमें कब्जको दूर करनेका गुण भी है। दूषित मल और आम संगृहीत हों तो पहले उसे बाहर निकालना चाहिये।

(३) आफरा शमनके लिये—हिंग्वष्टक चूर्ण दें और हींगके पानीमें कपड़ा भिगोकर नाभिपर रखें या उदरपर दारुषट्क लेप करें।

(४) जीर्ण मलावरोध दूर करनेके लिये—द्राक्षारिष्ट अभयारिष्ट या नाराच घृत, नाराच रस आदि जो आंतोंको शिथिल न बनाने वाली औषध हों, उनका सेवन करें। अथवा अन्त्रको बलवान बनाने वाली अग्नितुण्डी वटी का सेवन कराना चाहिये।

(५) मलशुद्धिके लिए—जीर्ण रोगमें आवश्यकतापर बालकोंको ग्लिसरीन सपोजिटरी गुदामें चढ़ावें, बड़े मनुष्यको एरंड तैलकी बस्ति देवें।

(६) अन्त्रशक्ति वृद्धि अर्थ—अग्नितुण्डी वटीका सेवन प्रात:सायं कराना चाहिये। १५ १५ दिनों बाद ४-४ दिन छोड़ देवें। इस तरह ३-४ मास तक सेवन करानेसे आंतें बलवान बन जाती हैं तथा जीर्ण बद्ध कोष्ठ, अजीर्ण और अग्निमांद्य दूर हो जाते हैं।

(७) अति जीर्ण रोगमें आमाशय, पक्वाशय और ग्रहणीमें शिथिलता आ गई हो तो ताप्यादि लोह, लोह भस्म और अभ्रक भस्म (द्राक्षारिष्टके साथ) या बृहद् योगराज गूगलका सेवन थोड़ी मात्रामें दीर्घकाल तक कराना चाहिये। अथवा अग्नितुण्डी वटीका सेवन करावें।

रसशेषाजीर्ण नाशक औषधियाँ—(१) अग्नितुण्डी वटी, क्रव्याद रस, वज्रक्षार चूर्ण, लवणभास्कर चूर्ण (ताजे मट्ठे या अनारदानेके रसके साथ), धनञ्जय वटी, गन्धक वटी, शिवाक्षार पाचन चूर्ण या हिंग्वष्टक चूर्ण (आध्मान हो तो), इनमेंसे थोड़ी औषध थोड़ी मात्रामें दिनमें २ या ३ समय दीर्घकाल तक पथ्यपालन सह सेवन कराते रहना चाहिये।

यदि आमकी उत्पत्ति अधिक होने और पाचक रस मृदु होनेसे योग्य पचन न होता हो तो क्रव्याद रस और वज्रक्षार, सज्जीक्षार अति हितकर हैं। वात नाड़ियोंकी विकृति हेतु हो तो अग्नितुण्डी देनी चाहिये। आमाशयमें आफरा हो तो शिवाक्षार पाचन हिंग्वष्टक देना चाहिये। आमाशयमें लवणाम्ल द्रव कम हो तो गन्धक वटी भोजनके दो घण्टे बाद देनी चाहिये।

वमन मुंहमें छाले और दाह हो तो—प्रवाल भस्म, अग्निप्रदीपक गुटिका, मौक्तिक भस्म, स्वर्ण माक्षिक (घीके साथ) तथा विदग्धाजीर्णमें कही हुई औषधियाँ हितकारक हैं।

यदि रक्तमें सेन्द्रिय विष मिल जानेसे मूत्रमें अम्लता, दुर्गन्ध और मैला पीला रङ्ग हो गया हो तो शिलाजीत या अन्य मूत्रल औषधियाँ रोग शामक औषधके साथ देते रहें।

अजीर्णनाशक पाचक औषधियाँ।

किस वस्तुसे अजीर्ण	अजीर्ण नाशक औषधियाँ
कटहर	केला, नारियल और अनारदाने।
प्याज	यमक और सिरका।
केला	घी और छोटी इलायची या केलेकी राख शहदके साथ देवें।
दही	जीरा और नमक, शक्कर और सोंठ।
घी	नीबू, अनार, जामुन, कांजी निवाया जल, निवाया मांड या कालीमिर्च।

किस वस्तुसे अजीर्ण	अजीर्ण नाशक औषधियाँ।
गुड़	दही, मट्ठा, मक्खन।
खजूर और सिंघाड़ा	सोंठ और नागरमोथा।
नीबू और अमरूद	नमक।
ताड़फल	कालीमिर्च, नमक।
नारियल	चावलका धोवन, नमक।
खिरनी	भुनी हरड़, तिल तैल।
फालसा	छुहारा।
जामुन	सोंठ, नमक।
कैथ	सौंफ।
बेल	अदरक।
पक्के आम	दूध।
चिरौंजी	हरड़।
महुआ, खजूर	नीमकी निबोलियां।
तक्र (मट्ठा)	नमकीन जल या निवाया मांड।
गूलर, पीपल और पाखरके फल	सोंठका काथ।
चावल	दूध या अजवायन और पीपल।
दूध गायका	अजवायन, केशर अथवा तक्र।
दूध भैंसका	सैंधानमक।
सांठी चावल	दहीका जल।
मूंग	आंवला।
गेहूँ, उड़द, चने और मटर	धतूरेके शुद्ध बीज।
खजूर, कमलगट्टा, कसेरू, अंगूर, सिंघाड़े और महुए	नागरमोथाका कषाय।
कांगनी, सामा, कुलथी, मूंग, मसूर, चने, सेम, मटर, अरहर, उड़द आदि द्विदल धान्य	कांजी।
ककड़ी	गेहूँ।
पिट्ठीके पदार्थ (कचौरी, पकौड़ी)	शीतल जल।
कुलथी	तैल।
खिचड़ी	सैंधानमक।
उड़दकी दाल	शक्कर।
उड़दकी दालकी मिठाई	नीबू।

किस वस्तुसे अजीर्ण ।	अजीर्ण नाशक औषधियाँ ।
खीर	इलायची, सोंठ, केसर, मूंगका यूष ।
बड़ा	वेशवार (हींग, हल्दी, लौंग, अजवायन; मिर्च आदि मसाले) ।
नारंगी	गुड़ ।
तरबूज, बेर	गरम जल ।
आँवला	राई ।
लड्डू, मालपुर और सट्टक (चावल के आटेकी मीठी राब)	पीपलामूल, मट्ठा या सौंफ और कालीमिर्च ।
जलेबी	चावलोंका मांड ।
फेनी, मेदेके सेव	लौंग, दालचीनी और सोया ।
अंगूर, आम, बादाम, पिस्ता आदि	लौंग या कालीमिर्च, सोंठ और नमक ।
पूरी, कचौड़ी, पकवड़े	मांड या कांजी ।
पापड़	सुहिजनेकी छाल ।
मत्स्य	कांजी, मांसका भोजन या आमचूर ।
मांस	कांजी, तिलका छार, शराब ।
कछुएका मांस	जवाखार ।
कपोत (सफेद कबूतर), कबूतर नीलकंठ और तीतरका मांस	गोखरू, पञ्चतृण या कांसकी जड़का क्वाथ ।
चंचू (कलमीकी पत्ती), सरसों और बथुआ	खैरसारका क्वाथ ।
पालक, अरबी, रतालू, आलू, पिंडालू, करेला; बैंगन, बांसके अंकुर, मूली, पोई, लौकी, चौलाई और परवल	सफेद सरसोंकी पत्तीका शाक ।
बाजरी	मट्ठा, घी-शक्कर या हरड़ ।
आलू	चावलोंका धोवन ।
पिण्डालू	कोदों अन्न ।
कसेरू	सोंठ ।
नमक	चावलोंका जल ।
तैल	कांजी ।
भैंसका दही	शंखभस्म या हरड़ और सोंठका चूर्ण ।
गन्ने	त्रिकटु ।

किस वस्तुसे अजीर्ण	अजीर्ण नाशक औषधियाँ
खांड, शक्कर	सोंठ।
मूली	गुड़।
मिश्री	सोंठ; नागरमोथा
ईखका रस	अदरकका रस।
शराब	सोनागेरू और चन्दनका हिम।
शीतल वस्तु	उष्ण वस्तु, क्षार और खटाई।
उष्ण वस्तु	शीतल वस्तु।
नमकीन पदार्थ	खटाई।
अधिक जलपान	सुवर्ण या रौप्यको अग्निमें तपातपा कर ७ समय जलमें बुझाकर जल पीनेको दें।
गरम जलसे अजीर्ण	नागरमोथाका चूर्ण शहदमें मिलाकर दें।

यदि दुर्जर आहारसे अजीर्ण हो गया हो, तो जिस वस्तुसे अजीर्ण हुआ हो, उसको जला, राख कर शहदके साथ सेवन कराने या पानीमें घोल कर दिनमें ३ समय पिलानेसे अजीर्णकी निवृत्ति हो जाती है।

बिना जल डाले बनाए हुए ग्वारपाठेका अर्क २॥ तोले पीनेसे प्रायः सभी पदार्थोंके अजीर्णकी निवृत्ति होती है।

जीर्ण आहार लक्षण—शुद्ध डकार आना, मनमें प्रसन्नता, मल मूत्र आदि की यथोचित प्रवृत्ति, देहमें हलकापन और क्षुधा-तृषा लगना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

पथ्य—उपवास, श्लैष्मिक प्रकोपमें वमन, पैत्तिकमें मृदु विरेचन, वातिकमें स्वेदन, व्यायाम, अग्निप्रदीपक और लघु भोजन, पुराना लाल शालि चावल, विलेपी, खीलोंका माँड, भातका मांड, बार्लि, अरारूट, जौका माँड, सिंघाड़ेकी लपसी, मसूर या मूंगका यूष, शराब, हिरन, मोर, खरगोश और लावाका मांसरस, छोटी मछलियाँ, परवल, बैंगन, कच्चा केला, सुहिंजनेकी फली, ककोडा, करेला, आँवला, बथुआ, कच्ची मूली, बेंतके अंकुर, लहसन, पक्का कुष्मांड, नीबू, अनार, अदरक, बिजौरा, अम्लोनिया, चोपतिया, संतरा, मोसंबी अंगूर, शहद, मक्खन, घी, मट्ठा, कांजी, सरसोंका तैल, हींग, सैंधानमक, अजवायन, मिर्च मेथी, धनियां, जीरा, पान, गरम जल, उष:पान (प्रातःकाल उठने पर शौच जानेसे पहले शीतल जल पीना), चरपरे और कड़वे रस वाले पदार्थ ये सब मन्दाग्नि और अजीर्ण रोगमें हितकर हैं।

आमाजीर्णमें लङ्घन, वमन, थोड़ी शराब, व्यायाम, हरड़, सोंठ, धनिया, जीरा, सैंधानमक, पथ्य, हलकी अग्निप्रदीपक यवागू, छाजामंड और पापड़ आदि भोजन हितकर हैं।

विष्टब्धाजीर्णमें थोड़ा घी, मट्ठा, गेहूँके मोटे आटेकी रोटी, अम्लवेंत, जम्भीरी नीबू, बिजौरा नींबू, हींग, सोंठ, अजवायन, हरड़, पीपल, मेथी, लहसन आदि लाभदायक हैं।

नियमित समयपर हलका पथ्य भोजन, रात्रिको जल्दी सो जाना, सुबह जल्दी उठकर खुली वायुमें घूमना और ब्रह्मचर्यका पालन करना ये सब नियम मलावरोधके रोगीके लिए अत्यन्त हितकारक हैं।

विदग्धाजीर्णमें वमन, शीतल जलपान, गेहूँके पतले फुलके, किसमिस, मूंगकी दाल, हरड़, सोंठ, शहद, मिश्री, सिंघाड़ेकी लपसी, गरम करके शीतल किया हुआ दूध, मोसंबी, माल्टा, मीठा संतरा, नींबू, मीठा अनार ये सब पथ्य हैं।

अपथ्य—बार-बार जुलाब लेना, मल-मूत्र और अधोवायुका अवरोध, अध्यशन, समशन, विषमाशन, रात्रिको जागरण, रक्त निकालना, द्विदल धान्य (चने-मटर आदि), मछली मांस, मलावरोध करने वाला भोजन, पक्का भोजन, मैदाके पदार्थ, तीक्ष्ण पदार्थ, जौ, उड़द, ज्यादा शाक, ईख, गुड़, कच्चा दूध, ज्यादा घी, खोवा, मलाई, नारियल, ताड़फल, मुनक्का, पोईका शाक, जामुन, आलू आदि कन्द-शाक, ज्यादा नमक, ज्यादा मिर्च, तैल मर्दन, मैथुन या अन्य रीतिसे वीर्यका क्षय करना, तीव्र आमाजीर्ण और विष्टब्धाजीर्णमें स्नान ये सब अग्निमांद्य और अजीर्ण रोगियोंके लिए अपथ्य माने गये हैं।

विष्टब्धाजीर्ण वालेको रात्रिको भात खानेसे बद्ध कोष्ठ हो जाता है एवं विदग्धाजीर्ण वालेको भात, कुलथी, दही, मट्ठा या खट्टे पदार्थ खानेसे अजीर्ण विकार, उदरमें भारीपन, दाह और त्रास बढ़ते हैं।

भोजन करनेके समय अधिक जलपान, चाय, कॉफी, सिगरेट और शराब आदिका व्यसन तथा बार-बार जुलाब लेना ये सब अजीर्ण रोगीके लिए अति हानिकर हैं।

भोजनके पश्चात् तुरन्त परिश्रम, वाचन, लेखन अथवा मनन आदि कार्य करना ये सब अजीर्ण रोगको अधिक दृढ़ बनाते हैं एवं गरम दूध, गरम चाय या कॉफी और अति गरम भोजन ये भी अजीर्ण रोगको बढ़ाने वाले हैं।

तीक्ष्ण आमाशय प्रदाह।

(एक्युट गेस्ट्राइटिज—एक्युट गेस्ट्रिक केटार्ह Acute Gastritis—Acute Gastric Catarrh)

व्याख्या—यह आमाशयकी श्लैष्मिक कलाका आशुकारी प्रदाह (प्रसेक) है। इसके परिणाममें विविध आमाशयिक लक्षण और अनेक प्रकारकी शारीरिक वेदनायें उत्पन्न होती हैं। इसका सम्बन्ध प्रायः लघु बृहदन्त्र प्रदाहके साथ रहता है। इसकी सम्प्राप्ति सब आयुवालोंको होती है।

निदान—

१. अध्यशन और विरुद्धाशन (आहार विष)—भोजन पचन होनेके पहले फिरसे भोजन, संयोग विरुद्ध पदार्थोंका सेवन, उतरे हुए फल या बासी भोजनका सेवन इन कारणोंसे आहारमें रहे हुए वनस्पति कीटाणुओं द्वारा आहार विषकी प्राप्ति होती है।

२. आहारमें भूल—मद्यार्कका अधिक सेवन, आहारका परिमाण अधिक लेना, अपक्व फल आदि अपथ्य खाना या अधिक पेय लेना, गरम-गरम चाय, गरम-गरम दूध आदि।

३. शीत लगना—विशेषतः सम शीतोष्ण प्रदेशमें।

४. विष प्रकोपज—उग्र पीड़ाकर और दाहक विष, तीक्ष्ण तेजाब (Strong acids), क्षार, मल्ल स्कुर आदि।

५. लक्षणात्मक—आशुकारी संक्रामक ज्वर (इन्फ्लुएन्जा, न्युमोनिया, मोतीझरा, प्रलापक, शीतला, रोमान्तिका आदि) का आक्रमण तथा वृक्क संन्यास होनेपर।

६. विशेष प्रकारके प्रदाह—संयोजक तन्तुओंके प्रदाह जन्य (Phlegmonous) और कण्ठरोहिणी जन्य (Diphtheritic) आमाशय प्रदाह इनमेंसे शिशु और बालकोंको विशेषतः आहार, अपक्व फल और संक्रामक रोगोंद्वारा होता है।

सम्प्राप्ति—श्लैष्मिक कला शोथमय, रक्त संग्रह युक्त और आमसे आच्छादित भासती है। फिर अधिक श्लेष्म (आम) का स्राव, लसीका स्राव, रक्तसंग्रह, भीतरकी त्वचा लाल हो जाना, क्वचित् छोटी-छोटी पिटिकायें या व्रण हो जाना आदि विकृतियाँ होती हैं। विशेषतः यह विकृतियाँ मुद्रिका द्वार (Pylorus) स्थानमें अधिक होती है।

विष आदि हेतु हो तो रक्तस्राव होने लगता है। उस कलाके भीतर श्वेताणुओंका अन्तर्भरण होता है। आमाशय रस स्वस्थ निकलता है, आम बढ़ जाता है। सामान्यतः लवणाम्लका ह्रास या अभाव हो जाता है।

लक्षण—कारण भेदसे लक्षण सौम्य या गम्भीर होते हैं। सामान्य प्रकारमें पीड़ा, क्षुधानाश, मललिप्त जिह्वा, उबाक, वमन (दोषको बाहर फेंकनेके लिये),

सामान्य शिरदर्द, मलावरोध या अतिसार, उत्तापकी कुछ वृद्धि हो या न हो आदि लक्षण प्रकट होते हैं। इसका समय २४ से ४८ घण्टे तक है । कभी-कभी रोग पुनः पुनः प्रकाशित होता है।

गम्भीर प्रकार होनेपर अकस्मात् आक्रमण, किञ्चित् वेपन सह ज्वर १०२° से १०३° तक, मुँहका स्वाद नष्ट होना, नेत्रकी श्लैष्मिक कला जड़ होना, जिह्वा मललिप्त, श्वासमें भारीपन, क्षुधानाश, तृषा, शिरदर्द, चक्कर आना, बेचैनी, शीत लगना, पहले भोजनकी वान्ति फिर यकृत्पित्तके अम्ल उद्गार, छातीमें जलन, कौड़ी प्रदेशमें दबानेपर वेदना; गैस भर जानेसे आमाशय प्रसारित होना, मलावरोध या अतिसार, ज्वरावस्थाके समान पेशाब उतरना आदि लक्षण प्रकट होते हैं। स्थिति काल १ से ३ दिन। निर्बलता कुछ दिनों तक बनी रहती है। वमनमें निकले हुए पदार्थोंकी रासायनिक परीक्षाकी जाय तो उसमें लवणाम्लकी न्यूनता भासती है।

तीक्ष्ण मारक विषप्रयोगसे इस रोगकी प्राप्ति हुई हो तो आमाशय प्रदाहके अतिरिक्त सन्निपातके लक्षण और शक्तिपात भी प्रतीत होते हैं। यदि संक्रामक कीटाणु जन्य ज्वर सह आमाशय प्रदाह हो, तो भोजनकी भूल जनित लक्षण नहीं भासते, विशेषतः बालकोंमें।

आमाशय विकारके अन्य हेतु—प्रसेक जनित कामला, अर्धावभेदक, सगर्भाकी वान्ति आदि। १९१४ ई० से १९१८ ई० तककी लड़ाईमें राईके गैस और नीले (Blue cross) गैसके विषसे आशुकारी आमाशय प्रदाह होता था। बालकोंमें कभी-कभी ग्रीष्मातिसारके एक अंश रूपसे इसकी संप्राप्ति होती है।

क्वचित् योग्य उपचार न हो तो या अपथ्य सेवन करनेपर आमाशयमें व्रण या विद्रधि हो जाय, तो कष्ट बढ़ जाता है अथवा प्रदाहके अतिरिक्त वातनाड़ियों में विकृति होजाय, तो शूल सह अपचनके लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं ।

रोगविनिर्णय—ज्वर संयुक्त आशुकारी प्रदाह होनेपर स्वल्प विराम युक्त ज्वर और मोतीझरा होनेकी भ्रान्ति हो जाती है। किन्तु ज्वर उतरने लगता है, तब रोग निर्णयमें संदेह नहीं रहता।

भावी फल—शुभकर। रोग एकसे सात दिन तक रहता है। स्वाभाविक पचनक्रिया स्थापित होनेमें विलम्ब लगता है।

चिकित्सोपयोगी सूचना

आमाशयमें उग्रता साधक भोजन, विष या कीटाणु हों, तो उन्हें शीघ्र दूर करना चाहिए। इस हेतुसे वान्तिकर औषध दें या उष्ण जल अच्छी तरह पिलाकर वमन करावें। १ सेर जलमें १ चम्मच नमक मिलाकर पिलानेसे

वमन शीघ्र होती है। दोष जो अन्त्रमें गया हो, उसके लिए एरण्ड तेल, रेवतचीनी, केलोमल या अन्य विरेचन देना चाहिये। केलोमल देवें तो-८-१० घंटे पश्चात्। लवण-प्रधान विरेचन देकर उदर-शुद्धि करा लेवें।

प्रदाहको शमन करानेके लिये हो सके उतने तक आमाशयको शांति देवें; अर्थात् रोगीको आराम (वामपार्श्व शयन) और लङ्घन करावें या स्वल्प पेय लेते रहें; सोडा वॉटर या चूनेका जल। स्थिति सुधरनेपर जल मिला हुआ दूध दें जो सरलतासे शोषण हो सके।

कोड़ी प्रदेशमें दबानेपर वेदना होती हो, तो राईका पान (कागजपर राई का लेप आता है वह) या पुल्टिस बांधें।

यदि अतिसार हो तो अफीमका अर्क मिलाकर एरण्ड तेल देना चाहिए। यदि प्यास लगती हो तो बर्फ चूंसनेको देवें या सोडाके जलमें बर्फ मिला कर देवें।

दुर्गन्धयुक्त खट्टी वमन होती हो तो सोडा बाई कार्ब. चाकमिट्टी आदि सह बिस्मथ देवें। आयुर्वेद मतानुसार प्रवाल या शुक्तिभस्म और गिलोय सत्व (घी या शहदके साथ) देकर ऊपर गुडुच्यादि क्वाथ पिलानेसे ज्वर, वमन, तृषा, दाह और अपचन दूर होते हैं।

रोग शमन हो जानेपर भी फिरसे उत्पन्न न होनेके लिये कुछ दिनों तक आग्रहपूर्वक पथ्यका पालन करना चाहिये।

स्थिर अतिसार हो जाय तो निम्न चॉक मिश्रण दें:—

चाक मिश्रण (Mistura Createae)—चॉक ३ भाग, ट्रेगाकान्थ गोंद ½ भाग, मिश्री ६ भाग, शेष दालचीनीके अर्कका जल मिलाकर १०० भाग पूर्ण करें। मात्रा ½ से १ औंस। आवश्यकतापर इस मिश्रणमें ५-१० बूंदें अफीम अर्क मिला देवें।

चिरकारी आमाशय-प्रदाह।

(क्रोनिक गेस्ट्राइटिस–Chronic Gastritis)

व्याख्या—इस रोगमें आमाशयकी श्लैष्मिक कलाका चिरकारी प्रदाह होता है। यह विकार कोड़ी प्रदेशमें दबानेपर वेदना, क्षुधाविकार, तृषा, दाह, बेचैनी आदि लक्षण युक्त होता है।

निदान—

१. जल्दी जल्दी भोजन करनेकी आदत, भोजनको अच्छी तरह न चबाना, अति गरम चाय, अत्यधिक चाय, तमाखू, तीव्र मसालेदार भोजन, शुष्क भोजन आदि।

२. अत्यन्त मद्यपान, खाली पेट मद्यपान।

३. आमाशय, मुँह या नासागुहाके पश्चिम प्रदेशमें चिरकारी पाक-कारक विकार (Sepsis) आमाशयमें अर्बुद, दन्तवेष्ट, गलप्रदाह, गलग्रन्थि प्रदाह, नासाग्रन्थि प्रदाह।

४. प्रतिफलित क्रिया—पित्ताशय, उपान्त्रका चिरकारी रोग या मलावरोध।

५. मस्तिष्क और मनकी थकावट।

६. चिरकारी व्याधियां—राजयक्ष्मा, हृदयरोग, यकृद्दाल्युदर (Liver Cirrhosis) आदि।

७. वातनाड़ीविकृति—आमाशय प्रसारण (Dilatation)।

८. बारंबार आशुकारी प्रदाह हो-होकर शेष चिरकारी बन जाना।

प्रकार भेद—इस प्रदाहके मुख्य ३ प्रकार किये हैं :—

१. चिरकारी आकुंचन सह आमाशय प्रदाह—इसमें श्लैष्मिक कला पतली, मृदु और निस्तेज हो जाती है। यह विकृति समग्र आमाशयमें होती है, तथापि आमाशय, स्कन्ध और हार्दिक द्वारपर विशेष होती है, आमवृद्धि होती है। आमाशय रसस्रावका अभाव हो जाता है। अन्तमें कर्कस्फोट एवं जीवकेन्द्र रहित स्थूल रक्ताणुवृद्धि युक्त पाण्डु भी हो जाता है।

२. चिरकारी वृद्धिमय आमाशय प्रदाह—ग्रन्थियुक्त स्थानमें श्लैष्मिक कला मृदु और शोथमय स्थूल हो जाती है। सामान्यत: मुद्रिका द्वारकी ओर विकृति अधिक होती है। मौलिक रचनाका भेदन और कुछ रक्तस्राव होना, आम स्वल्प आना आदि लक्षण होते हैं। इस प्रकारमें आमाशय रसस्राव सामान्य या अधिक हो जाता है।

३. चिरकारी उत्तान आमाशय प्रदाह—इसमें श्लैष्मिक कलाका चिरकारी प्रदाह होता है। पर्त्तके बीचमें आमका आच्छादन आजाता है। आमाशय रसस्राव कुछ समयके लिये नष्ट हो जाता है।

इनके अतिरिक्त विविध प्रकारकी विकृतियां हो जाती हैं।

सम्प्राप्ति—चिरकारी दाह प्रारम्भ होनेके पहले आमाशयमें पाचक रसस्रावी ग्रन्थियां उत्तेजित होकर स्राव बहुत ज्यादा होता है। फिर रसस्रावी ग्रन्थियाँ क्षीण हो जाती हैं। इस हेतुसे पाचक रसस्राव और परिचालन शक्ति, दोनों कम हो जाते हैं। परिचालन शक्ति निर्बल बननेपर भोजन अधिक समय तक आमाशयमें रह जाता है। पाचक रसकी न्यूनतासे भोजन सड़कर कीटाणुमय फेनी भवन (Bacterial fermentation) हो जाता है। पश्चात् वायुकी

उत्पत्ति होकर आमाशयमें आफरा आ जाता है। इस तरह बार-बार होते रहनेसे आमाशय शिथिल और विस्तृत हो जाता है। (दूसरे प्रकारमें)।

सामान्य रीतिसे भोजन ४-५ घण्टे तक आमाशयमें रहता है। यदि पूर्ण भोजन करनेपर भी ७ घण्टोंमें आमाशय खाली न हो जाय तो पाचन शक्तिकी न्यूनता निश्चित हो जाती है।

किसी समय रसोत्पादक ग्रन्थियोंमें मेदोपक्रान्ति (Fatty degeneration) जीवाणुओंका विनाश होकर मेद जम जाना) होती है। पहले श्लैष्मल त्वचामेंसे क्लेदक कफ (Mucin) का स्राव बढ़ जाता है। फिर श्लेष्मल त्वचाका नाश होनेपर यह स्राव न्यून हो जाता है। परिणाममें सौत्रिक तन्तु (Fibrosis) बढ़ जाते हैं और पाचक रसस्रावी ग्रन्थियोंका संकोच होकर वे अवरुद्ध हो जाती हैं। क्वचित् आमाशयमें यह आकुंचन चारों ओर अधिकांशमें होकर आमाशय ही छोटा हो जाता है। (पहले प्रकारमें)

लक्षण—कितने ही रोगियोंमें क्षुधा सामान्य लगना, छातीमें जलन, कौड़ी-प्रदेशमें दबानेपर वेदना, भोजन कर लेनेपर आफरा आना (किन्तु यह नियमित नहीं) ये सब लक्षण प्रतीत होते हैं।

अन्य कई रोगियोंमें क्षुधानाश, विशेषतः सुबहके समय, दिनमें कुछ सुधार होना, कष्टकर उबाक होकर फिर वमन, उसमें मुख्यतः थूंक, आम तथा कुछ आहार निकलना तथा जिह्वा साफ हो या मललिप्त आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। इनके अतिरिक्त रोग निर्णायक स्पष्ट चिह्न नहीं मिलते । (कभी-कभी शराबीको स्वाद हीन तरल (Water-Brash) मुँहमें आता रहता है), किसी-किसीकी क्षुधा इतनी नष्ट हो जाती है कि, अन्नकी बास भी सहन नहीं होती। २-४ ग्रास बलात्कारसे ले लेनेपर उदरमें भारीपन आ जाता है।

भोजन कर लेनेपर उदरमें भारीपन, बेचैनी, निर्बलता, निस्तेजता, शिरः-शूल, आलस्य, गाढ़ निद्रा कम आना, आहार-विहारमें अनियमितता होनेपर बीच-बीचमें तीव्र प्रकोप, मलावरोध, डकार आनेमें प्रतिबन्ध आदि लक्षण भी देखनेमें आते हैं।

किसी किसीको प्यास नहीं लगती और कइयोंको अति तृषा लगती है। किसी-किसीको आमाशयकी वेदनासे मूर्च्छा भी आजाती है।

रोग बढ़नेपर जिह्वा लाल वर्णकी, फटी हुई भासती है और दबानेपर वेदना होती है।

रोग पुराना होनेपर विशीर्णता युक्त रोगी अति कृश और निर्बल बन जाता है। जिह्वा मलिन, दन्त चिह्न युक्त क्षुधानाश, भोजनके ४-६ घण्टे पश्चात्

वेदनाकी वृद्धि, दाह, आफरा, वमन, मलावरोध, तृषा-वृद्धि आदि लक्षण बढ़ जाते हैं।

यदि प्रादाहिक अवस्था मुख तक विस्तृत हो गई हो तो मुँहमें चिपचिपा दुर्गन्धमय स्वाद आना, मुँहसे दुर्गन्ध निकलना, जिह्वाकी धारापर दाँतोंद्वारा चिह्न हो जाना आदि लक्षण भी भासते हैं।

कभी-कभी प्रदाहका विस्तार अन्त्रमें होनेपर उदराध्मान रहता है। जब अपान वायु सरती है, आध्मान जनित वेदना शान्त होती है। क्वचित् ग्रहणीमें से प्रदाह पित्त नलिकामें पहुँचता है, तो पित्तस्रावका रोध हो जाता है। फिर रक्तमें पित्तका शोषण हो जानेपर कामला हो जाता है।

यदि कामला विकार हो जाता है, तो देह पीताभ हो जाना, जिह्वाके पिछले भागमें मल संचय, क्षुधामें विषमता, मलावरोध; कभी अतिसार और रोग बढ़ने पर आशुकारी अवस्थाकी सम्प्राप्ति होती है।

रोग अति जीर्ण होनेपर रोगीकी अवस्था शोचनीय बन जाती है। सामान्यतः उदासीनता, निस्तेजता, निद्रानाश, चक्कर आना, भयंकर थकावट तथा पेशाब लाल हो जाना आदि लक्षण बढ़ जाते हैं।

भावी परिणाम—रोग दीर्घ काल पर्यन्त रहनेपर प्रायः पूर्ण आरोग्य नहीं होता। जीवन दुःखपूर्वक यापन होता है।

रोग विनिर्णय—आमाशय व्रण, कर्क स्फोट, आमाशय-प्रसारण और क्षीणता जनित अजीर्ण (Atonic Dyspepsia), इन रोगोंसे इसका प्रभेद करना चाहिये। आमाशय व्रण, कर्कस्फोट और इस रोगके तुलनात्मक लक्षण चिकित्सातत्वप्रदीप द्वितीय खण्डमें दिये हैं। आमाशय प्रसारणके लक्षण और भेद उस रोगके साथ आगे दिये जायेंगे।

क्षीणता जनित अजीर्ण रोगोंमें इस रोगके कितनेही सामान्य लक्षण प्रतीत होते हैं; किन्तु प्रदाहके चिह्न (कौड़ीप्रदेशमें दबानेपर वेदना आदि) प्रारम्भमें लक्षित नहीं होते एवं अजीर्णमें ज्वर नहीं रहता, क्वचित मामूली ज्वरका भास होता है तब इस रोगमें बार-बार ज्वर आता है। अजीर्ण रोगमें उबाक और वमन हों, तो सामान्य होते हैं। प्यास भी अधिक नहीं होती; किन्तु इस रोगमें ये तीनों लक्षण सबल होते हैं।

अजीर्ण रोगमें जिह्वा साफ रहती है, इस रोगमें मललिप्त रहती है। अजीर्ण रोगमें क्षुधा स्वाभाविक रहती है या कुछ अन्तर होता है; इस रोगमें क्षुधा नष्ट हो जाती है। अजीर्ण रोगमें गरम मसालेदार आहार सहन होता है। इसमें कोमल, लघु भोजन करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस रोगमें रोगी अति शीर्ण और शिथिल भी हो जाता है।

चिकित्सोपयोगी सूचना

इस रोगकी चिकित्सा कारण और लक्षणोंपर लक्ष्य रखकर करनी चाहिये। उत्तेजक कारण उपस्थित हों तो उन्हें दूर करें और आमाशयको पूर्ण विश्राम देवें। हृदय, फुफ्फुस और यकृत्की पीड़ाके हेतुसे आमाशय प्रदाहकी उत्पत्ति हुई हो तो मूल रोगकी चिकित्साके साथ आमाशयको हो सके उतनी शान्ति देनी चाहिये।

इस रोगमें आग्रहपूर्वक पथ्य पालन करनेकी आवश्यकता है। उग्रताजनक भोजन और पेय (गरम मसाला, शराब, धूम्रपान, गरम चाय आदि) को आग्रह पूर्वक निषेध करना चाहिये। कितने ही रोगियोंके लिए दूध या जल मिश्रित दूध हितकर है। कईको दुग्ध हानिकर होता है उनको मट्ठा (मक्खन रहित) दिया जाता है या पेप्टोनाइज्ड दूध देना चाहिये अथवा मांस रस देना चाहिये।

अधिक गरम और अधिक शीतल भोजन या पान न देवें। बासी भोजन न देवें। घी, शक्कर, मैदा, मिठाई आदि हानिकर हैं। प्यास शमनके लिये शीतल जल या सोडेका जल देना चाहिये।

अधिक विकार न होने तथा ज्वर, तृषा, वमन और अन्य बढ़े हुए लक्षण शमन होनेपर मण्ड, यूष, खिचड़ी, दूध-भात, दलिया आदि मुलायम सरलता से पचन हो ऐसा भोजन देवें, शनैः शनैः भोजन बढ़ावें। यदि किसी कारण वश आक्रमण हो जाता हो, तो पुनः दूध या दूध जल आदिका सेवन करें।

आमाशयमें आम संग्रह अत्यधिक होता है और भोजनका पचन योग्य न होता हो और रोग अति बढ़ गया हो, तो रात्रिको सोनेके पहले और सुबह भोजनके पहले निवाया जल पिलाकर वमन कराना चाहिए एवं अन्त्रमें संगृहीत आम और आहार द्रव्यको दूर करनेके लिये कुछ-कुछ दिनोंके बाद विरेचन देना चाहिए।

आकुंचन प्रधान रोग (पहले प्रकारमें) के शमनार्थ सामान्य औषधियोंका ही उपयोग होता है। आमाशय रसकी उत्पत्ति कम हो तो डाक्टरीमें लवणाम्ल और पेपसिन (वराह और मेषके आमाशयसे प्राप्त सत्व) देते हैं।

भोजनके आधेसे १ घण्टे पश्चात् लवणद्रावक देना चाहिये। निम्न मिश्रण विशेष उपयोगी माना है :—

पेपसिन	१० भाग	१०० भाग पूर्ण करें। मात्रा–१-२ ड्राम १ औंस जलमें मिलाकर।
लवणाम्ल	१। भाग	
ग्लिसरीन	६० भाग	
बाष्पजल	२८॥ भाग	

उक्त मिश्रणको ग्लिसराइनम् पेपसिनी (Glycerinum Pepsini)

कहते हैं। इस प्रकारमें समक्षाराम्ल द्रव्य (Alkalis) कम हितकर हैं। दूध प्राय: अनुकूल नहीं रहता।

इस प्रकारपर आयुर्वेदके मत अनुसार पपीतेका सत्व पपैन, रामबाण रस, क्षुद्‌बोधक रस, धनञ्जयवटी और गन्धक वटी अति हितकारक ओषधियाँ हैं।

यदि खट्टी डकार और छातीमें जलन आदि लक्षण हों तो दुग्ध पान या भोजनके पहले सोडा बई कार्ब (सज्जी क्षार) का सेवन करना चाहिये। आयुर्वेद मत अनुसार मुक्ता आदि चूना कल्प, गिलोय, सत्व, आंवले आदि उपयोगी हैं एवं यवक्षार, नारियलकी गिरीका क्षार आदि क्षार-प्रयोग शीघ्र लाभ पहुँचाता है।

उबाक, वमन और कौड़ी प्रदेशमें वेदना होनेपर एलोपैथीवाले बिसमथ देते हैं और आयुर्वेदमें प्रवालपिष्टी, गिलोय सत्वके साथ देते हैं तथा गुडूच्यादि क्वाथ या पीपल वृक्षकी राखका जल पिलाते हैं।

वमन होनेपर आहार दुर्गन्ध बनकर बाहर निकलता हो तो पचन करानेके लिये वैश्वानर चूर्ण अति हितकारक माना गया है।

मलावरोध रहता हो तो एलुवा, एरण्ड तैल, केलोमल या निशोथ प्रधान विरेचन देवें।

आमाशयमें वेदना कभी-कभी उत्पन्न होती हो और शमन हो जाती हो तो अग्नितुण्डी वटी या विषतिन्दुकादि वटी देना अति हितकर है।

आमाशय प्रदाहके दूसरे प्रकारकी चिकित्सा आमाशयिक व्रणके अनुसार करनी चाहिये। इसपर सम क्षाराम्ल चिकित्सा लाभदायक है। तेज अम्ल या तेज क्षारीय औषध नहीं देनी चाहिए। आयुर्वेदिक पित्तप्रधान अग्निमांद्यपर कही हुई औषधियाँ व्यवहृत होती हैं। प्रवालभस्म सितोपलादि चूर्णके साथ सेवन कराना लाभदायक है।

एलोपैथी मत अनुसार यह प्रकार निर्मूल नहीं होता। इस प्रकारकी वृद्धि न हुई तो प्रारम्भिक अवस्थामें लाभ पहुँच जाता है।

तीसरा प्रकार सामान्य है। इसमें रोगीके आमाशय और अन्त्रकी शुद्धि करानी चाहिये एवं आमाशयको विश्रान्ति देनी चाहिये।

इस रोगपर आयुर्वेदिक चिकित्सा अजीर्ण रोगमें लिखे अनुसार करनी चाहिये।

संयोजक तन्तुओंके प्रदाहसे आमाशयकलाका प्रदाह।

(Phlegmous Gastritis)

यह प्रकार बहुत कम होता है। यह रोग स्ट्रेप्टोकोकाई कीटाणु जनित है।

विद्रधि, अर्बुद या किसी अन्य स्थानका आपरेशन अथवा कभी-कभी सूतिका ज्वरसे इसकी उत्पत्ति होती है।

सम्प्राप्ति—आमाशयकी दीवार मोटी हो जाती है और छोटे-छोटे टुकड़ोंमें लाल मुरब्बा सदृश भासती है। उदर्य्यो कलासे संलग्न हो जाता है और प्रदाह आ जाता है। संयोजक तन्तुओंमें अन्तर्भरण विशेषत: मुद्रिका द्वारके पास होता है। श्लैष्मिक कला कुछ अंशमें प्रभावित होती है। पूय संचार नहीं होता।

लक्षण—उदरके लक्षणोंके साथ गम्भीर पचन जनित (Sepsis) लक्षण होते हैं। आक्रमण अकस्मात् शीतकम्प सह। उदरके ऊपरके हिस्सेमें वेदना खिंचाव और दबानेपर वेदना-वृद्धि, शीघ्र वमन, उत्तापवृद्धि, नाड़ी द्रुत और शारीरिक व्यथा आदि भासते हैं। शक्तिपात होता है। आशुकारी पाक जनित ज्वर (Acute Septicaemia) की स्थिति प्रकाशित होती है। कुछ दिनोंमें घातक बन जाता है।

कभी-कभी आमाशयका पूयमय प्रदाह (Suppurative) हो जाता है। यह विकार युवकोंको अधिक होता है। इस प्रकारमें आमाशयके भीतर स्थान-स्थानपर स्फोटक हो जाते हैं। यह लक्षण आशुकारी और चिरकारी रूप से प्रकाशित होता है। उत्तापाधिक्य, अति प्यास, शिरदर्द, क्षुधानाश, पेशाब स्वल्प होना, अति उबाक, वमन, वमनमें पित्तके साथ कभी पूय निकलना, कभी अतिसार और कभी मलावरोध, किसीको कामला हो जाना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। आशुकारी प्रकार होनेपर प्रलाप और शक्तिह्रास होकर रोगीकी मृत्यु हो जाती है।

भावी फल—उक्त दोनों प्रकारोंका फल अशुभ माना गया है।

चिकित्सा—मूल रोगके साथ शीघ्र कीटाणु नाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

प्रतिरोधरहित आमाशय प्रसारण।

(Non-obstructive Dilatation of the stomach or Atonic Dilatation of the stomach)

तनाव ह्रासज आमाशय प्रसारण अनेक बार हो जाता है, किन्तु यह सर्वदा आमाशय पतन सह नहीं होता। यह आयुर्वेद कथित रस शेषाजीर्ण होना चाहिए।

निदान—१. प्राय: छाती और उदर पतले और लम्बे हों; २. सार्वाङ्गिक स्वास्थ्य शिथिल हो; रक्त दबाव कम हो और शारीरिक रचना कृश हो; ३. अत्यधिक आहार या पेयका सेवन इन हेतुओंसे आमाशयका प्रसारण होता है। प्राय: इसके साथ आमाशयकी अवसादकता (Gastroptosis) होती है।

यह रोग ४० वर्षके भीतरकी आयुवालोंको विरला ही होता है।

सामान्यत: आमाशयकी धारण शक्ति लगभग ३५ औंस या अधिकसे अधिक ५० औंस तककी है। सामान्यत: २ पिण्टसे अधिक होनेपर सम्प्राप्ति शास्त्रकी दृष्टिसे असुखकर प्रसारण होता है।

रोगवृद्धिमय संप्राप्ति (Pathogenesis)—आमाशय प्रसारणके परिणाममें मांसपेशियोंकी निर्बलता होकर दबाव और परिचालन दोनों प्रयत्न तब तक करते रहते हैं जब तक थकावट आकर आमाशय शिथिल न हो जाय। निर्बल मांसपेशीद्वारा परिचालन क्रिया भी मंदतर ही होती है; फिर प्रसारण हो जानेपर मुद्रिका द्वार ऊपर रह जानेके हेतुसे कार्य करना कठिन होता है।
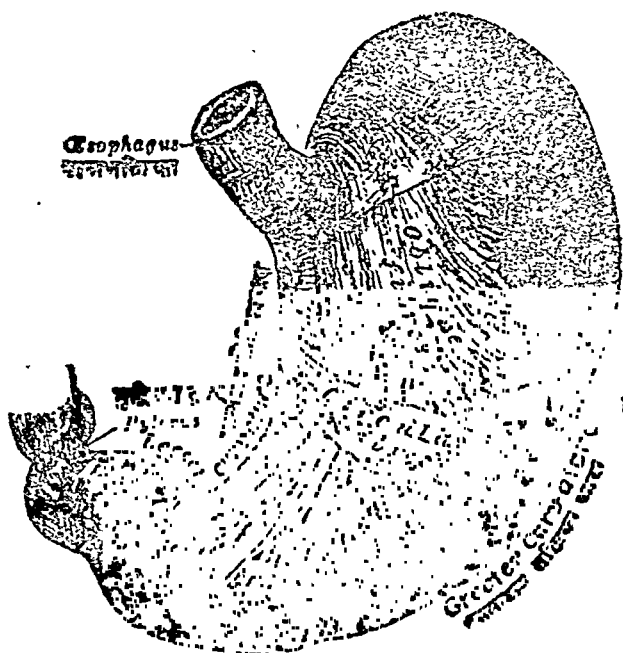
चित्र नं० ४० आमाशय की बाह्य आकृति

इस विकारसे मांसपेशियोंकी दीवार पतली हो जाती है और चिरकारी आमाशय प्रदाह उपस्थित होता है।

लक्षण—इसका स्थितिकाल लम्बा है और आक्रमण क्रमशः बढ़ते हैं। अपचन, कौड़ी प्रदेशमें व्यथा और भोजन कर लेनेपर उदरमें भारीपन, अस्वाभाविक वेदना, क्षुधामान्द्य, कभी क्षुधाका भास होना, रोग बढ़नेपर थोड़ा भोजन करनेपर भारीपन आजाना, आमाशयमें शीघ्र दबाव बढ़ना, आक्रमण होनेपर बिल्कुल शिथिल हो जाना, विविध प्रकारका आफरा आना, क्वचित् वमन, बीच-बीचमें कभी बड़ी वमन होना, बहुधा वमन होनेपर वेदना शमन

होना, सार्वाङ्गिक क्षीणता, शुष्क और चिपचिपी त्वचा, जिह्वा काँटेदार, दाँत गंदे, सामान्यत: गम्भीर मलावरोध, कभी-कभी अतिसार, हृत्स्पंदन वृद्धि और श्वासकृच्छ्रता आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। रोग अति बढ़ जानेपर मांसपेशियोंमें खिंचाव (बॉयटे आना) भी प्रकाशित होता है।

शारीरिक चिह्न—उदरपरीक्षा करनेपर वह नाभि प्रदेशकी ओर उठा हुआ तथा कौड़ी प्रदेशमें दबा हुआ भासता है। सामान्यत: गुद नलिकाकी मांसपेशियाँ उनके स्थानसे दूर भासती हैं। आमाशयके छोटे और बड़े भाग दोनोंकी वक्रता होती है। छोटा भाग तलवार सदृश हो जाता है और निम्न बृहद् प्रदेश नाभिके नीचे चला जाता है। परिचालन क्रिया स्पष्ट नहीं भासती।
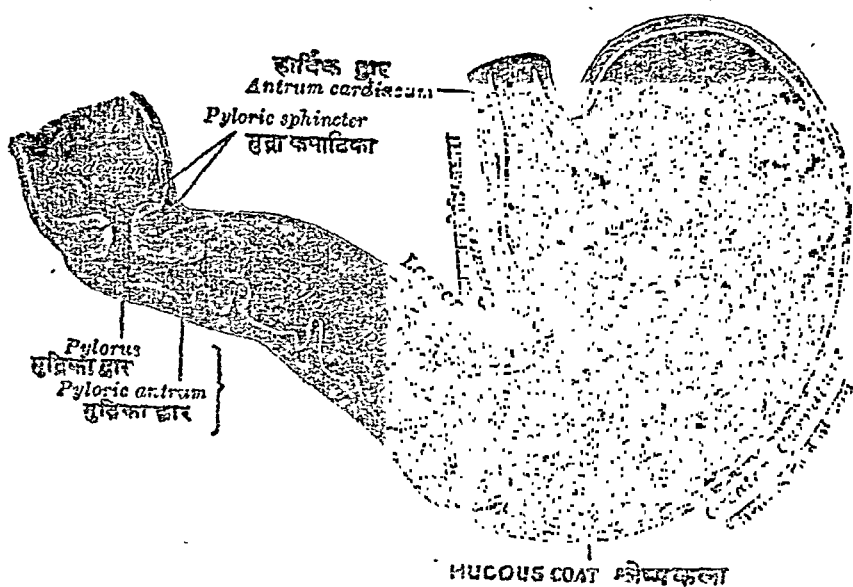
चित्र नं० ४१ आमाशय के अन्तर का देखाव

४ ड्राम सोडा बाई कार्ब और फिर टार्टरिक एसिड एक औंसको आधे-आधे ग्लास जलमें मिलाकर पिलावें। जिससे उदरमें आफरा आवेगा, फिर ठेपन और दर्शनपरीक्षा करनेपर उसकी सीमा निर्णित हो जायगी। भोजन करनेके ३-४ घण्टोंके पश्चात् उदरको दोनों पार्श्वोंकी ओर चलानेपर वायु मिश्रित जलकी खड़-खड़ आवाज आती है। किन्तु इसपरसे भी रोग निश्चय नहीं होता। ध्वनियन्त्रका भी उपयोग नहीं होता; कारण पेशियोंमें दृढ़ता नहीं होती। उदर स्फीत होनेपर ठेपन करनेपर कुछ उपयोग होता है।

आमाशय रसका पृथक्करण करनेपर विदित होता है कि उसमें कुछ आहार अवशेष रहता है; मुक्त लवणाम्ल द्रव सामान्यत: वर्तमान रहता है, किन्तु सर्वदा निःसंदेह लगभग नष्ट हो जाता है; अम्लता स्वाभाविक या कुछ बढ़ी हुई

रहती है; आम बढ़ जाता है; तथा सार्सिना आदि विविध कीटाणु (Sarcinae and Bacteria) उपस्थित होते हैं। क्ष-किरण परीक्षा करनेपर आकृति मुड़े हुए गोल लोटे-सी हो जाती है। निम्न सतह नाभिसे कुछ इञ्च नीची भासती है, कभी भगास्थिको लग जाती है। परिचालन क्रियाका अनुभव नहीं होता, खाली रहनेपर लम्बा रहता है। भोजन करनेके पश्चात् ६ घण्टेपर भी आहार आमाशयमें मिलता है। मुद्रिका द्वार स्पष्ट नहीं भासता।

रोगविनिर्णय—मुद्रिका द्वारके प्रतिबन्ध जनित आमाशय प्रसारणमें वेदना और प्रतिबंध जनित लक्षण प्रकाशित होते हैं और उसमें परिचालन क्रिया दृष्टिगोचर होती है। वे लक्षण इस प्रकारके आमाशय प्रसारणमें नहीं होते।

साध्यासाध्यता—अधिक शिथिलता आ जानेपर यह रोग अनेक वर्षों तक रह जाता है। इस रोगमें बांयटे आना, यह गम्भीर लक्षण माना गया है।

चिकित्सोपयोगी सूचना—रोगीको आराम देना और व्यायाम कराना चाहिये। दांतोंकी सम्हाल रखें और पौष्टिक औषध प्रदान करें। भोजन थोड़ा शुष्क और बार-बार नियमित समयपर देवें। धीरे-धीरे चबाकर खायँ। भोजन के पहले २० मिनट और पश्चात् १ घण्टा तक दाहिनी करवट लेटें।

भोजनकी जातिकी अपेक्षा मात्रापर विशेष लक्ष्य देना चाहिए। मुलायम और शीघ्र पचन होने वाला भोजन देना चाहिये। जलपान भोजनके बीचमें करें। प्रातः काल और रात्रिको सिवाये जलका सेवन करें।

आमाशयको रोज १ बार १५ दिन तक सिवाये सोडाके जलसे धो देना चाहिये। लगभग २॥ पौण्ड जल लेवें और साइफन रीतिसे वापस निकालें।

मलावरोध हो तो व्यायाम या उदरको धीरे हाथसे मसलकर दूर करें। आवश्यकतापर सनायके पान देवें। डाक्टरीमें पेराफिन लिक्विड देते हैं। कदाच प्रति दिन उदर शुद्धि न हो तो कोई बाधा न मानें।

उदरपट्टा बाँधना अति हितकर है।

आयुर्वेदमें अग्नितुण्डी वटी और विषतिन्दुकादि वटी उत्तम औषध मानी गई हैं। डाक्टरीमें भी कुचिलेका अर्क और सोडाबाई कार्ब युक्त मिश्रण देते हैं। विशेष चिकित्सा रसशेषाजीर्ण मानकर की जाती है।

प्रतिरोध जन्य आमाशयका प्रसारण।

(Obstructive Dilatation of the Stomach)

निदान—इस रोगकी सम्प्राप्ति मुद्रिका द्वारमें प्रतिबन्ध होनेपर होती है। यह प्रतिबन्ध व्रण, अर्बुद, जन्मसिद्ध आकुंचित प्रणाली मुद्रिका द्वारका आक्षेप, बाहरके अवयवोंसे संलग्नता या आमाशयका आकार रेतघड़ी (Hour-glass) के सदृश हो जाना आदि हेतुओंसे होता है।

संप्राप्ति—आमाशय सामान्यतः लम्बता है और उसकी मांसपेशियोंकी वृद्धि होती है।

चिह्न—यह रोग विशेषतः प्रौढ़ावस्था वालोंके जिनको बार-बार अपचन होता है और निर्बलता आजाती है। इसमें कोई प्रदेशमें वेदना, आफरा, प्रसारण, गम्भीरावस्थामें ठीक समयपर बार बार अम्लद्रवयुक्त बड़ी वमन होना, वमनमें कुछ दिन पहले खाये हुए आहारका अंश निकलना, क्षुधा अच्छी लगना किन्तु गम्भीर मलावरोध रहना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

परीक्षाविधि प्रतिरोध रहित प्रकारमें दर्शायी है। मुद्रिका द्वारपर शोथ आ जाय तो द्वार बन्द हो जाता है।

उपद्रव—मुद्रिका द्वारका संकोच होनेपर रोग बढ़ जाता है। घातक अर्बुद जनित रोग हो तो जल्दी बढ़ जाता है। बाँयटे आना यह उपद्रव रूपसे उपस्थित होता है।

रोगविनिर्णय—क्ष-किरण द्वारा निःसंदेह परीक्षा हो जाती है।

साध्यासाध्यता—रोगका शुभाशुभ परिणाम कारण और चिकित्सापर अवलम्बित है।

चिकित्सा—यान्त्रिक अवरोध हो तो अन्त्रमें कृत्रिम छिद्र (Gastroenterostomy) करना चाहिये। यदि आक्षेपज मार्गावरोध हो तो रोज आमाशयको धोना चाहिये। सूचीबूटीका अर्क (Tr. Belladona) १५-१५ बूँदें दिनमें ३ बार देते रहना चाहिये।

आक्षेपज व्याधिपर आयुर्वेदिक सूतशेखर, महावात-विध्वंसन, अग्निकुमार, कनकासव, जसद भस्म (बहुत थोड़ी मात्रामें मिश्रीके साथ दिनमें ४-६ बार) आदि अति उपकारक औषधियाँ हैं।

व्रण, अर्बुद आदि रोग हों तो शस्त्र चिकित्साका आश्रय लेना चाहिये।

(१२) विसूचिका।

(हैजा-कॉलरा Cholera)

जब अजीर्ण रोगमें वायु प्रकुपित होनेपर सुईसे वेधन करने समान पीड़ा हो, तब विसूचिका रोग कहलाता है। यह रोग परिमित आहार करने वाले संयमी जनोंको नहीं होता। जो मूढ़ मनुष्य अजितेन्द्रिय हैं; जो पशुके समान बार-बार या खूब ज्यादा प्रमाणमें खाते रहते हैं; उनको यह रोग हो जाता है।

* लक्षण—इस रोगमें मूर्च्छा अतिसार, वमन, प्यास, शूल, कुछ ज्वर, भ्रम, हाथ पैर टूटना, उबासी, दाह, चेहरा मलिन हो जाना, कम्प, हृदयमें

---

* मूर्च्छातिसारो वमथुर्पिपासा शूलभ्रमोद्वेष्टन जृम्भदाहाः ॥
वैवर्ण्यकम्पौ हृदये रुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः ॥

वेदना और शिरःशूल आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

यह रोग अजीर्णमें भोजन करनेके अतिरिक्त दूषित जलवायुद्वारा विसूचिकाके कीटाणुओंका शरीरमें प्रवेश होना, ऋतुका परिवर्त्तन, सूर्यके तापमें फिर कर तुरन्त बर्फ या शीतल जल-पान करना इत्यादि कारणोंसे भी (वर्त्तमानमें) होता रहता है ।

अजीर्णसे जो विसूचिका होता है वह अधिक भयप्रद नहीं है; परन्तु कीटाणुओंके प्रकोपसे उत्पन्न विसूचिका तीव्र, संक्रामक, जानपदिक (देशमें फैलने वाला) और मारक माना गया है। यह कीटाणुजन्य रोग अजीर्णके पश्चात् ही हो ऐसा नियम नहीं है। अनेक बलवान् मनुष्योंको भी खानेके पदार्थोंमें कीटाणु आ जानेसे हो जाता है। अनेक बार शक्ति अति सबल होनेसे कीटाणु नष्ट हो जाते हैं और अनेकोंके लिये आंतरिक शक्तिका कीटाणुओंके साथ युद्ध करनेमें पराजय हो जाती है, तब इस रोगकी प्राप्ति हो जाती है। ट्रोपिकल-डिजीजकार लिखते हैं कि भारतमें इस रोगसे प्रतिवर्ष हजारों मनुष्य मरते हैं।

डाक्टरीमें अजीर्ण जनित विसूचिका (आशुकारी आमाशय अन्त्र प्रदाहमें विसूचिका लक्षण) होनेपर (कालेरा मोर्बस और समर कालेरा (Cholera Morbus & Summer Cholera) तथा जानपदिक विसूचिकाको ऐसियाटिक कॉलेरा और मेलिगनेण्ट कालेरा (Asiatic Cholera & Malignant Cholera) संज्ञा दी है।

विसूचिकाका पूर्वरूप—बेचैनी, क्षुधामान्द्य, कुछ ज्वरका असर, उदरमें भारीपन, आलस्य और हाथ-पैर टूटना आदि प्रतीत होते हैं।

* **उपद्रव**—निद्रानाश, अरति, कम्प, मूत्राघात (मूत्रकी उत्पत्ति न होना) और संज्ञानाश ये पाँच दारुण उपद्रव माने जाते हैं। यदि इस रोगमें पेशाब साफ आ जाय तो बहुधा रोगकी शान्ति हो जाती है।

असाध्य लक्षण—जिस रोगीके नाखून, होठ और दाँत काले हो जायँ, संज्ञा नष्ट हो जायं; वमनकी पीड़ासे नेत्र खड्डेमें घुस जायँ; आवाज बिलकुल बैठ जायं, हाथ-पैर चलानेकी शक्ति मारी जाय और सब संधियाँ शिथिल हो जायं, वह रोगी नहीं बच सकेगा।

अजीर्णजन्य विसूचिका (मृदु विसूचिका) में कै-दस्त ज्यादा होनेपर भी रोगी निर्बल नहीं होता। कोष्ठमें तीव्र वेदना होती है; फिर भी शरीरकी

---

* निद्रानाशोऽरतिकम्पो मूत्राघातो विसंज्ञिता।
अमी उपद्रवा घोरा विसूच्यां पञ्च दारुणाः॥

उष्णता जल्दी नहीं घटती। किन्तु कीटाणुजन्य विसूचिकामें शारीरिक उष्णता और बल दोनों शीघ्र (६ से १२ घण्टोंमें) घट जाते हैं।

जानपदिक विसूचिका-डाक्टरी निदान।

व्याख्या—यह आशुकारी संक्रामक व्याधि है। इसकी सम्प्राप्ति होनेपर पचनेन्द्रिय संस्थानमें मुड़े हुये आकारके कीटाणु (Cholera Vibrio) मिलते हैं, इन्हें वेसिलस कोमा और वेसिलस स्पिरिलियम भी कहते हैं। इस रोगमें बार-बार जलके सदृश पतले दस्त और बार-बार पानी सदृश वमन, बाँयटे आना और शीघ्र शक्तिपात प्रतीत होते हैं।

यह रोग नगरव्यापी और देशव्यापी होता है। भारतमें यह अधिकतम होता है। सम शीतोष्ण कटिबन्धमें स्थानव्यापी बनता है; किन्तु देशव्यापी नहीं। यह सम शीतोष्ण प्रदेशमें प्रायः उष्ण ऋतुमें (मई मासमें) फैलता है। बड़ा भारी मेला जहाँ होता है वहाँ अन्य समयमें भी यह रोग उपस्थित होता है। १९४५ ई० में यह रोग ऑगस्ट-सेप्टेम्बरमें अनेक प्रान्तोंमें फैला था। यह सब आयु वालोंको होता है। इस रोगके आक्रमणके विरुद्ध रोगनिरोधक शक्ति अपना संरक्षण नहीं कर सकती।

इस रोगके कीटाणुओंका शोध डा० कोक (Koch) ने मिश्र देशमें १८८३ ई० में किया था। ये कीटाणु छोटे, स्वाभाविक प्रवृत्तिशील और मुड़े हुए दण्डके सदृश होते हैं। इनकी लम्बाई १॥ से २ माइक्रोन तथा चौड़ाई ०.५ से ०.६ माइक्रोन है। यह रोग मुख्यतः पीनेके जलद्वारा फैलता है। इसी तरह शाक और भोजनके पदार्थों द्वारा भी फैलता है। इन पदार्थोंको मक्खियाँ दूषित कर देती हैं। यह वायुद्वारा नहीं फैलता । मुसाफिरी करनेवाले रोगी इस रोगको दूर तक ले जाते हैं।

इस रोगसे पीड़ितोंकी सेवा करने वाले यदि मल-मूत्रोंका स्पर्श करके अच्छी तरह हाथोंको न धोवें और ऐसे गंदे हाथोंसे जलको स्पर्श करें तो जल पीने वालोंको विसूचिका हो जाती है। यदि ऐसे गंदे हाथोंसे वे भोजन करते हैं तो वे भी पीड़ित हो जाते हैं।

संक्रमण स्थिति—२ से ३ सप्ताह, सामान्यतः १ सप्ताहसे अधिक नहीं।

चयकाल—१ से ३ या ४ दिन अथवा ७ दिन तक।

लक्षण—पहले सूचनादर्शक (पूर्व रूप) अतिसार होता है। जनपदव्यापी विसूचिका होनेपर तुरन्त निर्णय हो जाता है। अन्यथा रोगी भ्रमसे अतिसार मान लेता है। इस रोगकी ३ अवस्थाओंके लक्षण पृथक्-पृथक् हैं। १. मल त्यागावस्था; २. शक्तिपातावस्था (शीतावस्था); ३. प्रतिक्रियावस्था।

१. मल त्यागावस्था (Stage of Evacuation)—अकस्मात् बड़-

पूर्वक आक्रमण। गम्भीर अतिसार, शौच हो जानेपर वमन, शौच-वमन बार-बार शीघ्र होते रहना। पहले-पहले दस्तोंमें अति दुर्गन्ध आना, प्रायः शौच अविराम होना फिर मांसपेशियोंमें बांयटे आना, विशेषतः पैरोंमें, उससे वेदना अत्यधिक होना, अति बेचैनी, अति तृषा लगना; किञ्चित् ज्वर आदि लक्षण होते हैं। पहले मल पीला होता है फिर सफेद चांवलोंके धोवनके समान होता है।

इस मलमें श्वेत वर्णका जो द्रव्य निकलता है, वह पचन संस्थानकी उत्तान स्तरिकाके कोषाणु (Epithelia) हैं। १५-१५ मिनटपर दस्त आने लगते हैं। अधिक दस्त होनेपर दुर्गन्ध नहीं आती। बहुत किन्छना नहीं पड़ता। शारीरिक उत्ताप सामान्यतः कम, नाड़ी मंद, क्लान्ति और शक्तिपातकी वृद्धि और शुद्धि रहना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। थोड़े समयमें रोग-मुक्ति होती है अन्यथा शक्तिपात बढ़ जाता है।

वमन प्रारम्भसे ही होती है। शनैः शनैः वह भी बढ़ती है। पहले आमाशयिक रस, फिर यकृत् पित्त और क्षुद्रान्त्रके रस आदि द्रव निकलते हैं। इसका वर्ण भी ३ घण्टे बाद सफेद हो जाता है।

२. **शक्तिपातावस्था, शीतलावस्था** (Stage of Collapse, Algid Stage)—शक्तिपात बढ़ता है, चेहरा मुरझा जाता है, नेत्र गढ़ेमें घुस जाते हैं, त्वचापर झुर्रियां पड़ जाती हैं। व्याकुलता, गात्रनीलता, ओष्ठ और नाखून काले हो जाना, उदर मृदु और शिथिल हो जाना, चिपचिपा स्वेद आना, अर्द्ध शुद्धि या बेहोशी होना, जल जैसे पतले दस्तका अनिच्छापूर्वक स्राव होते रहना, पेशाब बहुधा न होना, उत्ताप स्वाभाविकसे कम होना किन्तु गुदनलिकामें अधिक रहना, नाड़ी द्रुत, अति सूक्ष्म (स्पष्ट ज्ञान न हो वैसी), कभी टूटती हुई आदि लक्षण भासते हैं। स्थितिकाल २-३ घण्टेसे २४ घण्टे तक। मृत्यु संख्या अत्यधिक। रक्तमेंसे जलका अत्यधिक आकर्षण हो जानेसे शक्तिपात होता है, रक्त गाढ़ा होता है। आपेक्षिक गुरुत्व १०६० तक या अधिक बढ़नेपर १०७२-१०७८ तक (सामान्यतः १०५८) तथा दबाव कम ७० मिलीमीटर या कम होता है।

रक्तका आपेक्षिक गुरुत्व बढ़ जानेसे वृक्कोंमें मूत्रोत्पत्ति बन्द हो जाती है। इस अवस्थामें मृत्यु हो तो कईको उष्णता बढ़ जाती है और मृत्युके पश्चात् भी उष्णता कुछ देर तक रह जाती है।

३. **प्रतिक्रियावस्था** (Stage of Reaction)—प्रारब्धवान् रोगियोंको शीतावस्था आनेके पश्चात् या शीतावस्था न आते हुए इस अवस्थाकी प्राप्ति होती है। इस अवस्थाकी शीघ्र उन्नति होती है। चेतनाशक्ति पुनः आती है, त्वचा उष्ण होती है, मलमें पित्त प्रतीत होता है, शौच पहलेकी अपेक्षा देरसे होता है, सामान्यतः कुछ ज्वर होता है, त्वचा लाल बन जाती है।

कभी इस प्रतिफलितावस्थामें अपूर्णता रहते हुए उष्णता बढ़नेके हेतुसे मंद-

मंद प्रलाप (Typhoid Stage) होता है और पेशाब बहुत कम होता है। यह अवस्था गम्भीर रोग बढ़नेके पश्चात् प्रथम सप्ताहके अन्तमें होती है। इस में मृत्यु अधिक होती है।

रोगग्रस्तता—सामान्यत: यह शीघ्र बढ़ती है। उपद्रव भी पुन: प्रकाशित होते हैं। त्वचापर लाली और विविध प्रकारके रक्तस्रावी धब्बे हो जाना, ये लक्षण प्राय: अशुभ माने जाते हैं।

भावी क्षति—१. वृक्क प्रदाह; २. बाँयटे आना; ३. अन्त्र, गलतोरणिका (ग्रसनिकासे कण्ठकी ओर जाने वाला मार्ग Fauces) और प्रजनन संस्थानमें कण्ठरोहिणीके सदृश प्रदाह, विविध प्रकारकी निर्बलता (मानसिक क्षीणता, निद्रानाश, स्फोटक होना, फुफ्फुस प्रदाह) आदिकी प्राप्ति होती है।

गम्भीर विसूचिका—यह उपरोक्त रोगका एक प्रकार है। उसे कॉलेरा सिका (Cholera Sicca) कहते हैं। इसमें क्षत नहीं होते और मृत्यु अति जल्दी हो जाती है। १९२१ ई० में उज्जैनके मेलेपर इस प्रकारकी विसूचिकासे एक हजारसे अधिक मौतें हुई थीं। ऐसे शवोंका छेदन करके परीक्षा करनेपर आँतें झाग जैसे मलसे भरी हुई भासती थीं।

सौम्य विसूचिका प्रकार (Paracholera)—यह विसूचिकाका सौम्य प्रकार है। इसके कीटाणु मलमें मिलते हैं। इसमें मृत्युसंख्या बहुत कम होती है। यह स्थानव्यापी नहीं बनता। इस कीटाणुकी अन्य कितनी ही जातियाँ मिली हैं, जो प्रवाहिकाके लक्षण उत्पन्न करती हैं। इनका अभी तक विशेष अनुभव नहीं मिला। इनके अतिरिक्त एक प्रकारके कीटाणुओंसे बालकोंको आशुकारी अतिसार (Cholera nostras) की प्राप्ति होती है।

रोगविनिर्णय—मल्ल विष प्रकोप, आहार विष (अपचन) जनित विसूचिका, शीतावस्था युक्त विषम ज्वर, आशुकारी वेसिलरी प्रवाहिका आदिसे लक्षण मिलते हैं। इस रोगमें मूत्रक्षय यह प्रबल लक्षण है, फिर भी इसे पृथक् कर लेना चाहिये।

मल्ल विष जनितमें वमन, अतिसारके साथ छातीमें जलन, दस्तमें रक्त आना मलमेंसे एक प्रकारकी वास आना ये लक्षण होते हैं, जो इस रोगमें नहीं होते।

अजीर्ण जनित विसूचिकामें उदरपीड़ा, अफारा, दुर्गन्धयुक्त मलमय दस्त, वमन, दस्त देरसे होना, शक्तिपात न होना, पेशावका अवरोध न होना आदि लक्षण होते हैं, जो इसमें नहीं होते।

शीतावस्था युक्त मलेरियामें शीघ्र वमन-दस्त नहीं होते। परन्तु शिर:शूल और फरहरी (हल्की ठण्ड) प्रतीत होते रहते हैं। ये लक्षण विसूचिकामें नहीं होते।

आशुकारी प्रवाहिकामें उदरमें तीव्र वेदना, प्रवाहण और मलके रक्तरूपमें

भेद, इन लक्षणोंसे भेद हो जाता है।

साध्यासाध्यता—अशुभावस्था वाले रोगियोंको अति द्रुत आक्रमण, कम उत्ताप, रक्तका आपेक्षिक गुरुत्व १०६५ से अधिक रहना आदि होते हैं। मृत्यु-संख्या लगभग ७० प्रतिशत होती है। यदि लवण जलका अन्त:क्षेपण कराया जाय (Roger's method of saline infusions) तो रोगी बहुधा बच जाता है। इसका विचार शमन चिकित्सोपयोगी सूचनामें किया है।

बालक, वृद्ध, सगर्भा स्त्री, शराबी, अफीमके व्यसनी, निर्बल, अतिसार रोगी; हृदय, यकृत् या वृक्क विकार वाले इन सबके लिये यह रोग बहुधा असाध्य होता है।

पतनावस्था बहुत जल्दी होती है, तो रोग असाध्य माना जाता है। यदि अन्त्रशोथ, रक्तमें मूत्र-विषकी वृद्धि (Uraemia) और गुदामें १०४ डिग्रीसे अधिक उष्णता बढ़ जाय, तो रोग असाध्य माना जाता है।

दांत, ओष्ठ और नाखून नीले हो जायँ; नेत्र भीतर बैठ जायँ, स्वरभंग हो जाय; संधियाँ शिथिल हो जायँ और हृदयकी गतिमें अवरोध होने लगे, तो रोगीके बचनेकी आशा नहीं रहती। *

प्रतिबन्धक चिकित्सा।

(१) तालाब, कुए या बावड़ीका जल दूषित हो गया हो, तो पोटासपर-मेगनेट या ब्लीचिंग पाउडर (Calx Chlorinata) या चूना अथवा फिटकरी मिलाकर शुद्ध करलें। अथवा जलको गरम कर फिर शीतल होनेपर छानकर पीवें। दिनमें २ समय सुबह-शाम जल गरम कर लेवें।

(२) बासी भोजन, अधिक भोजन या सड़ी हुई वस्तु, उतरे हुए फल, बाजारकी मिठाई, आइस क्रीम, बर्फ, सोडावाटर आदि वस्तुओंका त्याग करें। बाजारके दूधका सेवन न करें। फल-शाकको पोटास परमेगनेटके जलसे धो, फिर उबाल कर उपयोगमें लेवें। खाली पेट शराबका सेवन नहीं करना चाहिए।

(३) रोगीके मल और वमनपर मक्खियाँ न बैठें, इस हेतुसे उनपर तुरन्त राख, फिनायल या गोमूत्र डाल दें और दूर जमीनमें खड्डा करा कर दबा देना चाहिये या जला देना चाहिये।

(४) रोगीके वस्त्र धोना, सफाई रखना, अपना हाथ धोना ये सब काम परिचारकको सावधानतापूर्वक करने चाहिये।

(५) नीबूके रसमें १ माशा सज्जीखार (सोडा बाईकार्ब) और ५ तोले जल मिलाकर प्रकोपके दिनोंमें रोज सुबह पी लेवें, तो कीटाणुका आघात नहीं

---

* यः श्यावदन्तोष्ठनखोऽल्पसंज्ञो वम्यार्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः।
क्षाम स्वरः सर्वविमुक्तसंधिर्यायान्नरः सोऽपुनरागमाय॥

हो सकता। किन्तु जिनको रक्तमें अम्लता या धातुक्षीणता हो, उपदंश या सुजाक रोग पहले हो गया हो, वे न पीवें। वर्तमानमें विसूचिकाको रोकनेके लिये इनोक्युलेशन करते हैं। उससे भी अनेकोंकी रक्षा हो जाती है ऐसा सिद्ध हुआ है।

(६) एक भाग बिना बुफा कली चूना और २ भाग गुड़ मिला कर ४-४ रत्तीकी गोलियाँ बनालें। प्रतिदिन प्रातःसायं १ से २ गोली निवाये जलसे लेते रहनेसे विसूचिकाके आक्रमणका भय नहीं रहता।

(७) नित्य प्रति नीमकी ताज़ी पत्ती २०, काली मिर्च १० नग और सैंधा नमक ४ रत्ती पीस थोड़ा जल मिला छान कर पी लेनेसे रोगका डर दूर हो जाता है।

(८) भोजनमें लहसुन और प्याजका उपयोग करना अत्यन्त हितकारक है। इन दोनोंमें विसूचिकाके कृमिनाशक दिव्य गुण हैं।

(९) प्रातःकाल कुछ खाये बिना कामपर नहीं जाना चाहिए। कारण, भोजनके १ घण्टे बाद आमाशयिक रस निकलनेपर विसूचिकाके कीटाणुका असर नहीं हो सकता।

(१०) महामारी कालमें परिश्रम अत्यधिक नहीं करना चाहिये एवं दिनमें शयन भी नहीं करना चाहिये।

(११) भोजनपर मक्खियोंको न बैठने देवें। हो सके तो मक्खियोंको न आने दें। इसके लिये एरण्ड तेलमें राल और मल्ल मिला उसमें ब्लोटिंग पेपर डूबोकर मकानके द्वारपर लगाना चाहिये। भोजनके पदार्थोंकी मक्खियोंसे आग्रहपूर्वक रक्षा करनी चाहिये।

शमन चिकित्सोपयोगी सूचना।

(१) अजीर्ण-जन्य रोगका प्रारम्भ होनेपर उदरमें मल संग्रह अधिक हो, तो एरण्ड तैल सोंठके क्वाथके साथ पिला या एरण्ड तैलकी बस्ति देकर उदर-शुद्धि करा लेना अति लाभदायक है। इस रीतिसे उदरशुद्धि हो जानेपर अफीम मिश्रित औषध (हिंगुल वटी या अन्य) देनेसे शीघ्र लाभ हो जाता है।

(२) प्याजको कूट, रस निकाल थोड़ी काली मिर्च डालकर ३-४ बार पिलानेसे विसूचिका रोग शमन हो जाता है।

(३) मलशुद्धि होनेके पहले या पीछे मल वेग आते हों, तब तक अफीम या अन्य स्तंभक औषध नहीं देनी चाहिये।

(४) रोगीको शीतल वायु न लगे, इस बातका पूरा लक्ष्य रखें।

(५) कीटाणुजन्य विसूचिका रोगमें प्यास शमनके लिये उबालकर शीतल किया हुआ जल एक-एक चम्मच बार-बार पिलाते रहें; एक साथ अधिक जल नहीं पिलाना चाहिये।

रोगके प्रारम्भमें डाक्टरीमें केओलीन (Kaolin) एक प्रकारकी सफेद चीनी मिट्टी ७ औंसका १४ औंस जलमें मिलाकर रोगीकी इच्छानुसार पीनेको देते हैं। यह कृमिघ्न, विषहर और ग्राही है।

(६) वमनको रोकनेके लिये आमाशयको पोटास परमेगनेटके जलसे आमाशय धावन नलिका द्वारा धो लेवें। फिर भी वमन बन्द न हों तो और आवश्यकता हो तो आमाशयपर राईका प्लास्टर लगावें।

(७) बाँयटे आनेपर राईको पीस पोटली बना गरम कर पैरोंकी पिण्डीपर और हाथोंपर सेक करें। मृदु हाथसे चम्पी करें या गरम जलसे सेक करें। यदि अधिक तीव्र आक्षेप हो, तो डाक्टरीमें क्लोरोफार्म छिड़कते हैं।

(८) मूत्रोत्पत्तिके लिये वृक्कस्थानपर थोड़ा सेक करें एवं बस्ति स्थानपर कलमीशोरा और पलाशपुष्पको पीसकर लेप करें या तार्पिन तैल और गरम जलसे वस्त्र भिगोकर रखें। १०-१० औंस लवणजल गुदामें बार-बार चढ़ावें।

(९) हृदयकी शक्ति कायम रखनेके लिये शराब, मल्लचन्द्रोदय, मृतसंजीवनी सुरा या कस्तूरी, अभ्रक भस्म आवश्यकतापर देवें।

(१०) रोगीको कम्बल और गरम जलसे भरी हुई बोतल द्वारा सेक करें जिससे देह अधिक शीतल न हो जाय।

(११) रोगी बिल्कुल स्वस्थ न हो जाय, तब तक भोजन कुछ भी नहीं देना चाहिये। केवल जलपर ही रखें। प्रतिक्रियावस्थामें पुनः आक्रमण न होनेके लिये सम्हालपूर्वक चाय, कॉफी या अन्य आहार देवें।

(१२) जन्तु-जन्य रोगका आरम्भ होते ही औषध देनेका आरम्भ करें। देरी होनेसे जन्तुओंका प्रकोप भयंकर बढ़ जाता है। यदि १२ घण्टों तक उपाय न किया जाय, तो रोगीके जीवनकी आशा प्रायः छूट जाती है। आरम्भमें वमन या दस्तको बन्द करनेवाली औषध अधिक मात्रामें न दें। अन्यथा पेटमें दूषित मल रुक कर आफरा आ जाता है। फिर रोग अधिक सबल हो जाता है।

(१३) यदि आरम्भमें २-२ रत्ती पोटास परमेगनेटकी गोलियाँ १५-१५ मिनटपर ४ घण्टे तक देते रहें, सामान्यतः हरे दस्त आनेके बाद लगभग आध घण्टे तक तो जन्तुओंका नाश होनेसे बहुत सहायता मिलती है।

(१४) बर्फ पिघलनेसे जो जल बने, वही पिलाया जाय, तो तृषा शीघ्र शमन हो जाती है। अथवा १ तोला जायफल या लौंग मिला १ सेर जल औटा शीतलकर उसमेंसे १-१ चम्मच पिलाते रहें अथवा १ छटाँक चूनेको ५ सेर जलमें डाल दें फिर ऊपरसे नितरा हुआ जल निकाल, उसमें थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहें। जलको सम्हालपूर्वक स्वच्छ सुरक्षित स्थानमें ढक कर रखना चाहिये।

(१५) कुआँ, तालाब आदिका ताजा जल विसूचिका रोगीको नहीं देना चाहिए। ताजा जल देते रहनेसे रोग जल्दी काबूमें नहीं आता।

(१६) रक्तका आपेक्षिक गुरुत्व १०६१ से ऊपर जानेपर रोजर्स पद्धति (Rogers' method) अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुई है अर्थात् निम्न मिश्रण का शिरामें अन्तःक्षेपण करें :—

नमक (Sodium Chloride)	२ ड्राम
पोटास क्लोराइड (Pot. Chloride)	५ ग्रेन
केलशियम क्लोराइड (Calcium Chloride)	४ ग्रेन
जल (Water)	१ पाइण्ट

उसे ९८° गरम करें। फिर १ मिनटमें ४ औंसके हिसाबसे जल छोड़ें। १०६० के ऊपर जितनी रक्तगुरुता हो, उसपर प्रत्येक १ डिग्रीपर १ पाइण्ट जल देवें। यह क्रिया कुछ घण्टोंमें अनेक बार करनी पड़ती है।

किन्तु उस क्रियाके पहले निम्न लवण द्रावण १ पाइण्टका अन्तः क्षेपण कर लेना चाहिये।

नमक (Sodium Chloride)	९० ग्रेन
सोडा बाई कार्ब (Sodium Bicarb.)	१६० ग्रेन
बाष्प जल (Distilled water)	१ पाइण्ट

यदि इसे बीचमें बन्द करनेकी जरूरत पड़े, तो वैसा करें।

विसूचिका चिकित्सा

(१) छोटी मूलीके क्वाथमें पीपलका चूर्ण मिलाकर दिनमें ३ समय पिलाने से अजीर्णजन्य विसूचिका शीघ्र शमन हो जाती है।

(२) बेलगिरी, सोंठ और जायफलका क्वाथ बनाकर दिनमें २ समय पिलानेसे वमन और अतिसार दोनों शमन हो जाते हैं।

(३) प्याज और पोदीनेके स्वरसको समभाग मिलाकर २-२ तोले आध या एक-एक घण्टेपर देते रहनेसे अजीर्णजनित और कीटाणुजनित दोनों प्रकारकी विसूचिकाकी निवृत्ति हो जाती है।

(४) केवल आककी जड़की ताजी छालको अदरक या प्याजके रसमें खरल कर या आककी जड़की छाल और लालमिर्चकी छाल समभाग मिला, १२ घण्टे प्याजके रसमें खरल कर, १-१ रत्तीकी गोलियाँ बना लें। १ से २ गोली १-१ तोले प्याजके रसके साथ आध-आध घण्टेपर देते रहनेसे कीटाणुजन्य विसूचिका भी नष्ट हो जाता है।

(५) हुक्केका पुराना सड़ा पानी १-१ तोलाको आध-आध घण्टेपर (शक्ति-पात होनेसे पहले) पिलाते रहनेसे सब कीटाणुओंका नाश होकर असाध्य रोगी भी अच्छे हो जाते हैं।

(६) पोदीनेके अर्ककी ४-४ बूंदें २-२ घंटोंपर ५-६ बार शक्करके साथ देनेसे विसूचिका रोगका शमन हो जाता है।

(७) संजीवनी वटी दिनमें ३ समय १-१ गोली जलके साथ देनेसे अजीर्ण-जन्य विसूचिका दूर होता है। जन्तुजन्य विसूचिकामें १-१ घण्टेपर एक-एक गोली ४-६ समय देनेसे (सौम्य प्रकोपमें) जन्तुओंका नाश होकर विसूचिका निवृत्त हो जाती है। जनपद-व्यापी प्रकारकी उपस्थितिमें स्वस्थ व्यक्ति यदि संजीवनी वटीका सेवन करते रहें तो उन्हें इस रोगका डर नहीं रहता। इस रोगकी उत्तम प्रतिबन्धक औषध रूपसे इसका प्रयोग करते रहना चाहिये।

अग्निकुमार रस, क्रव्याद रस, लघुक्रव्याद रस, हिंगुलवटी, संजीवनीवटी गन्धक वटी, चिंचाभल्लातक वटी, कर्पूरासव, जीवन रसायन अर्क, स्वादिष्ट शर्बत, जातिफलादि वटी, रामबाण रस, विसूचिकाहर वटिका, लहशुनादि वटिका, हिंग्वष्टक चूर्ण और शिवाक्षारपाचन चूर्ण, राजवल्लभ रस ये सब औषधियाँ दोनों प्रकारकी विसूचिकामें काम देती हैं। समयपर जो तैयार हो, वही दी जाती है। अनेक औषधियाँ तैयार होनेपर रोगी, रोग-बल और औषध बलका विचार करके देनी चाहिए। हिंगुल वटी, संजीवनी वटी, कपूरासव, जीवनरसायन अर्क, विसूचिकाहर वटिका और लहशुनादि वटिकाको अनेक बार हम प्रयोगमें ला चुके हैं। इस तरह अन्य औषधियोंका भी उपयोग किया है।

जन्तुजन्य विसूचिकाकी प्रथमावस्थामें—(१) कर्पूरासव, जीवनरसायन अर्क, विसूचिकाहर वटिका, लहशुनादि वटिका, संजीवनी वटी और रामबाण रस (प्याजके रसके साथ) ये सब औषधियाँ अति हितकर हैं। इनमेंसे कोई भी औषध देनेपर विसूचिका शमन हो जाती है। इनमें कर्पूरासव और जीवन रसायन अर्क विशेष प्रबल हैं। ४-४ बूंदें आध-आध घण्टेपर शक्करके साथ दी जाती हैं।

(२) लहसुन, लाल मिर्चकी छाल, कच्ची हींग और कपूर सब समभाग मिला जलमें पीस २-२ रत्तीकी गोलियाँ बना लें। इनमेंसे १-१ गोली आध-आध घण्टेपर देते रहनेसे विसूचिका दूर हो जाती है।

जातिफलादि वटी—जायफल ४ तोले, पीपरमेण्टके फूल और लौंग १-१ तोला; कच्ची हींग, सोहागेका फूला, बबूलका गोंद और अफीम ६-६ माशे लें। सबको मिला प्याजके रसमें १२ घण्टे खरल कर १-१ रत्तीकी गोलियाँ बना लेवें। इनमेंसे १-१ गोली शीतल जलके साथ रोग काबूमें आवे तब तक १-१ घण्टेपर देते रहें। दस्त जैसे-जैसे कम होते जायँ, वैसे-वैसे औषध देरसे देवें। दस्त बन्द होनेपर औषध दी जायगी, तो आफरा आ जायगा।

पतनावस्था होगई हो, तो:—

(१) विसूचिकान्तक रस—(रसतन्त्रसार द्वितीय खण्ड) की १-१ गोली आवश्यकतापर २-२ घण्टे पश्चात् ३-४ समय देवें। यह औषध अति गिरी हुई अवस्थामें भी जीवनदान देती है। यदि अति बलक्षय हो गया हो तो आध-आध रत्ती कस्तूरी भी इस रसायनके साथ मिला देना लाभदायक है।

इस रसायनके सेवनसे अत्यधिक कै, असावधानीमें दस्त हो जाना, शुष्क जिह्वा, दुर्निवार तृषा, थोड़ा-सा जल पीते ही वमन हो जाना, उदरमें दाह, मूत्रक्षय, प्रलाप, स्वरभंग, कम्प, अति क्षीण नाड़ी, अति बलक्षय और शरीर शीतल हो जाना ये सब उपद्रव शीघ्र दूर होते हैं; हृदयकी क्रिया सबल होती है और प्रकृति स्वस्थ हो जाती है।

(२) कस्तूरी और चन्द्रोदय, सूतिकाभरण रस या संचेतनी वटी, कस्तूरी भैरव, अभ्रक भस्म या लक्ष्मीविलास (अभ्रक) इन ३ औषधियोंमेंसे एक देनेसे उपद्रवों सह विसूचिका शीघ्र दूर हो जाती है। वृक्क प्रदाह हो या जिन रोगियों को पहले सुजाक या उपदंश हुआ हो उनको संचेतनी वटी नहीं देनी चाहिये।

(३) कस्तूरी और षड्गुणगन्धकजारित रससिंदूर आध-आध रत्ती मिला कर ६ माशे शहदके साथ चटावें। फिर विसूचिकाहर वटी (दूसरी विधि) आध-आध रत्ती आध-आध घण्टेपर देते रहें। आवश्यकतापर बीच-बीचमें २-३ घण्टे पर कस्तूरी और रससिंदूरकी मात्रा देते रहें।

तृषा शमनार्थ—(१) दो तोले लौंग (या जायफल) को दो से तीन सेर जल में मिलाकर उबालें। फिर शीतल होनेपर इसमेंसे २-२ तोले जल पिलाते रहें।

(२) वर्फके छोटे-छोटे टुकड़े मुँहमें रखकर रस चूँसें या वर्फका पिघला जल १-१ तोला बार-बार पिलावें।

(३) इमली या छुआरेकी गुठलीको मुँहमें रख कर चूँसते रहनेसे तृषा रुकती है।

(४) वर्फ, अर्क सौंफ, अर्क पोदीना तीनोंको समभाग मिला लेवें। फिर इसमेंसे २-२ तोले पिलाते रहनेसे तृषा और वमन दोनों शमन हो जाते हैं।

(५) शीतल मिर्चका चूर्ण १-१ रत्ती १-१ चम्मच सौंफके अर्कके साथ पिलाते रहनेसे वमन और प्यास दोनों दूर होते हैं।

(६) मुनक्का, अनारदाना या आँवलेको मुँहमें रखकर चूंसते रहनेसे तृषाकी निवृत्ति होती है।

(७) यदि तृषा शमन न होती हो तो सैंधानमक और पीपल १-१ तोलेको १ सेर जलमें मिला उबाल कर निवाये रहनेपर छानकर पिला देवें। फिर तुरन्त वमन करा देनेसे तृषा शमन हो जाती है।

(८) शीतल मिर्च और मुलहठीके चूर्ण १ माशेमें पारद गन्धककी कज्जली १ रत्ती मिलाकर शहदके साथ चटानेसे प्यास शमन होती है।

पेशाब लानेके लिये:—

(१) मूत्राशयपर कलमी शोरा और केसूला (पलासके फूल) को जलमें पीसकर बाँधें और आध-आध घण्टेपर २-३ समय बदलते रहें या कमरपर राईका प्लास्टर लगावें। जलन होने लगे तब प्लास्टरको खोलकर उस स्थानपर घी वाला हाथ लगा देवें।

(२) वृक्कस्थान (गुर्दे) पर नारायण तैलकी मालिश करें और निवाये जलसे थोड़ा सेक करें।

(३) वरनाके फलको सम्पुटमें बन्द कर भस्म करें। फिर उसमें कलमी-शोरा और यवक्षार भस्मके चतुर्थांश-चतुर्थांश मिला लें। इस चूर्णमेंसे १-१ माशे निवाये जलके साथ २-२ घण्टेपर दो या तीन बार देनेसे रक्तका गुरुत्व कम होकर पेशाब आने लग जाता है।

उदरमें शूल, आफरा और भयङ्कर वेदना हो तो—(१) बाजरी या जौ के आटेको छाछमें पका, हींग और नमक मिला कपड़ेपर डाल निवाया-निवाया पेटपर बाँधनेसे उदरशूल, दाह और आध्मान आदि विकार शमन हो जाते हैं।

(२) दारुषट्क लेप (पहले अजीर्ण रोगमें लिखे) का लेप करें।

(३) क्रव्याद रस, हिंग्वष्टक चूर्ण या शिवाक्षारपाचन चूर्णका सेवन कराने से रोगारम्भमें उत्पन्न तीव्र वेदना, उदर शूल और आफरा दूर हो जाते हैं।

वमन दूर करनेके लिये—अतिसार कम हो जानेपर वमन होती रहे, तो सुवर्णमाक्षिक भस्म और संजीवनी वटी, सूतशेखर १-१ रत्ती अदरकके रसमें मिलाकर देवें और आमाशयपर राईका प्लास्टर लगाकर लगभग १५ मिनट तक या जलन होने तक रहने दें। बादमें प्लास्टर निकाल कर उस स्थानपर घी लगा लें।

पैरोंकी ऐंठन अत्यन्त बढ़ जाय तो—(१) ताम्र भस्म आध-आध रत्ती को शराब या द्राक्षासवके साथ २-२ घण्टेपर २-३ बार देवें।

(२) त्वक्पत्रादि उद्वर्त्तन या सौंठके चूर्णसे मालिश करें।

(३) ब्राण्डी या मेथिलिटेड स्पिरिटसे मालिश करें।

(४) तार्पिनके तैलमें कपूर १६ वाँ हिस्सा मिलाकर मालिश करें।

प्रलाप और प्रस्वेद शमनार्थ—रोगकी तीसरी अवस्थामें प्रलाप होने लगे और ज्वर आ जाय तो सूतशेखर आध रत्ती और प्रवालपिष्टी १-१ रत्ती शहद या जलके साथ १-१ घण्टेपर ३-४ समय देनेसे ज्वर, दाह, प्रलाप, बेचैनी प्रस्वेद शीर्षशूल ये दूर होते हैं और निद्रा आ जाती है।

शरीर अत्यन्त शीतल होने लगे तो—देहमें गरमी लानेके लिये आध-आध रत्ती कस्तूरी दें और त्वक्पत्रादि उद्वर्तन अथवा निवाये नारायण तैल या विषगर्भ तैलकी मालिश करें।

रोगी मूर्च्छित होजाय तो—शिरपर तालुके बाल साफकर उस्तरेसे थोड़ी त्वचा निकाल, वहाँपर "लघुमूचिकाभरण" मसलें अथवा सेक करें या शराब (ब्राण्डी) से मालिश करें।

वातावरण शुद्धिके लिये—घरमें कपूर जलावें या लोबान, गूगल अथवा रालका धूप करें।

दाह हो तो—अतिसार और वमन शमन होनेके पश्चात् दाह होता रहे तो शंखभस्म ३ रत्ती और सुवर्णमाक्षिक भस्म १ रत्ती मिलाकर ३-४ माशे घृतके साथ दें।

एलोपैथीमें पहले निम्न डॉ० टीम्ब्स मिश्रणका–विशेष प्रयोग होता था।

आइल जूनिपर	Oil Juniper	१ ड्राम
,, काजूपुटी	,, Cajuputi	१ ड्राम
,, कैर्योफिली (लौंगका तेल)	Caryophylli	१ ड्राम
एसिड सल्फ्यूरिक एरोमेटिक	Acid.Sulph.Arom	३ ड्राम
स्पिरिट ईथर	Spt. Aetheris	६ ड्राम

इन सबको मिलालें। रोग होनेपर तुरन्त १ ड्राम आधसे एक औंस जल मिलाकर पिला देवें। फिर आध-आध घण्टेपर १-१ ड्राम देते रहें। इस तरह १० ड्राम तक औषध देना चाहिये। इससे कीटाणु नाश होकर वमन और दस्त बन्द हो जाते हैं; पेशाब आने लग जाता है और रोगकी निवृत्ति हो जाती है।

सूचना—इस मिश्रणमें तैल अधिक होनेसे जल और औषध मिला, भली भांति हिलाकर पिलाना चाहिये।

वर्तमानमें विशेषतः निम्न चिकित्सा करते हैं।

1. Cholera vaccine (रोग दमनार्थ) 2. Sulpha guanidine टैब्लोइडका प्रयोग (रोगनाशार्थ) 3. Saline inj. (लवण जलका अन्तः क्षेपण रक्त घनताको दूर करनेके लिए) 4. Coramine (हृदयको बल देनेके लिए) इनके अतिरिक्त कॉफी पिलाना आदि उपचार करते हैं।

पथ्यापथ्य—रोगीको पूर्ण स्वस्थ हुए बिना खानेको नहीं देना चाहिये। रोग शमनके पश्चात् ३६ घण्टों तक अन्न न दें तथा १ सप्ताह तक पीनेके लिये गरम किये हुए जलको शीतल करके देते रहें। अधिक वायुका सेवन न करें। ३-४ दिनों तक थोड़े ताजे मट्ठेमें हिंग्वष्टक चूर्ण मिलाकर पीनेको देवें। फिर अच्छी क्षुधा लगनेपर लघु, पाचक भोजन (चावलोंकी माँड या मूँगका यूष) या छाछ-भात बहुत थोड़े प्रमाणमें दें।

पक्का भोजन, स्नान, मैथुन, तेज वायु, अग्नि और सूर्यके तापका सेवन, चिन्ता, प्रवास तथा व्यायाम आदि बल आने तक न करें।

पथ्यापथ्यका विशेष विवेचन अजीर्ण रोगके अन्तमें किया है। वे सब इस विसूचिका रोगीके लिये भी समझ लेवें।

(१३) अलसक और विलम्बिका (दण्डालसक)।

निदान—दुर्बल, मन्द अग्निवाले और अधिक बढ़े हुए कफवालेको या जीर्ण अजीर्णके रोगीको मल, मूत्र या अधोवायुका वेग रोकनेसे और स्थिर, गुरु, अति रूक्ष, शीतल या अति शुष्क अन्नपान सेवन करते रहनेसे वात प्रकुपित कफसे मार्गका अवरोध हो जाता है। फिर आहार वमन या दस्त द्वारा बाहर नहीं निकल सकता और जठराग्नि भी मार्ग विबद्ध होनेसे भोजनको नहीं पचा सकती जिससे आमाशयमें आहार पत्थरकी तरह जड़ या आलसीकी तरह स्थिर होजाता है। इस कारणसे इस रोगको अलसक रोग कहा है।

अलसकके लक्षण—इस रोगमें वात और कफका प्रकोप होता है। मुँहमें पानी आना, उबाक, क्षुधानाश, मुँहका स्वाद दूषित होना, उदरमें शूल, अंग जकड़ना, भारी और शून्य होजाना, बार-बार थोड़ा-थोड़ा पेशाब होना ये सब आमप्रकोपके लक्षण तथा अति आफरा, तीव्रशूल, हाथ-पैर पटकना, दर्दके मारे चिल्लाना, उदरमें गुड़गुड़ाहट, कभी-कभी वेदना, निरुद्ध वायु ऊपरकी ओर उठना, अधोवायु और मलका अति अवरोध, तृषा, बार-बार डकारें आना और हिक्का आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

विलम्बिकाके लक्षण—किया हुआ भोजन वात और कफ प्रकोपसे दुष्ट हो जानेसे ऊपर नीचे नहीं जा सकता अर्थात् वमन या दस्तसे बाहर नहीं निकल सकता तब उसे असाध्य विलम्बिका रोग कहते हैं। ❀

जब अलसक रोगमें डकार आना बन्द हो जाय; वायुकी ऊपर नीचे गति रुक जाय; तीव्र शूल शमन हो जाय; आंतोंमें मलकी वृद्धि होकर मलाशय पूर्ण भर जाय तथा सारे शरीरको दण्डके समान कड़ा बना दे, तब दण्डालसक कहलाता है। इस रोगको असाध्य माना है। चरक-संहिता कथित इस दण्डालसक रोगको ही सुश्रुत संहितामें 'विलम्बिका' नाम दिया है।

इस रोगमें आहार जनित रस शेष रह जाता है। इस रसका यथासमय शोषण न होनेसे सेन्द्रिय विष (आमविष) बन जाता है। महर्षि आत्रेयने चरक-संहिताके विमान-स्थानमें लिखा है कि:—

❀ दुष्टं तु भुक्तं कफमारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य।
विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः॥

'विरुद्धाध्यशनाजीर्णाशनशीलिनः पुनरामदोषमामविषमित्याचक्षते भिषजो, विषसदृशलिङ्गत्वात् । तत्परमसाध्यमाशुकारित्वाद् विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति ॥'

(अ० २-१५)

अर्थात् प्रकृति, देश, काल आदिसे विरुद्ध भोजन, असमयपर भोजन, अत्यधिक भोजन, कभी कम भोजन, अजीर्णमें भोजन इस तरह विरुद्ध व्यवहार होते रहनेसे पाचक इन्द्रियाँ निर्बल हो जाती हैं। इससे आहार रस शेष रह जाता है, वही आम-विष बन जाता है। इस आम विषको विष सदृश घातक माना है। सामान्य आमप्रकोप हो तो उष्ण (दीपन-पाचन) उपचारसे शमन हो जाता है और केवल विषप्रकोप हो वह शीतल उपचारसे शान्त होता है। परन्तु इस आमविषपर शीत और उष्ण दोनोंमेंसे एक भी उपचार लाभदायक नहीं होता। इस हेतुसे प्राचीन आचार्योंने इस आमविषजनित व्याधिको विरुद्ध उपक्रमयुक्त और दुःखदायी माना है।

यह आमविष अपने प्रभावसे दुष्ट आमकी उत्पत्ति कराता रहता है। फिर वह रक्त आदि धातुओंमें प्रविष्ट होकर नाना प्रकारकी हानि पहुँचाता रहता है। इसी हेतुसे यह विष सदृश शीघ्र घातक व्याधि-समूहका उत्पादक माना जाता है।

विसूचिका, अलसक और विलम्बिका इन रोगोंकी उत्पत्ति आमाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण और विदग्धाजीर्णसे होती है। ऐसा सुश्रुत-संहिताके वचनके अनुरूप माधव-निदानकारने कहा है। इस श्लोककी मधुकोष टीकामें लिखा है कि कार्त्तिक कुण्डाचार्यके मतानुसार आमाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण और विदग्धाजीर्ण इन तीनोंसे यथाक्रम विसूचिका, अलसक और विलम्बिका रोगकी उत्पत्ति होती है। इस कथनमें विदग्धाजीर्णसे विलम्बिकाकी उत्पत्ति कही है। इस बातको बकुलकराचार्य अस्वीकार करते हैं। कारण सुश्रुत-संहितामें वात-कफप्रकोपसे विलम्बिकाकी उत्पत्ति कही है।

वर्तमानमें शास्त्रपरसे विलम्बिका रोगके विशेष लक्षण नहीं आने जाते। परन्तु विचार करनेपर श्री० बकुलकराचार्यका वचन सयुक्तिक भासता है। फिर भी सारग्राही दृष्टिसे श्री० कार्त्तिक कुण्डाचार्यके मतको स्वीकार किया जाय तो इस तरहकी संप्राप्तिके अनुकूल विचार भी मिल सकता है अर्थात् विदग्धाजीर्णके पश्चात् भी इस विलम्बिका रोगकी उत्पत्ति हो सकती है।

विदग्धाजीर्ण रोग जीर्ण होनेपर आँतें अशक्त हो जाती हैं; जठर रस और पित्तमें तीक्ष्णता हो जानेसे आँतोंकी श्लेष्मल त्वचा जलती रहती है, आहार रस आगे ढकेलनेमें विलम्ब होता रहता है, जिससे विषकी उत्पत्ति होती रहती है। फिर इस विषका रक्तमें शोषण होता रहता है। परिणाममें सब रक्तवाहिनियाँ कठोर हो जाती हैं। ऐसी अवस्थामें अपथ्यका सेवन करनेपर वात और

कफ धातु प्रकुपित होती हैं। फिर उदरमें आफरा आ जाता है और आँतें और मलाशय चौड़े हो जाते हैं। पश्चात् आमाशय और आंतोंमें आहार संगृहीत रह कर दूषित होता रहता है।

इन दोनों रोगोंमें आमाशय और पक्वाशयमें आफरा आ जाता है तथा मलका संचय अत्यधिक हो जानेसे बद्ध गुदोदरके समान बड़ी आँत चौड़ी (Dilatation of the Colon) हो जाती है। आध्मान या अन्य कारणसे अकस्मात् अन्त्र विस्तार हो जाता है, उसे डाक्टरीमें हर्शस्प्रंगका रोग संज्ञा दी है। यह रोग छोटी आयुमें और युवावस्थामें होता है। पाश्चात्य निदानकार लिखते हैं कि इस रोगसे पीड़ित मनुष्यकी बड़ी आंतकी परिधि १५ से ३० इञ्च तक बढ़ जानेका और उसके भीतर रहे हुए मलका वजन २३॥ सेर तक हो जानेका उदाहरण मिला है।

जिस स्थानमें आम गमन करता है; उस अवयवमें विशेष रूपसे विकार समूहोंद्वारा तीव्र वेदना उत्पन्न करता है। जिस दोषसे आम व्याप्त हो, उस दोष के अनुरूप (वात सह हो तो तोद; पित्त सह हो तो दाह; कफ सह हो तो भारीपन आदि) लक्षणों द्वारा आमको जानना चाहिये। जैसे आमवात आमप्रकोपके हेतुसे होता है अथवा जिस रक्त आदि धातुमें आमके हेतुसे अग्नि मन्द हो जाय वहाँपर आमके हेतुसे पिडिका आदिकी उत्पत्ति कर देता है।

विसूचिका, अलसक और विलम्बिका इन सबकी उत्पत्ति अजीर्णसे होती है। इस हेतुसे अनेक चिकित्सकोंने शुष्क विसूचिका (बन्ध हैजा) को अलसक, विलम्बिका रोग माना है; किन्तु शुष्क विसूचिकामें अधिक पीड़ा नहीं होती, तथा निदान और चिकित्साके लिये समय ही नहीं मिलता। ५-१५ मिनिटमें ही रोगीको सामान्य उदरपीड़ा होकर मूर्च्छा आ जाती है फिर थोड़े ही समय में मृत्यु होजाती है। तब अलसकमें भयंकर कष्ट होता है और दण्डालसकमें देह जकड़कर दण्ड समान बन जाती है। शास्त्रकारोंने अलसक, दण्डालसक और विलम्बिका नाम सार्थक रखे हैं ऐसा मानना पड़ता है। इन दो हेतुओं (लक्षण और नाम) का विरोध होनेसे एवं शास्त्रमें कही हुई चिकित्सामें भेद होनेसे इन दोनों रोगोंको शुष्क विसूचिकासे अन्य व्याधि मानना पड़ता है।

अलसक-डाक्टरी निदान।

(हर्शस्प्रंगका रोग-मेगाकोलन-इडियोपेथिक डिलेटेशन ऑफ दी कोलन Hirschsprung's disease-Megacolon-Idiopathic Dilatation of the colon)

व्याख्या—यह रोग अहैतुक उत्पन्न होता है। इस प्रकारमें बृहदन्त्रका विस्तार (१२ इञ्च व्यास तक) और वृद्धि होती है। श्रोणिगुहा, गुदनलिका

और गुद द्वारकी संकोचक मांसपेशियाँ मल त्यागार्थ शिथिल नहीं होतीं।

इस रोगकी संप्राप्ति बालकों और युवकोंको होती है। पीड़ितोंमें ५ पुरुष और १ स्त्री, यह अनुपात देखनेमें आया है। हर्शस्प्रंगका रोग यह संज्ञा विशेषत: बच्चोंके रोगको दी जाती है।

निदान—श्रोणिगुहा, गुदनलिका और गुदद्वारकी संकोचक मांसपेशियां अधिकारमें न रहनेपर मल संगृहीत होता रहता है और बृहदन्त्र चौड़ा होता जाता है। कभी अन्त्रके विशाल भागमें रस्सीके समान बल लग जाता है।

सम्प्राप्ति—इस रोगमें अवरोही और श्रोणिगुहा स्थित अन्त्र विशेष पीड़ित होता है; कभी पूरा बृहदन्त्र। बालकोंमें गुदनलिका प्राय: मुक्त रहती है या मात्र सामान्य पीड़ित होती है (किन्तु बस्ति देनेसे चौड़ी हो जाती है)। मांसपेशियोंकी चारों ओरकी और लम्बाईकी रुखवाली पर्त्तकी वृद्धि हो जाती है। बृहदन्त्रमें नरम मल और कठोर गांठोंका संग्रह होता रहता है। चिरकारी रोगमें बृहदन्त्रका प्रदाह भी होता है। निरोध होनेका स्पष्ट हेतु नहीं मिलता, लघु अन्त्रका शक्तिपात होता है।

रोगप्रकार—१ मांसपेशी यन्त्रिणीकी प्रदाहज अव्यवस्था, २. रसक्षय।

१. मांसपेशी यन्त्रिणीकी प्रदाहज अव्यवस्था (Disorder of Neuromuscular mechanism)—इस प्रकारमें बृहदन्त्र और गुदनलिकापर शासन नहीं रहता। गुदसंकोचनी पेशीका दृढ़ संकोच हो जानेपर गुदनलिका चौड़ी हो जाती है। गुदनलिका संकोचक पेशी शासनमें नहीं रहती। कभी बृहदन्त्रके कुछ भागमें अव्यवस्था होती है।

२. रसक्षय (Coeliac Disease)—कितने ही जीर्ण रोगोंके हेतुसे होता है। रसक्षयका वर्णन संग्रहणीके अन्तमें किया है।

आक्रमण स्वरूप—आक्रमणके प्रारम्भमें बालकोंमें मलावरोध और उदर स्फीति प्रतीत होती है। बड़ोंमें लक्षणोंकी प्रतीति कम होती है।

लक्षण—मलावरोध, उदरस्फीति बढ़ती रहना, उदर स्फीतिकी वृद्धिके साथ वेदना, आंशिक प्रतिबन्धके हेतुसे प्राय: वमनका अभाव, शौच मुलायम, कुछ गांठोंसह और पतले दस्त लग जानेपर कुछ समयके लिये उदरस्फीति कम हो जाना आदि लक्षण प्रथमावस्थामें होते हैं।

शारीरिक स्थिति अच्छी होती है। महाप्राचीरा पेशीपर दबाव आनेसे श्वासोच्छ्वासमें कष्ट और हृदय स्पन्दनकी वृद्धि होती है।

उदर बहुत बड़ा विदित होता है। शूलका आक्रमण होनेपर बाँयी ओर उदरके हिस्सेमें बृहदन्त्र स्पष्ट प्रतीत होता है। अन्त्र घुमाव और परिचालन क्रियाका बोध होता है। महाप्राचीराका वाम गुम्मज अति ऊँचा भासता है। गुदन-

लिका दबानेपर नरम मल और पत्थर सदृश गाँठें विदित होती हैं।

साध्यासाध्यता—बालक चिकित्सा न करनेपर क्वचित् ही बड़ी आयुको पाते हैं। अन्त्रावरोध, छिद्र, विशीर्णता या कीटाणुओंका आक्रमण होनेपर मृत्यु हो जाती है।

उपद्रवकी उत्पत्ति न हुई हो और रोग नया हो तो लम्बे समय तक औषध चिकित्सा करते रहनेपर मर्यादित बना रहता है।

चिकित्सोपयोगी सूचना।

अलसक और विलम्बिका रोगमें पहले नमक मिला गरम जल पिलाकर वमन कराना चाहिये। फिर स्वेदन, फलवर्त्ति धारण और लंघन कराकर अग्निवर्धक उपाय करने चाहिये। परन्तु तीव्र वेदना हो तो तीक्ष्ण शूलघ्न औषध न दें। अन्यथा आमसे आच्छादित अग्नि प्रकुपित होती है।

इन रोगोंमें भोजन लघु, पौष्टिक, थोड़े परिमाणमें और आँतोंको बलवान बनावे, ऐसा देना चाहिये। उष्ण, अधिक नमकवाला, चरपरा और भारी भोजन तथा शराबको छोड़ देना चाहिये।

अधिक परिश्रम न करें। हो सके उतनी विश्रान्ति लेवें और उदरपर नियम पूर्वक लेप करते रहें।

इसके उपचारके ३ प्रकार हैं—१. दीपन, पाचन आदि औषध, २. अस्त्र चिकित्सा; ३. सुषुम्णाकाण्डकी शून्यता।

१. दीपन पाचन आदि औषधोपचार—बृहदन्त्रको रिक्त रखनेका प्रयत्न करना चाहिये। गुदनलिकामें कठोर मल होनेपर उस पर तैलकी मालिश, गरम जलका सेक और हाथोंसे दबाकर मलको तोड़ देवें। फिर अँगुली डालकर निकाल लेवें और उस भागको धो देवें। उदरपर धीरे हाथसे चम्पी करें। मृदु विरेचक औषध भी नहीं देनी चाहिये।

२. अस्त्रचिकित्सा—बृहदन्त्रके कुछ चौड़े भागको काट देनेपर पुनः अन्य भाग चौड़ा होता है। इस प्रकारमें मृत्युसंख्या अत्यधिक होती है। स्वतन्त्र नाड़ी केन्द्र (Sympathetic nerve-suply) की विकृति हो और उसपर रोगारम्भ कालमें अस्त्रचिकित्सा की जाय तो परिणाम अच्छा आता है; किन्तु पुनः आक्रमण हो तो फिर चिकित्सा करना कठिन हो जाता है। अतः इसका डर होनेपर औषध चिकित्सा ही हित-कर मानी जाती है।

३. सुषुम्णाकाण्डकी शून्यता (Anaesthesia)—इस प्रकारसे चिकित्सा करनेपर परिणाम अच्छा आता है; किन्तु दीर्घकाल पर्यन्त सम्हालपूर्वक उपचार करना चाहिये।

अलसक विलम्बिका चिकित्सा ।

आफरा और उदरशूलपर—(१) भोजनके पहले हींग, त्रिकटु और सैंधा-नमकको काँजीमें पीस, निवाया कर पेटपर मोटा-मोटा लेप करें। फिर रुई चिपका कर कपड़ा बाँध लेनेसे शूल, आफरा और आँतोंकी शिथिलता दूर होती है।

(२) दारुषट्क (अजीर्णमें कहे हुए) को काँजीमें पीस निवायाकर उदरपर मोटा-मोटा लेप करें।

(३) जौके आटेको छाछमें मिला, गरमकर जवाखार और नमक मिला पेट पर मोटा-मोटा लेप करें फिर रुई चिपकाकर कपड़ा बाँध देवें। पश्चात् गरम जलसे आध घण्टे तक पेटपर सेक करें।

अलसक और विलम्बिका नाशक औषधियाँ—क्रव्याद रस, अग्नि-कुमार रस, शंखद्राव, जम्भीरीद्राव और अग्नितुण्डी वटी (दशमूलारिष्टके साथ) शूलवज्रिणी और चित्रकादि वटी ये सब हितकर औषधियाँ हैं। इनमेंसे प्रकृति और रोगबलके अनुसार औषध योजना करें।

यदि आमाशय और लघु अन्त्रकी परिचालन क्रिया मंद हो तो अग्नितुण्डी देनी चाहिये; अन्यथा न देवें। वात नाड़ीप्रदाह देहके किसी भी भागमें हो तो उसे दूर करनेका कार्य वत्सनाभ करता है। इस हेतुसे अग्निकुमार मुख्य औषध है। पाचक रस आमाशय और यकृत्मेंसे योग्य उत्पन्न न होता हो तो क्रव्याद, शंखद्राव या जम्भीरी द्राव साथमें देना चाहिये। सामान्यतः अग्नि-कुमार अकेला ही दिया जाता है। मांसपेशियोंकी विकृति अधिक हो तो अभ्रकभस्म ½ रत्ती साथमें मिला देवें।

मल शुद्धिके लिये—गुदनलिकाको दूध और अरण्डीका तैल समान भाग मिला कर बस्ति दें या अन्य सिद्ध तैलकी बस्तिसे रोज शुद्धि करते रहें।

अजीर्ण रोगमें लिखे अनुसार पथ्यापथ्य पालन करावें।

(१४) कृमिरोग।

(कृमि-दीदान उल अम आ-वर्म्स Worms)

स्थान भेदसे कृमिके मुख्य २ विभाग हैं। बाह्य और आभ्यन्तर। त्वचा, बाल या वस्त्रमें यूका आदि कृमि उत्पन्न होते हैं; उनको 'बाह्य कृमि' और शरीर के भीतर आमाशय, अन्त्र और रक्तमें उत्पन्न होने वालेको 'आभ्यन्तर कृमि' कहते हैं कारण भेदसे इनके ४ प्रकार हैं—स्वेदज, पुरीषज (मलसे उत्पन्न), कफज और रक्तज। इनमें प्रस्वेदसे होनेवाले कीड़े त्वचा, बाल या वस्त्रमें रहते हैं। शेष देहके भीतर रहते हैं। इन कृमियोंमें कतिपय अति सूक्ष्म हैं इनकी गणना इस कृमिरोगमें नहीं की है। इस कृमिरोगमें जिनका अन्तर्भाव किया है, उनमें

आकृति और वर्णभेदसे २० प्रकार हैं इन कृमियोंसे दोषप्रकोप होकर ज्वर, पांडु, शूल आदि रोगोंकी उत्पत्ति होती है; इस हेतुसे इन कृमियोंसे होने वाली विकृतिको रोग संज्ञा दी है।

बाह्य कृमि लगभग तिल जितने बड़े होते हैं, बाल और वस्त्रके आश्रित रहते हैं। इनके अनेक पैर होते हैं। इनको जूँ और लीखें कहते हैं; इनके प्रभावसे चकत्ते, फुन्सियाँ खुजली और गाँठें आदि रोगोंकी उत्पत्ति हो जाती है। इनको छोड़कर केवल उदरमें उत्पन्न होने वाले आभ्यन्तर कृमियोंका विवेचन यहाँ किया है।

सामान्य हेतु—अजीर्णमें भोजन, नित्यप्रति मीठे, खट्टे भोजन, अधिक पेय पदार्थका सेवन, उड़दकी पिट्ठीमेंसे बनाये हुए मधुर पदार्थ और गुड़का सेवन व्यायाम न करना, दिनमें निद्रा लेना तथा विरुद्ध पदार्थका सेवन इन कारणोंसे कृमियोंकी उत्पत्ति होती है।

विशेष निदान—इनमें उड़दके पदार्थ, अम्ल रस, नमक, गुड़ और शाक आदिके अधिक सेवनसे आँतमें पुरीषज कृमि उत्पन्न होते हैं। पतले पत्ते आदि का अधिक सेवन, मीठे-खट्टे भोजन, मांस, मत्स्य, गुड़, दूध, दही शराब और सिरका आदिसे पित्त और कफप्रकोप होकर कृमियोंकी आमाशयमें उत्पत्ति होती है। इनके अतिरिक्त विरुद्ध आहार, अजीर्णमें बार-बार भोजन और अधिक शाक आदि (कच्चे हरे चने आदि) पदार्थोंके अधिक सेवनसे रक्तज कृमि भी उत्पन्न हो जाते हैं।

पुरीषज कृमि प्रकार—मलसे उत्पन्न कृमिके अजयव, विजव, किप्य, चिप्य, गण्डूपद, चुरव और द्विमुख ये ७ प्रकार हैं। चरक संहितामें ककेरुक, मकेरुक, लेलिह, सशूलक, सौसुराद ये ५ प्रकार कहे हैं। ये सब सफेद, पतले और सूक्ष्म होते हैं।

ये सब बड़ी आँतमें रहते हैं। इन कृमियोंसे गुदामें खाज आती रहती है। ये प्राय: गुदाकी ओर गमन करते हैं और गुदामें कुछ पीड़ा उत्पन्न करते हैं। इनमें कितने ही पूँछवाले और मोटे भी होते हैं। ये विशेषत: मन्दाग्नि, पाण्डु, शुष्क त्वचा, बद्ध कोष्ठ और बलक्षय आदि विकारोंको उत्पन्न करते हैं।

पुरीषज कृमि लक्षण—इन कृमियोंसे गुदामें खाज शूल, आफरा, मलके मार्गपर कृमियोंकी गति; पतला दस्त, मलावरोध, कृशता, शुष्क त्वचा, पाण्डुता, रोंगटे खड़े हो जाना और अग्निमांद्य आदि लक्षण होते हैं। कचित् ये कृमि आमाशयकी ओर गति करते हैं तब निःश्वासमें विष्ठाके समान दुर्गन्ध आती है।

कफज कृमि प्रकार—कफज कृमिके दर्भपुष्प, महापुष्प, प्रलून, चिपिट, पिपिलिका और दारुण ये ६ भेद हैं। किन्तु चरक-संहितामें इन कृमियोंके

उदराद, अन्त्राद, हृदयचरा, चुरव, दर्भपुष्प, सौगन्धिक और महागुदा ये ७ नाम कहे हैं। ये कृमि कफप्रकोपसे आमाशयमें उत्पन्न होते हैं, वे बड़े होनेपर ऊपर नीचे चारों ओर गमन करते हैं। (पुरीषज कृमि भी ऊपर नीचे गमन कर सकते हैं) इनमें कोई चमड़ेकी डोरी जैसे, कोई केंचवे सदृश, कोई धान्यके अंकुर समान, कोई पतले और लम्बे, कोई बहुत छोटे, ऐसे नाना प्रकारके होते हैं। इनमेंसे कितने ही श्वेतवर्णके और कितने ही ताम्बे जैसे होते हैं। ये मज्जा, नेत्र, तालु और कान आदिके सत्वको खाते रहते हैं।

कफज कृमि लक्षण—इन कृमियोंकी उत्पत्ति होनेपर खाक, मुँहमेंसे लाल गिरना, अपचन, अरुचि, मूर्च्छा, वमन, ज्वर, मलावरोध, आफरा, कृशता, छींकें आना, उबासी आना, पीनस, हाथ-पैर टूटना और त्वचामें शुष्कता आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

रक्तज कृमि प्रकार—इन कृमियोंकी उत्पत्ति केश, रोम, नाखून, दांत आदि में होती है और इनको ही वे खाते रहते हैं। केशाद, रोमाद, नखाद, दंताद, किकिश, कुष्ठज और परीसर्पी ये ७ प्रकार हैं। इन रक्तज कृमियोंको चरक-संहितामें केशाद, लोमाद, लोमद्वीप, सौरस, औडुम्बर और जन्तुमात ये संज्ञायें दी हैं। ये सब रक्त, मैल और प्रस्वेदसे उत्पन्न होते हैं। इनमें लाल-काले रंगके, स्निग्ध और मीठे होते हैं; रक्तस्थानमें रहते हैं। तथा त्वचा, सिरा, स्नायु, मांस, तरुण अस्थि आदिके सत्वको खाते रहते हैं।

रक्तज कृमि लक्षण—इन कृमियोंसे कुष्ठरोगकी उत्पत्ति होती है। तथा रोमहर्ष, खुजली, तोद, बाल और रोम झड़ जाना इत्यादि विकार होते हैं। ये शरीरके किसी भी अवयवमें उत्पन्न होते हैं। रक्तवाहिनीद्वारा एक अवयवमेंसे दूसरे अवयवमें भी जा सकते हैं।

इन २० जातिके कृमियोंमें पुरीषज और कफज कृमि १३ प्रकारके प्रतीत होते हैं और ७ जातिके रक्तज कृमि सूक्ष्म होनेसे देखनेमें नहीं आते। इनमें केश और रोमके भीतर होने वाले २ प्रकारके कृमियोंको शास्त्रकारोंने असाध्य माना है।

जो कृमि आमाशयमें उत्पन्न होते हैं, उनकी आकृति और वर्ण भेदसे अनेक प्रकार होते हैं एवं अन्त्रमें उत्पन्न कृमि भी छोटे, बड़े, लम्बे, चपटे, गोल और सूक्ष्म अनेक जातिके होते हैं। इनमें कोई सफेद, कोई पीले और कोई नीले ऐसे विविध रंगके होते हैं। इनमेंसे बड़ी आँतमें होनेवाले सूक्ष्म कृमिकी उत्पत्ति बहुधा एक ही दिनमें विरुद्ध और दूषित आहारसे हो जाती है और अन्य कृमियोंकी उत्पत्तिमें दीर्घकाल लगता है।

आभ्यन्तर कृमि लक्षण—उदरकृमियोंसे मन्द ज्वर, शरीरका रंग बदलना, आमाशय और पक्वाशयमें शूल, हृदयमें व्यथा, ग्लानि, चक्कर आना, श्वास, वमन, पतले दस्त, प्रलाप, बेचैनी, निद्रानाश, आफरा, उदर-पीड़ा, रोमांच,

उबासी, अरुचि, क्षुधानाश, गुदा और नाकमें खाज आना, दाँत कटकटाना, मुँहमेंसे दुर्गन्ध निकलना और शरीर शुष्क हो जाना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

जंजीर सदृश उदरावेष्टा कृमि, अन्त्राद कृमि, हुक जैसा मुड़ा हुआ कृमि, सूत्रसम चुरव कृमि ये सब मलमें मिलते हैं। अन्त्राद और चुरव कृमिको शोधन के लिये प्रयत्न करना चाहिये। मलको जलमें मिला मसल कपड़ेसे छाननेपर ये सब कृमि मिलते हैं।

उदरकृमिके एलोपैथिक निदान आदि।

डाक्टरीमें भिन्न-भिन्न कृमियोंसे उत्पन्न रोगोंको भिन्न-भिन्न संज्ञायें दी हैं, जिससे कृमि रोगका वर्णन अनेक रोगोंमें मिलता है। कृमियोंके निम्नानुसार मुख्य ३ विभाग किये हैं:—

A. पट्टी सदृश—चिपटे (सिस्टोड्स) Cestodes.

B. डोरी सदृश—गोल (नेमेटोड्स) Nematodes.

C. पत्र सदृश—क्वचित् गोल (ट्रिमेटोड्स) Trematodes.

A. सिस्टोड्स (पट्टीसदृश)—इस जातिके कृमियोंसे उत्पन्न रोग समूहको टिनिआसिस (Taeniasis) कहते हैं। ये कृमि पर्वयुक्त होते हैं। इस प्रकारमें अन्त्रके भीतर रहने वाले कृमियोंमें मुख्य निम्न हैं।

अ. टिनिया सोलियम-Taenea Solium-Pork taenea-हाथवाले कृमि।

आ. टिनिया सैजिनिटा Taenea Saginata, Beef taenea-हाथ रहित कृमि।

इ. डिबोथ्रियो सेफेलसलेटस-Dibothrio Chephalus latus (Dip hyllobothrium Latum)—ये कृमि हाथ रहित और बहुत चोड़े होते हैं। ये तीनों कद्दु दाना कहलाते हैं। अन्त्रमें रहते हैं।

ई टिनिया एकिनोकोकस (Taenea Echinococcus)—यह छोटा है। आयुर्वेदमें इसका वर्णन रूढ़ धान्याकुरोंमें है। ये रक्त ग्रन्थियां विविध अवयवोंमें बनाते हैं।

इनके अतिरिक्त कितनेही जातिके चिपटे कृमि त्वचा रोग, कुष्ठ आदिके हेतु हैं। इनका वर्णन उन रोगोंके साथ किया जायगा।

B. नेमेटोड्स (गोल कृमि)—इस प्रकारके कृमियोंमें निम्न मुख्य जातियां हैं।

उ. एस्केरिज लूम्ब्रिकोइड्स–राउण्ड वर्म इससे उत्पन्न रोगको एस्केरियासिस (Ascariasis) कहते हैं।

ऊ. ट्राइकिना स्पाइरेलिस—इससे उत्पन्न रोगको ट्राइकिनियासिस (Trichiniasis) कहते हैं, ये छोटे हैं। इनका अन्तर्भाव रूढ़ धान्यांकुर कृमियोंमें किया है।

ए. अन्काइलोस्टोमा—हुक वर्म—इसे आयुर्वेदके मतसे रूढ़ धान्यांकुरोंके भीतर अन्त्राद कृमि संज्ञा दी है। इससे उत्पन्न रोगको अन्काइलो स्टोमियासिस (Ankylostomiasis) कहते हैं।

ऐ. एण्टरोबियस (ओक्सियुरिस) वर्मिक्युलरिस थ्रेड वर्म—आयुर्वेदने इसे चुरव कृमि कहा है। डाक्टरीमें इससे उत्पन्न रोगको एन्टेरोबियासिस (Enterobiasis) कहते हैं।

ओ. फाइलेरिया—इससे उत्पन्न रोगको फाइलेरियासिस (Filariasis) कहते हैं। आयुर्वेदमें इसका वर्णन श्लीपद और पिष्ट मेहमें मिलता है।

औ. डेकन कुलस मेडीनेन्सिस—इससे उत्पन्न रोगको ड्रेकोण्टियासिस (Dracontiasis-Guinea worm disease) कहते हैं। आयुर्वेदमें इसका वर्णन स्नायु (नारू) रोगमें मिलता है।

अं. ट्राइको सेफलस डिस्पार—विपवर्म-इनसे उत्पन्न रोगको ट्राइकुरियासिस तथा ट्राइकुरिस ट्राइकीआ (Trichuriasis or Trichusis Trichiura) कहते हैं।

C. ट्रेमेट्टोड (फ्लूक)—इस जातिके कृमियोंसे उत्पन्न अन्त्रविकारको डिस्टोमियासिस (Distomiasis) तथा रक्तविकारको शिस्टोसोमियासिस (Schistosomiasis) कहते हैं। इस जातिके कृमिकी निम्न एक जाति बिलहार्जियाका वर्णन यहाँ किया है।

अः. शिस्टोसोमा (बिल हार्जिया)—आयुर्वेदमें इससे उत्पन्न रोगोंका विचार रक्त मेह और शीतपित्तमें किया गया है।

A. बड़ी जातिके सिस्टोडस।

(पृथु व्रण निभा—उदरावेष्टा–कद्दू दाना)

अ. आ. इ. ये तीनों जातिके कृमि पट्टी सदृश होते हैं। ये रीढ़दार
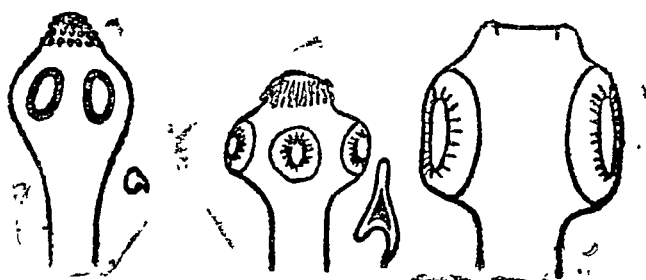
चित्र न० ४९

तीन प्रकारके कद्दुदाने के शिर—

१. बोथियो सेफेलस लेटस। २. टिनिया सोलियम। ३. टिनिया सेगीनेटा।

प्राणियोंकी आंतोंमें रहने वाले हैं। मांसाहारद्वारा इन कृमियोंके अण्डे मनुष्य देहमें पहुँच जाते हैं, फिर अन्त्रमें जाकर निवास और वंशवृद्धि करते हैं। मनुष्य देहमें जानेपर लवणाम्ल द्रवका ह्रास कराते हैं या अवयवोंके कार्यमें क्षति पहुँचाते हैं। ये कृमि कोमल, चपटे, श्वेतवर्णके और फीतेके समान लम्बे होते हैं। इनके शिर छोटे, शोषक इन्द्रियों (Suckers) और हाथ अंकुश (Hooks) युक्त होते हैं। इन अंकुशोंद्वारा ये श्लैष्मिक कलासे चिपके रहते हैं, इनकी ग्रीवा पतली होती है। क्रमशः प्रसारित होकर पर्व रूप बन जाती है। देह अनेक पर्वोंसे निर्मित है। ग्रीवासे दूरवर्त्ती पर्व बहुधा बड़े बड़े होते हैं। कृमिकी पूर्ण वृद्धि हो जानेपर अन्त्र भागमेंसे १-१ खण्ड या अधिक खण्ड टूटने जाते हैं। फिर वे मलमें निकल जाते हैं। (इस तरह ग्रीवा भागमें नये उत्पन्न भी होते हैं इन कृमियोंको मुँह और अन्त्र नहीं होते। शोषक इन्द्रियोंसे रस शोषण करके पोषण प्राप्त करते हैं। प्रत्येक परिवर्द्धित पर्वमें नर-मादा जननेन्द्रिय रहती है, जिससे वे अपने आप गर्भ धारण करते रहते हैं और अनेक अण्डे देते हैं। इन अण्डोंमेंसे ६ अंकुशवाला बाल कृमि उत्पन्न होता है। ये अण्डे अन्त्रसे बाहर निकलनेपर मर जाते हैं। किन्तु ये अण्डे जिस पशुके खानेमें आवें उसके यकृत् आदि स्थानोंमें गमन करके वहाँ बढ़ते रहते हैं। फिर वहाँपर बाल कृमि (Larva) का प्रथमावस्था (Scolex) को प्राप्त होते हैं। इस प्रथमावस्था वाले बालकृमिका मांस जिस मनुष्यके खानेमें आवे उसके देहमें इसकी उत्पत्ति होजाती है। फिर मनुष्यके अन्त्रमें वृद्धि होने लगती है। कभी अन्त्रसे बालकृमि त्वचा, मस्तिष्क, नेत्र, यकृत् आदि स्थानोंमें गमन करते हैं, तो वहाँपर तद्रूप रोग उत्पन्न कराते हैं। त्वचापर छोटी गांठें, मस्तिष्कमें जानेपर अपस्मार, नेत्रमें जानेपर नेत्रविकार आदि प्रकट होते हैं। विशेषतः ये कृमि लघु अन्त्रमें रहते हैं।

कितनेही मनुष्योंके नाखून बहुत बढ़ जाते हैं और शौच जानेके पश्चात् हाथोंको भली भांति नहीं धोते। उनके नाखूनोंमें कभी-कभी अण्डे घुस जाते हैं। फिर भोजन करनेपर उदरमें जाते हैं। उन हाथोंको जलमें डालें तो अण्डे जलमें फैल जाते हैं। फिर जल पीने वालोंके उदरमें चले जाते हैं।

कद्दूदानाके ३ प्रकार हैं। इन तीनोंकी आकृति, पर्व आदिमें अन्तर है। पहले दो प्रकारके कृमियोंके पर्व अधिक लम्बे हैं। तीसरी जाति वालोंके पर्व अधिक चौड़े और छोटे हैं। इसका अल्प भेद निम्न कोष्ठकद्वारा दर्शाया है।

स्वभाव	सोलियम	सैजिनेटा	डिब्रोथ्रिसेफेलस
विशेष स्थान	जर्मनी, इंग्लेण्ड, अमेरिका	संसार व्यापी	फिनलेण्ड, स्विटझरलेण्ड
आश्रय देने वाले	मनुष्य	मनुष्य	मनुष्य, कुत्ते
वहन करने वाले	वराह, कभी मनुष्य	पशु	पाइक आदि मछली
लम्बाई	६ से १२ फीट	१५ से २० फीट	२५ से ३० फीट
शिर	पिनके शिर जैसा छोटा	२ मिली मीटर	
	१ मिलीमीटर व्यासका	चौकोन	
शोषक इन्द्रिय	४, अंकुशसह	४, अंकुश रहित	अंकुश रहित
पर्व	१०००	२०००	३०००
पर्व लम्बाई चौड़ाई	१०×७ मिली० लम्बा पर्व	१७×८ मिली० लम्बा	१०×२ मिली० चौड़ा
जननेन्द्रिय	पीछे	पीछे	बीचमें
गर्भाशय	मोटा, शाखायुक्त	अति सूक्ष्म शाखायुक्त	पर्वके बीचमें गुलाबी झांई
अण्डेका कद	३५ माइक्रोन	१८×२५ माइक्रोन	६०×४० माइक्रोन

लक्षण—ये तीनों प्रकारके कृमि मनुष्यके उदरमें जाकर बढ़नेपर अनेक विकार उत्पन्न करते हैं। (कचित् किसी भाग्यशालीको कुछ भी नहीं होता)। इन कृमियोंसे नाक और गुदामें खुजली, वमन, उबाक, उदरशूल, अतिसार, अति क्षुधा, आक्षेपक वात (Convulsions), पाण्डु, मानसिक निर्बलता, मलमें कभी-कभी पर्व और अण्डे गिरना, रक्तमें श्वेताणुओंकी अति वृद्धि और तृतीय जातिके कृमि (फिराटीनिया) से गम्भीर पाण्डु आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। इनके अतिरिक्त छोटे बालकोंमें मूत्राश्मरी सदृश लक्षण भी होते हैं।

६० टिनिया एकिनोकोकस।

(Taenea Echinococcus-Dog Taenea)

ये कृमि कुत्ते, बिल्ली, लोमड़ी, गीदड़, भेड़ियों आदिके उदरमें होते हैं; और मनुष्य, भेड़, बैल और सूअरोंके उदरमें आबादी करते हैं। मनुष्यके उदरमें जाकर विशेषतः यकृत्‌में या कचित् अन्य इन्द्रियोंमें जाता है, वहाँपर अपने चारों ओर एक द्रव युक्त ग्रन्थि (Hydatid cyst) यकृत्, फुफ्फुस, मस्तिष्क, बस्ति, हृदय आदिमें उत्पन्न कर देता है। इसके सिर, ४ पोषक इन्द्रियाँ और ३-४ पर्व रहते हैं। प्रौढ़ कृमिकी लम्बाई ¼ इञ्च होती है। इसके सिरपर २० तक वडिश होते हैं। इसकी आबादी अत्यधिक परिमाणमें बढ़ जाती है।

यह कृमि मनुष्योंको विशेषतः पालतू कुत्ते द्वारा मिल जाता है। पालतू कुत्तेकी गुदापर कभी हाथ लग जानेपर मलमें रहे हुए अण्डे हाथको लग जाते हैं। फिर कोई वस्तु खानेके साथ वे अण्डे उदरमें चले जाते हैं। कचित् बागमें कुत्ता मलत्याग करता है। फिर जलप्रवाहके साथ शाकको मलमें रहे हुए अण्डे लग जाते हैं। वे शाक बिना धोये खानेसे अण्डेका प्रवेश मनुष्यके उदरमें हो जाता है।

लक्षण—यकृत् ग्रन्थिका वर्णन चिकित्सातत्त्वप्रदीप द्वितीय खण्डमें किया है। फुफ्फुस, बस्ति, मस्तिष्क आदिपर होनेपर उन स्थानोंके अर्बुदके समान लक्षण उत्पन्न कराते हैं। हृदयमें द्रव ग्रन्थि हो जाय, तो अकस्मात् मृत्यु हो जाती है।

यह द्रव ग्रन्थि ५-६ इञ्च व्यासकी हो जाती है। वह सूख कर चूना सदृश बन जाती है या पूयमय बन जाती है। फूट जानेपर उदर्य्याकला, आमाशय, अन्त्र, फुफ्फुसावरण, अधरा महाशिरा या पित्त नलिकाको विकृत करती है।

साध्यासाध्यता—यह गम्भीर रोग है। प्रायः द्रव ग्रन्थि मरकर सूख जाती

है। फूटनेपर या पूय होनेपर घातक बन जाती है।

चिकित्सा—इसकी औषध चिकित्सा नहीं होती। यदि हो सके तो रक्त-स्राव न फैले उस तरह अस्त्र चिकित्सा करनी चाहिये।

३० एस्केरिसलुम्ब्रिकॉइडस।

(गण्डूपदोपमा-महा गुदा-गोल कृमि—
Ascaris Lumbricoides-Round worms)

ये कृमि केंचवेके सदृश गोल, चिकने, लम्बे, तेजस्वी तथा कुछ श्वेत, पीताभ या रक्ताभ वर्णके होते हैं इनमें नर-मादा पृथक् पृथक् होते हैं। नरकी लम्बाई लगभग ६ से १० इञ्च, व्यास ⅛ इञ्च तथा मादाकी लम्बाई ८ से १६ इञ्च व्यास ¼ इञ्च होता है मादाकी पूछ सीधी और नरकी मुड़ी हुई होती है। ये मनुष्य और सूअरके लघु अन्त्रमें मिलते हैं। इसके अण्डे मलमें निकलते हैं। उनकी लम्बाई-चौड़ाई ७०×६० माइक्रोन होती है। अण्डे यकृत्, फुफ्फुस, फिर श्वासनलिका, स्वरयन्त्र, अन्ननलिका, आमाशय और अन्त्र आदिमें बढ़ते हैं। ये बड़े मनुष्योंकी अपेक्षा बालकोंमें अधिक होते हैं। ये अन्त्रमेंसे जब आमाशयमें आ जाते हैं, तब वान्तिके साथ बाहर निकल जाते हैं। ये रोगियोंको अनेक वर्षों तक दुःख देते रहते हैं कृमि १-२ या अधिक हो जाते हैं।

सम्प्राप्ति—शवका छेदन करनेपर कृमि मुख्यतः छोटे अन्त्रके ऊपरके हिस्सेमें मिलते हैं। ये पित्त नलिका और अग्न्याशय नलिकाके स्रावका अवरोध करते हैं। इस तरह उपान्त्र और अन्त्रमें भी प्रतिबंध करते हैं। ये अन्त्रका भेदन कर उदर्य्याकला प्रदाह (Peritonitis) उत्पन्न करा देते हैं।

लक्षण—रोगी अकस्मात् प्रायः नाड़ी विकृति जनित लक्षणों (अपचन, आफरा, त्वचामें वेदना, कण्डू, शीत पित्त आदि) का कथन करता है। बालकोंमें चिड़चिड़ापन और आक्षेप भी प्रतीत होते हैं। कईको तमक श्वास और प्रवाहिकाके लक्षण उपस्थित होते हैं। आमाशयसे रात्रिको अन्ननलिकाद्वारा मुँह या नाकमें आजाते हैं। इसके बाल-कृमि फुफ्फुसमें प्रवेश करते हैं तब ज्वर, कफवृद्धि और बार-बार कास आना आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

इस कृमिके हेतुसे मुँहमे दुर्गन्ध निकलना, नाकमें और गुदामें खुजली चलना, निद्रामें दाँत कटकटाना, पाण्डुता आना, मंद ज्वर रहना, बालकोंमें आक्षेप तथा कभी मस्तिष्क प्रदाह आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

उपद्रव—ये कृमि अति चल होनेसे विविध उपद्रव उत्पन्न कराते हैं। पित्त नलिकाके स्रावका रोध करके कामला, फुफ्फुस प्रदाह, अन्त्र भेदन करके उदर्य्याकला प्रदाह, मलावरोध, अतिसार, प्रवाहिका आदि विविध उपद्रवोंकी प्राप्ति कराते हैं, जिससे लक्षणोंमें भेद हो जाता है।

ऊ. ट्रायकिना स्पाइरेलिस।

(रूढ़ धान्यांकुर कृमि—Trichina Spiralis)

ये कृमि बड़ी आयु वालेकी देहमें होते हैं। सूतके डोरे जैसे दीखते हैं। नरकी लम्बाई १·५ मिलीमीटर और व्यास ०·०४ मिलीमीटर तथा मादाकी लम्बाई ३ से ४ मिलीमीटर ($\frac{1}{8}$ इंच) और व्यास ०·०६ मिलीमीटर होता है। ये सूअर, खरगोश, बकरे, कुत्ते, चूहे आदि अनेक प्राणियोंमें रहते हैं। इनसे आक्रमित पशुओंके कच्चे या कम उबाले हुए मांस खानेपर यह रोग होता है। इन पशुओंको भी इन कृमियुक्त मल खानेपर इस रोगकी प्राप्ति होती है।

इन कृमियोंकी उत्पत्ति आंतोंमें होती है और कुछ सप्ताह तक आंतोंमें रहते हैं। फिर महा प्राचीरा पेशी, ग्रीवा पेशी, बाहु पेशी, पर्शुकान्तर पेशी आदिमें प्रवेश कर जाते हैं। फिर वहाँ मांस खाते रहते हैं और विपोत्पत्ति करते रहते हैं। यह रोग अमेरिका और जर्मनीमें अधिक होता है।

देहमें ३ आकारमें प्रतीत होते हैं—१ वयस्क:(Adult form); २. भ्रूण रूप (Embryos ; और ३. बालकृमि (Larval form); इसकी लम्बाई ०.६ से १ मिलीमीटर होती है।

मांसपेशियोंमें भ्रूण घुस जाते हैं। फिर वहाँ वृद्धि पाते हैं और विविध वेदना मय लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चयकाल—५ से १६ दिन।

लक्षण—इस कृमि विकारमें निम्न ३ अवस्थायें प्रतीत होती हैं—

१. आक्रमणावस्था—व्याकुलता, वमन, जल सदृश पतले शौच (अतिसार) तथा प्रल पसह ज्वर आदि लक्षण होते हैं।

२. स्थानान्तरावस्था—(Migration Stage)—दूसरे सप्ताहमें हाथ पैरोंमें दर्द होता है श्वासोच्छ्वास और चर्वण क्रियामें कष्ट होता है। शीतपित्त सदृश धब्बे तथा पैर और मुँहपर शोथ प्रतीत होते हैं। अम्ल रंगेच्छु लगभग ४०% सह लसीकाणु प्रति मिलीमीटर २०००० प्रतीत होते हैं। पूर्ण आयुको प्राप्त कृमि मलमें क्वचित् ही निकलता है।

३. आवरणावस्था (Encystment stage)—इस अवस्थाकी वृद्धि होने पर कृमि थैलियोंमें बन्द हो जाते हैं। फिर किसी प्रकारका लक्षण उपस्थित नहीं होता।

कभी-कभी यह रोग यूरोपमें जनपद व्यापी बन जाता है। फिर पचनेन्द्रिय संस्थानके लक्षण अति कम प्रकट होते हैं। कितने ही रोगियोंको स्पष्ट मलावरोध प्रतीत होता है। आक्रमण कालमें १०१°-१०२° ज्वर, मुँह और पलकपर शोथ, कभी-कभी हाथ-पैरोंपर शोथ तथा आगेकी ओर शिरदर्द होता है। नाखूनोंके नीचे कुछ रक्तस्राव होता है। कितने ही रोगियोंमें मस्तिष्कावरणप्रदाह या मस्तिष्क प्रदाहके लक्षण भासते हैं, तब कइयोंमें शुष्क कास उपस्थित होती है। आक्रमणके ३ दिनके पश्चात् मांसपेशियोंमें वेदना तथा अचिरस्थायी मानसिक विकृति (उन्माद Melancholia के सदृश) उपस्थित होती है। ग्रन्थियोंमें कृमि बन्द हो जानेपर कोई लक्षण प्रकट नहीं होता; किन्तु शवच्छेदन करनेपर महाप्राचीरा पेशीमें कृमिमय ग्रन्थि पाई जाती है।

रोगविनिर्णय—इस रोगके तथा वृक्कप्रदाह, मस्तिष्क शोथजनित परिखा प्रदाहके अनेक लक्षण मिल जाते हैं। मांसपेशियोंकी वेदना आशुकारी आमवातकी भ्रान्ति कराता है। वातप्रकोपज लक्षण मस्तिष्क प्रदाह और मस्तिष्कावरण-प्रदाहका भास कराते हैं। ज्वर और पचनेन्द्रिय संस्थानके लक्षण आहार-विष (अपचन) या अन्त्रपर कीटाणु आक्रमणका संदेह कराते हैं। प्राथमिक ज्वर और शुष्क कास ये विकृतियां इन्फ्लुएञ्जा या श्वासप्रणालिका प्रदाहके कारण भासमान होती हैं। यथार्थ निर्णय ज्वर, लसीकाणु और अम्लरंगेच्छु श्वेताणुओंकी परीक्षासे होता है। बालकृमि (Larval) २-३ सप्ताहमें रक्तके भीतर प्रवेशकर जाते हैं। फिर परीक्षा करनेपर निर्णय होता है। दैववशात् मलमें पक आयु वाला कृमि मिल जाय तो भी निर्णय हो जाता है।

क्रम और उपद्रव—ज्वरावस्था २-३ सप्ताह तक तथा मांसपेशियोंकी वेदना और निर्बलता कुछ महीनोंतक रहती है। यदि हृदयकी मांसपेशीका प्रदाह या मस्तिष्क प्रदाह हो जाय तो रोगीकी मृत्यु हो जाती है।

ए. अंक्लॉयलोस्टोमा ड्यूओडिनेली।

(अन्त्राद कृमि-हुक वर्म—Ankylostoma duodenale—Hook worm)

यह कृमि उष्ण कटिबन्ध और उप उष्ण कटिबन्धके देशोंमें अधिक फैलता है। यह रोग छोटे बालक और बड़ोंको भी हो जाता है। भारतमें यह अत्यधिक कष्टप्रद बना है। इस कृमिके दो प्रकार हैं। पुराने जगत्में अंकायलो-

स्टोमा ड्यू ओडिनेली तथा नये जगत् (अमेरिका) में नेकटर अमेरिकन्स (Necator americanus) मिलते हैं। दोनों कृमि गोल सूत सदृश पतले और बहुत छोटे होते हैं। इनमेंसे भारतीय जातिका यहाँ वर्णन करते हैं।

अंकायलोस्टोमाके नर लगभग १० मिली० मी लम्बे और ०.५ मिली० मी व्यासके होते हैं। मादाकी लम्बाई १० से १८ मिली० मी होती है। इनका मुँह मुड़ा हुआ रहता है, उसमें ४ दांत होते हैं। ये विशेषत: मध्यान्त्रक (Jejunum) में रहते हैं। मुँहसे श्लैष्मिक कलामें चिपके रहते हैं और रक्त पीते रहते हैं। कितने ही अम्ल रंगेच्छु लसीकाणु उसके चारों ओर उपस्थित होते हैं।
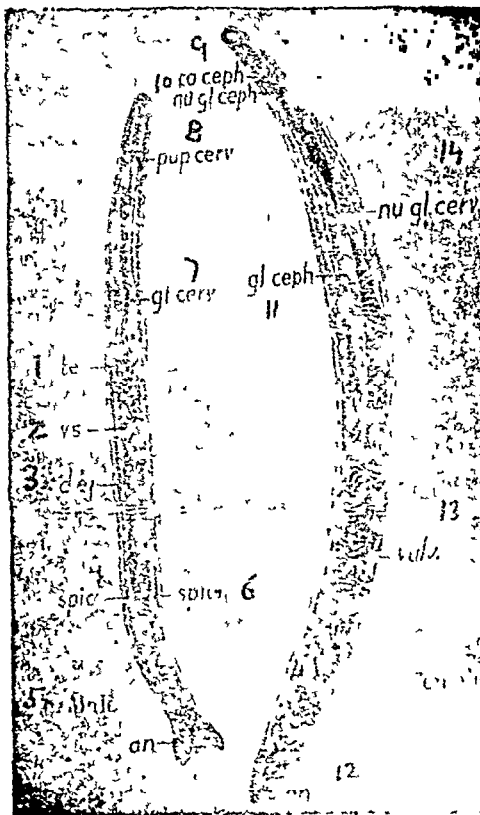
चित्र नं० ४३
अन्त्राद कृमि नर-मादा।
(नर छोटा और मादा बड़ी है)

सम्प्राप्ति—इसके अण्डे लम्बे गोल रहते हैं। लम्बाई ६० से ७५ माइक्रोन तथा व्यास ३५ माइक्रोन होता है। ये अण्डे और कृमि मलसे पृथक् होनेपर जल और गीली मिट्टी में बढ़ते हैं। फिर अण्डोंमेंसे बाल कृमि निकल मनुष्य की त्वचाका स्पर्श होनेपर वहाँ से प्रविष्ट होकर लसीका वाहिनियोंद्वारा हृदय, श्वास-नलिका और फुफ्फुसोंमें पहुँच जाते हैं। फिर कफके साथ बाहर निकलते हैं। कितने ही श्वास नलिकामेंसे अन्ननलिका, आमाशय और अन्त्रमें पहुँचते हैं। इस तरह फैलनेमें इनको लगभग ७ से १० दिन लगते हैं। कभी अण्डे जल द्वारा उदरमें जाते हैं।

शव-छेदन करनेपर देह अच्छी तरह पोषित किन्तु निस्तेज होती है। हृदय, यकृत् और वृक्क वसामय होते हैं। लघु अन्त्रकी श्लैष्मिक कलामें स्थानिक रक्तस्राव प्रतीत होता है, गम्भीर अवस्था भासती है। अन्त्रमें एक हजारसे अधिक कृमि मिल जाते हैं।

पैरोंके तलमें पिटिका या पामा होनेपर वह पकती है और उसे भरनेमें १ सप्ताह लग जाता है। कितने ही महीनोंके पहले ये सर्वाङ्गिक लक्षण होते हैं।

लक्षण—निर्बलता बढ़ते जाना, श्वास ऊपर-ऊपर चलना, हृत्स्पंदवर्धन आदि लक्षण प्रकट होते हैं। पचनविकृति. आफरा. मलावरोध (या अतिसार) हो जाते हैं। परीक्षा करनेपर निस्तेज और पीला मुखमण्डल, उत्ताप कुछ बढ़ा हुआ, हृदय प्रसारण सह, पैरोंपर कुछ शोथ प्लीहाकी कुछ वृद्धि, रक्तपरीक्षा करनेपर वर्णकी न्यूनता युक्त लघु रक्ताणु मय पाण्डुकी स्थिति प्रतीत होना, रक्त शोषण जितना अधिक हो उतना अधिक पाण्डु. अम्लरंगेच्छु लगभग २० प्रतिशत मिलना, मलमें रक्तजाना (कभी आँखोंसे प्रतीत होता है; कभी रक्त-परीक्षासे निर्णित होता है) तथा मलमें अण्डे मिलना आदि चिह्न विदित होते हैं।

स्थितिकाल—अनेक वर्षों तक। आशुकारी आक्रमण क्वचित् ही होता है।

रोगविनिर्णय—मल परीक्षा करनेपर निःसंदेह निर्णय हो जाता है।

उपद्रव—कभी बालकोंको रक्त और आमसह अतिसार और प्रवाहिका करा देते हैं। इस तरह वृक्कप्रदाह और अनेक संधिस्थानोंका प्रदाह आदि हो जाते हैं।

ऐ. ऑक्सियूरिस वर्मिकुलेरिस।

(चूरन कृमि—थ्रेड वर्म—Oxyuris Vermicularis—Thread worm)

इस जातिके नरकी लम्बाई ४ मिली० मी० और मादाकी लम्बाई १० मिली० मी० होती है। नरकी पूञ्छ मुड़ी हुई और मादाकी पूञ्छ नोकदार होती है। ये कृमि सफेद, डोरी सदृश होते हैं। प्रायः ये मलमें बड़े परिमाणमें निकल आते हैं। कभी-कभी मलमें रहे हुए अण्डे मक्खियों द्वारा जल या भोजनके पदार्थमें मिल जाते हैं।

निदान—इस कृमिकी प्राप्ति अन्न और शाक द्वारा होती है। भोजन या जलके साथ अण्डे आमाशयमें जाते हैं. फिर लघु अन्त्रमें बड़े होते हैं। पश्चात् नर मादाका समागम होनेपर नर मर जाता है और मादा उण्डुकमें चली जाती है। वहाँपर अण्डे देती है। कितनी ही गुद-नलिकामें जाती हैं और गुदासे बाहर निकलती हैं। विशेषतः उष्णता बढ़नेपर बिछौनेमें जाती है और अति कण्डू उत्पन्न करती हैं। रोगी नाखूनोंसे खाज करता है जिससे अण्डे नाखूनों में घुस जाते हैं। फिर भोजन करनेपर मुँहमें होकर उदरमें चले जाते हैं। परिणाममें पुनराक्रमण होता है।

लक्षण—बालकोंमें बेचैनी और उत्तेजनाकी वृद्धि होती है। गुदासे काच निकलना, गुदद्वारमें खुजली चलना, मलसे कृमि निकलना, ये मुख्य लक्षण हैं। कभी मूत्रमार्ग और गर्भाशय नलिकामें उग्रता और गुदनलिकाका पतन होता है। स्वास्थ्य कुछ गिरता है; कफ स्राव होता है; पचन क्रिया बिगड़ती है तथा नाकमें खुजली चलती है। रक्त परीक्षा करनेपर कभी-कभी कुछ अंशमें अम्लरंगेच्छु लसीकाणु उपस्थित होते हैं।

ओ. फाइलेरिया।

(Filaria)

इसकी मुख्य ३ जातियां हैं—१. फाइलेरिया बेन्क्राफ्टी; २. फाइलेरिया लोआ (लोआ लोआ); ३. फाइलेरिया परस्टेन्स।

१. फाइलेरिया बेन्क्राफ्टी (Filaria Bancrafti)—इसका आक्रमण मच्छरोंके दंश द्वारा होता है। नर कृमि १॥ इञ्च लम्बा और मादा कृमि २ से ४ इञ्च बड़ा होता है। ये बाल सदृश पतले होते हैं। इनके भ्रूण दिनके समय सीमान्तर्गत रक्ताभिसरणमें नहीं मिलते विशेषतः फुफ्फुस और उरःपञ्जरके रक्ताशयमें रहते हैं। रोगी सो जानेपर मध्यरात्रिको सीमान्तर्गत रक्ताभिसरणमें जाते हैं। यदि रोगी दिनमें सो जाता है तो कृमि उस समयके लिये दिनमें भी आ जाते हैं। फिर रोगी उठनेपर पुनः अपने स्थानोंमें चले जाते हैं। यह कृमि भारत, चीन, जापान, मलाया, आस्ट्रेलिया, आफ्रिका आदि प्रदेशोंमें फैला है।

सम्प्राप्ति—इस कृमिप्रकोपसे मुख्य रसायनियोंमें अवरोध तथा गौण प्रदाह होता है। कभी घन शोथ होकर श्लीपद रोग और उसके लक्षण रूप ज्वर आदि उपस्थित होते हैं। यदि मुख्य रसकुल्या (Thoracic duct) का अवरोध होता है या लसीका ग्रन्थिका मूत्रमार्गमें भेदन होता है तो वृक्क और मूत्राशय प्रसारित होते हैं। फिर पिष्टमेह (Chyluria) हो जाता है। इनके अतिरिक्त विविध स्थानोंमें ये कृमि विकृति कर देते हैं।

चयकाल—४-५ वर्ष।

लक्षण—श्लीपद होनेपर ज्वर, वेदना, शोथ आदि उत्पन्न होते हैं। पिष्टमेह होनेपर पेशाब दूध-सा होता है फिर पाण्डु हो जाता है। विशेष विचार दोनों रोगोंके प्रकरणोंमें किया जायगा।

स्थितिकाल—अनेक वर्षों तक।

लोआ लोआ—कृमिके भ्रूण केवल दिनमें उपस्थित होते हैं। ये संयोजक तन्तुओंमें फिरते हैं। रक्तमें अम्लरंगेच्छु और श्वेताणुओंकी वृद्धि होती है।

फाइलेरिया परस्टेन्स—कृमियोंके भ्रूण विदित हुए हैं; किन्तु उनके क्रम आदि अभी अविदित हैं।

औ. ड्रेकनकुलस मेडीनेन्सिस।

(Dracunculus (Filaria) Medinensis)

यह कृमि भारत और आफ्रिकामें मिलता है। यह कृमि स्नायुरोग (Guinea-worm) उत्पन्न कराता है। स्त्री कृमिकी लम्बाई ४० सेण्टीमीटर (६ इञ्च से १६ इञ्च) तथा चौड़ाई १·५ मिली० मी० होती है। यह लम्बे सूतके तन्तु समान (गोल) होता है, पुच्छ कुछ मुड़ी हुई होती है। नरका बोध बहुत कम हुआ है। वह बहुधा समागम होनेपर मर जाता होगा। यह कृमि जलके साथ आमाशयमें पहुँचता है। मादा सगर्भा होनेपर अन्त्रकी गहराईमें चली जाती है। संयोजक तन्तुओंमें पहुँचती है और बढ़ती है। फिर तन्तुओंमें फिरती है। विशेषत: पैरोंमें गमन करती है। कभी देहके अन्य अवयवोंकी उप त्वचाके नीचे भी चली जाती है। फिर वहाँ छोटा फाला होता है और वह फूटता है। उसमेंसे पहले उसका मस्तक बाहर निकलता है। कभी-कभी कृमिका त्वचाके नीचे रूपान्तर होकर चूना बन जाता है।

लक्षण—पिटिका स्थानमें भयंकर वेदना, शीतपित्त, ज्वर, पिटिका फटनेके समय अति निर्बलता आना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। कभी-कभी एकाधिक (५-१०) स्नायु बाहर निकल आते हैं और रोगीको अति पीड़ित कर देते हैं।

अं. ट्राइकोसेफेलस डिस्पार।

(Trichocephalus Dispar-Whip worm)

इस जातिके कृमिमें नरकी लम्बाई ४० मि० मी० (१॥ इञ्च) तथा मादाकी लम्बाई लगभग ५० मि० मी० (२ इञ्च) होती है। ये बहुधा उण्डूक और बृहदन्त्रमें रहते हैं। इनका आकार लगभग चाबुक (Whip) के समान होता है। आगेका हिस्सा बहुत पतला और पीछेका हिस्सा मोटा होता है। मादा सीधी और नर मुड़ा हुआ होता है। कृमि धूम्र रंगके तथा अण्डे गहरे पिंगल रंगके होते हैं। यह कृमि जलके साथ या बिना छना जल भोजनके पदार्थमें मिलानेपर भोजनके साथ उदरमें आता है।

लक्षण—इसके आक्रमणसे क्या-क्या लक्षण प्रकाशित होते हैं, यह अभी तक विदित नहीं हुआ। कल्पना है, कि इससे उपान्त्र प्रदाह या पाण्डु उत्पन्न होता होगा। इसके अण्डे मलमें मिल जाते हैं।

C. ट्रेमेटोड

(Trematode-Fluke)

ये कृमि मेटेझोल पेरेसाइट्स Metazoal Parasites) वर्गके अन्तर्गत हैं। मनुष्योंको प्राप्त होने वाले रोगोंकी दृष्टिसे इनके मुख्य ४ समूह हैं। ये उष्ण कटिबन्ध और सम शीतोष्ण कटिबन्धमें मिलते हैं। इनका आकार पानके समान (क्वचित् नलिकाकार) होता है। ये कृमि मुँह वाले होते हैं। इनको एक या अधिक शोषक इन्द्रिय होती हैं। अन्त्र दो शाखा वाला होता है। दोनों शाखाएँ अन्त्रमें बन्द-सी होती हैं। इन कृमियोंसे निम्नानुसार विकारोंकी सम्प्राप्ति होती है :—

१. फुफ्फुस व्याधि (Pulmonary Distomiasis)—यह व्याधि पारागोनिमस वेस्टरमनाई (Paragonimus westermanii) से प्राप्त होती है। इसकी लम्बाई ८ से १६ मिली० मी० तथा चौडाई ४ से ८ मिली० मी० होती है। यह फुफ्फुसमें मिलता है और यह विकार मुख्यत: चीन और जापानमें होता है। इसमें मुँहसे रक्तस्राव कफ, क्षय सदृश-स्थिति, थूंकमें अण्डे मिलना आदि लक्षण होते हैं। इसकी कोई विशेष चिकित्सा नहीं है।

२. यकृद् व्याधि (Hepatic Distomiasis)—इस व्याधिके उत्पादक अनेक कृमि हैं। मनुष्य कचित् ही आक्रमित होता है। आक्रमण होनेपर यकृद्दाल्युदर और जलोदर होता है।

३. अन्त्र व्याधि (Intestinal Distomiasis)—कितनेही कृमि अन्त्रविकार उत्पन्न करते हैं।

४. रक्तमेह व्याधि (Schistosomiasis)—इसके उत्पादक कृमिको बिलहार्झिया कहते हैं।

अ:. स्किस्टोसोमा।

(Schistosoma Bilharzia)

इस प्रकारके कृमिके नर ११ से १५ मिली० मी० लम्बे और १ मिली० मी० चोड़े तथा मादा अधिक लम्बी किन्तु डोरी सदृश होती है। अण्डे १६०×६० माइक्रोन लम्बे चौड़े होते हैं। इनमें ३ जातियां हैं।

१. स्किस्टोसोमा हिमे टोबियम् या बिलहार्जिया हिमेटोबिया—यह मूत्रमार्गके रोग उत्पन्न करता है। इससे जानपदिक रक्तमेह फैलता है।

२. शिकस्टोसोमा मेनसनी—यह अन्त्र विकृति कराता है।

३. शिकस्टोसोमा जापानिकम्—यह यकृत्प्लीहाको दूषित बनाता है।

१. **शिकस्टोसोमा हिमेटोबियम** (Schistosoma Haematobium)-इसके नर चपटे और मादा गोल हैं। यह भारत तथा उत्तर-दक्षिण आफ्रिकामें खूब फैला है। मिश्रमें तो ८० प्रतिशत जनता इससे पीड़ित है। शवच्छेदन करनेपर मूत्राशयकी श्लैष्मिक कला लाल और मोटी भासती है, मांसमय दीवारकी वृद्धि होती है, पौरुषग्रन्थि बढ़ जाती है, गर्भाशय प्रसारित होता है, बस्ति और पौरुषग्रन्थिकी श्लैष्मिक कलाके नीचे अण्डे प्रतीत होते हैं। यकृत्की विकृति हो जाती है।

चय काल—१ से ३ मास।

लक्षण—कुछ दिनोंके (४ से १० सप्ताह) पश्चात् लक्षण उपस्थित होनेपर ज्वर, व्याकुलता, कफवृद्धि, शीतपित्त, अतिसार और कभी उदर-प्रदेशमें वेदना होती है।

रक्तपरीक्षा करनेपर अम्लरंगेच्छु ५० प्रतिशत हो जाते हैं। स्थानिक लक्षण कुछ महीनों (या कुछ वर्षों) तक लक्ष्यमें नहीं आते। फिर मूत्र मार्गसे रक्त जाता है तथा विटप या उसके पासमें वेदना होती है। प्रायः दस्तमें भी आम और रक्त जाने लगता है।

रोगी निस्तेज और पीला हो जाता है। धीरे-धीरे गम्भीर पाण्डु हो जाता है। मूत्रमें अण्डे, रक्ताणु और पूय कोषाणु मिलते हैं। रक्त परीक्षा करनेपर श्वेताणु प्रति मिली मीटर १५००० लगभग और अम्लरंगेच्छु लगभग १२% मिलते हैं। मूत्राशय दर्शक यन्त्रसे देखनेपर मूत्राशयकी श्लैष्मिक कलाका शोथ प्रतीत होता है।

साध्यासाध्यता—कीटाणुओंके आक्रमणकी गम्भीरतापर अवलम्बित है।

स्थितिकाल—अनेक वर्षों पर्यन्त।

२. **शिकस्टोसोमा मेनसनी** (Schistosoma Mansoni)—ये कृमि आन्त्रिकी शिरामें मिलते हैं। उनके अण्डे गुद-नलिकामें पहुँच जाते हैं। शव-च्छेदन करनेपर बृहदन्त्र और गुद-नलिकाकी श्लैष्मिक कला मोटी मिलती है। वहाँ पिटिका होकर शोथ आ जाता है। यकृत्की विशीर्णता होती है और उसमें अण्डे मिलते हैं।

लक्षण—मलमें आम और रक्त जाता है तथा किनछना पड़ता है। मलमें

अण्डे मिलते हैं। ज्वर, शीतपित्त और प्रवाहिकाके लक्षण उपस्थित होते हैं।

उपद्रव—पिटकाओंकी उत्पत्ति, स्त्रियोंको योनिमार्ग प्रदाह, कभी मूत्राशय प्रभावित हो जाना आदि उपस्थित होते हैं।

३. शिस्टोसोमा जैपनिकम् (Schistosoma Japanicum)—ये कृमि आन्त्रिक शिरायेंसे मिलते हैं। इनके अण्डे बृहदन्त्रमें प्रवेश करते हैं। शवच्छेदन करनेपर यकृत्प्लीहावृद्धि, किन्तु उनमें अण्डे न रहना, मस्तिष्कमेंसे अण्डे मिलना, बृहदन्त्रकी श्लैष्मिक कला मोटी और मृदु होती है।

लक्षण—प्रथमावस्थामें ज्वर, शीतपित्त, विविध प्रकारके धमन संस्थानके लक्षण तथा रक्तमें अम्लरंगेच्छु श्वेताणु बढ़ना आदि; दूसरी अवस्थामें अन्त्र और प्रवाहिकाके लक्षण तथा तीसरी अवस्थामें यकृत्प्लीहावृद्धि, देह धीरे-धीरे गलते जाना, पाण्डु और जलोदर आदि प्रकाशित होते हैं।

स्थितिकाल—अनेक वर्ष पर्यन्त।

कृमि चिकित्सोपयोगी सूचना।

इस कृमि रोगके आरम्भमें अपकर्षण चिकित्सा ही करनी चाहिये। फिर संशमन चिकित्सा और मूल हेतुको दूर करना चाहिये।

इस हेतुसे पहले स्नेहन, स्वेदन कराकर वमन करावें। फिर रात्रिको गुड़ आदि मधुर पदार्थ खिलावें, जिससे कृमि अपने स्थानसे च्युत हों। पश्चात् प्रातःकाल जव, कुलथी और सुरसादि गणकी औषधका गोमूत्रमें अर्धावशेष किया हुआ क्वाथ तथा वायविडङ्गसे सिद्ध किये हुए तैल, दोनोंको मिलाकर बस्ति देवें। पश्चात निवाये जलसे स्नान कराकर कृमिघ्न औषधियोंके क्वाथसे बना हुआ भोजन देवें। फिर निशोथका जुलाब देकर वायविडङ्गसे सिद्ध किये हुए तैलकी अनुवासन बस्ति देवें। सुरसादि गणका वर्णन औषध गुणधर्म विवेचनमें किया है।

वमन करानेके लिये सुरसादि गणकी औषधियोंसे सिद्ध घृतके साथ औषध देनेसे आमाशय-विकार सरलतापूर्वक नष्ट हो जाता है।

पुरीषज कृमि निकालनेके लिये बस्ति और विरेचन हितकारक हैं। कफज कृमि मस्तिष्क आदि स्थानोंमें होनेपर शिरोविरेचन, नस्य, वमन और शमन आदि चिकित्सा करें। रक्तज कृमियोंके लिये कुष्ठ, श्लीपद आदि रोगोंमें कही हुई चिकित्सा करनी चाहिये।

कदुद्दाना—मांस, मछलीको अच्छी तरह जाँच कर लें। कृमि युक्त हो

तो काममें न लें। मांसको अच्छी तरह पकावें।

ट्राइकिना—दूषित मांसका त्याग करें। मांसको अच्छी तरह पकाकर खावें। रोगीको इच्छाभेदी, आमविध्वंसिनी वटी, नारायण चूर्ण या थूहरके दूध वाली औषध विरेचनार्थ देवें। डाक्टरी मत अनुसार लवण प्रधान विरेचन दें।

अन्त्राद-कृमि (हुक वर्म)—इस रोगसे पीड़ितोंके उपयोग वाली टट्टीमें अन्य मनुष्योंको शौच नहीं जाना चाहिये। पैरोंमें जूते अवश्य पहनना चाहिये। जलको उबाल छान कर फिर उपयोगमें लेना चाहिये।

रोगीको भोजन प्रवाही देवें तथा लवण प्रधान विरेचन देकर उदर-शुद्धि करानी चाहिये।

फाइलेरिया—मच्छरोंसे बचें। पिष्ट मेहमें विश्रान्ति, शुष्क भोजन और विरेचन हितकर हैं। घी, तैलका सेवन हानिकर है।

श्लीपदमें कीटाणुओंका आक्रमण न हो जाय, यह सम्हालें। ज्वर आ जाने पर विश्रान्ति और विरेचन लाभदायक हैं। अस्त्र चिकित्सा हानिकर है।

क्षुरव कृमि (थ्रेड वर्म)—शाकका उपयोग करनेके पहले अच्छी तरह धोवें। जलको छान उबालकर काममें लेवें। पचन-विकृति हो तो भोजनमें शक्कर और कर्बोदकका उपयोग न करें।

स्नायु (ड्रेकनकुलस) नारू—जलको गरम कर छानकर फिर पीने, भोजन बनाने और स्नानके लिये उपयोगमें लेवें।

नारूको कभी खींचकर निकालनेका प्रयत्न न करें। टूट जानेपर भयङ्कर आपत्ति उत्पन्न करता है।

फाला होनेपर उसके चारों ओर जलमें गूंधे हुए उड़दके आटेसे मेड़ बाँधें। फिर तिलके तेलको अच्छी तरह गरम कर फालेपर डाल दें। गरम तेल लगने पर नारु फालेके भीतर तत्काल आकर मर जाता है। फिर एक आध मिनटके बाद तेलको रुईके फोहेसे निकाल लें और फालेको फोड़ कर नारुको निकाल डालें। फालेके नीचेकी त्वचाको कुछ भी हानि नहीं पहुँचती। नारुका मुँह बाहर निकला हो तो ऊपर स्नायुहर मलहम लगावें।

शरीरके भीतर रहे हुए नारुओं और अण्डोंको जलानेके लिये प्रातः सायं शंख भस्म ६-६ रत्ती घृतके साथ १५ दिन तक सेवन करानी चाहिये।

बाहर निकले हुए नारुपर कौंचकी फलीके काँटे लगादें तो नारु बाहर

निकल आता है या हींग अथवा कुचिला घिसकर लेपकर देनेसे मर जाता है।

कृमि चिकित्सा।

कफज कृमि नाशक औषधियाँ—(१) रसतन्त्रसारमें लिखी हुई-कृमि मुद्गर रस (मुस्तादि क्वाथके साथ), कृमिघ्न गुटिका, अग्नितुण्डी वटी (सूक्ष्म कृमिके लिये) कृमिकुठार रस, कृमिघ्न क्वाथ, मुस्तादि क्वाथ ये सब आमाशयमें अवस्थित कृमि, जिनमें उबाक और वमन प्रधान लक्षण हों, उनपर अति हितकारक हैं ।

(२) त्रिफलादि घृत—हरड़, बहेड़ा, आँवला, निशोथ, दन्तीमूल, बच, कपीला इन ७ औषधियोंको समभाग मिला कल्क करें। फिर कल्कसे ४ गुना घी और घीसे ४ गुना गोमूत्र मिलाकर यथा विधि घृतपाक करें। इस घृतमें १ से २ तोले घृत दिनमें २ समय कुछ दिनों तक देते रहनेसे कृमि नष्ट हो जाते हैं।

(३) पारसीकादि चूर्ण—किरमाणी अजवायन, नागरमोथा, पीपल, काकड़ासिंगी, बायविडङ्ग और अतीसको कूट, बारीक चूर्णकर ३-३ माशे शहदके साथ दिनमें २ समय देते रहनेसे कास, ज्वर, जीर्ण आमातिसार और वमन सह उदरके कृमि नष्ट हो जाते हैं। यह चूर्ण विशेषतः गोल कृमियोंके लिये है।

(४) त्रिकट्वादि कषाय—त्रिकटु, त्रिफला, इन्द्रजौ, नीमकी अन्तर छाल, निशोथ, बच और खैरसार इन ११ औषधियोंको समभाग मिला लें। इनमेंसे २-२ तोलेका क्वाथ कर गोमूत्रके अर्कके साथ दिनमें २ बार पिलाते रहने से संपूर्ण जातिके कृमि नष्ट हो जाते हैं। छोटे कृमियोंके लिये यह अधिक हितकर है।

(५) ½ से १ तोला गुड़ खाकर १० मिनट पश्चात् १॥ माशा किरमाणी अजवायन (Artemisia maritma) बासी जलके साथ प्रातः सायं लेनेसे कोष्ठगत कृमिसमूह थोड़े ही दिनोंमें गिर जाते हैं। यह प्रयोग गोल कृमियोंके लिये किया जाता है। छोटे छोटे कृमि (हुकवर्म और थ्रेडवर्म आदि) तथा गोल कृमियोंकी उत्पत्ति रोकने और उनसे उत्पन्न विषको नष्ट करनेमें वायविडङ्ग अति उपकारक है। यदि कृमिजन्य उदरवात, मंदाग्नि, पाण्डुता, कण्डू, त्वचाकी शुष्कता, भ्रान्ति, उबाक आदि लक्षण रहते हों, तो वे भी दूर हो जाते हैं। जीर्ण रोग होनेपर इसका सेवन ४-६ मास या अधिक समय तक कराया जाता है।

(६) वायविडंगका चूर्ण ३-३ माशे शहदके साथ दिनमें २ समय देते रहनेसे सूक्ष्म कृमिका नाश हो जाता है एवं अन्य अनेक प्रकारके कृमियोंकी उत्पत्ति रुक जाती है।

(७) नागरमोथा, आखुपर्णी, दन्ती, त्रिफला (हरड़ बहेड़ा आंवला), बाय विडंग इनका क्वाथ बना पिलानेसे कृमि तथा कृमिजन्य रोग नष्ट हो जाते हैं।

(८) पलाश बीज—का स्वरस बना, कुछ बूंदें शहद मिलाकर पीवें अथवा पलाश बीज कल्क ३-४ माशे छाछके साथ मिलाकर पिलानेसे कृमि नष्ट हो जाते हैं।

(९) नागरमोथेका स्वरस २-२ तोले प्रातःकाल १५-२० दिन तक पिलाते रहनेसे कृमिविकार नष्ट हो जाते हैं। आमाशयमें विकृति हो, उबाक आती रहती हो तब यह स्वरस पिलाया जाता है।

(१०) कपूर और केशर आध-आध रत्ती रात्रिको शहदके साथ चटानेसे कृमि मर जाते हैं।

(११) कोलकंद (प्याज सदृश जंगली कन्द) के रसमें थोड़ा बेसन मिला तेलमें एक दो पकवड़े तलकर खिलाने या इसमें आटा मिला; फिर रोटी बना कर खिलानेसे कृमि मर जाते हैं।

(१२) अजवायनका चूर्ण ३-३ माशे सुबह शीतल जलसे देनेसे कृमि समूह (विशेषतः सूक्ष्म कृमि) नष्ट हो जाते हैं तथा अजीर्ण और आमवातका भी नाश हो जाता है।

(१३) इन्द्रजौका चूर्ण १-१ माशा दिनमें ३ समय शीतल जलके साथ कुछ दिनों तक देनेसे कृमि, उदरशूल और कृमिप्रकोपसे होने वाले अतिसार आदि उपद्रव दूर होते हैं।

(१४) कड़वी तुम्बीके बीजोंका चूर्ण ३-३ माशे छाछके साथ कुछ दिनोंतक सुबह सेवन करानेसे उदरमें संगृहीत कृमि दूर हो जाते हैं।

(१५) छोटी इलायचीके दाने १ तोला तथा छोटी हरड़ और शुद्ध गंधक ३-३ तोले मिलाकर चूर्ण करें। इसमेंसे ३-३ माशे चूर्ण निवाये जलके साथ दिनमें २ समय देनेसे कृमि, बद्धकोष्ठ, दाह, त्वचा विकार और रक्तविकार दूर हो जाते हैं।

(१६) कपीलेका चूर्ण ४ से ६ माशे समान गुड़के साथ मिलाकर रोज रात्रिको देवें। फिर सुबह एरण्ड तैलका जुलाब दें। इस तरह ३-४ दिन तक देते रहनेसे कृमि गिर जाते हैं।

(१७) रात्रिको दो तोले खजूरके पत्तोंका क्वाथ कर सुबह ६ माशे शहद मिलाकर पिलानेसे कीड़े मर जाते हैं।

उदरावेष्टा कृमि—ये कृमि आँतोंमें ऐसे चिपटे रहते हैं कि अनेक विरेचक औषधियोंसे भी स्थानभ्रष्ट नहीं होते। इनके पर्व टूटते जाते हैं, फिर भी उत्पत्ति अधिक होनेसे वृद्धि अधिक हो जाती है। इसकी चिकित्सा जल्दी और शान्ति-पूर्वक अनेक दिनों तक पथ्य पालन सह करनी चाहिये।

प्रात:काल मुनक्का और कद्दूके बीजोंकी गिरी ५-५ तोले खिलावें फिर कपीला, उसारे रेवन, करंजकी गिरी और बायबिडंगका चूर्ण ६ रत्ती और अजवायनका सत्व आध रत्ती मिला शहदके साथ दें। ऊपर दो तोले अनारकी जड़का क्वाथ पिलावें। भोजनमें मूँग-चावलकी खिचड़ी या अन्य हल्का भोजन देवें। इस तरह शान्तिपूर्वक १०-१५ दिन तक चिकित्सा करते रहनेसे कद्दूदाना कीड़े थोड़े-थोड़े पर्व कर पूरे गिर जाते हैं। डाक्टरी मत अनुसार मल परीक्षा करते रहना चाहिये। जब तक शिर न निकल जाय, तब तक चिकित्सा करते रहना चाहिये। १०-१५ दिन चिकित्सा कर १० दिन बन्द रखें, पुन: चालु करें। इस तरह शिर निकल जाय, तब तक करते रहें।

(१८) कद्दूदाना कृमिपर कृमिघ्न क्वाथ (रसतन्त्रसार प्रथम खण्ड) उत्तम औषध है। इस औषधिका सेवन करनेपर कई मनुष्योंको वमन होती है या बेचैनी कुछ समय तक रहती है; किन्तु यह लक्षण कृमिके विषके संयोगसे होता है। इसे सहन करनेपर कृमिके शिरको वह निःसन्देह नीचे फेंक कर बाहर निकाल देता है।

(१९) महागुदा—(केंचवे) कृमिके लिए सेन्टोनीन (Santonine) का उपयोग अधिक होता है। यह औषध काश्मीरमें होने वाली बुंई बूंटी (किरमाणी अजवायन) का सत्व है। इसकी पूरी मात्रा बड़े मनुष्यकी ५ ग्रेन (२॥ रत्ती) है। रात्रिको सेन्टोनीन शक्करके साथ देकर सुबह एरण्ड तैलका जुलाब देवें या सेन्टोनीन और केलोमल मिलाई हुई गोलियाँ आती हैं, वे सुबहके समय सेवन करावें। इस तरह चौथे-चौथे रोज औषध ३-४ वार देनेसे कीड़े गिर जाते हैं।

(२०) चूरण कृमिके लिये पहले विरेचनसे कोष्ठशुद्धि करा लेवें। फिर ४-६ वार २-२ दिनके अन्तरसे सिद्ध तैलकी बस्ति देनेसे कृमि निकल जाते हैं।

(२१) कितनेही प्रकारके कृमियोंसे कुछ-कुछ दिनोंमें उदरमें भयङ्कर वेदना उत्पन्न होती है; फिर ४-६ घण्टोंके पश्चात् रोगीको ज्वर आ जाता है। किसी-किसीको अजीर्णके दस्त लग जाते हैं। ज्वर १-२ दिन रह कर शमन होता है। इन कृमियोंके लिए बारूद देशी ४-६ माशे जलके साथ एक ही समय देनेसे अनेकोंको लाभ हो गया है। कुछ दोष रह जाय तो एक सप्ताहके बाद

पुनः दूसरी बार देवें।

(२२) कृमिकुठार रस (सत्यानाशीकी जड़ ६ माशेके क्वाथके साथ), कृमिघ्न चूर्ण, कृमिघ्न क्वाथ इन औषधियोंमेंसे किसीका सेवन थोड़े दिनों तक करानेसे चूरनं कृमिकी उत्पत्ति बन्द हो जाती है।

(२३) बृहद् योगराज गूगल, अग्नितुण्डी वटी, संजीवनी वटी, वंगभस्म ये सब औषधियाँ कृमिकी भावी उत्पत्तिको रोकने वाली हैं। इनमें अग्नितुण्डी वटीसे उत्पन्न कृमि भी नष्ट हो जाते हैं। जिनके शरीरमें आम अधिक हो; उनके लिए बृहद् योगराज गूगल हितकर है। रक्तमें दोष है तो वंगभस्म देनी चाहिये। ज्वर, सेन्द्रिय विष और अपचनको दूर करनेमें संजीवनी वटी लाभदायक है।

कृमि जन्य ज्वर—वंगभस्म (बायविडङ्गके क्वाथ और शहदके साथ) या वंगभस्म और शिलाजीत (सुदर्शन चूर्णके क्वाथके साथ) देनेसे कृमि और ज्वर दोनों दूर हो जाते हैं।

कृमिजन्य पाण्डु और धनुर्वात पर—ताप्यादि लोह दिनमें २ समय कृमिघ्न क्वाथ या बायविडङ्गके क्वाथके साथ एक मास तक देते रहना चाहिये।

विरेचनके लिए—(१) अश्वकंचुकी रस, नारायण चूर्ण या इच्छाभेदी रसका उपयोग करें या थूहरके दूध वाला विरेचन देवें।

(२) तार्पिनका तैल १ ड्राम और एरण्ड तैल २॥ तोले सोवांके क्वाथमें मिलाकर पिलानेसे केंचुवे सदृश कृमि निकल जाते हैं। अति जीर्ण रोगमें तार्पिन तैल ३०-३० बूंद और एरण्ड तैल १-१ ड्राम बायविडङ्ग अथवा सोवाके अर्कमें १-२ मासतक देनेपर कृमिकी उत्पत्ति रुक जाती है।

मस्तिष्क और नासाकृमिके लिये—(१) लोहभस्म या घोड़ेकी लीदको छायामें सुखा फिर बायविडङ्गके क्वाथकी ७ भावनायें देकर प्रधमन नस्य देनेसे नाकमेंसे कीड़े गिरजाते हैं या व्याघ्री तैल नाकमें डालें।

(२) तृणकान्तमणि पिष्टी ४-४ रत्तीको दिनमें ३ समय थोड़े दिनोंतक देनेसे नाकमेंसे कीड़े गिरकर मस्तिष्क वेदना, नाकमेंसे रक्त गिरना, दुर्गन्ध आना ये दूर हो जाते हैं।

बाह्य कृमियोंकी चिकित्सा।

(१) रात्रिको नागरबेल या धतूरेके पत्तोंके रसमें पारा या कपूर मिलाकर वस्त्रको भिगो शिरपर बाँधें या ऐसे ही रस लगावें। सुबह शिर साफ करनेसे जूँयें मरकर निकल जाती हैं।

(२) वायविडङ्ग, गन्धक और मैनसिलके कल्कको ४ गुने सरसोंके तैल और १६ गुने गोमूत्रमें मिला तैल सिद्धकर लगानेसे जूँ, लीख और अन्य त्वचापर होने वाले चमजूँ (कृमि) नष्ट होजाते हैं।

(३) चित्रकमूल, दन्तीकी जड़ और कड़वी तोरईका कल्क बना तैल सिद्ध करके लगानेसे जुएँ आदि कृमि नष्ट हो जाते हैं।

(४) नीलगिरी तैलकी मालिशसे जूँयें और चमजूँयें मर जाती हैं।

(५) धुस्तूर तैल—धतूरेके पत्तोंका कल्क १ सेर, सरसोंका तैल ४ सेर और धतूरेके पत्तोंका स्वरस १६ सेर मिलाकर यथाविधि तैल सिद्ध करें। इस तैलकी मालिश करनेसे जूँ, लीख, चमजूँ और त्वचामें उत्पन्न कृमि नष्ट होजाते हैं।

(६) दाँत और कानके कृमिपर—छोटी या बड़ी कटेली या इन्द्रवारुणीके फलको घीमें पीस निर्धूम अग्निपर डाल नलीद्वारा दाँत या कानमें धुआँ देनेसे कृमि नष्ट हो जाते हैं।

(७) गुदाकी खाजपर—इन्द्रायणकी जड़ या कड़वी तुम्बीको चन्दनकी तरह पीसकर गुदाके भीतर और बाहर लेप करनेसे गुदाके शोथ, खुजली और पीड़ा आदि दूर हो जाते हैं और कृमि नष्ट हो जाते हैं।

बालकोंके कृमियोंकी चिकित्सा।

(१) गुदापर धुस्तूर तैल या जैतुनका तैल अथवा धतूरेके पत्तोंका रस लगानेसे खाज दूर होती है।

जूयें और अण्डेके लिये ससाफ्रास तैल अच्छा लाभ करता है। बाल ढक सके उतना लिण्टका टुकड़ा काटें, उसपर डालनेके लिये मलमलका टुकड़ा और रुईकी तह तैयार करें। सिसाफ्रास तैल या केरोसीन तैलको ही बालोंपर रुईके फोहेसे घिसें। तैल अन्य स्थानपर त्वचाको न लगे इसलिये वेसलीन लगावें। उसपर लिण्ट तथा रुई और मलमलकी गद्दी रखें, फिर तिकोनी बंध (ट्रँग्युलर बन्डेज) बांधें। एक रात्रितक रख, बालोंको पुनः सूक्ष्म कंघीसे सवारें और धोवें। इस तरह जूयें और लीखें नष्ट होने तक रोज करें। सिरका लगानेसे लीखें जूयें नरम होजाती हैं तथा अपने आप नष्ट होजाती हैं। मिट्टीका (केरोसीन) तैल अति सम्हाल पूर्वक थोड़े समयके लिये लगावें, इससे जूयें और लीखें दोनों मर जाती हैं और निकल जाती हैं।

(२) वायविडङ्गको दूधमें घिसकर पिलानेसे कृमि नष्ट होजाते हैं।

(३) कौंचकी फलीके कांटे (रोंगटे) को दूधमें मिला छानकर पिलानेसे कृमि नष्ट हो जाते हैं। (यह औषध १ वर्षसे छोटे बालकोंको नहीं देना चाहिये।

(४) कुकरौंधे या एरण्डके पत्तोंका रस पिलानेसे जन्तु मर जाते हैं।

(५) कीड़ामारी (धूम्रपत्रा) का रस या बीजका चूर्ण १ रत्ती शहदमें मिलाकर चटानेसे कीड़े मर जाते हैं।

(६) बालरक्षक गुटिका दिनमें २ समय कुछ दिनोंतक देते रहनेसे जन्तु नष्ट हो जाते हैं।

(७) कृमिकुठार रस शहद या माताके दूधके साथ देनेसे कृमि मर जाते हैं।

(८) वायविडंग २ माशे, निशोथ १ माशा, कपीला १ माशा इन सबको गरम उबलते हुए छटांक भर जलमें डालकर ढक दें। जल शीतल होनेपर ऊपरसे साफ जल नितारकर ३-३ माशे दिनमें ३-४ समय देते रहनेसे २-३ रोजमें कृमि गिर जाते हैं।

सूचना—ज्वर हो तो निशोथ या अन्य जुलाब वाली औषध नहीं देनी चाहिए तथा मधुर पदार्थका सेवन कम करावें।

डाक्टरी चिकित्सा।

कद्दूदाना—पहले दिन रात्रिको एरण्ड तेल देवें। दूसरे दिन और तीसरे दिन सुबह मेगनेशिया सल्फास (या रात्रिको पंचसकार) देवें। चौथे दिन उपचार पूरा न हो तब तक भोजन न देवें। सुबह एक्सट्रेक्ट मेलफर्न लिकिड (Ext, Fillicis Liq) १-१ ड्राम ८ बजे और ६ बजे देवें। ११ बजे मेगनेशिया सल्फास पूर्ण मात्रामें देवें। साथमें ३० बूँदें तार्पिन तैल मिला दें। १२ बजे तक शौच न आवे तो एनिमा देवें।

मेलफर्न बेचैनी लाता है तथा वमन कराता है। अतः रोगीको लेटाये रखना चाहिये। १-१ ड्राम न ले सके तो १५-१५ बूँदोंके कैपसूल १५-१५ मिनटपर और फिर १५ मिनट बाद ३० बूँदें केपसूलमें दे सकते हैं। शौच मलपात्रमें करावें। कृमिका शिर न निकल जाय, तो पुनः १० दिन बाद यही उपचार चालू करें। शिर निकल जाय तो फिरसे कृमि उत्पन्न नहीं हो सकता। अन्यथा ३ मासमें नये पर्व आने लगते हैं।

कद्दू दानोंके बाल कृमि जन्य विकार (Cysticercuscellulose)—टिनिया सोलियम जो वराह कृमि कहलाता है, उसके बालकृमि देहमें रह

आनेपर देहके विविध भागमें हानि पहुँचाते हैं। कभी नेत्रमें काचमय जल उप-स्थित करते हैं। कभी मस्तिष्कसे जाकर मृगी आदि रोग उत्पन्न करते हैं। उनके लिये डाक्टरीमें कोई चिकित्सा नहीं है।

गोल कृमि—रात्रिको एरण्ड तैल देवें। दूसरे दिन सुबह सेण्टोनिन केलो-मल मिलाकर देते हैं। एक दिनके बाद पुनः इस तरह औषध देते हैं। इस औषधोपचारसे पेशाब हरा या लाल हो जाता है। नेत्रमें पीलापन आता है, तथा चक्कर आता है। मलकी परीक्षा करें। मलमें अण्डे मिल जायँ तो १० दिन बाद पुनः यही उपचार करना चाहिये।

ट्राइकीना—पूर्ण मात्रामें केलोमल दें। फिर मेगनेसिया सल्फास तथा दूसरे दिन एरण्ड तैल विरेचनार्थ देना चाहिये।

डाक्टरी मत अनुसार कृमिघ्न चिकित्सा इसमें असफल है। मांसपेशियोंके दर्दमें वह सहायक नहीं होती। अति पीड़ा होनेपर मॉर्फियाका अन्तःक्षेपण करना चाहिये।

अङ्कुशाद कृमि—डाक्टरीमें इस रोगपर नीलगिरी तेल, बिटा नेप्थोल (Beto Napthol) चेनोपोडियम तेल (Oil Chenopodium) अजवायन सत्व (Thymol) तथा कार्बोन टेट्रा क्लोराइड प्रयोजित होते हैं।

इनमें कार्बोन टेट्रा क्लोराइड विशेष प्रशंसित है। पहले यह जलसे देते हैं। फिर ३ घण्टे पश्चात् मेगनेशिया सल्फासका विरेचन देते हैं। इसके साथ गन्धक और शराबके सेवनका निषेध है।

थाइमोल देना हो, तो लवण विरेचन रात्रिको देवें, फिर दूसरे दिन सुबह थाइमोल २ घण्टेके अन्तरसे दो बार दें। इसका शोषण होनेपर चक्कर आना, प्रलाप और कभी मूर्च्छा आना ये उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। अतः अति बढ़े हुए लक्षण वाले रोग, वृक्क प्रदाह और हृदयकी निर्बलता रूप उपद्रव सह विकारमें इसका उपयोग करना चाहिये।

चेनापोडियम तैल केपसूलमें दिया जाता है। दो घण्टोंके पश्चात् लवण विरेचन दें। यह कार्बोन टेट्राक्लोराइडके अनुकूल है एवं सस्ता और असर-कारक है। नीलगिरीतैल और बिटा नेप्थोलका उपयोग सामान्य होता है।

सिकस्टोसोमा—जलको उबाल छानकर उपयोगमें लेवें।

डाक्टरीमें इस रोगपर टार्टर इमेटिक (Tartar ematic) विशेष औषध मानी गई है। इसका अन्तःक्षेपण भोजनके २ घण्टोंके पश्चात् करते हैं। अन्तः क्षेपणकर लेनेके कुछ घण्टे पश्चात् लवण जलका अन्तःक्षेपण करें। इस तरह

सप्ताहमें ३ बार अन्तःक्षेपण करें। पूर्णक्रम १२ अन्तःक्षेपणोंका है। सब मिलकर २०-३० ग्रेन औषध देवें। क्रम पूरा होनेपर मल परीक्षा करें। बहुधा फिर अण्डे नहीं मिलते।

फाईलेरिया—टार्टर इमेटिकका अन्तःक्षेपण ३ मास तक रोज शिरामें करना चाहिये।

चूरव कृमि (Thread worms)—जब तक गुदामें कण्डू हो तब तक प्रति रात्रिको गुदनलिकाको सोडा क्लोराइड मिले निवाये जलसे धोते रहें। यह धोनेकी क्रिया कण्डू उत्पन्न होनेपर करें। सप्ताहमें एक बार साबुन जलकी बस्ति देवें। जल वापस निकल जानेपर केशिया (Quassia) के फाँटकी बस्ति देवें। उसे हो सके उतने समय तक धारण करें। बालकोंके दोनों नितम्बोंको दबाकर रखें तो उससे कुछ समय तक जल धारण होता है।

मलावरोध और कृमिको दूर करनेके लिये पहले ही दिन विरेचन देवें फिर कृमिघ्न औषध देवें। डाक्टरीमें सेण्टोनीन और केलोमल मिलाकर देते हैं।

किसी तरह रोग शमन न हो तो डाक्टरीमें जेनशन वायोलेटकी टिकियाँ ७ दिन देते हैं। फिर ७ दिन बन्द करके पुनः देते हैं।

कण्डू शमनार्थ गेलिक एसिड और अफीम मिश्रित मलहम लगावें या कार्बोलिक एसिडको वेसलीनमें मिलाकर लगाते रहें।

ट्राइकोसेफेलस—डाक्टरी मत अनुसार चिनापोडियम तेल, थाइमोल (अजवायन सत्व) या कार्बोन टेट्रा क्लोराइड देना चाहिये।

चूरव कृमियों (Thread worms) के लिये—

अंग्वेन्टम हाइडार्जिरी नाइट्रास	Ung. Hydrar. Nit.	८ ग्रेन
कोकम आमचूरका तेल	Oil Thebroma	७ ग्रेन

इन दोनोंको मिलाकर वर्ति (Suppository) बनाकर गुदामें प्रवेश करावें। तथा क्वॉशिया १८० ग्रेनको २० औंस जलमें उबालकर १५ मिनट तक ढक दें। पश्चात् इस क्वॉशिया फान्ट (Infusion Quassia) को छान १ आउन्स नमक मिलाकर बस्ति देवें। ज्यादा जल लेना हो तो क्वाथ ज्यादा बना लेवें। यह बस्ति एक-एक दिन छोड़कर १ मास तक देते रहनेसे चूरव कृमि नष्ट हो जाते हैं।

पथ्य—स्नेहन, वमन (कफवृद्धि या आमाशयज कृमि हो तो), आस्थापन